पञ्चनवतितमः सर्गः

—:०:—

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।
अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर कोशलपति श्रीरामचन्द्र जो पर्वत की शोभा दिखाने से निवृत्त हो और पर्वत से निकल निर्मल जल वाली रमणीय मन्दाकिनी नदी दिखाने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीच्च वरारोहां चारुचन्द्रनिभाननाम् ।
विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्र चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली, स्त्रियों में श्रेष्ठ जनकनन्दिनी से बोले ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।
कमलैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

हे वैदेही ! इस विचित्र तट वाली, रमणीय हंस सारसादि पक्षियों से सेवित मन्दाकिनी नदी को देखो ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीरुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।
राजन्तीं [1]राजराजस्य [2]नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

इस नदी के उभय तट फल फूल वाले अनेक जाति के वृक्षों से परिपूर्ण हैं । उनसे इस नदी की शोभा वैसी ही हो रही है जैसी कि कुबेर की सौगन्धिका नाम्नी नदी की ॥ ४ ॥

---

१ राजराजस्य—कुबेरस्य । (गो०) २ नलिनीं—सौगन्धिक सरसीं । (गो०)

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं[1] संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

इस नदी के सब घाट बड़े रमणीय हैं। अतः वहाँ जा कर स्नान करने की मेरी इच्छा हो रही है। अभी मृगों के झुण्ड इन घाटों पर जल पी कर गये हैं। अतः वहाँ का जल गँदला हो रहा है ॥५॥

जटाजिनधराः काले[2] वल्कलोत्तरवाससः ।
ऋषयस्त्ववगाहन्ते[3] नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

हे प्रिये ! देखो, जटा और मृगचर्म धारण किये और वृक्षों की छाल पहिने हुए ऋषि लोग इस नदी में यथासमय स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः ।
एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः[4] ॥ ७ ॥

हे विशालाक्षि ! इस ओर ये सब तीक्ष्ण नियमों का पालन करने वाले मुनिगण नियमानुसार ऊपर को बाँह कर, सूर्य भगवान का उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

[5]मारुतोद्धूतशिखरैः नृत्त इव पर्वतः ।
पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

देखो पवन से कम्पित इन वृक्षों के हिलने से यह पर्वत नाचता हुआ सा मालूम पड़ता है और वृक्षों के हिलने से उनके जो पुष्प गिरते हैं सो चित्रकूट पर्वत मानों नदी को पुष्पाञ्जलि दे रहा है ॥८॥

---

१ रतिः—अवगाहनविषयां प्रीतिं । (गो०) २ काले—स्वनियमोचित काले । (गो०) ३ अवगाहन्ते—मज्जन्ति । (गो०) ४ संशितव्रताः—तीक्ष्णनियमाः । (गो०) ५ मारुतोद्धूत शिखरैः—वायुकम्पितशाखैः । (गो०)

क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित्पुलिनशालिनीम् ।
क्वचित्सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! देखो, कहीं तो मंदाकिनी का जल मणि की तरह उज्ज्वल है, कहीं कहीं रेत शोभा दे रहा है, और कहीं कहीं सिद्ध लोगों की भीड़ लगी है ॥ ९ ॥

निर्धूतान्वायुना पश्य विततान्पुष्पसञ्चयान् ।
प्लवमानानपरान्पश्य त्वं जलमध्यगान् ॥ १० ॥

हे भद्रे ! वायु के झोकों में नदी के तट पर बिखरे हुए पुष्पों के ढेर को देखो और जो दूसरे फूल जल में उड़ कर जा गिरे हैं, वे पानी पर कैसे उतरा रहे हैं, उन्हें भी तुम देखो ॥ १० ॥

[1]तांश्चातिवल्गुवचसो[2] रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।
अधिरोहन्ति कल्याणि विकूजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

हे कल्याणी ! फूलों के ढेरों पर चढ़े हुए चक्रवाक रति के लिये अपनी मादाओं को बुलाने के लिये कैसी मधुर बोली बोल रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।
अधिकं पुरवासाद्य मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

हे शोभने ! इस चित्रकूट पर्वत और मंदाकिनी नदी के देखने से और तुम्हारे साथ रहने से मुझे अयोध्यापुरी में रहने से भी बढ़ कर, यहाँ सुख जान पड़ता है ॥ १२ ॥

---

१ तान्—पुष्पसंचयान् । (गो०) २ वल्गुवचसः—रत्यर्थाह्वानकालिक-रम्यवचसः । (गो०)

विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।
[1]नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

हे सीते ! अब तुम इस मन्दाकिनी नदी में, जिसमें शम, दम और तप से युक्त एवं पापरहित सिद्धलोग नित्य स्नान किया करते हैं, चल कर मेरे साथ स्नान करो ॥ १३ ॥

[2]सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।
[3]कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि[4] च भामिनि ॥१४॥

हे सीते ! तुम जैसे अपनी सखियों के साथ निःशङ्क जलक्रीड़ा करती थीं, वैसे ही मेरे साथ भी इस मंदाकिनी में लाल सफेद कमल के फूलों को डुबोती हुई जलक्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

[नोट—लाल सफेद कमल के फूलों से भूषणटीकाकार ने यह अभिप्राय बतलाया है—

स्तनजघनाघातजनित तरङ्गैरितिभावः

किन्तु शिरोमणिटीकाकार का कथन है कि, क्रीड़ा के लिये लाल सफेद रंग के कमलों से मंदाकिनी के जल को ढक दो ।]

त्वं पौरजनवद्[5]व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

---

१ नित्यविक्षोभितजलां—सदातत्स्नानेनतत्पादरेणुधन्यांमन्दाकिनीं । (गो०)
२ सखीवच्च—सख्यायथासलिलमवगाहसे तथा मया सह विगाहस्व । (गो०)
३ कमलानि—रक्ताब्जानि । (गो०) ४ पुष्कराणि—सिताम्भोजानि । (गो०)
५ व्यालान्—वनचरान् । (शि०)

हे प्रिये ! तुम यहां के वनवासियों को अयोध्यावासियों की तरह, इस पर्वत को अयोध्या की तरह और मंदाकिनी को सरयू की तरह समझो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चापि धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयतो मम ॥ १६ ॥

वे वैदेही ! यह धर्मात्मा लक्ष्मण मेरे आज्ञाकारी हैं और तुम भी सदा मेरी आज्ञा के अनुसार काम किया करती हो। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

[1]उपस्पृशंस्त्रिषवणं[2] मधुमूलफलाशनः ।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहयेऽद्य त्वया सह ॥१७॥

त्रिकाल स्नान, और तुम्हारे साथ मधु मूल और फल का भोजन करता हुआ, मैं, अयोध्या के वास की और राज्य की आकांक्षा नहीं करता ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां मृगयूथशालिनीं
निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितैः पुष्पधरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्यादगतक्लमः सुखी ॥१८॥

जो गजों के यूथों से युक्त है और जिसका जल हाथी, सिंह और वन्दर पिया करते हैं, उस रमणीय एवं सुन्दर पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभित मंदाकिनी नदी का सेवन कर, वह कौन पुरुष है जो दुःखों से छूट, सुखी न हो ॥ १८ ॥

---

१ उपस्पृशन—स्नानं कुर्वन् । (गो०) २ त्रिषवणं—त्रिसन्ध्यं । (गो०)

[1]इतीव रामो बहुसंगतं[2] वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन्।
चचार रम्यं [3]नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

रघुवंशवर्द्धन श्रीरामचन्द्र ने सीता जी से मंदाकिनी नदी के सम्बन्ध में इस प्रकार की बहुत सी उत्तम बातें कहीं। तदनन्तर उस रमणीय और नील वर्ण चित्रकूट पर्वत पर सीता को साथ लिये हुए विचरने लगे ॥ १९ ॥

अयोध्याकाण्ड का पञ्चानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

षण्णवतितमः सर्गः

—:*:—

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम्।
निषसाद गिरिप्रस्थे[4] सीतां मांसेन च्छन्दयन्[5] ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सीता को मंदाकिनी नदी की शोभा दिखा कर, पर्वत की एक शिला पर बैठ गये और मांस का स्वाद बतला सीता को प्रसन्न करने लगे ॥ १ ॥

---

१ इतीव—एतादृशं। (शि०) २ संगतं—समीचीनं। (शि०) ३ नयनाञ्जनप्रभं—नीलवर्णविशिष्टं। (शि०) ४ गिरिप्रस्थे—पर्वतैकशिलायां। (शि०) ५ छन्दयन्—तृप्तिमुत्पादयन्। (शि०)

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सीता से कहा—देखो, यह मांस पवित्र है, और अग्नि में भूजने से यह स्वादिष्ट हो गया है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सीता सहित वहां बैठे हुए थे कि ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभःस्पृशौ ॥ ३ ॥

इतने में उनके पास आती हुई भरत जी की सेना के चलने से उड़ी हुई धूल और सैनिकों का कोलाहल आकाश को छूते हुए प्रकट हुए ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

उस महाकोलाहल से त्रस्त हो बड़े बड़े यूथपति गजेन्द्र विकल हो अपने अपने यूथों को ले इधर उधर भागने लगे ॥ ४ ॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रद्रुतान्सर्वान्यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस सेना के कोलाहल को सुना और हाथियों को भागते हुए देखा ॥ ५ ॥

तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा च निःस्वनम् ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

उन हाथियों को भागते देख और सेना का कोलाहल सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहा ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।
भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमसे पुत्र को पा कर सुमित्रा देवी सुपुत्रवती है । देखो तो यह भयङ्कर बादल की गड़गड़ाहट जैसा गंभीर तुमुल शब्द कहां सुन पड़ता है ॥ ७ ॥

गजयूथानि वाऽरण्ये महिषा वा महावने ।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥

जिसको सुन, सघन वनवासी हाथियों के झुण्ड, जंगली भैंसे और मृगों के झुण्ड सिंहों सहित भयभीत हो बड़ी तेज़ी से इधर उधर भाग रहे हैं ॥ ८ ॥

राजा वा राजमात्रो[1] वा मृगयामटते वने ।
अन्यद्वा श्वापदं किञ्चित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

क्या कोई राजा या राजा के समान कोई पुरुष वन में शिकार खेलने आया है ? अथवा कोई महाभयङ्कर और घातक जन्तु इस वन में आ गया है ? हे लक्ष्मण ! ज़रा इस बात का पता तो लगाओ ॥ ९ ॥

सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वमचिराज्ज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! इस पर्वत पर अब पक्षी भी तो भली भाँति नहीं घूम सकते । अतएव तुम शीघ्र इस बात का ठीक ठीक पता लगाओ ॥ १० ॥

---

१ राजमात्रः—राज्यतुल्य । (गो०)

स लक्ष्मणः सन्त्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् ।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमुदैक्षत ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी तुरन्त एक फूले हुए साल वृक्ष पर चढ़ गये और चारों ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व दिशा की ओर देखा ॥ ११ ॥

तदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।
रथाश्वगजसम्बाधां यत्तैर्युक्तां[1] पदातिभिः ॥ १२ ॥

फिर उत्तर दिशा की ओर देखने पर उन्हें उस ओर एक बड़ी सेना, जिसमें हाथी घोड़ों, रथों और सजे सजाये पैदल सिपाहियों की भीड़ देख पड़ी ॥ १२ ॥

तामश्वगजसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम् ।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

हाथी घोड़ों से युक्त, रथ की पताकाओं से भूषित, उस सेना का वृत्तान्त निवेदन करते हुए लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

आप अग्नि बुझा दीजिये, सीता जी से कहिये कि वे गुफा के भीतर जा बैठें । आप कवच पहिन लीजिये और धनुष तथा बाणों को सम्हालिये ॥ १४ ॥

---

१ यत्तैः—सन्नद्धैः । (गो०)

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुन पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा हे वत्स सौमित्र ! ध्वज चिन्हों को देख यह तो निश्चय करो कि, यह सेना है किसकी ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी क्रोध के मारे अग्नि के समान हो, उस सेना को मानों भस्म कर डालने के लिये यह बोले ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥१७॥

साफ देख पड़ता है कि, कैकेयी का पुत्र भरत, राज्याभिषेक पा कर भी अकण्टक राज्य करने की कामना से, हम दोनों का वध करने के लिये आता है ॥ १७ ॥

एष वै सुमहाञ्श्रीमान्विटपी सम्प्रकाशते ।
विराजत्युद्गतस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

देखिये, वह जो बड़ा और शोभायमान वृक्ष देख पड़ता है, उसके पास जो रथ है, उस पर उजली शाखायुक्त कचनार वृक्ष के आकार की ध्वजा फहरा रही है ॥ १८ ॥

[1]भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः[2] ॥ १९ ॥

---

१ भजन्ति—इमं देशं प्राप्नुवन्ती । (गो०) २ सादिनः—गजारोहाः । (गो०)

बड़े तेज़ चलने वाले घोड़ों पर चढ़े हुए सवार इधर ही आ रहे हैं और हाथियों के सवार भी हाथियों पर हर्षित हो बैठे हुए हैं ॥ १९ ॥

गृहीतधनुषौ चावां गिरिं वीर श्रयावहै ।
अथ वेहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

अब हे वीर ! हम दोनों धनुष बाण ले इस पर्वत पर चढ़ चलें अथवा दोनों जन, कवच पहिन और हथियार ले यहीं खड़े रहें ॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो रणे ।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥

कोविदार ध्वजा वाले उन भरत को निश्चय ही हम लोग युद्ध में अपने वश में कर लेंगे जिसके कारण यह विपत्ति पड़ी है, आज हम उसे समझ लेंगे ॥ २१ ॥

त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।
यन्निमित्तं भवान्राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥२२॥

हे रघुनन्दन ! जिसके लिये तुम्हें, मुझे और सीता को इस दुर्दशा में पड़ना पड़ा है और जिसके कारण तुम सनातन राज्य से च्युत किये गये हो ॥ २२ ॥

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे ।
भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

वही भरत शत्रुभाव से आया है । अतः वह मार डालने योग्य है । हे राघव ! भरत के मार डालने में मुझे कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणां [1]त्यागे न ह्यधर्मो विधीयते ।
पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

क्योंकि पूर्व अपकारी को मार डालने में कुछ भी पाप नहीं लगता । हे राघव ! यह भरत पूर्व में अपकार कर चुका है अतः इसको मार डालने ही में पुण्य है ॥ २४ ॥

एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुन्धराम ।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये[2] कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥

इसको मार कर आप सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य भोग कीजिये । आज वह कैकेयी जो राज्य पाने की कामना किये हुए है, अपने पुत्र को युद्ध में मरा हुआ देखेगी ॥ २५ ॥

मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम् ।
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां[3] सबान्धवाम् ॥२६॥

हाथी के तोड़े हुए वृक्ष की तरह, मेरे हाथ से भरत को मरा हुआ देख, केकैयी अत्यन्त दुःखित होगी । मैं उस कैकेयी को भी उसके भाईबन्दों और मंथरादि सहित मार डालूँगा ॥ २६

कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।
अद्येमं संयतं[4] क्रोधमसत्कारं[5] च मानद ॥ २७ ॥

जिससे कि यह पृथिवी उस कैकेयी रूपी महापाप से छुटकारा पा जाय । हे मान के देने वाले ! आज बहुत दिनों के रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के किये हुए तिरस्कार को ॥ २७ ॥

---

१ त्यागे—वधे । (गो०) २ संख्ये—युद्धे । (गो०) ३ सानुबन्धां—मंथराद्यनुबंधसहितां । (गो०) ४ संयतं—स्तम्भितं । (गो०) ५ असत्कारं—तिरस्कारं । (गो०)

मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु [1]कक्षेष्विव हुताशनम् ।
अद्यैतच्चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

शत्रु की सेना के ऊपर वैसे ही छोड़ूँगा जैसे सूखे तृणों के ढेर पर आग छोड़ी जाती है। आज ही मैं चित्रकूट के वन को अपने तीखे बाणों से ॥ २८ ॥

भिन्दञ्शत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।
शरैर्निर्भिन्नहृदयान्कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ।
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान्मया ॥ २९ ॥

शत्रुओं के शरीरों को काट काट कर उनके शरीर से निकले हुए रक्त से सोचूँगा। बाणों से चीरे हुए हृदय वाले हाथी घोड़ों को तथा मेरे मारे हुए मनुष्यों को जंगली जानवर घसीटेंगे ॥ २९ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

आज मैं इस महासंग्राम में सेना सहित भरत का वध कर अपने धनुष और बाणों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का त्रियानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

[1] क्षेषु—शुष्कगुल्मेषु. (गो०)

सप्तनवतितमः सर्गः

—:o:—

सुसंरब्धं तु सौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्छितम् ।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुपित और लड़ने के लिये उद्यत लक्ष्मण को देख, उन्हें शान्त करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।
महेष्वासे महाप्राज्ञे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! बड़ा धनुष धारण करने वाले और बड़े पण्डित भरत जी जब स्वयं आये हैं, तब उनके सामने तुम्हारे धनुष और ढाल तलवार की ज़रूरत ही क्या है (अर्थात् उनसे तुम जीत नहीं सकते) ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमागतम् ।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

मैं पिता की उस सत्यवाणी को मान कर भी यदि भरत जी का वध कर मैं राज्य प्राप्त करूँ भी तो ऐसे अपवाद युक्त राज्य को ले मैं करूँगा ही क्या ? ॥ ३ ॥

यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।
नाहं तत्प्रतिगृह्णीयां भक्षान्विषकृतानिव ॥ ४ ॥

जो धन, बन्धु बान्धवों और इष्ट मित्रों का वध करने से प्राप्त हो, उसे मैं तो ग्रहण नहीं कर सकता । क्योंकि मैं तो उसे विष मिले हुए भोजन की तरह त्याज्य समझता हूँ ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थं एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुमसे यह बात दावे के साथ कहता हूँ कि, मैं तो केवल अपने भाइयों ही के लिये धर्म, अर्थ, काम अथवा पृथिवी का राज्य चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य सत्य अपने हथियारों को छू कर तुमसे कहता हूँ कि, मैं जो राज्य की कामना करता सो अपने भाइयों के पालन और सुख के लिये ही करता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! सप्तसागरा पृथिवी का राज्य हस्तगत करना मेरे लिये दुर्लभ नहीं, किन्तु पृथिवी तो है ही क्या, मैं अधर्मपूर्वक इन्द्रपद को भी लेना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

हे मान देने वाले ! तुम्हारे बिना, भरत के बिना और शत्रुघ्न के बिना मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिलता हो, उसे अग्निदेव भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥

श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ॥ १० ॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

मुझे तो यह जान पड़ता है कि, मेरा प्राणप्रिय और भ्रातृ, वत्सल भाई जब ननिहाल से अयोध्या में आया और हम तीनों का जटा वल्कल धारण कर वन में आना सुना, तब स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल हो तथा इस कुलधर्म को (कि बड़े का राज्याभिषेक इस कुल में सदा से होता आया है) स्मरण कर, हम लोगों से मिलने आया है। उसके यहां आने का अन्य कोई अभिप्राय तो नहीं जान पड़ता ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

अम्बां च कैकयीं रुष्य परुषं चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

(बहुत सम्भव है कि) अम्मा कैकेयी के ऊपर क्रुद्ध हो और उसको कुछ कठोर वचन कह तथा पिता को मना कर, मुझे मनाने को आया हो ॥ १२ ॥

[1]प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान्भरतो द्रष्टुमिच्छति ।
अस्मासु मनसाऽप्येष नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ १३ ॥

यह उचित ही है कि, भरत आ कर हमसे मिलें, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि, भरत हमारे अनिष्ट को मन में कभी कल्पना भी करें ॥ १३ ॥

---

१ प्राप्तकालं—उचितं । (रा०)

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं योऽत्र शङ्कसे ॥ १४ ॥

क्या भरत ने इससे पूर्व कभी तुम्हारा कुछ अहित किया था जो तुम उसकी ओर से भय की शङ्का कर रहे हो ॥ १४ ॥

न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

भरत के विषय में ऐसे कठोर और अप्रिय वचन तुम्हें न कहने चाहिये । क्योंकि भरत के बारे में जो कुछ तुम खरी खोटी बातें कहोगे या उसका कुछ अहित करोगे तो मानों वह तुमने मुझीसे कठोर वचन कहे और मेरा ही अहित किया ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥१६॥

हे लक्ष्मण ! ज़रा सोचो तो । चाहे कैसी भारी विपत्ति क्यों न आन पड़े, पिता किसी भी दशा में अपने पुत्र का या भाई प्राण के समान अपने भाई का वध नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

और यदि तुमने ये सब बातें राज्यप्राप्ति के लिये ही कहीं हों तो मैं भरत से कह कर राज्य तुमको दिलवा दूँगा ॥ १७ ॥

उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति वाढमित्येव वक्ष्यति ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य कहता हूँ कि, मेरे यह कहते ही कि "राज्य इसे दे दो" भरत सिवाय "बहुत अच्छा" कहने के ना तो कभी कहेगा ही नहीं ॥ १८ ॥

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्राता तस्य हिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने ऐसा कहा, तब उनके हितैषी लक्ष्मण जी बहुत लज्जित हुए और सकुड़ कर ऐसे हो गये, मानों शरीर के अंगों में घुसे जाते हो ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

अनन्तर लक्ष्मण जी ने लज्जित हो यह उत्तर दिया कि, मुझे तो यह जान पड़ता है कि, महाराज दशरथ स्वयं ही तुमको देखने आये हैं ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान्द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण को लज्जित देख (उनकी बात को पुष्ट करते हुए) श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—मैं भी यही समझता हूँ कि, मेरे पिता ही मुझे देखने को यहाँ आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

अथवा हम दोनों को सुख में रहने योग्य मान, और वनवास के दुःखों को स्मरण कर, निश्चय ही हमें घर लौटा ले जायंगे ॥२२॥

इमां वाऽप्येष वैदेहीमल्पान्तसुखसेविनीम् ।
पिता मे राघवः श्रीमान्वनादुद्वाय यास्यति ॥ २३ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि, इन सीता को, जो अत्यन्त सुख पाने के योग्य हैं, मेरे पिता महाराज दशरथ वन से लौटा कर इन्हें अपने साथ ले जांय ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ[1] मनोरमौ ।
वायुवेगसमौ वीर जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

यह देखो श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुए सुन्दर वायु के समान शीघ्रगामी, उनके दोनों ओर उत्तम घोड़े अब साफ साफ देख पड़ते हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे ।
नागः शत्रुञ्जयो नाम [2]वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

देखो, बुद्धिमान पिता जी के चढ़ने का वह बड़े डीलडौल वाला और ऊँचा शत्रुञ्जय नामक हाथी भी, सेना के आगे आगे झूमता हुआ चला आता है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं [3]लोकसत्कृतम् ।
पितुर्दिव्यं महाबाहो संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

किन्तु हे महाबाहो ! पिता जी का लोकोत्तर, दिव्य एवं श्वेत छत्र न देखने से मेरे मन में सन्देह होता है ॥ २६ ॥

---

१ गोत्रवन्तौ—प्रशस्तनामानौ । पक्षे प्रशस्तकुलप्रसूतौ । (गो०) २ वृद्धः—बलतः । (गो०) ३ लोकसत्कृतं—लोकोत्तरं । (गो०)

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम मेरा कहा मान वृक्ष से उतर आओ। जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से इस प्रकार कहा ॥ २७ ॥

अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स समितिञ्जयः ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥२८॥

तब युद्ध में जीतने वाले लक्ष्मण जी उस शाल के पेड़ से उतर हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी के पास आ खड़े हुए ॥ २८ ॥

भरतेनापि संदिष्टा संमर्दो न भवेदिति ।
समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरत जी ने सेना वालों को यह आज्ञा दी कि यहाँ श्रीरामाश्रम में किसी प्रकार की गड़बड़ या भीड़भाड़ न होने पावे। यह कह उन्होंने उस पर्वत के चारों ओर सेना टिका दी ॥ २९ ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य सा ।
पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिरथाकुला ॥ ३० ॥

हाथी घोड़ों से पूर्ण वह सेना पहाड़ के चारों ओर छः कोस के घेरे में टिक रही ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे[1] भरतेन सेना
धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।

---

१ चित्रकूटे—चित्रकूट समीपे । (गो०)

प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विराजते नीतिमता प्रणीता[1] ॥ ३१ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

नीतिमान् भरत ने धर्ममार्ग से श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये अपना अहङ्कार त्यागा और चित्रकूट पर्वत के पास सेना ला कर ठहरा दी ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां[2] वरः ।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तिनम्[3]* ॥ १ ॥

प्राणधारियों में श्रेष्ठ और गुरु की शुश्रूषा करने वाले भरत जी सेना को इस भाँति से ठिका कर श्रीरामचन्द्र जी से मिलने के लिये स्वयं पैदल ही चले ॥ १ ॥

निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् ।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

भरत जी की आज्ञानुसार जब सेना ठहर गयी, तब भरत जी ने शत्रुघ्न से कहा ॥ २ ॥

---

१ प्रणीता—आनीता । (गो०) २ पादवतांवरः—चतुरङ्गिनांश्रेष्ठः । (रा०)
३ गुरुवर्तिनं—गुरुशुश्रूषापरम् (रा०) * पाठान्तरं—"गुरुवर्तकम् ।"

छिन्नं वनमिदं सौम्य नरसङ्घैः समन्ततः ।
लुब्धैश्च[1] सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तुम शीघ्र इन सब लोगों को और इन बहेलियों को साथ ले इस वन में चारों ओर घूम फिर कर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम का पता लगाओ ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिधारिणा ।
समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन्परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

गुह भी अपने सहस्रों जाति वाले को साथ ले और तीर कमान एवं तलवार धारण कर (वन के जानवरों से आत्मरक्षार्थ) स्वयं उन दोनों को खोजे ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।
वनं सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

मैं स्वयं भी इन मंत्रियों, पुरवासियों गुरुओं और ब्राह्मणों को साथ ले पैदल ही इस सारे वन को मथाऊँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

जब तक मैं श्रीरामचन्द्र जी को, महाबली लक्ष्मण को और महाभाग्यवती सीता को न देख लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसङ्काशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्* ।
भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

---

१ लुब्धैः—व्याधै । (गा०) * पाठान्तरे—"यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।"

जब तक मैं चन्द्रमा के समान और कमलनयन बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के प्रसन्नमुख के दर्शन न कर लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ७ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
शिरसा धारयिष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ८ ॥

जब तक मैं श्रीरामचन्द्र जी के राजचिन्हों से युक्त चरणयुगल अपने मस्तक पर धारण न कर लूँगा तब तक मेरा मन शान्त न होगा ॥ ८ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।
अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

जब तक राज्य करने योग्य श्रीरामचन्द्र जी उस पितृपितामह के राज्य पर अभिषेक द्वारा अभिषेक के जल से आर्द्र (भीगे) न होंगे, तब तक मेरा जी ठिकाने न होगा ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥१०॥

धन्य है लक्ष्मण, जो श्रीरामचन्द्र के उस निर्मल चन्द्रोपम महाद्युति युक्त एवं कमल सदृश नेत्र वाले मुख को देखा करते हैं ॥१०॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।
भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या याऽनुगच्छति ॥११॥

वे महाभाग्यवती जानकी जी धन्य हैं, जो ससागरा पृथिवी के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी की अनुगामिनी हैं ॥ ११ ॥

सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः ।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

हिमालय पर्वत के समान यह चित्रकूट पर्वत भी धन्य है। क्योंकि इस पर श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार वास करते हैं, जिस प्रकार कुबेर चैत्ररथ वन में रहते हैं ॥ १२ ॥

कृतकार्यमिदं दुर्गं वनं व्यालनिषेवितम् ।
यदध्यास्ते महातेजा रामः शस्त्रभृतांवरः ॥ १३ ॥

यह वन जो सर्पों से सेवित होने के कारण दुर्गम है, कृतार्थ हुआ, जिसमें शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र रहते हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा भरतः पुरुषर्षभः ।
पद्भ्यामेव महाबाहुः प्रविवेश महद्वनम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते कहते, महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ भरत ने उस वन में पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु ।
पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतांवरः ॥ १५ ॥

बोलने वालों में श्रेष्ठ महात्मा भरत जो पर्वत के शिखरों पर लगे हुए फूले फले वृक्षों के समूहों के बीच में जा पहुँचे ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमासाद्य पुष्पितम् ।
रामाश्रमगतंस्यानेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥

वहाँ एक साखू के वृक्ष के ऊपर चढ़ कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जलती हुई अग्नि का बहुत ऊँचा उठता हुआ धुआ देखा ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्मुमोद* सहबान्धवः ।
अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

तब तो भरत जी अपने बान्धवों सहित हर्षित हुए और यहीं श्रीरामचन्द्र जी रहते हैं—यह निश्चय कर, मानों समुद्र के पार हुए ॥ १७ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य
रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम
पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

इति अष्टनवतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार उस गिरिराज चित्रकूट पर तपस्वियों से सेवित, श्रीरामाश्रम को पा कर, महात्मा भरत जी, गुह को साथ ले और सेना को यथास्थान फिर ठहरा शीघ्रता से आश्रम की ओर गये ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकोनशततमः सर्गः

—:०:—

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्तदा ।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरं—" मुमोह " ।

सेना के टिक जाने पर, भरत जी उत्सुक हो, शत्रुघ्न जी को श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम के चिन्हादि दिखाते हुए, भाई के दर्शन की कामना से, चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं सन्दिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय ।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

भरत ने वशिष्ठ जी से कहा कि, आप मेरी माताओं को शीघ्र ले आइये, (मैं आगे चलता हूँ) यह कह गुरुवत्सल भरत शीघ्रता से आगे चले ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

इतने में सुमंत्र भी शत्रुघ्न को भरत के पीछे जाते देख, स्वयं शत्रुघ्न के पीछे हो लिये । क्योंकि भरत की तरह सुमंत्र को भी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की उत्कंठा हो रही थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

भरत जी ने जाते जाते देखा कि, तपस्वियों के आश्रम के बीच में भाई की पर्णकुटी बनी हुई है ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।
[1]काष्ठानि चावभग्नानि [2]पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

---

१ काष्ठानि—रात्रौप्रकाशायज्वलनीयानि । (गो०) २ पुष्पाणि पूजार्थानि । (गो०)

भरत जी ने यह भी देखा कि, उस पर्णशाला के सामने ही (रात में प्रकाश करने के लिये) दो लकड़ियाँ और पूजन के लिये फूल चुन चुन कर रखे हुए हैं ॥ ५ ॥

सलक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः ।
कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥

और आश्रम की पहिचान के लिये आश्रमवासी श्रीराम लक्ष्मण ने कहीं कहीं वृक्षों में कुश और चीर बाँध कर चिन्ह कर दिये हैं ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन्महतः सञ्चयान्कृतान् ।
मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

भरत जी ने देखा कि, शीत से बचने के लिये अथवा तापने के लिये, मृगों और भैंसों के गोबर के सूखे कंडों के ढेर लगे हैं ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्धृतिमान्भरतस्तदा ।
शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

महाबाहु धृतिवान् भरत जी ने चलते चलते प्रसन्न हो अपने सब मंत्रियों और शत्रुघ्न से कहा—जान पड़ता है, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गये जिसे भरद्वाज जी ने बतलाया था। मैं समझता हूँ कि, यहाँ से मन्दाकिनी नदी कहीं समीप ही है ॥ ८ ॥ ९ ॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् ।
अभिज्ञानकृतः पन्था [1]विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

यहाँ इतनी ऊँचाई पर लक्ष्मण ने चीरों को बाँधा है। यह इस लिये कि, रातविरात में जब लक्ष्मण को पानी लाने के लिये जाना पड़ता होगा, तब इन चीरचिन्हों को देख, वे आश्रम में आ जाते होंगे ॥ १० ॥

इदं चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम्[2] ।
शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

वेगवान एवं बड़े बड़े दाँतों वाले हाथी जो बड़ा नाद किया करते हैं, पर्वत के पास यह उन्हींके आने जाने का रास्ता जान पड़ता है ॥ ११ ॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने ।
तस्यासौ दृश्यते धूमः सङ्कुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

तपस्वी लोग सायंप्रातः होम करने के लिये सदा जिस अग्नि को स्थापित रखा करते हैं, उसीका यह काला काला धुआँ देख पड़ता है ॥ १२ ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं [3]गुरुसंस्कारकारिणम् ।
आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टो महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

अतः इसी स्थान पर उस पुरुषसिंह एवं श्रेष्ठ संस्कार करने वाले श्रीराम को, हर्ष युक्त महर्षि के समान बैठा हुआ मैं देखूँगा ॥ १३ ॥

---

१ विकाले—अकाले सायंकालादौ । (गो०) २ तरस्विनां—वेगवतां । (गो०) ३ गुरुसंस्कारकारिणम्—गुरुसंस्कारः श्रेष्ठसंस्कारः मन्त्रोपदेशादिः तत्कारिणं । (गो०)

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।
मन्दाकिनीमनुप्राप्तस्तं जनं[1] चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर भरत जी कुछ समय तक आगे चल, मन्दाकिनी नदी के समीप चित्रकूट पर्वत पर जा पहुँच और शत्रुघ्नादि अपने साथियों से कहने लगे ॥ १४ ॥

[2]जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासनं गतः ।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥१५॥

देखो वह पुरुषसिंह और नरेन्द्र हो कर पृथिवी पर वीरासन से बैठे हैं और इस निर्जनस्थान में रहते हैं। हा! मेरे जीवन और जन्म को धिक्कार है ॥ १५ ॥

यत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।
सर्वान्कामान्परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

हा! मेरे ही पीछे, सब के स्वामी और महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी, दारुण दुरवस्था में पड़े हैं और सब प्रकार के सुखभोगों से वञ्चित हो, वन में वास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादावस्य प्रसादयन् ।
रामस्य निपतिष्यामि सीतायाश्च पुनः पुनः* ॥ १७ ॥

इससे मेरी सब में बड़ी बदनामी हुई है (अतः उस बदनामी को दूर करने के लिये) मैं बार बार श्रीरामचन्द्र और सीता के चरणों पर गिर, उनको प्रसन्न करूँगा ॥ १७ ॥

---

१ तंजनं—पक्षागतं शत्रुघ्नादिकम् । (गो०) २ जगत्यां—भूमौ । (गो०)
* पाठान्तरे—" सीतायाः लक्ष्मणस्य । "

एवं स विलपंस्तस्मिन्वने दशरथात्मजः ।
ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार वन में विलाप करते हुए भरत जी ने उस विशाल पवित्र एवं मनोहर (उस) पर्णकुटी को देखा, ॥ १८ ॥

सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् ।
विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

जो साखू, ताल और अश्वकर्ण नाम के वृक्षों के बहुत से पत्तों से छायी गयी थी और खूब लंबी चौड़ी और कोमल थी, देखने पर वह ऐसी जान पड़ती, मानों यज्ञवेदी कुशों से ढकी हुई है ॥१९॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः[1] ।
रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

उसमें जहाँ तहाँ, इन्द्र के वज्र के समान, युद्ध में बड़े बड़े काम करने वाले और सुवर्णरचित पीठ वाले, बड़े भारी भारी तथा शत्रु को बाधा देने वाले धनुष, टँगे हुए शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणीगतैः शरैः ।
शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥

उनके पास ही तरकसों में भरे सूर्य की किरणों के समान चमकीले एवं भयङ्कर बाण शोभा दे रहे थे । मानों प्रदीप्त मुख सर्पों से भोगवती नाम्नी नगरी सुशोभित हो ॥ २१ ॥

---

१ भारसाधनैः—गुरुतरणकार्यसाधनभूतैः । (गो०)

[1]महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।
रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥२२॥

वहाँ पर दो तलवारें भी रखी थीं, जिनको सोने की म्यानें थीं और उनके पास ही दो ढालें भी रखी थीं, जिन पर सोने के फूल बने हुए थे ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रैः काञ्चनभूषितैः ।
अरिसङ्घैरनाधृष्यां मृगैः [2]सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ कितने ही गोधा के चाम के और काञ्चनभूषित तरह तरह के अंगुलित्राण (दस्ताने) भी शोभित हो रहे थे । जिस पर्णशाला में इस प्रकार के शस्त्र रखे थे, वह शत्रुओं द्वारा उसी प्रकार अभेद्य थी. जिस प्रकार सिंह की गुफा, हिरनों के झुण्डों के लिये अभेद्य होती है ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।
ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

तदनन्तर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी के वासस्थान में प्रज्ज्वलित अग्नियुक्त ईशानकोण में अति विशाल एवं पवित्र वेदी देखी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।
जटाजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥

भरत जी एक मुहूर्त तक तो पर्णशाला की बनावट और सजावट देखते रहे, तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में बैठे हुए और जटा जूट धारण किये हुए बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ २५ ॥

---

१ महारजतवासोभ्यां—स्वर्णमयकोशाभ्यां । (गो०) २ सिंहगुहामिवपर्ण-शालांददर्शोरुतन्वयः । (रा०)

तं तु कृष्णाजिनधरं चीरवल्कलवाससम् ।
ददर्श राममासीनमभितः[1] पावकोपमम् ॥ ॥ २६ ॥

भरत जी ने अग्नि की तरह (दुर्दर्श) श्रीरामचन्द्र को ऊपर से काले हिरन का चाम ओढ़े और कमर पर चीर वल्कल पहिने हुए, कुटी के पास ही बैठा देखा ॥ २६ ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥२७॥

उनकी भुजाएँ घुटनों तक लंबी, उनके कंधे सिंह के कंधों के समान ऊँचे और नेत्र कमल के समान थे। वे ससागरा पृथिवी के स्वामी और धर्मचारी थे ॥ २७ ॥

उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।
स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

उनको भरत ने सीता और लक्ष्मण के साथ एक चबूतरे पर, कुश के आसन के ऊपर, शाश्वत ब्रह्म की तरह बैठा हुआ देखा ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्दुःखशोकपरिप्लुतः ।
अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को (इस प्रकार) बैठा हुआ देख, कैकेयीनन्दन धर्मात्मा भरत, दुःख और मोह से विकल हो, उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

---

१ अभितः—समीपे । (रा०)

दृष्ट्वैव विललापार्तो वाष्पसन्दिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन्धारयितुं धैर्याद्वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र को देखते ही भरत जी का कण्ठ अति दुःखित होने के कारण गद्गद हो गया और वे विलाप करने लगे। उस दुःख के वेग को रोकना यद्यपि उनके लिये कठिन था, तथापि किसी प्रकार धैर्य धारण कर. वे यह बोले ॥ ३० ॥

यः [1]संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त[2] उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हाय ! जो राजसभा में बैठ मंत्रियों द्वारा उपासना किये जाने योग्य हैं, वे मेरे बड़े भाई आज वन्यमृगों द्वारा उपासित हो, बैठे हैं। अर्थात् जो श्रीरामचन्द्र राजसभा में मंत्रियों के बीच बैठने योग्य हैं, वे वनजन्तुओं के बीच बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो[3] महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

जो कितने ही हज़ारों के मूल्य वाले वस्त्र धारण करने योग्य हैं, वे महात्मा मेरे ज्येष्ठ भ्राता धर्माचरण के लिये हिरन का चाम ओढ़े हुए (यहां) बसे हुए हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसस्तदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

---

१ संसदि—सभायां । (गो०) २ युक्तः—अर्हः । (गो०) ३ बहुसाहस्रैः—बहुसहस्रमूल्यैः । (गो०)

जो सदा तरह तरह के चित्र विचित्र पुष्पों की माला धारण करते थे, वही श्रीरामचन्द्र आज इस जटाभार को किस प्रकार सहन कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथोद्दिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।
शरीरक्लेशसंभूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

जिनको ऋषि के द्वारा यथाविधि किये गये यज्ञों से पुण्य-सञ्चय करना उचित था, वे श्रीरामचन्द्र अपने ही शरीर को कष्ट दे कर पुण्यसञ्चय कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

जिनके शरीर में मूल्यवान चन्दन का लेप किया जाता था, उन मेरे ज्येष्ठ भ्राता का शरीर देखो तो कैसा मैला हो रहा है ॥३५॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥ ३६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, इन सुखों का उपभोग करने वाले श्रीराम-चन्द्र यह कष्ट भोग रहे हैं । हा ! मुझ नृशंस और लोकनिन्दित के इस जीवन को धिक्कार है ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन्दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः ।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए भरत, दुःखी थे । उनका मुख-कमल पसीने से तर था । उन्होंने चाहा कि, दौड़ कर श्रीरामचन्द्र

के चरणों में गिरें, किन्तु वहां तक न पहुँच, वे रो कर बीच ही में मूर्छित हो गिर पड़े ॥ २७ ॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।
उक्त्वार्येऽति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ २८ ॥

उस समय दुःख सन्तप्त और कातर होने के कारण महाबली राजकुमार भरत केवल एक बार "आर्य" शब्द का उच्चारण कर, फिर और कुछ न बोल सके ॥ २८ ॥

बाष्पापिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् ।
आर्येत्येवाथ संक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत्ततः* ॥ २९ ॥

क्योंकि यशस्वी श्रीरामचन्द्र को देख कर, भरत जी का कण्ठ रुद्ध हो गया था। वे केवल "आर्य" कह कर वाक्शक्ति-रहित से हो गये ॥ २९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ।
तावुभौ स समालिङ्ग्य रामश्चाश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४० ॥

रोते हुए शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को प्रणाम किया। तब श्रीरामचन्द्र जी इन दोनों भाइयों को छाती से लगा स्वयं रोने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समागतू राजसुतावरण्ये ।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाऽम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

---

* पाठान्तरे—"तदा"।

तदनन्तर सुमंत्र और गुह भी श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से मिले। मानों आकाश में सूर्य और चन्द्र, शुक्र और बृहस्पति से मिल रहे हों ॥ ४१ ॥

तान्पार्थिवान्वारणयूथपाभान्
समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।
वनौकसस्तेऽपि समीक्ष्य सर्वे-
ऽप्यश्रूण्यमुञ्चन्प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

उस समय हाथियों पर सवारी करने योग्य इन राजकुमारों (श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न) को उस महावन में पैदल आये हुए देख, वहां के वनवासी भी दुःखी हो, रोने लगे ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्ड का निन्यानवेवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

शततमः सर्गः

—:०:—

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥

जटाजूट धारण किये और चीर पहिने श्रीरामचन्द्र ने भरत जी को हाथ जोड़, पृथिवी पर पड़ा हुआ देखा। मानों प्रलय कालीन दुर्दर्श सूर्य तेजहीन हो पृथिवी पर पड़ा हो ॥ १ ॥

कथञ्चिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह बाहुना ॥ २ ॥

बड़ी कठिनाई से विवर्ण मुख और अत्यन्त दुबले पतले भाई भरत को पहिचान, श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर उठाया ॥ २ ॥

आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवः ।
अङ्कं भरतमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनके मस्तक को सूँघ, उनको हाती से लगा और उनको अपनी गोद में बिठा, सावधानतापूर्वक उनसे यह बात पूँछी ॥ ३ ॥

क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे तात ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं, जो तुम इस वन में आये हो ? (क्योंकि) उनके जीवित रहते तुम वन में नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य बत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् ।
[1]दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन्किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

बड़े खेद की बात है कि, बहुत दिनों बाद और बहुत दूर से चल कर आने के कारण विवर्ण मुख एवं कृश भरत को मैं कठिनाई से पहिचान पाया । हे भाई ! तुम इस वन में किस लिये आये हो ? ॥ ५ ॥

कच्चिद्वारवते तात राजा यत्त्वमिहागतः ।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

---

१ दुष्प्रतीकं—वैवर्ण्यादिनादुर्ज्ञेयावयवं । (गो०)

हे भाई ! तुम जो यहां आये हो सो यह तो कहो कि, पिता जी तो मज़े में हैं ? कहीं शोक से विकल हो महाराज अचानक लोकान्तरित तो नहीं हुए ॥ ६ ॥

कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितरं सत्यविक्रमम् ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! तुम अभी बालक हो, सो कहीं उस सनातन राज्य में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई ? हे सत्यविक्रम ! तुम पिता की सेवा तो भली भांति करते हो ? ॥ ७ ॥

कच्चिद्दशरथो राजा कुशली[1] सत्यसङ्गरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चयः ॥ ८ ॥

राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने वाले, धर्म में निश्चित बुद्धि रखने वाले, एवं सत्यप्रतिज्ञ महाराज तो स्वस्थ हैं ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान्धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥

क्या उस विद्वान एवं महातेजस्वी ब्राह्मण का, जो नित्य धर्मकार्यों में तत्पर रहता है और इक्ष्वाकुकुल का उपाध्याय है, यथावत् सत्कार किया जाता है ? ॥ ९ ॥

सा तात कच्चित्कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥

हे तात ! माता कौशल्या और सुपुत्रवती माता सुमित्रा तो प्रसन्न हैं ? और परमश्रेष्ठा देवी कैकेयी तो आनन्द से हैं ? ॥ १० ॥

---

१ कुशली—अनामयः । (गो०)

कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो[1] बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा[2] सत्कृतस्ते[3] पुरोहितः[4] ॥ ११ ॥

हे तात ! विनम्र, अनुभवी, सत्कुलोत्पन्न एवं असूयारहित और समस्त सत्कर्मानुष्ठानों में निपुण, हमजोली और पुरोहित वशिष्ठ जी के पुत्र का सत्कार तो तुम करते हो न ? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते[5] सदा ॥ १२ ॥

अग्निहोत्र के कार्य में नियुक्त, हवन की विधियों को साङ्गोपाङ्ग जानने वाला, मतिमान और सरल स्वभाव पुरोहित, हवनकाल उपस्थित होने पर, तुमको सदा सूचना देता रहता है कि, नहीं ? ॥ १२ ॥

कच्चिद्देवान्पितॄन्मातॄर्गुरून्पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

हे तात ! देवता, पिता, माता, गुरु और पिता के समान पूज्य, बड़े बूढ़ों, वैद्यों और ब्राह्मणों को सब तरह से तुम मानते हो न ? ॥ १३ ॥

[6]इष्वस्त्र[7]वरसम्पन्नम[8]र्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं[9] कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

---

१ कुलपुत्रः—सत्कुलप्रसूतः । (गो०) २ अनुद्रष्टा—सकल सत्कर्म निपुणः । (शि०) ३ ते तव सवयस्कः । (शि०) ४ पुरोहितः—वसिष्ठपुत्रः । (शि०) ५ वेदयते—तुभ्यंज्ञापयति कचित् । (गो०) ६ इषवः—अमंत्रका-बाणाः । (गो०) ७ अस्त्राणिः—समंत्रकः । ८ अर्थशास्त्रं—नीति-शास्त्रं । (गो०) ९ उपाध्यायं—धनुर्वेदाचार्यं । (गो०)

हे तात ! अस्त्र (जो मंत्रबल से चलाये जांय) शस्त्र (जो बिना मंत्र के चलाये जांय) से सम्पन्न, नीति-शास्त्र-विशारद, धनुर्वा नाम के धनुर्वेदाचार्य का तो यथोचित मान तुम करते हो ? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमा[1] शूराः[2] श्रुतवन्तो[3] जितेन्द्रियाः[4] ।
[5]कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥

हे तात ! विश्वसनीय, धीर, नीतिशास्त्रज्ञ, लालच में न फँसने वाले और प्रामाणिक कुलोत्पन्न लोगों को तुमने अपना मंत्री बनाया कि नहीं ? ॥ १५ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
[6]सुसंवृतो मन्त्रधरैरमात्यैः [7]शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

क्योंकि हे राघव ! नीतिशास्त्रनिपुण एकान्त भेद की सलाह करने योग्य मंत्रियों द्वारा रक्षित, गुप्त परामर्श हो, राजाओं के लिये विजय का मूल है । (अर्थात् जिन राजाओं के मंत्री परामर्श को गुप्त रखने वाले होते हैं या जिन राजाओं के परामर्श गुप्त रहते हैं उन्हीं राजाओं की जीत होती है) ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषीः कच्चित्काले प्रबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम्[8] ॥ १७ ॥

---

१ आत्मसमाः—विश्वसनीया इति । (गो०) २ शूराः—धीराः । (गो०) ३ श्रुतवन्तः—नीतिशास्त्रज्ञाः । ४ जितेन्द्रियाः—परैरलोभनीया इति । (गो०) ५ कुलीनाः—प्रामाणिककुलोत्पन्नाः । (गो०) ६ सुसंवृतः—सुतरांगुप्तः । (गो०) ७ शास्त्रकोविदैः—नीतिशास्त्रनिपुणैः । (गो०) ८ अर्थनैपुणम्—अर्थसम्पादन रीतिम् । (शि०)

तुम निद्रा के वश में तो नहीं रहते ? यथा समय जाग तो जाते हो ? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति के उपाय तो विचारा करते हो ? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

अकेले तो किसी विषय पर विचार नहीं करते अथवा बहुत से लोगों के बीच बैठ कर तो सलाह नहीं करते ? तुम्हारा विचार कार्य रूप में परिणत होने के पूर्व दूसरे राजाओं को विदित तो नहीं हो जाता ॥ १८ ॥

[नोट—राजा को अकेले अथवा बहुत से लोगों में बैठ कोई सलाह न करनी चाहिये और न उसके विचार उपयुक्त समय के पूर्व प्रकट ही होने चाहिये ।]

कच्चिदर्थं[1] विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्[2] ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

अल्प प्रयास से सिद्ध होने वाले और बड़ा फल देने वाले कार्य को करने का निश्चय कर, उसका करना तुम तुरन्त आरम्भ कर देते हो कि नहीं ? उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते ? ॥१९॥

कच्चित्ते सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः[3] ॥ २० ॥

---

१ अर्थं—कार्यं । (गो०) २ महोदयं—महाफलं । (गो०) ३ पार्थिवाः—सामंतनृपाः । (गो०)

तुम्हारे निश्चित किये हुए सब कार्य भली भाँति पूरे हो जाने पर अथवा पूरे होने ही पर छोटे राजा जान पाते हैं न ? कार्य पूरे होने के पूर्व तो उनको वे कहीं नहीं जान लेते ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या[1] वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः[2] ।
त्वया वा तव वाऽमात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥

मंत्रियों के साथ की हुई तुम्हारी अप्रकाशित सलाह को, दूसरे लोग, तर्क से अथवा अनुमान से तो कहीं नहीं ताड़ लेते ॥ २१ ॥

कच्चित्सहस्रान्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं[4] महत् ॥ २२ ॥

तुम हज़ार मूर्खों को त्याग कर एक पण्डित (सलाहकार) का आश्रय ग्रहण करते हो न ? क्योंकि यदि सङ्कट के समय एक भी पण्डित पास हो, तो बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । अर्थात् बड़ा लाभ होता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाऽप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

राजा भले ही हज़ार या दस हज़ार मूर्खों को अपने पास रखे, परन्तु उन मूर्खों से उस राजा को कुछ भी साहाय्य नहीं मिल सकता ॥ २३ ॥

---

१ युक्त्यावा—अनुमानेनवा । (गो०) २ अपरिकीर्तिताः—अनुक्ताः इङ्गितादयः । (गो०) ३ अर्थकृच्छ्रेषु—कार्यसङ्कटेषु । (गो०) ४ महत्—निःश्रेयसं महदैश्वर्यं । (गो०)

एकोऽप्यमात्यो मेधावी [1]शूरो दक्षो[2] विचक्षणः[3] ।
राजानं राजपुत्रं* वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

किन्तु यदि एक भी बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, विचारकुशल और नीतिशास्त्र में अभ्यस्त मंत्री हो, तो राजा को वा राजकुमार को बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा देता है ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥२५॥

हे तात ! तुम, उत्तम जाति के नौकरों को उत्तम कार्य में, मध्यम जाति के नौकरों को मध्यम कार्य में और छोटी जाति के नौकरों को छोटे कामों में लगाते हो न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहा ञ्शुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

तुम उन मंत्रियों को, जो ईमानदार हैं, जो कुलपरंपरा से मंत्री होते आते हैं, जो शुद्ध हृदय और श्रेष्ठ स्वभाव के हैं, श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजितप्रजम् ।
राष्ट्रं तवानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

हे कैकेयीनन्दन ! तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड से उत्तेजित प्रजा कहीं तुम्हारा या तुम्हारे मंत्रियों का अपमान तो नहीं करती ॥ २७ ॥

---

१ शूरः—स्थिरबुद्धिः । (गो०) २ दक्षः—विचारसमर्थः । (गो०) ३ विचक्षणः—अभ्यस्तनीतिशास्त्रः । ४ पितृपैतामहान्—कुलक्रमागतान् । (गो०) * पाठान्तरे—" राजमात्रं " ।

कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं[1] यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार स्त्रियां परस्त्रीगमन करने वाले पुरुष को पतित समझ उसका अनादर करती हैं, या जिस प्रकार यज्ञ करने वाले यज्ञ-कर्म से पतित का अनादर करते हैं, उस प्रकार कहीं अधिक कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं[2] भृत्यसंदूषणे रतम् ।
[3]शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स वध्यते[4] ॥२९॥

जो राजा, विशेष धन के लालच में फँस, कुटिल नीति विशारद पुरुष को, सज्जनों में दोष लगाने वाले नौकर को और राजा तक को मार डालने में भय न करने वाले पुरुष को नहीं मारता, वह स्वयं मारा जाता है। सो हे भाई! तुम कहीं ऐसे लोगों को तो अपने पास नहीं रखते ? ॥ २९ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्शुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

हे भरत! तुमने किसी ऐसे पुरुष को, जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि रचना में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वासपात्र, सत्कुलोद्भव, स्वामिभक्त, और कार्यकुशल हो, अपना सेनापति बनाया है कि नहीं ? ॥ ३० ॥

---

१ पतितं—यष्टुकामंपतितं । (गो०) २ वैद्यं—कणिकोक्तकुटिल-नीतिविद्याविदं । (गो०) ३ शूरं—राजहिंसनेपिनिर्भयं । (गो०) ४ वध्यते—राज्याद्भ्रष्टो भवति । (गो०)

बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना[1] विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥

अत्यन्त बलवान्, प्रसिद्ध, युद्धविद्या में निपुण और जिसके बल की परीक्षा ली जा चुकी है और जो पराक्रमी है ऐसे पुरुषों को पुरस्कृत कर तुमने उत्साहित किया है कि नहीं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं[2] च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

तुम सेना वालों को कार्यानुरूप भोजन और वेतन यथासमय देने में विलम्ब तो नहीं करते ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति दुष्यन्ति सोऽन[3]र्थः सुमहान्स्मृतः ॥३३॥

क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलने से, नौकर लोग कुपित होते हैं और मालिक की निन्दा करते हैं। नौकरों का ऐसा करना, एक बड़े भारी अनर्थ की बात है ॥ ३३ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः[2] प्रधानतः[3] ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

भला सब राजपूत और सरदार तो तुम्हारे ऊपर अनुराग रखते हैं ? और क्या समय पर वे तुम्हारे लिये सावधानता पूर्वक अपने प्राण दे डालने को तैयार हो सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

---

१ दृष्टापदाना—अनुभूतं पौरुषं । (रा०) २ भक्तं—अन्नं वेतनं । (रा०)
३ कुलपुत्राः—क्षत्रियकुलप्रसूताः । (गो०) ४ प्रधानतः—प्रधानाः । (गो०)

कच्चिज्ज्ञानपदो [1]विद्वान्दक्षिणः[2] प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ, हाज़िरजवाब,[1] (प्रत्युत्पन्नमति), यथोक्तवादी और दूसरे की कही बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुष को, तुमने अपना दूत बनाया है कि, नहीं ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

अन्य राज्यों के अठारह पदाधिकारी और अपने राज्य के तीन (मंत्री, पुरोहित, युवराज) छोड़ शेष, पन्द्रह राज्याधिकारियों का, हाल जानने के लिये प्रत्येक के पास तीन तीन ऐसे भेदिया जो आपस में एक दूसरे को न जानते हों, नियुक्त कर, इन सब की कारवाइयों का हाल तुम जानते रहते हो न ? ॥ ३६ ॥

[नोट—अठारह पदाधिकारी ये हैं—

१ मंत्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ अन्तःपुराधिकारी ७ बंधनगृहाधिकारी (दरोगा जेल) ८ धनाध्यक्ष, ९ राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देने वाला, १० प्राड्विवाक (वकील) ११ धर्माध्यक्ष, १२ सेना को वेतन बाटने वाला, १३ ठेकेदार, १४ नगराध्यक्ष (कोतवाल), १५ राष्ट्रान्तपाल (सीमान्त का अफसर) १६ दुष्टों को दण्ड देने वाला (मजिस्ट्रेट) १७ जल, पर्वत, वन का रक्षक और १८ दुर्गों का रक्षक ।]

---

१ विद्वान्—पराभिप्रायज्ञः । (गो०) २ दक्षिणः—समर्थः । (गो०)

कच्चिद्व्यपास्तान हितान्प्रतियातांश्च[2] सर्वदा ।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

हे रिपुसूदन ! उन शत्रुओं को जिनको तुमने अपने राज्य से निकाल दिया था और फिर किसी तरह लौट कर आ गये हैं, उनको दुर्बल समझ, उनकी ओर से तुम कहीं असावधान तो नहीं रहते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लौकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे ।
[3]अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

तुम कहीं नास्तिक ब्राह्मणों को तो अपने पास नहीं रखते ? क्योंकि ये लोग अपने को बड़ा पण्डित लगाते हैं, परन्तु वास्तव में मूर्ख होने के कारण वे यथावत् ज्ञानवन्त नहीं होते अथवा शास्त्र के तत्व को न जानने के कारण धर्मानुष्ठान से लोगों का चित्त हटा कर, लोगों को नरक भेजने में बड़े कुशल होते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः[4] ।
[5]बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

मुख्य मुख्य प्रामाणिक धर्मशास्त्रों के विद्यमान रहते भी, उनकी बुद्धि सदा वेदविरुद्ध तर्कों ही की ओर दौड़ा करती हैं और शुष्क तर्क वितर्क करने की आदत पड़ जाने से वे सदा अनर्थकारी वचन ही बोला करते हैं ॥ ३९ ॥

[नोट—अतः ऐसे नास्तिक दुर्बुद्धियों से सदा दूर रहना ही उचित है ।]

---

१ व्यपास्तान्—निष्काशितान् । (गो०) २ प्रतियातान्—पुनरागतान् । (गो०) ३ अनर्थकुशला—यथावज्ज्ञानवन्तःतेनभवन्तीत्यनयकुशलाः । (गो०) ४ दुर्बुधाः—वेदमार्गविपरीतबुद्धयः । (गो०) ५ आन्वीक्षिकींबुद्धिं प्राप्य—शुष्कतर्कविषयांबुद्धिमास्थाय । (गो०)

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसङ्कुलाम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥
प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां [1]वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित्समुदितां[2] स्फीतामयोध्यां परिरक्षसि ॥ ४२ ॥

हे तात ! तुम उस अयोध्या की तो भली भाँति रक्षा करते हो, जो हमारे पिता पितामहादि वीर पुरुषों की भोगी हुई, अपने नाम को चरितार्थ करने वाली, दृढ द्वारों वाली, हाथी घोड़े और रथों से भरी हुई, वर्णानुसार धर्म कार्यों में सदा तत्पर रहने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों से युक्त, जितेन्द्रिय और महाउत्साही हज़ारों आर्य जनों से सुशोभित, विविध आकार प्रकार के भवनों से पूर्ण, विद्वज्जनों से भरी हुई और जो दिन दिन उन्नतावस्था को प्राप्त हो रही है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः [3]सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च[4] तटाकैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
[5]प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमा पशुमान्हिंसाभिरभिवर्जितः[6]* ॥ ४४ ॥

---

१ वैद्य जनाकुलां—विद्वज्जनाः तैरावृतां । (गो०) २ समुदितां—सुसन्तुष्टजनाः । (गो०) ३ सुनिविष्टजनाकुलः—सुप्रनिष्ठितजनव्याप्तः । (गो०) ४ प्रपाभिः—पानीयशालाभिः । (गो०) ५ सुकृष्टसीमा—अकृष्टाईषत्कृष्टाच भूमिर्नंतत्रासीत् । (गो०) ६ हिंसाभिः ईतिभिः षड्भिः । (गो०)

* पाठान्तरे—" परिवर्जितः " ।

अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

हे राघव ! जिस देश में अनेक यज्ञानुष्ठान हो चुके हैं, जहां सुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं, जो अनेक देवालयों पौंसलों और तड़ागों से शोभित है, जो हर्षित स्त्री पुरुषों से और सामाजिक उत्सवों से शोभायमान है, जहां पर तिल बराबर भी ज़मीन बिना जुती नहीं है, जहां पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पशु भरे पड़े हैं, जहां १ ईति का कभी भय नहीं होता, जहां के लोग मेघजल ही के ऊपर निर्भर नहीं है, (अर्थात् सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण खेतों की सिंचाई के लिये वर्षाजल पर ही किसान निर्भर नहीं हैं), जो रमणीक है, जो हिंसक पशुओं से रहित हैं, जो चोरी आदि सब भयों से रहित हैं, जो नाना खानों से शोभित है, जहां पापीजन एक भी नहीं है, जो उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त है तथा जो मेरे पूर्व-पुरुषों से सुरक्षित है, वह देश तो सुखी है ? ॥४३॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

[१ ईति—अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः खगाः ।
अत्यासन्नाश्चराजानः षडेताईतयः स्मृताः । (गो०)]

कच्चित्ते दयिताः[1] सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः[2] ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोको हि सुखमेधते ॥ ४७ ॥

हे तात ! जो लोग खेती कर और पशुओं को पाल, अपना गुज़ारा करते हैं, उन पर तुम प्रसन्न तो रहते हो ? क्योंकि ये लोग जैन दैन के कार्य में नियुक्त रह कर धनधान्य युक्त होते हैं ॥ ४७ ॥

---

1 दयिताः—प्रियाः । (शि०) 2 कृषिगोरक्षजीविनः—वैश्याः । (गो०)

तेषां [1]गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

तुम उन लोगों को उनकी इष्ट वस्तु दे तथा उनका अरिष्ट दूर कर उनका भरण पोषण तो करते हो ? क्योंकि राजा को उचित है कि, वह अपने राज्य में बसने वालों की धर्म से (ईमानदारी से) रक्षा करे ॥ ४८ ॥

कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि[2] कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥

क्या तुम स्त्रियों को प्रसन्न रखते हो ? उनकी भली भाँति रक्षा करते हो कि नहीं ? उनका विश्वास तो नहीं कर लेते ? कभी स्त्रियों को अपना गुप्त भेद तो नहीं बतला देते ? ॥ ४९ ॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः[3] ।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां[4] कुञ्जराणां विभूषितम्* ॥५०॥

जिन वनों में हाथी हैं वे भली भाँति रखाये तो जाते हैं ? जो हथिनियां, हाथियों को पकड़वाती हैं, उनका पालन पोषण तो ठीक ठीक होता है ? तुम हाथी हथिनियों और घोड़ों के लाभ से तृप्त तो नहीं होते ? ॥ ५० ॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम् ।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे[5] ॥ ५१ ॥

---

१ गुप्तपरीहारैः—दृष्टप्रापणानिष्टनिवारणैः । (गो०) २ सान्त्वयसि—अनुकूलतयावर्तसे । (गो०) ३ धेनुकाः—गजग्रहण साधनभूताः करिण्यः । (गो०) ४ गणिकाः—करिण्यः । (गो०) ५ महापथे—सभायां । (गो०)

* पाठान्तरे—" चलुप्यसि " ।

हे राजपुत्र ! तुम अपने को सर्व प्रकार से भूषित कर दोपहर से पहिले ही, सभा में जा, प्रजा जनों से मिलते हो कि नहीं ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥

तुम्हारे यहाँ जो काम करने वाले लोग हैं, वे निर्भय हो तुम्हारे निकट तो सदा नहीं चले आया करते या मारे डर के तुमसे अति दूर तो नहीं रहते। क्योंकि ये दोनों ही बातें लाभप्रद नहीं हैं। अतः काम करने वाले के साथ मध्यम व्यवहार करना उचित है। (अर्थात् इनका कभी कभी तो तुम्हारे पास आना और कभी कभी दूर रहना ही वाञ्छनीय है) ॥ ५२ ॥

कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः[1] ॥ ५३ ॥

तुम्हारे सब किले तो धन, धान्य, हथियार, जल, कल, क्रिया-कुशल तीर चलाने वाले योद्धाओं से परिपूर्ण हैं कि नहीं ? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
[2]अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

हे राघव ! तुम्हारे कोश में आमदनी अधिक और आमदनी से कम व्यय है कि नहीं, तुम्हारे कोश का धन कहीं नाचने गाने वालों को तो नहीं लुटाया जाता ? ॥ ५४ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

---

१ शिल्पिधनुर्धरैः—क्रियाकुशलधनुर्द्धारिभिः । (शि०) २ अपात्रेषु—नटविटगायकेषु । (गो०)

देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा और मित्रगण—इन सब के लिये तुम्हारे कोश का धन व्यय किया जाता है कि, नहीं ? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्माऽऽक्षारितश्चौरकर्मणा ।
अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

जब अच्छे चरित्र वाले साधु लोग, जो झूँठे चोरी आदि अपवादों से दूषित हो, विचारार्थ, न्यायालय में उपस्थित किये जाते हैं, तुम्हारे नीतिशास्त्रकुशल लोग उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किये विना ही, लालच में फस, उनको कहीं दण्ड तो नहीं दे देते ? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! जो चोर चोरी करते समय पकड़ा गया और जिरह से जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका, वह चोर, कहीं घूँस के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता ॥ ५७ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्गतस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

धनी और ग़रीब का झगड़ा होने पर तुम्हारे बहुश्रुत (अनुभवी) सचिव, लोभरहित हो, दोनों का मुकद्दमा, न्यायपूर्वक फैसल करते हैं कि नहीं ? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यस्राणि राघव ।
तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

क्योंकि हे राघव ! झूठे दोषारोपण के लिये दण्डित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए आँसू उस राजा के, जो केवल अपने शारीरिक सुख (ऐश आराम) के लिये राज्य करता है और न्याय की ओर ध्यान नहीं देता, पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं ॥ ५९ ॥

कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यमुख्यांश्च राघव ।
[1]दानेन मनसा[2] वाचा[3] त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥

हे राघव ! तुम वृद्धों, बालकों, वैद्यों और मुखिया लोगों को, (१) उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके, (२) उनके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करके और (३) उनसे आश्वासन सूचक वचन कह—(इन) तीन तरह से राज़ी तो रखते हो ? ॥ ६० ॥

कच्चिद्गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान्देवतातिथीन् ।
चैत्यांश्च[4] सर्वान्सिद्धार्थान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥

तुम गुरु, वृद्ध, तपस्वि, देवता, अतिथि, चौराहे के बड़े वृक्षों और विद्या-तपोनिष्ठ ब्राह्मणों को तो श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हो ? ॥ ६१ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन च न बाधसे ॥ ६२ ॥

कहीं धर्मानुष्ठान के समय को अर्थोपार्जन में अथवा अर्थोपार्जन के समय को धर्मानुष्ठान में तो नष्ट नहीं कर देते ? अथवा सुखाभिलाष के लिये विषयवासना में फंस, अर्थोपार्जन और धर्मानुष्ठान दोनों का समय तो नहीं गँवा देते ? ॥ ६२ ॥

---

१ दानेन—अभिमतवस्तुप्रदानेन । (गो०) २ मनसा—स्नेहेन । (गो०) ३ वाचा—सान्त्ववचनेन । (गो०) ४ चैत्यान्—देवतावासभूतचतुष्पथस्थ महावृक्षान् । (गो०)

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्भरत सेवसे ॥ ६३ ॥

हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! हे कालज्ञ भरत ! धर्म अर्थ और काम इन तीनों को समय विभाग कर किया करते हो कि नहीं ? (प्रातःकाल दानादिधर्म में, तदनन्तर राजकाज में, और रात—काम के लिये) अर्थात् कहीं एक ही काम में तो सारा समय नहीं बिता देते ॥ ६३ ॥

कच्चिते ब्राह्मणाः शर्म[1] सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।
[2]आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

हे महाप्राज्ञ ! पुरजन, जनपदवासी और धर्मशास्त्र के सम्पूर्ण अर्थों को जानने वाले पण्डित तुम्हारे सुख के लिये प्रार्थना तो किया करते हैं ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं [3]पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥
मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं[4] च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

हे भरत ! १ नास्तिकपना, २ असत्यभाषण, ३ क्रोध, ४ अनवधानता, ५ दीर्घसूत्रता, ६ ज्ञानियों से न मिलना, ७ आलस्य, ८

---

१ शर्म—सुखं । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयन्ते ३ पञ्चवृत्तिताम्—पञ्चेन्द्रियपरवशतां । (गो०) ४ प्रत्युत्थानंचसर्वतः—नीचस्यानीचस्याप्यागमने प्रत्युत्थानमित्यर्थः । (गो०)

इन्द्रियों की परवशता, ६ मंत्रियों को अवहेला कर स्वयं अकेले ही राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार करना, १० अशुभ चिन्तकों अथवा उल्टी बात सुझाने वालों से सलाह करना, ११ निश्चित किये हुए कामों को आरम्भ न करना, १२ सलाह को न छिपाना, १३ मङ्गल कृत्यों का परित्याग, और १४ नीच ऊँच सब को देख उठ खड़ा होना या सब को अभ्युत्थान देना अथवा चारों ओर युद्ध करते फिरना—इन चौदह राजदोषों को तो तुमने त्याग दिया है? ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

दश पञ्च चतुर्वर्गान्सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥

हे भरत! १ शिकार, २ जुआ, ३ दिन का सोना, ४ निन्दा करना, ५ स्त्री, ६ मद, ७ नृत्य, ८ गीत, ९ वाद्य और १० वृथा इधर उधर घूमना (ये दश कामज दोष हैं)—इनको; १ जल सम्बन्धी २ पर्वत सम्बन्धी ३ वृक्ष सम्बन्धी ४ ऊसर सम्बन्धी और ५ निर्जल देश सम्बन्धी, इन पांच प्रकार के दुर्गों को; १ साम २ दाम३ दण्ड और ४ भेद—इन चार नीतियों को; १ स्वामी २ मंत्री ३ राष्ट्र ४ दुर्ग, ५ कोश ६ सेना ७ मित्रराज्य, इन सात अंगों को—तुम भली भांति जानते और इन पर विचार किया करते हो कि नहीं? १ चुगुलपन, २ दुःसाहस, ३ द्रोह, ४ डाह ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणां जयं बुद्धा षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥

५ गुण में दोष देखना, ६ अर्थ में दोष लगाना, ७ कठोरवचन, ८ तीक्ष्णदण्ड देना, (ये क्रोधज आठ दोष हैं)—इनको; १ धर्म २ अर्थ और ३ काम—इन तीनों को; तीन प्रकार की विद्याओं

क्या (तीनों वेदों का पढ़ना) ; १ सन्धि, २ विग्रह, ३ चढ़ाई, ४ समय की प्रतीक्षा करते रहना, ५ शत्रुओं में फूट फैलाना, और ६ किसी बली को अपना सहायक बनाना इन छः बातों को ; १ अग्नि २ जल, ३ व्याधि ४ दुर्भिक्ष और महामारी इन पाँच तरह की दैविक विपत्तियों को तुम भली भाँति जानते तो हो ? अधिकारियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से और राजा के लालच से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भली भाँति जानते और इन पर ध्यान तो देते हो ? १ बालक २ वृद्ध ३ दीर्घ रोगी ४ जातिबहिष्कृत, ५ डरपोक, ६ दूसरों को डरपाने वाला, ७ लोभी ८ लोभी का संबन्धी, ९ प्रजा जिससे विरक्त हो, १० इन्द्रियासक्त, ११ बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला १२ देव-ब्राह्मण-निन्दक १३ भाग्यहीन १४ भाग्य पर निर्भर रहने वाला १५ अकाल का मारा, १६ विदेश में मारा मारा फिरने वाला, १७ बहुत शत्रुओं वाला १८ यथासमय काम न करने वाला १९ सत्य धर्म में जो तत्पर नहीं २० और सेना का सताया हुआ या बड़ा पहलवान—इन बीसों को ; राज्य, स्त्री, स्थान, देश, जाति और धन जिनके छीन लिये गये हों (यह प्रकृति मण्डल है)—इनको : शत्रु, मित्र, शत्रुका भी भाँति का शत्रु और परममित्र ये राजमण्डल हैं—इनको ; तुम मित्र, मित्र जानते और इन पर ध्यान देते हो ? ॥ ६६ ॥

यात्रादण्डविधानं[1] च द्वियोनी[2] सन्धिविग्रहौ ।

कच्चिदेतान्महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

---

१ यात्रादण्ड विधानं—यात्रा यानं दण्डस्यसैन्यस्यविधानं संविधानं व्यूहभेद विधानं । (गो०) २ द्वियोनी—संधिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयौ संधेरूपं । (गो०)

हे महाप्राज्ञ ! यात्राविधान, दण्डविधान, सन्धि, विग्रह, करने न करने वालों को परख लेना—इन बातों को तुम भली भाँति जानते हो कि नहीं ? ७० ॥

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टैश्चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित्सम्यस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे मिथः[1] ॥ ७१ ॥

हे मतिमान् ! तुम नीतिशास्त्र के अनुसार तीन या चार मंत्रियों को एकत्र कर एक साथ, अथवा उनसे अलग अलग गुप्त परामर्श करते हो ? ॥ ७१ ॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥

क्या तुम अग्निहोत्रादि अनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो ? दान और भोग में लगा कर क्या तुम अपने धन को सफल करते हो ? यथाविधि सन्तानोत्पति कर स्त्रियों को तुम सफल करते हो ? तुमने जो शास्त्र श्रवण किया है उसके अनुसार आचरण कर तुम शास्त्रश्रवण को चरितार्थ करते हो ॥ ७२ ॥

[महाभारत में लिखा है—

अग्निहोत्रफलावेदाः, दत्तमुप्तफलं धनं ।
रतिपुत्रफलादाराः शीलवृत्तफलं श्रुतं ॥

७२वें श्लोक का आशय इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है ।]

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥

---

१ मिथः—रहसि मंत्रं मंत्रयसेकच्चित् । (गो०)

धर्म, अर्थ तथा काम के सम्बन्ध में जो बातें मैंने तुमसे अभी कही हैं और जिनके अनुसार चलने से यश और आयु बढ़ती है, वे तुम्हें पसंद है कि नहीं ? ॥ ७३ ॥

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहाः ।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥७४॥

सन्मार्गानुसारिणी और अनिन्दता, जिससे हमारे पूर्वज पिता पितामहादि चलते थे, उसी वृत्ति को अवलंबन कर तुम भी चलते हो न ? ॥ ७४ ॥

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥

हे भरत ! तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले ही तो नहीं खा लेते ? जो मित्र खाते समय उपस्थित हो उनको दे कर खाते हो न ? ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्ना वसुधा यथाव-
दितश्च्युतः[1] स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

इति शततमः सर्गः ॥

देखो जो नीतिज्ञ और शासनदण्डधारी राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करता है—वह ज्ञानी राजा पूर्वराजाओं की तरह सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो, मरने पर स्वर्ग में जा वास करता है ॥ ७६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

---

१ च्युतः—प्रारब्ध कर्मावसानेमृत इत्यर्थः । (गो०)

एकोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।
किं मे [1]धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन भरत जी बोले कि, मैं तो स्वकुलोचित रीति से रहित हूँ—अतः राजधर्म का उपदेश मेरे लिये किस काम का ॥ १ ॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।
ज्येष्ठपुत्रे स्थिते राजन्न कनीयान्नृपो भवेत् ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हमारे कुल में तो सदा से यह रीति चली आती है कि, बड़े पुत्र के सामने छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ॥ २ ॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय[2] नः ॥ ३ ॥

अतः हे राघव ! आप मेरे साथ धनधान्यपूर्ण अयोध्यापुरी में चलिये और अपना राज्याभिषेक करवा कर, हमारे कुल का कल्याण कीजिये ॥ ३ ॥

राजानं मानुषं प्राहुर्दैवत्वे सम्मतो मम ।
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥

---

१ धर्मविहीनस्य—स्वकुलोचितरीतिःविहीनस्य । (शि०) २ भवाय—भद्राय । (गो०)

लोग राजा को भले ही मनुष्य कहा करें, किन्तु मैं तो राजा को देवता समझता हूँ। क्योंकि उसके धर्म और अर्थ से अनुमोदित चरित्र लोकोत्तर होते हैं। अर्थात् साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं ॥ ४ ॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।
दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥

जब मैं अपनी ननिहाल केकयराज्य में था और आप वन चले आये थे, तब अनेक यज्ञ करने वाले तथा साधु सज्जन लोगों से प्रशंसित महाराज दशरथ स्वर्ग को सिधारे ॥ ५ ॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे ।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥ ६ ॥

सीता और लक्ष्मण के साथ आपके अयोध्या छोड़ते ही महाराज दुःख और शोक से ऐसे विकल हुए कि, वे स्वर्ग को चले गये ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥

हे पुरुषसिंह ! अब आप इस समय उठिये और पिता जी को जलांजलि दीजिये। शत्रुघ्न और मैं तो पहिले ही जलाञ्जलि दे चुका हूँ ॥ ७ ॥

प्रियेण खलु दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

हे राघव ! लोग कहा करते हैं कि, प्यारे पुत्र का दिया हुआ पिण्ड और जल पितृलोक में अक्षय्य हो कर बना रहता है, सो आप ही पिता जी के प्रिय पुत्र हैं ॥ ८ ॥

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वयाविहीनस्तव शोकरुग्णः[1] ।
त्वां संस्मरन्स्वर्गमवाप* राजा ॥ ९ ॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

क्योंकि आप ही को सोचते, आप ही के दर्शन की इच्छा करते, आपही को स्मरण करते, आप हीं के वियोगजनित दुःख से विकल और आप ही का नाम लेते पिता जी स्वर्ग पधारे हैं ॥ ९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तां श्रुत्वा करुणां[2] वाचं पितुर्मरणसंहिताम् ।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के मुख से पिता के मरने की जब शोकप्रद बात सुनी, तब वे अचेत हो गये ॥ १ ॥

---

१ रुग्णः—पीडितइतियावत् । (गो०) २ करुणां—शोकावहां । (गो०)

* पाठान्तरे—"सस्मरन्नस्तमितः" "सस्मरन्नेवगतः" ।

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा ।
वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परन्तपः ॥ २ ॥

जैसे दैत्यों के शत्रु इन्द्र दैत्यों पर युद्धकाल में वज्र का प्रहार करते हैं, वैसे ही भरत जी के वज्ररूपी वचन का प्रहार श्रीरामचन्द्र पर हुआ ॥ २ ॥

प्रगृह्य बाहू[1] रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः ।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी (पछतावे से) दोनों हाथ मलते हुए, फरसे से काटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तथा निपतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् ।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥

जगतपति श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर ऐसे मूर्छित पड़े थे, मानों कोई मतवाला हाथी नदी का तट ढहाते ढहाते थक कर पड़ा हुआ सो रहा हो ॥ ४ ॥

भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम् ।
रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी को मूर्छित हुआ देख सब भाई जानकी जी सहित शोक से विकल हो रोते रोते उन महाधनुषधारी श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर जल छिड़क उनकी मूर्छा भङ्ग करने का प्रयत्न करने लगे ॥ ५ ॥

---

१ बाहूप्रगृह्य —पाणिंनापाणिनीष्पीड्यउद्धृत्यवा । (गो०)

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामास्रमुत्सृजन् ।
उपाक्रमत* काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी सचेत हुए, तब वे रोते रोते बहुत विलाप करने लगे ॥ ६ ॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी यह सुन कर कि, पिता जी स्वर्ग सिधारे हैं, भरत जी धर्मसङ्गत यह वचन बोले ॥ ७ ॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥

जब पिता जी ही स्वर्ग चले गये, तब मैं अयोध्या जा कर ही क्या करूँगा । उन राजश्रेष्ठ के बिना अयोध्या का शासन कौन करेगा ॥ ८ ॥

किन्नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः ।
यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः ॥ ९ ॥

मेरा जैसा निरर्थक जन्म धारण करने वाला पुत्र, उन महात्मा पिता के लिये क्या कर सकता है । मेरे नियोगजन्य शोक से तो उनका देहान्त हुआ और मैं उनका अन्तिम संस्कार भी न कर पाया ॥ ९ ॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयाऽनघ ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—" उपाक्रान्त " ।

हे निष्पाप भरत ! तुम्हीं अच्छे रहे कि, तुमने और शत्रुघ्न ने पिता जी के सम्पूर्ण अन्त्येष्टिकर्म तो कर लिये ॥ १० ॥

निष्प्रधानामनेकाग्रां[1] नरेन्द्रेण विनाकृताम् ।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

अभी क्या, मैं तो वनवास से लौट कर भी उन प्रधान पुरुषहीन स्वास्थ्यवर्जित अयोध्या में जाना नहीं चाहता ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परन्तप ।
कोऽनु शासिष्यति[2] पुनस्तातें लोकान्तरं गते ॥१२॥

क्योंकि हे परन्तप ! मैं वनवास की अवधि पूरी कर यदि अयोध्या जाऊँ भी तो वहाँ अब मुझे हिताहित का उपदेश देने वाला है ही कौन ॥ १२ ॥

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् ।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम् ॥१३॥

मेरे सद् आचरणों को देख, पिता जी मुझे स्नेहपूर्वक जो उपदेश देते थे, अब उन कर्णसुखदायी उपदेशों को मैं वहाँ किससे सुनूँगा ? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा स भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः ।
उवाच शोकसन्तप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ १४ ॥

---

१ अनेकाग्रां—स्वास्थ्यरहितां । (शि०) २ अनुशासिष्यति—हिताहित विषय प्रवृत्ति निवृत्तिकारयिष्यति । (रा०)

शोकसन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से यह कह कर सीता की ओर मुख कर उन पूर्णमासी के चन्द्रमा सदृश मुख वाली जानकी जी से बोले ॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण ।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम् ॥ १५ ॥

हे सीते ! तुम्हारे ससुर स्वर्ग सिधारे । हे लक्ष्मण ! तुम पिता-हीन हो गये । क्योंकि महाराज के स्वर्गवास का यह दुःखदायी संवाद मुझे भरत जी से अवगत हुआ है ॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां बाष्पो* नेत्रेष्वजायत ।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, सब बहुगुणी एवं यशस्वी राजकुमार रोने लगे ॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य राघवम् ।
अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन सब भाइयों ने शोक से निकल श्रीरामचन्द्र को बहुत समझाया बुझाया और कहा अब आप महाराज को जलाञ्जलि दीजिये ॥ १७ ॥

सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम् ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामशक्नेक्षितुं पतिम् ॥ १८ ॥

सीता जी के नेत्रों में, ससुर के देहान्तरित होने का संवाद सुनने से, इतने आँसू भर गये कि, वे अपने पति को न देख सकीं ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"बाष्पं ।"

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदन्तीं जनकात्मजाम् ।
उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १९ ॥

तब रुदन करती हुई जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी ने समझा बुझा कर धीरज बंधाया । फिर शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने, दुखित लक्ष्मण जी से कहा ॥ १९ ॥

आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम् ।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! तुम इस समय इंगुदी के बीजों (हिंगोट) को पीस कर ले आओ और एक नया चीर मेरे पहिनने के लिये ले आओ । अब मैं पिता जी को जलाञ्जलि देने को चलता हूँ ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद्व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज ।
अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥ २१ ॥

सीता आगे आगे चले और तुम इनके पीछे चलो और मैं सब के पीछे चलूँगा क्योंकि इस दारुण समय में चलने का यही विधान है ॥ २१ ॥

[नोट—ऐसे समय में चलने के लिये धर्मसूत्र का यह प्रमाण है—
" सर्वे कनिष्ठप्रथमा अनुपूर्वमितरेतरेषियोग्रे । "]

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः ।
मृदुर्दान्तश्च शान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् ।
अवातारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकु राजघराने के पुराने अनुचर, ज्ञानी, महामति, कोमलहृदय, जितेन्द्रिय, शान्तस्वभाव और श्रीराम में दृढ़ भक्ति रखने वाले सुमंत्र, उन राजकुमारों को अनेक प्रकार से समझा कर, उन्हें निर्मल जलवाली अथवा पुण्यसलिला मंदाकिनी नदी पर ले गये ॥ २२ ॥ २३ ॥

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपागम्य यशस्विनः ।
नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥२४॥

रमणीय और सदा फूले हुए वन में हो कर वहने वाली मंदाकिनी के सुन्दर घाट पर, वे लोग अति कष्ट से गिरते पड़ते पहुँचे ॥ २४ ॥

शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं [1]शिवमकर्दमम् ।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तन्नैतत्ते[2] भवत्विति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस कीचड़ रहित और शीघ्र वहने वाली तथा कल्याणप्रद मंदाकिनी नदी के घाट पर पहुँच और "एतद्भवतु" (यह जल आपको मिले) कह कर महाराज दशरथ को जलाञ्जलि देने लगे ॥ २५ ॥

प्रगृह्य च महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् ।
दिशं याम्यामभिमुखोरुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस समय महाराज श्रीरामचन्द्र जी अंजली में जल भर और दक्षिण की ओर मुख कर रुदन करते हुए बोले ॥ २६ ॥

---

१ शिवं—कल्याणप्रदं । (शि०) २ तन्नैतत्ते—हे तात एतज्जलंभवतु त्वत्सन्निधौतिष्ठतु । (शि०)

एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।
पितृलोकगतस्याद्य महत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

हे राजशार्दूल ! आज यह मेरा दिया हुआ जल, पितृलोक में आपको अक्षय हो कर मिले ॥ २७ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युतीर्य स राघवः ।
पितुश्चकार तेजस्वी निवापं[1]* भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥

तदनन्तर तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने भाइयों सहित मंदाकिनी के तट से ऊपर आ कर, महाराज को पिण्ड दिये ॥ २८ ॥

ऐङ्गुदं बदरीमिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बेर फलों को इंगुदी के आटे में मिला पिण्ड बनाये और कुश बिछा कर उन पिण्डों को उन कुशों पर रख, दुःखी हो रोते हुए यह कहा ॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! आज कल हम लोग जो खाते हैं, वही इस समय आप भोजन कीजिये । क्योंकि मनुष्य जो स्वयं खाता है, उसीसे वह अपने देवतों को भी सन्तुष्ट करता है ॥ ३० ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य नदीतटात् ।
आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥

---

१ निवापं—पिण्डप्रदानं । (गो०) * पाठान्तरे—" निर्वापं " ।

फिर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी जिस मार्ग से नदी के किनारे पर उतर कर आये थे, उसी मार्ग से नदी के तट को छोड़, उस मनोहर शिखर वाले पर्वत पर चढ़ गये ॥ ३१ ॥

ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः ।
परिजग्राह बाहुभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

वहां वे अपनी पर्णकुटी के द्वार पर पहुँच भरत और लक्ष्मण को दोनों भुजाओं से थाम रोने लगे ॥ ३२ ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिश्रुत्कोऽभवद्गिरौ ।
भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहनामिव नर्दताम् ॥ ३३ ॥

उस समय चारों राजकुमारों और सीता जी के, गर्जते हुए सिंहों का दहाड़ जैसे रोने के शब्द से पर्वत गूँज उठा ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।
विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥

पिता जी को जलदान कर चारों भाइयों के रोने का शब्द सुन, भरत की सेना के लोग डर गये ॥ ३४ ॥

अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः सङ्गतो ध्रुवम् ।
तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

वे आपस में कहने लगे कि श्रीरामचन्द्र से भरत की भेंट अवश्य हो गयी । क्योंकि पिता के मरने से वे अत्यन्त शोकाकुल हो विलाप कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

अथ वासान्परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।
अप्येकमनसो[1] जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥

---

१ एकमनसः—समानहृदया । (शि०)

वे सब सैनिक अपने डेरों को छोड़ जिस ओर से रोने का शब्द सुन पड़ता था, उस ओर मुख कर और एक मन हो दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये सुलंकृतैः ।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनमें से बहुत से लोग जो सुकुमार थे वे घोड़े, हाथी और अच्छे अच्छे एवं सजे हुए रथों पर सवार हो और कितने ही पैदल ही उस शब्द की ओर बढ़े ॥ ३७ ॥

अचिरमोषितं रामं चिरविमोषितं यथा ।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाऽऽश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी को अयोध्या छोड़े अभी बहुत दिन नहीं हुए थे; तथापि उन सब को ऐसा जान पड़ता था कि, मानों श्रीराम को अयोध्या छोड़े बहुत दिन बीत गये हैं। अतएव श्रीरामचन्द्र जी को देखने की उत्कण्ठा से वे सब उनके आश्रम में पहुँचे ॥३८॥

भ्रातॄणां त्वरितास्तत्र द्रष्टुकामाः समागमम् ।
ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिस्वनाकुलैः ॥ ३९ ॥

चारों भाइयों का समागम देखने के लिये लोग अनेक प्रकार के वाहनों पर सवार हो कर गये। उन वाहनों के पशुओं खुरों और पहियों से बड़ा शब्द हुआ ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानैः खुरनेमिसमाहता ।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥

उस समय उन वाहनों के पशुओं खुरों और पहियों की आहट से वह स्थान उसी प्रकार शब्दायमान हुआ, जिस प्रकार मेघों के समागम में, आकाश शब्दायमान होता है ॥ ४० ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।
आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस शब्द से डर कर हथिनियों सहित हाथी अपने मद की गन्धि से वन को सुवासित करते, वह वन छोड़ दूसरे वन में चले गये ॥ ४१ ॥

वराहऋक्षसङ्घाश्च महिषाः सर्पवानराः ।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

शूकर और भेड़ियों के झुंड, भैंसा, सर्प, व्याघ्र, गोकर्ण नीलगाय और पृषत जाति के हिरन बहुत डर गये ॥ ४२ ॥

रथाङ्गसाह्वा नत्यूहा हंसाः कारण्डवाः प्लवाः ।
तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥४३॥

चक्रवाक, जलमुर्ग, हंस, कारण्डव, प्लव नामक जलपक्षी, कोकिल, क्रौंच ये सब पक्षी उस शब्द से, मूर्छित से हो इधर उधर भाग गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन विस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम् ।
मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं मवभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्द से त्रस्त पंक्षियों से ढका हुआ आकाश और मनुष्यों से अच्छादित पृथ्वी दोनों ही अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्* ।
आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उन सब लोगों ने सहसा जा कर, वहाँ देखा कि, यशस्वी, दोषरहित और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र चबूतरे पर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं सहितो मन्थरामपि ।
अभिगम्य जनो रामं वाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

उनको उस दशा में बैठा देख, सब लोग कैकेयी व मन्थरा की निन्दा करने लगे और श्रीरामचन्द्र के निकट जा, वे सब के सब रोने लगे ॥ ४६ ॥

तान्नरान्वाष्पपूर्णाक्षान्समीक्ष्याथ सुदुःखितान् ।
पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

उन लोगों को रुदन करते और दुखी देख, धर्मज्ञ श्रीराम जी उठे और उनको छाती से लगा, उनसे ऐसे मिले, जैसे कोई माता पिता से मिलता है ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित्परिषस्वजे नरान्
नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन् ।
चकार सर्वान्सवयस्यबान्धवान्
यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

मिलने योग्य मनुष्यों से श्रीरामचन्द्र जी गले गले मिले; किसी किसी ने उनको प्रणाम किया। उस समय, राजकुमार

---

* पाठान्तरे—"अरिन्दमम्"।

श्रीरामचन्द्र ने अपनी बराबर की उमर वाले और भाईबंदों से यथायोग्य व्यवहार किया ॥ ४८ ॥

स तत्र तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुनिनादयन्स्वनः ।
गुहा गिरीणां च दिशश्च सन्ततं
मृदङ्गघोषप्रतिमः प्रशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

मिलने के समय उन लोगों के रोने के शब्द से पृथिवी व आकाश शब्दायमान हो गया। पर्वत की कन्दराओं तथा सब दिशाओं में वह रोने का शब्द, मृदङ्ग के शब्द की तरह सुनाई पड़ने लगा ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान्दशरथस्य च ।
अभिचक्राम तं देशं [1]रामदर्शनतर्पितः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र के दर्शन करने की अभिलाषा से वशिष्ठ मुनि महाराज दशरथ की रानियों को आगे कर, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम को ओर गये ॥ १ ॥

---

१ रामदर्शनतर्पितः—रामदर्शनेसञ्जाताभिलाषः । (गो०) ।

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।
ददृशुस्तत्र तत्तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

मन्दाकिनी नदी की ओर मंद मंद चाल से चलती हुई, कौशल्यादि रानियों ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के स्नान करने का घाट देखा ॥ २ ॥

कौसल्या वाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ।
सुमित्रामब्रवीद्दीना याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥

उस घाट को देख कर देवी कौशल्या का मुख, मारे शोक के सूख गया । वे रो कर सुमित्रा तथा अन्य रानियों से कहने लगीं ॥ ३ ॥

इदं तेषांमनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् ।
वने प्राक्केवलं[1] तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

देखो, हमारे अनाथ, लोकोत्तर कर्म करने वाले तथा (कैकेयी द्वारा) राज्य से च्युत श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी के स्नानादि करने का यह घाट है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः ।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥

हे सुमित्रा ! जान पड़ता है, इसी घाट से मेरे पुत्र के लिये, तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण, निरालस्य हो स्वयं जल भर कर ले जाता है ॥ ५ ॥

---

१ केवलं—निश्चितं । (गो०)

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः ।
भ्रातुर्यदर्थं सहितं सर्वं तद्धितं गुणैः ॥ ६ ॥

यद्यपि पानी भरना छोटा काम है, तथापि इस काम को करने से वह निन्द्य नहीं है । क्योंकि अपने बड़े भाई की सेवा करना प्रशंसा करने योग्य कार्य है ॥ ६ ॥

अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः ।
नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतुः ॥ ७ ॥

अब (भरत के अनुरोध से) श्रीरामचन्द्र के अयोध्या लौट चलने पर, सदा सुख भोग ने योग्य अथवा कष्ट सहने के अयोग्य तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण को, ये सब हीन पुरुषों के करने योग्य कष्टदायी कार्य नहीं करने पड़ेंगे ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले ।
पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

तदनन्तर बड़े बड़े नेत्रवाली देवी कौशल्या जी ने दक्षिणाग्र कुशों पर रखा हुआ और पिता के लिये दिया हुआ इंगुदी का पिण्ड देखा ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।
उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

जब कौशल्या जी ने देखा कि, श्रीरामचन्द्र ने आर्त हो कर पिता के लिये भूमि में वह पिण्ड रखा है, तब वे अन्य सब रानियों से बोलीं ॥ ९ ॥

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद्यथाविधि ॥ १० ॥

इक्ष्वाकुनाथ महाराज दशरथ के लिये, श्रीरामचन्द्र ने यथा-विधि जो यह पिण्ड दिया है, इसे देखो ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।
नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, देवताओं के समान भोग भोगने वाले महात्मा दशरथ जी के योग्य यह भोजन नहीं है ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो विभुः ।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

चारों समुद्रों तक सारी वसुधा को इन्द्र के समान भोग करने वाले महाराज, किस तरह यह इंगुदी का पिण्ड खायंगे ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किञ्चित्प्रतिभाति मा ।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोद[1]मृद्धिमान् ॥ १३ ॥

हे रानियों ! मुझे तो इससे बढ़ कर और कोई दुःख नहीं जान पड़ता कि, बुद्धिमान् श्रीराम ने अपने पिता के लिये इंगुदी की पिट्ठी का पिण्ड दिया ॥ १३ ॥

रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के दिये हुए इस इंगुदी की पिट्ठी के पिण्ड को देख, मेरा हृदय क्यों नहीं हज़ार खण्ड हो कर फट जाता ॥१४॥

श्रुतिस्तु स्वल्पियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मा ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः[2] ॥ १५ ॥

---

१ क्षोदं—पिष्टम् । (रा०) २ देवताः इति श्रुतिः सत्येत्यन्वयः। (गो०)

लोग यह कहावत ठीक ही कहा करते हैं कि, मनुष्य जो कुछ स्वयं खाता है, वही वह अपने देव और पितरों को अर्पण करता है ॥ १५ ॥

एवमार्तां सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।
ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार के कौशल्या जी के वचन सुन वे रानियां महारानी कौशल्या को धीरज बँधाती, श्रीरामाश्रम में पहुँचीं और वहां श्रीरामचन्द्र जी को स्वर्ग से नीचे आये हुए देवता की तरह, बैठा देखा ॥ १६ ॥

सर्वभोगैः परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

उन्होंने, देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सब सुखोपयोगी भोग्य पदार्थों को त्यागे बैठे हुए हैं। तब तो वे सब की सब अत्यन्त दुःखी हो कर, उच्चस्वर से रोने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणान्शुभान् ।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसङ्गरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने माताओं को देखते ही उठ कर, उन सब के चरण छुए ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृदुभिर्गुलितलैः शुभैः ।
प्रममार्जुः रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

तब बड़े बड़े नेत्रों वाली सब रानियों ने अपनी कोमल अतएव छूने पर सुख देने वाली हथेलियों से श्रीरामचन्द्र जी की पीठ की धूल पोंछी ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयतासक्तं[1] शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी भी माताओं को देख, अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के बाद धीरे धीरे अविरत सब माताओं को प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन्सर्वा ववृतिरे स्त्रियः ।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

जिस प्रकार उन रानियों ने श्रीरामचन्द्र की पीठ की धूल पोंछी थी, उसी प्रकार उन सब ने शुभलक्षण वाले लक्ष्मण जी की पीठ की भी धूल पोंछी, क्योंकि लक्ष्मण जी भी तो महाराज दशरथ ही के पुत्र थे ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सा बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर सीता जी ने भी दुःखित हो, आँखों में आँसू भर सासों के पैर पकड़े और उनके सामने वे जा खड़ी हुईं ॥ २२ ॥

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।
वनवासकृशां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥२३ ॥

दुःख से पीड़ित और वनवास के कष्टों के कारण कृश एवं दीन सीता जी को, देवी कौशल्या ने अपने हृदय से उसी प्रकार लगाया जिस प्रकार माता अपनी बेटी को हृदय से लगाती है। छाती से लगा कर, कौशल्या जी यह बात कहने लगी ॥ २३ ॥

---

१ आसक्तं—अविरतं । (गो०)

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च ।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता निर्जने वने ॥ २४ ॥

हा ! विदेहराज की बेटी, महाराज दशरथ की बहू और श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी सीता—इस निर्जन वन में कैसे कैसे कष्ट झेल रही है ॥ २४ ॥

पद्ममातपसन्तप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् ।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥२५॥

हे जानकी ! धूप से मुर्झाये हुए कमल की तरह व मींजे हुए लाल कमल की तरह, अथवा धूलधूसरित सुवर्ण की तरह अथवा बदली में छिपे चन्द्रमा की तरह ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्याग्निरिताश्रयम्[1] ।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

तेरे मुख को देख, शोकाग्नि मुझे जलाये डालता है । जिस प्रकार काष्ठ को अग्नि दग्ध करता है, उसी प्रकार दुःख रूपी अरणि से उत्पन्न अग्नि मेरे मन को बिल्कुल भस्म किये डालता है ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः ।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

महारानी कौशल्या दुःखित हो इस प्रकार कह रही थीं कि, भरत जी के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र ने वशिष्ठ जी के पास जा, उनके चरणकमल स्पर्श किये ॥ २७ ॥

---

१ आश्रयं—आश्रयभूतंकाष्ठादिकं । (गो०)

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

इन्द्र जिस प्रकार अपने गुरु बृहस्पति के चरण छूते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी अग्निसम तेजस्वी पुरोहित वशिष्ठ के चरण स्पर्श कर, उनके साथ आसन पर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो[1] जघन्यं सहितैः समन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः ।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवान्
उपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत जी अपने मंत्रियों, प्रजा के मुखियों और सेनापतियों के साथ श्रीरामचन्द्र के पास, उनके नीचे आसन पर बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदा स वीर्यवां-
स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिः
यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

पराक्रमी भरत तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के समीप बैठ कर, मुनिवेषधारी श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही हाथ जोड़ कर

१ ततोऽवन्यं—वसिष्ठरामोपवेशादनन्तरं । (गो०)

देखते थे, जैसे देवराज इन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा जी के पास हाथ जोड़ कर बैठते और उनकी ओर देखते हैं ॥ ३० ॥

किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं
प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति ।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ जितने विशिष्टजन उपस्थित थे, वे अपने अपने मन में यही सोच रहे थे और उनको यह जानने के लिये बड़ा कौतुक हो रहा था कि, देखें भरत जी हाथ जोड़े हुए आदरपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से क्या कहते हैं ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥३२॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय सत्यवादी और धृतिवान श्रीरामचन्द्र महानुभाव लक्ष्मण जी और धर्मात्मा भरत जी नव सुहृदों के साथ शोभित हो रहे थे, मानों यज्ञ में सभासदों के साथ तीनों अग्नि सुशोभित हों ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुरुत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तं तु रामः समाज्ञाय[1] भ्रातरं गुरुवत्सलम्[2] ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा पृष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भरत जी को अपने में भक्तिमान जान, लक्ष्मण के साथ, भरत जी से पूछने लगे ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया ।
यस्मात्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥

हे भरत ! तुम चीर जटा और मृगचर्म धारण कर, इस वन में आये हो, सो इसका जो कारण हो वह मुझे सुनाओ ॥ २ ॥

*यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

तुम राज्य छोड़, काले मृग का चर्म ओढ़ और जटा धारण कर जिस लिये यहाँ आये हो—सो सब मुझे बतलाओ ॥ ३ ॥

इत्युक्तः कैकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

महात्मा श्रीराम ने जब भरत से इस प्रकार पूँछा, तब भरत जी अतिकष्ट से शोक के वेग को रोक, हाथ जोड़ कर बोले ॥ ४ ॥

आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

---

१ समाज्ञाय—ज्ञात्वा । (गो०) २ गुरुवत्सलं—गुरौत्वयिमन् भक्तं । (गो०)

* पाठान्तरे—" किन्निमित्तमिमं । "

हे आर्य ! महाराज पिता जी मेरी माता कैकेयी के कहने में आ, दुष्कर कर्म कर और पुत्रशोक से विकल हो, स्वर्गवासी हुए ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परन्तप ।
चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

हे परन्तप ! मेरी माता कैकेयी ने अपने यश को नाश करने वाला यह महापाप कर डाला है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता ।
पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम ॥ ७ ॥

सो वह मेरी माता राज्यरूपी फल को न पाने के कारण शोकाकुल और विधवा हो, घोर नरक में गिरेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥

यद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, तथापि हूँ आपका दास । सो आप मुझ पर प्रसन्न हो कर आज ही अपना राज्याभिषेक करावें और इन्द्र की तरह राजसिंहासन पर विराजें ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

देखिये, ये प्रजाजन और ये सब विधवा माताएँ आपके पास आयी हुई हैं, अतएव आप प्रसन्न हों (अथवा कहना मान लें) ॥ ९ ॥

तदानुपूर्व्या[1] युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद ।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान्सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

---

१ आनुपूर्व्यायुक्तं—ज्येष्ठानुक्रमेणसंगतं । (गो०)

हे मानद ! आप ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं और आप ही को राजगद्दी पर बैठना उचित भी है। अतएव धर्मानुसार राज्यभार ग्रहण कर सुहृदजनों की कामना पूरी कीजिये ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।
शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

जिस प्रकार शरदृतु की रात विमल चन्द्रमा के द्वारा सधवा होती है, उसी प्रकार यह ससागरा पृथिवी आपको अपना पति वरण कर सधवा हो जायगी ॥ ११ ॥

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया ।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

मैं आपका केवल भाई ही नहीं हूँ, प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। सो मैं इन मंत्रियों सहित आपको प्रणाम कर आपसे यह भिक्षा मांगता हूँ या प्रार्थना करता हूँ, अतः आप इनकी प्रार्थना पर ध्यान दें ॥ १२ ॥

तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं प्रकृति[1]मण्डलम्[2] ।
पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! परम्परा से मंत्रिपद प्राप्त एवं प्रतिष्ठा पाने योग्य इन सब मंत्रियों की प्रार्थना आप अस्वीकृत न कीजिये ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः ।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः ॥ १४ ॥

---

१ प्रकृतिनां—मंत्रिप्रभृतीनां । (गो०) २ मण्डलं—समूहं । (गो०)

यह कह महाबाहु कैकेयीनन्दन भरत जी ने नेत्रों में आँसू भर कर श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में पुनः विधिवत् अपना सिर रख दिया ॥ १४ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत को, जो बार बार मत्त हाथी की तरह साँस ले रहे थे, हृदय से लगा कर यह बात कही ॥ १५ ॥

कुलीनः [1]सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेत्त्वद्विधो जनः ॥ १६ ॥

हे भरत ! तुम जैसा कुलवान्, सतोगुणी व्रतधारी पुरुष राज्य के लिये क्यों अपने बड़े भाई के प्रतिकूल आचरण कर, पाप का भागी बनना पसंद कर सकता ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।
न चापि जननीं बाल्यात्त्वं[2] विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे अरिसूदन ! मुझे तो तुममें ज़रासा भी दोष नहीं देख पड़ता । तुमको बिना समझे बूझे अपनी माता की भी निन्दा न करनी चाहिये ॥ १७ ॥

कामकारो[3] महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदाऽनघ ।
उपपन्नेषु[4] दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

---

१ सत्त्वसम्पन्न—सत्त्वगुण सम्पनः । (गो०) २ बाल्यात्—अज्ञानात् । (गो०) ३ कामकारः—स्वच्छन्दकरणं । (गो०) ४ उपपन्नेषु—शिष्य-दासादिषु । (गो०)

हे पापरहित ! हे महाप्राज्ञ ! पिता इत्यादि गुरुजन अपने अनुगत शिष्य दास और स्त्री के साथ सदा इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

संसार में साधु लोग स्त्री पुत्र और शिष्यों को जिस प्रकार आज्ञाकारी कह कर मानते हैं, वस वैसे ही, पिता के लेखे हम भी हैं। यह बात तुम्हें जान लेनी चाहिये ॥ १९ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।
राज्ये वाऽपि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः[1] ॥ २० ॥

हे सौम्य ! महाराज हम लोगों के नियन्ता हैं, वे चाहें हमें चीर वसन और मृगचर्म धारण करा, वन में रखें अथवा राज्य में रखें ॥ २० ॥

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकसत्कृतम् ।
तावद्धर्मभृतांश्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! जितना गौरव लोकपूजित पिता का है, उतना ही माता का भी है अर्थात् जितना आदर सन्मान पिता का करना चाहिये उतना ही आदर और सन्मान माता का भी करना चाहिये ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे ॥ २२ ॥

---

१ ईश्वरः—नियन्ता । (गो०)

हे भरत ! जब इन दोनों धर्मात्मा माता और पिता ने मुझसे कहा कि, वन जाओ, तब भला मैं किस प्रकार उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर अन्यथा कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ २३ ॥

अतः हे भरत ! तुम अयोध्या में जा कर लोगों की सम्मति से राजसिंहासन पर बैठो और मैं वल्कल धारण कर दण्डकवन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

एवं कृत्वा महाराजो विभागं लोकसन्निधौ ।
व्यादिश्य च महातेजा दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

क्योंकि इसी प्रकार से महाराज, लोगों के सामने तुम्हारा और मेरा बटवारा कर स्वर्गवासी हुए हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।
पित्रा दत्तं यथा भागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ २५ ॥

इस समय वे धर्मात्मा महाराज लोकों के और तुम्हारे भी गुरु हैं और उनको ऐसा करने का अधिकार है । अतः हे भरत ! तुम पिता के दिये हुए राज्य का उपभोग करो ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

हे सौम्य ! मैं भी चौदह वर्ष दण्डकवन में वास कर, महात्मा पिता जी का दिया हुआ हिस्सा उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा वुबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमप्यहम् ॥ २७ ॥

इति चतुरुत्तरशततमः सर्गः ॥

सब लोगों से पूजित महाराज पिता जी ने जो मुझसे कहा है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ। पिता की आज्ञा या इच्छा के विरुद्ध सर्वलोकेश्वर का पद भी मैं अपने लिये हितकारी नहीं समझता ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः ।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

इस प्रकार बन्धु बान्धव और मित्रों के साथ उन राजकुमारों को—जो अत्यन्त दुःखित थे, रात सोच ही सोच में बीती ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः ।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

जब सवेरा हुआ, तब उन भाइयों ने बंधुबान्धवों के साथ मन्दाकिनी नदी पर जा जप होम किया। तदनन्तर वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में उपस्थित हुए ॥ २ ॥

तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सब के सब चुपचाप श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठे थे, कोई किसी से बातचीत नहीं करता था। सन्नाटा सा छाया हुआ था कि, इतने में सुहृदों के बीच में भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३ ॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम ।
तदहमि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥

हे भाई ! वरदान द्वारा महाराज ने जो राज्य मेरी माता को दे, उसे शान्त किया था, वह राज्य माता ने मुझे दे डाला है। अब मैं वही राज्य आपको अर्पण करता हूँ। अब आप इस निष्कण्टक राज्य का उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे ।
दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

वर्षाकाल में जल की थपेड़ों से जब बाँध टूट जाता है, तब (सिवाय इस बाँध के) और कोई उस पानी को नहीं रोक सकता उसी प्रकार आपके सिवाय इस बड़े राज्य की रक्षा करने की शक्ति अन्य किसी में नहीं है ॥ ५ ॥

गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः ।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥

हे महिपाल ! जिस प्रकार गधा घोड़े की अथवा अन्य पक्षी गरुड़ की चाल को नहीं पा सकते, उसी प्रकार मैं भी आपके

राज्यपालन की सामर्थ्य नहीं पा सकता। अर्थात् जैसी योग्यता राज्यशासन की आपमें है, वैसी मुझमें नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते ।
राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

हे राम ! जिस राजा की सेवा अन्य लोग करते हैं, जीना उसी का अच्छा है ; किन्तु जो राजा औरों की सेवा कर के जीता है, उसका जीवन दुःखमय है। अथवा जिसके पीछे अनेक लोग जीते हैं उसी पुरुष का जीना, जीना है और जो दूसरों के सहारे जीता है, उसका जीना न जीना बराबर है ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः ।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥
स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निदर्शयेत्* ।
स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥

जैसे, किसी आदमी ने वृक्ष लगाया और उसे जल से सींच कर बड़ा किया। वह वृक्ष अपनी डारों और शाखाओं को फैला कर ऐसा महावृक्ष हो गया कि, उस पर छोटे डीलडौल का आदमी नहीं चढ़ सकता। वही वृक्ष जब पुष्पित तो हो, किन्तु फल न दे, तो जिस आदमी ने वह पेड़ लगाया था, वह क्योंकर सन्तुष्ट रह सकता है ? ॥ ८ ॥ ९ ॥

एषोपमा महाबाहो तमर्थं वेत्तुमर्हसि ।
यदि त्वमस्मान्नृपभो[1] भर्ता भृत्यान्न शाधि हि ॥१०॥

---

१ वृषभः—श्रेष्ठः । (शि०) * पाठान्तरे—" विदर्शयेत् । "

हे महाबाहो ! यह एक उपमा है। इसका अर्थ आप समझ सकते हैं। अतः यदि सर्वश्रेष्ठ स्वामी हो कर आप हम भृत्यों का शासन नहीं करते (तो हम लोगों को, उस पुरुष की तरह जिसने फल प्राप्ति के लिये वह महावृक्ष लगाया था, फल न पाने से, हताश होना पड़ेगा) ॥ १० ॥

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः ।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमरिन्दमम् ॥ ११ ॥
तवाऽनुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः ।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! ऐसा कीजिये जिससे ये प्रजा के लोग शत्रुओं के नाश करने वाले आपको, राज्यासन पर तपते हुए सूर्य की तरह बैठा हुआ देखें तथा ये मत्त हाथी चिंघारते हुए आपके पीछे पीछे चलें और रनवास में सब स्त्रियां शान्ति पा कर हर्षध्वनि करें ॥ ११ ॥ १२ ॥

तस्य साध्वित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से भरत जी की की हुई प्रार्थना सुन, सब नगरवासी साधु साधु कहने लगे ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।
रामः कृतात्मा[1] भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

उन यशस्वी भरत को, दुःखी और विलाप करते हुए देख, धैर्यवान् श्रीरामचन्द्र, समझा कर कहने लगे ॥ १४ ॥

---

१ कृतात्मः—सुशिक्षितबुद्धिः धैर्यवान्वा । (गो०)

[1]नात्मनः [2]कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः[3] ।
इतश्चेतरवच्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

हे भरत ! मनुष्य का कुछ वश नहीं है। क्योंकि यह परतंत्र है। काल (मृत्यु) इसको इधर से उधर और उधर से इधर खींचा करता है। अर्थात् नाच नचाया करता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १६ ॥

यावत् सञ्चित पदार्थ नाशवान् हैं, जितने उच्चस्थित जीव हैं, वे (पुण्यक्षय होने पर) नीचे गिरने वाले हैं, पुत्र, मित्र, कलत्रादि जिनसे संयोग होता है, अन्त में उनसे वियोग भी होता है, और जितने जीवधारी हैं, वे सब मरणशील हैं। अथवा संग्रह और क्षय, उन्नति और अवनति, संयोग और वियोग एवं जन्म और मरण का अटूट सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पके हुए फल को गिरने से डरना न चाहिये, उसी प्रकार उत्पन्न हुए नर को मरण से डरना न चाहिये। अर्थात् पका हुआ फल गिरता ही है और जो पैदा हुआ है वह मरता ही है ॥ १७ ॥

यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वाऽवसीदति ।
तथैव सीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥

---

१ आत्मनः—पुरुषस्य । (गो०) २ कामकार ऐच्छिक व्यापारोऽस्ति । (गो०) ३ अनीश्वरः—अस्वतन्त्र इत्यर्थः । (गो०)

जिस प्रकार मज़बूत खंभों पर अवलंबित घर पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी बुढ़ापे और मृत्यु के वश में हो, नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।
यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकाकुलम् ॥ १९ ॥

हे भरत ! जो रात बीत गयी वह फिर नहीं लौटती । यमुना का जल जो एक बार समुद्र में मिल गया, वह फिर लौट कर जमुना में नहीं आता ॥ १९ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

देखो ! ये दिन और रात जो बीतते चले जाते हैं, सो प्राणियों की आयु की अवधि को शीघ्र शीघ्र कम करते जाते हैं । जैसे ग्रीष्म काल में सूर्य की किरनें, जल को सुखा कर कम कर देती हैं ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।
आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च ॥२१॥

अतः हे भरत ! तुम अपने लिये (अर्थात् अपने आत्मा के उद्धार के लिये) सोचो, तो सोचो, दूसरों के लिये सोच क्यों करते हो ? आयु तो सभी की खटाती है, चाहे कोई बैठा रहे, चाहे चला फिरा करे ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥

मौत मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और दूर जाने पर भी साथ नहीं छोड़ती और साथ जा कर साथ ही लौट भी आती है ॥ २२ ॥

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।
जरया पुरुषो जीर्णः किं[1] हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥२३॥

जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिर के केश सफेद हो गये और शरीर जरा से जर्जरित हो गया, तब मनुष्य कर ही क्या सकता है अथवा तब उसके रोके मौत कैसे रुक सकती है अथवा वह किस बल बूते पर दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है ॥२३॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

मनुष्य सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर नित्य ही प्रसन्न होते हैं, किन्तु इससे उनकी आयु घटती है—इस बात को वे नहीं समझते ॥ २४ ॥

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम् । दृष्ट्वानी+नृतु मुखं
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार वसन्तादि नयी नयी ऋतुओं को देख, मनुष्य प्रसन्न होते हैं, किन्तु ऋतुओं की इस अदल बदल से उनकी उम्र घटती है—यह वे नहीं जानते ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन ॥ २६ ॥

---

१ किं हि कृत्वा प्रभावयेत्—किं कृत्वामृत्युनिवर्तने समर्थोभवेत् । (शि०)

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः[1] ॥२७॥

जिस प्रकार महासागर में अन्य स्थानों से बह कर आयी हुई दो लकड़ियाँ एक स्थान पर पहुँच कर मिल जाती हैं और फिर काल पा कर पृथक् हो इधर उधर बहती चली जाती जाती हैं, इसी प्रकार भार्या, पुत्र, भाईबन्द और धन सम्पत्ति जो आ कर अपने को मिलते हैं, इन सब का कालान्तर में वियोग होना भी निश्चय ही है ॥ २६ ॥ २७ ॥

नात्र कश्चिद्यथाभावं[2] प्राणी समभिवर्तते ।
तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

हे भरत ! इस संसार में कोई भी प्राणी यथाभिलाष अपने भाई बन्दों के साथ सदा नहीं रह सकता, अतः मृतपुरुष के लिये, उसकी मौत को रोकने की सामर्थ्य किसको है जो मरे हुए के लिये शोक किया जाय। अर्थात् मौत पर किसी का वश नहीं। अतः मरे हुए के लिये शोक करना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं[3] ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः ।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥

जिस प्रकार यात्रियों का दल रास्ते पर चला जाता हो और राह में बैठा हुआ कोई मनुष्य कहे कि तुम्हारे पीछे पीछे हम भी आते हैं ॥ २९ ॥

---

१ विनाभवः—वियोगः । (गो०) २ यथाभावं—न समभिवर्तते । यथाभिलाषं बन्धुभिः सह न वर्तते । (गो०) ३ गच्छन्तं सार्थं—पथिक-समूहं । (गो०)

एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः ।
तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥

इसी प्रकार बाप दादे परदादों के चले हुए मार्ग पर आरूढ़ पुरुष को क्यों सोच करना चाहिये। क्योंकि उस मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और तो कोई गति ही नहीं है ॥ ३० ॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वाऽनिवर्तिनः ।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥३१॥

जिस प्रकार नदी की धार आगे ही बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती, उसी प्रकार आयु केवल जाती ही है.है अर्थात् घटती ही है, और आती नहीं अर्थात् बढ़ती नहीं। अतः यह देख कर आत्मा को सुख के साधनभूत धर्मकृत्यों में लगाना उचित है। क्योंकि यह प्रजा सुखभोगी ही कही गयी है अर्थात् मनुष्यजन्म धर्मकृत्य करते हुए सुख भोगने के लिये ही कहा गया है अथवा मनुष्यजन्म सुख भोगने ही को होता है ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा सशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥

हमारे महाराज पिता जी तो अच्छे मङ्गलरूपी और दक्षिणा-युक्त यज्ञों को कर निष्पाप हो स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणात्सम्यक्प्रजानां परिपालनात् ।
अर्थादानाच्च धर्मेण[1] पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥

---

१ धर्मेण अर्थादानात्:—धर्मेणकरादिग्रहणात् । (गो०)

भृत्यों का भली भाँति भरण पोषण कर, प्रजा का भली भाँति पालन कर और उनसे धर्मपूर्वक कर ले कर, हमारे पिता स्वर्ग सिधारे हैं ॥ २३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः[1] क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ २४ ॥

चौराहों पर तालाब बावड़ी आदि बनवा, प्रजाजनों के अभीष्ट पूरे कर, तथा विपुल दक्षिणा वाले यज्ञ कर हमारे पिता महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे हैं ॥ २४ ॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान् ।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥

अनेक प्रकार के यज्ञ कर, तरह तरह के बहुत से भोग भोग कर और अच्छी आयु भोग कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं ॥ २५ ॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः ।
स न शोच्यः पिता तातः स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥ २६ ॥

हे तात ! अच्छी आयु पा कर, अच्छे भोगों को भोग कर और सज्जनों से सम्मान पा कर महाराज स्वर्ग सिधारे हैं, अतः उनके लिये शोक करना उचित नहीं ॥ २६ ॥

स जीर्णं मानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ २७ ॥

हमारे पिता जीर्ण शरीर को त्याग कर, ब्रह्मलोक में सुख भोगने वाले देवताओं के शरीर को प्राप्त हुए होंगे ॥ २७ ॥

---

१ इष्टैः—जनानां स्वस्यचाभिमतैः । (गो०) । २ शुभैःकर्मभिः—महापथेषुतटाकनिर्माणादिभिः । (गो०)

तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति ।
तद्विधो यद्विधश्चासि* श्रुतवान्बुद्धिमत्तरः ॥ ३८ ॥

अतएव उन पिता जी के लिये शोक करना तुम जैसे बुद्धिमान शास्त्रवेत्ता और ज्ञानी पुरुष के लिये उचित नहीं ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा ।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥

तुम बुद्धिमान, तथा धैर्यवान हो, अतः तुमको इस प्रकार शोकान्वित हो, विलाप करना हर हालत में त्यागना चाहिये ॥३६॥

स स्वस्थो भव मा† शोको यात्वा चावस तां पुरीम् ।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना[1] वदतांवर ॥ ४० ॥

तुम स्वस्थ हो और शोक को त्याग कर, अयोध्यापुरी में जा कर वास करो । हे वाग्मिवर ! पिता जी तुमको अयोध्यापुरी में स्वतंत्रतापूर्वक रहने की आज्ञा दे गये हैं ॥ ४० ॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

वह पुण्य कर्मों के करने वाले पूज्य पिता मुझको जैसी आज्ञा दे गये हैं, तदनुसार मैं भी वैसा ही करूँगा ॥ ४१ ॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिन्दम ।
तत्त्वयाऽपि सदा मान्यं स वै बन्धुः स नः पिता ॥४२॥

---

१ वशिना—स्वतंत्रेण । (शि० । * पाठान्तरं—" अपि " । † पाठान्तरे —" शोचीर्यात्वा । "

हे शत्रुओं के दमन करने वाले ! मुझको उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं। क्योंकि हमारे पिता, बन्धु और शासनकर्त्ता होने के कारण वे हमारे, तुम्हारे दोनों के लिये सदा मान्य हैं ॥ ४२ ॥

तद्वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणः ।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥ ४३ ॥

अतएव मैं तो पिता जी की उसी आज्ञा का, जो धर्माचरण करने वालों के सम्मत है, वन में वास करके पालन करूँगा ॥ ४३ ॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना ।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोक जिगीषता ॥ ४४ ॥

हे पुरुषसिंह ! जो मनुष्य धार्मिक एवं दयालु हैं तथा अपना परलोक बनाने के अभिलाषी हैं, उनको बड़े लोगों का आज्ञाकारी होना चाहिये ॥ ४४ ॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥ ४५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को स्मरण कर, अपने मन में अब राजधर्म को स्थापित करो अर्थात् पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये अयोध्या जा कर राज्य करो (शिरोमणिटीकानुसार) ॥ ४५ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च
प्रभुर्मुहूर्ताद्विरराम रामः ॥ ४६ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये अपने छोटे भाई भरत से इस प्रकार के अर्थ गर्वित वचन कह कर, मुहूर्त भर तक चुप रहे ॥ ४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

षडुत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

एव मुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् ।
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥

उवाच भरतश्चित्रं[1] धार्मिको धार्मिकं वचः ।
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिन्दम ॥ २ ॥

प्रजावत्सल श्रीराम, मंदाकिनी के तट पर जब इस प्रकार के सार्थक वचन कह कर मौन हो रहे, तब धर्मात्मा भरत जी श्रीराम जी से, अनेक प्रकार की युक्तियों से युक्त एवं धर्मयुक्त वचन बोले। भरत जी ने कहा—हे शत्रुनाशन ! आपके तुल्य इस लोक में दूसरा कौन होगा ॥ १ ॥ २ ॥

न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।
सम्मतश्चासि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥

न तो आपको दुःख दुःखी कर सकता है और न हर्ष हर्षित कर सकता है। सब बड़े बूढ़े आपको मानते हैं, तथापि धर्म के विषय में सन्देह होने पर आप उन लोगों से पूँछा करते हैं ॥ ३ ॥

---

१ चित्रं—अनेक विधयुक्तिविशिष्टं वचः। (शि०)

यथा मृतस्तथा जीवन्यथाऽसति तथा सति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥ ४ ॥

जिसके लेखे जैसा मरा हुआ आदमी वैसा ही जीता हुआ आदमी हो या जो यह समझ रहा हो कि, यह पदार्थ मेरे पास रहा तो क्या और न रहा तो क्या, ऐसी बुद्धि वाले मनुष्य को भला क्यों किसी वस्तु के लिये सन्ताप होने लगा ? ॥ ४ ॥

[1]परावरज्ञो यश्च स्यात्तथा त्वं मनुजाधिप ।
स एवं व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥

हे नराधिप ! आप सरीखा त्रिकालज्ञ अथवा जीवात्मा परमात्मा का रूप जानने वाला पुरुष, दुःख पड़ने पर भी विषाद को प्राप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसङ्गरः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! आप देवताओं की तरह सतोगुणी, महाधैर्यवान् होने के कारण सत्यप्रतिज्ञ हो, आप सब जानने वाले, सब कुछ देखने वाले और बुद्धिमान् हो ॥ ६ ॥

न त्वामेवं गुणैर्युक्तं [2]प्रभवाभवकोविदम् ।
अविषह्यतमं[3] दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥

---

१ परावरज्ञः—त्रिकालज्ञः परमात्मजीवात्मस्वरूपज्ञोवा । (गो०)
२ प्रभवाभवकोविदम्—प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणतत्त्वज्ञाननिपुणम् । (शि०) ३ अविषह्यतमं—अन्यैरसह्यमपि । (शि०)

ऐसे गुणों से युक्त होने के कारण आप जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणों को भली भाँति जानने वाले हैं। अतः आपको वे दुःख भी, जो अन्य लोगों को असह्य हैं, नहीं सता सकते ॥ ७ ॥

[एवमुक्त्वा तु भरतो रामं पुनरथाब्रवीत् ।]
मोपिते मयि यत्पापं मात्रा सत्कारणात्कृतम् ॥ ८ ॥

क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ।
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ॥ ९ ॥

यह कह कर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से फिर यह कहा कि मेरे विदेश में रहते समय मेरी इस नीच माता ने जो पाप मेरे लिये किया है, वह मेरे लिये अनिष्टकारक है, अथवा मुझे इष्ट नहीं है, अतः मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों। क्या करूँ मैं धर्मबन्धन से बँधा हूँ नहीं तो मैं इस माता को, ॥ ८ ॥ ९ ॥

हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ।
कथं दशरथाज्जातः शुद्धाभिजनकर्मणः ॥१०॥

जानन्धर्ममधर्मिष्ठं कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ।
गुरुः [1]क्रियावान्वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ॥११॥

जो पाप करने वाली होने के कारण दण्ड पाने योग्य है कठोर दण्ड दे मार डालता। मैं ऐसे कुलीन एवं धर्मनिष्ठ महाराज दशरथ के औरस से उत्पन्न हूँ। क्या धर्म है और क्या अधर्म, यह जान कर मुझसे यह निन्दित कर्म करते नहीं बन पड़ता। सब यज्ञों की क्रियाओं के करने वाले, पूज्य और वृद्ध महाराज पिता जी परलोकवासी हुए ॥ १० ॥ ११ ॥

---

१ क्रियावान्—यज्ञादिक्रियावान् । (गो०)

तातं न परिगर्हेयं दैवतं चेति संसदि ।
को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् ॥ १२ ॥

अतः सब के सामने सभा में इनकी निन्दा करना उचित नहीं, किन्तु कौन ऐसा पुरुष होगा जो धर्म और अर्थ से रहित ऐसा पाप कर्म, ॥ १२ ॥

स्त्रियाः प्रियं चिकीर्षुः सन्कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ।
[२]अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति[३] पुराश्रुतिः ॥१३॥

धर्मज्ञों के धर्म को जान कर भी, स्त्री की प्रीति की कामना से करेगा । हे धर्मज्ञ ! यह एक पुरानी कहावत है कि, मरने वाले की बुद्धि बिगड़ जाती है ॥ १३ ॥

राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षं सा श्रुतिः कृता ।
[४]साध्वर्थमभिसन्धाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात् ॥१४॥
[५]तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान्[५] ।
पितुर्हि* समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ॥ १५ ॥

सो महाराज ने यह कर्म कर यह कहावत चरितार्थ करके लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दी । महाराज ने भले ही कैकेयी के कुपित हो कर विष खाकर मर जाने के भय से, अथवा अपने चित्त के विक्षेप से, अथवा लोगों से बिना पूँछे ही, यह कर्म किया

---

१ अन्तकाले—विनाशकाले । (गो०) २ मुह्यन्ति— विपरीत बुद्धिं प्राप्नुवन्ति । (गो०) ३ साध्वर्थमभिसंधायः—समीचीनार्थंस्मृत्वा । (गो०) ४ तातस्य यदतिक्रान्तं यद्धर्मातिक्रमणं । (गो०) ५ तद्भवान प्रत्याहरतु— निवर्तयतु । (गो०) * पाठान्तरे—" यदितिक्रान्तं " ।

हो, परन्तु अब आप उनके इस कर्म को ठीक समझ, अन्यथा विचार न कीजिये। क्योंकि जो पुत्र पिता की भूलचूक को भी ठीक मान लेता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा।
तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः ॥ १६ ॥

लोक में वही पुत्र, पुत्र माना जाता है। इसके विपरीत करने वाला पुत्र, पुत्र नहीं माना जाता। आप उनके पुत्र हो अतः उनकी भूलचूक पर ध्यान न दें ॥ १६ ॥

अभिपत्ता कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम्।
कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः ॥ १७ ॥

और उनके उस लोकनिन्दित कर्म को छिपाइये। कैकेयी को, मुझको, पिता को, सुहृदों का तथा हमारे भाईबंदों को ॥ १७ ॥

पौरजानपदान्सर्वांस्त्रातु सर्वमिदं भवान्।
क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम् ॥१८॥

तथा पुरजन आदि सब को आप इस अपवाद से बचा लीजिये। हे भाई! कहाँ तो क्षात्रधर्म और कहाँ यह जनशून्य वनवास। कहाँ जटाधारण और कहाँ प्रजापालन! ॥ १८ ॥

ईदृशं [1]व्याहतं कर्म न भवन्कर्तुमर्हति।
एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

अतः आप इन परस्परविरोधी कार्यों को न कीजिये। क्योंकि क्षत्रिय का सर्वप्रथम कर्त्तव्य कर्म यही है कि, वह अपना अभिषेक करावे ॥ १९ ॥

---

१ व्याहतं—विरुद्धं। (शि०)

[क्षत्रिय के लिये वानप्रस्थधर्मपालन का निषेध नहीं, तब भरत जी ने वनवास का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान भरत जी ने स्वयं ही यह कह कर किया है कि, वानप्रस्थ होने के पूर्व क्षत्रिय को प्रजापालन करना चाहिये। आश्रमधर्मपालन में वर्गधर्म की अवहेला नहीं होनी चाहिये।]

येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ।
कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य [1]संशयस्थमलक्षणम्[2] ॥ २० ॥

जिससे वह प्रजा का पालन कर सके। भला बतलाइये तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष फल देने वाले धर्म को छोड़, अप्रत्यक्ष और लक्षणों से रहित ॥ २० ॥

[3]आयतिस्थं चरेद्धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ।
अथ क्लेशजमेवं त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ॥ २१ ॥

एवं कालान्तर में फल देने वाले, अनिश्चित धर्मकर्म का करना कौन क्षत्रिय स्वीकार करेगा ? अथवा यदि आप इस प्रकार के शरीर को कष्ट देने वाला धर्माचरण करना चाहते हैं ॥ २१ ॥

धर्मेण चतुरो वर्णान्पालयन्क्लेशमाप्नुहि ।
चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम् ॥ २२ ॥
मा दुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्युक्तुमर्हसि ।
[4]श्रुतेन बालः स्थानेन[5] जन्मना भवतो ह्यहम् ॥२३॥

तो धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप स्वीकार कीजिये । क्योंकि हे धर्मज्ञ ! चारो आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ. वानप्रस्थ और संन्यस्त—ये चार आश्रम हैं)

---

१ संशयस्थं—अनिश्चितं । (गो०) २ अलक्षणं—लक्षणरहितं । (गो०) ३ आयतिस्थं—कालान्तर-भाविफलं । (गो०) अनिश्चितं । (शि०) ४ श्रुतेन—विद्यया । (गो०) ५ स्थानेन—पदेन । (गो०)

गृहस्थ आश्रम ही को, धर्मज्ञ लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं। तब इस आश्रम को आप क्यों छोड़ना चाहते हैं? देखिये, क्या विद्या में, क्या पद में और क्या वय में, मैं आपके सामने बालक हूँ ॥ २२ ॥ २३ ॥

स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ।
हीनबुद्धिगुणो[1] बालो हीनः स्थानेन चाप्यहम् ॥२४॥

सो मैं, आपके रहते, किस तरह पृथिवी का पालन कर सकता हूँ? मैं बुद्धिहीन और सद्गुण हीन हूँ और आपसे मैं पद में भी नीचा हूँ और बालक हूँ ॥ २४ ॥

भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे[2] ।
इदं निखिलमव्यग्रं राज्यं पित्र्यमकण्टकम् ॥ २५ ॥

अतः मैं आपके विना रह भी नहीं सकता फिर राज्य करने की बात तो जाने ही दीजिये अथवा मैं आपके विना जी भी नहीं सकता, राज्यपालन करना तो दूर है। अतः पिता के इस सम्पूर्ण, उत्तम एवं निष्कण्टक राज्य का ॥ २५ ॥

अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ।
इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ॥ २६ ॥
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ।
अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज ॥ २७ ॥

हे धर्मज्ञ! आप ही बंधु बान्धवों सहित धर्म से पालन कीजिये। यहीं पर, हे मंत्र के जानने वाले! प्रजाजन, वशिष्ठ और

---

१ हीनबुद्धिगुणः—सद्गुणबुद्धिरहितः । (गो०) २ वर्तयितुं—स्थातुं । (गो०)

मंत्रिगण सहित वैदिक मंत्रों के ज्ञाता ऋत्विक आपका अभिषेक कर दें और आप अभिषिक्त हो कर, हम लोगों के साथ अयोध्या में राज्य करने को चलें ॥ २६ ॥ २७ ॥

विजित्य तरसा लोकान्मरुद्भिरिव वासवः ।
ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन्दुर्हृदः[1] साधु निर्दहम् ॥ २८ ॥
सुहृदस्तपयन्कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ।
अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ॥ २९ ॥

जिस प्रकार अपने शत्रुओं को जीत, इन्द्र ने मरुद्गणों के सहित स्वर्ग में प्रवेश किया था, उसी प्रकार आप भी हम लोगों के साथ अयोध्या में प्रवेश करें। देवऋण ऋषिऋण और पितृ-ऋण—इन तीनों ऋणों से उऋण हो, शत्रुओं को भस्म कर सुहृदों की मनोकामना पूर्ण करते हुए, मुझे अपना सेवक बना, आज्ञा दिया कीजिये। हे आर्य! आज आपके अभिषेक से सुहृद लोग हर्षित हों ॥ २८ ॥ २९ ॥

अद्य भीताः पलायन्तां दुर्हृदस्ते दिशो दश ।
[2]आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

और दुष्ट लोग भयभीत हो दसों दिशाओं में भाग जायँ। हे पुरुषश्रेष्ठ! आपको वनवास दिलाने का जो कलङ्क मेरी माता को लगा है उसको आप धो दीजिये ॥ ३० ॥

अद्य तन्नभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ।
शिरसा त्वाऽभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥

---

१ दुर्हृदः—शत्रून् । (गो०) २ आक्रोशं—निन्दां । (रा०)

और पूज्य पिता जी को भी पाप से बचाइये। देखिये! मैं अपना मस्तक नवा आपसे यह याचना कर रहा हूँ, जिस प्रकार महेश्वर*—विष्णु सब प्राणियों पर दया करते हैं, उसी प्रकार आप भी मेरे और सब भाई बंदों के ऊपर दया कीजिये ॥ ३१ ॥

[नोट—यद्वेदादौस्वरः प्रोक्तोवेदान्तेच प्रतिष्ठितः ।

तस्यप्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥

भूषणटीकाकार ने "महेश्वर" का अर्थ श्रुति-इतिहास प्रमाणों से विष्णु प्रतिपादित किया है—इतर टीकाकारों ने महेश्वर का अर्थ वृषभध्वज शिव या महादेव किया है।]

अथैतत्पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

यदि मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर, यहाँ से आप दूसरे वन को चले जायँगे तो मैं भी आपके साथ ही साथ चलूँगा ॥ ३२ ॥

तथा हि रामो भरतेन ताम्यता
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः ॥ ३३ ॥

यद्यपि भरत जी इस प्रकार गिड़गिड़ा और चरणों पर अपना सिर रख कर श्रीरामचन्द्र जी को मना रहे थे, तथापि श्रीरामचन्द्र जी पिता के वचन पर ऐसे दृढ़ थे कि, वे ज़रा भी उससे विचलित न हुए अथवा किसी प्रकार भी अयोध्या लौट जाना उन्होंने स्वीकार न किया ॥ ३३ ॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जना हर्षमवाप दुःखितः ।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य दर्पितः ॥ ३४ ॥

जो लोग वहाँ उस समय उपस्थित थे वे श्रीरामचन्द्र जी के विचार की दृढ़ता को देख, हर्ष विषाद में एक साथ मग्न हो गये। वे दुःखित तो इस लिये थे कि श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं करते थे, साथ ही हर्ष उनको इस बात का था कि, श्रीरामचन्द्र जी दृढ़बुद्धि वाले हैं ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभाः
तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
तथा* ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

इति षडुत्तरशततमः सर्गः ॥

व्यापारियों के नुखिया, वेदपाठी ब्राह्मण, अथवा ऋत्विज लोग मूर्छित हो गये तथा रुदन करती हुई माताएँ भरत जी की प्रशंसा करने लगीं और हाथ जोड़ कर भरत जी की ओर से श्रीरामचन्द्र जी की प्रार्थना करने लगीं ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

* पाठान्तरे—" तदा " ।

सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्येऽभिसत्कृतः[1] ॥ १ ॥

जब भरत जी ने फिर कुछ कहना चाहा, तब भरत जी से स्तुति द्वारा भली भाँति सत्कार किये गये श्रीरामचन्द्र जी, अपनी जाति के लोगों के सामने कहने लगे ॥ १ ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यत्त्वमेवमभाषथाः ।
जातः पुत्रो दशरथात्कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥

हे भरत ! तुम नृपोत्तम महाराज दशरथ जी से, कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, अतः जो तुम कहते हो सो सब ठीक है ॥ २ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पूर्वकाल में जब हमारे पिता दशरथ जी तुम्हारी माता कैकेयी से विवाह करने गये थे, तब तुम्हारे नाना से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि, तुम्हारी बेटी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्यसिंहासन पर बैठेगा ॥ ३ ॥

[नोट—महाराज दशरथ का ऐसी प्रतिज्ञा करना अनुचित न था । क्योंकि कैकेयी के साथ उनका विवाह डलनी उमर में हुआ था । अन्य रानियों के साथ बहुत दिनों रह कर, वे पुत्रोत्पन्न होने से निराश हो चुके थे । कैकेयी के

---

१ अभिसत्कृतः—भरतेनस्तोत्रादिना सम्यगभिपूजितः । (गो०)

साथ विवाह पुत्र की कामना ही से किया था। अतः उनका ऐसी प्रतिज्ञा करना ठीक ही था।

यदि यहाँ यह कोई कहे कि, जब महाराज कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही को राज्य देने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे तब श्रीरामचन्द्र को युवराजपद देने की तैयारियाँ उन्होंने क्यों कीं, तो इसका समाधान स्मृतिकारों के इस वचन से होता है—

"वह्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थेष्वनृतंवदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥"

इसके अतिरिक्त महाराज अपने कुल की परम्परागत प्रथा के अनुसार ज्येष्ठ राजकुमार को राजसिंहासन देने के लिये भी बाध्य थे। यदि वे इस प्रथा के विरुद्ध कार्य करते, तो प्रजा उनके इस अनुचित कार्य का घोर विरोध करती और उनकी निन्दा करती जैसा कि प्रजा ने श्रीराम के वनवास के समय किया भी था।]

दैवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः॥ ४॥

इसके अतिरिक्त देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से सन्तुष्ट हो, पिता जी ने उन्हें दो वरदान देने कहे थे॥ ४॥

ततः सा सम्मतिश्चान्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौवरौ वरवर्णिनी॥ ५॥

अतः हे नरश्रेष्ठ! यशस्विनी एवं सुन्दर वचन बोलने वाली तुम्हारी माता ने, पिता जी को वचनबद्ध कर उनसे दोनों वर माँगे॥ ५॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तौ च राजा तदा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ॥ ६॥

हे पुरुषसिंह ! एक वर से तुम्हारे लिये राज्य और दूसरे से मेरे लिये वनवास। महाराज ने भी माँगने पर इन दोनों वरों को दे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ॥ ६ ॥

तेन पित्राऽहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

हे नरवर ! उसी वरदान के कारण पिता की आज्ञा से मैंने चौदह वर्ष वन में वास करना स्वीकार किया ॥ ७ ॥

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः ।
सीतया [1]चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

और पिता जी के वचन को सत्य करने के लिये सीता और लक्ष्मण को साथ ले और सर्दी गर्मी दुःख सुख की कुछ भी परवाह न कर मैं इस निर्जन वन में चला आया हूँ ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।
कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम भी अपना शीघ्र राज्याभिषेक करवा कर मेरी तरह पिता जी को सत्यवादी बनाओ ॥ ९ ॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।
पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥

हे भरत ! मेरी प्रसन्नता के लिये तुम महाराज को इस ऋण से उऋण करो और उनकी रक्षा करो। माता कैकेयी को भी, स्वयं राज्यासन पर बैठ कर, प्रसन्न करो ॥ १० ॥

---

१ अप्रतिद्वन्द्वः —शीतोष्णादिबाधारहितोऽहं । (शि०)

श्रूयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन्प्रति ॥ ११ ॥

हे तात ! सुना है कि, पूर्वकाल में गय नाम के एक यशस्वी राजा गया प्रदेश में यज्ञ करते थे। उन्होंने पितरों से यह वाक्य कहा था कि, ॥ ११ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः [1]पितॄन्यत्पाति वा सुतः ॥१२॥

पुत्र पिता को पुन्नाम नरक से उद्धार करता है और पितरों के उद्देश्य से इष्ट पूर्त कार्यों को कर पितरों को स्वर्ग में भेज सब प्रकार से पितरों की रक्षा करता रहता है । इसीसे उसको पुत्र कहते हैं ॥ १२ ॥

[नोट—इष्टापूर्त का विवरण स्मृतियों में यह लिखा है—

पूर्त—वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

इष्ट—एकाग्नि कर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥—V. S. Apte.]

एतेष्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥

इसीसे लोग विद्वान् और गुणवान बहुत से पुत्रों की चाहना करते हैं कि, उनमें से कोई पुत्र तो गया जा कर श्राद्धादि द्वारा पितरों का उद्धार करेगा ॥ १३ ॥

---

१ पितॄन् पाति—उद्देशकृतेष्टापूर्वादिना स्वर्लोकं प्रापयत्यवतीत्यर्थः । (गो०)

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता राजनन्दन ।
तस्मान्त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्मभो ॥ १४ ॥

हे राजनन्दन ! सब राजर्षियों का इस बात पर विश्वास है। अतः हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जी का नरक से उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरनुरञ्जय ।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

हे भरत ! तुम शत्रुघ्न को तथा सब ब्राह्मणादि प्रजा को साथ ले कर, अयोध्या में जा कर प्रजाओं को आनन्दित करो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो राजन्वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥१६॥

हे राजन् ! मैं भी सीता और लक्ष्मण को साथ ले शीघ्र दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरतं भव स्वयं नाराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान्प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

हे भरत ! तुम मनुष्यों के राजा हो और मैं वनमृगों के राजाओं का राजा हूँगा । तुम प्रसन्न हो अब श्रेष्ठ नगरी अयोध्या को गमन करो और मैं भी आनन्दपूर्वक दण्डकवन में प्रवेश करूँ ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
[1]वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये ॥१८॥

सूर्य के आतप को रोकने वाले राजछत्र तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करें और मैं जङ्गल के इन पेड़ों की सघन छाया का आश्रय ग्रहण करूँ ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषादम् ॥१९॥
इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! यह अमितबुद्धि वाले शत्रुघ्न तुम्हारे सहायक रहेंगे और सर्वलोकों में प्रसिद्ध यह लक्ष्मण मेरी सहायता करेंगे । इस प्रकार नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथ के हम चारों पुत्र महाराज दशरथ को सत्यवादी करें । अतः अब तुम विषादयुक्त मत हो ॥ १९ ॥

[*नोट—इस प्रकार जब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी को निरुत्तरित कर दिया, तब भरत जी को चुप देख, हितपरता के कारण, जाबालि जी ने चार्वाक मत का सहारा ले श्रीरामचन्द्र जी को जो उत्तर दिया था वह १०८ वें* अध्याय में लिखा गया है ।]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

---

१ वर्षत्रं—छत्रं । (गो०) २ चराम—करवामेत्यर्थः । (गो०)

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:*:—

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं[1] वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी से जाबालि नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ये धर्मविरुद्ध वचन कहे ॥१॥

साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिका[2] ।
माकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेर्मनस्विनः ॥ २ ॥

वाह महाराज वाह ! आपकी तो पामरजनों जैसी निरर्थक बुद्धि न होनी चाहिये । क्योंकि आप केवल श्रेष्ठ बुद्धिवाले ही नहीं, किन्तु मनस्वी भी हैं ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

भला ज़रा सोचिये तो, कौन किसका बन्धु है और कौन किसका बना बिगाड़ सकता है । यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और फिर अकेला ही नष्ट भी होता है ॥ ३ ॥

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥४॥

अतः यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—ऐसा सम्बन्ध मान कर जो पुरुष इन सम्बन्धों में आसक्त होता है, उसे पागल की

---

१ धर्मापेतं—धर्ममार्गविरुद्धं । (रा०) २ निरर्थिका—परमार्थरहिता । (शि०)

तरह समझना चाहिये। क्योंकि विचारपूर्वक देखा जाय तो सचमुच कोई भी किसी का नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्कचिद्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गांव से दूसरे गांव को जाता हुआ, कहीं मार्ग में ठहर जाता है और अगले दिन उस स्थान को छोड़ चल देता है ॥ ५ ॥

एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार पिता माता, घर और धनादि सम्पत्ति के साथ भी मनुष्य का थोड़ी देर का टिकाऊ सम्बन्ध है। अतएव सज्जन लोग इनमें आसक्त नहीं होते ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तम ।
अस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

अतएव हे नरोत्तम ! आप पिता के राज्य को छोड़, इस कुमार्ग पर, जो दुःख देने वाला, युवावस्था के अयोग्य और बहुकण्टकों से परिपूर्ण है, आरूढ़ होने योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
[२]एकवेणीधरा हि त्वां नगरी[३] सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

---

१ विषमं—यौवनानुचितं । (गो०) २ एकवेणीधरा—व्रतपरायणेत्यर्थः (गो०) ३ नगरी—तदधिदेवता । (गो०)

आप तो चल कर अब धन धान्ययुक्त अयोध्या में अपना अभिषेक करवाइये। क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी पति-व्रतधारण कर आपके आगमन की बाट जोह रही है॥ ८॥

राजभोगाननुभवन्महार्हान्पार्थिवात्मज।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे॥ ९॥

हे राजकुमार! आप बढ़िया बढ़िया राजाओं के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करें और अयोध्या में उसी प्रकार विहार करें जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में विहार करते हैं॥ ९॥

न ते कश्चिद्दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन।
अन्यो राजा त्वमन्यः स तस्मात्कुरु यदुच्यते॥१०॥

न तो अब दशरथ आपके कोई हैं और न आप दशरथ के कोई हैं। राजा कोई और है और आप कोई और हैं। इसलिये मैं जो कहता हूँ उसे आप कीजिये॥ १०॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्लं रुधिरमेव च।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत्॥ ११॥

प्राणी के जन्म में पिता तो वीर्य का एक कारण मात्र है। क्योंकि ऋतुमती माता के गर्भ में एकत्र हो मिला हुआ वीर्य और रज ही जीव के जन्म का हेतु है॥ ११॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै।
[1]प्रवृत्तिरेषा मर्त्यानां[2] त्वं तु[3] मिथ्या विहन्यसे॥१२॥

---

१ प्रवृत्तिः—स्वभाव इत्यर्थः। (गो०) २ मर्त्यानां—मरणशीलानां। (गो०) ३ त्वं तु मिथ्याविहन्यसे—मिथ्याभूतेन संबन्धेन पीड्यसे। (गो०)

वे महाराज तो जहाँ उनको जाना था वहाँ गये। क्योंकि मरण-शील प्राणियों का स्वभाव ही यह है। तुम वृथा ही इस झूठे सम्बन्ध को ले, पीड़ित होते हो ॥ १२ ॥

[२]अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान्।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य भेजिरे ॥ १३ ॥

जो लोग प्रत्यक्ष मिलते हुए सुख को त्याग कर आगे सुख मिलने की आशा से कष्ट भोग कर धर्मोपार्जन करते हैं, और ऐसा करते करते नष्ट हो जाते हैं, मुझे उन्हीं लोगों के लिये दुःख है औरों के लिये नहीं, अथवा मुझे उन लोगों के लिये शोक है जो प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ को त्याग, अप्रत्यक्ष धर्म सम्पादन में तत्पर रह कर, इसलोक में तो दुःख भोगते ही हैं किन्तु वे नष्ट होने पर भी दुःख भोगते हैं। औरों के लिये नहीं ॥ १३ ॥

अष्टका पितृदैवत्यवित्ययं प्रसृतो जनः।
अन्नस्योपद्रवं[२] पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

देखिये, लोग जो अष्टकादि श्राद्धकर्म पितरों के उद्देश्य से, प्रतिवर्ष किया करते हैं, उससे लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं। भला कहीं कोई मरा हुआ भी कभी भोजन करता है? ॥ १४ ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात्प्रवसतः श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में पहुँच जाता तो बटोही को रास्ते में भोजन करने के लिये, भोज्य पदार्थ अपने

---

१ अर्थधर्मपराः—प्रत्यक्षसौख्यं विहाय केवलार्थसम्पादनपराः। (गो०)

२ उपद्रवं—क्षयं। (गो०)

साथ लेने की ज़रूरत ही क्या है ? क्योंकि उसके सम्बन्धी उसके नाम पर घर पर ही श्राद्ध कर दिया करते और वही उस बटोही के लिये, मार्ग को भोजन का काम देता और वही बोझ ढोने से बच जाता ॥ १५ ॥

[1]दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः[2] कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! अन्य उपायों से धनोपार्जन में क्लेश देख, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने दान द्वारा लोगों को वश में करने के लिये, धर्मग्रन्थों में लिख रखा है कि, यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा दे कर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येव कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

हे महामते ! वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है । इसे आप भली भांति समझ लीजिये । अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिये और जो परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिये । अर्थात् प्रत्यक्ष में सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिये और परोक्ष की बात (कि पिता को सत्यप्रतिज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा,) को भुला दीजिये ॥ १७ ॥

---

१ दानसंवनना:—दानायत्तवशीकरणोपायाः । (गो०) २ मेधाविभिः—परद्रव्यग्रहणकुशलबुद्धिभिः । (गो०)

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम्[1] ।
राज्यं त्वं प्रतिगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

देखिये भरत जी आपसे प्रार्थना करते हैं, अतः सर्व जनानुमोदित सज्जनों के मत को स्वीकार कर, राज्य ग्रहण कीजिये ॥१८॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ आँठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

नवोत्तरशततमः[1] सर्गः

—:०:—

जावालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः [2]सत्यात्मनां वरः ।
उवाच परया भक्त्या स्वबुद्ध्या चाविपन्नया[3] ॥ १ ॥

जाबालि की बातें सुन, सत्यभाव वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी अपनी अविचल बुद्धि से विचारे हुए, वैदिक धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले वचन बोले ॥ १ ॥

भवान्मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
अकार्यं कार्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसम्मितम् ॥ २ ॥

आपने मुझे प्रसन्न करने के लिये जो बातें कहीं, वे कार्य रूप में परिणत करने के लिये अनुपयुक्त और न्यायमार्ग के विरुद्ध

---

१ सर्वलोकनिदर्शिनीम्—सर्वजनसंमतामित्यर्थः । (गो०) १ सत्यात्मनां वरः—सत्यस्वभावानां श्रेष्ठः । (रा०) सत्यात्मनां भक्त्या—वैदिकधर्मश्रद्धया । (गो०) ३ अविपन्नयाः—अचलितया । (गो०)

होने पर भी, साधारण दृष्टि से देखने पर, न्यायानुमोदित और करने योग्य जान पड़ती हैं अर्थात् आपकी सब बातें बनावटी हैं ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥

मर्यादा रहित, पापाचरण से युक्त, चरित्रहीन और साधु सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण वाले पुरुष का सज्जनों के समाज में आदर नहीं होता ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥४॥

चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन प्रसिद्ध करता है ॥ ४ ॥

अनार्यस्त्वार्यसङ्काशः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥
अधर्मं धर्मवेषेण यदीमं [1]लोकसङ्करम् ।
अभिपत्स्ये शुभं[2] हित्वा क्रियाविधिविवर्जितम्[3] ॥६॥
कश्चेतयानः[4] पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहुमंस्यति मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

---

१ लोकसंकरम्—लोकसङ्करकारकम् । (गो०) २ शुभं—शुभसाधनं वैदिकधर्मम् । (गो०) ३ क्रियाविधिविवर्जितम्—वैदिकक्रिययाविधिना वर्जितं इमंत्वदुक्तमधर्मं । (गो०) ४ चेतयानः—ज्ञानवान् । (गो०)

यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा में रह कर, अनार्यों की तरह ; पवित्र हो कर, शौचहीन की तरह और शीलवान हो कर, दुःशील की तरह धर्म के वेष से वैदिक धर्म को छोड़, लोगों में सङ्करता बढ़ाने वाले, वैदिक विधि और वैदिक क्रिया से रहित आपके बतलाये हुए धर्म को ग्रहण करूँ, तो कार्य अकार्य को जानने वाला कौन ज्ञानवान पुरुष, मुझ दुराचारी और लोकनिन्दित का सम्मान करेगा ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कस्य धास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

यदि आपके उपदेशानुसार मैं इस सत्य-प्रतिज्ञ-पालन-हीन वृत्ति को अवलंबन कर लूँ तो, मैं किस कर्म के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥९॥

जब मैं (ही) यथेच्छाचारी हो गया, तब (अन्य) सब लोग अपना मनमाना काम करने लगेंगे । क्योंकि राजा का जैसा आचरण होता है, वैसा ही आचरण प्रजा का भी हो जाता है । (यथा राजा तथा प्रजा प्रसिद्ध ही है) ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंस[1]ं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥१०॥

भूतानुकम्पा प्रधान और सनातन राजधर्म सत्यरूप है, अतः राज्य सत्यरूप है और सत्य ही से यह लोक टिका हुआ है ॥ १० ॥

---

१ अनृशंसं—भूतानुकम्पाप्रधानं सनातनंच राजवृत्तं सत्यरूपमेव । (गो०.)

[नोट—अर्थात् राजा का धर्म है कि वह प्राणि मात्र पर दयायुक्त व्यवहार करे और अपने व्यवहार में असत्य को स्थान न दे। राजधर्म में झूठ बोलना निषिद्ध है। भूतानुकम्पाप्रधान एवं सत्यरूप राजधर्म अनादिसिद्ध है। सत्यव्यवहार यदि लोप हो जाय तो इस लोक में एक क्षण भी रहना कठिन हो जाय।]

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे[1]।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन्परमं गच्छति क्षयम् ॥११॥

देखो ऋषि लोग और देवता लोग सत्य को उत्कृष्ट [मानते हैं; क्योंकि सत्यवादी पुरुष को अक्षय्य ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते[2] यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यं परो लोके मूलं स्वर्गस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

मिथ्यावादी पुरुष से लोग वैसे ही डरते हैं जैसे साँप से। सत्य से युक्त धर्म केवल समस्त लौकिक व्यवहारों ही का मूल नहीं है, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी मूल साधक है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्मा श्रिता सदा।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्[3] ॥१३॥

सत्य ही से ईश्वर की प्राप्ति होती है, सत्य ही से लक्ष्मी-धन धान्य मिलता है। सत्य ही सब सुखों का मूल है, सत्य से बढ़ कर और कोई वस्तु नहीं है जिसका आश्रय लिया जाय ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

---

१ मेनिरे—अकुटिलमितिशेषः। (गो०) २ परमंक्षयन्—परमधाम। (गो०) ३ उद्विजन्ते—जनाद्धतिशेषः। (गो०) ४ पदम्—आश्रयं। (शि०)

दान, यज्ञ, तप और वेद—ये सब सत्य हैं, अतएव सब को सदा सत्य पालन के लिये तैयार रहना चाहिये ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥

कोई तो अपने कर्मों के फल से अपने कुल का और कोई लोक भर का पालन करता है । कोई नरक में डूबता है और कोई स्वर्ग में पूजित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्नियोगं तु किमर्थं नानुपालये ।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतः ॥ १६ ॥

अतएव मैं (कर्मफल को जानता हुआ और) सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा करके, सत्यप्रतिज्ञ और सदाचारी पिता की सत्य रूप उस आज्ञा का, जिसकी प्रतिज्ञा सत्यतापूर्वक की गयी है, पालन क्यों न करूँ ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः ।
सेतुं[1] सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः[2] सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

अतएव मैं न तो राज्य पाने के लोभ से, न लोगों के भुलावे में आ और न अज्ञान से क्रोध के वशवर्ती हो, पिता की सत्यरूपी मर्यादा को तोड़ूँगा, क्योंकि मैं स्वयं सत्यप्रतिज्ञ हूँ ॥ १७ ॥

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

---

१ सेतुं—मर्यादां । (गो०) २ गुरोः—पितुः । (शि०)

मैंने सुना है कि, जो सत्यप्रतिज्ञा को भङ्ग करने वाला, चञ्चल स्वभाव और अस्थिर चित्त है, उसका दिया हुआ हव्य और कव्य देवता और पितर ग्रहण नहीं करते ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं स्वयम् ।
भारः [1]सत्पुरुषाचीर्णस्तदर्थमभिमन्यते[2] ॥ १९ ॥

मेरी समझ में प्रत्येक जीवधारी के लिये सत्यपालन रूपी धर्म सब धर्मों की अपेक्षा प्रधान धर्म है। जिस सत्यपालन रूपी धर्म-भार या वनवास रूपी धर्मभार को पूर्वकाल के सत्पुरुष उठा चुके हैं, उस भार को, आदर देना मैं पसंद करता हूँ ॥ १९ ॥

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये [3]ह्यधर्मं धर्मसंहितम्[4] ।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

आपके बतलाए हुए क्षात्र धर्म को, जिसमें धर्म तो नाममात्र का है और अधर्म प्रचुर परिमाण में है मैं त्याज्य समझता हूँ; क्योंकि ऐसे अधर्म रूपी धर्म का सेवन तो—नीच, निष्ठुर, लोभी और पापी लोग ही किया करते हैं ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य च ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

आपके बतलाये क्षात्रधर्म का पालन करने में, तीनों प्रकार के पापों की प्रवृत्ति होती है । वे तीन प्रकार के पाप हैं कायिक, मानसिक और वाचिक । (कायिक वे जो शरीर से किये जाय,

---

१ सत्पुरुषाचीर्णः—सत्पुरुषैराचरितः । (गो०) २ अभिमन्यते—अभिमतो भवति । (गो०) ३ अधर्मं—अधर्मप्रचुरं । (गो०) ४ धर्म-संहितम्—धर्मलेशसहितं । (गो०)

मानसिक वे जो मन में सोचे जाय और वाचिक वे जो जिह्वा द्वारा किये जाँय, अर्थात् झूठ बोलना, क्रोध करना, परनिन्दा करना, अपशब्द कहना आदि।) इन तीनों प्रकार के पापों का परस्पर सम्बन्ध है। पहले तो पाप का मन में सङ्कल्प उदय होता है, फिर वाणी द्वारा वह प्रकट किया जाता है और फिर वह शरीर से किया जाता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।
स्वर्गस्थं चानुपश्यन्ति सत्यमेव भजेत तत् ॥ २२ ॥

जो लोग सत्यव्रतधारी हैं, उन्हें केवल राज्य, कीर्ति, यश और धन ही नहीं मिलता, किन्तु मरने पर उन्हें स्वर्ग भी प्राप्त होता है। इसीसे लोगों को सत्य बोलना और सत्य व्यवहार करना उचित है ॥ २२ ॥

[1]श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यद्भवानवधार्य माम् ।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं[2] भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥

आपने अपने मन में निश्चय कर जिसे उचित समझ रखा है, और जिसको करने के लिये आप मुझसे युक्तियुक्त वचन कह कर अनुरोध करते हैं, वह कार्य सर्वथा अनुचित है ॥ २३ ॥

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरौ ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

भला बतलाइये तो, मैं जब पिता से वनवास की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, तब अब क्योंकर मैं उस प्रतिज्ञा को भङ्ग कर, भरत का कहना मानूँ ॥ २४ ॥

---

१ श्रेष्ठं नित्यवधार्यं निश्चित्य । (गो०) २ इदं भद्रंकुरुष्वेति भवान्युक्तिकरैर्वाक्यैः यदाह तदनार्यमेवस्यात् । (गो०)

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसन्निधौ ।
महृष्यमाणा सा देवी कैकेयी चाभवत्तदा ॥ २५ ॥

जब कि मैंने पिता के सामने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, तब देवी कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं। (सो अब मैं अपनी उस दृढ़ प्रतिज्ञा को तोड़ कैकेयी को क्यों कर दुःखी करूँ) ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।
मूलैः पुष्पैः फलैः पुण्यैः पितॄन्देवांश्च तर्पयन् ॥२६॥

अतएव मैं पवित्र मूल फल फूलों से देवता और पितरों को तृप्त कर और बचे हुओं को स्वयं भोजन कर, शुद्ध हृदय और सन्तुष्ट हो कर वन में वास करूँगा ॥ २६ ॥

[नोट—जो पदार्थ देवता पितरों को अर्पण कर खाये जाते हैं उनके खाने से हृदय शुद्ध होता है—जो ऐसा नहीं करते वे पाप करते हैं—गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है " भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात् " अर्थात् जो अपने खाने के लिये रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं प्रत्युत पाप खाते हैं ।]

[1]सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां[2] प्रवर्तये ।
[3]अकुहः श्रद्दधानः सन्कार्याकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

मैं छल छिद्र त्याग कर, कर्त्तव्याकर्तव्य का विचार कर, वैदिक क्रियाकलाप में अकृत्रिम श्रद्धा रख कर, तथा पाँचों इन्द्रियों को सन्तुष्ट रख कर, पिता की वचनपालन रूपी लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

---

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गः—परितुष्टपञ्चेन्द्रियवर्गः । (गो०) २ लोकयात्रां—पितृवचनपरिपालनरूपलोकवर्तनं । (गो०) अकुहः—अकृत्रिमः । (गो०)

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

इस कर्मभूमि में आ कर शुभकर्मानुष्ठान करना उचित है। क्योंकि कर्मों के फल के भागी अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं। अर्थात् मनुष्यों को क्रमानुसार अग्निलोक, वायुलोक और चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। अथवा शुभकर्मों द्वारा ही जीव अग्नि वायु और चन्द्रमा होते हैं ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं याता महर्षयः ॥ २९ ॥

(शुभकर्मानुष्ठान का प्रभाव दिखा कर श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि) सौ यज्ञ करने से इन्द्र देवराज हो कर स्वर्ग में गये और महर्षि लोग भी तप करके स्वर्ग को प्राप्ति करते हैं ॥ २९ ॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकहेतुवाक्यम् ।
अथाब्रवीत्तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेज वाले नृपनन्दन श्रीरामचन्द्र जाबालि के नास्तिकता से भरे वचन सुन, उनको सहन न कर सके और उन वचनों की निन्दा करते हुए उनसे फिर बोले ॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।

द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

हे जाबालि ! सत्य बोलना, अपने अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करना, समय पर पराक्रम दिखाना, भूतदया, प्रियवचन बोलना, ब्राह्मण, देवता और अतिथियों का पूजन करना —इन कर्मों के करने से, साधुजन स्वर्ग की प्राप्ति बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थं-
[1]मेकोदयं संप्रतिपद्यविप्राः ।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

इसी लिये ब्राह्मण लोग, इसका यथावत् अर्थ समझ, सावधान हो कर, वर्णाश्रमोचित समस्त धर्मों का पालन करते हुए, ब्रह्मलोकादि की आकांक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥

[2]निन्दाम्यहं कर्म पितुः कृतं त-
द्यस्त्वामगृह्णाद्विप[3]मस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्याऽनयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

हे जाबालि ! मैं अपने पिता के इस कार्य की निन्दा करता कि उन्होंने तुम्हारे जैसे वेदमार्ग से भ्रष्ट बुद्धि वाले धर्मच्युत

---

१ एकोदयं सम्प्रतिपद्य—ऐककण्ठ्यं प्राप्य । (गो०) २ निन्दाम्यहं—दिककर्मभ्योबहिष्करोमि । (गो०) ३ विषमस्थबुद्धिं—अवैदिकमार्ग ष्णातबुद्धिं । (गो०)

नास्तिक को अपने यहाँ रखा। क्योंकि चार्वाकादि नास्तिक मत का जो दूसरों को उपदेश देते हुए घूमा फिरा करते हैं, वे केवल घोर नास्तिक ही नहीं, प्रत्युत धर्ममार्ग से च्युत भी हैं ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि यः शङ्क्यतमः प्रजानां
न नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

राजा को चाहिये कि प्रजा की भलाई के लिये ऐसे मनुष्य को वही दण्ड दे जो चोर को दिया जाता है। और जो इनको दण्ड देने में असमर्थ हो, उन समझदारों या विद्वानों को ऐसे नास्तिकों से बात चीत भी न करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

*तत्तो जनाः पूर्वतरेवराश्च[1]
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः।
जित्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद्द्विजाः स्वस्ति हुतं कृतं च ॥३५॥

हे जाबालि! तुमसे पहले के ज्ञान में श्रेष्ठ जनों ने अनेक शुभ कर्म किये और उन शुभ कर्मों के प्रभाव से उन लोगों ने इहि लोक और परलोक जीते। इसीसे ब्राह्मणों ने अहिंसा सत्यादि, तपोदान परोपकारादि तथा यज्ञादि कर्मों को किया ॥ ॥ ३५ ॥

---

१ तत्तः—पूर्वतरेपुरातनाश्च, वराश्च ज्ञानतः श्रेष्ठाश्चजनाः। (गो०)

* पाठान्तरे—"तत्तो जनाः," "तत्तोवरः"। † पाठान्तरे—"जनाश्च", "द्विजाश्च"।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेताः
तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

जो धर्मानुष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं, तेजस्वी हैं, जो दान देने में प्रधान हैं, जो हिंसा नहीं करते, जो सत्सङ्गी हैं ऐसे वशिष्ठादि प्रधान प्रधान मुनि ही संसार में पापरहित हो और तेज धारण कर सब के पूज्य होते हैं (न कि आप जैसे नास्तिक लोग) ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम्[1] ।
उवाच तथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

जब दीनताशून्य श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर जाबालि से ऐसे वचन कहे, तब जाबालि जी विनय युक्त हो यथार्थ, सत्य सम्मत और आस्तिक वचन बोले ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किञ्चन ।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं नास्तिकों जैसी बातें नहीं कहता और न मैं स्वयं नास्तिक हूँ । मेरे कहने का न यह अभिप्राय ही है कि पर-

---

१ अदीनसत्त्वम्—दैन्यसंसर्गशून्यम् । (शि०)

लोकादि कुछ भी नहीं हैं। परन्तु समय के प्रभाव में पड़ अथवा समय की आवश्यकतानुसार मैं आस्तिक अथवा नास्तिक हो जाता हूँ ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनैः
यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

इति नवोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे राम ! यह समय ऐसा ही था कि, मुझे नास्तिकों जैसे वचन कहने पड़े। मैंने यह वचन आपको प्रसन्न करने तथा आपको वन से लौटाने के लिये ही कहे थे ॥ ३९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ नवां सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

दशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

[नोट—११०वें सर्ग में श्रीराम जी को जाबालि पर क्रुद्ध देख वशिष्ठ जी जाबालि के कथन का सदुद्देश्य समझाने के लिये यह युक्ति देते हैं कि रघुवंश में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही को राजसिंहासन मिलता आया है। इस युक्ति की पुष्टि में वशिष्ठ जी इक्ष्वाकुवंश की संक्षिप्त वंशावली का निरूपण कर, श्रीराम का ध्यान बँटा कर उनका क्रोध शान्त करते हैं।]

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य[1] गतामतिम्* ॥१॥

---

[1] लोकस्य—जनस्य । (गो०) * पाठान्तरे—"गतागतं" ।

वशिष्ठ जो ने जब देखा कि श्रीरामचन्द्र जी जाबालि की बातों से क्रुद्ध हो गये हैं, तब वे श्रीराम जी से यह बोले—जाबालि जी प्राणियों के आवागमन को मानते हैं ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत्* ।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

तुमको लौटाने के लिये ही उन्होंने ऐसी बातें तुमसे कही थीं । हे लोकनाथ ! इस लोक की उत्पत्ति का वर्णन तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी यत्र निर्मिता ।
ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥

आरम्भ में जल ही जल था । उसी जल के भीतर पृथिवी बनी । तदनन्तर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् ।
असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने वराह रूप धारण कर जल से पृथिवी निकाली और अपने पुत्रों सहित इस सम्पूर्ण जगत को बनाया ॥४॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

सनातन, नित्य और अक्षय्य ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न हुए और उनसे मरीचि, मरीचि से कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विवस्वान्काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः सुतः ।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"उक्तवान्" ।

कश्यप जी से विवस्वान सूर्य, विवस्वान सूर्य से मनु ने जन्म लिया। वैवस्वत मनु हो प्रजापतियों में प्रथम प्रजापति हुए और इन्हींके पुत्र इक्ष्वाकु थे ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

इन इक्ष्वाकु को महाराज मनु ने समृद्ध पृथिवी दी थी। इन्हीं इक्ष्वाकु को हे राम ! तुम अयोध्या का प्रथम राजा जानो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान्कुक्षिरित्येव* विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

हे वीर ! इक्ष्वाकु के पुत्र श्रीमान् कुक्षि नाम से प्रसिद्ध हुए और कुक्षि से विकुक्षि की उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य तु महाबाहुरनरण्यो महायशाः ॥ ९ ॥

विकुक्षि के पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाण के पुत्र महाबाहु और महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षं सतां वरे ।
अनरण्ये महाराजे तस्करो नापि कश्चन ॥ १० ॥

सज्जनों में श्रेष्ठ महाराज अनरण्य के राज्यत्व काल में न तो कभी सूखा पड़ा और न कभी अकाल। उनके राज्य में कोई चोर भी न था ॥ १० ॥

अनरण्यान्महाबाहुः पृथू राजा बभूव ह ।
तस्मात्पृथोर्महाराजस्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

---

*पाठान्तरे—"एवेति"।

हे महाबाहो ! अनरण्य से पृथु जी ने जन्म लिया । पृथु जी से परम तेजस्वी त्रिशङ्कु उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः ।
त्रिशङ्कोरभवत्सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह त्रिशङ्कु ऐसे सत्यवादी थे कि, सशरीर स्वर्ग में गये थे । त्रिशङ्कु के पुत्र परम यशस्वी धुन्धमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारोन्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।
युवनाश्वसुतः श्रीमान्मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

धुन्धमार से महातेजस्वी युवनाश्व हुए । युवनाश्व के पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसन्धिरुदपद्यत ।
सुसंन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

मान्धाता से परमतेजस्वी सुसन्धि जन्मे । सुसन्धि से ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् नाम के दो पुत्र हुए ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।
भरतात्तु महावाहोरसितो नामतोऽभवत्* ॥ १५ ॥

ध्रुवसन्धि के पुत्र रिपुसूदन और यशस्वी भरत हुए । महाबाहु भरत से असित का जन्म हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिबिन्दवः ॥ १६ ॥

हैहय, तालजंघ, शशिबिन्द और शूर ने असित से शत्रुता की ॥ १६ ॥

---

* पाठान्तरे—" नाम जायत " ।

तांस्तु सर्वान्प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

युद्ध के समय असित ने इन सब के विरुद्ध सैन्यव्यूह बना कर इनको घेरा, किन्तु इनको पराजित करना कठिन जाना और अपना राज्य छोड़ वे तप करने के लिये परम रमणीक हिमालय पर्वत पर चले गये ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ॥ १८ ॥

सुना जाता है कि, उनकी दो रानियां उस समय गर्भवती थीं। उनमें से एक ने अपनी सौत का गर्भ नाश करने के लिये उसे ज़हर दिया ॥ १८ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तमृषिं समुपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

भृगुनन्दन च्यवन जो उस समय हिमालय पर्वत पर रहते थे। कालिन्दी नाम की रानी ने उन ऋषि के पास जा कर उनको प्रणाम किया ॥ १९ ॥

स तामभ्यवदद्विप्रो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २० ॥

महर्षि च्यवन ने जाना कि, इसे पुत्रप्राप्ति की इच्छा है, अतः प्रसन्न हो कर उस पुत्र की कामना रखने वाली रानी से कहा कि, हे देवि! तुम्हारे गर्भ से बड़ा महात्मा, लोकविख्यात पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २० ॥

धार्मिकश्च सुशीलश्च वंशकर्तारिसूदनः ।
कृत्वा प्रदक्षिणं* सा तु मुनिं तमनुमान्य च ॥ २१ ॥

यह धर्मात्मा, सुशील, वंश बढ़ाने वाला और शत्रुओं को संहार करैगा । यह बात सुन रानी ने बड़े आदर भाव से मुनि की प्रदक्षिणा की ॥ २१ ॥

पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।
ततः सा गृहमागम्य देवी पुत्रं व्यजायत ॥ २२ ॥

और अपने घर लौट उस रानी ने कमलनयन और कमलगर्भ सदृश कान्तियुक्त पुत्र जना ॥ २२ ॥

सपत्नया तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
गरेण सह तेनैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ २३ ॥

इस पुत्र के उत्पन्न होने के पूर्व सौतिया डाह से कालिन्दी को उसकी सौत ने जो विष दिया था, उसी गर अर्थात् ज़हर के साथ पुत्र का जन्म होने से उस बालक का नाम सगर हुआ ॥ २३ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।
इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयन्तमिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उसने पर्व के समय यज्ञदीक्षा ले और खोदने से इस प्रजा को त्रस्त कर समुद्र खुदवाया ॥ २४ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत्सगरस्येति नः श्रुतम् ।
जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—"हृष्टा मुनिं तमनुमान्य च" ।

सुना जाता है कि, इन सगर के असमञ्जस नाम का एक वीर्य-वान पुत्र हुआ। वह प्रजा को सताता था अतः उसके पापकर्मों को देख पिता ने उसे निकाल दिया था ॥ २५ ॥

*अंशुमानिति पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान्।
दिलीपोंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २६ ॥

असमञ्जस के पुत्र वीर्यवान अंशुमान हुए। अंशुमान के पुत्र दिलीप हुए और दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए ॥ २६ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थस्तु काकुत्स्था येन विश्रुताः।
ककुत्स्थस्य च पुत्रोऽभूद्रघुर्येन तु राघवाः ॥ २७ ॥

भगीरथ जी के पुत्र ककुत्स्थ, ककुत्स्थ के पुत्र रघु हुए। इन्हीं ककुत्स्थ जी और रघु जी से काकुत्स्थ और राघव नाम की वंश परम्पराएँ चलीं ॥ २७ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः।
कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २८ ॥

रघु के एक तेजस्वी पुत्र हुआ जो प्रवृद्ध, पुरुषादक, कल्माष-पाद और सौदास के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति विश्रुतः।
यस्तु तद्वीर्यमासाद्य† सहसैनो व्यनीनशत् ॥ २९ ॥

कल्माषपाद से शङ्खण उत्पन्न हुआ। यह लोकप्रसिद्ध वीर्य को प्राप्त कर सेना सहित मेरे शाप से नाश को प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

शङ्खणस्य च पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान्सुदर्शनः।
सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३० ॥

---

* पाठान्तरे—"अंशुमानपि"। † पाठान्तरे—"सहसैन्यो"।

शङ्खण से शूरवीर श्रीमान् सुदर्शन हुए। सुदर्शन से अग्निवर्ण और अग्निवर्ण से शीघ्रग हुए ॥ २० ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुकः ।
प्रशुश्रुकस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महाद्युतिः ॥ २१ ॥

शीघ्रग के पुत्र मरु और मरु के पुत्र प्रशुश्रुक हुए। प्रशुश्रुक के पुत्र महाद्युतिमान अम्बरीष हुए ॥ २१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।
नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ २२ ॥

अम्बरीष के पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष हुए। नहुष के पुत्र नाभाग जी बड़े धर्मात्मा थे ॥ २२ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ ।
अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ २३ ॥

नाभाग के अज और सुव्रत नाम के दो पुत्र हुए। इनमें से अज के पुत्र धर्मात्मा महाराज दशरथ हुए ॥ २३ ॥

[यो जित्वा वसुधां कृत्स्नां दिवं शासति स प्रभुः ।]
तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो[1] राम इत्यभिविश्रुतः ॥२४॥

जिन महाराज दशरथ ने सम्पूर्ण पृथिवी जीत कर, स्वर्ग तक का शासन किया—उन्हीं महाराज दशरथ के विश्वविख्यात ज्येष्ठ पुत्र तुम हो। (अतएव हे राजन्! तुम अपने पिता का राज्य ग्रहण कर संसार का पालन-करो) ॥ २४ ॥

---

१ दायादः—सुतः । (गो०)

तद्गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जनं नृप ।
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकु के वंश में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता चला आया है । ज्येष्ठ राजकुमार के विद्यमान रहते छोटे को राजगद्दी नहीं मिल सकती ॥ ॥ ३५ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः
सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं
प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशः ॥ ३६ ॥

इति दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

अतः तुम रघुवंशियों के इस सनातन कुलधर्म को लोप मत करो और अपने पिता की तरह यशस्वी हो कर, इस बहुरत्नों से पूर्ण और अनेक राज्यों से युक्त पृथिवी का शासन करो ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

वसिष्ठस्तु तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।
अब्रवीद्धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

राजपुरोहित वशिष्ठ जी श्रीराम जी से यह कह, फिर धर्म-सम्मति वचन और भी बोले ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवस्त्रयः ।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थ ! हे राम ! पुरुष जब जन्मता है, तब उसके तीन गुरु होते हैं । पिता, माता और आचार्य ॥ २ ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पिता माता तो केवल शरीर को जन्म देते हैं, और आचार्य बुद्धि देता है । अतः वह गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

सोऽहं ते पितुराचार्यस्तव चैव परन्तप ।
मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

हे परन्तप ! मैं तुम्हारे पिता का और तुम्हारा भी आचार्य हूँ । अतः मैं जो कहता हूँ उसे तुम मानो और सज्जनों के मार्ग का उल्लंघन मत करो ॥ ४ ॥

इमा हि ते[1] परिषदः[2] श्रेणयश्च[3] द्विजास्तथा[4] ।
एषु तात चरन्धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

हे तात ! देखो, ये सब तुम्हारे सम्बन्धी हैं, ये ब्राह्मण समूह हैं, ये पुरवासी हैं और ये सब क्षत्रिय वैश्य हैं । इनके प्रति निज कर्त्तव्य का पालन करो और सज्जनों की बाँधी मर्यादा का उल्लंघन मत करो ॥ ५ ॥

---

१ ते—त्वत्सम्बन्धिनः । (गो०) ४ परिषदः—ब्राह्मणसमूहाः । (गो०)
२ श्रेणयः—पौरजनाः । (गो०) ४ द्विजाः—क्षत्रियाः वैश्याश्च । (गो०)

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम् ।
अस्यास्तु वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

देखो, यह बेचारी बूढ़ी और धर्मशीला तुम्हारी माता जो कहती है, उसका उल्लंघन करना तुमको उचित नहीं—क्योंकि जो पुरुष माता का कहना मानता है, वह सन्मार्गी कहलाता है ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन्याचमानस्य राघव ।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

हे सत्यधर्म पराक्रमी राघव ! देखो, यह भरत आपसे याचना कर रहे हैं, सो इनकी बात मानने से भी तुम सद्गति से भ्रष्ट न होगे ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तस्तु गुरुणा राघवः स्वयम् ।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

जब गुरु वशिष्ठ जी इस प्रकार मधुरवाणी से कह कर आसन पर बैठे हुए थे, तब वशिष्ठ जी को पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने उत्तर दिया ॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ वृत्तं[1] तनये कुरुतः सदा ।
न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥

माता पिता, अपने पुत्र को जो सेवा या उपकार करते हैं, उसके बदले में प्रत्युपकार करना सहज नहीं है ॥ ९ ॥

यथाशक्ति प्रदानेन स्नापनेोच्छादनेन च ।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

---

१ वृत्तं—उपकारं । (रा०)

क्योंकि वे अपनी सामर्थ्य से अधिक पुत्र को उत्तम उत्तम भोजन वस्त्रादि देते हैं, शिशु अवस्था में, सुलाते है, और तेल आदि से उवटन करते हैं, मधुर से मधुर वचन कह कर लाड़ प्यार करते और पुत्र की वृद्धि व जीवित रहने के लिये अनेक उपाय करते हैं ॥ १० ॥

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम ।
आज्ञातं यन्मया तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

सो वे महाराज दशरथ जो मुझे जन्म देने वाले मेरे पिता थे। उन्होंने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्[1] ।
उवाच परमोदारः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, परम उदार भरत जी, समीप बैठे हुए सुमंत्र से उदास हो बोले ॥ १२ ॥

इह मे स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे ।
आर्यं [2]प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे न प्रसीदति ॥ १३ ॥

हे सारथे ! इस चबूतरे पर तुम शीघ्र कुशों को बिछा दो, जब तक मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी मेरे ऊपर प्रसन्न न होंगे, तब तक मैं इन्हीं कुशों पर धन्ना दे कर बैठा रहूँगा ॥ १३ ॥

अनाहारो निरालोको[3] धनहीनो[4] यथा द्विजः ।
शेष्ये पुरस्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

---

१ प्रत्यनन्तर—समीपस्थं । (गो०) २ 'प्रत्युपवेक्ष्यामि—प्रत्युपवेशन कर्म करिष्य इत्यर्थः । (रा०) ३ निरालोको—अवकुण्ठिताननः । (गो०) ४ धन हीनः—वृद्ध्यर्थमृणप्रदानाच्छिर्धनः । (गो०)

जब तक श्रीरामचन्द्र जी लौट कर अयोध्या न चलेंगे, तब तक मैं एक धनहीन ब्राह्मण की तरह, भोजन त्याग, मुँह ढक इसी कुटी के द्वार पर पड़ा रहूँगा ॥ १४ ॥

[नोट—"धनहीन" ब्राह्मण से आदिकाव्यकार का अभिप्राय उस ब्राह्मण से है, जिसने अपने पास की पूँजी किसी बनिये महाजन के पास अमानतन. ब्याज के नाम से जमा करा दी है। और वह बनिया-महाजन बेईमानी कर उसकी पूँजी को हड़प कर जाय। तब उस धनहीन ब्राह्मण के लिये सिवाय धरना देने के और कोई उपाय नहीं रह जाता।]

स तु राममवेक्षन्त सुमन्त्र मथ्य दुमनाः ।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्तरत्स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुन सुमंत्र श्रीराम के मुख को ओर (उनकी अनुमति के लिये) देखने लगे। तब भरत जी उदास हो, स्वयं ही कुश बिछा कर श्रीराम के सामने धरना दे कर बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥

भरत जी को इस प्रकार धरना दिये हुए बैठे देख, राजर्षियों में श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से बोले। हे भरत भैया! मैंने क्या अपकार किया है जो तुम मेरे ऊपर धरना देते हो? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान्रोढुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

यह काम तो ब्राह्मण का है, जो एक करवट पड़ा हुआ धरना दे कर, अपने दुःखदाता का रोध करता है। किन्तु तिलकधारी क्षत्रिय के लिये यह धरना देना उचित नहीं ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

हे नरव्याघ्र ! तुम इस कठोर व्रत को त्याग कर उठ खड़े हो और शीघ्र ही यहां से श्रेष्ठ पुरी अयोध्या को गमन करो ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

तब भरत जी उसी प्रकार धरना दिये बैठे रहे और चारों ओर बैठे हुए पुरवासी और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले तुम सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से क्यों कुछ नहीं कहते ? ॥ १९ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः ॥ २० ॥

तब वे पुरवासी और जनपदवासी श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे—हे महात्मा ! हम लोग जानते हैं कि, भरत जी का कहना बहुत ठीक है ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।
अतएव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा[1] ॥२१॥

फिर वे भरत जी से बोले—परन्तु श्रीरामचन्द्र जी से हम लोग आग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि महाभाग श्रीरामचन्द्र, पिता की आज्ञा पालन करने को दृढ़ सङ्कल्प किये हुए हैं । अतः हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं कि, इनको तुरन्त लौट चलने को कहें ॥ २१ ॥

---

१ अञ्जसा—शीघ्रं । (गो०)

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम्[1] ॥ २२ ॥

उन सब लोगों के इन वचनों को सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले हे भरत ! इन धर्मदर्शी अपने सुहृदों के वचन सुनो, और विचारो, वे क्या कह रहे हैं ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक्सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां[2] च स्पृश तथोदकम्[3] ॥२३॥

हे रघुनन्दन ! इन दोनों बातों को सुन कर इन पर भली भाँति विचार कर उठ बैठो और क्षत्रिय के अयोग्य धब्बा देने के कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिये आचमन कर मुझे स्पर्श करो ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः श्रेणयस्तथा ॥२४॥

यह बात सुन भरत जी उठ बैठे और आचमन कर यह वचन बोले, हे ब्राह्मणों ! हे पुरजनों ! हे क्षत्रिय वैश्यों ! मेरी बात सुनो ॥ २४ ॥

न याचे[4] पितरं राज्यं नानुशासामि[5] मातरम् ।
आर्यं परमधर्मज्ञं नानुजानामि[6] राघवम् ॥ २५ ॥

---

१ धर्मचक्षुषाम्—धर्मदर्शिनां । (रा०) २ मां च स्पृश—क्षत्रिया विहित प्रत्युपवेशन प्रायश्चित्तार्थमित्यर्थः । (गो०) ३ उदकं स्पृश—उदक स्पर्श आचमनार्थः । (रा०) ४ न याचे—नयाचितवान् । (गो०) ५ नानुशासामि—नानुशास्मि एवंकुर्वितिनानुशिष्टवानस्मीत्यर्थः । (गो०) ६ नानुजानामि—वनवासायनानुज्ञातवान् । (गो०)

न तो मैंने पिता से राज्य मांगा और न मैंने अपनी माता को कुछ सिखाया पढ़ाया और न मुझे श्रीरामचन्द्र जी के वनवास ही का कुछ हाल मालूम था ॥ २५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश समा वने ॥ २६ ॥

यदि पिता के आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है तो मैं श्रीरामचन्द्र जी का प्रतिनिधि बन १४ वर्ष बन में वास करूँगा। (और श्रीरामचन्द्र मेरे प्रतिनिधि बन अयोध्या में जा राज्य करें) ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य तथ्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के इन सत्य वचनों से विस्मित हो पुरजन और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले ॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

हमारे पिता महाराज दशरथ ने अपने जीते जी यदि कोई वस्तु बेच डाली, या मोल ली या किसी के यहां कोई वस्तु धरोहर धर दी, तो यह बात मेरे और भरत के अधिकार से बाहिर है कि, उनके किये को मेंट दें। अर्थात् बेची हुई चीज़ फेर ले या ख़रीदी हुई चीज़ लौटा दे या धरोहरी चीज़ वापिस ले ले ॥ २८ ॥

[1]उपधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

---

१ उपाधिः—प्रतिनिधिः । (गो०)

अतः मैं सज्जन जनों से निन्दा कराने के लिये यह दुष्कर्म न करूँगा कि, अपना प्रतिनिधि बना भरत को वन भेजूँ। कैकेयी ने महाराज से जो कुछ कहा या मांगा सो ठीक ही कहा या मांगा और पिता जी ने जो कुछ किया या दिया सो भी उन्होंने अच्छा ही किया ॥ २९ ॥

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥ ३० ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत बड़े क्षमाशील और पूज्य बड़ों की मान मर्यादा रखने वाले हैं। इन सत्यसन्ध महात्मा में सब बातें भली ही भली हैं। (अतएव इनके द्वारा राज्यशासन होने से किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती) ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥३१॥

मैं यह भी कहता हूँ कि, जब मैं वन से लौट कर आऊँगा, तब मैं अपने इन धर्मशील भाई भरत के साथ राज्य का शासनभार ग्रहण करूँगा ॥ ३१ ॥

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

इति एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! महाराज से माता कैकेयी ने जो वर माँगा था, मैंने उस वर के अनुसार कार्य किया और महाराज पिता जी को मिथ्या भाषण से मुक्त किया, तुम भी कैकेयी को दिये हुए दूसरे वर के

अनुसार, राज्य ग्रहण कर महाराज को मिथ्याभाषण के दोष से मुक्त करो ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ ग्यारहवां सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम् ।
विस्मिताः सङ्गमं प्रेक्ष्य समवेता महर्षयः ॥ १ ॥

उस समय वहां जो ऋषि आये हुए थे, वे अतुल तेजस्वी दोनों भ्राताओं का यह रोमहर्षणकारी समागम देख, विस्मित हुए ॥ १ ॥

[1]अन्तर्हितास्त्वृषिगणाः[2] सिद्धाश्च परमर्षयः[3] ।
तौ भ्रातरौ महात्मानौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

पहले जो राजर्षिगण, सिद्धगण और देवर्षिगण अन्तर्धान थे, वे इन दोनों भाइयों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥ २ ॥

स धन्यो यस्य पुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ[4] ।
श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे[5] ॥ ३ ॥

ये दोनों धर्मज्ञ और धर्मवीर राजकुमार जिन महाराज दशरथ के पुत्र हैं, वे धन्य हैं। इन दोनों की बातचीत सुन, हम लोगों को

---

१ अन्तर्हिताः—पूर्वमेवान्तर्धानं प्राप्ताः। (गो०) २ ऋषिगणाः—राजर्षिगणाः। (गो०) ३ परमर्षयः—देवर्षयः। (गो०) ४ धर्मविक्रमौ—धर्मशूरौ। ५ स्पृहयामहे—पुनः पुनःश्रोतुं वाञ्छामः। (शि०)

यह इच्छा हो रही है कि, इन दोनों की वार्तालाप हम बार बार सुना करें ॥ ३ ॥

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः ।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः सङ्गता[1] वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वे ऋषिगण, जो रावण का वध शीघ्र करवाना चाहते थे, पुरुषसिंह भरत के पास गये और एक स्वर से यह बोले ॥ ४ ॥

कुलेजात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते [2]पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

हे अटल प्रतिज्ञा वाले ! हे शुभ चरित्रयुक्त महायशस्वी भरत ! तुमने कुलीनकुल में जन्म लिया है। यदि तुम अपने पिता को सुखी करना चाहते हो, तो तुम्हें वही करना उचित है, जो श्रीरामचन्द्र जी तुमसे कहते हैं ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

हम सब यही चाहते हैं कि, श्री रामचन्द्र जी अपने पिता के ऋण से उऋण हों। (क्योंकि) कैकेयी के ऋण से उऋण होने से महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः ।
राजर्षयश्चैव तदा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

---

१ संगताः—ऐककण्ठ्यंभाताः । (गो०) २ पितरं यद्यवेक्षसे—पितुः सुखं यदीच्छसि । (रा०)

यह कह कर गन्धर्व, राजर्षि तथा देवर्षि सब अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ ७ ॥

ह्लादितेन वाक्येन शुभेन शुभदर्शनः ।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत्[1] ॥ ८ ॥

शुभदर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने उन ऋषियों के इस कथन से हर्षित हो, उनसे कहा कि, आपने भली भाँति मेरा धर्म बचाया ॥ ८ ॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

उस समय भरत जी डर कर गद्गदवाणी से हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से फिर बोले ॥ ९ ॥

राजधर्ममनुप्रेक्ष्य कुलधर्मानुसन्ततिम् ।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम[2] मातुश्च याचनाम् ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! राज्यपरिपालन धर्म और ज्येष्ठ ही को अधिकार प्राप्त होता आया है—इस कुलप्रथा पर भली भाँति विचार कर, आपको मेरी माता कौशल्या की प्रार्थना पूरी करनी चाहिये ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे ।
पौरजानपदांश्चापि [3]रक्तान्रञ्जयितुं तथा ॥ ११ ॥

इस बड़े राज्य की अकेले रक्षा करने का और आपमें अनुराग रखने वाले इन पुरवासियों तथा जनपदवासियों का मनोरञ्जन करने का मुझे साहस नहीं होता ॥ ११ ॥

---

१ अभ्यपूजयत्—सम्यङ्मांधर्मंतोरक्षितवन्त । (रा०) २ मममातुः—कौशल्याया । (रा०) ३ रक्तान्—त्वद्विषयकानुरागविशिष्टान् । (शि०)

ज्ञातयश्च हि योगाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।
त्वामेव प्रतिकाङ्क्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

जाति बिरादरी वाले, सैनिक, इष्ट मित्र—सब के सब, जल बरसाने वाले मेघ की आशा करने वाले उत्सुक किसान की तरह, एकमात्र आप ही के राज्यशासन की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय [1]प्रतिपद्य हि ।
शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

अतएव हे बुद्धिमान् ! आप इस राज्य को ग्रहण कीजिये और जिसका चाहिये उसे राजसिंहासन पर बिठा दीजिये । क्योंकि राज्यशासन करने को, हे काकुत्स्थ ! आप ही समर्थ हैं ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा न्यपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।
भृशं सम्प्रार्थयामास राममेव प्रियंवदः ॥ १४ ॥

यह कह कर भरत जी अपने भाई श्रीरामचन्द्र के चरणों में गिर पड़े और हे राम ! हे राम !—इस प्रकार सम्बोधित कर बार बार प्रार्थना करने लगे ॥ १४ ॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरं स्वयम् ॥ १५ ॥

भरत को चरणों में पड़ा देख, श्रीरामचन्द्र जी ने मतवाले हंस की तरह मनोहर कण्ठ वाले, कमलदल समान नेत्रवाले और श्यामवर्ण भरत को उठा कर अपनी गोद में बिठाया और उनसे बोले ॥ १५ ॥

---

१ प्रतिपद्य—स्वीकृत्य, कस्मिंश्चित्स्थापयहि । (रा०)

आगता त्वामियं[1] बुद्धिः स्वजा[2] वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥

मेरे वनवास के विरुद्ध और राज्यशासन स्वीकार कर किसी को राजसिंहासन पर बिठा देने की बात जो तुमने कही, वह स्वाभाविक और गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त होने का फल स्वरूप है। अतः (इससे स्पष्ट है कि) तुम भली भाँति राज्यशासन कर सकते हो। (अर्थात् तुम्हारी ऐसी सुन्दर बुद्धि का होना ही तुममें सुशासन की योग्यता के होने का प्रमाण है) ॥ १६ ॥

अमात्यैश्च[3] सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः[4] ।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य सुमहान्त्यपि कारय ॥ १७ ॥

अब तुम प्रधान सचिव, सुहृद, बुद्धिमानों और उपमंत्रियों के साथ समस्त बड़े बड़े कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श ले राज्य की सुव्यवस्था करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥

चन्द्रमा की शोभा चन्द्रमा को भले ही छोड़ दे, हिमालय भले ही हिम को छोड़ दे। भले ही समुद्र अपनी सीमा को लाँघ जाय, किन्तु मैं पिता की प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता ॥ १८ ॥

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥

---

१ इयंबुद्धिः—मद्वनवासविरोधिनी स्वीयत्वेनांगीकृत्यस्थापनविषया । (रा०) २ स्वजा—स्वाभाविकी । (रा०) ३ अमात्यैः—प्रधानसचिवैः । (गो०) ४ मंत्रिभिः—उपमंत्रिभिः । (गो०)

हे तात ! तुम्हारी माता ने भले ही तुम्हारे स्नेह अथवा तुमको राज्य दिलाने के लोभ के वशवर्ती हो, यह काम किया हो, परन्तु तुम इन बातों को अपने मन में न रखना और सदा उनके साथ माता के समान व्यवहार करना ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।
तेजसाऽऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब तेज में सूर्य के समान अथवा प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, कौशल्यानन्दन से भरत जी कहने लगे ॥ २० ॥

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

हे आर्य ! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण रखिये, क्योंकि ये ही दोनों खड़ाऊ सब के योगक्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ २१ ॥

[नोट—अप्राप्त-वस्तु की प्राप्ति योग और प्राप्त-वस्तु की रक्षा क्षेम ।]

तौ धिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके हेमभूषिते ।
प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

भरत के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र ने ये खड़ाऊ अपने पैरों में पहिन लीं और फिर उनको उतार कर महात्मा भरत को दे दीं ॥ २२ ॥

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः ॥ २४ ॥

तब भरत जी ने भक्ति सहित उन दोनों खड़ाउओं को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, आज से ले कर चौदह वर्ष तक जटा चीर धारण कर और कंदमूल फल खा कर, तुम्हारे आगमन की बाट जोहता हुआ, हे रघुनन्दन ! मैं नगर के बाहिर रहूँगा ॥ २३ ॥ २४ ॥

तव पादुकयोर्न्यस्य* राज्यतन्त्रं† परन्तप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥

हे परन्तप ! सब राजकार्य आपकी खड़ाउओं को अर्पण कर, (मैं राज्य का प्रबन्ध करता रहूँगा परन्तु) जिस दिन चौदहवाँ वर्ष पूरा होगा उस दिन भी यदि आपको मैंने अयोध्या में न देखा तो मैं अग्नि में गिर कर भस्म हो जाऊँगा । भरत की इस बात को सुन श्रीरामचन्द्र जी ने "तथास्तु" (ऐसा ही होगा) कह कर (चौदहवां वर्ष पूर्ण होते ही लौट कर आ जाने की) प्रतिज्ञा की और भरत को आदर पूर्वक हृदय से लगाया ॥ २५ ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमब्रवीत् ।
मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥

फिर भरत और शत्रुघ्न को हृदय से लगा कर श्रीराम जी ने भरत जी से यह कहा कि, देखो माता कैकेयी की रक्षा करना । ख़बरदार उस पर क्रोध मत करना ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"न्यस्त" । † पाठान्तरे—"राजतन्त्रः" ।

मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम ।
इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

इसके लिये तुम्हें मेरी और सीता की शपथ है। यह कह नेत्रों में आंसू भर श्रीरामचन्द्र जी ने दोनों भाइयों को विदा किया ॥२८॥

स पादुके ते भरतः प्रतापवान्
स्वलंकृते सम्परिपूज्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

तब धर्मात्मा भरत जी ने उन अलंकृत और अति उज्वल खड़ाउओं का भली भाँति पूजन किया। तदनन्तर श्रीराम जी की परिक्रमा कर उन खड़ाउओं को (उस) उत्तम हाथी के मस्तक पर रखा, (जिस पर महाराज दशरथ सवार हुआ करते थे) ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्यात्प्रतिनन्द्य तं जनं
गुरूंश्च मन्त्रिप्रकृतीस्तथाऽनुजौ ।
व्यसर्जयद्राघववंशवर्धनः
स्थिरः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हिमालय की तरह अपने धर्मपालन में अटल अचल, रघुवंश के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने यथाक्रम गुरु, मंत्री, प्रजा और दोनों छोटे भाइयों का सत्कार कर, उन सब को विदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो वाष्पगृहीतकण्ठ्यो
दुःखेन नामन्त्रयि तुंहि शेकुः ।

स त्वेव मातॄरभिवाद्य सर्वा
रुदन्कुटीं स्वां मविवेश रामः ॥ ३१ ॥

इति द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

गद्गदकण्ठ और शोक से विकल होने के कारण माताओं में से किसी भी माता के मुख से श्रीरामचन्द्र जी के प्रति एक बात भी न निकल सकी । श्रीरामचन्द्र जी भी सब माताओं को प्रणाम कर, रोते विलपते कुटी के भीतर चले गये ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ १ ॥

तदनन्तर भरत जी ने हाथी के मस्तक से खड़ाऊ उतार अपने मस्तक पर रखीं और हर्षित होते हुए और शत्रुघ्न को अपने साथ ले, रथ पर सवार हुए ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जावालिश्च दृढव्रतः ।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, दृढ़व्रत जावालि तथा विचारचतुर अन्य सब मंत्री आगे आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नदीं* पुण्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा ।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

सब लोग महागिरि चित्रकूट की परिक्रमा कर रमणीय मंदाकिनी के सामने पूर्व की ओर जाने लगे ॥ ३ ॥

पश्यन्धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।
प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

भरत जी अपनी सेना के साथ नाना प्रकार की मनोहर धातुओं को देखते देखते चित्रकूट के उत्तर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा ।
आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

भरत जी ने चित्रकूट से थोड़ी ही दूर पर एक आश्रम देखा, जिसमें ऋषियों सहित भरद्वाज मुनि रहते थे ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य बुद्धिमान् ।
अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे †कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँच, भरत जी रथ से उतर पड़े और मुनि जी को प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।
अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

तब भरद्वाज जी ने प्रसन्न हो, भरत से कहा—हे तात ! क्या तुम्हारी श्रीरामचन्द्र से भेंट हुई ? क्या तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ ? ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—"रम्यां" । † पाठान्तरे—"भरतस्तदा ।"

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।
प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो भ्रातृवत्सलः ॥ ८ ॥

जब बुद्धिमान् भरद्वाज जी ने इस प्रकार पूँछा, तब भ्रातृवत्सल भरत जी ने भरद्वाज जी को उत्तर देते हुए कहा ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणां मया च दृढविक्रमः ।
राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! मैंने और गुरु वशिष्ठ जी ने जब श्रीरामचन्द्र जी से लौटने के लिये प्रार्थना की, तब श्रीरामचन्द्र जी ने परम प्रसन्न हो वशिष्ठ जी से कहा ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

पिता जी ने मुझे चौदह वर्ष वन में रखने की जो प्रतिज्ञा की है, मैं उनकी इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर, वचन बोलने वालों में चतुर और बड़े विद्वान वशिष्ठ जी ने उन वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र से यह महत्व की बात कही ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते ।
अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरे तव ॥ १२ ॥

हे महाप्राज्ञ ! तब इस समय तुम हर्षित हो प्रतिनिधि के समान अपनी इन सुवर्णभूषित खड़ाउओं को दे दो और अयोध्या के योग क्षेम में तत्पर बने रहो ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।
पादुके अधिरुह्यैते मम राज्याय वै ददौ ॥ १३ ॥

हे भरद्वाज जी ! वशिष्ठ जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी ने पूर्व की ओर मुख कर, इन खड़ाउओं को पहिना और राज्य के पालन को सामर्थ्य रखने वाली ये खड़ाऊ मुझे दे दी ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।
अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से उनको लौटा लाने के उद्देश्य से निवृत्त हो कर, मैं इन शुभ खड़ाऊओं को ले अयोध्या को लौटा जा रहा हूँ ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुवाच तम् ॥ १५ ॥

महात्मा भरत जी के ये शुभ वचन सुन, महर्षि भरद्वाज जी उनसे शुभतर वचन बोले ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्र शीलवृत्तवतां वर ।
यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्ने[1] [2]सृष्टमिवोदकम् ॥१६॥

हे सुशील और चरित्रवान् पुरुषसिंह ! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि, तुममें ऐसी सुजनता है । क्योंकि पानी वह कर तो तालाब या गढ़े ही में जमा होता है ॥ १६ ॥

---

१ निम्ने—तटाकादौ । (गो०) २ सृष्टं—घृतं । (गो०)

अमृतः स महावाहुः पिता दशरथस्तव ।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

जिनके तुम जैसे धर्मात्मा और धर्मवत्सल पुत्र हैं वे महाबाहु महाराज दशरथ अजर अमर हैं ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महात्मानमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।
आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥ १८ ॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मुनि का वचन सुन, भरत हाथ जोड़ और उनके चरण छू और बार बार परिक्रमा कर, उनसे विदा हो, मंत्रियों सहित अयोध्या को प्रस्थानित हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥

यानैश्च सकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः ।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

भरत जी के साथ जो सेना थी वह भी उनके पीछे हो ली। उस सेना के लोगों में से कोई रथों कोई छकड़ों कोई हाथियों और कोई घोड़ों पर सवार थे ॥ २० ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।
ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शुभजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे सब लोग, लहरों से लहराती यमुना को पार कर फिर पवित्रतोया गङ्गा के तट पर पहुँचे ॥ २१ ॥

तां* पुण्यजलसम्पूर्णां सन्तीर्य सहबान्धवः ।
शृङ्गिवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"रम्य" ।

भरत जी सेना तथा भाई बंदों के साथ पवित्र जल से पूर्ण गङ्गा को पार कर शृङ्गवेरपुर में पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्गिवेरपुराद्भूयस्त्वयोध्यां सन्ददर्श ह ।
अयोध्यां च ततो दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥२३॥

शृङ्गवेरपुर से, चल कर भरत उस अयोध्यापुरी में पहुँचे, जो कि, उनके पिता महाराज दशरथ से और भाई श्रीरामचन्द्र से हीन थी ॥ २३ ॥

भरतो दुःखसन्तप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् ।
सारथे पश्य विध्वस्ता साऽयोध्या न प्रकाशते ।
निराकारा[1] निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वरा ॥ २४ ॥

इति अयोद्शोत्तरशततमः सर्गः ॥

ऐसी उदास अयोध्यापुरी को देख भरत जी दुःख से सन्तप्त हो सारथी से बोले कि, हे सारथे ! देखो, यह अयोध्या कैसी ध्वस्त हो रही है । यह अब पहले जैसी शोभायुक्त अयोध्या नहीं रही । क्योंकि इसमें न तो कहीं सजावट है, और न कहीं आनन्दोत्सव ही देख पड़ते हैं । यह बड़ी दीन दिखलाई पड़ती है । देखो, नगर भर में कैसा सन्नाटा छाया हुआ है ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ निराकारा—निर्गतशोभनाकारा । (गो०)

चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान्प्रभुः ।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

इस प्रकार महायशस्वी भरत जी ने, चलते समय गंभीर ध्वनि करने वाले रथ में बैठ, शीघ्र ही अयोध्या में प्रवेश किया ॥ १ ॥

विडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ।
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥

नगरी में जा कर भरत जी ने देखा कि, अयोध्या में जिधर देखो उधर ही बिल्लियाँ और उलूक दिखलाई पड़ते हैं। घरों के द्वार बंद हैं। चारों ओर वैसे ही अँधकार छा रहा है जैसे कृष्णपक्ष की रात में अँधकार ही अँधकार देख पड़ता है ॥ २ ॥

राहुशस्त्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ।
ग्रहेणाभ्युत्थितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा को राहु द्वारा ग्रसे जाने पर रोहिणी की शोभा नष्ट सी देख पड़ती है, उसी प्रकार अयोध्या की दशा हो रही है ॥ ३ ॥

*अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मोत्तप्तविहङ्गमाम् ।
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥

अथवा गरमी के मौसम में जिस समय पहाड़ी नदियों का जल सूर्य की गर्मी से गरम और मैला हो जाता है और वहाँ के जल-पक्षी गर्मी के कारण वहाँ से उड़ कर, अन्यत्र चले जाते हैं और

---

* पाठान्तरे—"अनिलोत्क्षुब्ध"।

मछलियां मर जाती हैं, तथा अन्य जन्तु भी वहां नहीं रहते, एवं उस नदी की जो शोच्य दशा होती है वही शोच्य दशा अयोध्या की है ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमाभामध्वराग्नेः समुत्थिताम् ।
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां प्रविलयं गताम् ॥ ५ ॥

अथवा, जिस प्रकार घी की आहुति से अग्नि की शिखा पहले तो सोने के समान उज्ज्वल ज्योति का प्रकाश करती है, पीछे उसमें किसी गीली वस्तु के गिरने से वह सहसा मन्द पड़ जाती है और अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के विरह में अयोध्या देख पड़ती है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् ।
हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥

अथवा वह अयोध्या ऐसी जान पड़ती है, जैसी वह सेना जिसके (वीरों के) कवच, हाथी, घोड़े रथ और ध्वजा किसी महा-युद्ध में छिन्न भिन्न हो जाने तथा वीर योद्धाओं के मारे जाने के कारण, विपन्न दशा को प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥

*सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् ।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

अथवा, प्रबल वायु के वेग से समुद्र की लहरें जिस प्रकार झागों सहित गरजती हुई उठती हैं, और पीछे मंद पवन के चलने से शब्दरहित हो जाती हैं, उसी प्रकार अयोध्यापुरी हो रही है ॥ ७ ॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः ।
[1]सुत्याकाले विनिर्वृत्तेवेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥

---

१ सुत्याकाले—समाप्ते । (शि०) * पाठान्तरे—" सफेना सस्वना " ।

अथवा जिस प्रकार यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर योग्य याचकों से रहित हो, यज्ञशाला सुनसान हो जाती है, उसी प्रकार अयोध्या सुनसान देख पड़ती है ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं तृणं नवम् ।
गोपतेन परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

अथवा जिस प्रकार साड़ के वियोग में तरुण गाय, उत्कण्ठित हो ताज़ो हरी घास न खा कर, उदास हो गोशाला में खड़ी रहती है—उसी प्रकार अयोध्या भी उदास देख पड़ती है ॥ ९ ॥

[१]प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः ।
वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

अथवा जैसे चमकीली और सुन्दर मणियों से हीन, मोतियों का नया हार शोभारहित हो जाता है, वैसे ही अयोध्या शोभाहीन हो रही है ॥ १० ॥

सहसा चलितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद्गताम् ।
संहृतद्युतविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥

अथवा, जिस प्रकार पुण्यक्षय होने पर, अपने स्थान से चलायमान हो आकाश से दिन में गिरने से, तारा प्रभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी प्रभाहीन हो रही है ॥ ११ ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरनादिताम् ।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥

---

१ प्रभाकराद्यै—पद्मरागाद्यैः । (गो०)

अथवा, वसन्तऋतु के अन्त में जैसे मतवाले भौंरों से गुञ्जारित खिले हुए फूलों वाली वनलता, वन की आग से झुलस जाती है, वैसे ही अयोध्या भी झुलसी हुई सी देख पड़ती है ॥ १२ ॥

[1]संमृष्टनिगमां स्तब्धां संक्षिप्तविपणापणाम् ।
प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्वृताम् ॥ १३ ॥

अयोध्या के राजमार्ग सुनसान पड़े हैं। बाज़ार सब बंद हैं न तो कोई दूकान ही खुली है और न कहीं कोई चीज़ ही बिक रही है। जैसे वर्षाकाल में मेघों से आकाश व्याप्त होने के कारण, चन्द्रमा और नक्षत्रों से हीन रात डरावनी जान पड़ती है, वैसे ही अयोध्या भी डरावनी दीख पड़ती है ॥ १३ ॥

क्षीणपानोत्तमैर्भिन्नैः शरावैरभिसंवृताम् ।
हतशौण्डामिवाकाशे[2] पानभूमिमसंस्कृताम् ॥ १४ ॥

अथवा अयोध्यापुरी ऐसी जान पड़ती है, मानों मद पीने वालों के मारे जाने से मद्य से रहित, टूटे फूटे पात्रों से भरी, बिना झाड़ी बुहारी, मैदान में, मद्यपानशाला हो ॥ १४ ॥

[3]वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम् ।
उपयुक्तोदकां[4] भग्नां सपां निपतितामिव[5] ॥ १५ ॥

अथवा अयोध्यापुरी उस पाँशाला की तरह देख पड़ती है जिसकी भूमि विदीर्ण होने के कारण ध्वस्त हो गयी हो और

---

१ संमृष्टनिगमां—अनम्मार्गरहितमार्गां । (गो०) २ आकाशे—अनावृतदेशे । (गो०) ३ वृक्णभूमितलां—विदीर्णभूमितलां । (गो०) ४ उपयुक्तोदकां—स्नानसहितां । (शि०) ५ निपतितां—विनाशाय विपतितजनां । (शि०)

जिसमें टूटे फूटे बरतन भरे पड़े हों, और जहाँ पानी चुक जाने के कारण प्यासे लोग पड़े हों ॥ १५ ॥

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम्[1] ।
भूमौ वाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात्[2] ॥१६॥

अथवा अयोध्या वैसी ही शोभाहीन देख पड़ती है, जैसी की किसी बड़े धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा (डोरी) बलवान वीरों के बाणों से कट कर धनुष से गिर पृथिवी पर पड़ी शोभाहीन होती है ॥ १६ ॥

सहसा युद्धशौण्डेन[3] हयारोहेण वाहिताम् ।
[4]निक्षिप्तभाण्डामुत्सृष्टां[5] [6]किशोरीमिव दुर्बलाम् ॥१७॥

[7]अथवा जैसे युद्धचतुर मनुष्य से हठात् सवारी की गयी दुर्बल घोड़ी, जो शत्रुसैन्य से मार कर गिरा दी गयी हो, शोभाहीन देख पड़ती है ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान्दशरथात्मजः ।
वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

रथ पर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरत जी उन सुमंत्र से बोले, जो उस उत्तम रथ को हाँक रहे थे ॥ १८ ॥

[7]किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्छितो न निशम्यते ।
यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

---

१ तरस्विनां—वीराणां । (गो०) २ आयुधात्—धनुषः । (गो०)
३ युद्धशौण्डेन—आहवसमर्थेन । (गो०) ४ निक्षिप्तभाण्डाम्—अवरोपित-अश्वभूषां । (गो०) ५ उत्सृष्टां—वाहनानर्हां । (गो०) ६ किशोरीं—बालवडवां । (गो०) ७ किंनुखलु—अहोकष्टं जातमित्यर्थः । (गो०)

हाय ! कैसे दुःख की बात है कि, इस पुरी में जैसे पहले गाना बजाना हुआ करता था, वैसा आज कहीं नहीं सुनाई पड़ता ॥१९॥

[1]वारुणीमदगन्धश्च मालयगन्धश्च मूर्छितः ।
धूपितागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

फूल मालाओं की मस्त करने वाली एवं चन्दन अगर की धूप की सुगन्धि पहले की तरह चारो ओर फैली हुई नहीं जान पड़ती। अथवा जैसा पहले पुष्प चन्दन और अगर का गन्ध चारो ओर फैला रहता था वैसा आज नहीं फैल रहा ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च स्निग्धश्च हयनिःस्वनः ।
प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिस्वनः ॥ २१ ॥
नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां राम विवासिते ।
चन्दनागरुगन्धांश्च महार्हांश्च नवस्रजः ॥ २२ ॥
गते हि रामे तरुणाः सन्तप्ता नोपभुञ्जते ।
बहिर्यान्तां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

हे सुमंत्र ! जैसा कि, पूर्वकाल में रथ आदि सवारियों के चलने का शब्द, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों के चिंघाड़ने का शब्द सुन पड़ता था, वैसा आज इस पुरी में श्रीराम जी के वन में चले जाने के कारण नहीं सुन पड़ता। हाय ! चन्दन और बड़े मूल्यवान् ताज़े पुष्पहारों को श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में सन्तप्त हो अयोध्यावासी तरुणों ने धारण करना त्याग दिया है। अब लोग चित्रविचित्र पुष्प मालाएँ धारण कर बाहिर नहीं निकलते ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

१ वारुणीमदगन्धश्च—मदोत्पादकोगन्ध इत्यर्थः । (गो०)

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे ।
सह नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के शोक से सब नगरवासी ऐसे विकल हैं कि, उत्सव का नाम तक सुनाई नहीं पड़ता, मानों इस नगरी की शोभा मेरे भाई के साथ चली गयी ॥ २४ ॥

न हि राजत्ययोध्येयं [1]सासारेवार्जुनी[2] क्षपा[3] ।
कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ।
जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ॥ २५ ॥

हा ! यह अयोध्या तो मूसलधार वर्षा से युक्त शुक्लपक्ष की रात्रि की तरह प्रकाशहीन हो गयी है। (अर्थात् शुक्लपक्ष की रात बड़ी सुहावनी होती है, किन्तु बदली छा जाने के कारण उसका सुहावनापन नष्ट हो जाता है।) सो कब मेरे भाई श्रीरामचन्द्र उत्सव की तरह यहाँ आ कर, ग्रीष्मकालीन मेघ की तरह अयोध्या में आनन्द की वर्षा करेंगे ॥ २५ ॥

तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः[4] ।
सम्पद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ॥ २६ ॥

जैसे पहिले सुन्दर वेष धारण कर और अकड़ कर चलने वाले जवानों से राजमार्ग की शोभा होती थी, वैसी शोभा अयोध्या के राजमार्गों की अब नहीं देख पड़ती ॥ २६ ॥

एवं बहुविधं जल्पन्विवेश वसतिं पितुः ।
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २७ ॥

---

१ सासारा—वेगवद्वृष्टि सहिता । (गो०) २ अर्जुनी—शुक्लपक्ष सम्बन्धनी । (गो०) ३ क्षपा—रात्रि । (रा०) ४ उन्नतगामिभिः—सगर्वगामिनैः । (गो०)

इस प्रकार शोक सन्ताप करते हुए भरत जी ने, अपने पिता के निवासस्थान में, जो महाराज के बिना सिंहरहित गुफा की तरह जान पड़ता था, प्रवेश किया ॥ २७ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं
सुरैरिवोत्सृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वं तु विविक्तमात्मवान्
मुमोच वाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २८ ॥

इति चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय शोभाहीन निर्जन रनवास को देख, भरत रोने लगे और उसी प्रकार अत्यन्त दुःखी हुए, जिस प्रकार देवासुर संग्राम में सूर्यरहित दिन को देख, देवता लोग दुखी हुए थे ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

—:※:—

ततो निक्षिप्य[1] मातृः स अयोध्यायां दृढव्रतः ।
भरतः शोकसन्तप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दृढ़व्रतधारी भरत जी ने माताओं को अयोध्या में पहुँचा दिया; तदनन्तर वे शोक से पीड़ित हो, वशिष्ठादि गुरुजनों से बोले ॥ १ ॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽद्य वः ।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥

---

१ निक्षिप्य—संस्थाप्य । (शि०)

मैं नन्दिग्राम जाऊँगा, इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ रह कर जैसे होगा वैसे श्रीरामचन्द्र जी के वियोग के समस्त दुःख सहूँगा ॥ २ ॥

गतश्च हि दिवं राजा वनस्थश्च गुरुर्मम ।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥

महाराज तो स्वर्ग पधारे, और बड़े भाई वन में जा बैठे। अतः मैं राज्यशासन के लिये श्रीरामचन्द्र जी की प्रतीक्षा करूँगा। क्योंकि महायशस्वी श्रीरामचन्द्र ही अयोध्या के राजा हैं ॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
अब्रुवन्मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥

महात्मा भरत जी के ऐसे शुभ वचन सुन, समस्त मंत्री और पुरोहित वशिष्ठ जी उनसे बोले ॥ ४ ॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥

हे भरत ! तुमने भ्राता के स्नेहवश जो कुछ कहा, वह अत्यन्त श्लाघनीय है। क्यों न हो, ये वचन तुम्हारे ही मुख से निकलने योग्य हैं ॥ ५ ॥

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।
आर्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥

जब तुम अपने भाई में प्रीतिवान हो और उनका सौहार्द्र सम्पादन कर अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग में पहुँचे हुए हो, तब भला कौन पुरुष तुम्हारी बात न मानेगा ॥ ६ ॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाऽभिलपितं प्रियम् ।
अब्रवीत्सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥

अपनी अभिलाषा के अनुसार मंत्रियों के मुख से प्रिय वचन सुन भरत जी ने सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तैयार करो ॥ ७ ॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिवाद्य सः ।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

जब रथ आ गया, तब भरत जी प्रसन्न हो कर सब माताओं से अच्छी तरह वार्तालाप कर और उनसे आज्ञा ले, शत्रुघ्न जी सहित रथ पर सवार हुए ॥ ८ ॥

आरुह्य च रथं शीघ्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥

उस रथ पर शीघ्र सवार हो, मंत्रियों और पुरोहितों को साथ ले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न परम प्रसन्न होते हुए वहाँ से चले ॥ ९ ॥

अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।
ययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत् ॥१०॥

वशिष्ठादि पूज्य ब्राह्मण भरत के रथ के आगे पूर्व को मुख कर सब को साथ लिये हुए नन्दिग्राम की ओर चले ॥ १० ॥

बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसङ्कुलम् ।
ययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥

भरत जी के वहाँ से रवाने होते ही उनकी सेना भी हाथी घोड़ों रथों के सहित बिना बुलाये ही उनके पीछे हो ली तथा सब पुरवासी भी उनके साथ हो लिये ॥ ११ ॥

रथस्थः स हि धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधाय पादुके ॥ १२ ॥

धर्मात्मा एवं भ्रातृवत्सल भरत अपने माथे पर भाई की खड़ाऊओं को रखे हुए, रथ पर सवार हो बहुत शीघ्र नन्दिग्राम में पहुँचे ॥ १२ ॥

ततस्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।
अवतीर्य रथात्तूर्णं गुरूनिदमुवाच ह ॥ १३ ॥

तदनन्तर भरत जी तुरन्त ही नन्दिग्राम में प्रवेश कर और तुरन्त रथ से उतर गुरुओं से यह बोले ॥ १३ ॥

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं सन्न्यासवत्स्वयम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

भाई श्रीरामचन्द्र ने यह श्रेष्ठराज्य मुझे धरोहर की तरह सौंपा है, सो उनकी ये सुवर्ण भूषित पादुका ही इसके योग क्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा सन्न्यासं[1] पादुके ततः ।
अब्रवीद्दुःखसन्तप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्[2] ॥ १५ ॥

अनन्तर श्रीराम की दी हुई प्रतिनिधि रूपी उन पादुकाओं को अपने सीस पर लगा, दुःख सन्तप्त हो भरत जी सब प्रजाजनों से बोले ॥ १५ ॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥१६॥

---

१ सन्न्यासं पादुके—स्वप्रतिनिधित्वेनन्यस्तेपादुके । (गो०) २ प्रकृति-मण्डलम्—प्रजासमूहं । (शि०)

इन पादुकाओं को साक्षात् श्रीरामचन्द्र जी के चरण समझ, इनके ऊपर शीघ्र छत्र तानो, चँवर डुलाओ, क्योंकि ये मेरे परम गुरु की पादुकाएँ हैं और इनसे राज्य में मानों धर्म स्थापित हुआ है ॥ १६ ॥

[नोट—"पादुकाओं से राज्य में धर्म का स्थापित होना" अर्थात् बड़े के रहते छोटे का राजसिंहासन पर बैठना अधर्म था। अतः ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिनिधि रूप पादुकाओं के अब राजसिंहासन पर स्थापित होने से, अधर्म दूर हुआ है और धर्म स्थापित हुआ है।]

भ्रात्रा हि मयि सन्न्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्* ।
तमिमं [1]पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रेमपूर्वक जो यह धरोहर मुझे सौंपी है, सो इसकी मैं उनके लौट कर आने तक रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥

फिर जब कि, वे अयोध्या जी में आ जावेंगे, तब मैं अपने हाथों उनके चरणों में ये पादुका पहिना, पादुका सहित उनके चरणों के दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम्[2] ॥ १९ ॥

---

१ पालयिष्यामि—रक्षियेष्यामि । (गो०) २ गुरुवृत्तिताम् भजिष्ये—पितरीवशुश्रूषां करिष्यामि । (गो०) * वाल्मीकेरे—"बाहुदादयम् ।"

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी से मिल और उनका राज्य उनको सौंप पिता की जैसी सेवा पुत्र को करनी चाहिये, वैसी मैं उनकी सेवा करूँगा ॥ १९ ॥

राघवाय च सन्न्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापा[1] भवामि च ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को इन धरोहर रूपी पादुकाओं को, इस राज्य को और इस राजधानी अयोध्या को सौंप, अपनी माता के कारण अपने ऊपर लगे हुए अपयश को मैं धो डालूँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे मह्यमुदिते जने ।
प्रीतिर्मम यशश्चैव भवेद्राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होने पर प्रजाजन, हर्षित और आनन्दित होंगे । उस समय इस राज्य को श्रीरामचन्द्र जी के अर्पण करने से लोगों की मेरे प्रति चौगुनी प्रीति ही नहीं होगी, बल्कि मुझे यश भी मिलेगा । (अर्थात् अब जो अपयश मिला है वह दूर हो कर मुझे यश की प्राप्ति होगी) ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन्दीनो भरतः स महायशाः ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥

महायशस्वी वीर भरत इस प्रकार विलाप कर और दीन दुःखी हो, मंत्रियों की सहायता से नन्दिग्राम में रह, राज्य करने लगे ॥ २२ ॥

स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

---

१ धूतपाप—इत्यत्रपापशब्देनकैकयीनिमित्तमयशउच्यते । (गो०)

वीर भरत चीर वसन और जटाजूट धारण कर, मुनियों का वेष बना समस्त सेना सहित नन्दिग्राम में रहने लगे ॥ २३ ॥

रामागमनमाकाङ्क्षन्भरतो भ्रातृवत्सलः ।
भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तथा ॥ २४ ॥
पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत्तदा ।
सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ॥
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां न्यवेदयत् ॥ २५ ॥

भ्रातृवत्सल, श्रीरामचन्द्र जी के आने की आकांक्षा रखने वाले, श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञाकारी और अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाले भरत जी राजसिंहासन पर श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं को अभिषिक्त कर नन्दिग्राम में रहने लगे। उन्होंने स्वयं उन पादुकाओं पर छत्र तान और चँवर डुला, समस्त राज्य का शासन उन पादुकाओं को निवेदन किया ॥ २४ ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

तब श्रीमान् भरत जी इस प्रकार पादुकाओं का राज्याभिषेक कर उनके अधीन हो, राज्यशासन करने लगे ॥ २६ ॥

तदा हि यत्कार्यमुपैति किञ्चि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

इति पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय राज्यशासन सम्बन्धी जो कुछ करना होता, वह पादुकाओं को जना कर किया जाता अथवा कोई बड़ी मूल्यवान भेंट आती तो वह पहिले पादुकाओं के सामने रखी जाती थी पीछे उसका यथाविधि व्यवहार किया जाता था ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

षोडशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

मतिमयाते भरते वसन्रांमस्तपोवने।
लक्षयामास [1]सोद्वेगमथौत्सुक्यं[2] तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरत जी जब अयोध्या में लौट आये तब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, चित्रकूट पर्वतवासी तपस्विगण डरे हुए हैं और वे स्थानान्तर में जाने को उत्सुक हो रहे हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाश्रमे।
राममाश्रित्य [3]निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

जो तपस्वी पहले चित्रकूट के समीप तापसाश्रम में श्रीराम के सहारे रहा करते थे, उन्हें भी उस स्थान को छोड़ अन्यत्र जाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी ने उत्सुक देखा ॥ २ ॥

नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः[4] कथाः ॥ ३ ॥

---

१ सोद्वेगं—सभयं। (गो०) २ औत्सुक्यं—आश्रमान्तरगमनाभिलाषं। (गो०) ३ निरतास्तान्—उत्सुकानगमनोत्सुकान्। अलक्षयतरामः इत्यनुषङ्गः। (गो०) ४ मिथः—रहस्ये। (गो०)

क्योंकि वे नेत्रों और भृकुटियों के सङ्केतों से, श्रीराम को दिखा दिखा, सन्देह युक्त हो, आपस में बातचीत और धीरे धीरे कुछ गुप्त परामर्श किया करते थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि[1] शङ्कितः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको उत्सुक देख और अपने विषय में उनको सशङ्कित देख, उनके प्रयत्न ऋषि से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

न कच्चिद्भगवन्किञ्चित्पूर्ववृत्तमिदं मयि ।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! क्या पूर्वकालीन मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों को देख पड़ी, जिससे तपस्वि लोगों के मन में विकार पैदा हो गया है ॥ ५ ॥

प्रमादाच्चरितं किञ्चित्किञ्चिन्नावरजस्य[2] मे ।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं [3]नानुरूपमिवात्मनः ॥ ६ ॥

अथवा क्या ऋषि लोगों ने मेरे छोटे भाई, महानुभाव लक्ष्मण जी को अनवधानतावश कोई अन्यायाचरण करते देखा है ॥ ६ ॥

कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि ।
प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तं न वर्तते ॥ ७ ॥

---

१ आत्मनि शङ्कितः—स्वस्मिन् संजातशङ्कः । २ अवरजस्य—लक्ष्मणस्य । (गो०) ३ नानुरूपं—अनुचितं । (रा०)

या आप लोगों की सेवा करती हुई और मेरी शुश्रूषा में निरत सीता जी ने तो अनवधानतावश कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जो स्त्रियों के लिये अनुचित हो ॥ ७ ॥

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः ।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, एक बूढ़े महर्षि, जिनका शरीर बहुत दिनों तक तप करते करते जीर्ण हो गया था, काँपते हुए, सब प्राणियों पर दया करने वाले श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥८॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः[1] कल्याणाभिरतेस्तथा ।
चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥

हे तात ! कल्याण स्वभाव वाली और प्राणियों का कल्याण करने में तत्पर सीता जी क्या कभी किसी के साथ—सो भी विशेष कर ऋषियों के साथ, किसी प्रकार का युक्तिविरुद्ध व्यवहार कर सकती है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान्प्रति वर्तते ।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः[2] कथाः ॥१०॥

यथार्थ बात तो यह है कि, आपके कारण, ऋषियों के ऊपर राक्षसों ने अत्याचार करना आरम्भ कर दिया है। इसी लिये ऋषिगण भयभीत हो आपस में अपने बचाव के लिये गुप्त परामर्श किया करते हैं ॥ १० ॥

---

१ कल्याणसत्त्वायाः—कल्याणस्वभावायाः । (गो०) २ मिथः—रहसि । (गो०)

रावणावरजः कश्चित्खरो नामेह राक्षसः ।
[1]उत्पाट्य तापसान्सर्वाञ्जनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥

रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस है, जो जनस्थान-वासी सब तपस्वियों को उनके जनस्थान के आश्रमों से निकाल बाहर कर रहा है ॥ ११ ॥

धृष्टश्च जितकाशी[2] च नृशंसः पुरुषादकः ।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

हे तात ! वह बड़ा ढीठ और जयी है तथा ऐसा निष्ठुर है कि, मनुष्यों को मार मार कर खाया करता है । अतः वह महापातकी है और आपका यहां रहना उसको सह्य नहीं है ॥ १२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

हे तात ! जब से तुम इस आश्रम में आ कर रहने लगे हो, तब से राक्षस लोग और भी अधिक तपस्वियों को सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः[3] [4]क्रूरैर्भीषणकैरपि ।
[5]नानारूपैर्विरूपैश्च[6] [7]रूपैर्विकृतदर्शनैः[8] ॥ १४ ॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्सित, भयङ्कर, भीषण, और विलक्षण विकट शक्लें बना तपस्वियों को डराया करते हैं ॥ १४ ॥

---

१ उत्पाट्य—निष्कास्येति । (गो०) २ जितकाशी—जिताहवः । (गो०) ३ बीभत्सैः—जुगुप्सितैः । (गो०) ४ क्रूरैः—भयङ्करैः । (गो०) ५ नानारूपैः—अनेक प्रकारैः । (गो०) ६ विरूपैः—लोकविलक्षण संस्थानैः । (गो०) ७ रूपैः—शरीरैः । (गो०) ८ विकृत दर्शनैः—विकृतदृष्टिभिः । (गो०)

[1]अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयोज्य च तापसान्।
प्रतिघ्नन्त्यपरान्क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थिताः ॥ १५ ॥

वे अशुभ और अपवित्र वस्तुएँ तपस्वियों के आश्रमों में डाल ऋषियों को तंग करते हैं। अधिकतर तो वे सीधे सादे तपस्वियों को देखते ही मार डालते हैं ॥ १५ ॥

तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्ध[2]मबलीय च।
रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः[2] ॥ १६ ॥

वे क्षुद्र बुद्धि वाले राक्षस छिप छिप कर सर्वत्र घूमा करते हैं, और जहाँ कहीं किसी तपस्वी को अचेत पाते हैं, तो तत्क्षण ही मार डालते हैं ॥ १६ ॥

अपक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन्सिञ्चन्ति वारिणा।
कलशांश्च प्रमृद्नन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

जब तपस्वि लोग हवन करने बैठते हैं, तब राक्षस आ कर, स्रुवों और यज्ञपात्रों को फेंक कर, अग्नि के ऊपर पानी डाल बुझा देते हैं और कलसों को फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान्प्रजिहासवः।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्युपयोज्य माम् ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! उन दुष्टों के उपद्रवों से तंग आ कर तपस्वि इन आश्रमों को त्याग कर दूसरे आश्रमों में चलने के लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

---

१ [अप्रशस्तैः—अशुभैः। (गो०) २ अबुद्धं—अविदितं। (गो०)
२ अल्पचेतसः—क्षुद्रबुद्धयः (गो०)

तत्पुरा राम [1]शारीरामुपहिंसां तपस्विषु ।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इमाश्रमम् ॥ १९ ॥

हे श्रीराम ! वे दुष्ट राक्षस इस वन के तपस्वियों को मार डालने की धमकियां दिया करते हैं, अतः हम लोग इस आश्रम को त्यागे देते हैं ॥ १९ ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।
पुराणाश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

यहां से थोड़ी ही दूर पर, महर्षि अभ्र का, बहुत से कन्दमूल फलों से युक्त विचित्र तपोवन है । हम सब मुनियों को साथ ले, वहीं जा बसेंगे ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा तात प्रवर्तते ।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

हे तात ! अगर तुमको ठीक जान पड़े तो तुम भी हम लोगों के साथ वहीं चलो । क्योंकि वह खर राक्षस तुमको भी तंग करेगा ॥ २१ ॥

सकलत्रस्य सन्देहो नित्यं यत्तस्य राघव ।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥२२॥

हे राघव ! यद्यपि तुम उससे अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, तथापि स्त्री को साथ ले कर यहां रहना सदा खटके से ख़ाली न होने के कारण, तुम्हारे लिये क्लेशदायी होगा ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवरोद्धुं समुत्सुकम्* ॥ २३ ॥

---

१ शरीरसम्बन्धिनीम्—हिंसां तपस्विषु दर्शयन्ति । (शि०) * पाठान्तरे "समत्सुकः ।"

कुलपति का ऐसा वचन सुन और जाने के लिये उनको अत्यन्त उत्सुक देख, राजकुमार श्रीरामचन्द्र किसी प्रकार भी समझा बुझा कर, वह स्थान त्यागने से उन्हें न रोक सके ॥ २३ ॥

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् ।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥२४॥

तदनन्तर कुलपति, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा कर, उनको समझा बुझा और उनसे विदा हो तथा सब तपस्वियों को साथ ले, उस आश्रम को त्याग कर, चल दिये ॥ २४ ॥

रामः [1]संसाध्य त्वृषिगणमनुगमनाद्
देशात्तस्मात्कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः
पुण्यं वासाय स्वनिलयमभिसंपेदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब उन लोगों की प्रस्थान करने की तैयारी हुई, तब श्रीरामचन्द्र जी भी कुछ दूर तक उनको पहुँचाने गये। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी कुलपति की अनुमति ले और उनको प्रणाम कर, अपनी पवित्र पर्णशाला में लौट आये। जब श्रीरामचन्द्र जी लौटने लगे, तब ऋषियों ने प्रीतिपूर्वक योग्य कर्त्तव्यकर्म का भली भाँति उनको उपदेश दे, उनको विदा किया ॥ २५ ॥

आश्रमं त्वृषिविरहितं प्रभुः
क्षणमपि न विजहौ स राघवः ।

---

१ संसाध्य—प्रस्थाप्य । (गो०)

राघवं हि [1]सततमनुगता-
स्तापसाश्चर्षिचरितधृतगुणाः ॥ २६ ॥

इति षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी उस ऋषिहीन आश्रम को क्षण भर के लिये भी सूना नहीं छोड़ते थे। उनमें से कुछ ऋषि ऐसे थे जो श्रीरामचन्द्र जी का तपस्वियों जैसा आचरण देख, उनको अपना मन समर्पित कर चुके थे। अतः वे ऋषि श्रीरामचन्द्र जी को अपने मन में सदा स्मरण किया करते थे ॥ २६ ॥

[श्लोक २५, २६ का वृत्त भूषणकार ने चित्र्य बतलाया है।]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विषु विचिन्तयन्।
न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥

ऋषियों के उस आश्रम को त्याग कर चले जाने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने अनेक बातों को सोच विचार कर, वहाँ रहना ठीक न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तां नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

---

१ ऋषिचरितैरामेधृतगुणाः—समर्पित मनसः तापसाः राघवं सतत-मनुगताः मनसा प्राप्ताः। (शि०)

श्रीरामचन्द्र ने विचारा कि, इस स्थान पर नगरवासियों से, भाई भरत से और माताओं से मेरी भेंट हुई थी, सो यहाँ रहने से मेरी चित्तवृत्ति सदा उन्हींकी ओर लगी रहती है, और वह मुझे शोकाकुल किया करती है ॥ २ ॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

विशेष कर यहाँ महात्मा भरत की सेना के टिकने से, हाथी घोड़ों ने (जो लीद और मूत्र त्याग किया था अथवा) जो रौंदा था, इससे यहाँ की भूमि अत्यन्त गन्दी हो गयी है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति सञ्चिन्त्य राघवः ।
[1]प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च सङ्गतः ॥ ४ ॥

अतः इस आश्रम को त्याग दूसरी जगह चलना ठीक है। इस प्रकार सोच विचार कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने साथ सीता जी और लक्ष्मण को ले, वहाँ से चल दिये ॥ ४ ॥

सोऽत्रेरांश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः ।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ से प्रस्थान कर, अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँच, मुनि को प्रणाम किया। अत्रि मुनि ने भी उनको पुत्रभाव से देखा ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्य[2]मादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।
सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत्[3] ॥६॥

---

१ प्रातिष्ठत—प्रस्थितः । (गो०) २ आतिथ्यमादिश्य—आतिथ्यं कृत्वा । (गो०) ३ समसान्त्वयत्—प्रीतियुक्तेनचक्षुषापश्यत् । (रा०)

अत्रि ऋषि ने स्वयं श्रीरामचन्द्र जी का यथाविधि अतिथि सत्कार कर, महाभाग लक्ष्मण और सीता जी को स्नेह की दृष्टि से देखा ॥ ६ ॥

पत्नीं च समनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों के हित में रत, धर्मज्ञ अत्रि मुनि ने वहाँ पर उपस्थित, अपनी वृद्धा तपस्विनी पत्नी अनुसूया जी को बुला कर, उनको आदरपूर्वक बिठा कर समझाया ॥ ७ ॥

अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीद्दयिताम् वरः ॥ ८ ॥

तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ अत्रि जी ने उन महाभाग्यवती, तपस्विनी और धर्म में निरत अनुसूया जी से कहा कि, जानकी जी हमारे आश्रम में आयी हैं, सो इनको अपने साथ ले जा कर, इनका आदर सत्कार करो ॥ ८ ॥

रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥
यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥
दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत्तपः ।
अनसूयाव्रतैः स्नात्वा प्रत्यूहाश्च निवर्तिताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर अत्रि जी ने श्रीरामचन्द्र जी से तपस्विनी एवं धर्मचारिणी अनुसूया का वह सब वृत्तान्त कहा कि, दस वर्ष तक

बराबर जल की वृष्टि न होने से जब संसार भस्म होने लगा था, तब अनुसूया जी ने किस प्रकार अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के लिये फलमूल उत्पन्न किये और स्नान करने को गङ्गा नदी बहाँ बहायी और किस प्रकार हज़ार वर्ष तक उग्र तपस्या कर और तपस्या के प्रभाव से, सब ऋषियों के तप के विघ्न नष्ट किये ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया सन्त्वरमाणया ।
दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

अत्रि जी ने श्रीराम जी से कहा—हे अनघ ! यह वही अनुसूया हैं, जिन्होंने देवताओं का काम बनाने के लिये, तुरन्त ही दस रात की एक रात कर दी थी ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् ।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं सब कारणों से यह यशस्विनी सब प्राणियों से नमस्कार किये जाने योग्य अर्थात् सब की पूज्या हैं। इन बूढ़ी बड़ी तथा सदा क्रोध रहित मनवाली अनुसूया जी के साथ जानकी जी जाँय ॥ १३ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता ।
तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥१४॥

जो अपने उत्कृष्ट कर्मों के कारण लोकों में अनुसूया के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन तपस्विनी एवं साथ जाने के योग्य अनुसूया के पास जानकी जी शीघ्र जाँय ॥ १४ ॥

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।
सीतामुवाच धर्मज्ञामिदं वचनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

अत्रि जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा "तथास्तु"—(बहुत अच्छा सीता अनुसूया जी के साथ जायँगी।) तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से यह वचन कहा ॥ १५ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् ।
श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

हे राजपुत्रि ! मुनि जी ने जो कहा सो तो तुमने सुन ही लिया। अतः अब तुम अपने कल्याण के लिये शीघ्र इन तपस्विनी जी के साथ गमन करो ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य हितैषिणः ।
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

हितैषी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, सीता जी, पतिव्रत धर्म की जानने वाली अत्रिपत्नी—अनुसूया के साथ गयीं ॥ १७ ॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।
सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदली यथा ॥ १८ ॥

अनुसूया जी का शरीर, बुढ़ापे के कारण शिथिल हो गया था, सब शरीर की खाल सिकुड़ गयी थी और सिर के बाल सफ़ेद हो गये थे। हवा के वेग से काँपते हुए केले के पेड़ की तरह, उनका शरीर सदा काँपा करता था ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् ।
अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत्[1] ॥ १९ ॥

उन महाभाग्यवती और पतिव्रता अनुसूया जी को, सीता जी ने अपना नाम ले कर प्रणाम किया ॥ १९ ॥

[नोट—धर्मशास्त्र में जहाँ प्रणाम करने की विधि लिखी है, वहाँ प्रणाम करने वालों के नामोच्चारण पूर्वक प्रणाम करने की विधि निर्दिष्ट है। यथा—"अमुक गोत्रोत्पन्नोऽहं अमुक शर्माऽहं अभिवादयामि।"]

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तामनिन्दिताम् ।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन अनिन्दिता तपस्विनी जी को वैदेही ने प्रणाम करके, तदुपरान्त हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनसे कुशल प्रश्न किया ॥२०॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद्धृष्टा दिष्ट्या[2] धर्ममवेक्षसे[3] ॥ २१ ॥

धर्मचारिणी और महाभाग्यवती सीता जी को प्रणाम करते और कुशलप्रश्न पूँछते देख, अनुसूया जी ने धीरज बँधाने के लिये सीता जी से कहा—हे सीते! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, तुम पतिव्रतधर्म की ओर भली भाँति ध्यान देती हो ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते [4]मानमृद्धिं च मानिनि* ।
[5]अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या[6] त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥

---

१ समुदाहरत्—प्रणाम विधिविनोच्चारयामास। (शि०) २ दिष्ट्या—भाग्येन। (गो०) ३ धर्ममवेक्षसे—पातिव्रत्य धर्ममवधानेन समीक्षसे। (गो०) ४ मानं—अहंकारं। (गो०) ५ अवरुद्धं—नियुक्तं। (शि०) ६ दिष्ट्या—भाग्यमेतत्। (शि०) * पाठान्तरे—"भामिनि"।

हे मानिनी ! तुम्हारे लिये यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, तुम अपनी जाति वालों को, राजकुमारी होने के अहङ्कार को और धन सम्पत्ति को त्याग कर, वनवासी श्रीराम की अनुगामिनी हुई हो ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥२३॥

पति वन में रहे अथवा नगर में रहे, पति पापी हो अथवा पुण्यात्मा हो ; जो स्त्री अपने पति से प्रीति रखती है, वह उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥

भले ही पति क्रूर स्वभाव का हो, कामी हो, धनहीन हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिये उनका पति देवता के तुल्य है अथवा पति ही उनका परम देवता है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।
[1]सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

हे वैदेही ! मैंने भली भाँति विचार कर देखा, परन्तु पति से अधिक स्त्रियों का बन्धु कोई नहीं पाया। क्योंकि पति सब अवस्थाओं में, अक्षय तप की तरह, पत्नी की रक्षा करने में समर्थ है ॥ २५ ॥

न त्वेवमवगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः ।
कामवृत्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

---

१ सर्वत्रयोग्यं—सर्वावस्थासुरक्षणसमर्थं । (गो०)

हे वैदेही ! कामासक्त, पतियों की स्वामिनी दुष्टा स्त्रियाँ, भलाई बुराई का विचार नहीं करतीं ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि ।
अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥२७॥

हे मैथिली ! ऐसी स्त्रियाँ निश्चय ही अनकरने कामों में फँस, अपनी निन्दा करवाती और धर्मभ्रष्ट भी होती हैं ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः ।
स्त्रियः स्वर्गं चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा ॥ २८ ॥

किन्तु तुम्हारी तरह जिन गुणवती स्त्रियों ने संसार के अच्छे बुरे कर्मों को जान लिया है, वे पुण्यकर्मा पुरुषों की तरह स्वर्गप्राप्त करती हैं ॥ २८ ॥

तदेवमेनं त्वमनुव्रता सती
पतिव्रतानां समयानुवर्तिनी ।
भव स्वभर्तुः सह धर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

इति सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे सती ! इसी प्रकार तुम पति के कहने में चल और पतिव्रताओं के आचरण करती हुई, अपने पति की सहधर्मिणी हो । ऐसा करने से तुम्हें यश और पुण्य दोनों मिलेंगे ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया ।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जब निन्दारहित अनुसूया ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी उनके कथन का अनुमोदन कर धीरे से बोलीं ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्याया यन्मां त्वमनुभाषसे ।
विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

हे आर्ये ! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना—कोई आश्चर्य की बात नहीं है । परन्तु मैं भी यह जानती हूँ कि, नारी का पति ही गुरु होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद्भर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः ।
[1]अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

यद्यपि पति अच्छी वृत्ति से हीन और दरिद्र ही क्यों न हो, तथापि मुझ जैसी स्त्रियों को उसके प्रति द्वैधी भाव न रखना चाहिये अर्थात् पति के साथ प्रीतिपूर्वक वर्ताव करना चाहिये ॥३॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा [2]मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

---

१ अद्वैधं—द्वैधीभावरहितं । (गो०) २ मातृवतपितृवत्प्रियः—अत्यन्तहित परत्वेन । (गो०)

फिर जो पति गुणवान होने के कारण सराहनीय है, दयावान्, जितेन्द्रिय, स्थिरानुरागी, धर्मज्ञ और माता पिता की तरह अत्यन्त हित तत्पर है, उसका तो कहना ही क्या है ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः ।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

देखिये, श्रीरामचन्द्र जी की जो भावना अपनी जननी कौशल्या में है, उनकी वही भावना महाराज की अन्य सब रानियों में भी है; अर्थात् उनको भी श्रीराम निज मातृवत् समझ उनके साथ माता जैसा व्यवहार करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।
मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं—किन्तु, महाराज दशरथ ने जिन स्त्रियों की ओर एक बार भी आँख उठा कर देख लिया अर्थात् अपनी स्त्री मान कर देखा, उन स्त्रियों को भी महाराज के प्यारे वीरवर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र मातृवत् सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् ।
समाहितं वे श्वश्वा च हृदये तद्धृतं महत् ॥ ७ ॥

मैं जब इस भयानक निर्जन वन को आने लगी, तब सास कौशल्या जी ने आपकी तरह मुझे जो उपदेश दिया था, वह मेरे हृदय में है अर्थात् मेरे हृदयपटल पर अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिग्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ ।
अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

विवाह के समय अग्नि के सामने मेरी माता ने तुझे जो उपदेश दिया था, वह भी तुझे याद है ॥ ८ ॥

नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि ।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥

हे धर्मचारिणी ! पतिसेवा को छोड़ स्त्री के लिये दूसरी तपस्या नहीं है—इत्यादि उपदेश जो मेरे बन्धुबान्धवों ने तुझे दिये थे, उनको आपने पुनः (आज) मेरी स्मृति में ताज़े (नवीन) कर दिये ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

देखिये, सावित्री अपने पति की सेवा कर के ही, स्वर्ग में, आदर प्राप्त कर निवास करती हैं। इसी प्रकार आप भी पतिसेवा द्वारा स्वर्ग पावेंगी ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

सब स्त्रियों में श्रेष्ठ और स्वर्ग की देवी रोहिणी भी, चन्द्रमा के बिना एक क्षण भी नहीं देख पड़तीं ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भतृदृढव्रताः ।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

इसी प्रकार की और भी अनेक उत्तम स्त्रियां, जो दृढ़व्रत धर्म धारण करने वाली हैं, वे अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्ग में जाती हैं ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः ।
शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

सीता जी की ये बातें सुन, अनुसूया जी हर्षित हुईं और सीता जी का मस्तक सूँघ उनको हर्षित कर, कहने लगीं ॥ १३ ॥

नियमैर्विविधैरासं तपो हि महदस्ति मे ।
तत्संश्रित्य बलं सीतेच्छन्दये त्वां शुचिस्मिते ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैंने अनेक प्रकार के व्रतनियम आदि का पालन कर, जो तपःफल सञ्चित किया है, वह थोड़ा नहीं बहुत अधिक है। अतः हे शुचिस्मिते ! उस तपःफल के बल मैं तुझे वर देना चाहती हूँ सो तू वर माँग ॥ १४ ॥

उपपन्नं मनोज्ञं च वचनं तव मैथिलि ।
प्रीता चास्म्युचितं किं ते करवाणि ब्रवीहि मे ॥ १५ ॥

क्योंकि हे मैथिली ! तूने जो उचित एवं मनोहर वचन कहे हैं, उनसे मैं तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तू बतला कि, मैं तेरा क्या प्रियकार्य करूँ ॥ १५ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया ।
कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

पतिव्रतधर्म की जानने वाली तपोबल से युक्त अनुसूया जी के यह वचन सुन, सीता जी ने विस्मित हो तथा मुसक्या कर, कहा कि, आपके अनुग्रह ही से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी ॥१६॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराऽभवत् ।
सफलं च महर्षे ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

पतिव्रतधर्म को जानने वाली अनुसूया जी सीता जी के यह वचन सुन, उन पर और भी अधिक प्रसन्न हुई और बोलीं—हे सीते ! तुझे देख कर मुझे जो हर्ष हुआ है, उसके अनुरूप उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च ।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हं चानुलेपनम् ॥ १८ ॥

यह उत्तम दिव्य माला, वस्त्र, भूषण, अङ्गराग तथा मूल्यवान् उबटन, जो मैं देती हूँ, इनसे तेरे अंग सुशोभित होंगे ॥ १८ ॥

मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।
[1]अनुरूपमसंक्लिष्टं [2] नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥
अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे ।
शोभयिष्यति भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥२०॥

हे जनकनन्दिनी ! इन वस्तुओं का नित्य व्यवहार करने से भी ये कभी मैली नहीं होगीं और तेरे शरीर के लिये ठीक होंगीं और तेरे अंगों को शोभा बढ़ावेंगी । मेरे दिये हुए इस दिव्य अंगराग को अपने अंगों में लगाने से तुम अपने पति को उसी प्रकार शोभित करोगी जैसे लक्ष्मीदेवी नाशरहित भगवान् श्रीविष्णु को शोभित करती हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा ।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जानकी जी ने अनुसूया जी के दिये हुए उत्तम प्रेमोपहार वस्त्र, अँगराग, आभूषण और मालाआदि को ग्रहण किया ॥ २१ ॥

---

१ अनुरूपं—तद्गात्रानुरूपं । (गो०) २ असंक्लिष्टं—अवाधिवशोभमित्यर्थः । (गो०)

प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।
शिलष्टाञ्जलिपुटा तत्र समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

यशस्विनी सीता ने अनुसूया जी के दिये हुए, उस प्रेमोपहार को ग्रहण किया और हाथ जोड़ कर तपस्विनी अनुसूया के पास बैठीं ॥ २२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।
वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम्* ॥ २३ ॥

जानकी जी को पास बैठी देख, दृढ़व्रत धारण करने वाली अनुसूया जी सीता जी से कोई मनोरञ्जन बात सुनने की इच्छा से पूँछने लगीं ॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

हे जानकी ! इन यशस्वी श्रीरामचन्द्र ने तुमको स्वयंवर में पाया यह कथा मैं संक्षेप से तो सुन चुकी हूँ ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।
यथाऽनुभूतं कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

किन्तु हे मैथिली ! इस वृत्तान्त को मैं विस्तार पूर्वक सुनना चाहती हूँ। सो जो कुछ हुआ वह समस्त मुझे सुनाओ ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तां ततो धर्मचारिणीम् ।
श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥२६॥

सीता जी ने, अनुसूया जी के ये वचन सुन, धर्मचारिणी तपस्विनी अनुसूया जी से यह कहा कि, सुनिये वह वृत्तान्त सुनाती हूँ ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—"कांचित्प्रियकथामनु" ।

मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् ।
क्षत्रधर्मे ह्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

सीता जी बोलीं—मिथिला के अधिपति, वीर और धर्मज्ञ महाराज जनक, क्षात्रकर्त्तव्य पालन में सदा तत्पर रहते हैं, और न्यायपूर्वक राज्य का शासन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कर्षतः क्षेत्रमण्डलम् ।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥२८॥

यज्ञ के लिये यज्ञभूमि का संस्कार करने को जब हल हाथ में ले वे क्षेत्र जोतने लगे, तब मैं पृथिवी को भेद कर, उनकी पुत्री के रूप में निकल आयी ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः ।
पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं जनको विस्मितोऽभवत् ॥ २९ ॥

उस समय राजा जनक जो मंत्रपाठपूर्वक मुट्ठी में ले औषधि के बीज बोने में तत्पर थे, मेरे सारे शरीर में धूल लगी देख, विस्मित हुए ॥ २९ ॥

[1]अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम् ।
ममेयं तनयेत्युक्त्वा* स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥

सन्तानहीन होने के कारण, उन्होंने स्नेह से स्वयं मुझे उठा अपनी गोदी में लिया और यह कहा कि, यह मेरी बेटी है—मेरे ऊपर बड़ा स्नेह करने लगे ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ताप्रतिमामानुषी किल ।
एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

---

१ अनपत्येनचतेन—स्नेहान्मामङ्कमारोप्य । (गो०)

* पाठान्तरे—" तनयेत्युक्ता " ।

उस समय आकाश से मनुष्य जैसी बोली में यह वचन सुन पड़े कि—हे राजन्! निश्चय ही यह तुम्हारी धर्मपुत्री है ॥ ३१ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः ।
[1]अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥

तब तो मेरे धर्मात्मा पिता मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए और मेरे मिलने से नरेन्द्र को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई ॥ ३२ ॥

दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै[2] ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणा[3] ।
तया संभाविता[4] चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ॥३३॥

सदा यज्ञानुष्ठान करने वाले महाराज जनक ने मुझे अपनी पटरानी को जो सन्तान की इच्छा रखती थीं, ईप्सित-वस्तु की तरह सौंप दिया। वे आदर और स्नेह से माता जैसे अनुराग से मेरा लालन पालन करने लगीं ॥ ३३ ॥

[5]पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ।
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥

मुझे विवाह करने के योग्य उम्र में पहुँची देख, पिता जी उसी प्रकार चिन्ताग्रस्त और विकल हुए, जिस प्रकार धन के नाश से निर्धन मनुष्य विकल और चिन्ताग्रस्त होता है ॥ ३४ ॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात् ।
[6]प्रधर्षणामवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥ ३५ ॥

---

१ मल्लाभात्तं तस्य महती समृद्धिर्जातेति भावः । (रा०) २ इष्टवद्देव्यै—इच्छावत्यै देव्यै । (गो०) यद्वा सन्तानेच्छावत्यै देव्यै । (रा०) ३ पुण्यकर्मणा—अनवरतयज्ञादिकर्मयुक्तेनजनकेन । (गो०) ४ संभाविता—संवर्धितेत्यर्थः । (गो०) ५ पतिसंयोग सुलभं—पाणिग्रहणोचितं । (रा०) ६ प्रधर्षणा—तिरस्क्रिया । (गो०)

क्योंकि, कन्या का पिता चाहे इन्द्र के समान ही क्यों न हो, और वर के पक्ष के लोग बराबर या हीन दर्जे ही के क्यों न हों, किन्तु कन्या के पिता को, नीचा ही देखना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां दृष्ट्वा चात्मनि पार्थिवः ।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा ॥ ३६ ॥

अतः मेरे पिता उस तिरस्कार के होने में कुछ भी विलम्ब न देख, चिन्तासागर में निमग्न हो गये और नौकाहीन जन की तरह वे उस चिन्तासागर के पार न जा सके ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाभ्यगच्छद्विचिन्तयन् ।
सदृशं चानुरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥

पिता जी, मुझे अयोनिजा जान मेरे सदृश और मेरे योग्य वर, बहुत ढूढ़ने पर भी न पा सके। अतः उनको इस बात की सदा चिन्ता बनी रहती थी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य सन्ततम् ।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धीमतः ॥ ३८ ॥

निरन्तर सोचते सोचते मेरे बुद्धिमान् पिता ने यह विचारा कि, इस पुत्री के विवाह के लिये स्वयंवर की योजना करना उचित है ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।
दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षयसायकौ ॥ ३९ ॥

पूर्वकाल में किसी समय किसी महायज्ञ में मेरे पिता जी के किसी पूर्वज को, वरुण जी ने प्रीतिपूर्वक एक श्रेष्ठ धनुष, और अक्षय बाणों से पूर्ण दो तरकस दिये थे ॥ ३९ ॥

असंचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात् ।
तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

यह धनुष इतना भारी था कि, अनेक मनुष्य मिल कर बड़ा प्रयत्न करने पर भी उसे सरका भी नहीं सकते थे, और राजा लोग स्वप्न में भी उसको नहीं लचा सकते थे ॥ ४० ॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।
समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

मेरे सत्यवादी पिता महाराज जनक ने पुरुषानुक्रम से वह धनुष पाया था । सो उन्होंने राजाओं को निमंत्रण दे एकत्र किया और फिर उन सब के सामने बोले ॥ ४१ ॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥४२॥

हे राजा लोगों ! आप लोगों में से जो पुरुष इस धनुष को उठा कर, इस पर रोदा चढ़ा देगा, मैं अपनी पुत्री उसीको व्याह दूँगा । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४२ ॥

तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद्गिरिसन्निभम् ।
अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥

राजा लोग पहाड़ की तरह भारी उस धनुषश्रेष्ठ को देख, और उसे उठाने को अपने में शक्ति न पा कर, धनुष को प्रणाम कर के चले गये ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।
विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥

स्वयंवर होने के बहुत दिनों बाद यह महाद्युतिमान् श्रीरामचन्द्र जी विश्वामित्र जी के साथ, पिता जी का यज्ञ देखने आये ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

मेरे पिता जी ने भाई लक्ष्मण के साथ आये हुए सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी और धर्मात्मा विश्वामित्र जी का भली भाँति आदर सत्कार किया ॥ ४५ ॥

अथोवाच पितरं तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ॥ ४६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी ने मेरे पिता से कहा कि, ये महाराज दशरथ के दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण हैं और यह आपका धनुष देखना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम्[1] ।
इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद्धनुः समुपानयत् ॥ ४७ ॥

अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को वरुण का दिया हुआ वह धनुष दिखला दीजिये । विश्वामित्र जी के यह कहने पर, जनक जी ने वह धनुष मँगवा दिया ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।
ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

और पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने पलक मारते उस धनुष को नवा, उस पर झट रोदा चढ़ा दिया और उसे टंकोरा ॥ ४८ ॥

---

१ दैवकं—देवदत्तं । (रा०)

तेन पूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः ।
तस्य शब्दोऽभवद्भीमः पतितस्याशनेरिव ॥ ४९ ॥

टंकोर देने के लिये ज़ोर से डोरी खींचने के कारण बीच से उसके दो टुकड़े हो गये। उसके टूटने से ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ मानों कहीं वज्र गिरा हो ॥ ४९ ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसन्धिना ।
निश्चिता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मेरे सत्यसन्ध पिता ने मेरा दान करने के लिये उत्तम जलपात्र मँगवाया और श्रीरामचन्द्र को मुझे देने को वे उद्यत हुए ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

किन्तु देने के लिये उद्यत होने पर भी, अयोध्याधिपति अपने पिता का अभिप्राय जाने बिना, श्रीरामचन्द्र जी ने मुझे ग्रहण करना स्वीकार न किया ॥ ५१ ॥

ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

तब मेरे पिता ने मेरे वृद्ध ससुर महाराज दशरथ जी को निमंत्रण भेज बुलवाया और उनकी अनुमति से जगत् में प्रसिद्ध (अथवा आत्मवेत्ता) श्रीरामचन्द्र जी को मुझे सौंप दिया अर्थात् उनके साथ मेरा विवाह कर दिया ॥ ५२ ॥

---

१ छन्दं—अभिप्रायं । (गो०)

मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला प्रियदर्शना ।
भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

मेरी छोटी, सीधी सादी और सुन्दर बहिन उर्मिला को, मेरे पिता ने स्वयं लक्ष्मण को भार्या रूप में दिया । अर्थात् लक्ष्मण के साथ उसका भी विवाह कर दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तदा तस्मिन्स्वयंवरे ।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

इति अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे तपोधने ! मैं उस स्वयंवर में इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी को दी गयी । तब से मैं धर्मानुसार पराक्रमवालों में श्रेष्ठ अपने पति श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने में अनुरागिनी हूँ ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम् ।
पर्यष्वजत वाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

पतिव्रताधर्म को जानने वाली अनसूया जी ने सीता के विवाह का सविस्तर वृत्तान्त सुन, जानकी जी का मस्तक सूँघा और दोनों हाथों से पकड़, उनको अपने हृदय से लगा कर, कहा ॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं[1] भाषितं मधुरं[2] त्वया ।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत्सर्वं हि श्रुतं मया ॥ २ ॥

तू ने स्वयंवर का जो समस्त वृत्तान्त, साफ साफ, मनोहर और विचित्र रीति से कहा, सो मैंने सब सुना ॥ २ ॥

रमेऽहं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि ।
रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शिवाम् ॥ ३ ॥

हे मधुरभाषिणी ! यद्यपि तेरी इस कथा के सुनने में मेरा मन बहुत लगता है, तथापि अब सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके हैं और सुन्दर रात होना चाहती है ॥ ३ ॥

दिवसं प्रतिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम् ।
सन्ध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

देखो न ! दिन भर भोजन की खोज में इधर उधर उड़ते हुए पक्षी, सन्ध्या हुई देख बसेरा लेने के लिये अपने अपने घोंसलों में आ गये हैं । यह उन्हींका शब्द सुन पड़ता है ॥ ४ ॥

एते चाप्यविषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः ।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥

ये मुनि लोग स्नान कर भीगे हुए वल्कल वस्त्र तथा जल के कलसे लिये हुए, साथ साथ आ रहे हैं ॥ ५ ॥

ऋषीणामग्निहोत्रेषु हुतेषु विधिपूर्वकम् ।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

---

१ चित्रं—बहुविधव्यञ्जनाविशिष्टम् । (शि०) २ मधुरं—मनोहरं । (शि०)

ऋषियों के विधि विधान से किये हुए अग्निहोत्र का धुआ, जो कबूतर की गरदन के रंग के समान लाल (धुमैले लाल) वर्ण का है, वायु के वेग से आकाश की ओर उठता हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥

अल्पपर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः ।
विप्रकृष्टेऽपि देशेऽस्मिन्न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

ये सब अल्प पत्तों वाले पेड़, जो यहाँ से दूर होने के कारण साफ़ नहीं दिखलायी पड़ते, चारों ओर से अन्धकार के कारण सघन जान पड़ते हैं। दिशाएँ भी अन्धकार छा जाने से प्रकाश रहित हो गयी हैं। अथवा अंधेरा छा जाने के कारण चारों ओर दूर दूर खड़े हुए थोड़े पत्ते वाले पेड़ भी सघन जान पड़ते हैं। अब किसी दिशा में भी उजियाला नहीं देख पड़ता ॥ ७ ॥

[1]रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।
तपोवनमृगा ह्येते [2]वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

देखो निशाचर चारों ओर घूमने लगे हैं और तपोवन के मृग अग्निहोत्र की वेदी के पवित्र स्थानों में पड़े सो रहे हैं ॥ ८ ॥

संप्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।
ज्योत्स्नावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

हे सीते ! देखो रात भी तारागणों से भूषित हो आ पहुँची और चन्द्रमा भी चाँदनी फैलाता हुआ आकाश में उदय हो रहा है ॥ ९ ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव ।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयार्हं परितोषिता ॥ १० ॥

---

१ रजनीचरसत्त्वा—निशाचराः । (शि०) २ वेदितीर्थेषु—पावन-वेदिषु । (शि०)

अब मेरी अनुमति से तुम जा कर श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करो। तुम्हारी मनोहर कथावार्ता सुन मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ ॥ १० ॥

अलंकुरु च तावत्वं मत्यक्षं मम मैथिलि ।
प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालङ्कारशोभिता ॥ ११ ॥

हे मैथिली ! तुम इन दिव्य अलंकारों को मेरे सामने ही धारण करो और इनसे भूषित हो, मेरी प्रसन्नता बढ़ाओ । अर्थात् मुझे प्रसन्न करो ॥ ११ ॥

सा तथा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा ।
प्रणम्य शिरसा तस्यै रामं त्वभिमुखा ययौ ॥ १२ ॥

तब देवकन्या के तुल्य सीता जी उन अलङ्कारों से अपने शरीर को सजा कर और अनुसूया जी के चरणों में अपना सीस रख, (अर्थात् प्रणाम कर) श्रीरामचन्द्र जी के पास गयीं ॥ १२ ॥

तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतांवरः ।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को भूषित देख, अनुसूया जी के दिये हुए प्रेमोपहार से बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

न्यवेदयत्ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली ।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर अनुसूया जी के दिये हुए प्रेमोपहार अर्थात् वस्त्र, आभूषण, माला आदि के मिलने का वृत्तान्त सीता जी ने श्रीराम-

चन्द्र जी से कहा अथवा प्रेमोपहार की वस्तुएँ सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाईं ॥ १४ ॥

महर्षेस्त्वभवद्रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

मनुष्यों के लिये अलभ्य, अनुसूया जी के किये हुए जानकी जी के सत्कार को देख, श्रीरामचन्द्र और महारथी लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए। अथवा अनुसूया जी ने जानकी जी का जो सत्कार किया, वह मनुष्यों के लिये दुर्लभ है, अतः उसे देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए। अथवा मनुष्यों को दुर्लभ जो वस्त्राभूषण प्रेमोपहार में अनुसूया जी ने जानकी जी को दिये थे, उन्हें देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

ततस्तां शर्वरीं प्रीतः पुण्यां[1] शशिनिभाननः ।
अर्चितस्तापसैः सिद्धैरुवास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्वियों और सिद्धों से सत्कारित हो, और अनुसूया जी के दिये हुए वस्त्राभरणों से भूषित चन्द्रमुखी सीता जी को देख, वह रात वहीं रह कर बिताई ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य[2] हुताग्निकान् ।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान्वनगोचरान् ॥ १७ ॥

जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब दोनों पुरुषसिंहों ने स्नान और सन्ध्योपासन अग्निहोत्रादि कर्मों से निश्चिन्त

---

१ पुण्यां—अनुसूयया पुण्ययालंकारां सीतां दृष्ट्वा । (रा०) २ अभिषिच्य हुताग्निकान्—स्नात्वाकृतहोमान् । (गो०)

हो, वनवासी तपस्वियों से आगे वन में जाने के लिये विदा माँगी ॥ १७ ॥

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।
वनस्य तस्य सञ्चारं राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥

तब धर्मचारी और वनवासी तपस्वियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राघव ! इस वन में मनुष्यों को घूमना फिरना, राक्षसों के कारण बड़ा भयावह है। अथवा राक्षसों के उपद्रव से यह वन प्रदेश बड़ी जोखों का स्थान हो रहा है ॥ १८ ॥

रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव ।
वसन्त्यस्मिन्महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस वन में नाना रूपधारी एवं नरमांसभोजी राक्षस और रक्त पीने वाले हिंसपशु रहते हैं ॥ १९ ॥

[1]उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वातापसं धर्मचारिणम् ।
अदन्त्यस्मिन्महारण्ये तान्निवारय राघव ॥ २० ॥

वे राक्षस और जंगली हिंसपशु इस वन में किसी धर्मचारी तपस्वी को कभी अपवित्र दशा में या असावधान पाते हैं तो मार कर खा जाते हैं। अतः हे राघव ! आप इन दुष्टों को मारें। (राक्षस अपवित्र दशा में रहने वाले तपस्वियों को और वन्य जन्तु सिंह व्याघ्रादि असावधान तपस्वियों को) ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरता वने ।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

---

१. उच्छिष्टं—अशुचिं । (रा०)

हे राघव ! इस रास्ते से तपस्वी लोग वन में फल लेने जाते हैं, अतः इसी रास्ते से आपका भी इस दुर्गम वन में जाना ठीक है ॥ २१ ॥

इतीव तैः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परन्तपः
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

इति एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

जब तपस्वियों ने हाथ जोड़ मङ्गल आशीर्वाद दे कर इस प्रकार कहा, तब शत्रुओं के तपाने वाले श्रीराम और लक्ष्मण ने सीता जी सहित, उस दुर्गम वन में, उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सूर्यदेव मेघमण्डल में प्रवेश करते हैं ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ अयोध्याकाण्ड समाप्त हुआ ॥

इत्यर्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्
अयोध्याकाण्डः समाप्तः ॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

पवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सैन्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृणुवन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्मथतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महावाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

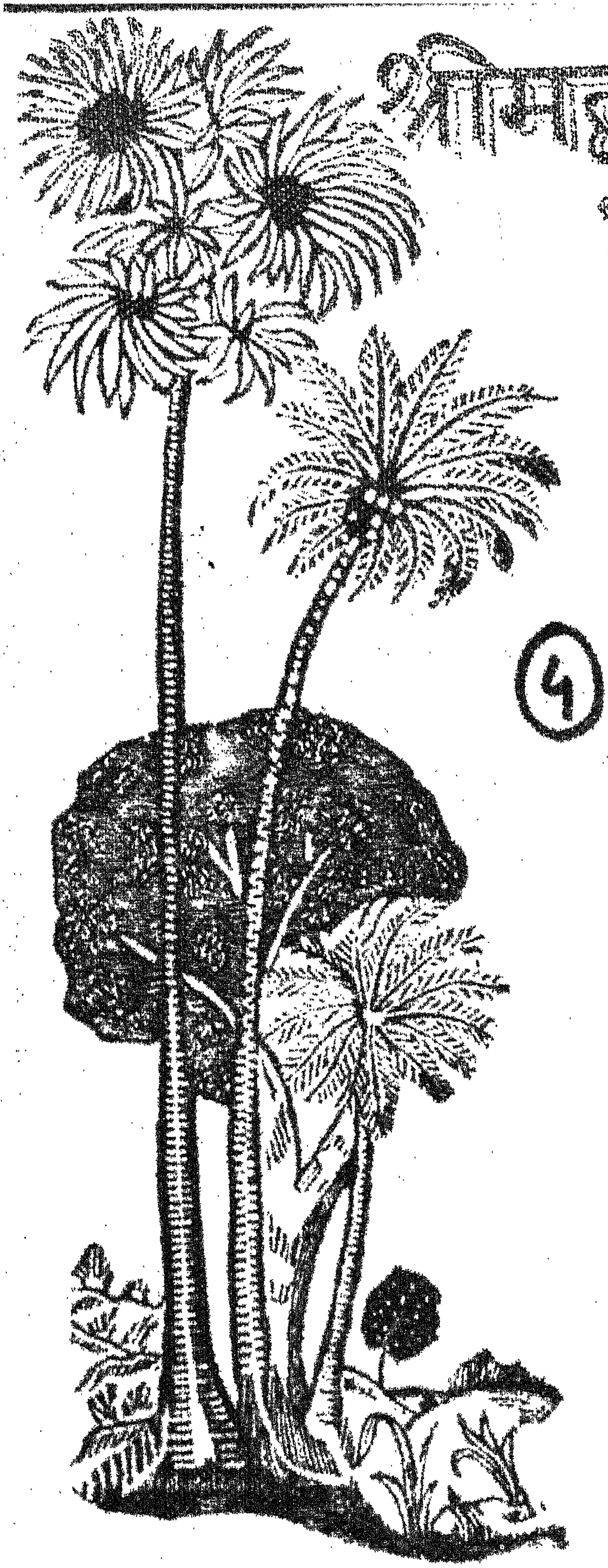

श्रीमद्भगवद्गीता

यथारूप

हिन्दी भाषानुवाद सहित

अध्याय ग्यारह—४

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा

प्रकाशक

रामनरायन लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

अरण्यकाण्ड—४

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,

रामनारायण लाल

इलाहाबाद

१९३७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

विषय-सूची

अरण्यकाण्ड

प्रथम सर्ग १—७

ऋषियों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का आतिथ्य और अपने कष्टों का वर्णन किया जाना।

दूसरा सर्ग ७—१४

वन में प्रवेश करने पर श्रीरामचन्द्रादि द्वारा घोरदर्शन विराध का देखा जाना। विराध द्वारा सीता के हरे जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण के साथ संवाद।

तीसरा सर्ग १४—२०

श्रीरामचन्द्र और विराध की आपस में बातचीत और परस्पर आत्मपरिचय। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को कंधे पर बिठा कर विराध का वन की ओर भागना।

चौथा सर्ग २०—२९

विराध द्वारा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का हरा जाना देख सीता का रोना चिल्लाना। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के हाथ से मारे जाने पर विराध का पूर्वरूप प्राप्त करना और श्रीरामचन्द्र जी को विराध का शरभङ्ग मुनि के आश्रम का हाल बतलाना और विराध के प्रार्थनानुसार श्रीरामचन्द्र द्वारा विराध के मृतशरीर का गढ़े में गाड़ा जाना।

पाँचवाँ सर्ग २९—३८

सीता और लक्ष्मण को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी का शरभङ्ग मुनि के आश्रम में प्रवेश। श्रीरामचन्द्र जी का

वहां शरभङ्ग ऋषि को इन्द्र के साथ बातचीत करते देखना और शरभङ्ग ऋषि से इन्द्र के वहाँ आने का कारण पूँछना तथा शरभङ्ग ऋषि का श्रीरामचन्द्र जी को इन्द्र के आगमन का कारण बतलाना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा एकान्तस्थान बतलाने का प्रश्न किये जाने पर, शरभङ्ग ऋषि का श्रीरामचन्द्र जी को सुतीक्ष्ण के आश्रम का पता बतलाना।

छठवाँ सर्ग ३९–४५

राक्षसों के उपद्रवों से भयभीत दण्डकवनवासी ऋषियों की श्रीरामचन्द्र जी के प्रति आत्मरक्षा के लिये प्रार्थना तथा श्रीरामचन्द्र जी का उनको अभयदान देना।

सातवाँ सर्ग ४५–५१

शरभङ्ग के आश्रम से श्रीरामचन्द्र जी का सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाना और आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को सुतीक्ष्ण द्वारा पहुनाई।

आठवाँ सर्ग ५२–५६

अन्य ऋषियों के आश्रमों को देखने के लिये अगले दिन सबेरे श्रीरामचन्द्र जी का सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम से बाहर निकलना। सुतीक्ष्ण को पुनः आने के लिये श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना।

नवाँ सर्ग ५७–६५

मार्ग में धनुष बाणादि आयुधधारी श्रीरामचन्द्र जी को सीता जी का धर्मस्मरण कराना।

दसवाँ सर्ग ६५–७१

श्रीरामचन्द्र जी का सीता को आयुधादि लेकर वन में आने का कारण बतलाना।

ग्यारहवाँ सर्ग ७१—९१

मार्ग में श्रीरामचन्द्रादि का माण्डवकर्ण के तड़ाग का देखना और उसे देख कुतूहल के वशवर्ती हो उसके बारे में धर्मभृत नामक ऋषि से प्रश्न करना। तब धर्मभृत मुनि का श्रीरामचन्द्र जी को उस तड़ाग का वृत्तान्त बतलाना। मार्ग में लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी का इक्ष्वाकूपाख्यान कहना। अगस्त्य ऋषि के भाई के आश्रम में तीनों का रात व्यतीत करना। अगले दिन अगस्त्य-आश्रम में तीनों का पहुँचना।

बारहवाँ सर्ग ९२—१००

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से लक्ष्मण का जाकर अगस्त्य के शिष्य से श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना देना। तदनन्तर उस शिष्य का गुरु जी के निकट जाना और श्रीरामचन्द्र जी के आगमन का वृत्तान्त निवेदन करना। अगस्त्य के आश्रम में जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का वहाँ विविध देवताओं के स्थानों को देखना। तदनन्तर यथाविधि सत्कार के अनन्तर अगस्त्य जी का श्रीरामचन्द्र जी को धनुष, बाण और तरकस का देना।

तेरहवाँ सर्ग १००—१०६

श्रीरामचन्द्र जी के सामने अगस्त्य का सीता जी के गुणों की बड़ाई करना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा रहने के लिये किसी रमणीक स्थान का पता पूँछे जाने पर अगस्त्य जी का उनको पञ्चवटीस्थान बतलाना।

चौदहवाँ सर्ग १०६—११३

पञ्चवटी की ओर जाते हुए रास्ते में श्रीरामचन्द्र जी की जटायु से भेंट और बातचीत।

पन्द्रहवाँ सर्ग ११४–१२१

अपने पिता के मित्र जटायु के साथ श्रीरामचन्द्र जी का पञ्चवटी में पहुँचना। श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से लक्ष्मण का वहाँ पर्णशाला बनाना और सीता सहित उसमें श्रीरामचन्द्र जी का सुखपूर्वक निवास।

सोलवाँ सर्ग १२१–१३२

हेमन्त वर्णन और भरत का स्मरण कर श्रीरामचन्द्र जी का उनके लिये विलाप करना।

सत्रहवाँ सर्ग १३३–१४०

पर्णशाला में रहते समय लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्र जी की विविध प्रकार की बातचीत होना और उसी बीच में कामपीड़ित शूर्पनखा का पर्णशाला में आना और अपना परिचय देना।

अट्ठारहवाँ सर्ग १४०–१४६

लक्ष्मण द्वारा शूर्पनखा के कान और नाक का काटा जाना। अपने भाई खर के पास जा नकटी बूची शूर्पनखा का क्रोध प्रकट करना।

उन्नीसवाँ सर्ग १४६–१५२

रामलक्ष्मण को दण्डकवन से निकालने के लिये खर का चौदह राक्षसों को आदेश देना।

बीसवाँ सर्ग १५२–१५८

अपने आश्रम में आये हुए और खर के भेजे हुए राक्षसों का श्रीरामचन्द्र द्वारा तर्जन। किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की बातों पर ध्यान न देकर आक्रमण करने वाले राक्षसों का

श्रीरामचन्द्र द्वारा वध देख कर, शूर्पनखा का खर के पास भाग कर जाना ।

इक्कीसवाँ सर्ग १५८-१६३

खर के पास जा शूर्पनखा का विलाप करना और श्रीराम लक्ष्मण के वध के लिये प्रेरणा करना ।

बाइसवाँ सर्ग १६३-१६९

शूर्पनखा को धीरज बंधा, खर का सैन्य सजा कर श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने के लिये जनस्थान से प्रस्थान ।

तेइसवाँ सर्ग १६९-१७७

रास्ते के बुरे शकुनों को अवहेला कर, खर का बारह प्रख्यात वीरों से घिर कर पञ्चवटी की ओर जाना ।

चौबीसवाँ सर्ग १७७-१८५

भावी उपद्रव की आशङ्का कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रेरणा से लक्ष्मण का सीता को लेकर एक पर्वत-गुफा में जाना । युद्ध के लिये तैयार खर की सेना को श्रीरामचन्द्र जी का देखना ।

पच्चीसवाँ सर्ग १८५-१९६

खर की सेना के राक्षसों का वर्णन और उनका नाश ।

छब्बीसवाँ सर्ग १९७-२०५

श्रीरामचन्द्र जी और दूषण का घोर युद्ध और दूषण का वध ।

सत्ताइसवाँ सर्ग २०५-२१०

श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने के लिये खर को जाते देख और उसे रोक सेनापति त्रिशिरा का लड़ने को जाना और श्रीरामचन्द्र द्वारा उसका मारा जाना ।

अट्ठाइसवाँ सर्ग २१०–२१८

खर के साथ लड़ते हुए श्रीरामचन्द्र जी द्वारा खर का रथ नष्ट किया जाना और उसके सारथि का मारा जाना।

उन्तीसवाँ सर्ग २१८–२२५

खर का श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर गदा चलाना।

तीसवाँ सर्ग २२५–२३५

श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी का वीरोचित कथोपकथन, तनदन्तर खर का युद्ध में मारा जाना। युद्ध देखने के लिये आये हुए देवता और ऋषियों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम की बड़ाई किया जाना।

इकतीसवाँ सर्ग २३५–२४७

रावण के पास जा अकम्पन का जनस्थानवासी राक्षसों के नाश का वृत्तान्त कहा जाना और इसके बदले सीता को हरलाने की रावण को सलाह देना। इस काम में सहायता माँगने के लिये रावण का मारीच के आश्रम में जाना और मारीच के उपदेश को मान रावण का लङ्का को लौट जाना।

बत्तीसवाँ सर्ग २४८–२५३

खरदूषण का वध देख भयभीत शूर्पनखा का रावण के समीप जाकर श्रीरामचन्द्र जी की बुराई करना।

तेतीसवाँ सर्ग २५३–२६०

अपनी प्रजा का वृत्तान्त जानने में असावधान रहने के लिये शूर्पनखा का रावण की निन्दा करना।

चौतीसवाँ सर्ग २६०—२६६

शूर्पनखा की बातें सुन रावण का क्रोध में भर जाना; तब शूर्पनखा का रावण को सीता हर कर ले आने के लिये उत्तेजित करना ।

पैतीसवाँ सर्ग २६६—२७६

तब रावण का मारीच के पास फिर जाना ।

छत्तीसवाँ सर्ग २७६—२८१

मारीच के सामने रावण द्वारा जनस्थान वासी खरदूषणादि राक्षसों के मारे जाने का वृत्तान्त कहा जाना और सीता हरण के लिये मारीच से साहाय्य प्राप्ति की याचना किया जाना ।

सैंतीसवाँ सर्ग २८१—२८७

सीता हरने के लिये उद्यत रावण के प्रति मारीच का पुनः हितोपदेश ।

अड़तीसवाँ सर्ग २८८—२९६

विश्वामित्र के आश्रम में श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी आत्मनुभवों का बखान करते हुए मारीच का रावण को यह उपदेश देना कि—"रमतां स्वेषु दारेषु ।" (अर्थात अपनी स्त्रियों के साथ भोग विलास करो ।)

उन्तालीसवाँ सर्ग २९६—३०२

मारीच द्वारा रावण को सीताहरण सम्बन्धी अन्य अनेक दोषों को दिखला कर, रावण को इस कार्य से विरक्त करने का उद्योग किया जाना ।

चालीसवाँ सर्ग ३०२–३०९

मरनहार रावण के मन पर मारीच के उपदेश का कुछ भी प्रभाव न पड़ना। प्रत्युत सीताहरण में सहायता न देने पर मारीच को रावण द्वारा मार डालने की धमकी दिया जाना।

इकतालीसवाँ सर्ग ३०९–३१४

अपने उपदेश के प्रतिकूल रावण को निषिद्ध कार्य में प्रवृत्त होने को उद्यत देख कर भी रावण को मारीच का फिर समझाना।

ब्यालीसवाँ सर्ग ३१४–३२२

रावण के भय से मारीच का राज़ी होना। रावण और मारीच का श्रीरामाश्रम की ओर गमन। श्रीरामाश्रम के निकट पहुँच मारीच का कपटी हिरन का रूप धर आश्रम में इधर उधर विचरना और फूल तोड़ती हुई सीता की उस पर दृष्टि पड़ना।

तेतालीसवाँ सर्ग ३२२–३३३

बनावटी मृग के देखते ही सीता का उसे पकड़वाने के लिये अपने पति और देवर को पुकारना। अपनी पत्नी के वचन सुन, हिरन पकड़ने के लिये जाने की तैयारी कर श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मणजी के साथ परामर्श करना; तब लक्ष्मण का यह कहना कि यह मायामृग है, इसका वध करना ठीक है।

चौंवालीसवाँ सर्ग ३३४–३४०

हिरन को पकड़ने की चेष्टा करते हुए श्रीरामचन्द्र जी का निज आश्रम से बहुत दूर निकल जाना। मारीचवध।

मरने के पूर्व सीता को धोखा देने के लिये श्रीरामचन्द्र जी
के कण्ठस्वर का अनुकरण कर मारीच का "हा सीते !"
"हा लक्ष्मण !" कह कर चिल्लाना ।

पैंतालीसवाँ सर्ग ३४०—३४९

श्रीराम को विपद्ग्रस्त जान सीता जी का लक्ष्मण जी
को, श्रीरामचन्द्र जी का हाल जाकर लाने की प्रेरणा
करना । न जाने पर सीता जी द्वारा कठोर वचन कहे जाने
पर, लक्ष्मण जी का आश्रम से प्रस्थान करना ।

छियालीसवाँ सर्ग ३४९—३५९

यति के रूप में रावण का सीता के समीप जाना और
सीता द्वारा रावण का आतिथ्य किया जाना ।

सैंतालीसवाँ सर्ग ३५९—३७०

सीता का रावण से अपना वृत्तान्त कहना ।

अड़तालीसवाँ सर्ग ३७१—३७६

रावण का सीता के सामने अपने कुल और वीर कर्मों
का बखान करना ।

उनचासवाँ सर्ग ३७६—३८५

सीतापहरण, रास्ते में जटायु से समागम ।

पचासवाँ सर्ग ३८५—३९२

रावण के प्रति जटायु का हितोपदेश और अन्त में युद्ध
के लिये उसका रावण को ललकारना ।

इक्यावनवाँ सर्ग ३९२—४०३

जटायु और रावण का युद्ध । युद्ध में रावण द्वारा
जटायु के पंखों का काटा जाना ।

बावनवाँ सर्ग ४०३–४१२

विलाप करती हुई सीता को पकड़ कर रावण का आकाश मार्ग से गमन ।

त्रेपनवाँ सर्ग ४१३–४१९

सीता विलाप ।

चौवनवाँ सर्ग ४२०–४२७

सुग्रीवादि वानरों को बैठा देख सीता का अपने कुछ आभूषणों को गिराना ।

पचपनवाँ सर्ग ४२७–४३६

रावण का सीता को अपना ऐश्वर्य दिखाना और अपनी भार्या बनाने के लिये उसका सीता जी से अनुरोध करना ।

छप्पनवाँ सर्ग ४३६–४४४

क्रोध में भर कर सीता जी का रावण के प्रति कठोर वचन कहना । तब रावण का सीता को धमकाना डराना ।

सत्तावनवाँ सर्ग ४४१–४५०

मारीच का वध करके लौटते हुए श्रीरामचन्द्र का अपशकुनों को देख, सीता जी के अनिष्ट के सम्बन्ध में शङ्का करना ।

अट्ठावनवाँ सर्ग ४५१–४५६

लक्ष्मण को देख सीता के नष्ट होने का निश्चय सा कर श्रीरामचन्द्र जी का विलाप करना ।

उनसठवाँ सर्ग ४५६–४६३

वामनेत्रादि अङ्गों के फड़कने से सीता पर विपत्ति पड़ने की शङ्का कर श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को, अपनी आज्ञा के विरुद्ध आश्रम छोड़ कर चले आने के लिये उलहना देना।

साठवाँ सर्ग ४६३–४७३

श्रीरामचन्द्र जी का ससम्भ्रम आश्रम की ओर दौड़ना। आश्रम में सीता को न देख कर, श्रीरामचन्द्र जी का उन्मत्त होना और सीता का हाल जानने को वृक्षादि से प्रश्न करना।

इकसठवाँ सर्ग ४७३–४८०

सीता के लिये श्रीरामचन्द्र जी का दुखी होना। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का सीता की खोज में इधर उधर घूमना। चिल्लाते हुए श्रीरामचन्द्र को शान्त करने के लिये लक्ष्मण का समझाना।

बासठवाँ सर्ग ४८०–४८५

श्रीरामचन्द्र जी का दीन हो कर सीता के लिये बार बार विलाप करना।

त्रेसठवाँ सर्ग ४८५–४९३

दुःखार्त्त श्रीराम का विलाप और लक्ष्मण का उनको धीरज बंधाना।

चौसठवाँ सर्ग ४९३–५०९

गोदावरी के तट पर सीता की खोज में घूमते फिरते श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को हिरनों द्वारा दक्षिण दिशा में जाकर ढूढ़ने के लिये सङ्केत का मिलना।

पैसठवाँ सर्ग ५१०–५१३

श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण का आश्वासन प्रदान करना।

छ्याछठवाँ सर्ग ५१४–५१८

लक्ष्मण जी का श्रीरामचन्द्र जी को यह समझाना कि न तो आपको साधारण जन की तरह शोकान्वित होना उचित है और न समस्त सृष्टि का संहार कर, एक बड़े भारी पाप को अपने ऊपर लेना उचित है; किन्तु जिसने सीता हरी है उसको खोज कर अवश्य मार डालना चाहिये।

सरसठवाँ सर्ग ५१८–५२५

मुमुर्षदशा को प्राप्त जटायु से श्रीरामचन्द्र की भेंट तथा जटायु का श्रीरामचन्द्र जी को यह बतलाना कि रावण तुम्हारी स्त्री सीता को हर लेगया है।

अड़सठवाँ सर्ग ५२५–५३४

जटायु का मरण और श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उसका और्ध्वदेहिक कर्म किया जाना।

उनहत्तरवाँ सर्ग ५३४–५४५

इधर उधर घूमते फिरते श्रीरामचन्द्र जी का क्रौञ्चारण्य में मतङ्ग आश्रम में पहुँचना तथा अयोमुखी और कबन्ध से समागम।

सत्तरवाँ सर्ग ५४६–५५०

कबन्ध की भुजाओं का श्रीराम लक्ष्मण द्वारा छेदा जाना।

इकहत्तरवाँ सर्ग ५५०–५५७

कबन्ध का आत्मवृत्तान्त सुनाना, और श्रीरामचन्द्र का उसके मृत शरीर को फूकना।

बहत्तरवां सर्ग ५५७–५६४

शापयुक्त कबन्ध का श्रीरामचन्द्र को सीतान्वेषण के लिये सुग्रीव की सहायता लेने का परामर्श देना।

तिहत्तरवां सर्ग ५६४–५७४

पम्पातीर पर मतङ्गआश्रम में शबरी के समीप जाने के लिये श्रीरामचन्द्र जी से कबन्ध का निवेदन करना।

चौहत्तरवां सर्ग ५७४–५८२

शबरी द्वारा श्रीरामचन्द्र का आतिथ्य किया जाना और शबरी का स्वर्गारोहण।

पचहत्तरवाँ सर्ग ५८३–५९०

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण का पम्पातट की ओर प्रयाण और सुग्रीव के दर्शन करने के लिये लक्ष्मण को श्रीरामचन्द्र जी का आदेश।

इति

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरापनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरताद्रिमिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरौ हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विरक्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्याविद्वान्नदुर्वान्तविधंपनविचक्षणाः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्मयि तां ना हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मनिरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्तो भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
समधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्याप्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुचरितमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—*—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
सप्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतमादरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीश मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजरापिपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमासन्धिश्लेषं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वायव्यादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

अरण्यकाण्डः

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्[1] ।
ददर्श रामो दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ १ ॥

धैर्यवान् और दुर्द्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी ने दण्डक नामक महावन में प्रवेश कर, तपस्वियों के आश्रम देखे ॥ १ ॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या[2] समावृतम् ।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम् ॥ २ ॥

इन आश्रमों में जगह जगह यज्ञ में काम आने वाले कुशों के ढेर लगे थे । आश्रमवासियों के चीर जगह जगह सूखने के लिये फैलाये हुए थे । वेदाध्ययन और वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण, इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था, जिसे राक्षसादि उसी प्रकार नहीं सहन कर सकते थे, जिस प्रकार आकाशस्थ सूर्य का तेज सहन नहीं किया जाता ॥ २ ॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसंसृष्टमृगद्विजं सदा ।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पश्चिमाद्भिः समावृतम् ॥ ३ ॥

---

१ आत्मवान् – धैर्यवान् । (गो०) २ ब्राह्मालक्ष्म्या – ब्राह्मीं लक्ष्मीं ब्रह्म-विद्याभ्यास जनितस्तेजो विशेषः । (रा०)

ये आश्रम प्राणि मात्र के लिये सुखप्रद आश्रयस्थल थे और स्वच्छ स्थानों से सुशोभित थे। इन आश्रमों में बहुत से हिरन निर्भय घूमा फिरा करते थे और पक्षियों की टोलियाँ, आश्रमों के वृक्षों पर रहा करती थीं ॥ ३ ॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः ।
विशालैरग्निशरणैः[1] स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः ॥ ४ ॥

इन आश्रमों में अप्सराएँ आ कर नृत्य किया करती थीं। वे इन आश्रमों का सम्मान करती थीं, यहाँ बड़ी लंबी चौड़ी यज्ञशालाएँ बनी थीं ; जिनमें अग्निकुण्ड के समीप स्रुवा, यज्ञपात्र, मृगचर्म और कुश रखे हुए थे ॥ ४ ॥

समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम् ।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ५ ॥

इन आश्रमों में समिधाएँ, जल से भरे घड़े, और कन्द मूल फल रखे थे। बनैले बड़े बड़े पेड़ों में स्वादिष्ट और खाने योग्य पवित्र फल लगे थे ॥ ५ ॥

बलि[2]होमार्चितं[3] पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
पुष्पैर्वन्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया ॥ ६ ॥

इन सब आश्रमों में नित्य ही बलिवैश्वदेव होता और पवित्र वेद-ध्वनि हुआ करती थी। वहाँ देवताओं पर चढ़े हुए बनैले फूल बिखरे हुए थे और खिले हुए कमल के फूलों से परिपूर्ण तलैयों से ये सब आश्रम सुशोभित थे ॥ ६ ॥

---

१ अग्निशरणैः—अग्निहोत्रगृहैः । (गो०) २ बलिभिः—भूतबलिप्रभृतिभिः । (गो०) ३ होमैर्वैश्वदेवादिहोमैश्च । (गो०)

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः ।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणै[1]र्मुनिभिर्वृतम् ॥ ७ ॥

इन सब आश्रमों में कन्दमूल फल खाने वाले, चीर और मृगचर्म धारण करने वाले, जितेन्द्रिय, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, तथा वृद्ध मुनिगण वास करते थे ॥ ७ ॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः[2] ।
तद्ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥ ८ ॥

ये आश्रम, नियताहारी और पवित्र परमर्षियों से सुशोभित और सदा वेदों के पढ़ने का शब्द होते रहने के कारण, ब्रह्मलोक के समान प्रसिद्ध थे ॥ ८ ॥

ब्रह्मविद्भि[3]र्महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम् ।
स दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तानाश्रमपदान्शुभान् ॥ ९ ॥

परब्रह्म का ज्ञान रखने वाले महाभाग ब्राह्मणों से सुशोभित इन आश्रमों को देख, श्रीमान् रामचन्द्र जी ने ॥ ९ ॥

अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद्धनुः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः ॥ १० ॥

अपने बड़े धनुष का रोदा उतार कर, उन आश्रमों की ओर गमन किया । दिव्यज्ञानसम्पन्न महर्षियों ने जब श्रीरामचन्द्र जी को आते हुए जाना ॥ १० ॥

---

१ पुराणैः—वृद्धैः । (गो०) २ परमर्षिभिः—उत्कृष्टमुनीनामभिपूजनीयैः । (गो०)
३ ब्रह्मविद्भिः—परब्रह्मज्ञानिभिः । (गो०)

अभ्यगच्छंस्तथा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
ते[1] तं सोममिवोद्यन्तं[2] दृष्ट्वा वै धर्मचारिणः ॥ ११ ॥

तब प्रसन्न हो, वे त्रिकालज्ञ महर्षि श्रीरामचन्द्र और यशस्विनी जानकी जी की ओर चले। उन लोगों ने अन्धकारनाशक चन्द्रमा के समान श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ ११ ॥

लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन्[3]दृढव्रताः ॥ १२ ॥

साथ में लक्ष्मण तथा यशस्विनी सीताजी को देख, उन दृढ़ व्रतधारी महर्षियों ने तीनों को मङ्गलाशीर्वाद दिया और उनको अपनी रक्षा करने वाले देवता समझ, उनका यथाविधि आदर सत्कार किया ॥ १२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

वे सब वनवासी ऋषि गण, रामचन्द्र जी के रूप का सौन्दर्य, लावण्य, सुकुमारता और सुवेष को देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ १३ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी के शरीर और रूप को देख उन महर्षियों को इस लिये विस्मय हुआ कि, ऐसे सुकुमार इस महाघोर वन में क्यों आये हैं।]

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव ।
आश्चर्यभूताददृशुः सर्वे ते वनचारिणः ॥ १४ ॥

---

१ ते—त्रिकालज्ञाः । (गो०) २ उद्यन्तं—सोममिव स्थितं अन्धकारनिवर्तकं प्रवृत्तंचन्द्रमिवास्थितं । (गो०) ३ प्रत्यगृह्णन्—संरक्षकेदेवता बुद्ध्यागृहीतवन्तः । (रा०)

वे वनचारी ऋषिगण आश्चर्य में आ, श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी जी को बिना पलक झपकाये इकटक निहारते रहे ॥ १४ ॥

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रतम् ।
अतिथिं पर्णशालायां[1] राघवं संन्यवेशयन् ॥ १५ ॥

तदनन्तर प्राणी मात्र के हित में तत्पर उन महाभाग ऋषियों ने अपूर्व अतिथि श्रीरामचन्द्र जी को लेजा कर अपनी पर्णकुटी में ठहराया ॥ १५ ॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः ।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः ॥ १६ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी, महाभाग एवं धर्मचारी ऋषियों ने यथाविधि श्रीरामचन्द्र का सत्कार कर, हाथ पैर धोने के लिये जल दिया ॥ १६ ॥

मूलं पुष्पं फलं चान्यदाश्रमं च महात्मनः ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ततः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ १७ ॥

अनन्तर उन धर्मज्ञ, महात्मा और वन में रहने वाले ऋषियों ने कन्दमूल फल और फूल ला कर अर्पण किये और वे हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १७ ॥

धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यस्त्वं महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः ॥ १८ ॥

हे रामचन्द्र ! आप वर्णाश्रम धर्म के पालनकर्त्ता और जनों के रक्षक तथा महायशस्वी हैं । शासनदण्ड धारण करने वाला राजा, गुरुवत् पूज्य और मान्य है ॥ १८ ॥

---

१ पर्णशालायां—स्वपर्णशालायां । (गो०)

इन्द्रस्येह[1] चतुर्भागः[2] प्रजा रक्षति राघव ।
राजा तस्माद्वरान्भोगान्भुङ्क्ते लोकनमस्कृतः ॥ १९ ॥

हे राघव ! राजा इस भूस्वर्ग में इन्द्र का चतुर्थांश है । वह प्रजा की रक्षा करता है, इसीलिये वह सब लोगों का प्रणम्य है और श्रेष्ठ और रमणीय पदार्थों का भोग करता है ॥ १९ ॥

[नोट—राजा को इन्द्र का चतुर्थांश कहने का आधार यह है—

"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिः कल्पितो नृपः ।"]

ते वयं[3] भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः ।
नगरस्थो[4] वनस्थो[5] वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥ २० ॥

हम लोग आपके राज्य में बसने वाले आपकी प्रजा हैं । अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये । आप चाहें नगर में रहैं, चाहें वन में रहैं; आप हमारे राजा हैं । अथवा चाहे आप राजसिंहासनासीन हों या न हों, किन्तु हमारे राजा आप ही हैं ॥ २० ॥

न्यस्तदण्डा[6] वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
रक्षितव्यास्त्वया शश्वद्गर्भभूता[7]स्तपोधनाः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! हम लोगों ने क्रोध को त्याग कर इन्द्रियों को जीता है । अतः हम शाप द्वारा इन उपद्रवकारियों को दण्ड देने में असमर्थ हैं । अतएव आपको हम सब तपस्वियों की, प्रजा की तरह, सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

---

१ इह—भूस्वर्गे । (गो०) २ चतुर्भागः—चतुर्थांशः । (गो०) ३ ते वयं—आर्तवयं । (गो०) ४ नगरस्थः—सिंहासनस्थोवा । (गो०) ५ वनस्थः—तद्रहितोवा । (गो०) ६ न्यस्तदण्डा—शापतो निग्रहकरणरहिताः । (गो०) ७ गर्भभूताः प्रजातुल्याः (गो०)

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैर्वन्यैश्च राघवम्[1] ।
अन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥ २२ ॥

यह कह कर उन लोगों ने फल फूल कन्द मूल आदि विविध प्रकार के वन में उत्पन्न होने वाले भोज्य पदार्थों से श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण का अतिथि-सत्कार किया ॥ २२ ॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः[2] ।
न्यायवृत्ता[3] यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

इसी प्रकार वहाँ के उन अन्य सिद्धपुरुषों और तपस्वियों ने जो अपने स्वरूप के विरुद्ध काम्य कर्मों को त्याग चुके थे, और स्वरूपानुरूप कैङ्कर्य करते थे, श्रीरामचन्द्र जी का यथोचित सत्कार कर उनको सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥

अरण्यकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

द्वितीयः सर्गः

—:※:—

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
आमन्त्र्य स मुनीन्सर्वान्वनमेवान्वगाहत ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी अगले दिन सूर्य के उदय होने पर उन सब मुनियों से विदा माँग फिर आगे वन में चले ॥ १ ॥

---

१ राघवमित्यनेन सीतापूजनमप्यर्थं सिद्धः । (गो०) २ वैश्वानरोपमाः—स्वरूपविरुद्धनिषिद्ध काम्यकर्मान्तर त्यागिन इत्यर्थः । (गो०) ३ न्यायवृत्ता—स्वरूपानुरूपकैङ्कर्यवृत्तयः । (गो०)

नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥
निष्कूजनानाशकुनि झिल्लिकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

उस वन में अनेक प्रकार के जीव जन्तु थे तथा शार्दूल और भेड़िया घूमा फिरा करते थे। उस वन में कहीं भी न वृक्ष, न लता, न गुल्म दिखलाई पड़ते थे। तालाबों का जल सूख जाने के कारण वे केवल भयङ्कर ही नहीं देख पड़ते थे, बल्कि जलाभाव के कारण वहाँ किसी पक्षी की बोली भी नहीं सुन पड़ती थी। केवल झिल्ली की झनकार सुनाई देती थी। चलते चलते सीता, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वन के बीच में पहुँच, वहाँ का यह भयङ्कर दृश्य देखा ॥ २ ॥ ३ ॥

वनमध्ये तु काकुत्स्थस्तस्मिन्घोरमृगायुते ।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम् ॥ ४ ॥

जंगली पशुओं से सेवित उस घोर वन के बीच पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने पहाड़ की चोटी के समान लंबा, नरमांसभक्षी, महाशब्द करनेवाला एक राक्षस देखा ॥ ४ ॥

गम्भीराक्षं महावक्त्रं विकटं[1] विषमोदरम्[2] ।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उस राक्षस की आँखें माथे के भीतर बहुत गहरी घुसी हुई थीं, मुँह बहुत लंबा था, उसका शरीर विशाल था, पेट ऊँचा नीचा था,

---

१ विकटं—विशालं । (गो०) २ विषमोदरं—निम्नोन्नतोदरं । (गो०)

उसकी आकृति बड़ी घिनौनी थी, उसका शरीर टेढ़ा मेढ़ा था, ऊँचा नीचा, ख़ाली भरा हुआ था अर्थात् उसके शरीर का एक भी अंग एक सा न था। अतः वह देखने में बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

वह रक्तमय रुधिर से भींगा हुआ व्याघ्र का चमड़ा ओढ़े हुए था। जब वह अपना मुँह फैला कर जमुहाई लेता था, तब वह काल की तरह सब प्राणियों को त्रस्त कर देता था अर्थात् उसका खुला हुआ मुख देख सब प्राणी भयभीत हो जाते थे ॥ ६ ॥

त्रीन्सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान्द्वौ वृषौ पृषतान्दश ।
सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत् ॥ ७ ॥
अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।
स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वाथ मैथिलीम् ॥ ८ ॥

वह तीन शेर, चार व्याघ्र, दो बैल और दस बारहसिंहों तथा दांतों सहित चर्बी से भरा हुआ एक हाथी का मस्तक, जो लोहे के त्रिशूल में विधा हुआ था, लिये हुए तथा नाद करता और चिल्लाता हुआ देख पड़ा। वह श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को देख, ॥७॥८॥

अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः ।
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥ ९ ॥
अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य ततोऽब्रवीत् ।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ ॥ १० ॥

और महाक्रोध में भर, प्रलयकारी काल के समान उनकी ओर दौड़ा। वह महाभयङ्कर राक्षस गर्जन कर, पृथिवी को कँपाता हुआ, सीता को गोदी में उठा और कुछ दूर जा कर कहने लगा—तुम दोनों जटाचीर धारण किये स्त्रियों सहित इस वन में जो आये हो, सो तुम अपने को कुछ ही क्षणों का महमान समझो अथवा अपने को मरा हुआ ही समझो ॥९॥१०॥

[नोट—मूल में "सभार्यौ" द्विवचन में भार्या शब्द का प्रयोग करने से जान पड़ता है कि विराध ने समझा कि, सीता दोनों की भार्या है।]

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिधारिणौ ।
कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह॥ ११ ॥

इस दण्डकवन में (तुम सिर्फ जटा चीर धारी बनकर ही नहीं किन्तु) तीर कमान ले और तलवार बांध कर आये हो। फिर जब तुम तपस्वी का रूप (जटाचीर धारण करने से) धारण किये हो, तब यह तो बतलाओ कि, स्त्री के साथ तपस्वियों का रहना कैसे सम्भव है ॥ ११ ॥

अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ ।
अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः॥ १२ ॥

अतः बतलाओ तुम दोनों अधर्मी, पापी और मुनियों का नाम धराने वाले कौन हो ? मैं विराध नामक राक्षस हूँ और इस दुर्गम वन में ॥ १२ ॥

चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन् ।
इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति ॥ १३ ॥

शस्त्र लिये ऋषि मुनियों के मांस को भक्षण करता हुआ, नित्य घूमा करता हूँ। यह सुन्दरी नारी मेरी भार्या होगी ॥ १३ ॥

अरण्यकाण्ड

विराधवध

युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।
तस्यैवं ब्रुवतो धृष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥

तुम दोनों महापापी हो, अतः तुम दोनों के साथ मैं युद्ध कर, तुम्हारा दोनों का रुधिर पिऊँगा । जब उस दुरात्मा विराध ने ऐसे धृष्टतापूर्ण वचन कहे ॥ १४ ॥

श्रुत्वा सगर्वं वचनं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।
सीता प्रावेपतोद्वेगात्प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

तब उसके इन अहङ्कार युक्त वचनों को सुन कर, जानकी जी डरीं और मारे डर के वे वायु के वेग से काँपते हुए, केले के पेड़ की तरह, थर थर काँपने लगीं ॥ १५ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी सीता को विराध की गोदी में देख, उदास हो लक्ष्मण से बोले ॥ १६ ॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

हे सौम्य ! देखो राजा जनक की बेटी, शुद्धाचरण वाली मेरी भार्या सीता, विराध द्वारा पकड़ ली गयी है ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं मनस्विनीम् ।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥ १८ ॥

यह मनस्विनी राजपुत्री बड़े लाड़प्यार से पाली पोसी गयी है। सो इसकी यह दशा हुई। सो जिस उद्देश्य से कैकेयी ने वरदान मांगा था वह उसका उद्देश्य आज सफल हुआ ॥ १८ ॥

कैकेय्यास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण ।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! कैकेयी बड़ी दूरदर्शिनी है जो अपने पुत्र को राज्य दिला कर भी सन्तुष्ट न हुई (और हमें इस अभिप्राय से वन में भेजा कि, वन में जब सीता को राक्षस हर लेंगे और राम उस दुःख से मर जाँयगे तब मेरे बेटे का राज्य निष्कण्टक हो जायगा) इतनी जल्दी उसी कैकेयी की मनोभिलाष आज पूरी हुई ॥ १९ ॥

यथाहं सर्वभूतानां हितः प्रस्थापितो वनम् ।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मम मध्यमा ॥ २० ॥

जिस कैकेयी ने मुझ जैसे सब प्राणियों के हितैषी को वन में निकलवा दिया उस मेरी मझली माता कैकेयी का इस घड़ी मनोरथ पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

[नोट—जिस कैकेयी को श्रीरामचन्द्र ने पहिले "कनीयसी" छोटी माता कहा था अब उसीको "मध्यमा माता" क्यों कहा—इसका समाधान भूषणटीकाकार ने इस प्रकार किया है। "यद्यपि पूर्वं मम माता कनीयसीत्युक्तं तथापि महिषी-त्रयोपेक्षया कनीयसीत्वं, सर्वदशरथपत्न्यपेक्षया मध्यमत्वं। त्रिशतं पञ्चाशच्च दशरथपत्न्यः सन्तीति पूर्वमेवोक्तं।]

परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे ।
पितुर्वियोगात्सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय सीता का राक्षस द्वारा छुआ जाना देख, मुझको जैसा दुःख हो रहा है वैसा दुःख मुझे न तो पिता के मरने पर हुआ और न राज्य छूटने पर हुआ ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुते ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब आँखों में आँसू भर और शोकाकुल हो लक्ष्मण जी मंत्रमुग्ध सर्प की तरह क्रोध में भर फुँफकार मारते हुए, यह बोले ॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः ।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मेरे जैसे सेवक के साथ होते हुए और इन्द्र की तरह सब प्राणियों के स्वयं स्वामी हो कर भी, आप एक अनाथ की तरह क्यों सन्तप्त हो रहे हैं ? ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः ।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

मैं क्रुद्ध हो, अभी इस राक्षस को बाण से मार इसका रुधिर पृथिवी को पिलाता हूँ ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह ।
तं विराधे प्रमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

राज्य की कामना रखने वाले भरत पर मुझे जो क्रोध आया था, वह क्रोध आज मैं इस विराध पर उसी तरह उतारूँगा, जैसे इन्द्र वज्र का प्रहार कर पहाड़ों पर अपना क्रोध उतारते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः
पततु शरोऽस्य महान्महोरसि ।
व्यपनयतु तनोश्च जीवितं
पततु ततः स महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे राम ! मेरी भुजाओं के बल के वेग से चलाया हुआ महाबाण इसके हृदय को विदीर्ण कर इसको मार डालेगा और यह घुमरी खाता हुआ पृथिवी पर गिरेगा ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

तृतीयः सर्गः

—:*:—

इत्युक्त्वा लक्ष्मणः श्रीमान्राक्षसं प्रहसन्निव ।
को भवान्वनमभ्येत्य चरिष्यति यथासुखम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से यह कह श्रीमान् लक्ष्मण ने (तिरस्कार सूचक) मुसक्या कर राक्षस से पूछा कि, आप कौन हैं जो इस प्रकार स्वेच्छाचारी हो इस वन में घूमा करते हैं ॥ १ ॥

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन्वनम् ।
आत्मानं पृच्छते ब्रूतं कौ युवां क्व गमिष्यथः ॥ २ ॥

इसके उत्तर में विराध अपनी गम्भीर वाणी से उस वन को फिर पूर्ण करता हुआ बोला—मैं जो तुमसे पूँछता हूँ उसका उत्तर दो कि, तुम दोनों कौन हो और कहां जा रहे हो ॥ २ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलितानन्म् ।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ ३ ॥

यह सुन अंगार के समान जलते हुए भयङ्कर मुख वाले राक्षस को श्रीरामचन्द्र जी ने अपने इक्ष्वाकुवंश का नाम बतलाया ॥ ३ ॥

क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ४ ॥

और कहा कि, हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय वर्णोचित वृत्ति सम्पन्न हैं और वन में आये हैं, यह तुझे जान लेना चाहिये । हम तेरा परिचय भी चाहते हैं कि, इस दण्डक वन में घूमने वाला तू कौन है ॥ ४ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम् ।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन्निबोध मम राघव ॥ ५ ॥

यह सुन विराध ने सत्यपराक्रम श्रीराम से कहा—हे राघव ! मैं अपना वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ५ ॥

पुत्रः किल जयस्याहं मम माता शतह्रदा ।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥

मैं निश्चय ही जय का पुत्र हूँ और शतह्रदा मेरी माता है । इस पृथिवी के सब राक्षस मुझे विराध नाम से पुकारते हैं ॥ ६ ॥

तपसा चापि मे प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा ।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ७ ॥

मैंने अपनी तपस्या के बल से ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर, उनसे यह वरदान पाया है कि, मैं किसी शस्त्र से न तो घायल होऊँ और न मारा ही जा सकूँ ॥ ७ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम् ।
त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ८ ॥

अतः तुम इस स्त्री को और मेरे साथ लड़कर विजय प्राप्त करने की इच्छा को त्याग कर जहां से आये हो वहीं को भाग जाओ। मेरी इच्छा नहीं कि मैं तुम्हारा वध करूँ ॥ ८ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ९ ॥

विराध के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्रजी क्रोध में भर लाल लाल आंखे कर, उस पापी और विकट शरीर वाले विराध राक्षस से बोले ॥ ९ ॥

क्षुद्र धिक्त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम् ।
रणे संप्रदृश्यसे तिष्ठ न मे जीवन्गमिष्यसि ॥ १० ॥

हे अधम ! तुझको धिक्कार है । तू बड़ी ओछी जाति का है । तू निश्चय ही अपनी मौत को खोज में है । सो खड़ा रह, तू आज मुझसे युद्ध कर, जीता बच कर न जा पावेगा ॥ १० ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशितशरान् ।
चिक्षेप तं प्रहस्याथ राक्षसं निजघान ह ॥ ११ ॥

यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने उस राक्षस को लक्ष्य कर जीव अनुष पर रोदा चढ़ाया और उस पर बड़े पैने बाण रखकर चलाये ॥ ११ ॥

धनुषा ज्यानुनादेन सस्त्रं बाणान्मुमोच ह ।
रुक्मपुङ्खान्महावेगान्पतत्रिपतिवाजितान् ॥ १२ ॥

उन्होंने धनुष पर रोदा चढ़ा सुनहले पुंखों से युक्त पवन और गरुड़ के समान शीघ्रगामी सात बाण चलाये ॥ १२ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा बर्हिणवाससः ।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः ॥ १३ ॥

वे बाण जिनमें मोर के पंख लगे हुए थे विराध के शरीर को फोड़ ख़ून से सने, अग्नि की तरह लाल लाल पृथिवी पर जा गिरे ॥ १३ ॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्यम्य राक्षसः ।
अभ्यद्रवत्सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

बाणों से विद्ध हुआ विराध, सीता जी को छोड़, और हाथ में त्रिशूल ले क्रोध में भर श्रीराम लक्ष्मण की ओर झपटा ॥ १४ ॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम् ।
प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्तानन इवान्तकः ॥ १५ ॥

उस समय वह बड़ा नाद करता और इन्द्रध्वज के समान शूल को हाथ में लिये हुए ऐसा जान पड़ता था, मानों मुख फैलाये साक्षात् काल दौड़ा हुआ आता हो ॥ १५ ॥

अथ तौ भ्रातरौ दीप्तं शरवर्षं ववर्षतुः ।
विराधे राक्षसे तस्मिन्कालान्तकयमोपमे ॥ १६ ॥

उस राक्षस को अपनी ओर आता देख दोनों भाई, उस यमराज की समान विराध राक्षस पर चमकते हुए तीरों की वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाऽजृम्भत राक्षसः ।
जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः ॥ १७ ॥

तब वह महाभयङ्कर राक्षस हँसा और खड़े हो कर उसने जमुहाई ली। उसके जमुहाई लेते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीर से निकल कर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

बलात्तु वरदानस्य प्राणान्संरोध्य राक्षसः ।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥ १८ ॥

यद्यपि विराध उन बाणों के आघात से अति पीड़ित था; तथापि वरदान के बल से वह मरा नहीं और जीता रहा और शूल उठा दोनों भाइयों की ओर दौड़ा ॥ १८ ॥

तच्छूलं वज्रसङ्काशं गगने ज्वलनोपमम्[1] ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १९ ॥

तब शस्त्रधारण करने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने वज्र और आकाशस्थ अग्नि के समान उसके शूल को दो बाणों से काट कर गिरा दिया ॥ १९ ॥

तदामविशिरवच्छिन्नं शूलं तस्य कराद्भुवि ।
पपाताशनिना च्छिन्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥ २० ॥

विराध के हाथ से वह शूल श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कट टुकड़े टुकड़े हो उसी तरह पृथिवी पर गिरा, जिस प्रकार वज्र के आघात से मेरुपर्वत की शिलाएँ टुकड़े टुकड़े हो गिरती हैं ॥ २० ॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पोपमौ शुभौ ।
तूर्णमापततस्तस्य तदा प्राहरतां बलात् ॥ २१ ॥

जब उसका शूल कट गया, तब श्रीराम और लक्ष्मण अपनी अपनी तलवारों को ले, अति शीघ्र काटने को तैयार नाग की तरह

---

१ गगने ज्वलनः—आकाशस्थाग्निः । (गो०)

उस पर झपटे और उस पर बल पूर्वक तलवारों का वार करने लगे ॥ २१ ॥

स वध्यमानः सुभृशं बाहुभ्यां परिरभ्य तौ ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २२ ॥

जब वह राक्षस तलवारों के आघात से अत्यन्त पीड़ित हुआ, तब दोनों पुरुषश्रेष्ठों को जो बड़ी धीरता से लड़ रहे थे, और जिन्हें कोई हरा नहीं सकता था, विराध दोनों हाथों से पकड़ और अपने कंधों पर रख, ले चला (इस लिये कि दूर लेजा कर दोनों को ज़मीन पर पटक कर मार डालें) ॥ २२ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
वहत्वयमलं तावत्पथाऽनेन तु राक्षसः ॥ २३ ॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २४ ॥

उसके अभिप्राय को समझ श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—बड़ी अच्छी बात है कि, यह हमें कंधे पर चढ़ा ले जा रहा है । अतः हे लक्ष्मण ! जहाँ इसकी हमें ले जाने कि इच्छा हो इसे ले चलने दो, क्योंकि इसी मार्ग से जिससे यह हमको लिये जा रहा है—हमें जाना है ॥ २३ ॥ २४ ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलौ ततः ॥ २५ ॥

उस अतिबली विराध राक्षस ने अपने बल पराक्रम से श्रीराम और लक्ष्मण को दो बालकों की तरह अपने दोनों कंधों पर बिठा लिया ॥ २५ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो निनदन्घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २६ ॥

वह विराध राक्षस श्रीराम लक्ष्मण को अपने कंधों पर रख, बड़े ज़ोर से चिल्लाता हुआ वन की ओर चला ॥ २६ ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो
द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम् ।
नानाविधैः पक्षिशतैर्विचित्रं ।
शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २७ ॥
इति तृतीयः सर्गः ॥

फिर वह राक्षस महामेघ के तुल्य अनेक प्रकार के बड़े बड़े वृक्षों से युक्त विविध प्रकार के पक्षियों के समूह से परिपूर्ण, सियार, अजगरों और मृगों से युक्त वन में उन दोनों को ले चला ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्थः सर्गः

—※—

ह्रियमाणौ तु तौ दृष्ट्वा वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
उच्चैःस्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य[1] सुभुजा भुजौ ॥ १ ॥

जब विराध श्रीराम और लक्ष्मण को हरण कर ले चला, तब यह देख जानकी जी अपनी बड़ी बड़ी भुजाएँ उठा ज़ोर ज़ोर से रो कर कहने लगीं ॥ १ ॥

---

१ प्रगृह्य—उद्यम्य । (रा०)

एष दाशरथी रामः सत्यवा[1]ञ्शीलवा[2]ञ्शुचिः[3] ।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

हा ! यह भयानक राक्षस, महाराज दशरथ के सत्यभाषी, सदाचारी और सीधे साधे पुत्र श्रीरामचन्द्र को, लक्ष्मण सहित हरे लिये जाता है ॥ २ ॥

मां वृका भक्षयिष्यन्ति शार्दूला द्वीपिनस्तथा ।
मां हरोत्सृज्य काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

अब मुझे ये वनैले जन्तु शेर चीते खा डालेंगे । हे राक्षसोत्तम ! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ । तू इन दोनों काकुत्स्थ-राजकुमारों को छोड़ दे और इनके बदले मुझे हर ले ॥ ३ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वेगं[4] प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

सीता का ऐसा वचन सुन दोनों वीर भाई श्रीराम और लक्ष्मण, उस दुरात्मा के घात के लिये उद्यत हो, शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिर्बाहुं सव्यं बभञ्ज ह ।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा[5] तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

उस भयङ्कर राक्षस की बाईं भुजा लक्ष्मण जी ने और दहिनी भुजा श्रीरामचन्द्रजी ने बल लगा कर तोड़ डाली ॥ ५ ॥

---

१ सत्यवान् — सत्यवचनवान् । (गो०) २ शीलवान — सदाचारसम्पन्नः । (गो०) ३ शुचिः — ऋजबुद्धिः । (गो०) ४ वेगं — तराम् । (रा०) ५ तरसा — बलेन । (गो०)

स भग्नबाहुः संविग्नो[1] निपपाताशु राक्षसः ।
धरण्यां मेघसङ्काशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

जब उस राक्षस की दोनों बांहें टूट गयीं तब वह मेघ के समान काला राक्षस भयभीत हो तुरन्त ज़मीन पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे वज्र के आघात से पर्वत टूट कर गिरता है ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

उस समय वे दोनों भाई उस राक्षस को घूंसों से मारते, पैरों से ठुकराते और उठा उठा कर ज़मीन पर पटकते हुए उसे चूर्ण किये डालते थे ॥ ७ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

यद्यपि उस राक्षस के शरीर में अनेक तीर विंधे हुए थे और वह तलवारों के अनेक घाव खाये हुए था, तथा कई बार ज़मीन पर उसने पटकी भी खायी थी, तथापि वह मरा नहीं था ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।
भयेष्वभयदः[2] श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भय के समय, स्वगुणों के कीर्त्तन, स्मरणादि करने पर अभय देने वाले श्रीरामचन्द्र ने उस पर्वत के समान सर्वथा अवध्य राक्षस का दोष लक्ष्मण से कहा ॥ ९ ॥

---

१ संविग्नः—भीतः । (गो०) २ भयेषु अभयदः—भयकालेषु अभयदः । स्वगुणादि श्रवण स्मरण कीर्तिनादिना । (रा०)

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽयं न शक्यते ।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निरवनावहे ॥ १० ॥

हे पुरुषसिंह ! यह राक्षस अपने तपोबल से शस्त्र द्वारा नहीं जीता जा सकता, अतः आओ इसे पृथिवी में गाढ़ दें ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं[1] वचः ।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुन वह राक्षस विनय पूर्वक पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभः ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे पुरुषसिंह ! मैं आपके इन्द्र तुल्य पराक्रम से अधमरा हो गया हूँ । मैंने अब तक अज्ञान से आपको नहीं पहचाना था ॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा तात रामस्त्वं विदितो मया ।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥ १३ ॥

हे तात ! अब इस समय मैंने जाना कि, आप श्रीराम हैं और आपके कारण देवी कौशल्या सुपुत्रवती हुई हैं। इन सौभाग्यवन्ती सीता और महायशस्वी लक्ष्मण को भी मैंने भली भाँति पहचान लिया है ॥ १३ ॥

अपि शापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन ह ॥ १४ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनयान्वितं । (गो०)

हे राम ! मैंने शापवश यह घोर राक्षसशरीर पाया है। मैं पहले तुम्बरु नाम का गन्धर्व था। मुझे कुवेर ने शाप दिया था ॥ १४ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशाः ।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥ १५ ॥

शाप देने के बाद जब मैंने उनको प्रसन्न किया, तब वे महायशस्वी मुझसे बोले कि, जब दशरथनन्दन श्रीराम तुझे युद्ध में मारेंगे ॥१५॥

तदा प्रकृतिमापन्नो[1] भवान्स्वर्गं गमिष्यति ।
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तं पुराऽनघ ॥ १६ ॥

तब तू फिर अपने पूर्ववत् शरीर को प्राप्त कर स्वर्ग को जायगा। हे अनघ ! मुझे राजा वरुण जी ने यह शाप इस लिये दिया था कि, रम्भा पर मैं आसक्त हो गया था ॥ १६ ॥

अनुपस्थीयमानो मां संक्रुद्धो व्याजहार ह ।
तव प्रसादान्मुक्तोऽस्मि शापाद्दारुणात् ॥ १७ ॥

अतः मैं समय पर वरुण जी के पास उपस्थित न हो सका। इस पर अप्रसन्न हो उन्होंने शाप दिया। अब मैं आपकी कृपा से उस दारुण शाप से छूट गया ॥ १७ ॥

भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परन्तप ।
इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो, मैं अब अपने लोक को जाऊँगा। इसी वन में प्रतापी एवं धर्मात्मा शरभङ्ग जी का आश्रम है ॥ १८ ॥

---

१ प्रकृतिं—स्वरूपं। (गो०)

अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसन्निभः ।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयो विधास्यति ॥ १९ ॥

हे तात ! सूर्य के समान उन महर्षि का आश्रम यहाँ से डेढ योजन की दूरी पर है । उनके समीप आप शीघ्र जाँय । वे आपका भला करेंगे ॥ १९ ॥

अवटे चापि मां राम प्रक्षिप्य कुशली व्रज ।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

हे राम ! आप मुझे गड्ढे में डाल कुशल पूर्वक चले जाइये । मरे हुए राक्षसों को ज़मीन में गाड़ना, यह प्राचीन प्रथा है ॥ २० ॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः ।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥ २१ ॥

क्योंकि जो मरे हुए राक्षस गड्ढा खोद कर गाड़ दिये जाते हैं, उनको सनातन लोक प्राप्त होते हैं । इस प्रकार विराध राक्षस, जो शरपीड़ित था, श्रीरामचन्द्र जी से कह ॥ २१ ॥

बभूव स्वर्गसंप्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः ।
तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह ॥ २२ ॥

और शरीर को त्याग, स्वर्ग में चला गया । श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षस के ये वचन सुन लक्ष्मण जी को आज्ञा दी ॥ २२ ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।
वनेऽस्मिन्सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम इन वन के बीच, प्रचण्ड हाथी की तरह भीमकर्मा इस राक्षस के शरीर को गाढ़ने के लिये, एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदो ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ २४ ॥

लक्ष्मणजी को गड्ढा खोदने की आज्ञा दे, पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी स्वयं भी अपने पैरों से विराध का गला दबा खड़े रहे ॥ २४ ॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम् ।
अखनत्पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥ २५ ॥

तब लक्ष्मण ने खंता ले, विराध के पास ही एक गड्ढा खोदा ॥ २५ ॥

तं मुक्तकण्ठं निष्पिष्य शङ्कुकर्ण[1] महास्वनम् ।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने गधे जैसे कान वाले विराध के गले से अपने पैर हटा लिये और उसको उठा कर उस गड्ढे में डाल दिया । उस समय विराध अति घोर शब्द करने लगा ॥ २६ ॥

तमाहवे निर्जितमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति[2] रामलक्ष्मणौ ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बिले तु राक्षसम् ॥ २७ ॥

---

१ शङ्कुकर्ण—शङ्कुः कीलंतत्सदृशं गर्दभाकारंवा । (गो०) २ संयति—युद्धस्थिरौ । (गो०)

युद्ध में स्थिर चित्त और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र व लक्ष्मण ने प्रसन्न हो विकटाकार उस प्रकाण्ड राक्षस को, युद्ध में पराजित किया और अपने भुजबल से उठा कर, उस शोर करते हुए राक्षस को गड्ढे में डाल कर, ऊपर से वह गड्ढा मिट्टी से पाट दिया ॥ २७ ॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥ २८ ॥

पैने से पैने शस्त्र से भी उस महाअसुर को मरते न देख, और उसके वध का एक मात्र उपाय गढ़े में गाढ़ना निश्चित कर उन दोनों चतुर भाइयों ने उसे गढ़े में गाढ़ कर उसका वध किया ॥ २८ ॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युरात्मनः
प्रसह्य रामेण वधार्थमीप्सितः ।
निवेदितः काननचारिणा[1] स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥ २९ ॥

विराध ने बरजोरी अपनी मौत के लिये श्रीरामचन्द्रजी से इच्छा प्रकट की, क्योंकि उसने स्पष्ट अपने मुख से कहा कि, मैं किसी भी शस्त्र से नहीं मारा जा सकता ॥ २९ ॥

[नोट—आदिकाव्यकार ने यह श्लोक इस लिये लिखा है कि, जिससे लोग श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर यह दोष न लगावें कि, उन्होंने विराध को

---

१ काननचारिणा-विराधेन । (रा०)

जीवित ज़मीन में गाड़ दिया। इसका समाधान करने ही को इस श्लोक में कहा गया है कि, विराध ने अपने आप अपनी मौत बुलाई और वरदान द्वारा अस्त्र शस्त्र से अवध्य होने के कारण, उसका वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र को उसे ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ना पड़ा।]

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने।
बिलं च रामेण बलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम्॥ ३०॥

विराध का कहना मान कर ही श्रीरामचन्द्र ने उसको गड्ढे में डाला था। जिस समय वह गड्ढे में पटका गया, उस समय वह ऐसा गरजा कि, उसके चीत्कार से सारा वन प्रतिध्वनित हो गया॥ ३०॥

महाद्रुकल्पौ निज रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निखाय तम्।
ननन्दतुर्भीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम्॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण उस विराध राक्षस को पृथिवी में गाढ़ और उस महावन में भय रहित हो अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ३१॥

ततस्तु तौ कार्मुकखड्गधारिणौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव॥ ३२॥

इति चतुर्थः सर्गः॥

तदनन्तर धनुष और तलवार धारी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस राक्षस का वध कर और जानकी जी को ले उस महावन में प्रसन्न हो उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार आकाश में चन्द्र और सूर्य शोभित होते हैं ॥ ३२ ॥

अरण्यकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चमः सर्गः

—※—

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने ।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने उस भयङ्कर राक्षस का वध कर, और सीता जी को गले लगा उनको बहुत कुछ ढाँढस बँधाया ॥ १ ॥

[नोट—सीता जी विराध द्वारा पकड़ी जाने से बहुत दुःखी और लज्जित थीं । अतः श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें बड़े प्यार से समझाया ।]

अब्रवील्लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्म वनगोचराः[1] ॥ २ ॥

और अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से बोले—यह वन बड़ा दुर्गम और कष्टदायी है । हम लोगों ने ऐसा विकट वन इसके पूर्व कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

---

१ वयंचेतः पूर्वं कदापि ईदृशं वनं न दृष्टं । (रा०)

अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम् ।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

इसलिये आओ शीघ्र शरभङ्ग के आश्रम में चलें। यह कह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर चले ॥ ३ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा[1] भावितात्मनः ।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँच कर, उन देवतुल्य प्रभाव वाले और तपस्या द्वारा ब्रह्म का साक्षात् किये हुए, शरभङ्ग के आश्रम में दूर से एक बड़ा चमत्कार देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरोपमम् ।
अवरुह्य रथोत्सङ्गात्सकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥

कि सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशमान, देवराज इन्द्र अपने शरीर की प्रभा से प्रकाशित हो, देवताओं के साथ श्रेष्ठ रथ पर चढ़े हुए हैं ॥ ५ ॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् ।
सुप्रभाभरणं देवं विरजो[2]ऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

श्याम रंग के घोड़ों से युक्त उनका रथ पृथिवी का स्पर्श न कर आकाश में चलता था, उनके सब आभूषण चमक रहे थे और पहिनने के वस्त्र भी उजले थे ॥ ६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरिभि[3]र्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥

---

१ तपसा भावितात्मनः—साक्षात्कृत परब्रह्मणः "तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः । (गो०) २ विरजो—निर्मलं । (गो०) ३ हरिभिः—श्यामैः । (गो०)

ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसन्निभम् ।
पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥ ८ ॥

अपश्यद्विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।
चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥

गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।
गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगतं देवं वाग्भिरग्र्याभिरीडिरे ।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेण वासवे ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दूर से देखा कि, उनके मस्तक पर तरुण सूर्य (मध्यान्ह के सूर्य) के समान अथवा सफेद मेघ के तुल्य अथवा चन्द्रमण्डल के सदृश विमल छत्र, जो चित्र विचित्र मालाओं से सुशोभित था, लगा हुआ है। उनके आगे सोने की डंडी के और मूल्यवान चवर और पंखा लिये हुए दो सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें उनके मस्तक पर डुला रही थीं। बहुत से देव गन्धर्व और सिद्ध और देवर्षिश्रेष्ठ शब्दों से युक्त स्तुति-पाठ करते जाते थे। उस समय इन्द्र शरभङ्ग जी से कुछ वार्त्तालाप कर रहे थे ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य लक्ष्मणाय प्रदर्शयन् ॥ १२ ॥

वहाँ पर इन्द्र को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने, लक्ष्मण का ध्यान उस रथ की ओर आकृष्ट कर, लक्ष्मण से कहा ॥ १२ ॥

अर्चिष्मन्तं[1] श्रिया[2] जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! परम दीप्तमान, कान्तियुक्त, तपते हुए सूर्य की तरह चमकीले इस अद्भुत एवं आकाशचारी रथ को देखो ॥ १३ ॥

ये हयाः पुरुहूतस्य[3] पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥

मैंने पहले अनेक यज्ञ करने वाले इन्द्र के घोड़ों के विषय में सुना था, सो निश्चय ही आकाशचारी श्याम रंग के दिव्य घोड़े वे ही हैं ॥ १४ ॥

इमे च पुरुषव्याघ्रा ये तिष्ठन्त्यभितो रथम् ।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥ १५ ॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ १६ ॥
उरोदेशेषु सर्वेषां हारः ज्वलनसन्निभाः ।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस रथ के चारों ओर जो सैकड़ों युवा पुरुष कानों में कुण्डल पहिने कमर में तलवार बाँधे विशाल वक्षःस्थल और विशाल भुजा वाले, लाल पोशाक पहिने हुए, व्याघ्र के समान दुर्द्धर्ष और गले में अग्नि तुल्य हार पहिने हुए हैं, सब के सब पच्चीस वर्ष की उमर के जान पड़ते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ अर्चिष्मन्तं—सतेजस्कं । (गो०) २ श्रिया—कान्त्या । (गो०) ३ पुरुहूतस्ययज्वभिर्बहुशो । (गो०)

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह ! देवताओं की उम्र और सौन्दर्य निश्चय ही सदा ऐसा ही बना रहता है, जैसे कि ये अब देख पड़ते हैं ॥ १८ ॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान्रथे ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं जाकर यह जान लूँ कि, यह बैठा हुआ द्युतिमान पुरुष कौन है, तब तक तुम मुहूर्त भर सीता जी के साथ यहीं खड़े रहो ॥ १९ ॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति ।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी से यह कह कि, तुम यहीं खड़े रहो, श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर बढ़े ॥ २० ॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।
शरभङ्गमनुप्राप्य विविक्त इदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

शचीपति इन्द्र ने श्रीराम को आते देख, शरभङ्ग से बिदा मांगी और देवताओं से गुप्त रीति से यह बोले ॥ २१ ॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते ।
निष्ठां नयतु तावत्तु ततो मां द्रष्टुमर्हति ॥ २२ ॥

देखो श्रीरामचन्द्र इधर ही चले आ रहे हैं । सो उनको मुझसे बातचीत करने का अवसर न दे कर उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही, यहां से हमें अन्यत्र ले चलो, जिससे वे हमें देख भी न पावें ॥ २२ ॥

जितवन्तं कृतार्थं च द्रष्टाऽहमचिरादिमम् ।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम् ॥ २३ ॥
निष्पादयित्वा तत्कर्म ततो मां द्रष्टुमर्हति ।
इति वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम् ॥ २४ ॥
रथेन हरियुक्तेन ययौ दिवमरिन्दमः ।
प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदम् ॥ २५ ॥

अभी इनको ऐसा बड़ा दुष्कर कार्य करना है, जो दूसरों से हो ही नहीं सकता । जब यह थोड़े दिनों बाद राक्षसों को जीत कर कृतकार्य होगें, तब मैं इनके दर्शन करूँगा । उस कार्य को कर चुकने पर ही यह मुझे देख सकेंगे । तदनन्तर इन्द्र महर्षि शरभङ्ग से बिदा माँग और उनका विशेष सन्मान कर, घोड़े जुते हुए रथ में बैठ स्वर्ग को चले गये । इन्द्र के जाने के बाद, श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण सहित ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागतम् ।
तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः ॥ २६ ॥

अग्निहोत्र में बैठे हुए शरभङ्ग जी के पास गये और श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण ने उनके चरण छुए ॥ २६ ॥

निषेदुः समनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ।
ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत्स राघवः ॥ २७ ॥

शरभङ्ग ने उनके टिकने के लिये स्थान बतलाया और भोजन के लिये निमंत्रण दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वहां इन्द्र के आने का कारण पूछा ॥ २७ ॥

शरभङ्गश्च तत्सर्वं राघवाय न्यवेदयत् ।
मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति ॥ २८ ॥

शरभङ्ग ने सब वृत्तान्त कह सुनाया । (शरभङ्ग ने कहा) हे राम ! यह वरदाता इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिये आये थे ॥ २८ ॥

जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः[1] ।
अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः ॥ २९ ॥

मैंने तप द्वारा वह लोक प्राप्त करने का अधिकार सम्पादन कर लिया, जिसे भगवद्-उपासना किये विना पाना कठिन है । हे पुरुष-सिंह ! यह विचार कर कि, आप समीप आ पहुँचे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ।
त्वयाऽहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना ॥ ३० ॥
समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं देवसेवितम् ।
अक्षया नरशार्दूल मया लोका जिताः शुभाः ॥ ३१ ॥

अतः आप सरीखे प्रिय अतिथि के दर्शन किये विना, मुझे ब्रह्मलोक में जाना अभीष्ट नहीं । हे पुरुषसिंह ! अब आप जैसे धर्मनिष्ठ और महात्मा से मिल भेंट कर मैं स्वर्ग या ब्रह्मलोक को चला जाऊँगा । हे नरशार्दूल ! मैंने तपःप्रभाव से जिन अक्षय्य और रम्य लोकों का अधिकार प्राप्त कर रखा है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ३२ ॥

---

१ अकृतात्मभिः – अननुष्ठितभगवदुपासनैः । (रा०)

ऋषिणा शरभङ्गेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
अहमेवाहरिष्यामि सर्वलोकान्महामुने ॥ ३३ ॥

सो उन ब्रह्मलोक, और स्वर्ग की प्राप्त के साधन रूप तपःफल को, मैं आपको समर्पित करता हूँ। आप ग्रहण करें। महर्षि शरभङ्ग जी के ऐसा कहने पर सब शास्त्रों के जानने वाले पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग ऋषि से बोले—हे महामुने! मैं स्वयं ही उन सब लोकों को प्राप्त करूँगा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह काननेे ।
राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै ॥ ३४ ॥

मैं इस वन में रहना चाहता हूँ। आप मुझे रहने के लिये स्थान बतलाइये। इन्द्र के समान बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार कहा ॥ ३४ ॥

शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः ॥ ३५ ॥
वसत्यरण्ये धर्मात्मा स ते श्रेयो विधास्यति ।
सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम् ॥ ३६ ॥

तब महाप्राज्ञ शरभङ्ग जी फिर बोले। हे राम! इस वन में महातेजस्वी और धर्मात्मा सुतीक्ष्ण नामक एक ऋषि रहते हैं। वे धर्मात्मा ही आपका कल्याण करेंगे। आप उनके पवित्र आश्रम में जाइये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ।
इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्रोतामनुव्रज ॥ ३७ ॥

वे आपको रहने के लिये कोई रम्य स्थान इस वनप्रान्त में बतला देगें। उनके आश्रम में पहुँचने के लिये हे राम! आप इस मन्दाकिनी के वहाव को धर उसके किनारे किनारे चले जांय ॥ ३७ ॥

नदीं पुष्पोडुपवहां तत्र तत्र गमिष्यसि ।
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम् ॥ ३८ ॥

हे तात! देखो, इस नदी में अनेक बड़े बड़े फूल छोटी छोटी नावों की तरह बहते देख पड़ते हैं। इनको देखते हुए आप चलें जांय। मैंने आपको रास्ता बता दिया, किन्तु दो घड़ी मेरी ओर आप देखते रहें या दर्शन दें ॥ ३८ ॥

यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ।
ततोग्निं समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवित् ॥ ३९ ॥
शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ।
तस्य रोमाणि केशांश्च ददाहाग्निर्महात्मनः ॥ ४० ॥
जीर्णां त्वचं तथास्थीनि यच्च मांसं सशोणितम् ।
रामस्तु विस्मितो भ्रात्रा भार्यया च सहात्मवान् ॥४१॥

हे तात! सर्प जिस प्रकार पुरानी केंचली छोड़ता है, उसी प्रकार मैं भी इस समय यह पुरानी देह छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा कह मंत्रवेत्ता शरभङ्ग मुनि अग्नि को स्थापन कर और उसमें घी की आहुति दे, अग्नि में कूद पड़े। उस समय अग्नि ने उन महात्मा के रोम, केश, जीर्णत्वचा, हड्डियाँ, और रुधिर सहित मांस को भस्म कर डाला। भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यह देख विस्मय हुआ कि, ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

स च पावकसङ्काशः कुमारः समपद्यत ।
उत्थायाग्निचयात्तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत ॥ ४२ ॥

उस अग्नि में से शरभङ्ग जी अग्नि तुल्य कान्तिमान् एक कुमार का रूप धारण कर निकले और शोभायमान हुए ॥ ४२ ॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम् ।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥ ४३ ॥

तदनन्तर शरभङ्ग जी अग्निहोत्रियों, ऋषियों, महात्माओं और देवताओं के लोकों को छोड़ते हुए, ब्रह्मलोक में जा पहुँचे ॥ ४३ ॥

स पुण्यकर्मा भवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह ।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥ ४४ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

पुण्यात्मा, ब्राह्मणश्रेष्ठ शरभङ्ग जी ने ब्रह्मलोक में जा, अनुचरों से घिरे हुए पितामह ब्रह्मा जी के दर्शन किये । ब्रह्मा जी भी शरभङ्ग को देख आनन्दित हुए और उनसे स्वागतवचन बोले ॥ ४४ ॥

अरण्यकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

शरभङ्गे दिवं याते मुनिसङ्घाः समागताः ।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥

शरभङ्ग जी जब ब्रह्मलोक को चले गये, तब दण्डकवन में रहने वाले मुनिगण एकत्र हो तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ १ ॥

[नोट --इन मुनियों का विवरण आगे के चार श्लोकों में दिया है। जो मुनि उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पास आये, वे कैसे कैसे साधक थे यह बात इस विवरण के देखने से अवगत होती है।]

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च धार्मिकाः ॥ २ ॥
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे ।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवाभ्रावकाशकाः[1] ॥ ३ ॥
मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥
व्रतोपवासिनो दान्तास्तथार्द्रपटवाससः ।
सजपाश्च तपोनित्यास्तथा पञ्चतपोन्विताः ॥ ५ ॥

आये हुए मुनियों में वैखानस (ब्रह्म के नख से उत्पन्न) वालखिल्य (ब्रह्म के रोम से उत्पन्न), सम्प्रक्षाल (ब्रह्म के पैर के धोवन के

---

१ अभ्रावकाशकाः—वर्षवातातपादिष्वप्यनावृतदेश एव वर्तमानाः । (गो०)

जल से उत्पन्न), मरीचिष (सूर्य व चन्द्र की किरणों को पी कर रहने वाले), अश्मकूट (कच्चे अन्न को पत्थर से कूट कर खाने वाले), पत्राहार (वृक्षों के पत्तों को खाने वाले), दन्तोलूखली (कच्चे अन्न को दांतों से कुचल कर खाने वाले), उन्मज्जका (कण्ठ भर जल में खड़े हो तपस्या करने वाले), गात्रशय्या (बिछौना बिछाये विना ही ज़मीन पर सोने वाले), अशय्य (जो कभी सोते ही न थे), अभ्रावकाशक (वर्षा गर्मी जाड़े की ऋतुओं में खुले मैदान में रहने वाले), सलिलाहारी (पानी पी कर रहने वाले), वायुभक्षी (केवल हवा पी कर रहने वाले), आकाशनिलय (जो विना छाये स्थानों में रहते थे), स्थण्डलशायी (लीपी हुई पवित्र भूमि पर सोने वाले), व्रतोपवासी, इन्द्रियों को जीतने वाले, गीले वस्त्र सदा धारण करने वाले, सदा जप करने वाले, सदा तप करने वाले तथा पञ्चाग्नि तापने वाले ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

सर्वे ब्राह्म्या[1] श्रिया जुष्टा दृढयोगाः समाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥

ये सब के सब ऋषि मुनि ब्रह्मवर्चस से युक्त थे, और योगाभ्यास में दृढ़ और सावधान रहने वाले थे । ये सब तपस्वी शरभङ्ग के आश्रम में श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ ६ ॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समाहिताः ॥ ७ ॥

इस प्रकार के परम धर्मात्मा ऋषि मुनि सब वहाँ जा कर धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से सावधानता पूर्वक बोले ॥ ७ ॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथ ।
प्रधानश्चासि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥

---

१ ब्राह्म्याश्रिया—ब्रह्मविद्यानुष्ठानजनित ब्रह्मवर्चसेन । (गो०)

हे राम ! आप इक्ष्वाकु-वंश में प्रधान, पृथिवीनाथ, और महारथी हैं। यही नहीं किन्तु जिस प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उसी प्रकार आप भी मुख्य लोगों के नाथ हैं। अर्थात् आप राजाओं के राजा अर्थात् स्वामी होने के कारण महाराज हैं ॥ ८ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च।
पितृभक्तिश्च सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥

आपका यश और पराक्रम तीनों लोकों में (भूर्भुवः स्वः लोकों में) प्रसिद्ध है। आप पूर्ण पितृभक्त, सत्यवादी और साङ्गोपाङ्ग धर्म का पालन करने वाले हैं ॥ ९ ॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम्।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

आप जैसे महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल को पा कर, हम लोग याचक बन कर, जो कुछ आपसे कहना चाहते हैं, उसके लिये आप हमें क्षमा करें ॥ १० ॥

अधर्मस्तु महांस्तात भवेत्तस्य महीपतेः।
यो हरेद्बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

हे तात ! वह राजा बड़ा अधर्मी है, जो प्रजा से पैदावारी का छठवाँ हिस्सा राजकर में उगाह कर भी, प्रजा का पुत्रवत् पालन नहीं करता ॥ ११ ॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान्प्राणैरिष्टान्सुतानिव।
नित्ययुक्तः[1] सदा रक्षन्सर्वान्विषयवासिनः ॥ १२ ॥

---

१ नित्ययुक्तः—सदासावधानः। (रा०)

और जो राजा सदा यत्नवान और सावधान रह कर, अपने राज्य की प्रजा की अपने प्राणों के समान रक्षा करता है ॥ १२ ॥

प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्त्तिं स बहुवार्षिकीम् ।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

वह राजा, इस लोक में बहुवर्षव्यापिनी स्थायी कीर्ति प्राप्त कर, अन्त में ब्रह्मलोक में जा, विशेष सन्मान का पात्र होता है ॥१३॥

यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः ।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को, कन्दमूल फल खा कर, तप द्वारा ऋषि जो पुण्यफल सञ्चय करते हैं, उसका चौथा भाग मिलता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान् ।
त्वन्नाथोऽनाथवद्राम राक्षसैर्वाध्यते भृशम् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! यह वानप्रस्थ लोग, जिनमें ब्राह्मण अधिक हैं, तुम जैसे रक्षक के रहते भी अनाथ की तरह राक्षसों द्वारा मारे जाते हैं ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा[1] वने ॥ १६ ॥

हे राम ! आप इधर आइये और उन बहुत से आत्मदर्शी मुनियों के मृत शरीरों को देखिये जिनको घोर राक्षसों ने भालों की नोकों से छेदकर, तलवारों से काट कर मार डाला है ॥ १६ ॥

---

१ बहुधा—छेदनभेदनभक्षणादिभिः । (गो०)

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं[1] महत् ॥ १७ ॥

पम्पानदी के तटवर्ती तथा मन्दाकिनी के तट पर रहने वाले और चित्रकूटवासी ऋषि ही बहुत मारे जाते हैं ॥ १७ ॥

एवं वयं न मृष्यामो[2] विप्रकारं[3] तपस्विनाम् ।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥ १८ ॥

हमसे, इन तपस्वियों के ये कष्ट, जो उन्हें इस वन में, भयङ्कर राक्षसों द्वारा मिला करते हैं, सहन नहीं होते। अथवा इस वन में भयङ्कर राक्षस तपस्वियों को जो दुःख दिया करते हैं, वे हमसे सहे नहीं जाते ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥ १९ ॥

हे राम ! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः हम सब आपके शरण आये हैं। आप हमको इन राक्षसों से जो हम लोगों को मारा करते हैं, बचाइये ॥ १९ ॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।
परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज २० ॥

हे वीर ! इस पृथिवी पर आपको छोड़, दूसरा कोई हमारी रक्षा करने वाला, हमें नहीं देख पड़ता । अतः हे राजकुमार ! आप हमारी इन राक्षसों से रक्षा करें ॥ २० ॥

---

१ कदन हिंसा । (गो०) २ नमृष्यामः—सोढुमशक्ताः । (रा०)
३ विप्रकारं—दुखं । (रा०)

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां[1] तपस्विनाम्[2] ।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उन महातपा तपस्वियों के वचन सुन, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने उन सब तपस्वियों से उत्तर में यह कहा ॥ २१ ॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञप्तोऽहं तपस्विनाम् ।
केवलेनात्मकार्येण प्रवेष्टव्यं मया वनम् ॥ २२ ॥

आप लोगों का मुझसे प्रार्थना करना ठीक नहीं। क्योंकि मैं तो तपस्वियों का आज्ञाकारी हूँ। मुझको केवल अपने कार्य के लिये इस वन में आया हुआ जानिये, अथवा आप मुझे अपना कार्य कराने को, जिस वन में चाहिये भेज दीजिये ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाकृष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

मैं तो आप लोगों के कष्ट को, जो आप लोगों को राक्षसों से मिलता है, दूर करने, तथा पिता की आज्ञा का पालन करने ही को इस वन में आया हूँ ॥ २३ ॥

[नोट—"प्रविष्टोऽहमिदं वनम्" का तात्पर्य यही है कि, यदि मुझे केवल पिता की आज्ञानुसार वनवास ही करना होता तो मैं यहाँ न आ कर दूसरे किसी वन में जा सकता था; किन्तु मुझे तो पिता की आज्ञा का पालन और आपके कष्टों को दूर करना था। इसी लिये मैं इस वन में आया हूँ।]

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया ।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

---

१ तापसानां—मुनीनां। (गो०) २ तपस्विनां—प्रशस्ततपसां। (गो०)

आप लोगों के काम के लिये ही मैं इच्छापूर्वक यहाँ आया हूँ। अतः मेरा इस वन में रहना बड़ा लाभदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्विनां रणे शत्रून्हन्तुमिच्छामि राक्षसान् ।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥ २५ ॥

मैं तपस्वियों के शत्रु राक्षसों का युद्धक्षेत्र में वध करना चाहता हूँ। तपोधन ऋषिगण मेरे और मेरे भाई के पराक्रम को देखें ॥२५॥

दत्त्वाऽभयं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन ।
तपोधनैश्चापि सभाज्यवृत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः ॥ २६ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

धर्मधुरन्धर वीर श्रीरामचन्द्र तपस्वियों को अभय कर, और उनसे पूजित हुए। तदनन्तर लक्ष्मण, सीता, तथा उन ऋषियों को अपने साथ ले, वे सुतीक्ष्ण जी के आश्रम की ओर चले ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तमः सर्गः

—※—

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परन्तपः ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः ॥ १ ॥

परन्तप श्रीरामचन्द्र जी, उन मुनियों को अपने साथ लिये हुए, सीता और लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर गये ॥ १ ॥

स गत्वाऽदूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
ददर्श विपुलं शैलं[1] महामेघमि[2]वोन्नतम् ॥ २ ॥

शरभङ्ग ऋषि के आश्रम से बहुत दूर आगे जा, और मार्ग में अनेक गहरी नदियों को पार कर, बड़े चौड़े और एक बड़े बादल की तरह श्यामरंग के, पार्वत्यवन प्रदेश में, वे जा पहुँचे ॥ २ ॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सन्ततं विविधैर्द्रुमैः ।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ ॥ ३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंश सम्भूत श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, सीता जी सहित, उस वन में पहुँचे, जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम् ।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्[3] ॥ ४ ॥

उस वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी ने, अनेक फलफूल वाले वृक्षों के बीच बना हुआ, एकान्त स्थल में एक आश्रम देखा, जो चारों ओर पुष्पमालाओं से भूषित था ॥ ४ ॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजटाधरम् ।
रामः सुतीक्ष्णं विधिव[4]त्तपोवृद्धमभाषत ॥ ५ ॥

---

१ शैलं—शै॰ मम्बन्धिवनं । (गो॰) २ महामेघमिवेति —श्यामकाया-मुपमा । (गो॰) ३ परिष्कृतं—अलंकृतं । (गो॰) ४ विधिवत्— क्रमवत् । (गो॰)

वहां पर धूलधूसरित शरीर और जटाधारी अथवा धूल-धूसरित जटाधारी और तपस्या में लीन, तपोवृद्ध सुतीक्ष्ण को देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे क्रमशः यह बोले ॥ ५ ॥

रामोऽहमस्मि भगवन्भवन्तं द्रष्टुमागतः ।
त्वं माऽभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम[1] ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! मेरा नाम श्रीरामचन्द्र है । मैं यहाँ आपके दर्शन करने आया हूँ । अतएव हे धर्मज्ञ ! हे अमोघ-तपः-प्रभाव-शालिन महर्षे ! आप मुझसे बोलिये ॥ ६ ॥

स निरीक्ष्य ततो वीरं रामं धर्मभृतां वरम् ।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब सुतीक्ष्ण जी ने धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखा और दोनों भुजाओं से श्रीरामचन्द्र जी को अपने हृदय से लगा लिया । तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ७ ॥

स्वागतं खलु ते वीर राम धर्मभृतां वर ।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

हे धार्मिकश्रेष्ठ ! हे वीर श्रीराम ! आप भले आये । आपके यहाँ पधारने से यह आश्रम इस समय सनाथ की तरह दिखलाई पड़ता है ॥ ८ ॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः ।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ९ ॥

हे महायशस्विन् ! मैं आपही के दर्शन की प्रतीक्षा में, इतने दिनों तक इस लोक में रहा और इस शरीर को त्याग देवलोक

---

१ सत्यविक्रमः—अमोघतपःप्रभाव । (गो०)

को नहीं गया। अथवा आपही के दर्शन की अभिलाषा से मैं इस संसार में अभी तक हूँ और परलोक जाने के लिये मैंने शरीर नहीं त्यागा ॥ ९ ॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः ।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥ १० ॥

मैंने यह सुना था कि, आप राज्य त्याग कर चित्रकूट में वास करते हैं। हे काकुत्स्थ ! यहाँ देवराज इन्द्र आये थे ॥ १० ॥

[क्यों आये थे सो बतलाते हैं कि,]

उपागम्य च मां देवो महादेवः सुरेश्वरः ।
सर्वांल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा ॥ ११ ॥

महादेव सुरेश्वर इन्द्र ने आ कर मुझसे कहा कि, तुम अपने पुण्यफल के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत चुके, (अर्थात् समस्त लोकों में जाने के अधिकारी हो चुके) ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया ।
मत्प्रसादात्सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

सो हे राम ! मेरे तपोबल से जीते हुए उन लोकों में, जहाँ देवर्षियों का वास है, मेरे अनुग्रह से आप सीता और लक्ष्मण सहित, विहार कीजिये ॥ १२ ॥

[नोट—सुतीक्ष्णजी, अपने तप का फल, जैसा कि अनन्य भगवद्भक्त किया करते हैं, भगवान् को समर्पण करते हैं।]

तमुग्रतपसा युक्तं महर्षिं सत्यवादिनम् ॥
प्रत्युवाचात्मवान्रामो ब्रह्माणमिव काश्यपः ॥ १३ ॥

यह सुन आत्मवान् श्रीरामचन्द्र जी, सत्यवादी और उग्र तपस्या करने वाले महर्षि सुतीक्ष्ण से उसी प्रकार बोले, जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्मा जी से बोलते हैं ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान्महामुने ।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

हे महामुने ! मैं स्वयं ही इन लोकों का सम्पादन कर लूँगा । मैं इस वन में रहना चाहता हूँ, सो आप मुझे कोई स्थान बतला दें ॥ १४ ॥

भवान्सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।
आख्यातः शरभङ्गेण गौतमेन महात्मना ॥ १५ ॥

क्योंकि गौतम कुलोद्भव महात्मा शरभङ्ग ने मुझसे यह कहा है कि, आप इस वन के सब स्थानों के जानकार और परोपकारी हैं ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महताऽऽप्लुतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन लोकविश्रुत महर्षि सुतीक्ष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो, यह मधुर वचन बोले ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान्रम्यतामिह ।
ऋषिसङ्घानुचरितः सदा मूलफलान्वितः ॥ १७ ॥

हे राम ! आप इसी आश्रम में रहिये । क्योंकि इस आश्रम में सब प्रकार की सुविधाएँ हैं । यहाँ ऋषि लोग रहते हैं, और फल और कन्दमूल फल भी सदा मिला करते हैं ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसङ्घा महायशः ।
अटित्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वा[1]कुतोभयाः ॥ १८ ॥

किन्तु इस आश्रम में वन्यपशुओं के झुण्ड के झुण्ड आया करते हैं और घूमघाम कर तथा अपने शरीर की सुन्दरता से आश्रमवासियों का मन लुभा कर लौट जाते हैं और किसी से नहीं डरते ॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं धीरो विकृष्य सशरं धनुः ।
तानहं सुमहाभाग मृगसङ्घान्समागतान् ॥ २० ॥
हन्यां निशितधारेण शरेणाशनिवर्चसा ॥
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात्कृच्छ्रतरं ततः ॥ २१ ॥

अतः आप जान लें कि, यहाँ पर जंगली जानवरों के उपद्रव को छोड़ और किसी बात का खटका नहीं है । महर्षि के ऐसे वचन सुन, धीर श्रीरामचन्द्र जी ने तीर कमान हाथ में ले, यह वचन कहे—हे महाभाग ! मैं यहाँ आने वाले वन्यपशुओं को पैने धारवाले बाणों से मारूँगा । परन्तु इससे आपका मन दुःखी होगा, और आपका मन दुःखी होने से मुझे बड़ा कष्ट होगा ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये ।
तमेवमुक्त्वा वरदं रामः सन्ध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

अतः मैं इस आश्रम में बहुत दिनों तक रहना उचित नहीं समझता । यह कह श्रीरामचन्द्र जी सन्ध्या करने चले गये ॥ २२ ॥

---

१ लोभयित्वा—समाधिभङ्गं जनयित्वा विचित्रतरवेषैरितिशेषः । (गो०)

अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां तत्र वासमकल्पयत् ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

तदनन्तर सायंसन्ध्योपासन कर, श्रीरामचन्द्र जी सुतीक्ष्ण के रमणीक आश्रम में सीता लक्ष्मण सहित बसे ॥ २३ ॥

ततः शुभं[1] तापसभोज्य[2]मन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम् ।
ताभ्यां सुसत्कृत्य[3] ददौ महात्मा
सन्ध्यानिवृत्तौ रजनीमवेक्ष्य[4] ॥ २४ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र सायंसन्ध्योपासन कर चुके तब महात्मा सुतीक्ष्ण जी ने दोनों राजकुमारों का अर्घ्यपाद्यादि से अच्छी तरह पूजन कर उनको रात में खाने योग्य पवित्र फल मूल तथा अन्नादि स्वयं ला कर दिये ॥ २४ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार का मत है कि, सीता जी ने ("रामभुक्त शेषं") राम जी की पत्तल में बचा हुआ अन्न खाया था । अतः इस श्लोक में सीता जी का नाम नहीं है ।]

अरण्यकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ शुभं—भक्तयुपनीतत्वेन पावनं । (गो०) २ तापसभोज्यं—फलमूलादि । (गो०) ३ सुसत्कृत्य—अर्घ्यपाद्यादिना सम्पूज्य । (गो०) ४ रजनीमवेक्ष्य—रजनीभक्ष्यानुसारं । (गो०)

अष्टमः सर्गः

—:*:—

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः ।
परिणाम्य[1] निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥

सुतीक्ष्ण द्वारा भली प्रकार सत्कारित हो, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह रात उसी आश्रम में बितायी और सबेरा होते ही जागे ॥ १ ॥

उत्थाय तु यथाकालं राघवः सह सीतया ।
उपास्पृश[2]त्सुशीतेन जलेनोत्पलगन्धिना ॥ २ ॥

तदनन्तर सीता सहित यथा समय बिस्तरे से उठ, श्रीरामचन्द्र जी ने कमलों की सुवास से युक्त शीतल जल से स्नान किये ॥ २ ॥

[नोट—कमल पुष्प की गन्ध से युक्त जल, तालाब ही का हो सकता है, अतः इससे जान पड़ता है कि, श्रीराम जी ने तालाब में स्नान किये थे ।]

अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव[3] वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और वैदेही ने उस तपोवन में विधिवत् और यथासमय हवन कर परिवार सहित नारायण का पूजन किया ॥ ३ ॥

[नोट—नारायण के परिवार में लक्ष्मी, विश्वकसेन, गरुड़ादि हैं ।]

---

१ परिणाम्य—अतिवाह्य । (गो०) २ उपास्पृशत्—स्नातवान् । (गो०) ३ सुरान्—नारायणं । सहपत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् इत्ययोध्याकाण्डोक्तेः । परिवारापेक्षया बहुवचनं । (गो०)

उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः ।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ४ ॥

जब सूर्योदय हुआ, तब वे पुण्यात्मा दोनों राजकुमार, सुतीक्ष्ण के पास जा, विनीत मनोहर वचन बोले ॥ ४ ॥

[नोट—इससे यह जान पड़ता है कि, सूर्योदय होने के पूर्व ही श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, हवन इत्यादि धर्मानुष्ठान कर चुके थे। कात्यायन सूत्रानुसार इससे अनुदित होम करने का पक्ष समर्थन होता है। 'अनुदित होम" से अभिप्राय है सूर्य उदय न हो तभी होम करना।]

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः ।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः ॥ ५ ॥

हे भगवन्! आपने पूज्य हो कर भी हमारा भली भाँति सत्कार किया। हम आपके आश्रम में बड़े सुख से रहे। अब हम आपसे जाने के लिये अनुमति माँगते हैं, क्योंकि हमारे साथी मुनि चलने के लिये जल्दी मचा रहे हैं ॥ ५ ॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं सर्वमाश्रममण्डलम् ।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥

दण्डकवनवासी समस्त पुण्यशील ऋषियों के आश्रमों को हम शीघ्र देखना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥ ७ ॥

अब हमारी यह इच्छा है कि, यदि आप आज्ञा दें तो प्रज्ज्वलित अग्निशिखा की तरह तेजस्वी सदा धर्म में तत्पर और तपोनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय इन मुनिपुङ्गवों के साथ हम चले जाँय ॥ ७ ॥

अविषह्यातपो यावत्सूर्यो नातिविराजते ।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः ॥ ८ ॥
तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः ।
ववन्दे सह सौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार साधु-समागम-वर्जित एवं अन्याय से उपार्जित ऐश्वर्य वाले लोगों का ऐश्वर्यवान् होना असह्य हो जाता है उसी प्रकार, जब तक सूर्य की घाम असह्य न हो, (अर्थात् धूप में तेज़ी न आवे) तब तक ही हम रास्ता चलना चाहते हैं । (अर्थात् ठंडे ठंडे में हम मंज़िल तै करना चाहते हैं) यह कह तीनों ने मुनि को प्रणाम किया ॥ ८ ॥ ९ ॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुङ्गवः ।
गाढमालिङ्ग्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

मुनिश्रेष्ठ सुतीक्ष्ण जी ने प्रणाम करते हुए उन दोनों राजकुमारों को उठा कर अपने हृदय से लगाया और उनसे स्नेहपूरित ये वचन कहे ॥ १० ॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह ।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आप लक्ष्मण, और छाया की तरह पीछे पीछे चलने वाली सीता जी सहित, मङ्गल पूर्वक यात्रा कीजिये ॥ ११ ॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम् ।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

---

१ अन्वयवर्जितः—साधुसमागमवर्जितोदुष्प्रभुरिव । (गो०)

हे वीर ! योग में जिनके मन संलग्न हैं, ऐसे दण्डकवनवासी इन सब ऋषि मुनियों के रमणीय आश्रमों को आप देख कर कृतार्थ कर आइये ॥ १२ ॥

पुष्पमूलफलैर्युक्तानि पुष्पितैर्वनानि च ।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥ १३ ॥
फुल्लपङ्कजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च ।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च ॥ १४ ॥

विविध प्रकार के बहुत कन्दमूल फलों से युक्त फूले हुए वृक्षों से परिपूर्ण उन वनों में जिनमें श्रेष्ठ वन्य पशु और शान्त पक्षी रहते हैं, और जहाँ स्वच्छ जल वाले ऐसे ताल हैं कि, जिनमें कमल फूल रहे हैं और जिनमें कारण्डवादि जलपक्षी किलोलें किया करते हैं आप देख आइये ॥ १३ ॥ १४ ॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च ।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च १५ ॥

इनके अतिरिक्त जो देखने में अत्यन्त सुन्दर हैं ऐसे पहाड़ी झरने तथा बोलते हुए मोरों से भरे हुए वन भी आप देख आइये ॥ १५ ॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु ।
आगन्तव्यं त्वया तात पुनरेवाश्रमं मम ॥ १६ ॥

हे वत्स राम ! जाइये । हे लक्ष्मण ! आप भी जाइये । किन्तु हे तात ! इन सब आश्रमों को देख, फिर भी आप मेरे इस आश्रम में आइये ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १७ ॥

जब सुतीक्ष्ण ने यह कहा तथा उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी "बहुत अच्छा" कह कर, लक्ष्मण सहित मुनि की परिक्रमा कर जाने के लिये उद्यत हुए ॥ १७ ॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा ।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः ॥ १८ ॥

तदन्तर विशाल नेत्रवाली जानकी जी ने दोनों भाइयों को श्रेष्ठ तरकस और दो तेज़ धार वालीं और चमकती हुई (अर्थात् साफ़-विमल) तलवारें दीं ॥ १८ ॥

[नोट—जान पड़ता है, राजकुमारों ने सोते समय ये आयुध खोल कर रख दिये थे । चलते समय सीता ने ये उनको फिर दिये ।]

आबध्य च शुभे तूणी चापौ चादाय सस्वनौ ।
निष्क्रान्तौ तदाश्रमात्तस्मात्तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वे दोनों सुन्दर तरकस बाँध लिये और दोनों ने टंकार का शब्द करने वाले दो धनुष लिये और आगे जाने के लिये वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण उस आश्रम से बाहर निकले ॥ १९ ॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
प्रस्थितौ धृतचापौ तौ सीतया सह राघवौ ॥ २० ॥

॥ इति अष्टमः सर्गः ॥

कान्तिवान्, सौन्दर्य युक्त और अपने तेज से प्रकाशित, धनुषों को लिये हुए दोनों दशरथनन्दन, सीता सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम से प्रस्थानित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का आठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

नवमः सर्गः

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।
हृद्यया[1] स्निग्धया[2] वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी, सुतीक्ष्ण से विदा माँग प्रस्थानित हुए, तब सीता जी ने अपने पति श्रीरामचन्द्र से ये युक्तियुक्त और स्नेह पूर्ण वचन कहे ॥ १ ॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।
निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात्कामजादिह ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! आप तो बड़े हैं, किन्तु सूक्ष्म रीत्या विचार करने से जान पड़ेगा कि, आप अधर्म को सञ्चय कर रहे हैं । इस समय आप जिस कामज व्यसन में प्रवृत्त हो रहे हैं, उससे निवृत्त होने ही से आप अधर्म के सञ्चय से बच सकते हैं । अर्थात् आप तपस्वी हैं, तपस्वी होकर भी आप यदि कामज-व्यसन-मृगादि-वध करने में प्रवृत्त होंगे तो आपको ऐसा करना नहीं सोहेगा । क्योंकि तपस्वी को हिंसा आदि करना उचित नहीं । अतः अधर्म को सञ्चित न करने के लिये, जब तक आप तपस्वी के वेष में हैं, शिकार आदि व्यसनों को त्याग दीजिये ॥ २ ॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत ।
मिथ्या वाक्यं परमकं तस्माद्गुरुतरावुभौ ॥ ३ ॥

---

१ हृद्यया—युक्तियुक्तत्वेन, हृदयंगमया । (गो०) २ स्निग्धया—स्नेह-प्रवृत्तया । (गो०)

कामज व्यसन तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् एक तो झूठ बोलना। किन्तु झूठ बोलने से बढ़ कर दो कामज व्यसन और हैं ॥३॥

[नोट—कामज-इच्छा से अथवा जान बूझ कर व्यसन, पाप, दोष।]

परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता[1] ।
मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव ॥ ४ ॥

दूसरा परस्त्रीगमन और तीसरा बिना वैर जीवों की हिंसा। हे राघव ! झूठ तो आप न कभी बोले न आगे ही कभी बोलेंगे ॥४॥

कुतोऽभिलाषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥ ५ ॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित् ।
स्वदारनिरतस्त्वं च नित्यमेव नृपात्मज ॥ ६ ॥

परस्त्रीगमन अथवा परस्त्री की अभिलाषा जो धर्म की नाश करने वाली है, न तो कभी आपको हुई और न आगे ही कभी होने की सम्भावना है। क्योंकि हे राजकुमार ! आप तो स्वदारनिरत अर्थात् अपनी ही स्त्री में अनुराग रखने वाले हैं, अतः इसकी कल्पना भी आपके मन में नहीं उठ सकती ॥ ५ ॥ ६ ॥

धर्मिष्ठः सत्यसन्धश्च पितुर्निर्देशपालकः ।
सत्यसन्ध महाभाग श्रीमल्लक्ष्मणपूर्वज[2] ॥ ७ ॥

फिर आप धर्मात्मा हैं, सत्यसन्ध हैं, पिता की आज्ञा का पालन करने वाले हैं, निरवधिक ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और त्याग में लक्ष्मण से भी बढ़ कर हैं ॥ ७ ॥

---

१ रौद्रता—हिंसकता। (गो०) २ श्रीमान् निरवधिकैश्वर्य। (गा)
३ लक्ष्मणपूर्वज—वैराग्ये लक्ष्मणादप्यधिक। (गो०)

त्वयि सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं धर्तुं जितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! आप में सत्य और धर्म आदि सब शुभ गुण विद्यमान हैं । और ये गुण उसीमें ठहर सकते हैं, जो जितेन्द्रिय होता है । अर्थात् अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता है ॥ ८ ॥

तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन ।
तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम् ॥ ९ ॥
निर्वैरं क्रियते मोहात्तच्च ते समुपस्थितम् ।
प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ १० ॥
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ।
एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम् ॥ ११ ॥
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः ।
ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः ॥ १२ ॥

हे शुभदर्शन ! मैं यह भी भली भाँति जानती हूँ कि, आप अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले हैं । परन्तु तीसरा भयानक दोष अर्थात् मोहवश विना वैर दूसरों का वध करना, आपमें उपस्थित होने वाला है । क्योंकि हे वीर ! तुम दण्डकारण्य वासी ऋषियों की रक्षा के लिये, संग्राम में राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हो और इसको पूरा करने के लिये ही आप इस प्रसिद्ध दण्डक नामक वन में धनुष बाण ले, लक्ष्मण सहित जा रहे हैं । आपको इस प्रकार जाते देख कर, मेरा जी घबड़ाता है ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

त्वद्वृत्तं[1] श्रितयत्नश्च वै भवेन्निःश्रेयसं हितम् ।
न हि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान्प्रति ॥ १२ ॥

जब मैं आपके सत्य प्रतिज्ञापालन, [illegible] आदि गुणों को, जो आपके सौख्य और हित के साधन रूप हैं, सोचती विचारती हूँ, तब मुझे हे वीर ! आपका दण्डकवन में जाना अच्छा नहीं लगता अर्थात् आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और ऐसा करने से आपके सुख और हित की हानि होगी । इन बातों पर विचार कर के मुझे आपका दण्डकवन में प्रवेश करना नहीं रुचता—पसंद नहीं आता ॥ १३ ॥

कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम ।
त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः ॥ १४ ॥

इसका कारण मैं बतलाती हूँ । आप सुनें । आप तीर कमान ले भाई सहित वन में जा रहे हैं ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा वनचरान्सर्वान्क्वचित्कुर्याः शरव्ययम् ।
क्षत्रियाणां च हि धनुर्हुताशस्येन्धनानि च ॥ १५ ॥
समीपतः स्थितं तेजो[2] बलमुच्छ्रयते[3] भृशम् ।
पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्शुचिः ॥ १६ ॥

वहाँ जब आप राक्षसों को देखेंगे, तब उनमें से किसी न किसी पर आप बाण भी अवश्य ही चलायेंगे । क्योंकि जिस प्रकार समीप रखा हुआ ईंधन अग्नि के तेज को बढ़ाता है, उसी प्रकार क्षत्रियों

---

१ त्वद्वृत्तं—सत्यप्रतिज्ञत्वरूपचरित्रं सत्यप्रतिज्ञत्वस्वदारनिरतत्वादिकं । (रा०)
२ तेजोबलं—तेजोरूपंबलं । (गो०) ३ उच्छ्रयते—वर्धयति । (गो०)

का [illegible] धनुष उनके तेज रूपी बल को बहुत बढ़ाता है। पुराने ज़माने में, हे महाबाहो ! सत्यवादी और ईमानदार ॥१५॥१६॥

कश्चिन्निवसति पुण्ये वने रतमृगद्विजे ।
तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः ॥ १७ ॥

कोई ऋषि, मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण किसी पवित्र वन में रहा करते थे। उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये, शचीनाथ इन्द्र ॥ १७ ॥

खड्गपाणिरथच्छद्मरूपं भटरूपधृत् ।
तस्मिंस्तदाश्रमपदे निशितः खड्ग उत्तमः ॥ १८ ॥
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ।
स तच्छस्त्रमुपादाय न्यासरक्षणतत्परः ॥ १९ ॥

हाथ में तलवार ले और रथ में बैठ योद्धा के वेष में (उन तपस्वी) ऋषि के आश्रम में आये। और अपनी वह उत्तम तलवार उस आश्रम में उस तपोनिष्ठ, पवित्राचरणसम्पन्न ऋषि के पास धरोहर की भाँति रख कर चले गये। ऋषि उस तलवार की या उसकी रक्षा करने लगे ॥ १८ ॥ १९ ॥

[न्यास-विधिना—धरोहर के रूप में। धरोहर की परिभाषा धर्मशास्त्र में यह दी हुई है।]

राजचोरादिकभयाद्दायादानां च वञ्चनात् ।
स्थाप्यतेऽन्य गृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः ।]

वने तं विचरत्येव रक्षन्प्रत्ययमात्मनः[1] ।
यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च ॥ २० ॥

---

१ आत्मनः प्रत्ययं—विश्वासस्थापितं वस्तुं । (गो०)

अपने ऊपर विश्वास कर के अपने पास रखी हुई धरोहर की वस्तु—तलवार को वे जहाँ जाते वहाँ लिये रहते थे। यदि उन्हें फलमूल लाने के लिये जाना पड़ता, तो वे, उस तलवार को भी अपने साथ ही लेते जाते थे ॥ २० ॥

न विना याति तं खड्गं [illegible]तत्परः ।
नित्यं शस्त्रं परिवहन्क्रमेण स तपोधनः ॥ २१ ॥

उस धरोहर की रखवाली में तत्पर वे ऋषि विना उस तलवार को लिये कहीं न जाते। उस तलवार को सदा पास रखने से धीरे धीरे उन तपस्वी की ॥ २१ ॥

चकार रौद्रीं[1] त्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ।
ततः स रौद्रे[2]ऽभिरतः प्रमत्तो [illegible][3] ॥ २२ ॥
तस्य शस्त्रस्य [illegible]नरकं मुनिः ।
एवमेतत्पुरा वृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम् ॥ २३ ॥

बुद्धि [illegible] हो गयी और उनका विश्वास तप से हट गया। उस तलवार से वे प्राणियों का वध करने लगे, और मतवाले से हो गये। वे अधर्म से पीड़ित हो, उस शस्त्र को पास रखने के कारण अन्त में नरकगामी हुए। हे राम! शस्त्र को पास रखने से प्राचीन काल में ऐसा हो चुका है ॥ २२ ॥ २३ ॥

अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये ॥ २४ ॥

---

१ रौद्रीं—हिंसापरां । (गो०) २ रौद्रे—हिंसारूपकर्मणि । (गो०)
३ अधर्मकर्शितः—पीडितः । (गो०)

अतः समझदार लोग, अग्नि संयोग की तरह शस्त्र संयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि को साथ रखने से उपद्रव खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार शस्त्र पास रखने से भी उपद्रव खड़े होते हैं) मैं आपको सीख नहीं देती, प्रत्युत स्नेह और सम्मान पुरस्सर आपको इस बात का स्मरण कराती हूँ ॥ २४ ॥

न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ।
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान् ॥ २५ ॥

आप भी सदा धनुष लिये रहते हैं, अतः आप उस ऋषि जैसी बुद्धि अपनी कभी मत करना कि, बिना बैर दण्डकारण्यवासी राक्षसों का वध करने लगें ॥ २५ ॥

अपराधं विदा हन्तुं लोकान्वीर न कामये ।
क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु निरतात्मनाम् ॥ २६ ॥
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ।
क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ॥ २७ ॥

हे वीर ! बिना अपराध किसी का वध करना लोग पसंद नहीं करते। वन में विचरते हुए क्षत्रियों का धनुष धारण करना (निरपराध जीवों की हिंसा करने के लिये नहीं प्रत्युत) दुःखी लोगों की रक्षा करने के लिये है। देखिये तो, कहाँ शस्त्र और कहाँ वन ? कहाँ क्षत्रिय धर्म (अर्थात् नृशंस कर्महिंसा) और कहाँ तपस्या अर्थात् (शान्तकर्म) अर्थात् ये दोनों ही परस्पर विरोधिनी बातें हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।
तदार्य कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ॥ २८ ॥

अतः हम लोगों के लिये देश धर्म, अर्थात् तपोवन का धर्म पूज्य है (अर्थात् तपोवन में रह कर हमें तपोवनोचित धर्म का पालन कर, उसका सम्मान करना चाहिये । क्योंकि शस्त्रों के सेवन से, क्रूर लोगों की तरह बुद्धि बिगड़ जाती है ॥ २८ ॥

पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ।
अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वश्वूश्वशुरयोर्मम ॥ २९ ॥
यदि राज्यं परित्यज्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ।
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ॥ ३० ॥

आप जब लौट कर अयोध्या जाइयेगा, तब पुनः क्षत्रिय धर्म का पालन कर लीजियेगा । यदि आप इस समय राज्य त्यागी होकर मुनियों के आचरण से रहेंगे, तो मेरे सास और ससुर की प्रीति भी आप में बढ़ेगी । इसलिये धर्म से अर्थ का और धर्म ही से सुख की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥ ३० ॥

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः [illegible] प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ॥ ३१ ॥

कहाँ तक कहा जाय, धर्म द्वारा सभी कुछ मिल सकता है । अतः इस जगत में धर्म ही सार है । चतुर लोग अनेक प्रकार के नियमों (चन्द्रायणव्रतादि) से यत्नपूर्वक, शरीर को कष्ट दे धर्म का साधन करते हैं, क्योंकि शारीरिक सुखदायी साधनों से धर्म का लाभ नहीं होता ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।
सर्वं हि विदितं तुभ्यं [illegible] तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

अतः हे सौम्य ! आप इस तपोवन में जब तक रहैं, तब तक सदा विशुद्ध मन से तपस्वियों के योग्य धर्मानुष्ठान करें। आपको तो तीनों लोकों का सब यथार्थ हाल मालूम ही है। (मैं आपको क्या बतला सकती हूँ) ॥ ३२ ॥

स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः ।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद्रोचते तत्कुरु मा चिरेण ॥ ॥ ३३ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

स्त्री-स्वभाव-सुलभ चपलता वश मैंने आपसे ये बातें कहीं हैं। भला आपको धर्मोपदेश कौन दे सकता है। अतः लक्ष्मण जी के साथ इन बातों पर विचार कर, जो उचित समझिये, उसे अविलंब कीजिये ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

दशमः सर्गः

—:*:—

वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया[1] ।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ मैथिलीम् ॥ १ ॥

सीताजी ने पति के प्रेमवश हो जो बातें कहीं, उन्हें सुन, प्रतिज्ञा-पालन रूपी धर्म में रत और निष्ठावान् श्रीरामचन्द्र जी ने सुन, उत्तर में सीता जी से कहा ॥ १ ॥

---

[1] भर्तृभक्तया — भर्तृप्रेमपारवश्येन । (गो०)

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया[1] सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या[2] च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञे ! हे जनकनन्दिनी ! तू ने स्नेहपूर्वक अपने उच्च कुलोद्भवा होने की सूचक जैसी हित की बातें मुझसे कही हैं, वे तुम्हारे कहने के योग्य ही हैं ॥ २ ॥

[अच्छा जब हित की बात है और ठीक है, तो फिर उसके अनुसार श्रीरामचन्द्र क्यों नहीं चले, तब न चलने का कारण दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं ।]

किं तु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

किन्तु अभी तुम कह चुकी हो कि, क्षत्रिय लोग धनुष धारण इस लिये करते हैं कि, (देखो सर्ग ९ का २७ वाँ श्लोक) जिससे किसी दुःखिया का आर्त शब्द न सुन पड़े । अर्थात् कोई बली किसी निर्बल को सताने न पावे ॥ ३ ॥

मां सीते स्वयमागम्य शरण्याः शरणं गताः ।
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

फिर हे सीते ! दण्डकवनवासी वे दुःखी तपस्वी, मुझको सब का रक्षक समझ स्वयं ही मेरे शरण में आये ॥ ४ ॥

वसन्तो धर्मनिरता वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीता राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥

हे भीरु ! देखो ये बेचारे सदैव फल फूल खाते और धर्मानुष्ठान करते हुए, वन में (सब से अलग) रहते हैं । तिस पर भी क्रूर कर्म

---

१ स्निग्धया—अनुरक्तता । (गो०) २ कुलं व्यपदिशन्त्या—स्वमहाकुलीनत्वं प्रख्यापयन्त्या । (गो०)

करने वाले राक्षसों के अत्याचारों के कारण, वे बेचारे सुख से नहीं रहने पाते ॥ ५ ॥

काले काले[1] च निरता नियमैर्विविधैर्वने ।
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ॥ ६ ॥

सदैव विविध (धर्म) नियमों के पालन में निरत, वनवासी इन तपस्वियों को नरमाँस भोजी घोर राक्षस खा डाला करते हैं ॥ ६ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ।
अस्मानभ्यवपद्येति[2] मामूचुर्द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

राक्षसों द्वारा खाये जाने वाले दण्डकवनवासी वे ब्राह्मणोत्तम मेरे अनुग्रह के प्रार्थी हुए हैं ॥ ७ ॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ।
कृत्वा चरणशुश्रूषां[3] वाक्यमेतदुदाहृतम् ॥ ८ ॥
प्रसीदन्तु[4] भवन्तो मे ह्री[5]रेषा हि ममातुला[6] ।
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयै[7]रुपस्थितः[8] ॥ ९ ॥

मैंने उनकी कही हुई बातें सुन और उनकी पादवंदना कर उनसे यह बात कही कि, मेरे अपचार को आप लोग क्षमा करें । मुझे स्वयं इस बात से बड़ी लज्जा है कि, जिन ब्राह्मणों के पास मुझे स्वयं जाना चाहिये था वे मेरे पास उपस्थित हुए हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ काले काले—सर्वकाले । (गो०) २ अभ्यवपद्येतिः—अनुग्रहः । (गो०) ३ चरणशुश्रूषां—पादवन्दनं । (गो०) ४ प्रसीदन्तु—ममपचारक्षमन्तां । (गो०) ५ ह्री—लज्जा । (गो०) ६ अतुलाः—अधिका । (गो०) ७ उपस्थेयैः—अभिगन्तव्यैः । (गो०) ८ उपस्थितः—अभिगतः । (गो०)

किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसन्निधौ ।
सर्वैरेतैः समागम्य वाग्यं समुदाहृता ॥ १० ॥

अब बतलाइये—मैं अब आपकी क्या सेवा करूँ ? हे सीते ! मैंने जब उनसे यह कहा, तब वे सब ब्राह्मण एक साथ यह बोले ॥ १० ॥

राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ।
अर्दिताः स्म दृढं राम भवान्नस्तत्र रक्षतु ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! इस दण्डकवन में बहुत से कामरूपी राक्षस हमें सताया करते हैं, इस समय उनसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

होमकालेषु सम्प्राप्ताः पर्वकालेषु चानघ ।
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १२ ॥

(क्योंकि वे केवल हमें सताते ही नहीं हैं, बल्कि) अग्निहोत्र करते समय और दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के समय, वे मांसभक्षी दुर्धर्ष राक्षस आ कर यज्ञकार्यों में बाधा डालते हैं । या विघ्न करते हैं ॥ १२ ॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ।
गतिं मृगयमाणानां[1] भवान्नः परमा गतिः[2] ॥ १३ ॥

राक्षसों से सताये हुए तपस्या में निरत तपस्वीगण इस आपत्ति से बचने के लिये, रक्षक खोज रहे हैं । सो आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १३ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ।
चिरार्जितं तु नेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम् ॥ १४ ॥

---

१ मृगयमाणानां—अन्वेषवतां । (गो०) २ गतिः त्राता । (रा०)

यद्यपि हम लोग अपने तपोबल से शाप द्वारा उनको नष्ट कर सकते हैं, तथापि बहुत दिनों के इकट्ठे किये हुए तप को हम खण्डित करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव ।
तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ॥ १५ ॥

क्योंकि हम लोगों का तप नित्य अनेक विघ्नों को बचा कर सञ्चित किया हुआ है और दुश्चर है । इस लिये भले ही वे राक्षस हमें मार कर खा जायँ, परन्तु हम उनको शाप नहीं देते ॥ १५ ॥

तदर्द्यमानान्रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ॥ १६ ॥

अतएव राक्षसों से पीड़ित हम दण्डकवनवासियों की, अपने भाई सहित आप रक्षा कीजिये । क्योंकि इस वन में आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १६ ॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कात्स्न्र्येन परिपालनम् ।
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

हे जनकनन्दिनी ! दण्डकवनवासी ऋषियों के ऐसे वचन सुन, मैंने सब प्रकार से रक्षा करने की उनसे प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ।
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ॥ १८ ॥

अब मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को जो मैंने मुनियों से की है जीते जी अन्यथा नहीं कर सकता । क्योंकि सत्य ही सदा से मेरा इष्ट है ॥ १८ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥ १९ ॥

मुझे भले ही अपने प्राण गँवाने पड़ें अथवा लक्ष्मण सहित तुम्हें ही क्यों न त्याग देना पड़े : किन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं त्याग सकता । विशेष कर उस प्रतिज्ञा को जो ब्राह्मणों से कर चुका हूँ ॥ १९ ॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय तु किं पुनः ॥ २० ॥

हे वैदेही ! ऋषियों का पालन तो मुझे अवश्य ही करना चाहिये, चाहें वे कहैं या न कहैं । फिर मैं तो उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा किये हुए हूँ ॥ २० ॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयाऽनघे ।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टो[1]ऽनुशिष्यते ॥ २१ ॥

हे अनघे सीते ! तुमने स्नेह और सौहार्द से जो ये बातें कही हैं, उनसे मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ । क्योंकि अप्रिय पुरुष को उपदेश कोई नहीं करता ॥ २१ ॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २२ ॥

हे सीते ! तुमने मुझसे अपने वंश के योग्य और उचित वचन ही कहे हैं । तुमको ऐसा ही करना उचित भी था क्योंकि तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे तुम प्राणों से भी अधिक प्यारी हो ॥२२॥

---

१ अनिष्टः-अप्रियः पुरुषः । (गो०)

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
रामो धनुष्पाणिरह लक्ष्मणेन ।
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २३ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

धनुष धारण किये हुए महात्मा श्रीरामचन्द्र जी, जनकनन्दिनी प्यारी सीता से इस प्रकार के वचन कह कर, लक्ष्मण सहित उस रमणीय तपोवन में चले गये ॥ २३ ॥

अरण्यकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकादशः सर्गः

—※—

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ १ ॥

आगे आगे श्रीरामचन्द्र, बीच में पतली कटि वाली सीता जी और सीता जी के पीछे हाथ में धनुष लिये लक्ष्मण चले जाते थे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान्वनानि च ।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सीतया सह ॥ २ ॥

उन दोनों ने जानकी सहित जाते समय तरह तरह के पर्वत-शृङ्गों को, वनों को तथा अनेक रम्य नदियों को देखा ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।
सरांसि च सपद्मानि युक्तानि जलजैः खगैः ॥ २ ॥

उन नदियों के तटों पर सारस, चकई और चकवा विचर रहे थे। तालाबों में कमल फूले हुए थे और उनमें जलपक्षी तैर रहे थे ॥ ३ ॥

यूथबद्धांश्च पृषतान्मदोन्मत्तान्विषाणिनः ।
महिषांश्च वराहांश्च नागांश्च द्रुमवैरिणः ॥ ४ ॥

चित्तल हिरन, सींगदार बनैले भैंसे, तथा पेड़ों के शत्रु शूकर और हाथियों के झुण्ड के झुण्ड वन में घूम रहे थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायतम् ॥ ५ ॥

बहुत दूर चल कर, सूर्य डूबने के समय, इन्होंने एक रमणीक झील देखी जो एक योजन लंबी थी ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसंबाधं गजयूथैरलङ्कृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः सङ्कुलं जलचारिभिः ॥ ६ ॥

उस झील में कमल के फूल फूले हुए थे, उसके आस पास हाथियों के झुण्ड के झुण्ड घूम फिर रहे थे और सारस राजहंस कलहंस आदि जलपक्षिगण उसमें कल्लोलें कर रहे थे ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन्सरसि शुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

उस निर्मल और रमणीय जलवाली झील में गाने बजाने का शब्द तो सुनाई पड़ता था ; परन्तु वहाँ गाने बजाने वाला कोई नहीं देख पड़ता था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद्रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
मुनिं धर्मभृतं नाम पप्रच्छुपचक्रमे ॥ ८ ॥

तब महाबलवान् श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने कौतूहलवश धर्मभृत नामक ऋषि से पूछा ॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥ ९ ॥

हे महर्षे ! यहाँ गाने बजाने का यह अद्भुत शब्द सुन, हम लोगों को बड़ा कौतुक हुआ है, यह है क्या ? सो आप ठीक ठीक बतलाइये ॥ ९ ॥

वक्तव्यं यदि चेद्विप्र नातिगुह्यमपि प्रभो ।
तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ॥ १० ॥
प्रभावं सरसः कृत्स्नमाख्यातुमुपचक्रमे ।
इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ॥ ११ ॥

हे प्रभो ! यदि कोई रहस्य की भी बात हो, तो भी कहिये । जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा मुनि तत्क्षण उस सरोवर के प्रभाव का समस्त वर्णन करने लगे । वे बोले- हे रामचन्द्र ! इसका नाम पञ्चाप्सर है और इसमें सदा जल बना रहता है ॥ १० ॥ ११ ॥

निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ।
स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ॥ १२ ॥

इसको माण्डकर्णि नामक मुनि ने अपने तपस्या के प्रभाव से निर्मित किया है । माण्डकर्णि ने बड़ा घोर तप किया था ॥ १२ ॥

दश वर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाश्रयः ।
ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १३ ॥

जब उन्होंने दस हज़ार वर्ष तक वायु पी कर और इस सरोवर में रह कर तपस्या की, तब अग्नि आदि समस्त देवता बहुत घबड़ाये ॥ १३ ॥

अब्रुवन्वचनं सर्वे परस्परसमागतः ।
अस्माकं कस्यचित्स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः ॥ १४ ॥

वे लोग एकत्र हो, आपस में कहने लगे कि, जान पड़ता है ये ऋषि हममें से किसी देवता का पद प्राप्त करने के लिये ही तप कर रहे हैं ॥ १४ ॥

इति संविग्नमनसः सर्वे ते त्रिदिवौकसः ।
तत्र कर्तुं तपोविघ्नं देवैः सर्वैर्नियोजिताः ॥ १५ ॥
प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युत्सदृशवर्चसः ।
अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः[1] ॥ १६ ॥

ऐसा मन में विचार और घबड़ा कर, उन सब देवताओं ने ऋषि के तप में विघ्न डालने के लिये बिजली के समान तेजवाली पाँच प्रधान अप्सराओं को, इस काम के लिये नियुक्त किया । उन अप्सराओं ने, इहलोक और परलोक सम्बन्धी धर्म अधर्म को जानने वाले मुनि को ॥ १५ ॥ १६ ॥

नीतो मदनवश्यत्वं सुराणां कार्यसिद्धये ।
ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः ॥ १७ ॥

---

१ दृष्टपरावरः — दृष्टैहिकपारलौकिकधर्माधर्मः । (रा०)

देवताओं का काम पूरा करने के लिये काम के वश में कर लिया। ऋषि ने उन पांचों अप्सराओं को अपनी स्त्रियां बना लिया ॥ १७ ॥

तटाके निर्मितं तासामस्मिन्नन्तर्हितं गृहम् ।
तथैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ॥ १८ ॥

तब ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इस झील में उनके रहने के लिये एक अदृश्य घर बनाया, जिसमें वे सब पाँचों अप्सराएँ सुख पूर्वक रहने लगीं ॥ १८ ॥

रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम् ।
तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

और तप के प्रभाव से युवा अवस्था को प्राप्त उन ऋषि के साथ वे विहार करने लगीं। ऋषि के साथ विहार करती हुई उन अप्सराओं ही के गाने बजाने का यह शब्द है ॥ १९ ॥

श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः ।
आश्चर्यमिति तस्यैतद्वचनं भावितात्मनः ॥ २० ॥

राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ।
एवं कथयमानस्य ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ २१ ॥

उन्हींके गहनों की झनकार से मिल कर यह मनोहर गाने का शब्द सुन पड़ता है। विशुद्धचित्त धर्मभृत से यह वृत्तान्त सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ और यही बातचीत करते करते उन्होंने एक आश्रममण्डल देखा ॥ २० ॥ २१ ॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या[1] लक्ष्म्या समावृतम् ।
प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ॥ २२ ॥

वे आश्रम कुश और चीर से वेष्टित थे और उनमें तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उस आश्रममण्डल में, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी गये ॥ २२ ॥

उवास मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महायशाः ।
तथा तस्मिन्स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण का वहाँ रहने वाले महर्षियों ने अतिथि-सत्कार किया और श्रीरामचन्द्र जी उसी आश्रम-मण्डल में टिक रहे ॥ २३ ॥

उषित्वा तु सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २४ ॥
येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे स महाव्रतः ।
कचित्परिदशा[2]न्मासानेकं संवत्सरं कचित् ॥ २५ ॥
कचिच्च चतुरो मासान्पञ्चषट् चापरान्क्वचित् ।
अपरत्राधिकं मासादप्यर्धमधिकं क्वचित् ॥ २६ ॥
त्रीन्मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत्सुखम् ।
एवं संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २७ ॥

रात भर सुखपूर्वक वस तथा ऋषियों द्वारा सत्कारित हो, श्रीरामचन्द्र जी बारी बारी से उन सब ऋषियों के आश्रमों में, जिनमें वे पहले हो आये थे, कहीं १४ मास, कहीं एक वर्ष,

---

१ ब्राह्म्या लक्ष्म्या—ब्राह्मण सम्पूर्ण । (गो०) २ परिदशान् —चतुर्दशमासान् ।

कहीं चार मास, कहीं पाँच मास, कहीं एक वर्ष से भी अधिक, कहीं पखवारे से अधिक, कहीं तीन महीने और कहीं साढ़े तीन महीने, कहीं तीन मास, कहीं आठ मास श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक ठहरे ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।
परिवृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २८ ॥

इस प्रकार वन में, धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता सहित बस कर, दस वर्ष बिता दिये ॥ २८ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं श्रीमान्पुनरेवाजगाम ह ।
स तमाश्रममासाद्य मुनिभिः प्रतिपूजितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् श्रीरामचन्द्र जी फिर सुतीक्ष्ण के आश्रम में आये और आश्रम में आने पर आश्रमवासी मुनियों द्वारा उनका सत्कार किया गया ॥ २९ ॥

तत्रापि न्यवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः ।
अथाश्रमस्थो विनयात्कदाचित्तं महामुनिम् ॥ ३० ॥
उपासीनः स काकुत्स्थ सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।
अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३२ ॥

शत्रुओं को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ कुछ दिन रह कर, एक दिन विनय पूर्वक महर्षि सुतीक्ष्ण से यह पूँछा कि, हे भगवन्! इसी वन में कहीं मुनियों में श्रेष्ठ अगस्त्य जी भी रहते हैं; यह बात

मैं नित्य ही मुनियों के मुख से सुना करता हूँ, किन्तु यह वन इतना लंबा चौड़ा है कि, मुझे उनके रहने के स्थान का पता आज तक नहीं चला ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुत्राश्रममिदं पुण्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रश्नादात्रभवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३३ ॥
अगस्त्यमभिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि मे परिवर्तते ॥ ३४ ॥
यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३५ ॥

फिर मुझे यह भी नहीं मालूम हुआ कि, उन धीमान् महर्षि का इस रमणीक वन में आश्रम किस ठौर है. मैं सीता और लक्ष्मण सहित उनको प्रसन्न करने तथा प्रणाम करने के लिये वहाँ जाना चाहता हूँ । मेरे मन में यह एक बड़ा मनोरथ है कि, मैं स्वयं उनकी सेवा शुश्रूषा करूँ । इस प्रकार मुनि जी ने, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।
अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३६ ॥

और उत्तर में सुतीक्ष्ण जी ने प्रसन्न हो कर दशरथनन्दन से कहा । मैं आपसे और लक्ष्मण से यह बात कहने ही को था ॥ ३६ ॥

अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन्स्वयमेव ब्रवीषि माम् ॥ ३७ ॥

बड़े आनन्द की बात है कि, आपने वही बात स्वयं मुझसे कही । आप लक्ष्मण व सीता जी को साथ ले अगस्त्याश्रम में जाइये ॥ ३७ ॥

अहमाख्यामि ते वत्स यत्रागस्त्यो महामुनिः ।
योजनान्याश्रमादस्मात्तथा चत्वारि वै ततः ॥ ३८ ॥
दक्षिणेन महाञ्छीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः ।
स्थलीप्राये वनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ॥ ३९ ॥

हे वत्स ! अब मैं आपको उस स्थान का पता बतलाता हूँ, जहाँ अगस्त्य जी रहते हैं। सुनिये, यहाँ से चार जोजन (१६ कोस) पर, दक्षिण दिशा में अत्यन्त रमणीक अगस्त्य जी के भाई का आश्रम है। इस वन प्रदेश में उस आश्रम की भूमि चौरस है और वहाँ अनेक पीपल के पेड़ों का वन शोभित हो रहा है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाशकुनिनादिते ।
पक्षिण्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाः शिवाः ॥ ४० ॥

वहाँ बहुत से पुष्पों एवं फलों के वृक्ष हैं, और तरह तरह के पक्षी बोला करते हैं। वहाँ स्वच्छ एवं शुद्ध जल से भरे अनेक जलाशय हैं जिनमें अनेक प्रकार के कमलों के फूल फूले हुए हैं ॥ ४० ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः ।
तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम् ॥ ४१ ॥

वे सरोवर हंस, जल कुक्कुट और चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित हैं। वहाँ एक रात ठहर कर, प्रातः काल होते ही आप वहाँ से यात्रा कीजियेगा ॥ ४१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय वनषण्डस्य[1] पार्श्वतः ।
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम् ॥ ४२ ॥

---

१ वनषण्डस्य—वनसमूहस्य । (गो०) २ आस्थाय—उद्दिश्य । (गो०)

वहाँ से वन समूह की बगल से, दक्षिण दिशा की ओर एक योजन (४ कोस) चलने पर आपको अगस्त्य जी का आश्रम मिलेगा ॥ ४२ ॥

रमणीये वनोद्देशे बहुपादपसंवृते ।
रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च सह त्वया ॥ ४३ ॥

वहाँ रमणीय और अनेक वृक्षों से युक्त आश्रम में आप सीता और लक्ष्मण के सहित सुख से वास कीजियेगा ॥ ४३ ॥

स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसङ्कुलः ।
यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ४४ ॥

वह वनस्थली अनेक वृक्षों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त रमणीय है । यदि आप उन महर्षि अगस्त्य जी के दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४४ ॥

अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः ।
इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राऽभिवाद्य च ॥ ४५ ॥

तो हे महायशस्विन् ! आज ही जाने का निश्चय कर लीजिये । सुतीक्ष्ण जी के ये वचन सुन, और भ्राता सहित मुनि को प्रणाम कर, ॥ ४५ ॥

प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुजः सीतया सह ।
पश्यन्वनानि रम्याणि पर्वतांश्चाभ्रसन्निभान् ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, अपने भाई लक्ष्मण और सीता जी को साथ ले, अगस्त्य जी के आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए और रास्ते में उन्होंने अनेक रमणीक वन और मेघ के तुल्य पर्वत देखे ॥ ४६ ॥

सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान्[1] ।
सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ॥ ४७ ॥

सुतीक्ष्ण जी के बतलाये मार्ग को धर, श्रीरामचन्द्र जी अनेक नदियों और सरोवरों को, जो रास्ते में पड़ते थे, देखते हुए, सुखपूर्वक चले जाते थे ॥ ४७ ॥

इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ।
एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ।
यथा हि मे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः ॥ ४९ ॥
सन्नताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ।
पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः ॥ ५० ॥
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ।
तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः ॥ ५१ ॥

चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी ने परमहर्षित हो, लक्ष्मण जी से यह बात कही कि, निश्चय ही महात्मा अगस्त्य के पुण्यात्मा भ्राता का यह आश्रम दिखलाई पड़ता है । क्योंकि, जैसा सुना था, वैसा ही मार्ग से इस वन में आते आते, फल और फूलों के बोझ से झुके हुए, हजारों वृक्ष देख पड़ते हैं । यह देखो पकी हुई पीपलों की कड़वी बू, इन के पवन से उड़ायी हुई, आ रही है । जगह जगह इकट्ठे किये हुए काठ के ढेर देख पड़ते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

लूनाश्च पथि दृश्यन्ते दर्भा वैडूर्यवर्चसः ।
एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम् ॥ ५२ ॥

---

१ मार्गवशानुगान्—मार्गवशात्प्राप्तान् । (रा०)

पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं संप्रदृश्यते ।
विविक्तेषु[1] च तीर्थेषु कृतस्नाता द्विजातयः ॥ ५३ ॥
पुष्पोपहार कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमार्जितैः ।
तत्सुतीक्ष्णस्य वचनं यथा सौम्य मया श्रुतम् ॥ ५४ ॥

और हरी मणि अर्थात् पन्ने की तरह ये कटे हुए हरे हरे रंग के कुश रास्ते में देख पड़ते हैं । देखो, वन में यह काले मेघ के शृङ्ग की तरह आश्रम के अग्नि का धूम देख पड़ता है । इन पवित्र तीर्थों में ब्राह्मण लोग स्नान कर और स्वयं तोड़े हुए फूलों से पुष्पार्चा (पुष्पाञ्जलि) कर रहेहैं । हे सौम्य ! सुतीक्ष्ण ने जो पहचानें बतलायी थीं, वे सब यहां देख पड़ती हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

[नोट—श्लोक में "कुसुमैः स्वयमार्जितैः" को देख पूजाविधान का यह प्रमाण स्मरण हो आता है—" समित्पुष्पकुशादीनि श्रोत्रियः स्वयमाहरेत । " अर्थात् हवन के लिये समिधा, कुश और पूजन के लिये पुष्प श्रात्रिय ब्राह्मण को स्वयं लाने चाहिये ।]

अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ।
निगृह्य तरसा मृत्यु[2] लोकानां हितकाम्यया ॥ ५५ ॥
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्छरण्या[3] पुण्यकर्मणा ।
इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः ॥ ५६ ॥

अतः अगस्त्य जी के भाई का आश्रम अवश्य यही होगा । इनके भाई अगस्त्य जी ने सब लोगों के हितार्थ, बलपूर्वक मृत्यु के समान दैत्यों को मार कर, इस दक्षिण दिशा को पुण्यात्माओं (ऋषि मुनियों)

---

१ विविक्तेषु—पूतेषु । (गो०) २ मृत्युं ततुल्यं दैत्यं । (रा०)
३ शरण्या—वासयोग्या । (रा०)

के रहने योग्य बना दिया है। किसी समय इस वन में बड़े क्रूर वातापि और इल्वल नाम के ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ ।
धारयन्ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्[1] ॥ ५७ ॥

दो महाअसुर भाई, जो ब्राह्मणों को मार कर खा जाया करते थे, रहते थे। इनमें से इल्वल नाम का राक्षस, ब्राह्मण का रूप धर और ब्राह्मण की तरह संस्कृत भाषा बोलता हुआ ॥ ५७ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, उस समय के ब्राह्मणों की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी।]

आमन्त्रयति विप्रान्स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ।
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम् ॥ ५८ ॥

श्राद्ध के बहाने, ब्राह्मणों को न्योता देता था। फिर मेढ़ा का रूप धारण किये हुए अपने भाई वातापि को मार कर और उसका मांस पका कर ॥ ५८ ॥

तान्द्विजान्भोजयामास श्राद्धदृष्टेन[2] कर्मणा ।
ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ।
ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन् ॥ ६० ॥

श्राद्ध की विधि से उनको भोजन करा दिया करता था। जब ब्राह्मण भोजन कर चुकते, तब इल्वल बड़े ज़ोर से चिल्ला कर कहता था कि, हे भाई वातापे ! तुम निकल आओ। तब वातापी भी भाई का वचन सुन, मेढ़े के समान बोलता हुआ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

---

१ संस्कृतंवदन्—ब्राह्मणवदितिशेषः। (रा०) २ श्राद्धदृष्टेन—श्राद्धकल्पावगतेन। (गो०)

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत् ।
ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः ॥ ६१ ॥
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ।
अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणों के शरीरों को चीरता फाड़ता निकल आता था। हे लक्ष्मण ! इस प्रकार ये कामरूपी और नरमाँसभोजी राक्षस मिल कर, सहस्रों ब्राह्मण नित्य मारने लगे। तब देवताओं ने आ कर, महर्षि अगस्त्य की स्तुति की ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

अनुकूलः किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ।
ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तोदकं ततः ॥ ६३ ॥

और अगस्त्य जी ने अन्य ब्राह्मणों की तरह श्राद्धभोजन में वातापि का भक्षण किया। तब इल्वल ने "सम्पन्न" (अर्थात् श्राद्ध पूरा हुआ) कह कर, मुनि के हाथ पर "अवनेजन" (भोजनानन्तर का आचमन) के लिये जल दे कर, ॥ ६३ ॥

भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः सोऽभ्यभाषत ।
स तं तथा भाषमाणं भ्रातरं विप्रघातिनम् ॥ ६४ ॥

सदा की भाँति (पेट फाड़ कर) निकलने के लिये भाई को पुकारा। तब ब्राह्मणों का घात करने वाले और भाई को बार बार पुकारने वाले इल्वल से ॥ ६४ ॥

अब्रवीत्प्रहसन्धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ।
कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ॥ ६५ ॥

मुनियों में श्रेष्ठ और बुद्धिमान् अगस्त्य जी ने हँस कर कहा कि, भला अब वह कैसे निकल सकता है, क्योंकि मैंने तो उस राक्षस को पचा डाला ॥ ६५ ॥

भ्रातुस्ते मेघरूपस्य गतस्य यमसादनम् ।
अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रयम्[1] ॥ ६६ ॥

मेढ़ा रूपधारी तेरा भाई तो यमालय में पहुँच गया। अगस्त्य जी के मुख से भाई के मरने की बात सुन, ॥ ६६ ॥

प्रधर्षयितुमारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः ।
सोऽभिद्रवन्मुनिश्रेष्ठं मुनिना दीप्ततेजसा ॥ ६७ ॥

क्रोध में भर वह राक्षस अगस्त्य जी को मार डालने के लिये उन पर झपटा। तब तपस्या के तेज से दीप्तमान अगस्त्य जी ने ॥ ६७ ॥

चक्षुषाऽनलकल्पेन[2] निर्दग्धो निधनं गतः ।
तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः ॥ ६८ ॥

प्रज्वलित अग्नि के समान नेत्रों से उसकी ओर देख, उसे भस्म कर, मार डाला। हे लक्ष्मण! उन्हीं अगस्त्य जी के भाई का यह तड़ाग और वन से शोभित आश्रम है ॥ ६८ ॥

विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम् ।
एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह ॥ ६९ ॥

जिन्होंने ब्राह्मणों के ऊपर अनुग्रह कर, दूसरों से न होने योग्य, यह काम किया था। इस प्रकार, लक्ष्मण जी से बातचीत करते करते ॥ ६९ ॥

रामस्यास्तं गतः सूर्यः सन्ध्याकालोऽभ्यवर्तत ।
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ॥ ७० ॥

---

१ निधनसंश्रयं—नाशविषयं। (गो०) २ प्रधर्षयितुं—हिंसितुं। (गो०)
३ अनलकल्पेन—अग्निसदृशेन। (गो०)

सूर्य अस्त हो गये और सन्ध्याकाल हो गया। तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने यथाविधि सायं सन्ध्योपासन किया ॥ ७० ॥

[नोट—अगस्त्य तथा इल्वल-वातापि के आख्यान को पढ़ कर यह बात भी जानी जाती है कि, रामायणकाल में ब्राह्मण, ब्राह्मणों को, श्राद्धभोजन में मांस का भी भोजन करवाया करते थे।]

अविनेशाश्रमपदं तमृषिं सोऽभ्यवादयत् ।
सत्यक्रियानिष्टीतश्च मुनिना तेन राघवः ॥ ७१ ॥

सन्ध्योपासन करने के उपरान्त वे अगस्त्य जी के भाई के आश्रम में गये और उनको प्रणाम किया। अगस्त्य जी के भाई ने भी भली भाँति स्वागत कर उनका आतिथ्य किया ॥ ७१ ॥

न्यवसत्तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च ।
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां विमले सूर्यमण्डले ॥ ७२ ॥

कन्दमूल और फल खा कर, श्रीरामचन्द्र जी एक रात्रि वहाँ ठहरे। फिर रात बीतने और सबेरा होने पर ॥ ७२ ॥

भ्रातरं तमगस्त्यस्य ह्यामन्त्रयत राघवः ।
अभिवादये त्वां भगवन्सुखमध्युषितो निशाम् ॥ ७३ ॥
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम् ।
गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः ॥ ७४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी के भाई से विदा माँगते समय कहा—हे भगवन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हम लोगों की रात बड़े सुख से यहाँ कटी। अब आप हम लोगों को जाने की अनुमति दीजिये। क्योंकि हम लोग आपके पूज्य बड़े भाई के दर्शन करना चाहते हैं। इस पर जब अगस्त्य के भ्राता ने कहा—"बहुत अच्छा पधारिये", तब श्रीरामचन्द्र जी वहां से प्रस्थानित हुए ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन् ।
नीवारान्पटलांस्तालांस्तिनिशान्धवजुंस्तथा ॥ ७५ ॥
चिरिबिल्वान्मधूकांश्च बिल्वानपि च तिन्दुकान् ।
पुष्पितान्पुष्पिताग्राभिर्लताभिरनुवेष्टितान् ॥ ७६ ॥
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान् ।
हस्तिहस्तैर्विमृदितान्वानरैरुपशोभितान् ॥ ७७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बतलाये हुए मार्ग से चलते हुए उस वन की शोभा निरखते जाते थे। उस वन में नीवार, कटहल, शाल, बञ्जुल, तिनिश, ढांक, तथा पुराने पुराने बेल, महुआ, तेंदुआ आदि वृक्ष, जो स्वयं फूले हुए थे तथा जिनमें फूली हुई लताएँ लिपटी हुई थीं, ऐसे सैकड़ों वृक्ष श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में देखे। उन वृक्षों में से कितने ही हाथियों की सूंड़ों से टूटे हुए थे और कितनों ही पर बंदर बैठे हुए उनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशश्च प्रणादितान् ।
ततोऽब्रवीत्समीपस्थं रामो राजीवलोचनः ॥ ७८ ॥

उन वृक्षों पर सैकड़ों पक्षी मतवाले हो, बोल रहे थे। वहाँ की ऐसी शोभा देख, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने निकटस्थ ॥७८॥

पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।
स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा शान्तमृगद्विजाः ॥ ७९ ॥

और पीछे आते हुए तथा शोभा बढ़ाने वाले वीर लक्ष्मण जी से कहा—इन सब वृक्षों के पत्ते जैसे चिकने दिखलाई देते हैं और मृगगण तथा पक्षी जैसे शान्त स्वभाव दृष्टिगत हो रहे हैं, इससे तो यही जान पड़ता है कि, ॥ ७९ ॥

आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा[१] ॥ ८० ॥

उन विशुद्ध चित्त महर्षि का आश्रम अब अधिक दूर नहीं है, जो अपने ही कर्म से अगस्त्य के नाम से लोक में विख्यात है ॥८०॥

[नोट—अगस्त्य का अगस्त्य नाम क्यों पड़ा यह इसी सर्ग के ८६—८७ श्लोकों में सङ्केत से बतलाया गया है।]

आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ।
आज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः ॥ ८१ ॥

थके बटोहियों की थकावट दूर करने वाला उनका आश्रम यही देख पड़ता है। देखो न, अग्निहोत्र का धुआँ वन में छाया हुआ है। जहाँ तहाँ वृक्षों की डालियों पर चीर वस्त्र सुखाने को फैलाये हुए हैं और पुष्पमालाएँ लटका कर आश्रम की सजावट की गयी है ॥८१॥

प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ।
निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया ॥ ८२ ॥

देखो, स्वाभाविक वैर विरोध को छोड़ वन्यजन्तु कैसे शान्त बैठे हुए हैं और तरह तरह के पक्षी शब्द कर रहे हैं। इन्हींने मृत्यु रूपी उन राक्षसों को बलपूर्वक, लोकों के हितार्थ मार कर, ॥ ८२ ॥

दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ।
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावश्चास्य राक्षसैः ॥ ८३ ॥
दिगियं दक्षिणा त्रासाद्दृश्यते[२] नोपभुज्यते ।
यदाप्रभृति[२] चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा ॥ ८४ ॥

---

१ स्वेनैव कर्मणा—विन्ध्यस्तम्भन रूपेण । अगस्तम्नयतीत्यगस्त्य इति व्युत्पत्तेः । (गो०) २ त्रासात् दृश्यते—नतुप्राचीनकाल इवोपभुज्यते । (गा०) यदाप्रभृति—अगस्त्यागमनात्प्रभृति । (गो०)

दक्षिण दिशा को पुण्यकर्मा ऋषि मुनियों के रहने योग्य बना दिया है। इन्हींके प्रभाव से राक्षसगण भयभीत हो, दक्षिण दिशा की ओर केवल देखते तो हैं, किन्तु पूर्वकाल की तरह ब्राह्मणों को मार कर, खा जाने का उनको साहस नहीं होता। जब से महर्षि अगस्त्य इस आश्रम में आ कर रहने लगे हैं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

तदाप्रभृतिनिर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः ।
नाम्ना[1] चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ॥ ८५ ॥

तब से यहाँ के राक्षसों ने ब्राह्मणों के साथ वैर विरोध करना छोड़ दिया है और वे अब शान्त हो कर रहा करते हैं। इसीसे यह दक्षिण दिशा अब अगस्त्य जी की दिशा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है ॥ ८५ ॥

प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः ।
मार्गं निरोद्धुं निरतो भास्करस्याचलोत्तमः ॥ ८६ ॥

और क्रूरकर्मा दुर्धर्ष राक्षसों को नीचा दिखाने के कारण, दक्षिण दिशा तीनों लोकों में विख्यात हुई है। अथवा जो दक्षिण दिशा किसी समय क्रूरकर्मा राक्षसों के कारण तीनों लोकों में दुर्धर्ष कह कर प्रसिद्ध थी, वह अब अगस्त्य जी की कृपा से सब लोगों के रहने योग्य हो गयी। पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्य पर्वत जो सूर्य का रास्ता रोकना चाहता था ॥ ८६ ॥

निदेशं पालयन्यस्य विन्ध्यः शैलो न वर्धते ।
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः ॥ ८७ ॥
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान्विनीतजनसेवितः ।
एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम् ॥ ८८ ॥

---

१ अतएवेयं दक्षिणादिक् नाम्ना भगवताऽगस्त्यस्य दिगिति प्रसिद्धेत्युच्यते। (गो०)

किन्तु यह विन्ध्य शैल अगस्त्य जी की आज्ञा पालन कर, सूर्य का रास्ता रोकने को अब ऊँचा नहीं होता। तीनों लोकों में अपने कर्मों से प्रसिद्ध उन दीर्घजीवी महर्षि अगस्त्य का यही विनीत जनों से सेवित आश्रम है। यह मुनि, लोगों से सम्मानित हैं और साधुओं की भलाई करने में सदा तत्पर रहते हैं ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ।
आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ८९ ॥

जब हम उनके आश्रम में जाँयगे तब वे हमारा कल्याण करेंगे। मैं उन महर्षि अगस्त्य का आराधन करूँगा ॥ ८९ ॥

शेषं च वनवासस्य सोम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ।
अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ९० ॥

हे सौम्य ! मैं वनवास का शेष काल अगस्त्य जी के आश्रम में रह कर ही बिताऊँगा। हे प्रभो ! इस आश्रम में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि ॥ ९० ॥

अगस्त्यं नियताहारं सततं पर्युपासते ।
नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो[1] वा यदि वा शठः[2] ॥ ९१ ॥
नृशंसः[3] कामवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ।
अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः[4] सह ॥ ९२ ॥

नियताहारी अगस्त्य जी की सदा उपासना किया करते हैं। ये मुनि ऐसे प्रभावशाली हैं कि, इनके आश्रम में झूठा, निर्दयी और

---

१ क्रूरः—निर्दयः। (गो०) २ शठः—गूढविप्रियकृत्। (गो०) ३ नृशंस—घातुकः। (गो०) ४ पतगैः—गरुडजातिभिः। (गो०)

कपटी, घातक, कामी, किसी भाँति जीवित नहीं रह सकता। यहाँ देव, यक्ष, नाग और गरुड़ ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिषवः ।
अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसन्निभैः ॥ ९३ ॥
त्यक्तदेहा नवैर्देहैः[1] स्वर्याताः परमर्षयः ।
यक्षत्वमरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतै[2]राराधिताः शुभैः ॥ ९४ ॥

नियताहार हो धर्म की आराधना करने के लिये वास करते हैं। यहाँ महात्मा सिद्ध तथा महर्षि, सूर्य की तरह चमचमाते विमानों में बैठ कर, यह शरीर छोड़ कर और दिव्य शरीर धारण कर, स्वर्ग को चले जाते हैं। जो पुण्य कर्म करने वाले हैं, वे इस आश्रम में रह कर, देवताओं के अनुग्रह से देवत्व, यक्षत्व, राज्य तथा विविध प्रकार के ईप्सित पदार्थों को पाते हैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः ।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सीतया सह ॥ ९५ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! अब हम आश्रम में आ पहुँचे हैं। अब तुम आगे जा कर, उनको सीता सहित हमारे आगमन की सूचना दो ॥ ९५ ॥

अरण्यकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

१ नवैः – दिव्यैः । (गो०) २ भूतैः – प्राणिभिः । (गो०)

द्वादशः सर्गः

—※—

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण आश्रम में गये और अगस्त्य जी के शिष्य के पास जा उससे यह वचन बोले ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, बलवान् श्रीरामचन्द्र जी, अपनी स्त्री सीता जी के साथ, मुनि के दर्शन करने को आये हैं ॥ २ ॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः[1] ।
अनुकूल[2]श्च भक्त[3]श्च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ३ ॥

मेरा नाम लक्ष्मण है और मैं उनका हितकारी, प्रिय और प्रीतिमान् छोटा भाई हूँ । कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के प्रसङ्ग में आपने मेरा नाम भी सुना हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥ ४ ॥

हम लोग पिता की आज्ञा से इस भयङ्कर वन में आये हैं । आप जा कर, भगवान् अगस्त्य जी से निवेदन करें कि, हम लोग उनके दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

---

१ हितः—हितकारी ।(गो०) २ अनुकूलः—प्रियकरः । ३ भक्तः—प्रीतिमान् । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।
तथेत्युक्त्वाऽग्निशरणं[1] प्रविवेश निवेदितुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के ये वचन सुन वह शिष्य बहुत अच्छा कह कर, अग्निशाला में, अगस्त्य जी से निवेदन करने के लिये गया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम्[2] ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥

उस शिष्य ने अग्निशाला में जा और हाथ जोड़ कर, तपोबल से युक्त मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी से श्रीराम जी के आगमन का वृत्तान्त कहा ॥ ६ ॥

यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।
पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥
प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।
द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिन्दमौ ॥ ८ ॥

अगस्त्य जी के कृपापात्र शिष्य ने लक्ष्मण जी के कथनानुसार कहा कि, महाराज दशरथ के राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण, आप के आश्रम में अपनी भार्या सहित आये हैं और वे शत्रुतापन आपके दर्शन और आपकी सेवा शुश्रूषा करना चाहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

यदत्रानन्तरं तत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥
वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।
दिष्ट्या[3] रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः ॥ १० ॥

---

१ अग्निशरणं—अग्निगृहं । (गो०) २ दुष्प्रधर्षणं—मुनिश्रेष्ठम् । (गो०)
३ दिष्ट्या—भाग्यमेतत् । (रा०)

अब जो कुछ मुझे कर्त्तव्य हो सो आज्ञा कीजिये। शिष्य के मुख से श्रीरामचन्द्र वा लक्ष्मण वा महाभागा सीता जी का आगमन सुन, अगस्त्य जी बोले—यह बड़े भाग्य की बात है कि, बहुत दिनों पर श्रीरामचन्द्र जी मुझसे मिलने आये हैं ॥ ९ ॥ १० ॥

मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति ।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥
प्रवेश्यतां समीपं मे किं चासौ न प्रवेशितः ।
एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १२ ॥

मेरे मन में भी उनसे मिलने की अभिलाषा थी। सो तुम जा कर लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को बड़े आदर के साथ लिवा लाओ। तुम शीघ्र उनको मेरे पास लिवा क्यों नहीं लाये। जब धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य जी ने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥ १२ ॥

अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः ।
ततो निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तब शिष्य, प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर, यह कहता हुआ कि बहुत अच्छा अभी लिवाये लाता हूँ, बाहिर गया और आदर पूर्वक लक्ष्मण जी से बोला ॥ १३ ॥

क्वासौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम् ।
ततो गत्वाऽऽश्रमद्वारं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र कौन से हैं वे आवें और मुनि जी का दर्शन करें। लक्ष्मण जी उस शिष्य को अपने साथ ले आश्रम के द्वार पर गये ॥ १४ ॥

दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।
तं शिष्यः प्रश्रितो[1] ज्ञात्वदमस्त्वत्वत्वं ब्रुवन् ॥ १५ ॥

और उस शिष्य को जनकनन्दिनी सीता और श्रीरामचन्द्र को दिखलाया । उस शिष्य ने प्रीति सहित अगस्त्य जी का संदेसा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १५ ॥

प्रावेशयद्यथान्यायं सत्कारार्हं सुसत्कृतम् ।
प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥

फिर उन सत्कार करने योग्यों का यथाविधि सत्कार कर, वह शिष्य श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को आश्रम के भीतर ले गया ॥ १६ ॥

प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥
विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च ॥ १८ ॥
धातुर्विधातुः स्थाने च वायोः स्थानं तथैव च ।
नागराजस्य च स्थानमनन्तस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ २० ॥
कार्त्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।
ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत् ॥ २१ ॥

---

१ प्रश्रितं — प्रीतियुक्तं । (रा०)

उस आश्रम के भीतर जा श्रीरामचन्द्रादि ने देखा कि, आश्रम में शान्त स्वभाव हिरन चारों ओर बैठे हैं। इन तीनों ने देखा कि, अगस्त्य जी के आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुवेर, धाता, विधाता, वायु, नागराज शेष जी, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय, धर्मराज के स्थान वा मन्दिर बने हुए हैं। इतने में शिष्यों को साथ लिये हुए अगस्त्य जी भी अग्निशाला से निकले ॥ १७ । ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।
अब्रवीद्वचनं वीरो लक्ष्मण लक्ष्मिवर्धनम् ॥ २२ ॥

तब वीर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों में सब से बढ़ कर तेजस्वी अगस्त्य जी को सामने से आता हुआ देख, शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से कहा ॥ २२ ॥

एष लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येण[1]वगच्छामि[2] निधानं तपसामिमम् ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! भगवान् अगस्त्य ऋषि अग्निशाला से निकल कर, आरहे हैं। इनके तेज विशेष को देखने से जान पड़ता है कि, यह तप की खान है ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः ॥ २४ ॥

यह कह, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि अगस्त्य के चरण छुए ॥ २४ ॥

---

१ औदार्येण—तपोजनिततेजोविशेषौत्कर्षेण । (शि०) २ अवगच्छामि—जानामि । (शि०)

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः [illegible] ॥ २५ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण जी सहित प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए खड़े रहे ॥ २५ ॥

प्रतिजग्राह[1] काकुत्स्थमर्घ्यमित्याऽऽसनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च हयास्यतामिति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

तब महर्षि अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी को अतिथि मान, आसन और पैर धोने को जल दिया । तदनन्तर कुशल पूँछ कर, कहा कि बैठिये ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा[2] पदायार्घ्यमतिथीन्प्रतिपूज्य[3] च ।
वानप्रस्थेन धर्मेण[4] स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

तदनन्तर वैश्वदेव कर और अर्घ्य, पाद्य, आचमन, पुष्पादि से उन अतिथियों का पूजन कर, सिद्ध किये हुए कन्द मूल भोजन करने के लिये दिये ॥ २७ ॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः ।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ महर्षि अगस्त्य प्रथम आसन पर बैठ, पीछे कर जोड़ कर बैठे हुए धर्मकोविद श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ २८ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—अतिथित्वेनेति शेषः । (गो०) २ अग्निंहुत्वा—वैश्वदेवं कृत्वा । (गो०) ३ प्रतिपूज्य—आचमनीयपुष्पादिभिः पूजयित्वा । (गो०) ४ वानप्रस्थेन धर्मेण—सिद्धभोजनं कन्दमूलादिकं ददौ । (गो०)

अग्निं हुत्वा मदर्थं[illegible]ग्निं प्रतिपूजयेत् ।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ॥ २९ ॥
दुःसाक्षीय[1] परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।
राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ॥ ३० ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान्प्राप्तः प्रियातिथिः ।
एवमुक्त्वा [illegible]र्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम् ॥ ३१ ॥

हे काकुत्स्थ, वैश्वदेव कर तथा अर्घ्यादि से अतिथि का पूजन करना चाहिये। जो तपस्वी ऐसा नहीं करता, वह परलोक में मिथ्यावादी गवाह की तरह अपना माँस आप खाता है। आप तो सब लोकों के स्वामी धर्मचारी और महारथी हैं। सो आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि आज हमारे पाहुने हुए हैं। अतः आपका पूजन और सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। यह कह कर फल, मूल, पुष्प तथा अन्य पदार्थों को ला कर महर्षि, श्रीरामचन्द्र जी का ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पूजयित्वा यथाकामं पुनरेव ततोऽब्रवीत् ।
इदं दिव्यं महच्चापं [illegible]भूषितम् ॥ ३२ ॥
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
अमोघः सूर्यसङ्काशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ॥ ३३ ॥
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।
सम्पूर्णौ [illegible]र्निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ ३४ ॥

यथेष्ट पूजन कर कहा—हे पुरुषसिंह! उस दिव्य बड़े धनुष को, जो सुवर्ण और हीरों से भूषित है और जिसको विश्व

---

१ दुःसाक्षी—कूटसाक्षी। (गो०)।

महातेजस्वी भगवान् महर्षि अगस्त्य, श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर और उन सर्वश्रेष्ठ आयुधों उनको दे कर, उनसे फिर कहने लगे ॥३७॥

[नोट—किसी किसी संस्करण के इस सर्ग में लगभग २६ श्लोक और पाये जाते हैं, किन्तु प्रक्षिप्त होने के कारण वे यहां छोड़ दिये गये हैं ।]

अरण्यकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रयोदशः सर्गः

—:*:—

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण ।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! और हे लक्ष्मण ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम दोनों सीता सहित हमें प्रणाम करने आये, इससे हम तुम्हारे ऊपर बड़े प्रसन्न हैं ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः ।
व्यक्तमुत्कण्ठते चापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

यह स्पष्ट विदित होता है कि, मार्ग चलने की थकावट से तुमको महाकष्ट हुआ है । जनकनन्दिनी मैथिली भी विश्राम करने को उत्सुक जान पड़ती हैं ॥ २ ॥

एषा हि सुकुमारी च दुःखैश्च न विमानिता ।
प्राज्यदोषं[1] वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

यह बड़ी ही सुकुमार हैं, इन्होंने काहे को ऐसे कष्ट कभी सहे होंगे । किन्तु पतिस्नेह से प्रेरित हो, अनेक कष्ट देने वाले इस वन में आयी हैं ॥ ३ ॥

---

१ प्राज्यदोषं—बहुदोषं । (गो०)

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामनुगच्छती ॥ ४ ॥

इस आश्रम में, जिस प्रकार इनको सुख मिले, तुम वैसा ही करो । इन्होंने यह बड़ा ही दुष्कर कार्य किया जो ये तुम्हारे साथ वन में आयी हैं ॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः [illegible] रघुनन्दन ।
समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ ही से स्त्रियों का स्वभाव यही चला आता है कि, स्त्रियाँ सुख में तो अपने पतियों का साथ देती हैं और विपत्ति में उनका साथ छोड़ देती हैं ॥ ५ ॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

स्त्रियों का मन बिजली की तरह चञ्चल होता है । ये शस्त्रों की धार की तरह तेज स्वभाव वाली, (अर्थात् ऐसे कटु वचन बोलने वाली जो शस्त्र की तरह हृदय के आर पार हो जाय) और गरुड़ तथा वायु की तरह शीघ्रता की अनुगामिनी होती हैं, अर्थात् इनके विचार बड़ी जल्दी जल्दी बदला करते हैं ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता ।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या[1] च यथा देवी ह्यरुन्धती ॥ ७ ॥

किन्तु हे रामचन्द्र ! आपकी भार्या इन सीता जी में, इन दोषों में से एक भी दोष नहीं है । इसलिये ये तो प्रशंसनीय और अरुन्धती की तरह पतिव्रता स्त्रियों की सिरमौर हैं ॥ ७ ॥

---

१ व्यपदेश्या—पतिव्रतास्वग्रगण्या । (गो०)

अलङ्कृतोऽयं देशश्च यत्र [illegible] सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम ॥ ८ ॥

हे शत्रुओं को दमन करने वाले ! तुमने सीता और लक्ष्मण सहित यहाँ वास कर, इस स्थान की शोभा बढ़ा दी । अथवा तुम, लक्ष्मण और सीता सहित जहाँ रहोगे, वही स्थान शोभायुक्त हो जायगा ॥ ८ ॥

एवमुक्तः स मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम् ॥ ९ ॥

ऋषि के ऐसा कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर और विनम्र हो, अग्नि के समान तेजस्वी अगस्त्य मुनि से कहा ॥९॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे सुनिभृज्जनः ।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य वरदः परितुष्यति ॥ १० ॥

मैं अपने को धन्य और अनुग्रहीत समझता हूँ कि, आप जैसे वरदाता मेरे, मेरे भाई और भार्या के गुणों से परम सन्तुष्ट हैं ॥१०॥

किंतु ब्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः[1] सुखम् ॥ ११ ॥

किन्तु हे मुनिवर ! मुझे कोई ऐसा स्थान बतलाइये, जहाँ जल का कष्ट न हो, जो मनोहर वनों से युक्त हो और जहाँ मैं आश्रम बना कर और एकाग्र हो, सुखपूर्वक वास करूँ ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य तद्वचः ।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा धीरो[2] धीरतरं[3] वचः ॥ १२ ॥

---

१ निरतः—एकाग्रः । (गो०) २ धीर —धीमान् । (गो०) ३ धीरतरं—अतिनिश्चितं । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के कथन को सुन, धर्मात्मा श्रीमान् एवं मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्य जी मुहूर्त्त भर ध्यानमग्न हो (सोच कर), यह अति निश्चित (भली भाँति सोचा विचारा हुआ) वचन बोले ॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान्पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

हे तात ! यहाँ से एक योजन (चारकोस) के अन्तर पर बहुत से फूलों और फलों से युक्त और जल तथा मृगों से भरा पूरा, पञ्च-वटी नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है ॥ १३ ॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रंस्यसे त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

तुम लक्ष्मण जी सहित वहाँ जाओ और आश्रम बना कर, अपने पिता के वचन का यथाविधि पालन करते हुए, सुखपूर्वक रहो ॥ १४ ॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तपोधन ।
तपसश्च प्रभावेन स्नेहाद्दशरथस्य च ॥ १५ ॥
हृदयस्थश्च ते च्छन्दो[1] विज्ञातस्तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

हे अनघ (पाप रहित) ! महाराज दशरथ मेरे स्नेही थे, सो हमें तपःप्रभाव से तुम्हारा समस्त वृत्तान्त मालूम है। इतना ही नहीं, बल्कि तप के प्रभाव से हमें यह भी मालूम है कि, तुम्हारे मन में क्या है । तभी तो तुम इस तपोवन में वास करने की हमसे प्रतिज्ञा कर के भी, रहने के लिये मुझसे अन्य स्थान पूँछते हो ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ छन्दोभिप्रायः । (गो०)

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

अतएव हे राम ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम पञ्चवटी में जा कर रहो । उस रमणीक वनस्थली में सीता का मन भी लग जायगा ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

हे राघव ! वह स्थान सराहनीय है और यहां से दूर भी नहीं है, तथा गोदावरी के समीप है । वहां सीता जी का मन लग जायगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलश्चैव नानाद्विजगणायुतः ।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

वहां कन्दमूल और फलों की बहुतायत है और तरह तरह के पक्षियों से वह स्थान भरा हुआ है । हे महाबाहो ! वह एकान्त, पवित्र और रम्य स्थान है ॥ १९ ॥

भवानपि सदारश्च शक्तश्च परिरक्षणे[1] ।
अपि चात्र वसन्राम तापसान्पालयिष्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! आप सीता जी सहित तपस्वियों की रक्षा कर सकते हैं । सो वहाँ रह कर आप तपस्वियों का पालन भी कर सकेंगे ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महद्वनम् ।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमभिगच्छता ॥ २१ ॥

---

१ परिरक्षणे—तापसानामितिशेषः । (गो०)

हे श्रीराम ! यह जो मनुष्यों का महावन दिखाई पड़ता है, उसके उत्तर की ओर से जा कर एक वट वृक्ष के पास तुम पहुँचोगे ॥२१॥

ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

वट वृक्ष के आगे पर्वत के समीप समतल भूमि में पहुँचने पर, पुष्पों से सदा [illegible] नाम का विख्यात वन तुमको मिलेगा ॥ २२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
सत्कृत्य सत्कृतामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

अगस्त्य जी के इस प्रकार कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित, उन सत्यवादी ऋषि का भली भाँति पूजन कर, उनसे बिदा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
तदाश्रमात्पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

अगस्त्य जी की अनुमति प्राप्त कर, दोनों राजकुमारों ने ऋषि को प्रणाम किया और सीता को साथ ले, वे उनके आश्रम से पञ्चवटी के लिये रवाना हुए ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विसृक्ततूणौ[1] समरेष्वकातरौ ॥
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

---

१ विषक्ततूणौ—बद्धतूणीरौ । (गो०)

समर में न डरने वाले दोनों राजकुमार, धनुष बाण धारण कर और पीठ पर तरकसों को बाँध, अगस्त्य जी के बतलाये मार्ग से, बड़ी सावधानी के साथ, पञ्चवटी की ओर चले ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुर्दशः सर्गः

—*—

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः ।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने मार्ग में एक बड़े भारी शरीर वाले और भयानक पराक्रमी गीध को देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वटस्थं रामलक्ष्मणौ ।
मेनाते[1] राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ ॥ २ ॥

महाभाग श्रीराम लक्ष्मण ने, अगस्त्य जी के बतलाये हुए वट वृक्ष पर उसे बैठा देख और उसे राक्षस समझ, उससे पूछा कि, तू कौन है ? ॥ २ ॥

स तौ मधुरया वाचा सौम्यया[2] प्रीणयन्निव ।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

गीध ने बड़े सौजन्य के साथ, और मधुर शब्दों में, श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करते हुए, उत्तर दिया—हे वत्स ! मुझे तुम अपने पिता का मित्र जानो ॥ ३ ॥

---

१ मेनाते—मत्वा । (गो०) २ सौम्यया—सौजन्यपरया । (गो०) ।

स तं पितृसखं बुद्ध्वा पूजयामास राघवः ।
स तस्य कुलमव्यग्रमप[1] पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने उसे अपने पिता का मित्र जान, उसका आदर सत्कार किया और उससे उसका ठीक ठीक कुल और नाम पूँछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सर्वभूतसमुद्भवम् ।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै कुलमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, गीध ने सब जीवों की उत्पत्ति के वर्णन का प्रसङ्ग छेड़, अपना कुल और नाम बतलाया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।
तान्मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! पूर्वकाल में जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सब का मैं आदि से वर्णन करता हूँ । आप सुनिये ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विश्रुतस्तदनन्तरः ।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥
स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा ॥ ८ ॥
दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव ।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः ॥ ९ ॥

---

१ अन्यम्—यथास्यात्तथा । (शि०)

१ कर्दम प्रजापति उन सब में बड़े थे। उनके बाद २ विकृत, ३ शेष, ४ संश्रय, ५ बहुपुत्र, ६ स्थाणु, ७ मरीचि ८ अत्रि, ९ क्रतु १० पुलस्त्य ११ अंगिरा १२ प्रचेता १३ पुलह १४ दक्ष १५ विवस्वान १६ अरिष्टनेमि १७ और सब से पीछे कश्यप हुए ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुतम् ।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥ १० ॥

हे महायशस्वी राम ! इनमें से दक्ष प्रजापति के यशस्विनी और लोक में विख्यात साठ कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः ।
अदितिं च दितिं चैव दनुमप्यथ कालिकाम् ॥ ११ ॥

इनमें से आठ अति सुन्दरी कन्याओं का विवाह कश्यप जी ने अपने साथ किया। उन आठ कन्याओं के नाम ये हैं—१ अदिति, २ दिति, ३ दनु, ४ कालिका, ॥ ११ ॥

ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि ।
तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥ १२ ॥

५ ताम्रा, ६ क्रोधवशा, ७ मनु और ८ अनला हैं। इन आठों से कश्यप ने पुनः कहा ॥ १२ ॥

पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तॄन्वै जनयिष्यथ मत्समान् ।
अदितिस्तत्समा राम दितिश्च मनुजर्षभ ॥ १३ ॥

कि, तुम मेरे समान और तीनों लोकों का भरण पोषण करने वाले पुत्र उत्पन्न करो। यह सुन कर, दिति, अदिति, ॥ १३ ॥

कालिका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।
आदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ॥ १४ ॥

और कालिका ने तो अंगीकार किया और शेष ने पति की बात पर ध्यान न दिया । अदिति से ३३ देवता उत्पन्न हुए ॥१४॥

आदित्या वसवो रुद्रा ह्यश्विनौ च परन्तप ।
दितिस्त्वंजनयत्पुत्रान्दैत्यांस्तात यशस्विनः ॥ १५ ॥

अर्थात् १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विनी कुमार। हे अरिन्दम ! दिति के गर्भ से यशस्वी दैत्य उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

तेषामियं वसुमती पुरासीत्सवनार्णवा ।
दनुस्त्वजनयत्पुत्रमश्वग्रीवमरिन्दम ॥ १६ ॥

पहले वन और समुद्र सहित यह पृथिवी उन्हींकी थी। हे अरिन्दम ! दनु ने अश्वग्रीव नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

नरकं कालकं चैव कालिकापि व्यजायत ।
क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥ १७ ॥

कालिका ने नरक और कालक दो पुत्र उत्पन्न किये ; कौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी ॥ १७ ॥

ताम्रापि सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।
उलूकाञ्जनयत्क्रौञ्ची भासी भासान्व्यजायत ॥ १८ ॥

ये लोकविख्यात पाँच कन्याएँ, ताम्रा के गर्भ से उत्पन्न हुईं । इनमें से क्रौञ्ची के गर्भ से उलूक, और भासी के गर्भ से भाषक नामक पक्षी उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

श्येनी के गर्भ से अति तेजस्वी श्येन और गीध उत्पन्न हुए और धृतराष्ट्री से सब हंस और कलहंस उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे साऽपि भामिनी ।
शुकी नतां विजज्ञे तु नतायां विनता सुता ॥ २० ॥

चक्रवाक भी उसीके गर्भ से उत्पन्न हुए । शुकी से नता नाम्नी लड़की उत्पन्न हुई और नता से विनता की उत्पत्ति हुई ॥ २० ॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञे ह्यात्मसम्भवा ।
मृगीं च मृगमन्दां च हरिं भद्रमदामपि ॥ २१ ॥

हे राम ! क्रोधवशा के दस लड़कियां उत्पन्न हुईं, जिनके नाम ये हैं १ मृगी, २ मृगनन्दा ३ हरी, ४ भद्रमदा ॥ २१ ॥

मातङ्गीमपि शार्दूलीं श्वेतां च सुरभिं तथा ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि ॥ २२ ॥

५ मातङ्गी, ६ शार्दूली, ७ श्वेता, ८ सुरभि, ९ सर्वलक्षण सम्पन्ना सुरसा और १० कद्रुकी ॥ २२ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा ॥ २३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मृगी से समस्त मृग, उत्पन्न हुए और मृगमन्दा से रीछ, सृमर और चमर (सुरागाय) उत्पन्न हुए ॥ २३ ॥

हर्याश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
ततस्त्वयरावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् ॥ २४ ॥

हरी नाम स्त्री से बलवान सिंह और वानर उत्पन्न हुए । तदनन्तर इरावती नाम की कन्या भद्रमदा से उत्पन्न हुई ॥ २४ ॥

तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः ।
मातङ्गास्त्वथ मातङ्ग्या अपत्यं मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

इरावती से ऐरावत नामक महागज, जो एक दिग्गज है, उत्पन्न हुआ । हे नरश्रेष्ठ ! मातङ्गी से सब हाथी उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

गोलाङ्गूलांश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत्सुतान् ।
दिशागजांश्च काकुत्स्थ श्वेताऽप्यजनयत्सुतान् ॥ २६ ॥

शार्दूली से गोलाङ्गूल और व्याघ्र उत्पन्न हुए । हे काकुत्स्थ ! श्वेता ने दिग्गजों को उत्पन्न किया ॥ २६ ॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत ।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम् ॥ २७ ॥

हे राम ! सुरभी की दो यशस्विनी लड़कियाँ हुईं । एक का नाम था रोहिणी और दूसरी का गन्धर्वी ॥ २७ ॥

रोहिण्यजनयद्गा वै गन्धर्वी वाजिनः सुतान् ।
सुरसाजनयन्नागान्राम कद्रस्तु पन्नगान् ॥ २८ ॥

रोहिणी के गर्भ से गौ, बैल और गन्धर्वी से घोड़े उत्पन्न हुए । हे राम ! सुरसाने नागों को उत्पन्न किया और कद्रू ने सर्पों को ॥ २८ ॥

[illegible]
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यान्शूद्रांश्च मनुजर्षभ ॥ २९ ॥

हे राम ! मनु नाम की स्त्री से यशस्वी मनुष्य, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

सर्वान्पुण्यफला[1]न्वृक्षाननलापि व्यजायत ।
विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा ॥ ३० ॥

अनला ने अच्छे अच्छे फल वाले वृक्ष उत्पन्न किये । विनता शुकी की नतिनी थी और कद्रू तथा सुरसा ये दोनों बहिने थीं ॥३०॥

कद्रूर्नागं सहस्रास्यं विजज्ञे धरणीधरम् ।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥ ३१ ॥

कद्रू ने सहस्रों नागों को उत्पन्न किया । ये ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं । विनता के दो पुत्र हुए, गरुड़ और अरुण ॥ ३१ ॥

तस्मा[2]ज्जातोऽहमरुणात्सम्पातिस्तु ममाग्रजः ।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिन्दम ॥ ३२ ॥

मैं अरुण का पुत्रहूँ और सम्पाति मेरा बड़ा भाई है । हे अरिन्दम ! मेरा नाम जटायु है और मुझे आप श्येनी का पुत्र जानिये ॥ ३२ ॥

सोऽहं वासहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि ।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम् ।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥ ३३ ॥

हे तात ! अगर तुम चाहोगे तो मैं वनवास में तुम्हारी सहायता करूँगा । क्योंकि यह वन बड़ा दुर्गम है और इसमें अनेक वन्यपशु

---

१ पुण्यफलान्—चारुफलान् । (गो०) २ तस्मात्—अरुणात् । (शि०)

और राक्षस रहते हैं। हे तात! जब तुम और लक्ष्मण आश्रम छोड़, कहीं चले जाओगे, तब मैं सीता की रखवाली किया करूँगा ॥ ३३ ॥

जटायुषं तं प्रतिपूज्य राघवो ।
मुदा परिष्वज्य च सन्नतोऽभवत् ।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
ञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु का यह वृत्तान्त सुन, आदर और हर्ष सहित उसे अपने हृदय से लगाया और उसे प्रणाम किया। क्योंकि उसने कई बार अपने को श्रीरामचन्द्र जी के पिता का मित्र कह कर परिचय दिया था ॥ ३४ ॥

स तत्र सीतां परिदाय[1] मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा ।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून्दिधक्षञ्शलभानिवानलः ॥ ३५ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

फिर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी की रक्षा के लिये जटायु को अपने साथ ले एवं शत्रुओं को भस्म करने की इच्छा से, तथा वन की रक्षा करने के लिये, सुप्रसिद्ध पञ्चवटी को चले ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ

—:※:—

---

१ परिदाय—रक्षणार्थाय। (गो०)

पञ्चदशः सर्गः

—:*:—

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्याल[1]मृगायुताम् ।
उवाच भ्रातरं रामः सौमित्रिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, उस पञ्चवटी में, जो नाना प्रकार के वनैले जीव जन्तुओं और दुष्ट सर्पों से भरी थी, पहुँच कर, तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टमुं देशं महर्षिणा ।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितपादपः ॥ २ ॥

हे सौम्य ! हम लोग महर्षि अगस्त्य जी के बतलाये हुए स्थान पर आ पहुँचे । यही पञ्चवटी है, जहाँ पुष्पित वृक्षों से भरा हुआ वन देख पड़ता है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः काननं निपुणो ह्यसि ।
आश्रमः कतरस्मिन्नो देशे भवति सम्मतः ॥ ३ ॥

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान चुनने में तुम निपुण हो, अतः इस वन में दृष्टि फैला कर देखो कि, हम लोगों के आश्रम के लिये कौन सी जगह ठीक होगी ॥ ३ ॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण ।
तादृशो दृश्यतां देशः सन्निकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! स्थान ऐसा होना चाहिये, जहाँ सीता जी, तुम और हम सुखपूर्वक रहैं और जल भी जहाँ से समीप हो ॥ ४ ॥

---

१ व्याला—दुष्ट सर्पाः । (गो०)

वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा ।
सन्निकृष्टं च यत्र स्यात्समित्पुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

जहाँ रमणीक वन हो, जहाँ जल भी अच्छा और बहुत हो, जहाँ समिधा, पुष्प और कुश समीप मिल सकें, ऐसा कोई स्थान तुम खोजो ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, सीता जी के सामने, श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ६ ॥

परवानस्मि[1] काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं[2] स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ ७ ॥

हे राम ! मैं तो सदा से आपके अधीन हूँ । आप स्वयं कोई रमणीक स्थान चुन कर, वहाँ मुझे आश्रम बनाने की आज्ञा दें ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
विमृशन्रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और उन्होंने विचार कर, एक ऐसा स्थान चुना, जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ थीं ॥ ८ ॥

स तं रुचिरमाक्रम्य[3] देशमाश्रमकर्मणि[4] ।
हस्तौ गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

---

१ परवानस्मि—ममास्मिता तवास्मितावन्न भवति पारतन्त्र्यैकवेषाममास्मितेतिभावः । (गो०) २ वर्षशतं—शतशब्दआनन्त्यवचनः । सार्वकालिकं । मम पारतन्त्र्यमितिभावः । (गो०) ३ आक्रम्य—स्वीयत्वेनामिमन्य । (गो०) ४ आश्रमकर्मणि—आश्रमनिमित्तं । (गो०)

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान पसन्द कर और अपने हाथ से लक्ष्मण जी के दोनों हाथ पकड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ९ ॥

अयं देशः समः श्रीमान्द्रुमैश्चित्तसमैर्वृतः ।
इहाश्रमपदं सौम्य यथावत्कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे सौम्य ! यह स्थान समतल है और परम शोभायुक्त भी है । क्योंकि देखो, यह पुष्पित वृक्षों से घिरा हुआ है; अतः इसी स्थान पर तुम यथायोग्य आश्रम की रचना करो ॥ १० ॥

इयमादित्यसङ्काशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥ ११ ॥

देखो, सूर्य के समान उज्ज्वल, मन को प्रसन्न करने वाली, कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त यह पुष्करिणी भी यहां से समीप ही है ॥ ११ ॥

[नोट—भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कमलों से युक्त पुष्करिणी के समीप का स्थान क्यों पसन्द किया—इसका कारण है, जो नीचे के श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है ।

" तुलसीकाननं यत्र, यत्र पद्मवनानि च ।
वसन्तिवैष्णवा यत्र, तत्र सन्निहतो हरिः ॥"]

यथा ख्यातऽऽमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥ १२ ॥

विशुद्धात्मा अगस्त्य मुनि ने जैसा बतलाया था, वैसा ही यहां गोदावरी का दृश्य है । देखो, रमणीय गोदावरी नदी, फूले हुए वृक्षों से घिरी हुई है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरेन* चासन्ने मृगयूथनिपीडिताः ॥ १३ ॥

हंस, जलकुक्कुट और चक्रवाकों से शोभित है और वह यहां से न तो अति निकट और न बहुत दूर ही है । इसके तट पर वन्यपशु जल पीने के लिये आया करते हैं ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो[1] बहुकन्दराः ।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लै[2]स्तरुभिरावृताः ॥ १४ ॥

यहाँ पर अनेक ऐसे पर्वत देख पड़ते हैं जिन पर मोर बोल रहे हैं, जो बड़े रमणीक, ऊँचे, अनेक गुफाओं से सुशोभित और फूले फूले वृक्षों से युक्त हैं ॥ १४ ॥

सौवर्णैं राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे च धातुभिः ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः[3] ॥ १५ ॥

ये पहाड़ जगह जगह सोने, चांदी, तांवा आदि धातुओं से सुशाभित हैं । धातुओं के रंग की रेखाओं से युक्त हाथी ऐसे जान पड़ते हैं, मानों मकानों में खिड़कियां लगी हों ॥ १५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरपनसाम्रकैः[4] ।
नीवारैस्तिमिशैश्चैव पुंनागैश्चोपशोभिताः ॥ १६ ॥

ये पहाड़ साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहर, तिन्नी, निवार, तिमिश और नागवृक्षों से सुशोभित हैं ॥ १६ ॥

---

१ प्रशवः—उन्नताः । (गो०) २ फुल्लैः विकसितपुष्पैः । (गो०) ३ परमभक्तिभिः—उत्कृष्टरेखालङ्कारैः । (गो०) ४ आम्रकैः—रसालभेदैः । (गो०)

* पाठान्तरे—" नातिदूरेण "

पूतैरपेतैरिलकैश्चम्पकैश्च केतकैरपि ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः ॥ १७ ॥

और आम, अशोक, तिलक, चम्पा, केतकी आदि पुष्प, गुल्म और लता आदि से वेष्टित हैं ॥ १७ ॥

चन्दनैः स्पन्दनैर्नीपैः पनसैर्बिल्वकैरपि ।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

ये चन्दन, स्यन्दन, कदंब, वड़हर, लुचकुचा, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, किंशुक और पटल नामक वृक्षों से शोभित हैं ॥ १८ ॥

इदं[1] पुण्यमिदं मेध्य[2]मिदं बहुमृगद्विजम् ।
इह वत्स्यामि सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥ १९ ॥

अतएव हे लक्ष्मण ! यह स्थान दर्शन मात्र से पुण्यप्रद है, पवित्र है और बहुत से मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण है । अतः हे लक्ष्मण ! हम लोग जटायु के समीप इसी जगह रहेंगे ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी ने अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के रहने के लिये एक आश्रम बनाया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संखात[2]मृत्तिकाम ।
सुस्तम्भां मस्करै[3]र्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥ २१ ॥

---

१ इदंपुण्यं — दर्शनमात्रेणपुण्यसम्पादकम् । (शि०) २ मेध्यं —पवित्रं । (गो०) ३ मस्करैः—वेणुभिः । (गो०) ४ संखातमृत्तिकाम्—भित्तीकृत मृत्तिकां । (गो०)

उस प्रशस्त पर्णशाला में मट्टी की दीवालें खड़ी कीं और लंबे बासों की थूनियों पर, बाँसो का ठाठ बांधा ॥ २१ ॥

शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम् ।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥

उस ठाठ पर शमी की डालियाँ बिछा कर, उनको टाट में कस कर बाँध दिया । फिर उन डालियों के ऊपर कुश, काँस और सरपत बिछा कर, अच्छी तरह छवनई कर दी ॥ २२ ॥

समीकृतबलां रम्यां चकार लघुविक्रमः ।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

फिर लक्ष्मण जी ने उस पर्णशाला के फर्श को समतल समान (ऊँचा नीचापन मिटा) कर, उसे श्रीरामचन्द्र जी के रहने योग्य और देखने में सुन्दर बना कर तैयार कर दिया ॥ २३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान्नदीं गोदावरीं तदा ।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने गोदावरी में स्नान किये और कमल पुष्पों तथा फलों को ले, वे पर्णशाला में लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥ २५ ॥

लौट कर लक्ष्मण जी ने पुष्पबलि दे तथा यथाविधान वास्तु शान्ति कर, उस (नवीन) बनाये हुए आश्रम को, श्रीरामचन्द्र को दिखलाया ॥ २५ ॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयद्[1] भृशम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी सीता जी के साथ, लक्ष्मण जी की बनाई हुई और देखने में सुन्दर उस कुटी को देख, परम सन्तुष्ट हुए ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा ।
अतिस्निग्धं[2] च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तब प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को अच्छी तरह छाती से लगा लिया और यह बोले ॥ २७ ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥ २८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ । तुमने यह बड़ा भारी काम कर डाला । इसका तुम्हें पुरस्कार भी मिलना चाहिये—सो उस पुरस्कार के बदले, मैंने तुम्हें अपने हृदय से लगा लिया ॥ २८ ॥

भावज्ञेन[3] कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः[4] पिता मम ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे, मन की बात जान लेने वाले, उपकार को मानने वाले और धर्मज्ञ पुत्र के विद्यमान होते हुए, मुझे यह नहीं जान पड़ता कि मेरे पिता मर गये ॥ २९ ॥

[नोट—इसका मतलब यह है कि, जिस प्रकार महाराज दशरथ हर प्रकार से मेरी आवश्यकताओं को पूरी करते थे और सदा इस बात का ध्यान

---

१ हर्षमाहारयत्—सन्तोषप्राप्तवान् । (गो०) २ अतिस्निग्धं च गाढं चेति-परिष्वङ्गक्रियाविशेषणं । (गो०) ३ भावज्ञेन मच्चित्तज्ञेन । (गो०) ४ न संवृतोनमृतः । (रा०)

रखते थे कि, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे—उसी प्रकार हे लक्ष्मण ! तुम भी मेरी आवश्यकताओं को पूर्ति और असुविधाओं को दूर करने का सदा ध्यान रखते हो ।]

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः ।
तस्मिन्देशे बहुफले न्यवसत्सुसुखं वशी[1] ॥ ३० ॥

शोभा बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से इस प्रकार कह कर और जितेन्द्रिय हो, उस बहुफलयुक्त स्थान में बड़े सुख से वास करने लगे ॥ ३० ॥

कञ्चित्कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च ।
अन्वास्यमानो न्यवसत्स्वर्गलोके यथाऽमरः ॥ ३१ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

इस प्रकार वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण से सेवित हो, वहां कुछ दिनों उसी प्रकार सुख से रहे, जिस प्रकार देवता लोग स्वर्ग में सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ३१ ॥

अरण्यकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षोडशः सर्गः

—:※:—

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।
शरच्चपाये हेमन्त ऋतुरिष्टः प्रवर्तते ॥ १ ॥

---

१ वशी—विषयचापलरहितः । (गो०)

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ सुख से वास कर, शरद्ऋतु बिता दी। तदनन्तर सब को प्रिय लगने वाली हेमन्त ऋतु आरम्भ हुई ॥ १ ॥

स कदाचित्प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः ।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी रमणीय गोदावरी में स्नान करने गये ॥२॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तं सीतया सह वीर्यवान् ।
पृष्ठतोऽनुजगन्भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बलवान लक्ष्मण, सीता जी के साथ, हाथ में कलसा लिये हुए, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले और उनसे यह बात बोले ॥ ३ ॥

अयं स कालः संप्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद ।
अलंकृत इवाभाति येन[1] संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

हे प्रियभाषी ! आपकी प्यारी हेमन्त ऋतु आ गयी है। इस ऋतु के आगमन से पके हुए अन्नादि से, यह शुभ संवत्सर सुशोभित सा जान पड़ता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः[2] पृथिवी सस्यशालिनी ।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

---

१ येनहेमन्तेनशुभोऽयं संवत्सरः—सुपक्वसस्यादि संपत्त्याअलंकृतइवाभाति ।
२ परुषोलोकः—रुक्षशरीरइति । (शि०)

सर्दी पड़ने से लोगों के शरीर का चमड़ा रूखा हो गया है, खेत अनाज से हरे भरे देख पड़ते हैं, पानी छूने को मन नहीं चाहता और आग तापने को जी चाहता है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥ ६ ॥

इस समय सज्जनजन नवान्न से देवता और पितरों का पूजन कर, नवशस्य निमित्त यज्ञ करते हुए, निष्पाप हुए हैं ॥ ६ ॥

[नोट—खेती आदि करने में अनेक जीवों की हिंसा करने से जो पाप लगता है, वह नवीन अन्न से देव-पितृ-पूजन करने पर छूट जाता है। धर्मशास्त्र का वचन है—

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयोयवाः ।
नाश्नीयात्तात हुत्वैव मन्येष्वनियमः स्मृतः ॥

इसी प्रमाण के आधार पर उत्तरभारत में होली की प्रथा चली है।]

प्राज्यकामा[1] जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।
विचरन्ति महीपाला यात्रास्था विजिगीषवः ॥ ७ ॥

इस समय सब जनपदों में सब आवश्यक वस्तुएँ अधिकता से प्राप्त होती हैं। इस समय अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गोरस, (दूध दही घी) भी अधिक होता है। राजा लोग, जो विजय की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी इन्हीं दिनों यात्रा करते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम् ।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक्प्रकाशते ॥ ८ ॥

दक्षिणायन सूर्य होने के कारण उत्तर दिशा, तिलक हीन स्त्री की तरह शोभारहित अर्थात् प्रकाशहीन हो गयी है ॥ ८ ॥

---

१ प्राज्यकामाः—प्राप्तसकलेप्सिताः । (शि०)

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान्हिमवान्गिरिः ॥ ९ ॥

हिमालय वैसे ही सदा बर्फ़ से ढका रहता है, किन्तु इन दिनों सूर्य भगवान से उसके बहुत दूर हो जाने के कारण, हिमालय का हिमवान् नाम पूरा पूरा चरितार्थ हो रहा है। अर्थात् हेमन्तऋतु में हिमालय के ऊपर अपार बर्फ़ जमा हो जाती है ॥ ९ ॥

अत्यन्तसुखसञ्चारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः ।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥ १० ॥

इस ऋतु में दोपहर के समय घूमना फिरना अच्छा लगता है, क्योंकि धूप की तेज़ी से सर्दी न लग कर, धूप सुखदायिनी लगती है। इन दिनों सूर्य सब को सुख देने वाले होते हैं; और छाया तथा जल अच्छे नहीं लगते ॥ १० ॥

मृदुसूर्याः सनीहाराः पटुशीताः[1] समारुताः ।
शून्यारण्या[2] हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

इस ऋतु में सूर्य का पहले जैसा तेज नहीं रहता। कुहरा पड़ने तथा पवन चलने से शीत की अधिकता हो जाती है। अथवा शीत प्रबल हो जाता है। वन में बसने वाले लोग खुले मैदानों में रहने के कारण, शीत से पीड़ित हो, वन में इधर उधर नहीं घूमते, इससे वन सूने से जान पड़ते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः ।
शीता वृद्धतरा यामास्त्रियामा[3] यान्ति साम्प्रतम् ॥ १२ ॥

---

१ पटुशीताः—प्रबलशीताः । (गो०) २ शून्यारण्याः—अरण्यावनचराः तैः शून्याः आवरणरहितत्वेन शीतपीडिताः न बहिः संचरन्तीत्यर्थः । (गो०) । ३ त्रियामः—रात्रयः । (रा०) ।

पुष्य नक्षत्र युक्त इस पुष्य मास में, और पाला पड़ती हुई धूसर रंग की रात में, कोई खुले मैदान में नहीं सो सकता। दिन की अपेक्षा रात में सर्दी अधिक पड़ती है और दिन की अपेक्षा रात बड़ी भी अधिक होती है ॥ १२ ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुंधला पड़ जाता है, वैसे ही चद्रमा भी, जिसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और मनोहरता सूर्य-मण्डल में चली गयी है, धुंधला जान पड़ता है ॥ १३ ॥

ज्योत्स्नी तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥ १४ ॥

कुहरा के कारण चन्द्रमा की चांदनी अब पूर्णिमा की रात में भी नहीं चटकती (खिलती) उसका केवल कुछ कुछ धुंधला सा प्रकाश देख पड़ता है। जैसे धूप के मारे श्याम वर्ण हुई सीता जी, केवल पहिचानी तो जाती हैं, किन्तु शोभित नहीं होतीं ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥ १५ ॥

देखो, इस ऋतु में पच्छिम का वायु, जो स्वभाव से ठंडा है, कुहरा के कारण, दुगना ठंडा हो कर, चल रहा है ॥ १५ ॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः ॥ १६ ॥

ये जौ और गेहूँ के खेतों से भरे हुए और कुहरे से छाये हुए वन, सूर्योदय के समय बोलते हुए क्रौंच एवं सारस पक्षियों से, कैसे शोभा युक्त जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किञ्चिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः ॥ १७ ॥

ये सुनहले शालि समूह, खजूर के फूल की तरह, तण्डुलों की बालों के बोझ से, कुछ झुके हुए, कैसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १७ ॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः ।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥ १८ ॥

यह सूर्य कितना ऊँचा चढ़ आया है, तो भी, पाले के मारे किरणों का प्रकाश न होने के कारण, चन्द्रमा की तरह देख पड़ता है ॥ १८ ॥

अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।
सरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥ १९ ॥

सबेरे तो सूर्य की धूप में तेज़ी जान ही नहीं पड़ती, परन्तु दोपहर को धूप तेज़ होने पर भी अच्छी लगती है । इस समय सूर्य का प्रकाश कुछ पीला सा हो, पृथिवी को शोभित कर रहा है ॥ १९ ॥

अवश्याय[1]निपातेन किञ्चित्प्लक्विन्नशाद्वला[2] ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुगालता ॥ २० ॥

ओस की बूदों के गिरने से हरी हरी घास तर हो गयी है, इस घास पर जब प्रातःकालीन सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब वन की भूमि की शोभा देखते ही बन आती है ॥ २० ॥

स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ २१ ॥

---

१ अवश्यायः—हिमं, हिमविन्दुः । (गो०) २ शाद्वलः—शष्यप्रचुराभूमिः । (रा०)

देखिये, ये जंगली हाथी, जो बहुत प्यासा है, इस अत्यन्त शीतल जल को (पीना तो एक ओर रहा) स्पर्श करते ही, अपनी सूँड़ सकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
न विगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्[1] ॥ २२ ॥

ये जल में विहार करने वाले पक्षी, जल में डुबकी नहीं मारते, केवल चुपचाप तट पर बैठे हैं, जैसे कायर योद्धा, संग्राम से डर कर, चुपचाप बैठ रहते हैं ॥ २२ ॥

अवश्याय[2]तमोनद्धा[3] नीहारतमसा वृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥ २३ ॥

पुष्पशून्य वनश्रेणी, कुहरा के अन्धकार से ढक जाने पर, ऐसी जान पड़ती है, मानों सो रही हों ॥ २३ ॥

बाष्पसंछन्नसलिला रुत[4]विज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥ २४ ॥

इस समय नदियाँ, जो कुहरे से ढकी हैं, और जिनकी वालू कोहरे से तर है, केवल तहों से जान पड़ती है, (इसी प्रकार) सारस भी इस समय (कोहरे के अंधकार के कारण) केवल वाली से पहचाने जाते हैं ॥ २४ ॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद्भास्करस्य च ।
शैत्यादगाग्रस्थमपि[5] प्रायेण रसव[6]ज्जलम् ॥ २५ ॥

---

१ आहवं—युद्धं । (गो०) २ अवश्यायः—हिमसलिलं । (गो०) ३ नद्धाः—बद्धाः । (गो०) ४ रुतं—शब्दं । (गो०) ५ अगाग्रस्थमपि—निर्मल शिलातलस्थमपि । (गो०) ६ रसवत्—विषवत् । (गो०)

निर्मल शिलातल का जल भी तुषार के गिरने और सूर्य का तेज़ मंद पड़ जाने के कारण, विष की तरह अनुपादेय हो रहा है ॥ २५ ॥

जराजर्झरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति सरसो नलिनः ॥ २६ ॥

कमलों के पत्ते जीर्ण हो कर झड़ गये, कमल के फूलों की कर्णिका और केसर भी गिर गयी हैं, मारे पाले के उनमें, केवल डंडी मात्र रह गयी हैं । इसीसे कमल के तड़ाग अब शोभाहीन हो रहे हैं ॥२६॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रः काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥ २७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय धर्मात्मा भरत जी आपके वियोग-जनित दुःख से दुखी हो, अयोध्या जी में, आपकी भक्ति के वशवर्त्ती हो, तपस्या करते होंगे ॥ २७ ॥

त्यक्त्वा राज्यं[1] च मानं[2] च भोगांश्च[3] विविधान्बहून् ।
तपस्वी[4] नियताहारः[5] शेतेशीते[6] महीतले ॥ २८ ॥

प्रभुत्व को और राजपुत्र होने के अभिमान को तथा फूलों के हार, चन्दन तथा वनितादि राजाओं के भोगने योग्य तरह तरह के अनेक भोगों को त्याग और जटा वल्कल धारण कर तथा फल मूल खा कर, भरत जी इस शीतकाल में ज़मीन पर सोते होंगे ॥ २८ ॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥ २९ ॥

---

१ राज्यं—प्रभुत्वं । (गो०) २ मानं—राजपुत्राहमित्यभिमानं । (गो०) ३ भोगान्—स्रक्चन्दनवनितादीन् । (गो०) ४ तपस्वी—तपस्विचिन्हजटादि-मान् । (गो०) ५ नियताहारः—फलमूलाद्यशनः । (गो०) ६ शीत—इत्यनेनावर-णराहित्यमुच्यते । (गो०)

वे भी निश्चय ही इस समय अपने मंत्रियों के साथ सरयू नदी में स्नान करने को जाते होंगे ॥ २९ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः* ।
कथं न्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥ ३० ॥

जो भरत अत्यन्त सुख से पाले पोसे गये हैं और स्वभाव ही से सुकुमार हैं, वे भरत, किस प्रकार पाला पड़ने के समय पिछली रात में, सरयू में स्नान करते होंगे ॥ ३० ॥

पद्मपत्रेक्षणो वीरः श्यामो नि दरो[1] महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च हीनिषेधो[2] जितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः ।
सन्त्यज्य विविधान्भोगानार्यं सर्वात्मना श्रितः ॥ ३२ ॥

जो भरत जी कमलनेत्र, श्यामवर्ण, सूदमोदर, (थोंदथूदीले नहीं, अर्थात् बड़े पेट वाले नहीं) बड़ाई करके युक्त, धर्मज्ञ, सत्यवादी, परस्त्री विमुख, जितेन्द्रिय, प्रियभाषी, मनोहर, बड़ी भुजाओं वाले और शत्रुओं को दमन करने वाले हैं, वे समस्त राजसुखोचित भोगों को त्याग कर, हे राम ! सब प्रकार से आप ही के आश्रित हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

जितः[3] स्वर्ग[4]स्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥ ३३ ॥

यद्यपि तुम्हारे भाई महात्मा भरत जी तपस्वी के भेष में वनवासी नहीं हुए, तथापि उन्होंने तुम्हारे अनुरूप तपस्वी का भेष धारण कर

---

१ निरुदरो—अतुन्दिलः । (गो०) २ हीनिषेधाः—ह्रियापरनारी विषये निषेध । (रा०) ३ जितः - तिरस्कृतः । (गो०) ४ स्वर्गः —रामप्राप्त्यन्तरायभूतः स्वर्गः । (गो०)

* पाठान्तरे—"सुखोचितः"

और तपस्वियों के नियमों का पालन कर, स्वर्ग को जीत लिया है, अर्थात् आपके वियोग में स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिया है। इस का भाव यह है कि, आपके बिना उन्होंने राज्य के स्वर्गीय भोगों का तिरस्कार किया है ॥ ३३ ॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा[1] इति ।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥ ३४ ॥

संसार में जो यह कहावत प्रचलित है कि, मनुष्य में पिता का स्वभाव नहीं आता, वरन माता ही का स्वभाव आता है, सो भरत जी ने इस कहावत को झूठा कर के दिखा दिया। (कहावत—" मां पै पूत, पिता पै घोड़ा, बहुत नहीं तो, थोड़ा थोड़ा।") ॥ ३४ ॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी* ॥ ३५ ॥

परन्तु जिसके पति तो महाराज दशरथ हों और पुत्र साधु भरत जैसा हो, वह माता कैकेयी क्यों कर ऐसी क्रूर स्वभाव की हुई ?॥३५॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद्ब्रुवति धार्मिके ।
परिवादं जनन्यास्तमसहन्राघवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

महात्मा लक्ष्मण जी ने, भ्रातृस्नेह के वशवर्त्ती हो, जब ऐसे वचन कहे, तब श्रीरामचन्द्र जी, माता कैकेयी की निन्दा न सह कर, बोले ॥ ३६ ॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथञ्चन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥ ३७ ॥

---

१ द्विपदाः—मनुष्याः। (गो०)

* पाठान्तरे—" क्रूरशीलिनी ।

हे भाई लक्ष्मण ! तुम मझली माता कैकेयी की निन्दा मत करो। तुम तो केवल इक्ष्वाकुनाथ भरत की चर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चिताऽपि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता ।
भरतस्नेहसन्तप्ता बालिशी[1]क्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

यद्यपि मैं १४ वर्ष तक वनवास करने का अब तक दृढ़ निश्चय किये हुए हूँ और उसके लिये दृढ़व्रत हूँ, तथापि भरत के स्नेह का जब मुझे स्मरण आता है, तब मैं विकल हो जाता हूँ और मेरी बुद्धि बालकों जैसी हो जाती है ॥ ३८ ॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

भरत जी की प्रिय, मधुर, हृदय को अमृत की तरह तृप्त करने वाली, और मन को प्रसन्न करने वाली बातें, मुझे याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा न्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना ।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥ ४० ॥

नहीं कह सकता मैं कब, महात्मा भरत जी और वीर शत्रुघ्न से तुम्हारे सहित फिर मिलूँगा ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम् ।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विलाप करते करते लक्ष्मण और सीता सहित गोदावरी नदी पर पहुँच गये और तीनों ने गोदावरी में स्नान किये ॥ ४१ ॥

---

१ बालिशीक्रियते—बालबुद्धिरिवभवति । (गो०)

तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितृन्दैवतानि च ।
स्तुवन्ति[1] स्मोदितं सूर्यं देवताश्च[2] समाहिताः ॥ ४२ ॥

तदन्तर उन्होंने गोदावरी के जल से देव पितरों का तर्पण कर, उदय होते हुए सूर्य का उपस्थान कर, सन्ध्यादि देवता की अर्थात् सूर्य-मण्डल-मध्यवर्ती-नारायण की एकाग्रचित्त से स्तुति की ॥ ४२ ॥

[**नोट**—इस श्लोक में—" तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितृन्दैवतानि च " देखकर अवगत होता है कि रामायणकाल में जल द्वारा देव और ऋषि पितृ देवों का तर्पण करने की प्रथा प्रचलित थी ।]

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन ।
कृताभिषेको गिरिराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दी भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस समय स्नान कर के श्रीरामचन्द्र जी, सीता और लक्ष्मण सहित उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए या सुशोभित हुए, जिस प्रकार पार्वती और नन्दी सहित भगवान् शिव जी शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

अरण्यकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ स्तुवन्ति—उपतस्थिरे । (गो०) २ देवताः—सन्ध्यादि देवताः । (गो०)

सप्तदशः सर्गः

—※—

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च ।
तस्माद्गोदावरीतीरात्ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण स्नान कर, गोदावरी के तट से अपने आश्रम को लौटे ॥ १ ॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः ।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं[1] कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में पहुँच कर, लक्ष्मण जी सहित पूर्वाह्णिक—ब्रह्मयज्ञादि कर्म कर, पर्णशाला में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥ ३ ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों द्वारा पूजित हो कर, सुख से वास करने लगे और लक्ष्मण से अनेक प्रकार की पुराण एवं इतिहासों की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ।
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव ॥ ४ ॥

उस पर्णशाला में सीता जी के साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी, ऐसे शोभित होते थे, जैसे चित्रा नक्षत्र के सहित चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ४ ॥

---

१ पौर्वाह्णिकं —ब्रह्मयज्ञादि नत्वग्नि कृत्यम् अनुदितहोमत्वेन तस्य सुर्योपस्थाननानन्तर भावित्वा भावात् । (गो०)

तथाऽऽसीनस्य रामस्य अव्यग्रमनसश्चेतसः ।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तो बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, इतने में एक राक्षसी अकस्मात् वहाँ जा पहुँची ॥ ५ ॥

सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः ।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
आजानुबाहुं दीप्तास्यमतीव प्रियदर्शनम् ॥ ७ ॥
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ।
सुकुमारं महासत्त्वं[1] पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्[2] ॥८॥
राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदृशप्रभम् ।
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता ॥ ९ ॥

उस राक्षसी का नाम शूर्पणखा था और वह रावण की बहिन थी । देवताओं के समान, सिंह जैसी छाती वाले, महाबाहु, कमल पत्र के समान विशाल नेत्र वाले, घुटनों तक लंबी भुजाओं वाले, तेजस्वी, देखने में अतीव सुन्दर, मदमत्त गज की तरह चलने वाले, जटामण्डलधारी, सुकुमार, महाबलवान, राजलक्षणों से युक्त, नील कमल के तुल्य श्याम वर्णवाले, और कामदेव के समान सुन्दर, श्रीराम चन्द्र जी को इन्द्र की तरह बैठा हुआ देख, वह राक्षसी काम से मोहित हो गयी अर्थात् उन पर आसक्त हो गयी ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ महासत्त्वं—महाबलं । (गो०) २ पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्—राजलक्षणानि । (गो०)

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं[1] महोदरी ।
विशालाक्षं विरूपाक्षी[2] सुकेशं[3] ताम्रमूर्धजा ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मुख सुन्दर था और उस राक्षसी का ख़राब । श्रीरामचन्द्र जी के शरीर का मध्यभाग न बहुत बड़ा था न छोटा था और उस राक्षसी के शरीर का मध्य भाग बहुत बड़ा था अर्थात् वह बड़े पेट वाली थी । श्रीरामचन्द्र जी के नेत्र बड़े बड़े थे और उस राक्षसी के नेत्र विकट थे । श्रीरामचन्द्र जी के सिर के केश नीले थे और उस राक्षसी के लाल लाल थे ॥ १० ॥

प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा ।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी देखने में सुन्दर थे और वह राक्षसी देखने में महाकुरूपा थी । श्रीरामचन्द्र जी का कण्ठस्वर मधुर था, उस राक्षसी का नितान्त कर्कश । श्रीरामचन्द्र जी जवान थे और वह राक्षसी महावृद्धा थी । श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त मधुरभाषी थे और वह राक्षसी सदा टेढ़ी ही बात बोला करती थी ॥ ११ ॥

न्यायवृत्तं[4] सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ।
शरीरज[5]समाविष्टा राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का आचरण उचित था और उस राक्षसी का अत्यन्त गर्हित । श्रीरामचन्द्र जी देखने में जैसे प्रिय थे वह राक्षसी वैसी ही भयङ्कर थी । ऐसी वह राक्षसी कामातुर हो, श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥ १२ ॥

---

१ वृत्तमध्यं—तनुमध्यं (गो०) २ विरूपाक्षी—विकटनेत्री (गो०) ३ सुकेशं—नीलकेशं । (गो०) ४ न्यायवृत्तं—उचिताचारं । (गो०) । ५ शरीरजो—मन्मथः । (गो०)

जटी तापसरूपेण सभार्यः शरचापधृत् ।
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ॥ १३ ॥

जटा धारण किये, तपस्वी का भेष बनाये और तीर कमान लिये, स्त्री सहित, तुम इस राक्षसों से सेवित वन में, क्यों आये हो ? ॥ १३ ॥

किमागमनेकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परन्तपः ॥ १४ ॥
ऋजुबुद्धितया[1] सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।
अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि सम्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है, सो ठीक ठीक बतलाओ। शत्रुओं के तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन, सरलता से अपना समस्त वृत्तान्त कहना आरम्भ किया । क्योंकि श्रीरामचन्द्र झूठ बोलना कभी पसन्द नहीं करते ॥ १४ ॥ १५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थस्य[2] समीपे स्त्रीजनस्य च ।
आसीद्दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ॥ १६ ॥

सो भी विशेष कर तपोवन में बैठ कर और स्त्रियों के सामने । अतः श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—देवतुल्य पराक्रमी महाराज दशरथ नाम के महाराज थे ॥ १६ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
भ्राताऽयं लक्ष्मणो नाम यवीयान्मामनुव्रतः ॥ १७ ॥

उन्हींका मैं ज्येष्ठपुत्र हूँ । संसार में मैं राम के नाम से प्रसिद्ध हूँ । यह मेरा आज्ञाकारी छोटा भाई है । इसका नाम लक्ष्मण है ॥ १७ ॥

---

१ ऋजुबुद्धितया—सरलस्वभावेन । (शि०) २ आश्रमस्थस्य—तपोवनस्थस्य (गो०)

इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ।
नियोगात्तु[२] नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः[१] ॥ १८ ॥

और यह विदेहनन्दिनी मेरी भार्या है और इसका नाम सीता है । अपने पिता महाराज दशरथ और माता की आज्ञा से प्रेरित हो ॥ १८ ॥

धर्मार्थं[३] धर्मकाङ्क्षी[४] च वनं वस्तुमिहागतः ।
त्वां तु वेदितुमिच्छामि कथ्यतां काऽसि कस्य वा ॥१९॥

तपोरूपी धर्म की सिद्धि के लिये और पिता की आज्ञा का पालन करने की आकाँक्षा से, मैं यहाँ इस वन में आया हूँ । अब मैं तुम्हारा परिचय भी जानना चाहता हूँ । सो तुम बतलाओ कि, तुम कौन हो, और किसकी स्त्री हो और किसकी लड़की हो ? ॥ १९ ॥

न हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे ।
इह वा किन्निमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः ॥ २० ॥

तुम जैसी बनठन कर आयी हो, सो वास्तव में तुम वैसी हो नहीं । तुम तो मुझे कोई राक्षसी जान पड़ती हो । अब तुम ठीक ठीक बतलाओ कि, तुम यहाँ किस लिये आयी हो ? ॥ २० ॥

साऽब्रवीद्वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता ।
श्रूयतां राम वक्ष्यामि तत्त्वार्थं वचनं मम ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन वह कामातुर राक्षसी बोली— हे राम ! मेरे वचन सुनिये, मैं अब अपना परिचय तुम्हें ठीक ठीक देती हूँ ॥ २१ ॥

---

१ यन्त्रितः—नियतः । (गो०) २ नियोगात् आज्ञावलात् । (रा०) ३ धर्मार्थं—तपोरूपधर्मसिद्ध्यर्थं । (गो०) ४ धर्मकाङ्क्षी—पितृवाक्यपालन रूपधर्मकाङ्क्षी । (रा०)

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ।
अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयङ्करा ॥ २२ ॥

मैं शूर्पणखा नाम की कामरूपिणी राक्षसी हूँ । मैं सब को डराती हुई, अकेली इस वन में घूमा करती हूँ ॥ २२ ॥

रावणो नाम मे भ्राता बलीयान्राक्षसेश्वरः ।
वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २३ ॥

बड़ा बलवान्, शूर और विश्रवामुनि का पुत्र तथा राक्षसों का राजा, जिसका नाम कदाचित् तुमने सुना हो, रावण मेरा भाई है ॥२३ ॥

प्रहृष्टनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः ।
विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ॥ २४ ॥

मेरे मझले भाई का नाम कुम्भकर्ण है जो सदा सोया करता है, किन्तु है बड़ा बलवान् । मेरे सब से छोटे भाई का नाम विभीषण है । वह बड़ा धर्मात्मा है, इसीसे वह जन्म से राक्षस होने पर भी, उसके आचरण राक्षसों जैसे नहीं हैं ॥ २४ ॥

प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ ।
तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ॥ २५ ॥
समुपेताऽस्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम् ।
अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी ॥ २६ ॥

खर और दूषण नाम के मेरे दो भाई और हैं, जो युद्ध करने में बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी हैं । हे राम ! तुमको पहिली बार देखते ही, (तुम पर आसक्त हो), मैं उन सब की कुछ भी परवाह न कर, तुम जैसे उत्तम पुरुष को अपना पति बनाने को यहाँ आयी हूँ । मैं बड़ी प्रभाव

शालिनी और बलवती हूँ। इसीलिये मैं स्वच्छन्द घूमती रहती हूँ। अर्थात् जहाँ चाहती हूँ वहाँ जाती हूँ ॥ २५ ॥ २६ ॥

चिराय भव मे भर्ता सीतया किं करिष्यसि ।
विकृता च विरूपा च न चेयं सदृशी तव ॥ २७ ॥

सो तुम चिरकाल के लिये मेरे पति बनो। तुम सीता को ले कर क्या करोगे ? यह तो विकराल और कुरूपा है। अतः यह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

[नोट—"भव मे भर्त्ता" से जान पड़ता है कि, राक्षससमाज में विधवाएं पुनर्विवाह कर सकती थीं।]

अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम् ।
इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ॥ २८ ॥
अनेन ते सह भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम् ।
ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च ॥
पश्यन्सह मया कान्त दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ २९ ॥

सौन्दर्य की दृष्टि से मैं तुम्हारी भार्या बनने योग्य हूँ। अतः तुम मुझे अपनी स्त्री की तरह देखो। इस कुरूपा, कुलटा, विकटाकार वाली और लटकती हुई थोंद वाली, मानुषी सीता को, तुम्हारे इस भाई के सहित, मैं खा डालूँगी। तब तुम मेरे साथ पर्वत के इन शिखरों पर और इन विविध वनों को देखते हुए, इस दण्डक वन में विचरना ॥ २८ ॥ २९ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम् ।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ ३० ॥

॥ इति सप्तदशः सर्ग ॥

वचन बोलने में चतुर श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन और मुसक्या कर, क्रूरमना राक्षसी से यह कहना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।

—※—

अष्टादशः सर्गः

—※—

ततः शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम् ।
स्वच्छया[1] श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उपहास करते हुए, कामपीड़ित शूर्पणखा से साफ साफ शब्दों में, किन्तु मधुर वाणी से मुसकरा कर कहा ॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम ।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा सपत्नता ॥ २ ॥

हे देवि ! मेरा विवाह तो हो चुका है और यह मेरी पत्नी मुझे प्यारी भी बहुत है । अतः तुम जैसी स्त्री को सौत का होना बड़ा दुःखदायी होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः ।
श्रीमानकृतदारश्च[2] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥

हाँ, मेरे छोटे भाई लक्ष्मण के पास इस समय स्त्री नहीं है और वह है भी शीलवान्, सुन्दर, तेजस्वी और पराक्रमी ॥ ३ ॥

[नोट— 'अकृतदार" का अर्थ "अविवाहित" इस लिये नहीं हो सकता कि, श्रीरामचन्द्र जी पर मिथ्याभाषण का दोष लगता है । श्रीरामचन्द्र जी तो कहते हैं-"आनृतंनोक्तपूर्व में नच वक्ष्ये कदाचना" तथा "न वितथा परिहास-कथास्वपि" ।]

---

१ स्वच्छया—स्पष्टार्थया । (गो०) २ अकृतदारः—असहकृतदार । (गो०)

अपूर्वी[२] भार्यया चार्यो तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

यह तरुण है और इसे बहुत दिनों से स्त्री सुख भी प्राप्त नहीं हुआ । अतः इसे भार्या की आवश्यकता भी है । देखने में भी बड़ा सुस्वरूप होने के कारण, यह तुम्हारे अनुरूप ही पति होगा ॥ ४ ॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम ।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

सो हे विशालाक्षी ! तुम मेरे भाई को अपना पति बना लो । इसको अपना पति बनाने से तुम्हें सौत का दुःख भी न होगा और तुम इसके साथ उसी प्रकार सुख से रहोगी, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु के पास रहती है ॥ ५ ॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता ।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रीत् ॥ ६ ॥

वह काम से पीड़ित राक्षसी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, लक्ष्मण जी से जा कर बोली ॥ ६ ॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याऽहं वरवर्णिनी ।
मया सह सुखं सर्वान्दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ ७ ॥

मैं सब स्त्रियों में अधिक सुन्दरी होने के कारण, तुम्हारे इस सौन्दर्य के योग्य ही तुम्हारी भार्या बनूँगी और तुम मेरे साथ सुख पूर्वक इस समूचे दण्डकवन में विचरोगे ॥ ७ ॥

---

१ अपूर्वी—चिरादज्ञातभार्यासुख । (गो०)

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः ।
ततः शूर्पणखां स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत् ॥ ८ ॥

शूर्पणखा की यह बात सुन, वाक्पटु लक्ष्मण जी मुसक्या कर उससे यह युक्तियुक्त वचन बोले ॥ ८ ॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि ।
सोऽहमार्येण परवान्भ्रात्रा कमललोचने ॥ ९ ॥

हे कमललोचिनि ! (कमल समान रंग के शरीरवाली) तुम मुझ जैसे पराये दास की स्त्री बन कर, क्यों दासी बनना चाहती हो ? क्योंकि मैं तो अपने उन बड़े भाई के परवश हूँ ॥ ९ ॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्थासुदितामललोचनी ।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥ १० ॥

हे विशालनेत्रवाली ! तुम तो सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न मेरे बड़े भाई की यदि छोटी या दूसरी स्त्री बनोगी, तो तुम्हारी सब मनोकामना पूरी होंगी और तुम बहुत प्रसन्न होवोगी ॥ १० ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ॥ ११ ॥

फिर जब तुम इनसे विवाह कर लोगी, तब ये इस कुरूपा, कुलटा, कराली, बड़े पेट वाली और बूढ़ी स्त्री को छोड़, तुम्हारे ही अनुरागी बन जायँगे ॥ ११ ॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि ।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः ॥ १२ ॥

हे वरवर्णिनी ! हे वरारोहे ! भला कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस सर्वश्रेष्ठ रूप का अनादर कर, मानुषी में अनुराग करेगा ॥ १२ ॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।
मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासाविचक्षणा[1] ॥ १३ ॥

जब लक्ष्मण जी ने उससे इस प्रकार कहा, तब वह बड़े पेटवाली और भयङ्कर राक्षसी, उपहास के मर्म को न समझ, लक्ष्मण की बातों को सत्य ही मान बैठी ॥ १३ ॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परन्तपम् ।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत्काममोहिता ॥ १४ ॥

वह कामपीड़ित तो थी ही, सो वह पर्णकुटी में सीता जी के साथ बैठे हुए, शत्रुओं को तपाने वाले, दुर्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर कहने लगी ॥ १४ ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य मां न त्वं बहुमन्यसे ॥ १५ ॥

हे राम ! इस कुरूपा, कुलटा, भयङ्कर, महोदरी और बूढ़ी के सामने तुम (मेरी जैसी सुन्दरी का) ज़रा भी ख़्याल नहीं करते ॥ १५ ॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥ १६ ॥

तो लो, मैं अभी तुम्हारे सामने इस मानुषी को खाये डालती हूँ और फिर सौत का खटका दूर कर, मैं तुम्हारे साथ इस वन में आनन्दपूर्वक विहार करूँगी ॥ १६ ॥

---

१ परिहासाविचक्षणा—परिहासानभिज्ञा । (गो०)

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमङ्गारसदृशेक्षणा ।
अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥ १७ ॥

यह कह कर, दहकते हुए अङ्गारे के समान नेत्रों वाली शूर्पणखा, महाक्रुद्ध हो, हिरनी के बच्चे जैसे नेत्रों वाली सीता जी पर वैसे ही झपटी, जैसे रोहिणी की ओर उल्कापिण्ड वेग से झपटता हो ॥ १७ ॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामवलग्नां महाबलः ।
निगृह्य[1] रामः हुंकारात्तो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १८ ॥

यम की फाँसी के समान राक्षसी को आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, हुङ्कार से उसे रोका और लक्ष्मण जी से कहा ॥ १८ ॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथञ्चन ।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथञ्चित्सौम्य जीवतीम्[2] ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ऐसे असभ्य और क्रूर जनों से हँसी दिल्लगी न करनी चाहिये । हे सौम्य ! शूर्पणखा की यह क्रूरता देख, सीता कैसे स्वस्थ्य रह सकती है ? ॥ १९ ॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम् ।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ॥ २० ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! तुम इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली, और बड़े पेट वाली राक्षसी को और भी कुरूप कर दो ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः* ।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः ॥ २१ ॥

---

१ निगृह्य हुंकारेण प्रतिषिध्य । (गो०) २ कथंचिज्जीवतीं-शूर्पणखाया । क्रौर्यमालोक्यकथंचित्स्वास्थ्यमापन्नां । (गो०)

* पाठान्तरे—"पार्श्वतः" ।

महाबलवान् लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, क्रुद्ध हो और तलवार निकाल कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही उस राक्षसी के नाक कान काट डाले ॥ २१ ॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥ २२ ॥

तब तो वह घोर राक्षसी शूर्पणखा कान और नाक कटने के कारण विकट चीत्कार करती हुई, जिधर से आयी थी, उधर ही बन में भागी ॥ २२ ॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता ।
ननाद विविधान्नादान्यथा प्रावृषि तोयदः ॥ २३ ॥

अति भयानक शरीरवाली कुरूपा वह राक्षसी, रुधिर में सनी, वर्षाकालीन बादल की तरह, नाना प्रकार के शब्द करती हुई गरजने लगी ॥ २३ ॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना ।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महाबलम् ॥ २४ ॥

वह पहले से भी अधिक भयानक रूपवाली हो, बाहें उठा, घावों से रुधिर टपकाती हुई, महाबल में घुस गयी ॥ २४ ॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता ।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रदर्शनं
पपात भूमौ गगनाद्यथाऽशनिः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह कुरूपा राक्षसी, जनस्थान में, जहाँ खर नाम का उग्रतेजवान् उसका भाई राक्षसों की मण्डली में बैठा था, जा कर, उसके सामने, आकाश से गिरे हुए वज्र की तरह, पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम् ।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

रुधिर से सनी, भय और मोह से अचेत (अर्थात् जिसका चित्त ठिकाने न था) खर की बहिन राक्षसी शूर्पणखा ने, खर को, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का वन में आना और उनके द्वारा अपनी नाक और कानों के काटे जाने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का अठारहवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनविंशः सर्गः

—*—

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम् ।
भगिनीं क्रोधसन्तप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥ १ ॥

विरूप और रुधिर से सनी हुई अपनी बहिन को ज़मीन पर गिरी हुई देख, खर नामक राक्षस ने क्रोध से सन्तप्त हो, अपनी बहिन से पूँछा ॥ १ ॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम् ।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता ॥ २ ॥

उठ कर बैठ जा और अपना जी ठिकाने कर के, अपना हाल तो कह । निर्भय हो, साफ साफ बतला कि, तुझे किसने कुरूप किया ॥२॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम् ।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥ ३ ॥

सामने बैठे हुए, कुण्डली बाँधे, निरपराध विषधर काले साँप को, खेल के मिस, अथवा अनायास, ऊंगली से किसने छेड़ा है ॥ ३ ॥

कः कालपाश[1]मासज्य[2] कण्ठे मोहान्न बुध्यते[3] ।
यस्त्वामद्य[4] समासाद्य पीतवान्विषमुत्तमम् ॥ ४ ॥

कौन अपने गले में काल की फाँसी लगा कर, यह नहीं जानता कि, पीछे इससे उसे मरना होगा । जिसने तेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है, अर्थात् जिसने तेरी नाक और कान काटे हैं ; उसने मानों हलाहल विष पिया है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसंपन्ना कामगा कामरूपिणी ।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमा गता ॥ ५ ॥

अरे तू तो ऐसी बल विक्रम वाली, स्वच्छन्द घूमने वाली, काम-रूपिणी और काल के समान है । तेरी ऐसी दुर्दशा किसने कर डाली ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानमृषीणां च महात्मनाम् ।
कोऽयमेवं विरूपा त्वां महावीर्यश्चकार ह ॥ ६ ॥

---

१ कालपाशं—मृत्युपाशं । (गो०) २ आसज्य—आवध्य । (गो०)
३ न बुध्यते—उत्तरक्षणे स्वमरणं न जानाति । (गो०) ४ आसाद्य—प्राप्य । (गो०)

देवताओं गन्धर्वों, भूतपिशाचों, ऋषियों और महात्माओं में कौन ऐसा महापराक्रमी है, जिसने तेरे नाक कान काट डाले ॥ ६ ॥

न हि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम् ।
अन्तरेण सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

मैं तो सहस्रलोचन इन्द्र को भी यह सामर्थ्य नहीं देखता कि, वह मेरे साथ छेड़खानी करे—फिर मनुष्यों की तो गिनती ही किसमें है ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः[1] प्राणानादास्ये जीवितान्तकैः[2] ।
सलिले क्षीरमासक्तं विवित्क्षुरिव सारसः[4] ॥ ८ ॥

जिस प्रकार हंस जल मिश्रित दूध को, जल से अलग कर पी लेता है, उसी प्रकार आज मैं भी प्राण हरण करने वाले अपने बाणों से उस शत्रु के, जिसने तुम्हें विरूप किया है, प्राण शरीर से अलग कर दूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये[3] शरसंकृत्तमर्मणः ।
सफेनं रुधिरं रक्तं मेदिनी कस्य पास्यति ॥ ९ ॥

युद्ध में मेरे चलाये हुए बाणों से विदीर्ण हो, कौन मरना चाहता है ? और किसका फेन सहित रक्त यह पृथ्वी पीना चाहती है ? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः[5] कायान्मांसमुत्कृत्य सङ्गताः ।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

---

१ मार्गणैः—बाणैः । (गो०) २ जीवतान्तकैः—शत्रुजीवितविनाशकरैः । (गो०) ३ संख्ये—युद्धे । (गो०) ४ सारसः—हंसविशेषः । (गो०) ५ पत्ररथाः—पक्षिणः (गो०)

युद्ध में मेरे हाथ से मरे हुए किस पुरुष की देह का मांस नोच नोच कर, गिद्धादि पक्षियों के झुण्ड, प्रसन्न हो कर, खाया चाहते हैं ? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
मयापकृष्टं कृपणं[1] शक्तास्त्रातुमिहाहवे ॥ ११ ॥

मैं जिस पर चढ़ाई करूँगा, उस मेरे अपराधी को, न देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस बचा सकेंगे ॥ ११ ॥

उपलभ्य[2] शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि ।
येन त्वं दुर्विनीतेन[3] वने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

अब तू अपना जी धीरे धीरे ठिकाने कर, उस दुष्ट का नाम पता आदि मुझे बतला, जिसने तुझे इस वन में अपने पराक्रम से जीता है ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः[4] ।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अतिशय क्रुद्ध भाई के ये वचन सुन, शूर्पणखा आँसुओं से डबडबाती हुई, बोली ॥ १३ ॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

तरुण, सुस्वरूप, सुकुमार, महाबली, कमलनयन, चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, ॥ १४ ॥

---

१ कृपणं—अपराधिनं । (शि०) २ उपलभ्य—प्राप्य । (गो०) ३ दुर्विनीतेन—दुर्जनेन । (गो०) ४ विशेषतः—अतिशयेन । (गो०)

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

फलमूलाहारी, जितेन्द्रिय, तपस्वी और, धर्मचारी महाराज दशरथ के दो राजपुत्र राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
देवौ वा मानुषौ वा तौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

वे देखने में गन्धर्वराज की तरह और राजलक्षणों से युक्त जान पड़ते हैं । वे दोनों देवता हैं, या मनुष्य हैं, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

मैंने, उन दोनों के साथ क्षीणकटिवाली युवती, सुन्दरी और सब भूषणों से भूषित एक स्त्री भी देखी ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य[1] ताम् ।
इमामवस्थां नीताऽहं यथाऽनाथाऽसती तथा ॥ १८ ॥

उस स्त्री के निमित्त अथवा उस स्त्री के कहने से उन दोनों भाइयों ने मिल कर, मेरी वैसी दशा की, जैसी कि, किसी अनाथा और कुलटा स्त्री की, की जाती है ॥ १८ ॥

तस्याश्चानृजुवृत्ताया[2]स्तयोश्च हतयोरहम् ।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

---

१ प्रमदामधिकृत्य—निमित्तीकृत्य । (गो०) २ अनृजुवृत्तायाः-कुटिलवृत्तायाः । (गो०)

हे भाई ! मैं अब यह चाहती हूँ कि, युद्ध में वे दोनों कुटिल भाई मय उस स्त्री के मारे जाँय और मैं उनका फेन सहित (अर्थात् ताज़ा, टटका) खून पीऊँ ॥ १९ ॥

एष मे प्रथमः[१] कामः[२] कृतस्तात त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

मेरी सब से बढ़ कर (या श्रेष्ठ) यही अभिलाषा है । इसे तुम पूरी करो कि, जिससे मैं युद्धक्षेत्र में उन तीनों का रक्तपान करूँ ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान् ॥ २१ ॥

शूर्पणखा के यह कहने पर, खर ने क्रुद्ध हो, यमराज के समान बलवान १४ राक्षसों को आज्ञा दी कि, ॥ २१ ॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥ २२ ॥

जो शस्त्र धारण किये हुए हैं, काले मृग का चर्म ओढ़े हुए और चीर पहिने हुए हैं तथा जो इस घोर दण्डकवन में, स्त्री सहित आये हुए हैं ॥ २२ ॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामपावर्तितुमर्हथ ।
इयं च रुधिरं तेषां भगिनी मम पास्यति ॥ २३ ॥

उन दोनों जनों को, उस दुष्ट स्त्री के सहित मार कर, लौट आओ । क्योंकि यह मेरी बहिन उनका रुधिर पीवेगी ॥ २३ ॥

---

१ प्रथमः—श्रेष्ठः । (गो०) २ कामः—अभिलाषः । (गो०)

मनोरथोऽयमि[1]ष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसः ।
शीघ्रं सम्पाद्यतां तौ च प्रमथ्य[2] स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥

हे राक्षसो ! मेरी बहिन का यह मनोरथ है और मुझे भी यही इष्ट है कि, तुम लोग शीघ्र उन तीनों को अपने बल पराक्रम से मार डालो ॥ २४ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता यथा ॥ २५ ॥

इति एकोनर्विशः सर्गः ॥

इस प्रकार खर की आज्ञा पा कर, चौदहों राक्षस, वायु से उड़ाये हुए मेघों की तरह, शूर्पणखा के साथ वहां गये, जहां श्रीरामाश्रम था ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्नीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

विंशः सर्गः

—:*:—

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।
रक्षसामाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥ १ ॥

तदनन्तर वह भयङ्कर रूपवाली शूर्पणखा, श्रीरामाश्रम में पहुँची और उन दोनों भाई राम, लक्ष्मण तथा सीता को, उन राक्षसों को दिखलाया ॥ १ ॥

---

१ अस्याअयंमनोरथः ममचायमिष्टः सम्मतइत्यर्थः । (गो०) २ प्रमथ्य—हत्वा । (गो०)

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम् ।
ददृशुः सीतया सार्धं वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २ ॥

उन राक्षसों ने पर्णकुटी में महाबली श्रीराम को सीता और लक्ष्मण सहित बैठे हुए देखा ॥ २ ॥

तान्दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतां तां च राक्षसीम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों को और शूर्पणखा को आया हुआ देख, तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥ ३ ॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तर[1]ः ।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागता[2]निह ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! थोड़ी देर तुम सीता के पास रह कर इनकी, रखवाली करो । इतने में मैं इस राक्षसी के इन हिमायतियों को मार डालूँगा ॥ ४ ॥

वाक्यमेतच्ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः ।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं रामस्य प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी ने विदितात्मा श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर और उनके कथन को स्वीकार करते हुए, "बहुत अच्छा" कहा ॥५॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम् ।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी, सुवर्णभूषित अपने बड़े धनुष पर रोदा चढ़ा, उन राक्षसों से कहा ॥ ६ ॥

---

१ प्रत्यनन्तरः—रक्षणार्थं समीपवर्ती भव । (शि०) २ पदवीमागतान्—तत्सहायत्वेन प्राप्तान् । (शि०)

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम् ॥ ७ ॥

देखो हम दोनों महाराज दशरथ के पुत्र, सीता को अपने साथ ले, इस दुर्गम दण्डकवन में आये हैं ॥ ७ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ ॥ ८ ॥

हम फलमूल खाने वाले, जितेन्द्रिय, तपस्वी और धर्मचारी हो, इस दण्डकवन में रहते हैं, सो तुम हमारे ऊपर क्यों चढ़ कर आये हो अथवा हमें मारने आये हो ? ॥ ८ ॥

युष्मान्दोषात्मकान्हन्तुं विप्रकारान्महाहवे ।
ऋषीणां तु नियोगेन प्राप्तोऽहं सशरायुधः ॥ ९ ॥

(हम तपस्वी तो हैं, किन्तु हम लोगों के धनुष धारण करने का कारण यह है कि,) हम इस महावन में, तुम्हारे जैसे पापिष्ठों को, जो ऋषियों को सताया करते हैं, ऋषियों की आज्ञा से, मारने के लिये, धनुष बाण ले कर आये हैं ॥ ९ ॥

तिष्ठतैवात्र सन्तुष्टा[1] नोपावर्तितुमर्हथ[2] ।
यदि प्राणैरिहार्थो वा निवर्तध्वं निशाचराः ॥ १० ॥

इस लिये तुम निर्भय जहाँ के तहाँ खड़े रहना—भागना मत । और यदि अपने प्राण बचाने हों तो, हे राक्षसों ! तुम यहाँ से लौट जाओ ॥ १० ॥

---

१ सन्तुष्टा—अभीता । (गो०) २ नोपावर्तितुमर्हथ—मा पलायध्वमित्यर्थः । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
ऊचुर्वाचं सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, वे ब्रह्मघाती और शूलधारी चौदह राक्षस, महाक्रुद्ध हो बोले ॥ ११ ॥

संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम् ।
परुषं मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥ १२ ॥

वे लाल लाल नेत्र कर, लाल लाल नेत्रों वाले, मधुरभाषी, परम प्रसन्न रहने वाले और दृढ़ पराक्रमी श्रीरामचन्द्र से कठोर वचन बोले ॥ १२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।
त्वमेव हास्यसे प्राणानद्यास्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

देखो, तुमने हमारे महात्मा खर को अपने ऊपर क्रुद्ध स्वयं किया है । सो तुम आज लड़ाई में हमारे हाथ से मारे जाओगे ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।
अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्योद्धुमाहवे ॥ १४ ॥

तुम्हारे अकेले की क्या ताव है, जो हमारे सामने रण में खड़े भी रह सको ! हमारे साथ लड़ना तो बात ही निराली है ॥ १४ ॥

एहि बाहुप्रयुक्तैर्नः परिघैः[१] शूलपट्टिशैः[२] ।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम्[३] ॥ १५ ॥

---

१ परिघैः—गदाभेदैः । (गो०) २ पट्टिशैः—असिभेदैः । (गो०) ३ कर-पीडितम्—करेण दृढ गृहीतम् । (शि०)

हमारे चलाये इन गदाओं और तलवारों से घायल हो, तुमको केवल अपने हाथ का यह धनुष ही नहीं त्यागना पड़ेगा; किन्तु तुम्हें अपने बलवीर्य और प्राणों से भी हाथ धोने पड़ेंगे ॥१५॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः ॥ १६ ॥

यह कह वे चौदहो राक्षस क्रुद्ध हो और अपने आयुधों को उठा, एक साथ श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटे ॥ १६ ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।
तानि शूलानि काकुत्स्थ समस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषणैः ।
ततः पश्चान्महातेजा नाराचा[1]न्सूर्यसन्निभान् ॥ १८ ॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान्[2] ।
गृहीत्वा धनुरायस्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥
मुमोच राघवो बाणान्वज्रानिव शतक्रतुः ।
ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद्वक्षांसि रुधिराप्लुताः ॥ २० ॥

दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी पर उन लोगों ने त्रिशूल चलाये । तब श्रीरामचन्द्र जी ने उन समस्त चौदहों त्रिशूलों को सुवर्णभूषित उतने ही (१४) बाणों से काट डाला । तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमचमाते, बिना फरके और सिली पर पैनाये हुए चौदह बाण ले, उनको धनुष पर रखा और राक्षसों को लक्ष्य कर उसी प्रकार उन्हें छोड़े, जिस प्रकार इन्द्र वज्र

नाराचान्—अफलकान् बाणान् (गो०) २ शिलाशितान—शाणोपल निघृष्टान् । शिलानिर्भेदक्षमानित्यर्थः । (गो०—रा०)

को चलाते हैं। वे सब बाण, बड़े वेग से राक्षसों की छाती फोड़, रुधिर में सने, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

विनिष्पेतुस्तदा भूमौ न्यमज्जन्ताशनिस्वनाः ।
ते भिन्नहृदया भूमौ छिन्नमूलाः इव द्रुमाः ॥ २१ ॥

वज्र की तरह घहराते हुए पृथिवी पर जा गिरे। बाणों के आघात से वे चौदहों राक्षस भी विदीर्ण हृदय हो, जड़ से कटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़े ॥ २१ ॥

निपेतुः शोणितार्द्राङ्गा विकृता विगतासवः[1] ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भूमौ राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ २२ ॥

वे राक्षस खून से लथर पथर थे, उनकी शक्ले बिगड़ गयी थीं और वे निर्जीव हो गये थे। उनको ज़मीन पर गिरा हुआ देख, शूर्पणखा क्रोध से अधीर हो गयी ॥ २२ ॥

परित्रस्ता पुनस्तत्र व्यसृजद्भैरवस्वनान् ।
सा नदन्ती* महानादं जवात्शूर्पणखा पुनः ॥ २३ ॥

और भयभीत हो, उसने वहाँ पुनः बड़ा भयङ्कर शब्द किया और महानाद करती हुई वह शूर्पणखा, ॥ २३ ॥

उपगम्य स्वरं सा तु किञ्चित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेव वल्लरी† ॥ २४ ॥

जिसके शरीर का खून सूख गया था—खर के पास पहुँची और कातर हो सूखी हुई लता की तरह फिर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

---

१ विगतासवः—विगतप्राणाः । (गो०)

* पाठान्तरे "पुनर्नादं" । † पाठन्तरे—"सल्लकी" ।

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं मुहुः ।
सस्वरं मुमुचे वाष्पं विषण्णवदना तदा ॥ २५ ॥

भाई के पास जा, वह शोकातुर हो बहुत चीखने लगी और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगी। तब मारे शोक के उसका चेहरा फीका पड़ गया ॥ २५ ॥

निपातितान्हृश्य रणे तु राक्षसा-
न्धाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।
वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

वह खर की बहिन शूर्पणखा, युद्ध में राक्षसों को मरा हुआ देख, दौड़ी दौड़ी खर के पास गयी और बोली कि, सब राक्षस मारे गये ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकविंशः सर्गः

—※—

स पुनः पतितां दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां खरः ।
उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थ[1]मागताम् ॥ १ ॥

सब राक्षसों का सत्यानाश करवाने को उद्यत शूर्पणखा को फिर ज़मीन पर पड़ी हुई देख, क्रोध में भर, खर फिर चिल्ला कर बोला ॥ १ ॥

---

१ अनर्थार्थं — सर्वराक्षस विनाशार्थं । (गो०)

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसा रुधिराशनः ।
त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः ॥ २ ॥

मैंने तुझे प्रसन्न करने के लिये रुधिर पीने वाले और शूरवीर चौदह राक्षस भेजे दिये—अब तू क्यों फिर रो रही है ॥ २ ॥

भक्ता[1]श्चैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।
घ्नन्तोऽपि न निहन्तव्या न न कुर्युर्वचो मम ॥ ३ ॥

जिन राक्षसों को मैंने (छाँट कर) भेजा है, वे मेरे विश्वासपात्र हैं और उनका मुझमें पूर्ण अनुराग होने के कारण, वे मेरे सदा हित चाहने वाले हितैषी हैं । वे किसी के मारने पर भी, मारे नहीं जा सकते और न मेरी आज्ञा टाल सकते हैं (अर्थात् न तो उनके मारे जाने की मुझे शङ्का है और न मुझे उनके वहां न जाने का सन्देह ही है) ॥ ३ ॥

किमेतच्छ्रोतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।
हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवद्वेष्टसे* क्षितौ ॥ ४ ॥

यह क्या बात है और इसका क्या कारण है, जो तू फिर "हा नाथ" कह कर चिल्लाती हुई सांप की तरह ज़मीन पर लोट रही है । मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद्विलपसि नाथे तु मयि संस्थिते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा भैषीर्वैक्लव्यं[1] त्यज्यतामिह ॥ ५ ॥

अरे जब मैं तेरा रक्षक मौजूद हूँ, तब तू अनाथ की नाईं विलाप क्यों करती है उठ ! उठ ! डर मत और कातरता त्याग दे अर्थात् अधीर मत हो ॥ ५ ॥

---

१ भक्ताः—विश्वासभाजः । (गो०) २ वैक्लव्यं—कातर्यं । (गा०)

* पाठान्तरे—" सर्पवल्लुठसि " ।

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्विता ।
विमृज्य नयने सास्रे खरं भ्रातरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब खर ने इस प्रकार उस दुर्धर्षा को धीरज बंधाया, तब वह आंसुओं को पोंछ कर, अपने भाई खर से कहने लगी ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हतश्रवणनासिका ।
शोणितौघपरिक्लिन्ना त्वया च परिसान्त्विता ॥ ७ ॥

हे खर ! नाक और कानों से हीन, और लोहू से तरबतर, मैं जब (पहले) तेरे पास आयी थी, तब तूने धीरज बंधा कर ॥ ७ ॥

प्रेषिताश्च त्वया वीर राक्षसास्ते चतुर्दश ।
निहन्तुं राघवं क्रोधान्मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम् ॥ ८ ॥

और क्रुद्ध हो कर, चौदह राक्षस मेरे प्रियार्थ, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र का वध करने को भेजे थे ॥ ८ ॥

ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः ।
समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने मर्मभेदी पैने बाणों से शूल पटा आदि हाथों में लिये हुए और क्रोध में भरे हुए उन चौदहों राक्षसों को युद्ध में मार डाला ॥ ९ ॥

तान्दृष्ट्वा पतितान्भूमौ क्षणेनैव महाबलान् ।
रामस्य च महत्कर्म महांस्त्रासोऽभवन्मम ॥ १० ॥

उन महाबली राक्षसों का एक क्षण ही में पृथिवी पर गिरना (अर्थात् मरना) तथा श्रीरामचन्द्र के इस महत् कर्म को देख, मुझे बड़ा डर लगा ॥ १० ॥

अहमस्मि समुद्विग्ना[1] विषण्णा[2] च निशाचर ।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतोभयदर्शिनी ॥ ११ ॥

हे निशाचर ! मैं भयभीत, और दुखी हूँ और हर ओर मुझे भय ही भय देख पड़ता है । इसीसे पुनः तेरे शरण आयी हूँ ॥ ११ ॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि ।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे ॥ १२ ॥

विषाद रूप मगरों से पूर्ण और त्रास रूपी लहरों से युक्त महा-सागर में, मैं डूब रही हूँ । सो मुझे तू क्यों नहीं बचाता ? ॥ १२ ॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः ।
येऽपि मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १३ ॥

जो माँसभक्षी हिंसायती राक्षस तूने मेरे साथ भेजे थे । वे श्रीराम के पैने बाणों से मारे जा कर ज़मीन में पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥

यदि मेरे ऊपर और उन राक्षसों के ऊपर तुझे दया हो और श्रीराम के साथ युद्ध करने की तुझमें शक्ति और तेज अर्थात् पराक्रम हो; ॥ १४ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम् ।
यदि रामं ममामित्रं न त्वमद्य वधिष्यसि ॥ १५ ॥

तो दण्डकारण्यवासी राक्षसों के इस कण्टक अर्थात् शत्रु को मार डाल । यदि आज ही तू मेरे शत्रु राम को नहीं मार डालेगा; ॥ १५ ॥

---

१ समुद्विग्ना—भीता । (गो०) २ विषण्णा—दुःखिता । (गो०)

तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा ।
बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥
स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलश्च महात्मनः ।
शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥

तो मैं तेरे सामने ही लाज छोड़, अपने प्राण दे दूँगी । क्योंकि, मैं यह जानती हूँ कि, तू श्रीरामचन्द्र के साथ युद्ध में बड़ी भारी सेना को साथ ले कर भी नहीं ठहर सकता । तू अपने को शूर समझे हुए बैठा है, पर वास्तव में तू शूर है नहीं और तू अपने पराक्रम की जो डींगे मारता है, वे सब झूठी हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

मानुषौ यौ न शक्नोषि हन्तुं तौ रामलक्ष्मणौ ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १८ ॥

क्योंकि तू उन दो मनुष्यों अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण को भी नहीं मार सकता । अगर तुझमें श्रीराम के साथ युद्ध करने की शक्ति और तेज नहीं है; ॥ १८ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि तं कुलपांसन ।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥ १९ ॥

तो हे कुलाधम ! तू दण्डकारण्य में बसना छोड़ कर, चला जा । क्योंकि तुझ जैसा निःसत्व और निर्बल यहां कैसे रह सकता है ॥१९॥

अपयाहि जनस्थानात्त्वरितः सहबान्धवः ।
रामतेजोभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ॥ २० ॥

तू शीघ्र अपने कुटुम्ब को साथ ले, जनस्थान से चला जा । नहीं तो तू श्रीरामचन्द्र के तेज से पराजित हो, शीघ्र ही मारा जायगा ॥ २० ॥

स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ।
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता ॥ २१ ॥

क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एक तेजस्वी पुरुष हैं और उनका भाई भी, जिसने मेरी नाक और कान काटे, बड़ा पराक्रमी है ॥ २१ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी विततोदरी[1] ।
भ्रातुः समीपे दुःखार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह ।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार वह बड़े पेटवाली राक्षसी बहुत भाँति विलाप कर, भाई के निकट, शोकाकुल हो, मूर्छित हो गयी और फिर होश में आ, अत्यन्त दुःखी हो, दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर, रोने लगी ॥ २२ ॥

अरण्यकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वाविंशः सर्गः

—:*:—

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पनख्या खरस्तदा ।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

जब शूर्पणखा ने खर को धिक्कारा, तब वह शूर, राक्षसों के बीच (शूर्पणखा से) ये कठोर वचन बोला ॥ १ ॥

---

१ विततोदरी—विस्तृतोदरी । (गो०)

तवावमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम ।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ[1] इवोत्थितम् ॥ २ ॥

हे शूर्पणखे ! तेरा अपमान होने से मेरे मन में जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह अतुल क्रोध मुझसे वैसे ही नहीं सम्हाला जाता, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र अपने जल के वेग को नहीं सम्हाल सकता ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यन्मानुषं क्षीणजीवितम् ।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान्हतो योऽद्य विमोक्ष्यति ॥ ३ ॥

मैं अपने बल के सामने मरणोन्मुख मनुष्य शरीरधारी श्रीराम को, कुछ भी नहीं गिनता । उसने जो कुकर्म किया है, उससे उसे आज ही अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥ ३ ॥

बाष्पः संहियतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम् ।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

अब तू अपना रोना धोना बंद कर, व्याकुलता को त्याग दे । श्रीराम को, उसके भाई सहित मैं यमपुरी भेजता हूँ ॥ ४ ॥

परश्वध[2]हतस्याद्य मन्दप्राणस्य संयुगे ।
रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

हे राक्षसी ! युद्ध में कुठार से काटे गये और अधमरे श्रीराम के गर्मागर्म और लाल लाल लोहू को तू पीना ॥ ५ ॥

सा प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम् ।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद्भ्रातरं रक्षसां वरम् ॥ ६ ॥

---

१ लवणाम्भ इवोत्थितम् – लवण समुद्रःउल्वणं पर्वोत्थितं स्ववेगमिव । (शि०) २ परश्वधः—कुठारः । (गो०)

खर के मुख से निकले हुए इन वचनों को सुन, शूर्पणखा बहुत प्रसन्न हो गयी और मूर्खतावश राक्षसश्रेष्ठ खर की पुनः प्रशंसा करने लगी ॥ ६ ॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः ।
अब्रवीद्दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥ ७ ॥

इस प्रकार पहिले धिक्कारा हुआ और पीछे प्रशंसित खर, अपने सेनापति दूषण से बोला ॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम् ।
रक्षसां भीमवेगानां [illegible]र्तिनाम् ॥ ८ ॥
नीलजीमूतवर्णानां घोराणां क्रूरकर्मणाम् ।
लोकहिंसाविहाराणां बलिनामुग्रतेजसाम् ॥ ९ ॥
तेषां शार्दूलदर्पाणां महास्यानां महौजसाम् ।
सर्वायोगमुदीर्णानां[1] रक्षसां सौम्य कारय ॥ १० ॥

हे सौम्य ! मेरे मन के अनुसार काम करने वाले, अति वेगवान्, युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले, काले मेघों के समान वर्ण वाले घोर रूप धारी, क्रूरकर्मा, और लोगों की हत्या कर के सदा खेलने वाले, बलवान्, उग्रतेजधारी, शार्दूल की तरह दर्प वाले, विकृत मुख वाले, बड़े पराक्रमी, युद्ध के सब कार्यों में गर्वीले चौदह हज़ार राक्षसों को लड़ने के लिये तैयार करो ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च ।
शरांश्चित्रांश्च खड्गांश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥११॥

---

१ उदीर्णानां — गर्वितानां । (गो०)

और हे सौम्य ! मेरे रथ को धनुष को, विचित्र बाणों को, पैनी पैनी अनेक तलवारों तथा शक्तियों को ला कर, शीघ्र उपस्थित करो ॥ ११ ॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम् ।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविदः ॥ १२ ॥

हे रणपण्डित ! मैं, इन पुलस्त्य कुलोद्भव महानुभाव राक्षसों के आगे आगे, उस दुष्ट राम को मारने के लिये, प्रस्थान करना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम् ।
सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥ १३ ॥

खर के ये वचन सुन, दूषण ने सूर्य की तरह चमचमाते रथ में, चितकबरे घोड़े जोत कर, उसे खर के सामने ला खड़ा किया ॥१३॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
हेमचक्रमसंबाधं वैडूर्यमयकूबरम् ॥ १४ ॥

खर के रथ का आकार, मेरु पर्वत जैसा था, विशुद्ध खरे सोने के आभूषणों से वह रथ सजाया गया था, रथ के पहिये भी सोने ही के थे और उसके जुए में वैडूर्य मणि (पन्ने) जड़े हुए थे ॥ १४ ॥

मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः ।
मङ्गलैः[1] पक्षिसङ्घैश्च ताराभिरभिसंवृतम् ॥ १५ ॥

उस रथ के भीतर सोने की मछलियाँ, पुष्पित वृक्ष, पहाड़, चन्द्र, सूर्य, तारागण और तरह तरह के पक्षियों के आकार की मङ्गलकारी प्रतिमाएँ यथास्थान जड़ी हुई थीं ॥ १५ ॥

---

[1] मङ्गलैः—मङ्गलावहैः अलङ्कारकरैः । (गो०)

ध्वजनिस्त्रिंश[1]सम्पन्नं किङ्किणीकविराजितम् ।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादास्थाय खरो रथम् ॥ १६ ॥

रथ पर ध्वजा फहरा रही थी। उसके भीतर यथास्थान खड्गादि अस्त्र शस्त्र रखे हुए थे और छोटी छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लटक रही थीं। उस रथ में अच्छी जाति के घोड़े जुते हुए थे। ऐसे उत्तम रथ पर खर अत्यन्त कुपित हो सवार हुआ ॥ १६ ॥

निशाम्य तु रथस्थं तं राक्षसा भीमविक्रमाः ।
तस्थुः संपरिवार्यैनं दूषणं च महाबलम् ॥ १७ ॥

खर को रथ में बैठा देख, महापराक्रमी राक्षसों की सेना सहित दूषण भी, खर को घेर कर, जाने को तैयार हो गया ॥ १७ ॥

खरस्तु तान्महेष्वासान्घोरवर्मायुधध्वजान् ।
निर्यातेत्यब्रवीद्धृष्टो रथस्थः सर्वराक्षसान् ॥ १८ ॥

खर ने, रथ में बैठे हुए महाधनुषधारियों और बड़े मजबूत जिरह-बख्तर पहिने तथा तलवार ढाल ध्वजा आदि अनेक प्रकार के आयुधों से सज्जित सब राक्षसों से प्रसन्न हो कर, आगे बढ़ने को कहा ॥१८॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं घोरवर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १९ ॥

तब वह अस्त्र शस्त्र से सजी हुई राक्षसों की सेना, महानाद करती हुई बड़ी तेज़ी के साथ जनस्थान से रवाना हुई ॥ १९ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः कुठारैश्च परश्वधैः ।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैश्च तोमरैः ॥ २० ॥

---

१ निस्त्रिंशैः – खड्गादिभिः । (गो०)

उस राक्षस सैन्य के घोड़ा, मुद्गर, पट्टा, पैने त्रिशूल, फरसे, तलवार, चक्र, बल्लम आदि हथियार हाथों में लिये हुए थे और उन्हें घुमाते हुए, शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

शक्तिभिः परिघैर्घोरैरृष्टिभिश्च कार्मुकैः ।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ २१ ॥

शक्ति, परिघ, महाभयङ्कर धनुष, गदा, तलवार, मूसल, वज्र, आदि भयङ्कर अस्त्र शस्त्रों को धारण कर, ॥ २१ ॥

राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २२ ॥

चौदह हज़ार भयङ्कर राक्षस, जो खर के मन के अनुसार काम किया करते थे, जनस्थान से चले ॥ २२ ॥

तांस्त्वभिद्रवतो दृष्ट्वा राक्षसान्भीमविक्रमान् ।
खरस्यापि रथः किञ्चिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २३ ॥

जब वे भीम विक्रमी राक्षस महावेग से चल दिये, तब उनको जाते हुए देख, खर का रथ भी कुछ अन्तर पर, उनके साथ साथ चला ॥ २३ ॥

ततस्ताञ्शबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतिमाज्ञाय सारथिः समचोदयत् ॥ २४ ॥

सारथी ने खर की आज्ञा से उन चितकबरे घोड़ों को जिन पर सोने का साज कसा हुआ था, हाँका ॥ २४ ॥

स चोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशश्च प्रदिशस्तदा ॥ २५ ॥

उस समय शत्रुघाती खर का चलता हुआ रथ, अपने चलने के शब्द से दिशाओं और विदिशाओं को नादित करता हुआ, चला ॥२५॥

मघवद्धमन्युस्तु खरः खरस्वनो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथाऽन्तकः ।
अचूचुदत्सारथिमुद्धनंजयं
महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥ २६ ॥

इति द्वाविंशः सर्ग ॥

वह अति बलवान् उच्च स्वर वाला खर, अत्यन्त क्रुद्ध हो, यमराज की तरह, शत्रु के वध के लिये शीघ्रता के साथ, ओले बरसाने वाले मेघ की तरह गरजता हुआ, सारथी से बोला कि, रथ शीघ्र हाँको ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयोविंशः सर्गः

—:*:—

* तं प्रयान्तं जनस्थानादशिवं शोणितोदकम्[1] ।
अन्वयुर्बलसङ्घाता रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ १ ॥

जब जनस्थान से वह राक्षससैन्य युद्ध के लिये रवाना हुई, तब गधे के शरीर जैसे धूसर रंग के महामेघों ने ख़ून जैसे लाल रंग का अमङ्गलसूचक जल बरसाया ॥ १ ॥

---

१ शोणितोदकम्—रक्तवर्णजलं । (गो०)

* पाठान्तरे—" तस्मिन्याते "

निपेतु[1]स्तुरगास्तस्य रथयुक्ता[2] महाजवाः ।
समे पुष्पचिते[3] देशे राजमार्गे यदृच्छया[4] ॥ २ ॥

खर के रथ में जो तेज़ चलने वाले घोड़े जुते हुए थे, वे चलते चलते राजमार्ग पर, जिस पर फूल बिछे हुए थे और जो समथर था, दैवयोग से गिर पड़े ॥ २ ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं[5] बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं परिगृह्य[6] दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्य के चारों ओर श्याम वर्ण का घेरा बन गया, इस घेरे का बाहिरी भाग लाल रङ्ग का था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम्[7] ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥ ४ ॥

एक बड़े डील डौल का और भयङ्कर गीध, रथ की ऊँची ध्वजा पर, जिसकी डंडी सोने की थी, चक्कर लगा कर, बैठ गया ॥४॥

जनस्थानसमीपे तु समागम्य खरस्वनाः[8] ।
विस्वरान्[9] विविधांश्चक्रुर्मांसादा मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

जनस्थान के निकट जा, मांस-भक्षी एवं विकट शब्दकारी पशुपक्षी भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥ ५ ॥

---

१ निपेतुः—स्खलिताः । (गो०) २ रथयुक्ताः—रथेबद्धाः । (गो०) ३ पुष्पचिते—पुष्पैर्निचिते । (गो०) ४ यदृच्छया—दैवगत्या । (गो०) ५ पर्यन्ते—प्रान्ते । (गो०) ६ परिगृह्य—परितोव्याप्य । (गो०) ७ समुच्छ्रितं—उन्नतं । (गो०) ८ खरस्वनाः—परुषस्वनाः । (गो०) ९ विस्वरान्—विकृतस्वरान् (गो०)।

व्याजह्रुश्च मदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा[1]घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

भयानक सियार सूर्य की ओर मुख कर, राक्षसों के लिये अमङ्गल सूचक भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥ ६ ॥

प्रभिन्न[2]गिरिसङ्काशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमा बलाहकाः ॥ ७ ॥

इन्द्र द्वारा काटे हुए पर वाले पर्वतों की तरह बड़े बड़े मेघ, जिन में लाल रंग का जल भरा हुआ था, आकाश में छा गये। अर्थात् लाल लाल रंग के बड़े बड़े बादलों से आकाश छिप गया ॥ ७ ॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा विदिशो वाऽपि न च व्यक्तं चकाशिरे ॥ ८ ॥

उस समय ऐसा रोमाञ्चकारी और घोर अन्धकार छा गया कि, दिशाएँ और विदिशाएँ ढप गयीं थीं और कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था ॥ ८ ॥

क्षतजार्द्र[3]सवर्णाभा सन्ध्या कालं विना बभौ ।
खरस्याभिमुखा नेदुस्तदा घोरमृगाः खगाः ॥ ९ ॥

सूर्यास्त का समय न होने पर भी खून से भींगे कपड़े की तरह, लाल सन्ध्या हुई जान पड़ने लगी। भयङ्कर पशु पक्षी खर की ओर मुँह कर, भयङ्कर स्वर से चिल्लाने लगे ॥ ९ ॥

कङ्क[4]गोमायुगृध्राश्च बुक्कुर्भैरवदर्शिनः ।
नित्याशिवकराः* युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः ॥ १० ॥

---

१ शिवाः—सृगालाः। (गो०) २प्रभिन्नाः—इन्द्रच्छिन्नपक्षाः (गो०) ३ क्षतजार्द्र—क्षतजेन रक्तेनार्द्रं संसिक्तं यत् पटादिकं तत्तुल्याभा। (गो०) ४कङ्काः—स्थूलकायाः. भयङ्कराः। (गो०) * पाठान्तरे—"शुभकरा"।

भयङ्कर सियार और गीध. स्वर के हृदय को दहलाने वाले रूक्ष स्वर से शब्द करने लगे। युद्ध में जिनका बोलना सदा अपशकुन सूचक माना गया है, ऐसी सियारनें भी भय उपजाती हुईं ॥ १० ॥

नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिशिराननैः ।
कबन्ध[1] परिधाभासो[2] दृश्यते भास्करान्तिके ॥ ११ ॥

सेना के सामने मुख से आग उगलती हुई, घोर चीत्कार करने लगीं। सूर्य के निकट परिघ (लोहे का डंडा) की तरह पुच्छल तारा देख पड़ा ॥ ११ ॥

जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः ।
प्रवाति मारुतः शीघ्रंनिष्प्रभोऽभूदिवाकरः ॥ १२ ॥

ग्रहण लगने का समय न होने पर भी राहु ने सूर्य को ग्रस लिया। हवा भी बड़े वेग से चलने लगी। सूर्य प्रभाहीन हो गया ॥ १२ ॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः ।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥ १३ ॥

रात न होने पर भी जुगनू की तरह आकाश में तारे चमकने लगे। मछलियां जल के भीतर और पक्षी पेड़ों के पत्तों में जा छिपे। तालाबों के कमल सूख गये ॥ १३ ॥

तस्मिन्क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः ।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः ॥ १४ ॥

उस समय वहाँ के पेड़ों के फूल और फल अपने आप गिर पड़े। बिना पवन के अंधड़ उठा। बादलों का रंग लाल हो गया ॥१४॥

---

१ कबन्धो—धूमकेतुः । (रा०) २ परिघ—आयुधविशेष । (रा०)

चीचीकूचीति वाश्यन्त्यो वभूवुस्तत्र शारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिर्घाता निपेतुर्घोरदर्शनाः ॥ १५ ॥

मैना (पत्नी) चींचीं चूंचूं करने लगीं; कड़ कड़ शब्द के साथ भयङ्कर उल्कापात होने लगे ॥ १५ ॥

प्रचचाल मही सर्वा सशैलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥ १६ ॥

वन और पर्वतों के सहित पृथिवी कांप उठी । जब धीमान् खर रथ में बैठा हुआ, गरजने लगा ॥ १६ ॥

प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत ।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥ १७ ॥

तब उसकी वाम भुजा फड़की । उसका स्वर बिगड़ गया । इधर उधर देखते हुए खर के नेत्रों से आँसू निकल पड़े ॥ १७ ॥

ललाटे च रुजा जाता न च मोहान्न्यवर्तत ।
तान्समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान्रोमहर्षणान् ॥ १८ ॥

उसके माथे में दर्द होने लगा । तो भी मोहवश वह युद्ध-क्षेत्र में जाने से न रुका । प्रत्युत इन सब रोमाञ्चकारी महाउत्पातों को होते हुए देख कर भी, ॥ १८ ॥

अब्रवीद्राक्षसान्सर्वान्प्रहसन्स खरस्तदा ।
महोत्पातानिमान्सर्वानुत्थितान्घोरदर्शनान् ॥ १९ ॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद्बलवान्दुर्बलानिव ।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयामि नभःस्थलात् ॥ २० ॥

वह खर हँसता रहा और सब राक्षसों से बोला—इन सब भयङ्कर उत्पातों को मैं अपने पराक्रम के समाने वैसे ही कुछ भी नहीं गिनता जैसे बलवान् पुरुष अपने सामने निर्बल पुरुष को कुछ भी नहीं समझता। मैं तो अपने पैने तीरों से तारों को आकाश से गिरा सकता हूँ ॥ १९ ॥ २० ॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम् ।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चास्य लक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

और क्रुद्ध होने पर मृत्यु को भी मार सकता हूँ। अब तो मैं अपने को बलवान् समझने वाले श्रीरामचन्द्र और उनके भाई लक्ष्मण को ॥ २१ ॥

अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नैर्याम्यावर्तितुमुत्सहे ।
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः ॥ २२ ॥

पैने बाणों से बिना मारे मैं लौट नहीं सकता। मेरी बहिन उन दोनों का रक्तपान कर, सफल मनोरथ होवे, ॥ २२ ॥

यन्निमित्तस्तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः ।
न क्वचित्प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः ॥ २३ ॥

जिसके लिये श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बुद्धि उल्टी हो गयी। आज तक मैं कभी किसी युद्ध में पराजित नहीं हुआ ॥ २३ ॥

युष्माकमेतत्प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम् ।
देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतयायिनम् ॥ २४ ॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ कुमानुषौ ।
सा तस्य गर्जितं श्रुत्व राक्षसस्य महाचमूः ॥ २५ ॥

यह बात तुम सब लोगों को मालूम ही है। इसमें मैं मिथ्या कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं तो क्रुद्ध हो, मत्त ऐरावत पर सवार होकर, चलने वाले और वज्रधारी देवराज को भी युद्ध में मार सकता हूँ। फिर इन दो दुष्ट मनुष्यों का मारना मेरे लिये कौन बड़ी बात है। इस प्रकार खर का गर्जन तर्जन सुन कर, वह राक्षसों की बड़ी सेना ॥ २४ ॥ २५ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता ।
समीयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

जो मरणोन्मुखी थी, अत्यन्त हर्षित हुई। उधर युद्ध देखने के लिये महात्मा लोग आये ॥ २६ ॥

ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उन आने वालों में ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारणादि और भी अन्य पुण्यात्मा जन वहाँ एकत्र हो कर, कहने लगे ॥ २७ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः[1] ।
जयतां राघवः संख्ये पौलस्त्यान्रजनीचरान् ॥ २८ ॥
चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सुदर्शन चक्र से भगवान् विष्णु ने समस्त श्रेष्ठ दैत्यों का वध किया था—उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इन पुलस्त्य कुलोद्भव राक्षसों को जीत कर गौओं, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों का मङ्गल करें। परमर्षियों ने ऐसे तथा और भी अनेक प्रकार के वचन आपस में कहे ॥ २८ ॥ २९ ॥

---

१ अभिसङ्गताः—अनुकूलाः । (गो०)

जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
ददृशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

कुतूहलवश विमानों में बैठे हुए देवता गण, गतायु राक्षसों की सेना को देखने लगे ॥ ३० ॥

रथेन तु खरो वेगादग्रसैन्यो विनिःसृतः ।
तं दृष्ट्वा राक्षसं भूयो राक्षसाश्च विनिःसृताः ॥ ३१ ॥

खर सेना के आगे अपना रथ ले गया । उसको आगे जाते देख, राक्षस भी उसके साथ आगे बढ़े ॥ ३१ ॥

श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ।
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ॥ ३२ ॥
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ।
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ॥ ३३ ॥

उस समय उसको घेर कर बारह बड़े पराक्रमी राक्षस चले । उन राक्षसों के नाम थे १ श्येनगामी, २ पृथुग्रीव, ३ यज्ञशत्रु, ४ विहङ्गम ५ दुर्जय, ६ करवीराक्ष, ७ परुष, ८ कालकार्मुक, ९ मेघमाली, १० महामाली, ११ सर्पास्य और १२ रुधिराशन ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनान्यो दूषणं पृष्ठतो ययुः ॥ ३४ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी और त्रिशिरा; ये चार सेनापति दूषण के पीछे पीछे चले जाते थे ॥ ३४ ॥

सा भीमवेगा समराभिकामा
महाबला राक्षसवीरसेना ।

तौ राजपुत्रौ सहसाऽभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३५ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार ग्रहों की माला सूर्य और चन्द्रमा को घेरती हैं, उसी प्रकार भयङ्कर वेगवाली और युद्ध की अभिलाषा रखने वाली राक्षसों की महाबलवती वीर सेना ने सहसा जा कर, राजकुमारों को घेर लिया ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—※—

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।
तान्येवोत्पातिकान्रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

जब कठोर पराक्रमी खर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम की ओर चला, तब उसके चलने के समय जो अपशकुन अथवा अमङ्गल सूचक उत्पात हुए थे, उन्हें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान्महाघोरान्दृष्ट्वा रोमहर्षणान् ।
प्रजानामहितान्दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

उन रोमाञ्चकारी घोर उत्पातों को, जो प्रजाजनों के लिये अहितकारी थे, देख कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ २ ॥

इमान्पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान्महोत्पातान्संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! देखो, ये सब प्राणिनाशक उत्पात, राक्षसकुल का संहार करने के लिये हो रहे हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्तः खरस्वनान् ।
व्योम्नि मेघा विवर्तन्ते[1] परुषा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

गधे के समान, मटमैले रंग वाले बादल, आकाश में इधर उधर दौड़ कर, भयङ्कर शब्द के साथ, रुधिर बरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम रुद्धाभिनन्दिनः ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि[2] विवेष्टन्ते* च लक्ष्मण ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो मेरे बाणों से धुआँ निकल रहा है, मानों युद्ध होने का ये आनन्द मना रहे हैं। और सुवर्ण से भूषित पीठ वाले धनुष चलायमान हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यादृशा[3] इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः ।
अग्रतो नो भयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

इन वनचारी पक्षियों के इस प्रकार बोलने से, ऐसा जान पड़ता कि, शीघ्र ही भय उपस्थित होने वाला है। यही क्यों, प्रत्युत प्राण-सङ्कट मालूम होता है ॥ ६ ॥

संप्रहारस्तु[4] सुमहान्भविष्यति न संशयः ।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

---

१ विवर्तन्ते—संचरन्ति । (गो०) २ विवेष्टन्ते—चलन्ति । (गो०)
३ यादृशाः—प्रसिद्धाः । (गो०) ४ संप्रहारः—युद्धं । (गो०)
* पाठान्तरे—"विवर्तन्ते" ।

निस्सन्देह महासमर होगा। किन्तु मेरे दक्षिण बाहु का बार बार फड़कना यह बतलाता है कि, ॥ ७ ॥

सन्निकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम् ।
सप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

हे शूर ! शीघ्र ही मेरा विजय और शत्रुओं का पराजय होने वाला है। (इस अनुमान की पुष्टि इससे भी हो रही है कि,) तुम्हारा मुख कान्तिमय और हर्षित देख पड़ता है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण ।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुःपरिक्षयः ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! युद्ध के लिये उद्यत पुरुषों का मुख यदि प्रभाहीन देख पड़े तो जानना चाहिये कि, उनकी आयु क्षीण हो चुकी है अर्थात् युद्ध में वे अवश्य मारे जायँगे ॥ ९ ॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयते च महाध्वनिः ।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ १० ॥

राक्षसों के गर्जने की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है और क्रूरकर्मा राक्षसों के मारू बाजों की भी कैसी महाध्वनि सुनाई दे रही है ॥ १० ॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता ।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

पण्डित और आपत्ति की शङ्का करने वाले पुरुष को, अपने कल्याण की कामना के लिये, पहिले ही से विपत्ति का प्रतिकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः ।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसङ्कुलाम् ॥ १२ ॥

अतएव हाथ में धनुष बाण ले तथा सीता जी को साथ ले, तुम वृक्षों की झुरमुट में छिपी हुई किसी दुर्गम पर्वत कन्दरा में शीघ्र जा बैठो ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया ।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥ १३॥

मैं यह नहीं चाहता कि, तुम मेरे कथन के प्रतिकूल कुछ कहो । हे वत्स ! तुम्हें मेरे चरणों की शपथ है । तुम शीघ्र जानकी को ले कर, गिरिकन्दरा में चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या ह्येतान्न संशयः ।
स्वयं तु हन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि, तुम शूर हो और बलवान हो और इन सब राक्षसों का वध कर सकते हो । किन्तु मैं स्वयं ही इन सब राक्षसों को मारना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया ।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत् ॥ १५ ॥

जब श्रीराम ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी अपने साथ सीताजी को ले और हाथ में धनुर्बाण धारण कर, पर्वत की एक दुर्गम गुफा में चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया ।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥ १६ ॥

जब सीता जी को साथ ले लक्ष्मण जी गिरिगुहा में चले गये। तब श्रीरामचन्द्र जी इस बात से कि, लक्ष्मण ने उनका कहना मान लिया, प्रसन्न हुए और उन्होंने कवच (जिरह बख्तर) धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः ।
बभूव रामस्तिमिरे विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

अग्नि की तरह चमचमाते कवच को धारण करने से, श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार शोभित हुए, जिस प्रकार अन्धकार में प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला शोभित होती है ॥ १७ ॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान् ।
बभूवावस्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी धनुष को उठा, बाणों को ले, धनुष के रोदे की टंकार से दशो दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए, खड़े हो गये ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर युद्ध देखने की इच्छा से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण और महात्मा लोग एकत्र हुए ॥ १९ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः ।
समेत्य चोचुः सहिता अन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥

महात्मा ऋषि तथा लोकप्रसिद्ध ब्रह्मर्षि तथा अन्य पुण्यात्मा जन एकत्र हो आपस में कहने लगे ॥ २० ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान्रजनीचरान् ॥ २१ ॥

गौ, ब्राह्मण, और साधुओं का मङ्गल हो और श्रीरामचन्द्र जी युद्ध में पुलस्त्यवंशी निशाचरों को (उसी प्रकार) जीतें ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥

जिस प्रकार हाथ में चक्र ले, विष्णु भगवान ने सब श्रेष्ठ असुरों को जीता था । यह कह कर और आपस में एक दूसरे को देख, वे लोग फिर कहने लगे ॥ २२ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

इन चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों के साथ अकेले श्रीरामचन्द्र कैसे युद्ध कर सकेंगे ॥ २३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः ।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

राजर्षि, सिद्ध, परिकर सहित ब्राह्मणश्रेष्ठ और विमानों में बैठे देवता गण, कौतूहलाक्रान्त हो, वहाँ उपस्थित थे ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि[1] स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद्विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

उस समय तेजस्वी और संग्राम के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र जी को खड़ा देख, प्राणि मात्र ही त्रस्त हो, दुःखी हुए ॥ २५ ॥

---

१ संग्रामशिरसि—युद्धाग्रे । (गो०)

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव पिनाकिनः ॥ २६ ॥

क्योंकि उस समय क्लेश रहित कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अनुपम रूप ऐसा देख पड़ता था, जैसा क्रुद्ध और धनुषधारी रुद्र का रूप होता है ॥ २६ ॥

इति संभाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः ।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरवर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात्प्रत्यदृश्यत ।
सिंहनादं विसृजतामन्योन्यमभिगर्जताम्[1] ॥ २८ ॥

देवता, गन्धर्व और चारण इस प्रकार आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महागम्भीर शब्द करती तथा कवच, आयुध धारण किये तथा ध्वजा फहराती हुई राक्षसों की सेना चारों ओर से आती हुई देख पड़ी। उस सेना में राक्षस बीर सिंहनाद कर रहे थे और आपस में कह रहे थे कि, हम शत्रु को मारेंगे, हम शत्रु को मारेंगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः ।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभीश्चापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥

उनमें से कोई कोई अपने धनुषों को बार बार टंकोरते थे। कोई कोई जंभाई लेते थे और कोई कोई उच्च स्वर से चिल्लाते थे और कोई कोई नगाड़ों को बजाते थे ॥ २९ ॥

तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद्वनम् ।
तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥

---

१ अन्योन्यमभिगर्जतः—अहमेव शत्रुं हनिष्यामि इति जल्पताम् । (गो०)

उन राक्षसों ने ऐसा घोर शब्द किया कि, वह वन उस शब्द से प्रतिध्वनित होने लगा और उस शब्द को सुन कर, वनचारी पशु डर गये ॥ ३० ॥

दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो न व्यलोकयन् ।
तत्सेनीकं महावेगं रामं समुपसर्पत ॥ ३१ ॥

और जिस ओर वह शब्द नहीं सुन पड़ता था, उस ओर को भागे जाते थे और उनमें से कोई पीछे मुड़ कर न देखता था । इस ओर वह राक्षसी सेना बड़े वेग के साथ श्रीरामचन्द्र जी के समीप आ पहुँची ॥ ३१ ॥

धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।
रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥

उस सेना के योद्धा तरह तरह के हथियार लिये हुए थे । वह सेना गम्भीर समुद्र की तरह उफनती हुई आ पहुँची । तब रण-विद्या में निपुण श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चारों ओर देखा ॥ ३२ ॥

ददर्श खरसैन्यं तद्युद्धाभिमुखमुत्थितम् ।
वितत्य च धनुर्भीमं तूणीश्चोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥
क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
दुष्प्रेक्षः सोऽभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, खर की सेना, लड़ने के लिये, सामने चली आती है । तब श्रीरामचन्द्र जी, अपने भयङ्कर धनुष को उठा और तरकस से बाणों को निकाल, सब राक्षसों के वध के लिये अत्यन्त क्रुद्ध हुए । उस समय क्रोध में भरे श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखना उसी प्रकार दुष्कर था, जिस प्रकार प्रलयकालीन अग्नि को देखना दुष्कर होता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राद्रवन्वनदेवताः ।
तस्य क्रुद्धस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा ।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजोयुक्त श्रीरामचन्द्र जी को देख, वनदेवता भाग खड़े हुए। उस समय क्रुद्ध हुए श्रीरामचन्द्र जी का रूप ऐसा जान पड़ता था, जैसा कि दक्षयज्ञ को विध्वंस करने को उद्यत शिव जी का रूप हो गया था ॥ ३५ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयार्तानि प्रदुद्रुवुः ॥ ३६ ॥

तेज से आविष्ट श्रीरामचन्द्र जी को युद्धार्थ खड़ा देख, सब लोग डर कर इधर उधर भाग गये ॥ ३६ ॥

तत्कार्मुकैराभरणैर्ध्वजैश्च
तैर्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रवृन्दम् ॥ ३७ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार नीले बादल सूर्योदय काल में शोभित होते हैं उसी प्रकार राक्षससेना भी, अग्नि समान चमकते हुए कवच, धनुष, आभरण और ध्वजाओं से युक्त हो कर, शोभित हुई ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चविंशः सर्गः

—※—

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं च रिपुघातिनम् ।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥

अपने साथियों सहित खर ने श्रीरामाश्रम में जा, श्रीरामचन्द्र जी को क्रुद्ध हो, हाथ में धनुष लिये और शत्रुओं का वध करने के लिये उद्यत देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा सशरं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।
रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

यह देख, उसने बाण सहित धनुष उठा, सारथी से उच्चस्वर से कहा कि, श्रीरामचन्द्र के सामने रथ ले चलो ॥ २ ॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान्समचोदयत् ।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन्स्थितो धनुः ॥ ३ ॥

खर की आज्ञा के अनुसार सारथी ने घोड़े हाँके और वह रथ वहाँ ले गया, जहाँ पर महाबाहु श्रीराम धनुष को टंकोरते हुए अकेले खड़े थे ॥ ३ ॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वे ते रजनीचराः ।
नर्दमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

खर को श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते देख, उसके समस्त राक्षस सैनिक और सचिव गर्जते गर्जते खर के पास जा, उसे घेर कर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।
बभूव मध्ये तारणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

तब रथ पर चढ़ा हुआ खर, राक्षसों के बीच ऐसा देख पड़ता था, जैसा कि, तारों के बीच में मङ्गल का तारा देख पड़ता है ॥५॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा[1] महानादं ननाद समरे खरः ॥ ६ ॥

खर ने एक हज़ार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, बड़े ज़ोर से गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तब तो सब राक्षस क्रुद्ध हो, महा-धनुर्धर एवं दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर तरह तरह के शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
राक्षसाः समरे रामं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥ ८ ॥

रोष में भरे राक्षस लोग उस युद्ध में, श्रीरामचन्द्र को मुद्गर, पट्टा, शूल, भाला, तलवार और फरसे से मारने लगे ॥ ८ ॥

ते बलाहकसङ्काशा[2] महानादा महौजसः ।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥
गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः ।
ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन्रक्षसां गणाः ॥ १० ॥

अर्दयित्वा—पीडयित्वा । (गो०) २ बलाहकसङ्काशाः—मेघतुल्याः । (गो०)

वे सब राक्षस जो बड़े बलवान और मेघ के समान गर्जने वाले थे, रथों, घोड़ों और पर्वत समान हाथियों को दौड़ा कर, श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये उन पर बाणों की वर्षा कर, आक्रमण करने लगे ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणाः बलाहकाः ।
स तैः परिवृतो घोरै राघवो रक्षसां गणैः ॥ ११ ॥

जैसे मेघ, पर्वतों पर जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाणों की वर्षा की। उस समय उन भयङ्कर राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी को घेर लिया ॥ ११ ॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ।
प्रतिजग्राह[1] विशिखैर्नद्योघानिव[2] सागरः ॥ १२ ॥

राक्षसों के चलाये हुए शस्त्रों को श्रीरामचन्द्र जी ने उसी प्रकार अपने बाणों से रोका, जिस प्रकार समुद्र नदियों की धारों को रोकता है ॥ १२ ॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ।
रामः प्रदीप्तैर्वज्रैरिव महाचलः ॥ १३ ॥

उनके चलाये शस्त्रों के प्रहार से घायल हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही व्यथित न हुए, जैसे जाज्वल्यमान बहुत से वज्रों के गिरने से हिमालय पर्वत व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

स विद्धः क्षतजैर्दिग्धः[3] सर्वगात्रेषु राघवः ।
बभूव रामः सन्ध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ॥ १४ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—प्रतिरुरोध । (गो०) नद्योघान्—नदीप्रवाहान् । (गो०)
२ क्षतजदिग्धः—रुधिरालिप्तः । (गो०)

उस समय श्रीरामचन्द्र के समस्त अंगों के घायल हो जाने के कारण उनसे रुधिर के बहने से वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सन्ध्या काल में मेघों से घिरा हुआ सूर्य जान पड़ता है ॥ १४ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
एकं सहस्रैर्बहुभिः[1]तदा दृष्ट्वा समावृतम् ॥ १५ ॥

अकेले श्रीरामचन्द्र जी को चौदह हज़ार राक्षसों से घिरा देख, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि गण दुखी हुए ॥ १५ ॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
ससर्ज विशिखान्बाणाञ्शतशोथ सहस्रशः ॥ १६ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने धनुष को मण्डलाकार कर, सैकड़ों हज़ारों पैने बाण छोड़े ॥ १६ ॥

दुरावारान्दुर्विषहान्[2]कालदण्डोपमान्रणे ।
मुमोच लीलया रामः कङ्कपत्रानजिह्मगान्[3] ॥ १७ ॥

रणक्षेत्र में ये बाण कालदण्ड की तरह न तो किसी के रोके रुक ही सकते थे और न उनकी मार कोई सह ही सकता था । श्रीरामचन्द्र जी ने अनायास (अर्थात् खेल ही खेल में) सुवर्ण भूषित और कङ्क-पत्र से युक्त तथा अपनी सीध पर जाने वाले हज़ारों बाण छोड़े ॥ १७ ॥

ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ।
आददू रक्षसां प्राणान्[4]पाशाः कालकृता इव ॥ १८ ॥

---

१ बहुभिः सहस्रैः—चतुर्दश सहस्रैः । (गो०) २ दुर्विषहान्—दुःसहान् । (गो०) ३ अजिह्मगान्—अवक्रगामिनः । (गो०) ४ प्राणानददुः—अमारयन्नित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के अनायास चलाये बाणों ने, कालपाश की तरह, राक्षसों के प्राण हरण किये ॥ १८ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ।
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलाये बाण राक्षसों के शरीर को भेद और खून से तर हो, आकाश में जा, जाज्वल्यमान् अग्नि की तरह शोभायमान हुए ॥ १९ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ।
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ॥ २० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के धनुषमण्डल से अगणित बाण, जो अति उग्र थे और राक्षसों के लिये प्राणनाशक थे, छूट रहे थे ॥ २० ॥

ते रथो साङ्गदान्बाहून्सहस्ताभरणान्भुजान् ।*
धनूंषि च ध्वजाग्राणि वर्माणि† च शिरांसि च ॥ २१ ॥

राक्षसों के बाजूबन्द सहित बाहुओं और हाथ में पहिनने योग्य गहनों सहित भुजाओं, धनुषों, ध्वजाओं के अग्र भागों, कवचों और शिरों को श्रीरामचन्द्र के बाणों ने काट गिराया ॥ २१ ॥

चिच्छिदुर्बिभिदुश्चापि रामचापगुणाच्युता ।
बाहून्सहस्ताभरणानूरून्करिकरोपमान् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों ने राक्षसों के हाथ में पहनने योग्य आभूषणों सहित बाहुओं और हाथी की तरह जंघाओं को छिन्न भिन्न कर डाला ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"चर्माणि"।

† २१ वें श्लोक का यह पाठ कई संस्करणों में नहीं पाया जाता ।

चिच्छेद रामः समरे शतशोथ सहस्रशः ।
हयान्काञ्चनसन्नाहान्रथयुक्तान्ससारथीन् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस युद्ध में सैकड़ों हज़ारों काञ्चन भूषित रथों में जुते हुए घोड़ों को सारथी सहित काट कर गिरा दिया ॥ २३ ॥

गजांश्च सगजारोहान्सहयान्सादिनस्तथा[1] ।
पदातीन्समरे हत्वा ह्यनयद्यमसादनम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने हाथियों को उनके सवारों सहित तथा घोड़ों को घुड़सवारों सहित और पैदल सैनिकों को मार कर, यमालय भेज दिया ॥ २४ ॥

ततो नालीक[2]नाराचै[3]स्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः[4] ।
भीमवार्तस्वरं चक्रुर्भिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

नालीक, नाराच (लोहे के बाण) और पैनी नोक के विकर्णि (कान के आकार की नोंक वाले) नाम के बाणों से जब राक्षस मारे जाते, तब वे घायल हो, बड़ा भयङ्कर आर्तनाद करते थे ॥ २५ ॥

तत्सैन्यं निशितैर्बाणैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।
रामेण न सुखं[5] लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मर्मभेदी पैने बाणों से मर्दित, वह राक्षस सेना किसी प्रकार अपनी रक्षा न कर सकी । जैसे सूखा जंगल आग लगने पर आग से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

---

१ सादिन—अश्वारोहान् । (गो०) २ नालीकः—नालमात्रशराः । (गो०)
३ नाराचाः—आयसशराः । (गो०) ४ विकर्णिनः—कर्णशराः । (गो०)
सुखं—दुःख निवृत्तिं । (गो०)

केचिद्भीमबलाः शूराः शूलान्खड्गान्परश्वधान् ।
रामस्याभिमुखं गत्वा चिक्षिपुः परमायुधान्[1] ॥ २७ ॥

राक्षससेना के किसी किसी बलवान शूर योद्धा ने, श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा, उन पर अपने बड़े बड़े आयुध—यथा त्रिशूल, तलवारें और फरसे चलाये ॥ २७ ॥

तानि बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्याचार्य राघवः ।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने बाणों से केवल उनके चलाये शस्त्रों को ही नहीं काट कर गिराया, प्रत्युत उन उन चलाने वालों के सिरों को काट कर उनको मार भी डाला ॥ २८ ॥

ते च्छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नवर्मशरासनाः ।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥

वे राक्षस सिरों के कट जाने से, कटे हुए कवचों और धनुषों को लिये हुए ऐसे गिरे, जैसे गरुड़ जी के पंखों की हवा के झोंकों से वृक्ष उखड़ कर, ज़मीन पर गिर पड़ते हैं ॥ २९ ॥

अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णा[2]श्च निशाचराः ।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं[3] शरार्दिताः ॥ ३० ॥

जो राक्षस मारे जाने से बच गये थे वे बाणों की मार से पीड़ित रक्षा के लिये खर की ओर दौड़े ॥ ३० ॥

तान्सर्वान्पुनरोदाय समाश्वास्य च दूषणः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थं क्रुद्धो रुद्रमिवान्तकः[4] ॥ ३१ ॥

---

१ परमायुधानेति शूलादि विशेषणं । (गो०) २ विषण्णाः—दुखिता । (गो०) ३ शरणार्थं—रक्षणार्थं । (गो०) ५ रुद्रमिवान्तकः—रुद्रपराजितोयमः । (गो०)

दूषण ने उन सब को धीरज बँधाया और उनको अपने साथ ले, वह रुद्र से पराजित क्रुद्ध यमराज की तरह, श्रीरामचन्द्र जी की ओर दौड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषण का सहारा पा कर वे सब भागे हुए राक्षस निर्भीक हो और साल, ताल (वृक्ष विशेष) एवं शिला रूपी आयुधों को ले, फिर श्रीरामचन्द्र जी के सामने गये ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च चापहस्ता महाबलाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे[1] ॥ ३३ ॥

वे महाबली राक्षस हाथों में त्रिशूलों, मुगदरों और धनुषों को ले, श्रीराचन्द्र जी के ऊपर युद्धक्षेत्र में बाणों और शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद्बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥

राक्षसों ने वृक्षों और शिलाओं को श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वर्षा की। उस समय अपूर्व, भयङ्कर, और रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

रामस्य च महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।
ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरभ्ययुः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र और राक्षसों का फिर बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। राक्षसों ने क्रोध में भर चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

---

१ संयुगे—संग्रामे । (शि०)

तैश्च सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।
राक्षसैरुद्यतप्रासैः शरवर्षाभिवर्षिभिः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैरवं नादमस्त्रं परमभास्वरम् ।
संयोजयत गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सब दिशाएँ और विदिशाएँ राक्षसों से भरी हुई हैं और राक्षस मेरे ऊपर चारों ओर से, प्रास और बाणों की वर्षा करने को उद्यत हैं, तब उन्होंने बड़ा भयङ्कर नाद कर, प्रज्वलित गान्धर्वास्त्र को राक्षसों पर छोड़ने के लिये धनुष पर रखा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात्[1] ।
सर्वा दश दिशो बाणैरावार्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

उस समय उस गन्धर्वास्त्र से हज़ारों बाण निकले, जिनसे दसो दिशाएँ ढक गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान्घोरान्न मुञ्चन्त शिलीमुखान् ।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऐसी फुर्ती से बाण छोड़ रहे थे कि बाणों से पीड़ित राक्षसों को यह न मालूम पड़ता था कि, श्रीरामचन्द्र जी कब भयङ्कर पैने बाणों को तरकस से निकालते और कब छोड़ते थे ॥ ३९ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत्सदिवाकरम् ।
बभूवावस्थितो रामः प्रवमन्निव ताञ्शरान् ॥ ४० ॥

---

१ चापमण्डलात्—संहितगान्धर्वस्त्रात् । (गो०)

उन बाणों ने आकाश को ढक लिया और सूर्य के ढक जाने से अंधकार छा गया। किन्तु तिस पर भी श्रीरामचन्द्र जी धीर भाव से खड़े हुए उन पर बाणों की वर्षा करते ही रहे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् ।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

उन बाणों से कितने ही राक्षस एक साथ गिर पड़ते, कितने ही अत्यन्त आहत (घायल) होते और बहुत से एक साथ ही मूर्छित हो गिर पड़ते थे। उनके शरीरों से (रणभूमि) ढक गयी ॥४१॥

निहताः[1] पतिताः[2] क्षीणा[3]श्छिन्ना[4] भिन्ना[5] विदारिताः[6] ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

उस रणाङ्गण में जिधर देखो उधर ही हज़ारों राक्षस ऐसे पड़े हुए देख पड़ते थे; जो युद्ध में मारे गये थे ; जो भयभीत हो भूमि पर गिर पड़े थे ; जिनके प्राण कण्ठ में अटके हुए थे ; जिनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे ; जिनके शरीर के कट कर टुकड़े कटुड़े हो गये थे और जिनके पेट फटे हुए थे ॥ ४२ ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा ।
ऊरुभिर्जानुभिश्छिन्नैर्नानारूपविभूषणैः ॥ ४३ ॥

कहीं पर राक्षसों के पगड़ी सहित कटे सिर, कहीं पर उनकी बाजू-बन्द सहित कटी बाँहें, कहीं पर उनके कटे हुए ऊरू; कहीं पर उनकी कटी हुई जाँघें और कहीं पर उनके तरह तरह के गहने पड़े हुए थे ॥ ४३ ॥

---

१ निहताः—केवलं प्रहताः । (गो०) २ पतिताः—अशनिपातइवभयेन भूमौपतिताः । (गो०) ३ क्षीणाः—कण्ठगतप्राणाः । (गो०) छिन्नाः—द्विधा कृताः । (गो०) ५ भिन्ना—खण्डितावयवाः । (गो०) ६ विदारिताः—नृसिंहेन हिरण्यवद्दानाभिकण्ठमुद्भिन्नशरीराः । (गो०)

हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।
चामरैर्व्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥

उस रणक्षेत्र में, अनेक मरे हुए घोड़े, हाथी, तथा अनेक टूटे हुए रथ और तरह तरह के छत्र, चंवर, पंखा तथा ध्वजाएँ टूटी फूटी पड़ी हुई थीं ॥ ४४ ॥

रामस्य वाणाभिहतैर्विचित्रैः शूलपट्टिशैः ।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वाणों से कटे हुए त्रिशूल, पटा, और तलवारें, भाले, फरसे आदि शस्त्र रणभूमि में बिखरे हुए थे ॥ ४५ ॥

चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विकीर्णाभूद्भयङ्करा ॥ ४६ ॥

तथा टूटी शिलाओं और अनेक कटे हुए शरों के इधर उधर रणक्षेत्र में पड़े रहने से, वहां की भूमि बड़ी भयानक देख पड़ती थी ॥ ४६ ॥

तान्दृष्ट्वा निहतान्संख्ये राक्षसान्परमातुरान् ।
न तत्र सहितुं शक्ता रामं परपुरञ्जयम् ॥ ४७ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार बहुत से आतुर राक्षसों को युद्ध में मरा हुआ देख, जो राक्षस जीते बच गये थे, वे शत्रुओं को जीतनेवाले श्रीरामचन्द्र जी के प्रहार को न सह सके । अर्थात् भाग खड़े हुए ॥ ४७ ॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

षड्विंशः सर्गः

—:※:—

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं निरीक्ष्य सः ।
सन्दिदेश महाबाहुर्भीमवेगान्दुरासदान् ॥ १ ॥
राक्षसान्पञ्च साहस्रान्समरेष्वनिवर्तिनः ।
ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि ॥ २ ॥

महाबाहु दूषण ने जब देखा कि, उसकी सेना मारी जाती है, तब उसने भयङ्कर आक्रमणकारी, दुर्धर्ष और रणक्षेत्र में कभी पीठ न दिखाने वाले पांच हज़ार राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दी। दूषण की आज्ञा पा कर, वे सैनिक राक्षस शूलों, पट्टों, खड्गों, शिलाओं और वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥ १ ॥ २ ॥

शरवर्षैरविच्छिन्नं ववृषुस्तं समन्ततः ।
स द्रुमाणां शिलानां च वर्षः प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥

इनके अतिरिक्त उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अविच्छिन्न रूप से और चारों ओर से बाणों की वृष्टि भी की। वृक्षों और शिलाओं की वह महावृष्टि प्राणों की हरने वाली थी ॥ ३ ॥

प्रतिजग्राह[1] धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः ।
प्रतिगृह्य च तद्वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—प्रतिरुरोध । (गो०)

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अपने पैने बाणों से उस वृष्टि को रोका। जैसे बैल आंख बन्द कर वर्षा को सहता है (अर्थात् जिस प्रकार बैल वृष्टि की कुछ भी परवाह नहीं करता) वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी ने उस वृष्टि की कुछ भी परवाह न की ॥ ४ ॥

रामः क्रोधं परं भेजे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और सब राक्षसों के मारने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय क्रोध और तेज से प्रकाशमान हो उन्होंने ॥ ५ ॥

शरैरवाकिरत्सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ॥
ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥

दूषण और उसकी सेना के ऊपर तीरों की वर्षा की। फिर शत्रुदूषण सेनापति दूषण क्रुद्ध हो कर, ॥ ६ ॥

शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवाकिरत् ।
ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद्धनुः ॥ ७ ॥

वज्र तुल्य बाणों से श्रीरामचन्द्र के ऊपर वृष्टि करने लगा। तब श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो छुरे की धार के समान पैने बाणों से दूषण का बड़ा धनुष ॥ ७ ॥

चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
हत्वा चाश्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैरर्धन्द्रेण सारथेः ॥ ८ ॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि ।
स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ९ ॥

काट कर, और चार बाण चला, उसके रथ के चारों घोड़ों को मार डाला। फिर घोड़ों को मार, एक अर्धचन्द्राकार बाण से दूषण के सारथी का सिर काट गिराया, और तीन बाण दूषण की छाती में मारे। तब दूषण ने, जिसका धनुष काटा जा चुका था, और घोड़ों के और सारथी के मारे जाने के कारण, जो रथहीन हो गया था ॥ ८ ॥ ९ ॥

जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम् ।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्यप्रमर्दनम् ॥ १० ॥

गिरिशृङ्ग के तुल्य, रोमाञ्चकारी एक परिघ को उठाया। यह परिघ, सुवर्ण से मढ़ा हुआ था और देवताओं की सेना को मर्दन करने वाला था ॥ १० ॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्[1] ।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥ ११ ॥

उसमें लोहे की पैनी नुकीली कीलें जड़ी थीं और वह शत्रुओं की चर्बी में सना हुआ था। वह बज्र के समान कठोर था और वह शत्रु के नगर के फाटक को तोड़ने वाला था ॥ ११ ॥

तं महोरगसङ्काशं प्रगृह्य परिघं रणे ।
दूषणोऽभ्यद्रवद्रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

महासर्प के समान उस परिघ को उठा, युद्ध क्षेत्र में, क्रूरकर्मा दूषण राक्षस, श्रीरामचन्द्र के ऊपर दौड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य स राघवः ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥ १३ ॥

---

१ परवसोक्षितम्—शत्रुमेदः सिक्तं । (गो०)

तब उसको अपनी ओर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथों सहित उसकी दोनों भुजाएँ, जो भूषणों से भूषित थीं दो बाण मार कर, काट डालीं ॥ १३ ॥

भ्रष्टः[1]तस्य[2] महाकायः[3] पपात रणमूर्धनि ।
परिघच्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

भुजाओं के कटने से उसका वह बृहदाकार परिघ भी इन्द्रध्वजा की तरह रणक्षेत्र में गिर पड़ा ॥ १४ ॥

स कराभ्यां विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः ।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव[4] महागजः ॥ १५ ॥

हाथों के कटने से दूषण ज़मीन पर उसी प्रकार गिरा, जिस प्रकार, दांतों के टूट जाने पर धीर गजराज गिरता है ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्[5] ॥ १६ ॥

दूषण को युद्ध में मरा और ज़मीन पर पड़ा देख, सब लोगों ने (दर्शक लोग) साधु साधु कह कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः ।
संहत्याभ्यद्रवन्रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥ १७ ॥

---

१ भ्रष्टः—हस्ताच्च्युतः । (गो०) २ तस्य—दूषणस्य । (गो०) ३ महाकायः—महाप्रमाणः । (गो०) ४ मनस्वी—धीरः । (गो०) ५ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०)

इसी बीच में एकत्र हो, खर के तीन सेनाग्रगण्य (सेनापति) मृत्यु के वशवर्ती होने के कारण, क्रोध में भर, श्रीरामचन्द्र जी का सामना करने गये ॥ १७ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः ।
महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥

उन महाबलवान राक्षस सेना-पतियों के नाम महाकपाल, स्थूलाक्ष, और प्रमाथी थे । इनमें से महाकपाल एक बड़ा त्रिशूल उठा ॥ १८ ॥

स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम् ।
दृष्ट्वैवापततस्तूर्णं राघवः सायकैः शितैः ॥ १९ ॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह संप्राप्तानतिथीनिव ।
महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद परमेषुभिः ॥ २० ॥

और स्थूलाक्ष पटा ले कर तथा प्रमाथी फरसा ले कर, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चले । इन तीनों के चलाये हुए शस्त्रों को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने पैने बाणों से इन तीनों का वैसा ही स्वागत किया; जैसा कि, आये हुए पाहुने का किया जाता है । श्रीरामचन्द्र जी ने एक पैने बाण से महाकपाल का सिर काट डाला ॥ १९ ॥ २० ॥

असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ[1] प्रमाथिनम् ।
स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः ॥ २१ ॥

तदनन्तर अगणित बाणों से प्रमाथी का सिर चूर चूर कर दिया । वह कटे हुए महावृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२१॥

---

१ प्रममाथः—चूर्णीचकारेत्यर्थः । (गो०)

स्थूलाक्षस्याक्षिणी तीक्ष्णैः पूरयामास सायकैः ।
दूषणस्यानुगान्पञ्चसाहस्रान्कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पैने पैने बाणों से स्थूलाक्ष की आंखें भर दीं, क्षण भर में श्रीरामचन्द्र जी ने दूषण के पांच हज़ार ॥ २२ ॥

बाणौघैः पञ्चसाहस्रैरनयद्यमसादनम् ।
दूषणं निहतं दृष्ट्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥ २३ ॥

अनुयायी राक्षस सैनिकों को क्रोध में भर, पाँच हज़ार बाण चला, यमालय को भेज दिया । दूषण और उसकी पैदल सेना को मरा हुआ देख, ॥ २३ ॥

व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान्महाबलान् ।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥

खर ने क्रोध में भर अन्य महाबलवान् सेनापतियों को यह आज्ञा दी कि, यह दूषण तो अपने पैदल सैनिकों सहित युद्ध में मारा गया ॥ २४ ॥

महत्या सेनया सार्धं युध्वा रामं कुमानुषम् ।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

अब तुम सब लोग मिल कर और अपनी महती सेना को साथ ले,विविध प्रकार के शस्त्रों से मनुष्याधम राम को मार डालो ॥२५॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ॥ २६ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ २७ ॥

द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः ।
राममेवाभ्यवर्तन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥ २८ ॥

यह कह कर और क्रोध में भर स्वयं ही खर ने श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया। श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, पुरुष, कालकार्मुक, मेघमाली, महामाली, सर्पास्य और रुधिराशन नाम के १२ महाबली सेनाध्यक्षों ने अपनी अधीनस्थ सेनाओं को साथ ले, बड़े पैने पैने बाण चला कर, श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

ततः पावकसङ्काशैर्हेमवज्रविभूषितैः ।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी अग्नि तुल्य तथा सुवर्ण और हीरों से भूषित बाणों से उस बची हुई सेना का नाश करने लगे ॥ २९ ॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः ।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार वज्र के आघात से बड़े बड़े वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अपने सुवर्ण पुङ्ख वाले सधूम अग्नि के समान बाणों से, राक्षसों को मार कर, गिराना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना[1] ।
सहस्रं च सहस्रेण जघान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में एक सौ (कान के आकार के) बाण चला कर, एक सहस्र राक्षसों का एक एक बार में संहार किया ॥ ३१ ॥

---

१ कर्णिना—कर्णाकार शरीरेण । (गो०)

तैर्भिन्नवर्माभरणाश्छिन्नभिन्नशरासनाः ।
निपेतुः शोणिताद्दिग्धा धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उनके बाणों से राक्षसों के कवच, आभूषण और धनुष टूट कर गिर पड़े । वे राक्षस स्वयं भी खून से तरबतर हो और मर कर ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः ।
आस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिव ॥ ३३ ॥

खून में सने और समरभूमि में मर कर गिरे हुए राक्षसों के खुले हुए बालों से, वह समस्त रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानों यज्ञ की वेदी पर कुश बिछे हों ॥ ३३ ॥

क्षणेन तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम् ।
बभूव निरयप्रख्यं[1] मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

बात की बात में उन राक्षसों के मारे जाने से वहां महाघोर वन, मरे हुए राक्षसों के मांस और रक्त की कीचड़ से नरक के समान हो गया ॥ ३४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने अकेले और पैदल ही चौदह हज़ार भयङ्कर कर्म करने वाले राक्षसों को मार डाला ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः ।
राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

---

१ निरयप्रख्यं—नरकतुल्यं । (गो०)

इस राम-राक्षस-युद्ध में अब केवल तीन जन अर्थात् शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्र, महारथी खर और त्रिशिरा राक्षस बच रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महासत्त्वा राक्षसा रणमूर्धनि ।
घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

इनके अतिरिक्त जो राक्षस थे उन सब को महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने मार डाला था । वे राक्षस बड़े भयङ्कर और दुर्धर्ष थे ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्भीमबलं महाहवे
समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा ।
रथेन रामं महता खरस्तदा
समाससादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

इति षड्विंशः सर्ग ॥

उस महासंग्राम में भयङ्कर एवं बलवान् समस्त राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मरा हुआ देख, खर एक बड़े रथ पर सवार हो, वज्र उठाये इन्द्र की तरह, श्रीराम के सामने हुआ ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तविंशः सर्गः

—:※:—

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः[1] ।
राक्षसस्त्रिशिरा नाम सन्निपत्ये[2]दमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ वाहिनीपतिः—सेनापतिः । (गो०) २ सन्निपत्य—समीपमागत्येत्यर्थः ।
(गो०)

खर को श्रीरामचन्द्र के सामने जाते देख, त्रिशिरा नाम के सेनापति ने, खर के समीप जा कर, यह बात कही ॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्त सन्निवर्तस्व साहसात् ।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे निपातितम् ॥ २ ॥

हे स्वामिन् ! आप इस समय रामचन्द्र जी के सामने जाने का साहस न कीजिये और (अपने बदले) मुझ पराक्रमी को राम से लड़ने के लिये नियुक्त कीजिये । देखिये, मैं इस महाबाहु रामचन्द्र को युद्ध में मार कर, अभी गिराये देता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे[1] ।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

मैं हथियार छू कर, आपके सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं इस रामचन्द्र को, जो समस्त राक्षसों के मारने योग्य है, अवश्य मारूँगा ॥ ३ ॥

अहं वाऽस्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम ।
विनिवृत्य रणोत्साहान्मुहूर्तं प्राश्निको[2] भव ॥ ४ ॥

चाहे तो मैं इसको मारूँ अथवा यह मुझे मार डाले । आप स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हो कर, मुहूर्त्त भर मध्यस्थ बन कर, दोनों ओर का युद्ध देखिये ॥ ४ ॥

*प्रहृष्टो[3] वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि ।
मयि वा निहते रामं संयुगायो[4]पयास्यसि ॥ ५ ॥

---

१ आलभे—स्पृशामि । (गो०) २ प्राश्निकः—जयापजयनिर्णायकः । (गो०)
३ प्रहृष्टे—गर्विष्टे । (गो०) ४ संयुगाय—युद्धं कर्तुं । (गो०)
* पाठान्तरे—"प्रहृष्टे"

यदि राम मारा जाय, तो आप गर्व सहित जनस्थान को चले जाइयेगा और यदि कहीं मैं ही मारा जाऊँ, तो आप उससे युद्ध करने को उसके सामने जाना ॥ ५ ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात्प्रसादितः ।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

जब उस (श्रीरामचन्द्र) की मृत्यु का लालच दिखा, त्रिशिरा ने खर को प्रसन्न किया, तब खर ने उससे कहा कि, अच्छा जाओ और लड़ो। यह आज्ञा पा कर, त्रिशिरा श्रीरामचन्द्र जी के सन्मुख गया ॥ ६ ॥

त्रिशिराश्च रथेनैव बाजियुक्तेन भास्वता ।
अभ्यद्रवद्रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७ ॥

वह तीन सिरों वाला (त्रिशिरा) घोड़ों के देदीप्यमान् रथ पर सवार हो, युद्ध करने को श्रीरामचन्द्र जी के सामने गया— मानों तीन शिखर वाला पर्वत जाता हो ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान्स महामेघ इवोत्सृजम् ।
व्यसृजत्सदृशं नादं जलार्द्रस्य तु दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

वह त्रिशिरा महामेघ की तरह, बाणों की वर्षा करने लगा और ऐसे गर्जा मानों जल से भींगा नगाड़ा बज रहा हो ॥ ८ ॥

आगच्छन्त त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।
धनुषा प्रतिजग्राह विधून्वन्[1]सायकाञ्शितान् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने त्रिशिरा को आते देख और धनुष ले, उस पर तीखे बाण छोड़े ॥ ९ ॥

---

१ विधून्वन्—मुञ्चन् । (गो०)

स संप्रहार[1]स्तुमुलो रामत्रिशिरसोर्महान् ।
बभूवातीव बलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र और त्रिशिरा का बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ; मानों अति बलवान् सिंह और गजेन्द्र का युद्ध हो ॥ १० ॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितास्त्रिभिः ।
अमर्षी[2] कुपितो रामः संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

त्रिशिरा ने तीन बाण श्रीरामचन्द्र जी के ललाट में मारे । तब ऋषियों के कष्टों को न सहने वाले श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर त्रिशिरा को झिड़क कर कहा ॥ ११ ॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम् ।
पुष्पैरिव शरैर्यस्य ललाटेऽस्मि परिक्षतः[4] ॥ १२ ॥

अरे विक्रमी शूर राक्षस ! क्या तुझमें इतना ही बल है कि, तेरे मारे हुए बाण मेरे ललाट में फूलों की तरह जान पड़े ॥ १२ ॥

ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणच्युतान् ।
एवमुक्त्वा तु संरब्धः शरानाशीविषोपमान् ॥ १३ ॥

अच्छा अब तू मेरे धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों को रोक सकता हो तो रोक । यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने कुपित हो, सर्पों की तरह ॥ १३ ॥

त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश ।
चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १४ ॥

---

१ संप्रहारो—युद्धं । (गो०) २ संरब्धम्—सकोपं । (गो०) ३ अमर्षी—ऋष्यपराधासहनशीलः । (शि०) ४ परिक्षतो—हतोस्मि । (शि०)

चौदह बाण त्रिशिरा की छाती में मारे और चार पैने पैने बाण उसके रथ के चारों घोड़ों के मार ॥ १४ ॥

न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः ।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थान्न्यपातयत् ॥ १५ ॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने त्रिशिरा के चारों घोड़े मार कर गिरा दिये, फिर आठ बाण मार कर त्रिशिरा के सारथी को मार, रथ पर गिरा दिया ॥ १५ ॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।
ततो हतरथा[1]त्तस्मादुत्पन्तं निशाचरम् ॥ १६ ॥
बिभेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽवज्जडः[2] ।
सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसके रथ की ऊँची ध्वजा भी एक बाण से काट दी । तब घोड़ों और सारथी से रहित उस रथ से त्रिशिरा को कूदते देख, अप्रमेयात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, उसकी छाती को मारे बाणों के विदीर्ण कर डाला। तब त्रिशिरा निश्चेष्ट हो गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

शिरांस्यपातयद्रामो वेगवद्भिस्त्रिभिः शितैः ।
स भूमौ रुधिरोद्गारी रामबाणाभिपीडितः ॥ १८ ॥
न्यपतत्पतितैः पूर्वं स्वशिरोभिर्निशाचरः ।
हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः[3] ।
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव ॥ १९ ॥

---

१ हतरथात्—हतहयसारथिकरथात् । (गो०) २ जड़ः—निश्चेष्टः । (गो०)
३ खरसंश्रयाः—खरसेनकाः । (गो०) * पाठान्तरे—"रथोपस्थेन्यपातयत् ।"

तब श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त तीन बाण मार उसके तीनों सिर काट कर गिरा दिये। वह त्रिशिरा, श्रीराम के बाणों से पीड़ित हो, भूमि पर रुधिर गिराता हुआ, अपने मस्तकों के साथ रणभूमि में गिर पड़ा। उसको मरा देख, बचे हुए खर के सेवक राक्षस हतोत्साह हो, रणभूमि में खड़े न रह कर, वैसे ही भाग गये, जैसे व्याघ्र से भयभीत हो, मृग भागते हैं॥ १८ ॥ १९ ॥

तान्खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितः स्वयम्।
राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

उनको भागते देख, खर ने रोष में भर उनको लौटाया और स्वयं श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही दौड़ा, जैसे राहु, चन्द्रमा के ऊपर दौड़ता है ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का सत्ताईवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टाविंशः सर्गः

—※—

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह।
खरस्याप्यभवत्त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ १ ॥

त्रिशिरा सहित दूषण को मरा हुआ देख, खर भी श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से डर गया ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविषह्यं महाबलः।
हतमेकेन रामेण त्रिशिरोदूषणावपि ॥ २ ॥

यह सोचने लगा कि, अकेले श्रीराम ने अति बलवती राक्षसों की सेना मिटिया और यूथप सहित मार डाली ॥ २ ॥

तद्बलं[1] हतभूयिष्ठं[2] विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा ॥ ३ ॥

उस सेना को तथा चुने चुने वीर राक्षसों को मरा हुआ देख, खर उदास हुआ और श्रीरामचन्द्र के ऊपर वैसे ही झपटा, जैसे इन्द्र के ऊपर नमुचि दैत्य झपटा था ॥ ३ ॥

विकृष्य बलवच्चापं नाराचान्रक्तभोजनान् ।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खर ने बड़े ज़ोर से धनुष को खींच, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर क्रुद्ध सर्प के विष के समान रुधिर पान करने वाले बाण छोड़े ॥४॥

व्यां विधूनयन्सुसङ्क्रुद्धः शिक्षयाऽस्त्राणि दर्शयन् ।
चकार समरे नर्दान्खरो रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुष को रोहे को बार बार झटकारता और अपनी अस्त्रविद्या का परिचय देता हुआ और तरह तरह के बाण छोड़ता हुआ रथ पर सवार खर, रणभूमि में घूमने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद्धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी को बाणों से समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ पूरित करते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने भी बड़ा धनुष हाथ में लिया ॥ ६ ॥

---

१ बलं—सैन्यं । (गो०) २ हतभूयिष्ठं—हतप्रवरराक्षसं । (गो०)
३ बलवत्—अत्यन्तं । (गो०)

स सायकैर्दुर्विषहैः सस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः ।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

और आग के अंगारों की तरह न सहने योग्य तीरों से आकाश को छा दिया। मानों मेघ बरस रहा हो ॥ ७ ॥

तद्बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः ।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसङ्कुलम् ॥ ८ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र और खर के छोड़े हुए बाणों से सारा आकाश भरा हुआ था ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः संप्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक दूसरे को मार डालने की इच्छा से युद्ध करते हुए दोनों के शरजाल से सूर्य ढक गये थे और सूर्य का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ ९ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
आजघान खरो रामं तोत्रै[1]रिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर महावत जिस प्रकार महागज के अंकुश मारता है, उसी प्रकार खर ने पैने नालीक, नाराच और विकीर्ण नामक बाण श्रीरामचन्द्र जी के मारे ॥ १० ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

---

१ तोत्रै—गजशिक्षणयष्टिभिः । (गो०)

उस समय हाथ में धनुष लिये और रथ पर सवार खर, सब प्राणियों को ऐसा देख पड़ता था, मानों पाश को हाथ में लिये काल घूमता हो ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

अपनी समस्त सेना का विनाश करने वाले पुरुषार्थी, श्रीरामचन्द्र जी को, जो उस समय कुछ कुछ श्रान्त हो गये थे, खर ने बड़ा बलवान् समझा अथवा पुरुषार्थी बलवान् श्रीराम को श्रान्त समझा ॥ १२ ॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

सिंह तुल्य पराक्रमी और सिंह सदृश व्यवहार करने वाले श्रीरामचन्द्र खर को देख, उसी प्रकार कुछ भी न घबड़ाये, जिस प्रकार सिंह एक क्षुद्र हिरन को देख नहीं घबड़ाता ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।
अससाद रणे रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर खर, सूर्य समान द्युतिमान रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास वैसे ही पहुँचा जैसे पतंगे अग्नि के समीप जाते हैं ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः ।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन्पाणिलाघवम् ॥ १५ ॥

खर ने जाते ही, अपने हाथ की सफाई दिखाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी के धनुष को उस जगह से काट डाला जहाँ पर वे उसे पकड़े हुए थे ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान्सप्त शरानादाय वर्मणि[1] ।
निजघान खरः क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर खर ने क्रोध में भर और वज्र समान सात बाणों को चला, श्रीरामचन्द्र जी का कवच विदीर्ण कर डाला ॥ १६ ॥

तदस्तमहतं बाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः ।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसः ॥ १७ ॥

खर के चलाये बाणों से श्रीरामचन्द्र जी का सूर्य के समान चमकीला कवच टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

ततः शरसहस्रेण रामस्यामितौजसः ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १८ ॥

फिर अगणित बाणों से अनुपम पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, रणभूमि में खर ने महानाद किया ॥ १८ ॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।
रराज समरे रामो निधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

उस समय खर के बाणों से सम्पूर्ण अंगों के विध जाने से क्रुद्ध श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी शोभा जान पड़ी, जैसी धूम रहित अग्नि की ॥ १९ ॥

ततो गम्भीरनिर्ह्रादं रामः शत्रुनिबर्हणः ।
चकारान्ताय स रिपोः [illegible] ॥ २० ॥

---

१ वर्मणि निजघान—अचदारयति स्म । (गो०) २ अमितौजसम्—अनुपम पराक्रमंरामं । (शि०)

तदनन्तर शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने, शत्रुओं का नाश करने के लिये गंभीर शब्द करने वाले बड़े धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ २० ॥

सुमहद्वैष्णवं यत्तदति[1]सृष्टं[2] महर्षिणा ।
वरं तद्धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, महर्षि अगस्त्य जी के दिये हुए प्रसिद्ध वैष्णव धनुषश्रेष्ठ को उठा कर, खर की ओर झपटे ॥ २१ ॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः सन्नतपर्वभिः[3] ।
बिभेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥ २२ ॥

युद्ध में क्रुद्ध हो श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण के पुंख लगे हुए और सीधी गांठो वाले तीरों से खर के रथ की ध्वजा काट डाली ॥ २२ ॥

स दर्शनीयो बहुधा विकीर्णः काञ्चनध्वजः ।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया[4] ॥ २३ ॥

उस समय खर के रथ की, वह देखने योग्य सुवर्ण निर्मित ध्वजा, ज़मीन पर गिर कर, वैसे ही सुशोभित हुई, जैसे देवताओं के शाप से भूमि पर गिरे हुए सूर्य की शोभा हुई थी ॥ २३ ॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।
विव्याध युधि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥ २४ ॥

तब मर्मस्थलों को जानने वाले खर ने क्रुद्ध हो कर, चार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी के हृदय तथा अन्य मर्मस्थलों को वैसे ही वेध डाला, जैसे भाले से हाथी वेधा जाता है ॥ २४ ॥

---

१ यत्तदिति—प्रसिद्ध्यतिशयवाची । (गो०) २ अतिसृष्टं—दत्तं । (गो०)
३ सन्नतपर्वभिः—ऋजुपर्वभिः । (गो०) ४ आज्ञया—शापेन । (गो०)

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम् ॥ २५ ॥

खर के धनुष से छूटे हुए बहुत से बाणों के लगने से श्रीरामचन्द्र जी घायल हो गये और खून से सराबोर हो गये। अतः वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ २५ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृह्य परमाहवे ।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान्[1] ॥ २६ ॥

धनुषधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने एक बढ़िया धनुष ले, खर का निशाना बाँध, उसके ऊपर छः बाण छोड़े ॥ २६ ॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाह्वोरथार्दयत् ।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च[2] वक्षस्यभिजघान ह ॥ २७ ॥

इनमें से एक बाण से खर का माथा, दो से उसकी दोनों भुजाएँ घायल कीं और तीन अर्धचन्द्राकार मुख वाले बाण उसकी छाती में मारे ॥ २७ ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान्भास्करोपमान् ।
जिघांसू राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश समाददे ॥ २८ ॥

इसके बाद महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमकते हुए १३ नाराच (बाण विशेष) ले, खर को मारने की इच्छा से उस पर छोड़े ॥ २८ ॥

---

१ अभिलक्षितान्—लक्ष्योद्देश्यत्वेन बोधितान् । (शि०) २ चन्द्रार्धवक्त्रैः—अर्धचन्द्राकारमुखैः । (गो०)

ततोऽस्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
षष्ठेन तु शिरः संख्ये खरस्य रथसारथेः ॥ २९ ॥

एक से रथ के जुआं को, चार से चारों घोड़ों को और छठवें से खर के रथ के सारथी के सिर को छेद डाला ॥ २९ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं बलवान्द्वाभ्यामक्षं महाबलः ।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः ॥ ३० ॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव[1] ।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने तीन बाणों से रथ के तीनों बांसों को, दो से रथ की धुरी को, और बारहवें बाण से खर के बाण सहित धनुष को काट डाला । फिर खेल ही खेल में (अनायास) वज्र समान तेरहवां बाण, इन्द्र समान श्रीरामचन्द्र जी ने खर के मारा ॥३०॥३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा ॥ ३२ ॥

धनुष और रथ के टूट जाने से, घोड़ों और सारथि के मारे जाने से, खर रथहीन होने के कारण, हाथ में गदा ले, रथ से कूदा और रणभूमि पर खड़ा हो गया ॥ ३२ ॥

तत्कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य[2] देवाश्च महर्षयश्च ।

---

१ प्रहसन्निव—लीलयेत्यर्थः । (गो०) २ समेत्य—समूहीभूय । (गो०)

अपूजयन्[1] न्याय्यबलप्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेताः[2] ॥ ३३ ॥
इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

उस समय महारथी श्रीरामचन्द्र जी के इस (अद्भुत) कर्म को देख, देवता और महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए और एकत्र हो तथा विमानों पर चढ़, वहाँ (जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे) आये और हाथ जोड़, श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति की ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—※—

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।
मृदुपूर्वं[3] महातेजाः परुषं[4] वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

रथहीन खर को हाथ में गदा लिये हुए देख, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उससे न्यायोचित और मर्मस्पर्शी वचन कहे ॥ १ ॥

गजाश्वरथसंबाधे बले महति तिष्ठता[5] ।
कृतं सुदारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥

हे वीर ! अनेक हाथियों, घोड़ो, रथों, और बहुत सी सेना का अधिपति हो, तूने सर्वलोकनिन्दित घोर पाप कर्म किये हैं ॥ २ ॥

---

१ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०) २ समेताः—आगताः । (गो०) ३ मृदुपूर्वं—न्यायावलम्बनेनोक्तं । (गो०) ४ परुषं—मर्मोद्घाटनरूपत्वात् । (गो०) ५ तिष्ठता—अधिपतित्वेन तिष्ठतेत्यर्थः । (गो०)

उद्वेजनीयो[1] भूतानां नृशंसः[2] पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोपि न तिष्ठति[3] ॥ ३ ॥

(कदाचित् इन पापकर्मों को करते समय तुझे यह नहीं मालूम था कि,) प्राणियों को दुःख देने वाला घातक (अत्याचारी) और पापकर्म करने वाला पुरुष, भले ही वह त्रिलोकीनाथ ही क्यों न हो–(अधिक दिनों) नहीं जी सकता । (फिर तुझ जैसे तुच्छ जीव की तो बिसात ही क्या है) ॥ ३ ॥

कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर[4] ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवालयम् ॥ ४ ॥

हे रजनीचर ! लोकविरुद्ध कर्म करने वाले, अत्याचारी को सब लोग वैसे ही मारते हैं, जैसे आये हुए दुष्ट सर्प को ॥ ४ ॥

लोभा[5]त्पापानि कुर्वाणः कामाद्वा[6] यो न बुध्यते[7] ।
भ्रष्टः[8]पश्यति[9]तस्यान्तं[10] आलस्यी[11]करकादिव[12]॥५॥

जो मनुष्य लालचवश अथवा अपूर्व लाभ की इच्छा से काम कर के नहीं पछताता, उसे उस कर्म का फल, ऐश्वर्य से भ्रष्ट होना वैसे ही अनुभव करना पड़ता है, जैसे वमनी जाति का जन्तु वृष्टि के ओलों को खा कर, उसका परिणाम स्वरूप मृत्यु का अनुभव करता है ॥५॥

---

१ उद्वेजनीयः—उद्वेजकः । २नृशंसो—घातकः ।(गो०) ३ न तिष्ठति—न जीवेत् । (गो०) ४ क्षणदाचर—रजनीचर । (शि०) ४ लोभात्—लब्धस्यत्यागासहिष्णुतया । (गो०) ६ कामात्—अपूर्वलाभेच्छया । (गो०) ७ नबुध्यते—नपश्चातापं करोति । (रा०) ८ भ्रष्टः—ऐश्वर्याद्भ्रष्टः । (गो०) ९अन्तं—फलं । (गो०) १० पश्यति—अनुभवति । (गो०) ११ काल्काः—वर्षोपलाः । गो०) १२ ब्राह्मणी—रक्त पुच्छिका । (गो०)

वसतो दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।
किंनु हत्वा महाभागान्फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥

हे राक्षस ! इस दण्डकवन में बसने वाले धर्माचरण में रत महाभाग तपस्वियों को (निरपराध) मारने से, तुझे इसका फल भोगना होगा, क्या तू यह नहीं जानता था ॥ ६ ॥

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार गली हुई जड़ के वृक्ष बहुत दिनों तक नहीं खड़े रह सकते अर्थात् गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार पापी, क्रूर और लोकनिन्दित जन ऐश्वर्य पा कर भी बहुत दिनों तक नहीं जीवित रह सकते ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते जन्तुः फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमाः पुष्पमिवार्तवम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार समय पा कर, पेड़ फूलते हैं, उसी प्रकार समय प्राप्त होने पर जीवों को उनके किये पाप कर्मों का घोर फल अवश्य मिलता है । अर्थात् समय पर पाप का फल अवश्य प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न चिरात्प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ ९ ॥

हे निशाचर ! जिस प्रकार विषमिश्रित अन्न खाने से शीघ्र ही आदमी मर जाता है, उसी प्रकार पापी को किये हुए पापों का फल प्राप्त होने में विलंब नहीं होता । अर्थात् शीघ्र मिलता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।
अहमासादितो राज्ञा[1] प्राणान्हन्तुं निशाचर ॥ १० ॥

---

१ राज्ञा—दशरथेननियुक्त । (रा०)

हे निशाचर ! तू लोकों का अहित चाहने वाला होने के कारण महापापी है। अतः महाराज दशरथ का भेजा हुआ मैं तेरे प्राणों का नाश करने को यहां आया हूँ ॥ १० ॥

अद्य हि त्वां मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
विदार्य निपतिष्यन्ति[1] वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

आज ये सुवर्ण भूषित मेरे छोड़े हुए बाण तेरे शरीर को चीर कर वैसे ही घुसेंगे, जैसे सर्प अपनी बांबी में घुसता है ॥ ११ ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः ।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

जिन धर्मचारी ऋषि मुनियों को तूने इस दण्डकारण्य में आ कर खाया है, आज युद्ध में सेना सहित मर कर, तू भी उनके पीछे जायगा ॥ १२ ॥

अद्य त्वां विहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः ।
निरयस्थं विमानस्था मे त्वया हिंसिताः पुरा ॥ १३ ॥

पहिले जिन तपस्वियों को तूने मारा है, आज वे विमान में लौट कर, तुझको मेरे बाणों से मरा और नरक में जाता हुआ देखें ॥ १३ ॥

प्रहर त्वं यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम ।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

अरे कुलाधम ! मेरे मरने के लिये तुझे जो उपाय करना हो सो कर ले और यथेष्ट प्रहार भी कर ले। अन्त में तो मैं, अवश्य ही ताल के फल की तरह तेरा सिर काट कर, गिरा ही दूँगा ॥ १४ ॥

---

१ निपतिष्यन्ति—प्रवेक्ष्यन्ति । (गो०)

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
प्रत्युवाच खरो रामं प्रहसन्क्रोधमूर्छितः ॥ १५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब खर क्रुद्ध हो और लाल लाल आँखें निकाल तथा (तिरस्कार सूचक) हँसी हँस कर, श्रीराम से बोला ॥ १५ ॥

प्राकृता[1]न्राक्षसान्हत्वा युद्धे दशरथात्मज ।
आत्मना[2] कथमात्मानमदृश्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

हे दशरथ के पुत्र! क्षुद्र (अर्थात् साधारण) राक्षसों को मार कर, प्रशंसा योग्य न होने पर भी, तू अपने मुँह अपनी प्रशंसा कर रहा है ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः ।
कथयन्ति न ते किञ्चित्तेजसा[3] स्वेन गर्विताः ॥ १७ ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी और बलवान होते हैं, वे अपने प्रताप का गर्व कर, कभी अपना बखान नहीं करते ॥ १७ ॥

अकृतात्मानो[4] लोके क्षत्रियपांसनाः ।
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! जो क्षुद्र, कलुष चित्त वाले और क्षत्रियाधम हैं, वे ही तेरी तरह व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन्वीरः समरे कोऽभिधास्यति ।
मृत्युकाले हि सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे[5] स्तवम् ॥ १९ ॥

---

१ प्राकृताः—क्षुद्राः ।(गो०) २ आत्मना—स्वयमेव । (गो०) ३ तेजसा—प्रतापेन । (गो०) ४ अकृतात्मानः—कल्मषचित्ताः । (रा०) ५ अप्रस्तवे—अनवसरे । (गो०)

रणभूमि में, जहाँ मृत्यु होना कोई अनहोनी बात नहीं, वहाँ पर कौन ऐसा शूर है, जो अपने कुल का बखान कर, ऐसे अनवसर में अपनी बड़ाई अपने आप करेगा ॥ १९ ॥

सर्वथैव लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम् ।
सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना[1] ॥ २० ॥

अतएव तूने अपना बखान कर, सब प्रकार से अपना ओछापन वैसे ही दिखलाया है, जैसे अग्नि में तपाने पर बनावटी सोना अपना बनावटीपन प्रकट कर देता है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यति त्वं गदाधरम् ।
धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभिश्चितम् ॥ २१ ॥

हे श्रीराम ! क्या तू यह नहीं देखता कि, मैं गदा लिये लड़ने के लिये उद्यत, यहाँ पर विविध धातुओं से शोभित पर्वत की तरह, अचल अटल खड़ा हुआ हूँ ॥ २१ ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान्रणे तव ।
अन्यानामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

मैं इस अपने हाथ की गदा से पाशधारी यमराज की तरह युद्ध में केवल तेरा ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों का संहार कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।
अस्तं गच्छेद्धि सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

---

१ कुशाग्निना—स्वर्णोदिशोधनाग्निना । (रा०) यद्वा दर्भमाश्रितेनाग्निना । (गो०)

तेरी इस आत्मश्लाघा के उत्तर में यद्यपि मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ, तथापि मैं तुझसे अब और कुछ कहना नहीं चाहता—क्योंकि (कहने सुनने में व्यर्थ समय निकला जाता है और) यदि सूर्यास्त हो गया तो युद्ध में विघ्न पड़ेगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।
त्वद्विनाशात्करोम्येष तेषामास्रप्रमार्जनम् ॥ २४ ॥

तूने जो चौदह हज़ार राक्षसों को मारा है, सो अब मैं तुझे मार कर, उनकी विधवा स्त्रियों और अनाथ बच्चों के आँसू पोछूँगा ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धस्तां गदां परमाङ्गदः[1] ।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तामशनिं यथा ॥ २५ ॥

यह कह कर, खर ने अत्यन्त कुपित हो, सुवर्ण के बंदों से बँधी हुई, इन्द्र के वज्र के समान, देदीप्यमान गदा, श्रीराम के ऊपर फेंकी ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा ।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात्तत्समीपतः ॥ २६ ॥

खर की फेंकी हुई वह चमचमाती बड़ी भारी गदा, अगल बगल के वृक्षों और लता गुल्मों को भस्म करती हुई, श्रीरामचन्द्र जी के पास आ पहुँची ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं ज्वलितां मृत्युपाशोपमां गदाम् ।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥ २७ ॥

---

१ परमाङ्गदः—कनकवलयानि यस्यास्तांप्रसिद्धांहस्तस्थांगिदां । (रा०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने उस चमचमाती और मृत्युपाश के समान गदा के, आकाश ही में मारे बाणों के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ २७ ॥

सा विकीर्णा शरैर्भग्ना पपात धरणीतले ।
गदा मन्त्रौषधबलैर्व्यालीव विनिपातिता ॥ २८ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

बाणों से चूर चूर हो कर, वह पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ी, जैसे मंत्र और ओषधि के प्रभाव से नागिन गिर पड़ती है ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रिंशः सर्गः

—:*:—

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः ।
स्मयमानः[1] खरं वाक्यं संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी उस गदा को बाणों से नष्ट कर, उपहास करते हुए उस घबड़ाये हुए खर से यह बोले ॥ १ ॥

[नोट—"धर्मवत्सल" विशेषण श्रीरामचन्द्र जी के लिये इस लिये यहाँ दिया गया है कि, श्रीरामचन्द्र जी "निरायुध" शत्रु का वध करना धर्मविरुद्ध समझते हैं ।]

एतत्ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम ।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमवगर्जसि ॥ २ ॥

---

१ स्मयमानः—परिहसन्नित्यर्थः । (गो०) संरब्धं—प्राप्तभितित्वरविशेषणं, "संरम्भः सम्भ्रमे कोपे" इत्यमरः । (गो०)

हे राक्षसाधम ! (क्या) तेरा सब बल इतना ही था, जो तूने अभी दिखलाया । (किन्तु आश्चर्य है कि,) मुझसे बल में न्यून होने पर भी, मतवाले की तरह तू वृथा ही डींग मारता है ॥ २ ॥

एषा बाणाविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता ।
अभिधान[1]प्रगल्भस्य[2] तव प्रत्यरिघातिनी[3] ॥ ३ ॥

बढ़ बढ़ कर बातें मारने वाले, तुझ ढीठ की, शत्रुनाशिनी यह गदा, मेरे बाणों से चूर हो , पृथिवी पर पड़ी है ॥ ३ ॥

यत्त्वयोक्तं विनष्टानामहमास्रप्रमार्जनम् ।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥ ४ ॥

तूने जो कहा था कि, "मैं मरे हुए राक्षसों की विधवाओं और अनाथ बच्चों के आंसू पोंछूँगा" सो तेरी वह बात भी झूठी हो गयी ॥ ४ ॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः ।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार गरुड़ जी ने अमृत को हरा था, उसी प्रकार मैं भी नीच, ओछे स्वभाव वाले, झूठा व्यवहार करने वाले, तुझ राक्षस के प्राण (अभी) हरता हूँ ॥ ५ ॥

अद्य ते च्छिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम् ।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम् ॥ ६ ॥

मेरे बाणों से विदारित हो, जब तेरा सिर कट जायगा, तब तेरे गले के भाग सहित रक्त को पृथिवी आज पान करेगी ॥ ६ ॥

---

१ अभिधाने—वचसि । (गो०) २ प्रगल्भस्य—धृष्टस्य । (गो०)
३ प्रत्यरिघातिनी—अरीनरीन् प्रतिघातिनी गदा । (गो०)

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः ।
स्वप्स्यसे गां समालिङ्ग्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥ ७ ॥

अभी तू धूल धूसरित हो और अपनी दोनों भुजाओं को फैला कर, भूमि को वैसे ही आलिङ्गन किये हुए सोवेगा, जैसे कोई कामी पुरुष किसी दुर्लभ स्त्री को आलिङ्गन कर के सोता है ॥ ७ ॥

प्रवृद्धनिद्रे[1] शयिते त्वति राक्षसपांसने ।
भविष्यन्त्यशरण्यानां[2] शरण्या[3] दण्डका इमे ॥ ८ ॥

अरे राक्षसाधम ! जब तू दीर्घ निद्रा में सो जायगा, (अर्थात् मर जायेगा) तब अरक्षित ऋषियों के लिये यह दण्डकवन, सुख से रहने योग्य स्थान हो जायगा ॥ ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने[4] तव राक्षस मच्छरैः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

जब मेरे बाणों से यह जनस्थान राक्षसशून्य हो जायगा, तब मुनि लोग इस वन में निर्भय हो, सर्वत्र आ जा सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः ।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥ १० ॥

दूसरों को भयभीत करने वाली राक्षसियां, अपने सम्बन्धियों के मारे जाने के कारण, दीनभाव से रोती हुई और भयभीत हो, आज यहां से भाग जांयगी ॥ १० ॥

---

१ प्रवृद्धनिद्रे—दीर्घनिद्रे । (गो०) २ अशरण्यानां—ऋष्यादीनामगतीनां । (गो०) ३ शरण्याः—सुखावासभूताः (गो०) ४ हतं निवृत्तं । स्थानं—राक्षसस्थितिर्यस्मात् । (शि०)

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः ॥ ११ ॥

जिन राक्षसियों के तुम जैसे दुराचारी पति हैं, वे अपने कुल के अनुरूप दुराचारिणी राक्षसियाँ, आज शोकरस का आस्वादन कर, हीनवीर्य हो जायँगी । अर्थात् अब वे उपद्रव न करेंगी ॥ ११ ॥

नृशंस नीच क्षुद्रात्मन्नित्यं ब्राह्मणकण्टक ।
यत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२ ॥

रे निष्ठुर ! रे नीच ! रे क्षुद्र बुद्धि वाले ! अरे ब्राह्मणों को सदा सताने वाले ! तुम जैसे लोगों के डर ही से मुनि लोग निःशङ्क हो हवन नहीं करने पाते ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं[1] ब्रुवाणं राघवं रणे ।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात्स्वरतरस्वनः ॥ १३ ॥

जब कुपित हो श्रीरामचन्द्र जी ने खर से ऐसे वचन कहे ; तब खर भी क्रोध में भर, उच्चस्वर से श्रीरामचन्द्र जी को दुर्वादिक कहता हुआ बोला ॥ १३ ॥

दृढं[2] खल्ववलिप्तोसि[3] भयेष्वपि च निर्भयः ।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्युवश्यो न बुध्यसे ॥ १४ ॥

निश्चय ही तू बड़ा घमंडी है । इसीसे तू भय रहने पर भी निर्भयसा जान पड़ता है । तेरी मृत्यु निकट है । इसीसे तू बोलते समय यह नहीं समझ सकता कि, क्या कहना चाहिये और क्या नहीं ॥ १४ ॥

---

१ तमेवमभिसंरब्ध—एवंवचोब्रुवाणम् । (शि०) २ दृढं—निश्चितं । (गो०) ३ अवलिप्तोसि—गर्वितोसि । (गो०)

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये ।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

जो लोग शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनकी अन्तःकरणादि छःओं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है । इसीसे उनको करने अनकरने कामों का ज्ञान नहीं रहता ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भ्रुकुटीं ततः ।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से इस प्रकार कह और भौंहें सकोड़, खर ने पास ही साल का एक बहुत बड़ा वृक्ष देखा ॥ १६ ॥

रणे प्ररहणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन् ।
स तमुत्पाटयामास संदश्य दशनच्छदम् ॥ १७ ॥

उसने युद्ध करने के लिये शस्त्र की खोज में अपने चारों ओर निगाह डाली, (किन्तु जब उसे अन्य कोई शस्त्र अपने योग्य न देख पड़ा, तब) उसने किचकिचा कर उस वृक्ष को उखाड़ा ॥ १७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनद्य च महाबलः ।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

और घोर गर्जना कर, दोनों भुजाओं से उस वृक्ष को, श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्य कर और यह कह कर कि, "बस अब तुम मारे गये" फेंका ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान् ।
रोषमाहारयत्तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

प्रतापी श्रीरामचन्द्र जी ने उस साल वृक्ष को अपनी ओर आते देख, बाण मार कर उसके खण्ड खण्ड कर डाले और क्रोध में भर खर को मार डालने के लिये तीव्र बाण निकाले ॥ १९ ॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषाद्रक्तान्तलोचनः ।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

उस समय मारे क्रोध के श्रीराम जी का शरीर पसीने से तर और उनके नेत्र ख़ून की तरह लाल, हो गये। उन्होंने एक हज़ार बाण खर के मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणान्तरा[1]द्रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्[2] ।
गिरेः प्रस्रवणस्येव तोयधारापरिस्रवः[3] ॥ २१ ॥

उन बाणों के घावों में से फेनयुक्त रक्त की धारें उसी प्रकार बहने लगीं, जिस प्रकार पहाड़ी झरनों से पानी की धारें बहती हैं ॥ २१ ॥

विह्वलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे ।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद्द्रुतम् ॥ ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने खर को उस युद्ध में, बाणों के आघात से व्याकुल कर दिया। तब तो वह (अपने शरीर से निकलते हुए) रक्त की गन्ध से मतवाला हो, बड़े वेग से श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संरब्ध[4] कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम् ।
अपासर्पत्प्रतिपदं[5] किञ्चित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

---

१ बाणान्तरात्—बाणक्षतविवरात् । (गो०) २ फेनिलं—फेनवत् । (गो०) ३ परिस्रवः—प्रवाहः । (गो०) ४ संरब्धं—सभ्रान्तं । (गो०) ५ प्रतिपदं—अद्य मोक्षनप्रतिकूलं । (गो०)

खर को, क्रुद्ध और खून में डूबा हुआ अपनी ओर आते देख, और उस पर अस्त्र छोड़ने की घात न पा, श्रीरामचन्द्र जी तुरन्त कुछ पीछे हट गये ॥ २३ ॥

[नोट—'श्रीरामचन्द्र जी का दो चार पग पीछे हटना खर के भय से नहीं, किन्तु अस्त्र चलाने के लिये पर्याप्त अन्तर प्राप्त करने के लिये था।]

ततः पावकसङ्काशं वधाय समरे शरम् ।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४ ॥

युद्ध में खर का वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी ने दूसरे ब्रह्मदण्ड के समान और अग्नि तुल्य बाण (अपने तरकस से) निकाला ॥ २४ ॥

स तं दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता ।
सन्दधे चापि धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

यह बाण अगस्त्य जी को धीमान् इन्द्र ने दिया था, (और अगस्त्य से श्रीरामचन्द्र जी को मिला था,) धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वही बाण धनुष पर रख, खर के ऊपर छोड़ा ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिस्वनः ।
रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष को तान कर जब बाण छोड़ा, तब वह बाण वज्र के समान महानाद करता हुआ खर की छाती में जा कर लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना ।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्तकः ॥ २७ ॥

उस बाण से निकले अग्नि से खर दग्ध हो कर, पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे श्वेतारण्य में रुद्र ने अपने तृतीय नेत्र के अग्नि से अन्तकासुर को दग्ध कर, गिराया था ॥ २७ ॥

[नोट—कूर्मपुराण के उत्तरखण्ड के ३६ वें अध्याय में लिखा है कि, परमशैव श्वेत नाम के एक राजर्षि कालञ्जर पर्वत पर जब तप कर रहे थे; तब अन्तकासुर ने उन्हें मार डालने के लिये, उन पर आक्रमण किया। उस समय भक्तवत्सल शिव जी ने अपने बांए पैर के आघात से अन्तकासुर को मार डाला था। (रा०)]

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा ।
बलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्र से वृत्तासुर, फेन से नमुचि, और इन्द्र के वज्र से बलि मारे गये, वैसे ही खर भी श्रीरामचन्द्र जी के बाण से मर कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २८ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे सङ्गताः परमर्षयः[1] ।
सभाज्य[2] मुदिता राममिदं वचनमब्रुवन् ॥ २९ ॥

तब सब राजर्षि और ब्रह्मर्षि एकत्र हो और प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास गये और उनका पूजन कर, उनसे यह बोले ॥२९॥

एतदर्थं महाभाग* महेन्द्रः पाकशासनः ।
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः ॥ ३० ॥

इसी उद्देश्य से पाकशासन महेन्द्र शरभङ्ग जी के पुण्याश्रम में आये थे ॥ ३० ॥

आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ।
एषां वधार्थं क्रूराणां रक्षसां पापकर्मणाम् ॥ ३१ ॥

और इन क्रूरकर्मा पापी राक्षसों के वध के लिये ही यत्नपूर्वक महर्षिगण आपको यहाँ लाये थे ॥ ३१ ॥

---

१ परमर्षयः—ब्रह्मर्षयः । (गो०) २ सभाज्य—सम्पूज्य । (गो०)
पाठान्तरे—' महातेजा " ।

तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ।
सुखं धर्मं चरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ॥ ॥ ३२ ॥

हे दशरथात्मज ! सो हमारा यह काम आपने कर दिया । अब इस दण्डकवन में महर्षि लोग सुख से धर्मानुष्ठान किया करेंगे ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह सङ्गताः ।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ ३३ ॥

इतने ही में देवता लोग चारणों को साथ लिये हुए आये और उन लोगों ने नगाड़े बजा कर चारों ओर फूलों की वर्षा की ॥ ३३ ॥

रामस्योपरि संहृष्टा ववृषुर्विस्मितास्तदा ।
अर्धाधिकमुहूर्तेन[1] रामेण निशितैः शरैः ॥ ३४ ॥

फिर हर्षित हो और श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि कर, वे विस्मित हुए कि, तीन ही घड़ी में अपने पैने बाणों से ॥३४॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महाहवे ॥ ३५ ॥

उस महायुद्ध में खर दूषणादि मुख्य राक्षसों के सहित, श्रीरामचन्द्र ने घोर कर्म करने वाले १४ हज़ार राक्षसों को (कैसे) मार डाला ॥ ३५ ॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः ।
अहो वीर्यमहो दाक्ष्यं[2] विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३६ ॥

---

१ अर्धाधिक मुहूर्तेन—घटिकात्रयेण । (गो०) २ दाक्ष्यं—सर्वसंहारचातुर्यं । (गो०)

विदितात्मा श्रीरामचन्द्र का यह कर्म बड़ा भारी है। आहा इनका यह पराक्रम और सर्व-संहार-चातुर्य विष्णु के तुल्य देख पड़ता है ॥ ३६ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम् ।
एतस्मिन्नन्तरे[1] वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥ ३७ ॥

यह कह कर, वे सब देवता जहाँ से आये थे, वहाँ लौट कर चले गये। इसी बीच में शूरवीर लक्ष्मण, सीता जी को साथ लिये हुए ॥ ३७ ॥

गिरिदुर्गाद्विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमं सुखी[2] ।
ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥

गिरिगुहा से निकल कर और श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से प्रसन्न होते हुए आश्रम में पहुँचे । तदनन्तर विजयी श्रीरामचन्द्र जी की महर्षियों ने पूजा की ॥ ३८ ॥

प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः ।
तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥

फिर लक्ष्मण जी से पूजित हो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में प्रवेश किया । शत्रुहन्ता एवं महर्षियों को आनन्द देने वाले श्रीरामचन्द्र जी को देख ॥ ३९ ॥

बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे ।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान् ।
रामं चैवाव्यथं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

---

१ अन्तरे—अवसरे । (गो०) २ सुखी—रामपराक्रमदर्शनजन्यसन्तोषवान् । (गो०)

जनकनन्दिनी सीता जी प्रसन्न हुईं और राक्षसों को मरा हुआ देख, जानकी जी ने परम सुख माना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को विथा रहित अथवा निरापद देख, जानकी जी सन्तुष्ट हुईं ॥ ४० ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सभाज्यमानं मुदितैर्महर्षिभिः ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

राक्षस समूह को मर्दन करनेवाले और प्रसन्नचित्त महर्षियों द्वारा पूजित श्रीरामचन्द्र को देख, चन्द्रवदनी जनकनन्दिनी सीता प्रसन्न हुईं और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को गले लगाया ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकत्रिंशः सर्गः

—※—

त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर अकम्पन नामक राक्षस शीघ्रता पूर्वक जनस्थान से लङ्का को गया और वहां जा कर, रावण से बोला ॥ १ ॥

जनस्थानस्थिता राजन्राक्षसा बहवो हताः ।
खरश्च निहतः संख्ये कथञ्चिदहमागतः ॥ २ ॥

---

१ कथञ्चिदिति — जीवेषधारणेनेति भावः । (गो०)

हे राजन् ! जनस्थान में रहने वाले खर समेत बहुत से राक्षस युद्ध में मारे गये । मैं किसी तरह जीता जागता यहाँ आया हूँ ॥ २ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार ने "किसी तरह" का भाव यह दर्साया है कि, अकम्पन् स्त्रीवेश धारण कर भागा था ।]

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ३ ॥

अकम्पन के ये वचन सुन, रावण के नेत्र क्रोध के मारे लाल हो गये और वह अकम्पन से त्योरी चढ़ा ऐसे बोला, मानों उसे नेत्राग्नि से भस्म ही कर देगा ॥ ३ ॥

केन रम्यं जनस्थानं हतं मम परासुना[1] ।
को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं[2] चाधिगमिष्यति ॥ ४ ॥

किस गतायु ने मेरे उस रमणीय जनस्थान को ध्वंस कर दिया ! किसकी यह इच्छा हुई है कि, वह त्रिलोकी में न रहने पावे ॥ ४ ॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम् ।
प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन न विष्णुना ॥ ५ ॥

मुझे चिढ़ा कर, इन्द्र, यम, कुवेर और विष्णु भी सुख से नहीं रह सकते ॥ ५ ॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम् ।
मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे ॥ ६ ॥

क्योंकि मैं काल का भी काल हूँ और अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ । अधिक क्या मैं मृत्यु को भी मरणशील बना सकता हूँ ॥ ६ ॥

दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ ।
वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमहमुत्सहे ॥ ७ ॥

---

१ परासुना—परागत प्राणेन । (शि०) २ गतिं—स्थितिं । (गो०)

क्रुद्ध होने पर, मैं अपने तेज से अग्नि और सूर्य को भी दग्ध कर सकता हूँ और अपने वेग से वायु का वेग नष्ट कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।
भयात्सन्दिग्धया[1] वाचा रावणं याचते[2]ऽभयम् ॥ ८ ॥

रावण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, अकम्पन बहुत डरा और हाथ जोड़ अस्पष्ट अक्षरों से युक्त शब्दों में, अर्थात् लड़खड़ाती ज़बान से उसने अभयदान माँगा ॥ ८ ॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसांवरः ।
स विश्रब्धोऽब्रवीद्वाक्यमसन्दिग्धमकम्पनः ॥ ९ ॥

तब राक्षसश्रेष्ठ रावण ने अकम्पन को अभय प्रदान किया । तब रावण के अभयदान पर विश्वास कर, अकम्पन ने साफ साफ समस्त वृत्तान्त कहा ॥ ९ ॥

पुत्रो दशरथस्यास्ति सिंहसंहननो युवा ।
रामो नाम वृषस्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः ॥ १० ॥
वीरः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः ।
हतं तेन जनस्थानं खरश्च सहदूषणः ॥ ११ ॥

सिंह के समान सुन्दर शरीरावयव वाले, युवावस्था को प्राप्त, ऊँचे कन्धों वाले, गोल एवं लंबी भुजाओं वाले, वीर, महायशस्वी, सुस्वरूप, और अतुलित बल पराक्रम वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो महाराज दशरथ के पुत्र हैं, जनस्थान में आ कर, खर और दूषण को मारा है ॥ १० ॥ ११ ॥

---

१ सन्दिग्धया—सन्दिग्धाक्षरया । (गो०) २ याचते—अयाचत । (गो०)

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
नागेन्द्र[1] इव निःश्वस्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

राक्षससेश्वर रावण, अकम्पन के वचन सुन, सर्पेन्द्र की तरह फुंफकार छोड़ता हुआ बोला ॥ १२ ॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह ।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन ॥ १३ ॥

हे अकम्पन ! तू यह तो बतला कि, क्या वह राम देवराज इन्द्र और सब देवताओं को साथ ले, जनस्थान में आया है ? ॥ १३ ॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥ १४ ॥

रावण के इस प्रश्न के उत्तर में अकम्पन रावण से श्रीरामचन्द्र जी के बल विक्रम का बखान करता हुआ, पुनः बोला ॥ १४ ॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः पुरन्दरसमो युधि ॥ १५ ॥

हे रावण ! श्रीरामचन्द्र बड़ा तेजस्वी और धनुषधारियों में श्रेष्ठ है । युद्ध में दिव्यास्त्रों के चलाने में उसकी इन्द्र की तरह सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

तस्यानुरूपो बलवान्रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।
कनीयाँल्लक्ष्मणो नाम भ्राता शशिनिभाननः ॥ १६ ॥

चन्द्रमा के समान मुख वाला उसका छोटा भाई लक्ष्मण है । वह राम के समान बली है । उसके बोलने का शब्द नगाड़े के शब्द की तरह गम्भीर है और उसके दोनों नेत्र लाल रंग के हैं ॥ १६ ॥

---

१ नागेन्द्र—सर्पेन्द्र । (गो०)

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।
श्रीमान्राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

जैसे पवन की सहायता से अग्नि वन को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीमान् राजश्रेष्ठ राम ने अपने भाई के साथ जनस्थान को उजाड़ा है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्रिणः ॥ १८ ॥

राम की सहायता को महानुभाव देवता नहीं आये थे । इस विषय में आप और कुछ सोच विचार न करें । क्योंकि श्रीरामचन्द्र ने उस युद्ध में सुवर्ण पुंख युक्त ऐसे बाण छोड़े थे ॥ १८ ॥

सर्पाः पञ्चानना[1] भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।
येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्शिताः[2] ॥ १९ ॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।
इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २०॥

जो सर्प वन और मुँह फाड़ राक्षसों को खा गये । उन बाणों से भयभीत हो, राक्षस लोग जब भागते, तब जहां जहां वे जाते वहां वहां वे श्रीराम को सामने खड़ा पाते थे । हे अनघ ! इस प्रकार राम ने तुम्हारा जनस्थान ध्वस्त किया ॥ १९ ॥ २० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
जनस्थानं गमिष्यामि हन्तुं रामं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पन का वचन सुन, रावण बोला—मैं राम और लक्ष्मण को मारने के लिये जनस्थान जाऊँगा ॥ २१ ॥

---

१ पञ्चानना: —विस्तृताननाः (गो०) २ भयकर्षिताः—भयपीडिताः । (गो०)

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।
शृणु राजन्यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥ २२ ॥

रावण की यह बात सुन, अकम्पन बोला—हे राजन्! श्रीरामचन्द्र जैसे चरित्रवान्, बली, और पुरुषार्थी हैं, सो मैं कहता हूँ; आप उसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः[1] कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।
आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जब कुद्ध हों तब किसी में ऐसी शक्ति नहीं, जो पराक्रम से उनको जीत सके। वे बाणविद्या में ऐसे पटु हैं कि, जल से लबालब भरी नदी के प्रवाह के वेग को, वे अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २३ ॥

सतारग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्[2] ।
असौ रामस्तु मज्जन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तरैयों, नवग्रह, और सत्ताइसों नक्षत्रों सहित आकाशमण्डल को खण्ड खण्ड कर सकते हैं। डूबती हुई पृथिवी को भी श्रीमान् रामचन्द्र उबार सकते हैं ॥ २४ ॥

भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद्विभुः ।
वेगं वाऽपि समुद्रस्य वायुं वा विधमे[3]च्छरैः ॥ २५ ॥

और यदि वे चाहें तो समुद्र की वेलाभूमि (तट की भूमि) को तोड़ कर, सारे संसार को जलमग्न कर सकते हैं। (इसी प्रकार) वे समुद्र अथवा पवन का वेग अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २५ ॥

---

१ असाध्यः—अनिप्राह्यः । (गो०) २ अवसादयेत्—विशीर्णं कुर्यात् । (गो०) ३ विधमेत्—वहेत् । (गो०)

संहृत्य वा पुनर्लोकान्विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः स पुरुषव्याघ्रः सृष्टं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ एवं महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी अपने पराक्रम से समस्त लोकों का संहार कर, फिर नयी सृष्टि रच सकते हैं ॥ २६ ॥

न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं त्वया युधि ।
रक्षसां वाऽपि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

हे दशग्रीव! तुम या तुम्हारे राक्षस युद्ध में राम को परास्त नहीं कर सकते । जैसे पापी लोग स्वर्ग नहीं पा सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।
अयं तस्य बधोपायस्तं [1]ममैकमनाः[2] शृणु ॥ २८ ॥

मेरी जान में तो सब देवता और असुर मिल कर भी उन्हें नहीं मार सकते । किन्तु उनके मारने का मैं उपाय बतलाता हूँ, उसे ध्यान दे कर, सुनिये ॥ २८ ॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा[3] ।
श्यामा[4] समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं[5] रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

उनके साथ उनकी भार्या सीता है । वह संसार की समस्त स्त्रियों से चढ़ बढ़ कर है । उसकी पतली कमर है और उसके शरीर के अन्य सब अँग भी सुन्दर और सुडौल हैं । इस समय उसकी चढ़ती हुई जवानी है । वह स्त्रियों में श्रेष्ठ और रत्न जटित भूषणों से भूषित है ॥ २९ ॥

---

१ मम—मत्तः (गो०) २ एकमनाः—सावधानाः (गो०) ३ सुमध्यमा—शोभन कटि विशिष्टं ।(शि०) ४ श्यामा—यावनमध्यस्था । (गो०) ५ स्त्रीरत्नं—स्त्रीश्रेष्ठा । (गो०)

नैव देवी[1] न गन्धर्वी नाप्सरा नाऽपि दानवी ।
तुल्या सीमन्तिनी[2] तस्या मानुषीषु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

सौन्दर्य में उनकी स्त्री का सामना न तो किसी देवता की कोई स्त्री, न किसी गन्धर्व की कोई स्त्री, न कोई अप्सरा और न किसी दानव की स्त्री कर सकती है। फिर भला मनुष्य की स्त्री तो उसके सौन्दर्य के समान हो ही कैसे सकती है ॥ ३० ॥

तस्यापहर भार्यां त्वं प्रमथ्य तु महावने ।
सीतया रहितः कामी रामो हास्यति जीवितम् ॥ ३१ ॥

सो तुम उस महावन में जा, जैसे बने वैसे छलबल से रामचन्द्र की भार्या को हर लाओ। सीता रहित हो, रामचन्द्र जो कामी हैं, अपने प्राण (आप) छोड़ देंगे ॥ ३१ ॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह ॥ ३२ ॥

महाबाहु राक्षसेश्वर रावण को अकम्पन का बतलाया हुआ यह उपाय पसंद आया, वह सोच विचार कर अकम्पन से बोला ॥ ३२ ॥

बाढं काल्यं गमिष्यामि हेयकः सारथिना सह ।
आनयिष्यामि वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

बहुत अच्छा ! कल मैं अकेला सारथी को अपने साथ ले कर, जाऊँगा और जानकी को हर्षित हो, इस लङ्कापुरी में ले आऊँगा ॥ ३३ ॥

---

१ देवी—देवजी। (गो०) २ सीमन्तिनी—जी । (गो०)

अर्थैनमुक्त्वा प्रययौ स्वरयुक्तेन रावणः ।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वा प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

दूसरे दिन रावण सूर्य के समान चमकते हुए रथ पर, जिसमें खच्चर जुते हुए थे, सवार हो, सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ, चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान् ।
सञ्चार्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥ ३५ ॥

राक्षसराज का वह आकाशगामी महारथ, नक्षत्र मार्ग से चलता हुआ ऐसा शोभित हुआ, जैसे मेघमण्डल में चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ३५ ॥

स मारीचाश्रमं प्राप्य ताटकेयमुपागमत् ।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः[1] ॥ ३६ ॥

रावण, ताड़का के पुत्र मारीच के आश्रम में पहुँच, मारीच के पास गया । मारीच ने मनुष्यलोक में मिलना जिनका दुर्लभ था, ऐसे खाने पीने के पदार्थों को सामने रख रावण का आतिथ्य किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया[2] वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

और मारीच ने स्वयं बैठने को आसन और पैर धोने को जल दे, रावण का सत्कार किया । तदनन्तर मारीच ने रावण से प्रयोजन की बात कही ॥ ३७ ॥

---

१ अमानुषैः—मनुष्यलोकदुर्लभैः । २ (गो०) अर्थोपहितया—प्रयोजनेन विशिष्टया । गो०)

कच्चित्सुकुशलं राजँल्लोकानां[1] राक्षसेश्वर ।
आशङ्के नाथ जाने त्वं यतस्त्वरमिहागतः ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! हे राक्षसेश्वर ! कहिये राक्षस लोग सकुशल तो हैं ? हे नाथ ! हड़बड़ा कर यहाँ आपके आने से, मुझे राक्षसों के सकुशल होने में शङ्का होती है ॥ ३८ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ३९ ॥

मारीच द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर, महातेजस्वी और बात-चीत करने में चतुर रावण बोला ॥ ३९ ॥

आरक्षो[2] मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
जनस्थानमवध्यं तत्सर्वं युधि निपातितम् ॥ ४० ॥

बड़े कठिन कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने हमारे जनस्थान के रक्षक खर दूषणादि सब राक्षसों को, जो किसी के मारे नहीं मर सकते थे, युद्ध में मार डाला ॥ ४० ॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं[3] तस्य भार्यापहारणे ।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

अतः श्रीराम की स्त्री हर लाने के काम में तुमको मेरी सहायता करनी चाहिये । रावण की यह बात सुन मारीच बोला ॥ ४१ ॥

आख्याता केन सीता सा मित्ररूपेण शत्रुणा ।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति निन्दितः[4] ॥ ४२ ॥

---

१ लोकानां—राक्षसलोकानां । (गो०) २ आरक्षः—अन्तपालः । (गो०)
३ साचिव्यं—साहाय्यं । (गो०) ४ निन्दितः—तिरस्कृताः । (गो०)

किस मित्ररूप शत्रु ने तुमको सीता का नाम बतलाया है? हे राक्षसशार्दूल! (जिसने तुम्हें यह काम करने की सलाह दी है) उसने ऐसा कर, तुम्हारा तिरस्कार किया है। वह कौन है, जो तुम्हारे ऐश्वर्य को देख प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसने ऐसी बुरी सलाह तुम्हें दी है, वह तुम्हारे ऐश्वर्य से जलता है ॥ ४२ ॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे ।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं[1] छेत्तुमिच्छति ॥ ४३ ॥

"सीता को यहाँ ले आओ" यह बात तुमसे किसने कही है? यह मुझे बतलाओ कि, वह कौन है जो समस्त राक्षसों के प्राधान्य को नष्ट करना चाहता है? ॥ ४३ ॥

प्रोत्साहयति कश्चित्त्वां स हि शत्रुरसंशयः ।
आशीविषमुखादंष्ट्रामुद्धर्तुं वेच्छति त्वया ॥ ४४ ॥

किसने तुम्हें इस काम के लिये प्रोत्साहित किया है? जिसने तुम्हें इसके लिये प्रोत्साहित किया है, वह निस्सन्देह तुम्हारा शत्रु है। क्योंकि वह तुम्हारे हाथ से विषधर सर्प के मुख से, विषदन्त उखड़वाना चाहता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा तेन केनाऽसि कापथं प्रतिपादितः ।
सुखसुप्तस्य ते राजन्प्रहृतं केन मूर्धनि ॥ ४५ ॥

यह काम तुमसे करवा कर कौन तुम्हें कुपथ में ले जाना चाहता है? हे राजन्! सुख से सोते हुए, तुम्हारे मस्तक पर किसने प्रहार किया है? ॥ ४५ ॥

मारीच नीचे के श्लोक में श्रीराम को गन्धहस्ती की उपमा देता है।

---

१ शृङ्गं—प्राधान्यं। (गो०)

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्त-
स्तेजोमदः संश्रितलेशदन्तः ।
उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
स संयुगे राघवगन्धहस्ती[1] ॥४६॥

हे रावण ! शुद्धवंशोद्भव, विशुद्ध वंश ही जिनकी लंबी सूंड़ है, प्रताप जिनका मद है, और दोनों लंबी भुजाएँ ही जिनके दोनों दांत हैं, उन राम रूपी मदमत्त हाथी से युद्ध में तुम उसके सामने भी जाने योग्य नहीं हो, लड़ना तो बात ही दूसरी है ॥ ४६ ॥

[नोट —गःधहस्ती – मदमत्त गज । गःधहस्ती उसे कहते हैं जिसकी गन्ध मात्र से अन्य हाथी भाग जाते हैं ।]

अब नीचे के श्लोक में मारीच श्रीरामचन्द्र को उपमा सिंह से देता है ।

असौ रणान्तः स्थितिसन्धिवालो[2]
विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।
सुप्तस्त्वया बोधयितुं न युक्तः
शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

रणपटुता रूपी पूँछधारी और राक्षसरूपी हिरनों का शिकार करने वाले. तथा पैने पैने बाण रूपी दांत वाले, रामरूपी पुरुष-सिंह को, जो सो रहे हैं, तुम जगाने योग्य नहीं हो ॥ ४७ ॥

नीचे के श्लोक में श्रीरामचन्द्र जी की उपमा पाताल से दी गयी है ।

चापावहारे भुजवेगपङ्के
शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे ।

---

१ गन्धहस्ती – मदगजः यस्य गन्धमात्रेण अन्यगजाः पलायन्ते स गन्धहस्ती । (गो०) २ वालो—लाङ्गूलं । (गो०)

न रामपातालमुखेऽतिघोरे
प्रस्कन्दितुं[1] राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

धनुष रूपी नक्रों से युक्त, भुजवेगरूपी दल दल से परिपूर्ण, बाण रूपी लहरों से तरङ्गित और महासंग्रामरूपी प्रवाह वाले श्रीरामरूपी घोर पाताल के मुख में कूदने की शक्ति, तुममें नहीं है। अथवा ऐसे भयङ्कर पाताल के मुख में कूदना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।
त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं
रामः सभार्यो रमतां वनेषु[2] ॥ ४९ ॥

अतएव हे लङ्केश्वर ! तुम प्रसन्न हो (अर्थात् मेरा कहना मान लो) और लङ्का पर प्रसन्न हो कर (अनुग्रह कर के), सुमार्गगामी हो। सुमार्गगामी हो कर सदा अपनी धर्मपत्नियों के साथ विहार करो और श्रीरामचन्द्र प्रसन्न हो वन में अपनी भार्या के साथ विहार करें ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।
न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

इति एकत्रिंशः सर्ग ॥

मारीच ने जब इस प्रकार कह कर रावण को समझाया, तब रावण लङ्का को लौट कर अपने श्रेष्ठभवन में चला गया ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का इक्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ प्रस्कन्दितुं—पतितुं । (गो०) २ हे लंकेश्वर ! त्वं प्रसीद अतएव लंकां प्रसन्न प्रसादको भव । अतएव साधु सुमार्गंगच्छ प्रामुहि सुमार्गमेवाहत्वं स्वेषुदारेषु नित्यं रमस्व । स्वभार्यो रामः वनेषु रमताम् । (शि०)

द्वात्रिंशः सर्गः

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसा सह ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादं ननाद जऋदो यथा ॥ २ ॥

तदनन्तर जब शूर्पणखा ने देखा कि, अकेले राम ने चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों को मार डाला और दूषण, खर तथा त्रिशिरा भी मारे गये ; तब वह मेघ की तरह गम्भीर गर्जना करने लगी ॥ १ ॥ २ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

जो काम दूसरों से कभी नहीं हो सकता था, उस काम को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा किया हुआ देख, शूर्पणखा बहुत घबड़ानी और रावण की लङ्का को गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे[1] रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भि[2]रिव वासवम् ॥ ४ ॥

शूर्पणखा ने बड़े तेज से युक्त रावण को पुष्पक विमान के अग्र भाग में मंत्रियों सहित उसी प्रकार बैठा देखा, जिस प्रकार इन्द्र देवताओं सहित बैठते हैं ॥ ४ ॥

---

१ विमानाग्रे—पुष्पक विमानाग्रे । (गो०) २ मरुद्भिः—देवैः । (गो०)

आसीनं सूर्यसङ्काशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

सूर्य के समान चमकते हुए सुवर्णनिर्मित श्रेष्ठसिंहासन पर बैठने से, रावण की शोभा वैसी हो रही थी, जैसी कि, सुवर्ण भूषित वेदी पर, प्रज्वलित अग्नि की होती है ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
अजेयं समरे शूरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

युद्ध में, देवता, गन्धर्व, भूत, ऋषि, व महात्माओं से अजेय (न जीते जाने योग्य) शूरवीर और काल की तरह मुख खोले ॥६॥

देवासुरविमर्देषु[1] वज्राशनिकृतव्रणम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुद्भृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवासुर संग्राम में वज्र के लगने के कारण घाव से युक्त, और छाती में ऐरावत गज के दांतों के घाव के चिन्हों से भूषित ॥ ७ ॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणशोभितम् ॥ ८ ॥

बीस भुजाओं और दस सीस वाला, देखने योग्य, छत्र चँवर सहित, विशाल छाती वाला, शूर, राजलक्षणों से शोभित ॥ ८ ॥

स्निग्धवैदूर्यसङ्काशं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

चमकीले पन्ने की तरह शरीर की कान्ति से युक्त, विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए, लंबी बाहों और बड़े मुख वाला और पर्वत के समान लंबा ॥ ९ ॥

---

१ विमर्देषु—युद्धेषु । (गो०)

विष्णुचक्रविपातैश्च शतशो देवसंयुगे ।
अन्यैः शस्त्रप्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

सैकड़ों वार देवताओं के साथ लड़ते समय विष्णु के चक्र से तथा अन्य अनेक महायुद्धों में शस्त्रों से घायल, ॥ १० ॥

आहताङ्गंसमस्तैश्च देवप्रहरणैस्तथा ।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

तथा देवताओं के प्रहार से जिसके समस्त अंग घायल थे, अक्षोभ्य समुद्रों को भी लुब्ध करने वाला तथा सब कामों को शीघ्र करने वाला, ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां सुराणां च प्रमर्दनम् ।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥ १२ ॥

बड़े बड़े पर्वतों को उखाड़ कर फैंकने वाला, देवताओं को मर्दन करने वाला, सब धर्मों की जड़ काटने वाला, परस्त्रीगामी ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा ।
पुरीं भोगवतीं प्राप्य पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥

समस्त दिव्यास्त्रों को चलाने वाला, सदा यज्ञों में विघ्न डालने वाला, भोगपुरी में जा, वासुकि को पराजित कर, ॥ १३ ॥

तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः ।
कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥

तक्षक को युद्ध में पराजित कर, उसकी प्यारी स्त्री को हर लाने वाला, कैलास पर जा, कुवेर को जीत कर, ॥ १४ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः ।
वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं[1] नन्दनं वनम् ॥ १५ ॥
विनाशयति यः क्रोधादेवोद्यानानि वीर्यवान् ।
चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ[2] परन्तपौ ॥ १६ ॥

उनका इच्छाचारी पुष्पक विमान छीनने वाला, क्रुद्ध हो दिव्य चैत्ररथ नामक वन को, तथा कुवेर की नलिनी नामक पुष्करिणी को और देवताओं के नन्दनादि उद्यानों का नाश, करने वाला, पराक्रमी, उदय होते हुए सूर्य चन्द्र को ॥ १५ ॥ १६ ॥

निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः ।
दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १७ ॥

दोनों बाहों से निवारण करने वाला, पर्वतशिखर की तरह लंबा, महावन में दस हज़ार वर्ष तप कर, ॥ १७ ॥

पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः ।
देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥ १८ ॥
अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो[3] मानुषादृते ।
मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु[4] द्विजातिभिः ॥ १९ ॥
हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः ।
आप्तयज्ञहरं[5] क्रूरं ब्रह्मघ्नं दुष्टचारिणम् ॥ २० ॥

---

१ नलिनीं—कुवेरस्य पुष्करिणीं । (गो०) २ उत्तिष्ठन्तौ—उद्यन्तौ । (गो०) ३ मृत्युतः—मृत्योः । (गो०) ४ अध्वरेषु—यागेषु । (गो०) ५ आप्तयज्ञहरं—आप्तानदक्षिणाकालं प्राप्तान्यज्ञान् हरतीतितथा । (गो०)

पूर्वकाल में ब्रह्मा जी को अपने मस्तकों को काट कर चढ़ाने वाला, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पों से युद्ध में मृत्यु को प्राप्त न होने वाला; मनुष्यों का तिरस्कार कर, उनके द्वारा मारे जाने का वरदान, न मांगने वाला, यज्ञों में मंत्रों से स्तुति किये गये ब्राह्मणों के पवित्र सोम को नष्ट करने वाला, महाबली, दक्षिणा देने के समय यज्ञ का ध्वंस करने वाला, नृशंस, ब्रह्महत्यारा, दुष्टाचारी ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

कर्कशं निरनुक्रोशं[1] प्रजानामहिते रतम् ।
रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥ २१ ॥

कर्कश, दयाशून्य, प्रजाजनों का अहित करने वाला, सब प्राणियों और सब लोकों को भयभीत करने वाला जो रावण था, ॥२१॥

राक्षसी भ्रातरं शूरं सा ददर्श महाबलम् ।
तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥

उस महाबली शूर, अपने भाई को शूर्पणखा ने देखा। वह रावण सुन्दर वस्त्र पहिने हुए था और सुन्दर मालाओं से विभूषित था ॥ २२ ॥

आसने सूपविष्टं च कालकाल[2]मिवोद्यतम् ।
राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह आसन पर भली भांति बैठा हुआ था और उस समय वह मृत्यु के मृत्यु की तरह उद्यत सा देख पड़ता था। ऐसे राक्षसराज, महाभाग और पौलस्त्यनन्दन ॥ २३ ॥

---

१ निरनुक्रोशं - निर्दयं । (गो०) २ कालकालं—मृत्योरपिमृत्युं । (गो०)

रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ।
अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ॥ २४ ॥

शत्रुहन्ता, और मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण के पास जा शूर्पणखा ने भय से व्याकुल हो कहा, ॥ २४ ॥

तमब्रवीद्दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा[1] भयमोहमूर्छिता ।
सुदारुणं चाक्यमतीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा विरूपित (शक्ल बिगड़ी हुई) शूर्पणखा अपने कटे हुए कानों और नाक को दिखला चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले रावण से भय और मोह से मोहित हो, निडर सी हो, कठोर वचन बोली ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—※—

ततः शूर्पणखा दीना[2] रावणं लोकरावणम् ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा[3] परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ प्रदर्शयित्वा—स्वंवैरूपमितिशेषः । (गो०) २ दीना—रामपरिभूतत्वात् । (गो०) ३ संक्रुद्धा—स्वपरिभवदर्शनेपि भ्रातुर्निश्चलतया संक्रुद्धा । (गो०)

तदनन्तर मंत्रियों के बीच बैठे हुए और संसार को रुलाने वाले रावण पर शूर्पणखा क्रुद्ध हुई (क्रुद्ध इसलिये कि, खरदूषण आदि के मारे जाने पर भी वह हाथ पर हाथ धरे बैठा है) और उसने उससे कठोर वचन कहे ॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो[1] निरङ्कुशः[2] ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

हे रावण ! तू अत्यन्त मतवाला हो, सदा कामपरवश बना रहता है । तूने नीति मर्यादा त्याग दी है । अतएव जो घोर विपत्ति इस समय सामने है और जिसे तुझे जानना चाहिये, उससे तू बेख़बर है ॥ २ ॥

सक्तं ग्राम्येषु[3] भोगेषु कामवृत्तं[4] महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

देख, जो राजा सदा स्त्री मैथुनादि भोगों में आसक्त, स्वेच्छाचारी और लोभी होता है, उस राजा को, प्रजाजन श्मशान की आग की तरह बहुत नहीं मानते अर्थात् आदर नहीं करते ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

जो राजा समय पर अपने कार्यों को स्वयं नहीं करता, वह केवल अपने उन कार्यों ही को नष्ट नहीं करता, बल्कि अपने राज्य को भी चौपट कर डालता है ॥ ४ ॥

---

१ स्वैरवृत्तः—स्वतन्त्रः । (गो०) २ निरङ्कुशः—नीतिमर्यादा रहितः ।(शि०)
३ ग्राम्येषु—मैथुनादिषु । (गो०) ४ कामवृत्तं—यथेच्छव्यापारं । (गो०)

[1]अयुक्तचारं [2]दुर्दर्शमस्वाधीनं[3] नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

जो राजा अयोग्य कार्य करने वाला है, जो समय पर राजसभा में आ कर प्रजाजनों को दर्शन नहीं देता और जो अपनी रानियों के अधीन रहता अथवा दूसरे की कही बातों पर सहसा विश्वास कर लिया करता है; उस राजा को प्रजाजन उसी प्रकार दूर से त्याग देते हैं, जिस प्रकार हाथी नदी के दलदल को दूर से त्याग देते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति [4]विषयमस्वाधीना[5] नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

जो राजा अपने हाथ से निकले हुए और पराये हाथ में गये हुए अपने राज्य की रक्षा (अर्थात् अपने अधिकार में) नहीं कर सकते; उन राजाओं की सम्पत्ति की वृद्धि समुद्रस्थित पर्वत की तरह नहीं होती ॥ ६ ॥

आत्मवद्भिर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

एक तो तू चञ्चल है, दूसरे तू यत्न करने में असावधान है, तीसरे तू दूतों के सञ्चार से हीन है (अर्थात् तेरे चर सर्वत्र नियुक्त नहीं हैं) फिर देवता, गन्धर्व और दानवों से वैर कर, तू किस प्रकार राज्य कर सकता है ॥ ७ ॥

---

१ अयुक्तचारं — अनियोजितचारं । (गो०) २दुर्दर्शं —उचितकाले सभायां प्रजादर्शनप्रदान रहित । (गो०) ३ अस्वाधीनं —पत्न्यादिपरतंत्रं परप्रत्यनेय बुद्धिका (गो०) ४ विषयं —स्वराज्यं । (गो०) ५ अस्वाधीनं—पूर्वं स्वाधीन देशं पश्चात् परायत्त । (रा०)

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।
ज्ञातव्यं तु न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

तू बालक की तरह विवेकशून्य और बुद्धिहीन है। इसीसे तुझे जो बात जाननी चाहिये उसे भी तू नहीं जानता, भला फिर किस तरह अपने राज्य की रक्षा कर सकेगा ? ॥ ८ ॥

येषां चारश्च कोशश्च नयश्च जयतांवर ।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥ ९ ॥

हे जीतनेवालों में श्रेष्ठ ! जिन राजाओं के अधीन उनके चर (जासूस), धनागार और राजनीति नहीं है, (अर्थात् जो राजनीति स्वयं न जान कर, अपने मंत्रियों के ऊपर निर्भर हैं) वे राजा साधारण जनों के समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात्पश्यन्ति दूरस्थान्सर्वानर्थान्नराधिपाः ।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

राजा लोग दूर के समस्त वृत्तान्तों को चरों (जासूसों) को नियुक्त कर, उनके द्वारा मानों (स्वयं) देखते रहते हैं। इसीसे वे "दीर्घचक्षु" "दूर दृष्टि वाले", कहलाते हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्वृतम् ।
स्वजनं तु जनस्थानं[1] हतं यो नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

मैं जानती हूँ कि, तूने कहीं भी जासूस नियत नहीं किये और तू साधारण बुद्धि वाले मंत्रियों में उठा बैठा करता है। इसीसे तुझे जनस्थानवासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी हाल नहीं मालूम ॥ ११ ॥

---

१ जनस्थानं—जनस्थानस्थितं । (गो०)

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां क्रूरकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥ १२ ॥

खर और दूषण के सहित चौदह हज़ार क्रूरकर्मा (कठोर कर्म करने वाले) राक्षसों को अकेले एक श्रीराम ने मार डाला ॥ १२ ॥

ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १३ ॥

(इतना ही नहीं) अक्लिष्टकर्मा राम ने ऋषियों को अभय (निर्भय) कर दिया, दण्डकवन में शान्ति स्थापित कर दी और जनस्थान को उजाड़ डाला ॥ १३ ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च रावण ।
विषये स्वे समुत्पन्नं भयं यो नावबुध्यसे ॥ १४ ॥

तू कामलोलुप, मदमत्त और पराधीन होने के कारण, अपने ऊपर आती हुई विपत्ति को नहीं समझता ॥ १४ ॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम् ।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

जो राजा क्रूर स्वभाव वाला, थोड़ा देने वाला अर्थात् कृपण, मदमत्त, अभिमानी और धूर्त होता है, उस राजा को विपत्ति के समय, कोई भी सहायता नहीं देता ॥ १५ ॥

अतिमानिनमग्राह्यं[1] आत्मानं[2] सम्भावितं नरम् ।
क्रोधनं[3] व्यसने[4] हन्ति स्वजनोऽपि महीपतिम् ॥ १६ ॥

---

१ अग्राह्यं सद्भिरितिशेषः । (गो०) २ आत्मना—स्वेनैवबहुमानंप्राप्तः । (गो०)
३ क्रोधनं—अस्थाने क्रोधवन्तं । (गो०) ४ व्यसने—व्यसनेकाले । (गो०)

जो राजा अत्यन्त अभिमानी होता है, जिसे सज्जन लोग पसंद नहीं करते, जो स्वयं अपने को बड़ा प्रतिष्ठित समझता है, जो अनुचित क्रोध करता है, ऐसे राजा के ऊपर दुःख पड़ने पर, उसके निकट सम्बन्धी भी उसका वध करते हैं ॥ १६ ॥

अनवस्थितवृत्तिः कार्याणि भयेषु न बिभेति च ।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भविष्यति ॥ १७ ॥

जो राजा अपने कर्तव्य का यथावत् पालन नहीं करता, भय उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता, ऐसा राजा शीघ्र राज्यच्युत होने के कारण दीन हो, तिनके के समान अर्थात् तुच्छ हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्कैः काष्ठैर्भवेत्कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः ।
न तु स्थानात्परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद्वसुधाधिपैः ॥ १८ ॥

सूखी लकड़ी, ढेला और धूल से भी अनेक कार्य हो सकते हैं; किन्तु राज्यभ्रष्ट राजा से कोई काम नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा ।
एवं राज्यात्परिभ्रष्टः समर्थोऽपि नरर्थकः ॥ १९ ॥

जैसे पहिना हुआ कपड़ा और मर्दन की हुई माला दूसरे के काम की नहीं, वैसे ही राज्यभ्रष्ट राजा सामर्थ्यवान हो कर भी निरर्थक समझा जाता है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

और जो राजा इन्द्रियों को अपने वश में कर के, सावधान रहता और अपने तथा दूसरे राज्यों का समस्त वृत्तान्त जानता रहता है,

जो कृतज्ञ (किये हुए उपकार को मानने वाला) और धर्म में रत रहता है, वह बहुत काल तक राजपद पर स्थित रहता है ॥ २० ॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तोऽपि जागर्ति नयचक्षुषा ।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

जो राजा आँखों को बंद किये सोते रहने पर भी नीति-शास्त्र रूपी आँखों से जागता रहता है, जिसका क्रोध और प्रसन्नता यथा समय प्रकट होती है अथवा जिसका क्रोध और प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती, उस राजा का लोग सम्मान करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।
यस्य तेऽविदितश्चारैः रक्षसां सुमहान्वधः ॥ २२ ॥

हे रावण ! तू बुद्धिहीन होने के कारण इन सद्गुणों से रहित है । इसीसे तो तुझे इतने बड़े राक्षसों के संहार का जासूसों द्वारा कुछ भी वृत्तान्त न जान पड़ा ॥ २२ ॥

परावमन्ता[1] विषयेषु सङ्गतो
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो न चिराद्विपत्स्यसे ॥ २३ ॥

तू शत्रुओं की उपेक्षा करता है और भोग विलास में मस्त रहता है । इसीसे तुझे देश काल के विभागों का तत्व नहीं मालूम और इसीसे तेरी बुद्धि में गुण दोष विवेचन की सामर्थ्य नहीं है ! अतएव तुझे शीघ्र ही विपद्ग्रस्त और राज्यभ्रष्ट होना पड़ेगा ॥ २३ ॥

---

१ परावमन्ता—शत्रूपेक्षावान् । (गो०)

इति स्वदोषान्परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्धया क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

धन, बल, और अभिमान से युक्त राक्षसेन्द्र रावण, शूर्पणखा के बतलाए हुए दोषों को बुद्धि से विचार कर, बहुत देर तक मन ही मन सोचता रहा ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:※:—

ततः शूर्पणखां क्रुद्धां ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥ १ ॥

तदनन्तर क्रोध में भर कठोर वचन कहने वाली शूर्पणखा से मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण ने, अत्यन्त क्रुध हो पूँछा ॥ १ ॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टः स दुरासदम् ॥ २ ॥

राम कौन है ? किस प्रकार का उसका बल है ? उसका रूप और पराक्रम कैसा है ? ऐसे दुस्तर दण्डकवन में वह क्यों आया है ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य निहता येन राक्षसाः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

उसने किस आयुध से खर, दूषण और त्रिशिरा सहित १४ हज़ार राक्षसों को युद्ध में मारा ॥ ३ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४ ॥

जब राक्षसराज रावण ने इस प्रकार कहा, तब शूर्पणखा मारे क्रोध के संज्ञाहीन हो गयी और श्रीरामचन्द्र जी का यथार्थ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
कंदर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ॥ ५ ॥

वह बोली —दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र दीर्घ बाहु, विशाल नयन चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए हैं, वे कामदेव के समान सुन्दर हैं ॥ ५ ॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्[1] ।
दीप्तान्क्षिपति नाराचान्सर्पानिव महाविषान् ॥ ६ ॥

उनका धनुष, इन्द्र के धनुष के समान है और उसकी मूठ में जगह जगह सुवर्ण के बंद लगे हुए हैं, उस धनुष को खींच कर, चमचमाते और तेज विष वाले सर्पों के समान तीरों को वे चलाते हैं ॥ ६ ॥

---

१ कनकाङ्गदम्—कनकमयपट्टबंन्धं । (गो०)

नाददानं शरान्घोरान् मुञ्चन्तं शिलीमुखान् ।
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे ॥ ७ ॥

युद्ध में जब वे बाण छोड़ते थे, तब मैं यह नहीं देख पायी कि, वे कब तरकस में से तीर निकालते, कब उसे धनुष पर रखते और कब धनुष को खींच उसे छोड़ते थे ॥ ७ ॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः ॥ ८ ॥

परन्तु जिस प्रकार इन्द्र के बरसाये ओलों से अनाज के खेत नष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनकी बाणवृष्टि से राक्षसों की सेना का मारा जाना अवश्य मैं देखती थी ॥ ८ ॥

रक्षसां भीमरूपाणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना ॥ ९ ॥

उन चौदह हज़ार भयङ्कर राक्षसों को तीक्ष्ण बाणों से अकेले और पैदल रामचन्द्र ने मार डाला ॥ ९ ॥

अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ।
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ १० ॥

तीन घड़ी में रामचन्द्र ने खर और दूषण सहित उन १४ हज़ार राक्षसों को मार कर, दण्डकवन में राक्षसों का उपद्रव शान्त कर, ऋषियों को अभय कर दिया ॥ १० ॥

एका कथञ्चिन्मुक्ताऽहं परिभूय महात्मना ।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ ११ ॥

उन विदितात्मा एवं महाबलवान् रामचन्द्र ने, स्त्रीवध करना अनुचित जान, केवल मुझे किसी तरह छोड़ दिया ॥ ११ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।
अनुरक्तश्च भक्तश्च[1] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १२ ॥

रामचन्द्र का छोटा भाई लक्ष्मण, पराक्रमी और महातेजस्वी है। गुणों में तथा पराक्रम में वह अपने भाई ही के समान है। वह अपने भाई में अनुरागवान् भी है और उनकी सेवा में भी लगा रहता है ॥ १२ ॥

अमर्षी[2] दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान्बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥ १३ ॥

लक्ष्मण अपने बड़े भाई के प्रति अपराध करने वाले का अपराध सह नहीं सकता। वह स्वयं किसी से जीता भी नहीं जा सकता। वह बड़ा पराक्रमी बुद्धिमान् और बलवान है। वह रामचन्द्र का दहिना हाथ अथवा शरीर के बाहिर रहने वाला प्राण है। अर्थात् अत्यन्त प्रिय है ॥ १३ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
धर्मपत्नी प्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते रता ॥ १४ ॥

रामचन्द्र जी की जो धर्मपत्नी है उसके बड़े बड़े नेत्र हैं और उसका चेहरा पूर्णिमासी के चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। वह रामचन्द्र को अत्यन्त प्रिय है और सदा रामचन्द्र जी के हितसाधन में और प्रिय कामों के करने में तत्पर रहती है ॥ १४ ॥

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी ।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥ १५ ॥

---

१ भक्तश्च—तत्कार्यभजनशीलः । (गो०) २ अमर्षी—रामापराध असहनशीलः । (रा०)

उस यशस्विनी रामचन्द्र जी की भार्या के केश नासिका, ऊरू और रूप अति उत्तम हैं। वह उस वन की अधिष्ठात्री देवी और दूसरी लक्ष्मी की तरह वहाँ शोभा को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्तताम्रनखी शुभा ।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १६ ॥

तपाये सोने की तरह तो उसके शरीर का वर्ण है। उसके नख लाल और उभरे हुए हैं। उस पतली कमर वाली सुन्दरी का नाम सीता है और वह विदेहराज की पुत्री है। वह शुभ लक्षणों वाली है (अर्थात् स्त्रियों के लिये जो शुभ लक्षण सामुद्रिक शास्त्र में बतलाये गये हैं, उनसे वह युक्त है।) ॥ १६ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १७ ॥

उसके सौन्दर्य्य के टक्कर की न तो कोई देवी है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है न कोई किन्नरी है। इस धराधाम पर तो मैंने ऐसी सुन्दरी स्त्री इसके पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १७ ॥

यस्य सीता भवेद्भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत् ।
अतिजीवेत्स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरन्दरात् ॥ १८ ॥

वह सीता जिसकी भार्या हो और जिसे वह प्रसन्न हो, अपनी छाती से लगा ले, वह पुरुष सब लोगों ही से नहीं, किन्तु इन्द्र से भी बढ़ कर सुखी हो, जीवन व्यतीत करे ॥ १८ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
तवानुरूपा भार्या स्यात्त्वं च तस्यास्तथा पतिः ॥ १९ ॥

वह सुशीला, प्रशंसनीय शरीर वाली और इस भूतल पर अनुपमरूप वाली सीता तेरी ही भार्या होने योग्य है और तू ही उसका पति होने योग्य है। अथवा तेरे ही योग्य वह भार्या है और तू ही उसका योग्य पति है ॥ १९ ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
भार्यार्थे च तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥ २० ॥

इसीसे मैं उस विशाल जांघोंवाली और उभड़े हुए कुचों वाली सुन्दरी को तेरी भार्या बनाने के लिये, ले आने को गयी थी ॥ २० ॥

विरूपिताऽस्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।
तां तु दृष्ट्वाऽद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २१ ॥

किन्तु हे महाभुजा वाले ! उस निर्दयी लक्ष्मण ने मेरे दोनों कान और मेरी नाक काट डाली। उस पूर्ण चन्द्रवदनी वैदेही को देखते ही ॥२१॥

मन्मथस्य शराणां वै त्वं विधेयो भविष्यसि ।
यदि तस्यामभिप्रायो भार्यार्थे तव जायते ।
शीघ्रमुद्धियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २२ ॥

तू कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन जायगा। यदि तू उसे अपनी स्त्री बनाना चाहता हो, तो शीघ्र अपने विजय (अर्थात् कार्य सिद्धि) के लिये अपना दहिना पैर उठा ॥ २२ ॥

[नोट—यदि किसी कार्य को सिद्धि के लिये जाना हो, तो चलने के समय सब से प्रथम दहिना पैर उठा कर चले।]

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद्राक्षसेश्वर ।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥ २३ ॥

हे राक्षसेश्वर ! यदि मेरा कहना तुझे पसन्द हो, तो मैंने जो कहा है, उसके अनुसार शङ्का त्याग कर, कार्य आरम्भ कर ॥ २३ ॥

विज्ञायेहात्मशक्तिं च ह्रियतामबला बलात् ।
सीता सर्वानवद्याङ्गी भार्यार्थे राक्षसेश्वर ॥ २४ ॥

हे राक्षसेश्वर ! पहले अपने बल पौरुष का विचार कर, तदनन्तर उस सर्वाङ्गसुन्दरी अबला सीता को अपनी स्त्री बनाने के लिये, बलपूर्वक हर ला ॥ २४ ॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान्निशाचरान् ।
खरं च बुद्ध्वा निहतं च दूषणं
त्वमत्र कृत्यं [1]प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे रावण ! खरदूषण सहित जनस्थानवासी राक्षसों का रामचन्द्र के बाणों से वध हुआ है, यह जान कर, अब जो कुछ करना हो, सो समझ बूझ कर, तू कर ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चत्रिंशः सर्गः ।

—*—

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम् ।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम सः ॥ १ ॥

---

१ प्रतिपत्तुं—ज्ञातुं । (गो०)

शूर्पणखा के ऐसे क्रोधोद्रेककारी वचनों को सुन, सचिवों को विदा कर तथा कर्त्तव्य निश्चित कर, रावण जाने को तैयार हुआ ॥ १ ॥

तत्कार्यमनुगम्याथ यथावदुपलभ्य च ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २ ॥

वह मन ही मन अपने कर्त्तव्यकर्म को विचारता और उसके गुण दोषों के बलाबल को सोचता हुआ, चला जाता था ॥ २ ॥

इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालामुपागमत् ॥ ३ ॥

आगे के कर्त्तव्य को मन में निश्चित कर और स्थिरबुद्धि हो वह अपने रमणीक गाड़ीखाने में गया ॥ ३ ॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नो राक्षसाधिपः ।
सूतं संचोदयामास रथः संयोज्यतामिति ॥ ४ ॥

चुपचाप गाड़ीखाने में जा, राक्षसेश्वर ने सारथी को रथ जोत कर तैयार करने की आज्ञा दी ॥ ४ ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः ।
रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम् ॥ ५ ॥

रावण की आज्ञा के अनुसार फुर्तीले सारथी ने, रावण का वह उत्तम रथ, जो उसे पसंद था, क्षण भर में जोत कर तैयार किया ॥ ५ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय कामगं रत्नभूषितम् ।
पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ॥ ६ ॥

रावण उस इच्छाचारी, सुवर्णरचित तथा रत्नविभूषित रथ में, जिसमें पिशाच तुल्य मुख वाले खच्चर जुते थे, बैठा ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

चलते समय मेघ तुल्य शब्द करने वाले उस रथ पर, कुवेर का छोटा भाई राक्षसेश्वर श्रीमान् रावण सवार हो, समुद्र की ओर रवाना हुआ ॥ ७ ॥

स श्वेतवाल्व्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।
स्निग्धवैडूर्यसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ॥ ८ ॥

उस समय रावण श्वेत छत्र और श्वेत चँवर से शोभायमान हो रहा था । रावण के शरीर की कान्ति वैडूर्य मणि की तरह थी, और वह कानों में वढ़िया सोने के कुण्डल पहिने हुए था ॥ ८ ॥

विंशद्भुजो दशग्रीवो दर्शनीयपरिच्छदः[1] ।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उसके दस मुख, वीस भुजा थीं और उसका देखने योग्य अन्य सामान था । वह देवताओं और मुनियों का घातक था और दस सिरों से युक्त होने के कारण, वह दसशिखर वाले पर्वत जैसा देख पड़ता था ॥ ९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसेश्वरः ।
विद्युन्मण्डलवान्मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

---

१ दर्शनीयपरिच्छदः—दर्शनीयसामग्री विशिष्टः । (शि०)

उस इच्छाचारी रथ में बैठा हुआ रावण ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि, बिजली से युक्त और बगलों की पंक्ति से भूषित बादल आकाश में शोभित होता है ॥ १० ॥

सशैलं सागरानूपं[1] वीर्यवानवलोकयन् ।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥

उस पराक्रमी रावण ने जाते हुए, पहाड़ युक्त समुद्र तट, (अथवा समुद्र का पहाड़ो तट) जहाँ पर हज़ारों फूले फले वृक्ष लगे थे, देखा ॥ ११ ॥

शीतमङ्गलतोयाभिः[2] पद्मिनीभिः समन्ततः ।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भि समावृतम् ॥ १२ ॥

शीतल और निर्मल जल से भरे और चारों ओर कमल पुष्पों से सुशोभित तालाबों, तथा चारो ओर चबूतरों से घिरे हुए बड़े बड़े आश्रमों से वह देश शोभित था ॥ १२ ॥

कदल्या ढकि[3]संबाधं नालिकेरोपशोभितम् ।
सालैस्तालैस्तमालैश्च पुष्पितैस्तरुभिर्वृतम् ॥ १३ ॥

केलों का वन चारों ओर लगा था, भोज्य अन्न की राशि एकत्र थी । नारियल के वृक्ष शोभायमान् थे । शाल, ताल, तमाल आदि नाना प्रकार के फूले हुए पेड़ लगे थे ॥ १३ ॥

नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किन्नरैश्च सहस्रशः ।
अजैः[4]वैखानसैः[5]माषैः[6]वालखिल्यैर्मरीचिपैः[7] ॥ १४ ॥

---

१ सागरानूपं—समुद्रतीरं । (गो०) २ मङ्गलतोयाभिः—शुभजलाभिः । (गो०) ३ आढकिः—सूपोपयुक्तधान्यस्तम्बः । (गो०) ४ अजैः—अयोनिजैः । (गो०) ५ वैखानसैः—ब्रह्मनखजैः । (गो०) ६ माषैः माषगोत्रजैः । (गो०) ७ मरीचिपैः—रविकिरणपानव्रतनिष्ठैः । (गो०)

नाग, गरुड़, गन्धर्व और सहस्रों किन्नरों से वह स्थान परिपूर्ण था । अयोनिज वैखानस, (अर्थात् ब्रह्मपुत्र) माष गोत्रज, वालखिल्य, सूर्य की किरणें पी कर अनुष्ठान करने वाले तपस्वियों ॥ १४ ॥

अत्यन्तानियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः ।
जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैरुपशोभितम् ॥ १५ ॥

तथा अत्यन्त अल्प आहार करने वाले महर्षियों से वह स्थान सुशोभित था । काम को जीतने वाले सिद्ध एवं चारण उस स्थान को शोभित कर रहे थे ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम् ।
क्रीडारतिविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥

वहाँ पर, दिव्य आभूषण और दिव्य पुष्पहारों से भूषित, दिव्य रूप वालीं और क्रीड़ा व रति की विधि जानने वालीं हज़ारों अप्सराएँ भी थीं ॥ १६ ॥

सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिः श्रिया वृतम् ।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

वहाँ पर देवताओं की शोभायुक्त, सुथरी स्त्रियां भी घूम फिर रही थीं । अमृत पीने वाले देवताओं तथा दानवों के दल के दल वहाँ विचर रहे थे ॥ १७ ॥

हंसक्रौञ्चप्लुवा[1]कीर्णं सारसैः सम्प्रणादितम् ।
वैडूर्यप्रस्तरं[2] रम्यं स्निग्धं सागरतेजसा[3] ॥ ॥ १८ ॥

---

१ प्लुवाः—जलकुक्कुटाः । (गो०) २ वैडूर्यप्रस्तरं—वैडूर्यमयाःप्रस्तराः । (गो०) ३ सागरतेजसा—सागरोर्मिवैभवेन स्निग्धंसाद्रं शीतलम् । (रा०)

वह स्थान, हंस, कौंच, जलकुक्कुट (अथवा मेंढ़क) और सारसों से परिपूर्ण था। वैडूर्यमणि की शिला वहां बिछी थीं, समुद्र की लहरों के हिलोरों से वह स्थान सदा ही रमणीक और शीतल बना रहता था॥१८॥

पाण्डराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः॥ १९॥

रावण ने सफेद, बड़े बड़े और दिव्य पुष्पों की मालाओं से सजे हुए, विमानों को, जिनमें गाना बजाना हो रहा था, वहां पर हर तरफ उड़ते हुए देखा॥ १९॥

तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन्[1]।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः॥ २०॥

जिन लोगों ने अपने तप के फल से अनेक लोकों में जाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है, उनके विमान कुबेर के भाई रावण को रास्ते में मिले। कुबेर के छोटे भाई अर्थात् रावण ने, गन्धर्व और अप्सराओं को भी वहां देखा॥ २०॥

निर्यासरसमूलानां[2] चन्दनानां सहस्रशः।
वनानि पश्यन्सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च॥ २१॥

वहां पर रावण ने सुगंध से नासिका को तृप्त करने वाले हज़ारों चन्दन के वृक्षों तथा हींग के वृक्षों के वन देखे॥ २१॥

अगरूणां च मुख्यानां वनान्युपवनानि[4] च।
तक्कोलानां[5] च जात्यानां[6] फलानां च सुगन्धिनाम्॥२२

---

१ अभिसम्पतन्—मार्गवशात् प्राप्नुवन्। (गो०) २ निर्यासरसमूलानां—हिंगुरूप निर्यासरसयुक्तमूलानां। (गो०) ३ वनानि—अकृत्तिमाणि। (गो०) ४ उपवनानि—कृत्तिमाणि। (गो०) ५ तक्कोलानां—गन्धद्रव्याणां। (गो०) ६ जात्यानां—जातिभवानां। (गो०)

अगर के वनों (अकृत्रिम) और उपवनों (कृत्रिम) को, और उत्तम फलों सहित, तथा सुगन्धित फलों से लदे अच्छी जाति के तक्काल नामक वृक्षों को रावण ने रास्ते में देखा ॥ २२ ॥

पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि [1]मरिचस्य च ।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि [2]तीरतः ॥ २३ ॥

तमाल के फूलों को, कालीमिर्च के छोटे वृक्षों को, मोतियों के ढेर को, जो समुद्र के तट पर पड़े सूख रहे थे, रावण ने देखा ॥ २३ ॥

शङ्खानां प्रस्तरं[3] चैव प्रवालनिचयं[4] तथा ।
काञ्चनानि च शैलानि राजतानि च सर्वशः ॥ १४ ॥

शङ्खों के ढेर और मूंगों के ढेर और सोने तथा चाँदी के पहाड़ों को, जो चारों तरफ थे, उसने देखा ॥ २४ ॥

प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नानि ह्रदानि च ।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ २५ ॥

उसने मनोहर झरने तथा निर्मल जल के कुण्ड देखे । फिर ऐसे नगर देखे, जो धन धान्य और सुन्दर स्त्रियों से परिपूर्ण थे ॥ २५ ॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णानि नगराण्यवलोकयन् ।
तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम् ॥ २६ ॥

उनमें हाथी घोड़े भरे हुए थे । वे घरों की पंक्तियों से युक्त थे । ऐसे कितने ही नगर रावण ने देखे । रावण ने, शीतल, मन्द-सुगन्ध पवन सहित समुद्र का तट, जो स्वर्ग जैसा सुन्दर जान पड़ता था देखा ॥ २६ ॥

---

१ मरिचस्य—मरीचस्य । (गो०) २ तीरतः—तीरे । (गो०) ३ प्रस्तरं—समूहं । (गो०) ४ निचयं—समूहं । (गो०)

अनूपं सिन्धुराज्यस्य ददर्श त्रिदिवोपमम् ।
तत्रापश्यत्स मेघाभं न्यग्रोध मृषिभिर्वृतम् ॥ २७ ॥

रावण चलते, चलते वहाँ पहुँचा जहाँ एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ था और जो मेघ के समान बड़ा और मुनियों से सेवित था ॥२७॥*

समन्ताद्यस्य ताः शाखाः शतयोजन मायताः ।
यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम् ॥ २८ ॥

उसकी शाखाएं चारों ओर सौ योजन (चार सौ कोस) के घेरे में फैली हुई थीं। किसी समय महाबलवान गरुड़ जी एक बड़े भारी हाथी और कछुए को ॥ २८ ॥

भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः ।
तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः ॥ २९ ॥

लेकर खाने के लिये उस पेड़ की शाखा पर आ बैठे थे। गरुड़ जी तथा उन दोनों जानवरों के बोझ से उसकी शाखा सहसा (टूट गयी) ॥ २९ ॥

सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्ज च महाबलः ।
तत्र वैखानसा माषा बालखिल्या मरीचिपाः ॥ ३० ॥
अजा बभूवधूम्राश्च सङ्गताः परमर्षयः ।
तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥ ३१ ॥
जगामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषाम् ॥ ३२ ॥

वह शाखा जो टूटी थी, उसमें बहुत पत्ते लगे हुए थे। इसी शाखा पर वैखानस, माष, मरीचिप, बालखिल्य, अज और

---

* २७ वे श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ २६ वे श्लोक के अर्थ में सम्मिलित है।

धूम्र आदि बड़े बड़े ऋषि इकट्ठे थे। इन महार्षियों पर अनुग्रह कर गरुड़ जी ने उस सौ योजन वाली शाखा को एक पैर से और उन दोनों जन्तुओं को दूसरे पैर से पकड़ा। फिर वहाँ से बड़े वेग से गरुड़ जी चले गये। दूसरे पैर से गज और कच्छप को दबा, गरुड़ ने उनका माँस खाया ॥ ३०॥३१॥३२ ॥

निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन् ॥ ३३ ॥

फिर उस शाखा से निषादों के देश का संहार कर और उन मुनियों को बचा कर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३३ ॥

स तेनैव प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः ।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान्मतिम् ॥ ३४ ॥

उस हर्ष के कारण मतिमान गरुड़ जी का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत लाने के लिए उद्योग किया ॥ ३४ ॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नमयं गृहम् ।
महेन्द्रभवनाद्गुप्तमाजहारामृतं ततः ॥ ३५ ॥

गरुड़ जी लोहे के जाल को काट और रत्ननिर्मित घर को फोड़, इन्द्र के घर में सुरक्षित रखे हुए अमृत को ले आये ॥ ३५ ॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्ण कृतलक्षणम् ।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः ॥ ३६ ॥

सो रावण, उस गरुड़ चिन्हित. तथा महर्षिगण सेवित सुभद्र नामक वट वृक्ष को देखता हुआ ॥ ३६ ॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः ।
ददर्शाश्रममेकान्ते रम्ये पुण्ये वनान्तरे ॥ ३७ ॥
तत्र कृष्णाजिनधरं जटावल्कलधारिणम् ।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

समुद्र के उस पार जा कर रावण ने एकान्त, पवित्र और रमणीक वन प्रदेश में कृष्ण-मृग-चर्म को ओढ़े हुए और जटाजूट सिर पर रखाये, नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा ॥३७॥३८॥

स रावणः समागम्य विधिवत्तेन रक्षसा ।
मारीचेनार्चितो राजा[1]सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

रावण को देख, मारीच ने ऐसी भोग्य वस्तुओं से, जो मनुष्यों को मिलनी दुर्लभ हैं, विधिपूर्वक उसका सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयंपूजयित्वा तु भोजनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

मारीच ने भोजन के लिये भोज्य पदार्थ और पीने के लिये जल स्वयं दे, रावण को पूजा कर, यह अर्थयुक्त वचन कहा ॥ ४० ॥

कच्चित्सुकुशलं राजल्लङ्कायां राक्षसेश्वर ।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेवमिहागतः ॥ ४१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! कहिये आपकी लङ्का में सब कुशल तो हैं। आपके पुनः इतनी जल्दी यहाँ आने का क्या कारण है ॥ ४१ ॥

---

१ सर्वकामैः — सर्वभोग्यवस्तुभिः । (गो०)

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
तं तु पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

जब मारीच ने यह कहा, तब वचन बोलने में निपुण महातेजस्वी रावण ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ४२ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

—※—

षट्त्रिंशः सर्गः

—※—

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान्हि परमा गतिः ॥ १ ॥

हे तात मारीच ! मैं जो कहता हूँ उसे तुम सुनो । इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ । तुम ही मेरा इस दुःख से निस्तार कर सकते हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थाने यथा भ्राता खरो मम ।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥
त्रिशिराश्च महातेजा राक्षसः पिशिताशनः ।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा[1]निशाचराः ॥ ३ ॥
वसन्ति मन्नियोगेन नित्यवासं च राक्षसाः ।
बाधमाना महारण्ये मुनीन्वै धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

---

१ लब्धलक्षाः – लब्धयुद्धोत्साहाः । (रा०)

तुम उस स्थान को तो जानते ही हो, जिस स्थान में मेरा भाई खर और महाबाहु दूषण मेरी बहिन शूर्पणखा महातेजस्वी और मांस भोजी त्रिशिरा राक्षस तथा बहुत से अन्य शूरवीर, युद्ध में उत्साही राक्षस लोग, मेरी आज्ञा से बसते थे। वे सब राक्षस महावन में धर्मचारी ऋषियों के अनुष्ठान में विघ्न डाला करते थे ॥२॥३॥४॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

इन सब राक्षसों की संख्या १४ हज़ार थी। ये सब के सब भयङ्कर कर्म करने वाले, शूरवीर युद्ध करने में उत्साही और खर की मर्ज़ी के मुताबिक काम करने वाले थे ॥५॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

वे महाबली इन दिनों जनस्थान में रहते थे। वे श्रीरामचन्द्र के साथ जूझ मरे ॥६॥

नानाप्रहरणोपेतः खरप्रमुखराक्षसाः ।
तेन सञ्जातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥

विविध भाँति के आयुध में खर प्रमुख राक्षस गण युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए थे। श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर उस युद्ध-क्षेत्र में, ॥७॥

अनुक्त्वा परुषं किञ्चिच्चरैर्व्यापारितं धनुः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैर्मानुषेण पदातिना ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥

एक भी कठोर वचन न कह कर, बाण छोड़ना आरम्भ कर दिया और १४,००० उग्रतेजा राक्षसों को मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने पाँव पियादे ही पैने बाणों से मार डाला। इस युद्ध में खर और दूषण भी मारे गये ॥ ८ ॥ ९ ॥

हतश्च त्रिशिराश्चापि निर्भया दण्डकाः कृताः ।
पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥१०॥

और त्रिशिरा को भी मार कर, राम ने दण्डक-वन-वासियों को निर्भय कर दिया। राम का आचरण ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि उस क्षीण जीवन राम को पिता ने क्रोध कर स्त्री सहित घर से निकाल दिया है ॥१०॥

स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः ।
दुःशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः ॥११॥

वही दुःशील, कठोर हृदय, तीक्ष्ण, मूर्ख, लोभी, अजितेन्द्रिय और क्षत्रिय-कुल-कलङ्क इस राक्षस-सेना का मारने वाला है ॥११॥

त्यक्त्वा धर्ममधर्मात्मा भूतानामहिते रतः ।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमाश्रित्य केवलम् ॥१२॥

वह धर्म को त्याग और अधर्म का अवलंबन कर, सदा प्राणियों का अहित किया करता है। उसने अपने बल के घमंड में आ, बिना बैर ही ॥१२॥

कर्णनासापहरणाद्भगिनी मे विरूपिता ।
तस्य भार्यां जनस्थानात्सीतां सुरसुतोपमाम् ॥१३॥

मेरी बहिन के कान नाक काट कर उसे विरूप कर दिया। अतः जनस्थान से उसकी देवकन्या तुल्य सुन्दरी भार्या सीता को ॥१३॥

आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।
त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥१४॥
भ्रातृभिश्चसुरान्युद्धे समग्रानभिचिन्तये ।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस ॥१५॥

ज़बरदस्ती हर लाऊँगा सो तुम इस काम में मेरी सहायता करो। हे महाबल! यदि तू मेरा सहायक बन मेरे पास रहे और मेरे भाई मेरे सहायक हों, तो मैं सारे देवताओं को भी कुछ नहीं गिनता। अतः हे राक्षस! तू मेरी सहायता कर, क्योंकि तू सहायता करने में समर्थ्य है ॥ १४ ॥ १५ ॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायज्ञो महाञ्शूरः सर्वमायाविशारदः ॥१६॥

बल में, लड़ने में और दर्प में तेरे तुल्य दूसरा नहीं है। तू उपाय का जानने वाला है, बड़ा शूरवीर है तथा सब माया जानने वाला है ॥ १६ ॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर ।
शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ॥१७॥

हे निशाचर! इसी लिये मै तेरे पास आया हूँ। हे मारीच! जिस प्रकार तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़ेगी, सो मैं बतलाता हूँ। उसे तू सुन ॥१७॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥१८॥

तू चाँदी की बूंदों से युक्त सोने का हिरन बन कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जा कर सीता के सामने चरना ॥१८॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥१९॥

ऐसे मृग का रूप धारण किये हुए तुझको देख, सीता निश्चय ही अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से कहेगी कि, इस हिरन को पकड़ लाओ ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव ॥२०॥

जब वे तुझे पकड़ने को आश्रम से दूर चले जाँयगे, तब मैं आश्रम में जा बिना किसी बाधा के सीता को उसी प्रकार हर लाऊँगा, जिस प्रकार राहु चन्द्रमा की प्रभा को हरता है ॥ २० ॥

ततः पश्चात्सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते ।
विश्रब्धः[1] प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना[2] ॥२१॥

तदनन्तर भार्या के हर जाने से श्रीरामचन्द्र जी शोक के मारे निर्बल हो जांयगे । तब मैं कृतार्थ हो निर्भयता पूर्वक और धैर्य धारण कर तथा सहज में राम को पकड़ लूँगा ॥ २१ ॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समभवद्वक्त्रं परित्रस्तो बभूव ह ॥ २२ ॥

रावण के मुख से श्रीरामचन्द्र की चर्चा सुन, महात्मा मारीच का मुख सूख सा गया और वह बहुत ही भयभीत हो गया ॥ २२ ॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवर्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥ २३ ॥

---

१ विश्रब्धः—निःशङ्कः । (गो०) २ अन्तरात्मना—अन्तस्थ धैर्येण । (गो०)

वह मारे चिन्ता के अपने सूखे ओंठों को चाटने लगा और उसके नेत्र कुछ देर तक खुले के खुले ही रह गये (अर्थात् झपके नहीं) वह मृतक की तरह आर्त हो, रावण की ओर निहारने लगा ॥ २३ ॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥२४॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

वह (मारीच) पहले ही से अर्थात् महावन में खर दूषण के वध की घटना होने के पूर्व श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम को जानता था । अतः वह हाथ जोड़ कर, रावण से अपने और रावण के हित की बात बोला ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः ।

—※—

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

महाप्राज्ञ राक्षसराज के यह वचन सुन, वाक्य बोलने में पटु मारीच ने उससे कहा ॥ १ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

हे राजन्! मुँहसोहली बात कहने वाले लोग बहुत सहज में मिल सकते हैं; किन्तु सुनने में अप्रिय और यथार्थ में हितकारी वचनों के कहने और सुनने वाले लोग संसार में कम मिलते हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यं गुणोन्नतम् ।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

निश्चय ही तू बड़े पराक्रमी, श्रेष्ठ गुणों वाले तथा इन्द्र वरुण के तुल्य रामचन्द्र जी को नहीं जानता है। क्योंकि एक तो तूने जासूस जगह जगह नियत नहीं किये, जो तुझे ठीक ठीक वृत्तान्त बतलाते रहें, दूसरे तू चञ्चल स्वभाव का है ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्तात सर्वेषां भुवि रक्षसाम् ।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥ ४ ॥

क्या रामचन्द्र से वैर बाँध कर, राक्षसकुल का कल्याण हो सकता है? कहीं क्रुद्ध हो कर रामचन्द्र इस भूलोक को राक्षसहीन न कर डालें ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद्व्यसनं मम ॥ ५ ॥

क्या जानकी का जन्म तुम्हारा नाश करने को तो नहीं हुआ? कहीं सीता के लिये मुझे भारी सङ्कट में न फंसना पड़े ॥५॥

अपि त्वमीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं[1] निरङ्कुशम् ।
न विनश्येत्पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

तुझ स्वेच्छाचारी निरङ्कुश स्वामी को पा कर, कहीं समस्त राक्षसों सहित लङ्कापुरी नष्ट न हो जाय ॥ ६ ॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः [2]पापमन्त्रितः ।
अत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

तेरे जैसा यथेच्छाचारी, दुःशील, बुरे विचारों वाला, दुष्ट राजा, केवल अपने आप ही को नहीं, बल्कि आत्मीय जनों सहित अपने राष्ट्र को भी चौपट कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथञ्चन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥ ८ ॥

न तो श्रीरामचन्द्र को उनके पिता ने निकाला है, न वे कभी मर्यादा को उल्लंघन करने वाले ही हैं। न वे लोभी हैं, न दुष्ट स्वभाव हैं और न क्षत्रिय-कुल-कलङ्क हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न तीक्ष्णो न च भूतानां सर्वेषामहिते रतः ॥ ९ ॥

कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले रामचन्द्र धर्म और सद्गुणों से रहित नहीं हैं। न वे उग्र स्वभाव ही के हैं और न वे प्राणियों को सताते हैं, बल्कि वे तो सब के हितैषी हैं ॥ ९ ॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा तात प्रव्रजितो वनम् ॥ १० ॥

---

१ कामवृत्तं—यथेच्छाव्यापारं । (गो०) २ पापमंत्रितं—पापं दुष्टं मंत्रिकं विचारो यस्यसः । (गो०)

रामचन्द्र जी, अपने सत्यवादी पिता को, कैकेयी द्वारा ठगा हुआ देख, पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये वन में चले आये हैं ॥ १० ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कैकेयी और अपने पिता दशरथ को प्रसन्न करने के लिये राज्य और राजसी भोगों को छोड़, इस दण्डकबन में प्रवेश किया है ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात[1] नाविद्वान्नाजितेन्द्रियः ।
अनृतं दुःश्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे रावण ! न तो राम कठोर हृदय हैं, न मूर्ख हैं और न अजितेंद्रिय ही हैं । न वे झूठ और कर्ण-कटु वचन बोलने वाले हैं । उनके लिये तुमको ऐसा न कहना चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान्धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानां मघवानिव ॥ १३ ॥

राम तो धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं, वे बड़े साधु और सत्यपराक्रमी हैं । जिस प्रकार इन्द्र देवताओं के नायक हैं, उसी प्रकार राम भी सब लोगों के नायक हैं ॥ १३ ॥

कथं त्वं तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन [2]तेजसा ।
इच्छसि प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥ १४ ॥

---

१ कर्कशः—कठिन हृदयः । (गो०) २ स्वेन तेजसा—पातिव्रत्य वैभवेन । (गो०)

उन राम की सीता को, जो अपने पतिव्रता धर्म से आप ही सुरक्षित हैं, तुम किस प्रकार सूर्य की प्रभा की तरह बरजोरी हरना चाहते हो ? ॥ १४ ॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापेन्धनं रणे ।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

बाण रूपी ज्वाला से युक्त, स्पर्श के अयोग्य, धनुष रूपी इंधन से युक्त जलती हुई राम रूपी, आग में कूदने का दुस्साहस तुमको न करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम् ।
चापपाशधरं वीरं शत्रुसैन्यप्रहारिणम् ॥ १६ ॥
राज्यं सुखं च सन्त्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः ।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

धनुष का चढ़ाना ही जिसका खुला हुआ प्रदीप्त मुख है । बाण ही जिसका प्रकाश है और न सहने योग्य धनुर्बाण धारण किये हुए, शत्रुसैन्य विनाशकारी राम रूपी काल का सामना कर, तुम राज्यसुख, अपने जीवन और अपने इष्ट से क्यों हाथ धोना चाहते हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥ १८ ॥

जिन रामचन्द्र की भार्या सीता है, उनके तेज की तुलना नहीं है । जो सीता रामचन्द्र के धनुष के बल से रक्षित है, उन्हें तुम हरने की सामर्थ्य अपने में नहीं रखते ॥ १८ ॥

तस्य सा नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह और सिंह जैसे वक्षःस्थल वाले रामचन्द्र, अपनी पतिव्रता भार्या को, अपने प्राणों से बढ़ कर प्यारी समझते हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योऽस्त्विनः प्रिया ।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

वह सुदम कटि वाली सीता प्रज्वलित अग्नि शिखा के समान है। रामचन्द्र जी की प्यारी मैथिली को हर लाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है ॥ २० ॥

किमुद्यममिमं व्यर्थं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।
दृष्टश्चेत्त्वं रणे तेन तदन्तं तव जीवितम् ॥ २१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! तुम यह वृथा उद्योग क्यों करते हो ? यदि कहीं तुम राम के सामने पड़ गये, तो युद्ध में फिर तुम जीते नहीं बचोगे ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

राज्य, सुख और यह जीवन, संसार में महादुर्लभ वस्तुएं हैं। यदि इन वस्तुओं को चिरकाल तक उपभोग करने की इच्छा हो, तो रामचन्द्र से बिगाड़ मत करो ॥ २२ ॥

न सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरोगमैः ।
मन्त्रयित्वा तु धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥ २३ ॥

जान पड़ता है, तुमने सीता के हरने का निश्चय, अपने सब सचिवों तथा धर्मिष्ठ विभीषणादि कुटुम्बियों से परामर्श किये विना ही कर डाला है ॥ २३ ॥

दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ।
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्वतः ।
हिताहितं विनिश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

तुमको उचित है कि, दोषों और गुणों की विशेषता और न्यूनता तथा अपने और श्रीरामचन्द्र जी के बलाबल का तथा हिताहित का यथार्थ विचार कर, जो अच्छा जान पड़े, सा करो ॥ २४॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचरेश्वर ॥ २५ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राक्षसेश्वर ! मेरी जान में तो कोशलराज के पुत्र के साथ तुम्हारा युद्ध छेड़ना सर्वथा अनुचित है। फिर भी मैं तुम्हारी भलाई के लिये और कई एक युक्तियुक्त बातें कहता हूँ, उनको तुम सुनो ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टत्रिंशः सर्गः

कदाचिदप्यहं वीर्यात्पर्यटन्पृथिवीमिमाम् ।
बलं नागसहस्रस्य[1]धारयन्पर्वतोपमः ॥ १ ॥

हे रावण ! किसी समय मैं अपने पराक्रम के अभिमान में चूर, इस पृथिवीमण्डल पर घूमता था । मेरे पर्वत के समान शरीर में एक हज़ार हाथियों का बल था ॥ १ ॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
भयं लोकस्य जनयन्किरीटी परिघायुधः ॥ २ ॥
व्यचरं दण्डकारण्ये ऋषिमांसानि भक्षयन् ।
विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्भित्रस्तो महामुनिः ॥ ३ ॥

मेरे शरीर की कान्ति नीले रंग के बादल के समान थी । कानों में तपाये हुए सोने के कुण्डल पहिने, मस्तक पर किरीट धारण किये और हाथ में परिघ लिये हुए, तथा लोगों को भय उपजाता हुआ; मैं दण्डकवन में घूम घूम कर, ऋषियों का मांस खाता था । अनन्तर धर्मात्मा महाष विश्वामित्र मेरे भय से भीत हो, ॥ २ ॥ ३ ॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।
अद्य रक्षतु मां रामः पर्वकाले[2] समाहितः ॥४॥

---

१ नागो गजः । (गो०) २ पर्वकाले—यागकाले । (रा०)

मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर ।
इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥५॥

स्वयं महाराज दशरथ के पास जा, उनसे यह बात बोले, हे नरेश्वर ! मारीच का मुझे बहुत डर लगता है, अतः श्रीरामचन्द्र जी को मेरे पास रह कर, यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी। ऐसा मुनि का वचन सुन, धर्मात्मा महाराज दशरथ ने, ॥४॥५॥

प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम् ।
बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः ॥६॥

महाभाग और महामुनि विश्वामित्र से उत्तर में कहा—श्रीरामचन्द्र जी अभी बारह वर्ष की उम्र के बालक हैं और अस्त्र विद्या भी इनको नहीं आती ॥ ६ ॥

कामं[1] तु मम यत्सैन्यं मया सह गमिष्यति ।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरान् ॥७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रूंस्तव यथेप्सितम् । *
इत्येवमुक्तः स मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥८॥

अतः हे मुनिश्रेष्ठ ! (यह तो आपके साथ नहीं जांयगे, किन्तु) आपका काम करने के लिये मैं स्वयं अपनी बड़ी चतुरङ्गिनी सेना सहित चल कर, आपके शत्रु निशाचरों का आपकी इच्छा के अनुसार वध करूँगा। महाराज के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने महाराज से यह कहा ॥ ७ ॥ ८ ॥

---

१ कामं—भृशं । (गो०) *पाठान्तरे—"मनसेप्सितान् ।"

रामान्नान्यद्बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः ।
देवतानामपि भवान्समरेष्वभिपालकः ॥९॥
आसीत्तव कृतं कर्म त्रिलोके विदितं नृप ।
काममस्तु महत्सैन्यं तिष्ठत्विह परन्तप ॥१०॥

यद्यपि आप युद्ध में देवताओं के भी रक्षक होने में समर्थ हैं और आपके वीरत्वपूर्ण कार्य तीनों लोकों में विख्यात हैं, तथापि श्रीरामचन्द्र को छोड़ और किसी में इतना बल नहीं, जो उस राक्षस का सामना कर सके। अतः हे परन्तप ! आप अपनी चतुरङ्गिनी सेना को यहीं रहने दीजिये ॥ ९ ॥ १० ॥

बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे ।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेस्तु परन्तप ॥११॥

यह महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र बालक हुए तो क्या, यही उस राक्षस का निग्रह करने में समर्थ्य हैं। अतः हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो, मैं रामको अपने साथ ले जाऊँगा ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम् ।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम् ॥१२॥

महर्षि विश्वामित्र यह कह कर और श्रीरामचन्द्र जी को अपने संग ले, परम प्रसन्न होते हुए अपने सिद्धाश्रम में आये ॥१२॥

तं तदा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम् ।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन्धनुः ॥ १३ ॥

---

१ विस्फारयन्धनुः—रामः चित्रंधनुः विस्फारयन् नयनूसन् रक्षणाय समीपं प्राप्तो बभूवेत्यर्थः । (गो०)

तदनन्तर जब महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ-दीक्षा ली, तब श्रीरामचन्द्र जी अपने विचित्र धनुष को ले, विश्वामित्र जी के यज्ञ की रक्षा के लिये उनके पास उपस्थित हुए ॥ १३ ॥

अजातव्यञ्जनः[1] श्रीमान्पद्मपत्रनिभेक्षणः ।
एकवस्त्रधरो[2] धन्वी शिखी[3] कनकमालया ॥१४॥
शोभयन्दण्डकारण्यं दीप्तेन स्वेन तेजसा ।
अदृश्यत ततो रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥१५॥

उस समय बालरूप श्रीमान् रामचन्द्र जिनके पद्मपत्र के समान नेत्र थे, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए थे, जिनके हाथ में धनुष था, जिनके सिर पर कुलोचित शिखा थी और जो सुवर्ण की माला गले में पहिने हुए थे, अपने प्रदीप्त तेज से दण्डकवन को सुशोभित करते हुए, ऐसे देख पड़ते थे; जैसे उदयकाल में द्वितीया का चन्द्रमा शोभायुक्त देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

ततोऽहंमेघसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
बली दत्तवरो दर्पादाजगाम तदाश्रमम् ॥१६॥

तब मैं (कृष्ण) मेघाकार, सोने के कुण्डल पहिने हुए और वर प्रभाव से बल के मद में मत्त हो, विश्वामित्र जी के आश्रम में गया ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः ।
मां तु दृष्ट्वाधनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार सः ॥१७॥

---

१ अजातव्यञ्जनः—अनुत्पन्नयौवन लक्षणः । (गो०) २ एकवस्त्रधरः—ब्रह्मचर्य व्रतेस्थितः । (गो०) ३ शिखी—कुलोचितशिखायुक्तः । (गो०)

निर्भय अथवा सावधान राम ने मुझे हथियार लिये हुए आते देख, तुरन्त हर्षित हो अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ १७ ॥

अवजानन्नहं मोहाद्बालोऽयमिति राघवम् ।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥१८॥

परन्तु मैंने मूर्खतावश राम को बालक समझा और मैं विश्वामित्र की वेदी की ओर फुर्ती के साथ दौड़ा ॥१८॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः ।
तेनाहं त्वाहतः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥१९॥

यह देख, रामचन्द्र ने शत्रुओं के मारने वाले एक पैने बाण को चला, मुझे वहां से सौ योजन दूर समुद्र में फैंक दिया ॥ १९ ॥

नेच्छता[1] तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।
रामस्य शरवेगेन निरस्तोऽहमचेतनः[2] ॥ २० ॥

हे तात ! वीर रामचन्द्र की इच्छा उस समय मेरा वध करने की न थी, इसीसे उन्होंने मेरा वध न कर, मेरे प्राण बचाये । मैं राम के शरवेग से इतनी दूर फैंके जाने के कारण मूर्छित हो गया ॥ २० ॥

पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।
प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लङ्कां प्रति गतः पुरीम् ॥ २१ ॥

मैं इस गहरे समुद्र में आकर गिरा । फिर हे तात ! बहुत देर बाद जब मैं सचेत हुआ और लङ्कापुरी में गया ॥ २१ ॥

---

१ नेच्छता—अनिच्छता । (गो०) २ अचेतनः—मूर्छितः । (गो०)

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्तु निपातिताः[1] ।
अकृतास्त्रेण बालेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २२ ॥

इस तरह मैं तो उस समय बच गया, किन्तु मेरे सहायक अन्य सब राक्षसों को कठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो उस समय अस्त्र-सञ्चालन-विद्या में निपुण भी न थे, और बालक ही थे, मार डाला ॥ २२ ॥

तन्मया वार्यमाणस्त्वं यदि रामेण विग्रहम् ।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्स्यसि रावण ॥ २३ ॥

इसीसे मैं तुम्हें मना कर रहा हूँ, यदि तिस पर भी तुम रामचन्द्र से लड़ाई छेड़ोगे, तो घोर विपत्ति में पड़, शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २३ ॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवशालिनाम् ।
रक्षसां चैव सन्तापमनर्थं चाहरिष्यसि[2] ॥ २४ ॥

तुम ! क्रीड़ा और रति की विधि को जानने वाले और सभाओं के उत्सवों को देखने वाले राक्षसों के सन्ताप के कारण बन अनर्थ बटोरोगे ॥ २४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां[3] नानारत्नविभूषिताम् ।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते ॥ २५ ॥

सीता को हर कर तुम मन्दिर और अटा अटारियों से पूर्ण और नाना रत्नों से भूषित लङ्का को नष्ट हुआ देखोगे ॥ २५ ॥

---

१ निपातिताः—हताः । (गो०) २ आहरिष्यसि -- यत्नेन सम्पादयिष्यसि । (गो०) । ३ सम्बाधां--निबिडां । (गो०)

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः[1] पापसंश्रयात् ।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे[2] यथा ॥ २६ ॥

जो लोग पाप नहीं करते, वे भी पापी जनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं। जैसे सर्पयुक्त जल के कुण्ड की मछलियां सर्पों के संसर्ग से (गरुड़ द्वारा) नष्ट होती हैं ॥ २६ ॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान्दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहतान्भूमौ तव दोषात्तु राक्षसान् ॥ २७ ॥

तुम अपनी करतूत से, दिव्य चन्दन से चर्चित और दिव्य वस्त्राभूषण से सुसज्जित शरीर वाले राक्षसों को भूमि पर मर कर पड़े हुए देखोगे ॥ २७ ॥

[3]हृतदारान्सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः ।
हतशेषानशरणान्[4]द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥ २८ ॥

हे रावण ! तुम युद्ध से बचे हुए रक्षक रहित अर्थात् अनाथ राक्षसों को या तो स्त्रियों को त्यागे हुए अथवा साथ लिये हुए दशों दिशाओं में भागते हुए देखोगे ॥ २८ ॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वं न संशयः ॥ २९ ॥

बाणजाल से घिरी हुई और अग्निशिखा से पीड़ित, भस्म गृहों से युक्त लङ्का को, तुम निसन्देह देखोगे ॥ २९ ॥

---

१ शुचयः-अपापा । (गो०) २ नागह्रदे-सर्पह्रदे । (गो०) ३ हृतदारान्--त्यक्तदारान् । (गो०) ४ अशरणान्—रक्षकरहितान् । (गो०)

परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत् ।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन्परिग्रहः ॥ ३० ॥

हे रावण ! पराई स्त्री को हरने से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं है। फिर तुम्हारे रनवास में तो हज़ारों स्त्रियाँ मौजूद हैं ॥ ३० ॥

भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षस ।
मानमृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः ॥ ३१ ॥

अतः तुम उन्हीं अपनी स्त्रियों पर प्रीति करो और अपने कुल की, राक्षसों के मान की, राज्य की और अपने अभीष्ट जीवन की रक्षा करो ॥ ३१ ॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम्[1] ॥ ३२ ॥

यदि तुम परम सुन्दरी स्त्रियों और इष्ट मित्रों के साथ बहुत दिनों तक सुख भोगना चाहते हो, तो राम से बिगाड़ मत करो ॥ ३२ ॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्तजीवितः ॥ ३३ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ रामविप्रियम्—रामापराधं । (गो०) २ प्रसह्य—बलात्कृत्य मामनादृत्येत्यर्थः । (गो०)

हे रावण ! मैं तुम्हारा हितैषी मित्र हूँ। यदि इस पर भी तुम बरजोरी सीता को हरोगे, तो तुम भाईबंदों सहित क्षीणबल हो, राम के बाणों से मारे जा कर, यमपुरी सिधारोगे ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—*—

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित्तेन संयुगे।
इदानीमपि यद्वृत्तं तच्छृणुष्व निरुत्तरम्[1] ॥ १ ॥

हे रावण ! उस समय मैं जैसे बचा सो तुमसे बतलाया, अब मैं आगे का हाल कहता हूँ, सो तुम मुझे बीच में टोंके बिना सुनो ॥ १ ॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथा कृतः।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी से बैर हो जाने के कारण) मैं अन्य दो मृग रूपी राक्षसों को अपने साथ ले दण्डकवन में गया, किन्तु इस बार भी मुझे परास्त होना पड़ा ॥ २ ॥

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः।
व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥ ३ ॥

---

१ निरुत्तरम्—मध्ये वाक्यविच्छेदाकरणेन शृण्वित्यर्थः। (गो०)
२ अनिर्विण्णः—निर्वेदरहितः। (गो०)

उस समय अग्निशिखा की तरह तो मेरी जिह्वा लपलपाती थी और मेरे दांत बड़े पैने थे। मैं एक बड़े बलवान् मृग जैसा रूप धारण किये हुए था और मांस खाता हुआ दण्डकवन में घूम रहा था ॥३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण ।
अत्यन्तघोरो व्यचरं तापसान्सम्प्रधर्षयन् ॥ ४ ॥

हे रावण! अग्निहोत्र के स्थानों में, तीर्थों में, और पूज्य वृक्षों के निकट जा, मैं अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर, तपस्वियों को उत्पीड़ित किया करता था ॥ ४ ॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तथा मांसानि भक्षयन् ॥ ५ ॥

दण्डकवन में, धर्मचारी तपस्वियों का वध कर, उनका रक्त पीता और उनका मांस खाता था ॥ ५ ॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन्वनगोचरान् ।
तथा रुधिरमत्तोऽहं विचरन्धर्मदूषकः ॥ ६ ॥

ऋषियों का मांस खाने वाला मैं अत्यन्त निष्ठुर वन, वनवासी ऋषियों को दुःख देता था। इस प्रकार रक्तपान से मतवला हो, मैं धर्म को नष्ट करता हुआ, दण्डकवन में विचरता था ॥ ६ ॥

आसादयं[1] तदा रामं तापसं धर्मचारिणम् ।
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर मैंने तपस्वियों के धर्म का पालन करने में निरत रामचन्द्र, भाग्यवती सीता और महारथी लक्ष्मण को भी सताया ॥ ७ ॥

---

१ आसादयं--अपीडयन् । (शि०)

तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ।
सोऽहं वनगतं रामं परिभूय[1] महाबलम् ॥ ८ ॥

तपस्वी रामचन्द्र का, जो नियमित भोजन करने वाले हैं और जो सब प्राणियों की भलाई में तत्पर रहते हैं तथा जो महाबलवान एवं वन में रहते हैं, मैंने फिर तिरस्कार किया ॥ ८ ॥

तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ।
अभ्यधावं हि संक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ॥ ९ ॥
जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन् ।
तेन मुक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिबर्हणाः ॥ १० ॥
विकृष्य बलवच्चापं सुपर्णानिलनिस्वनाः ।
ते बाणा वज्रसङ्काशाः सुमुक्ता रक्तभोजनाः ॥ ११ ॥

मैंने समझा रामचन्द्र एक साधारण तपस्वी हैं। अतः पहले के वैर को स्मरण कर तथा क्रोध में भर, मैं मृग का रूप धारण किये हुए, नुकीले सींगों को आगे कर और उनके पराक्रम को जान कर भी, उनको मार डालने की इच्छा से, उन पर झपटा। तब उन्होंने शत्रुनाशकारी तीन पैने बाण, जो गरुड़ या पवन की तरह बड़े वेगवान्, वज्र के तुल्य अमोघ और रुधिर पीनेवाले थे, धनुष को कान तक खींच कर छोड़े ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः सन्नतपर्वणः ।
पराक्रमज्ञो रामस्य शरो दृष्टभयः पुरा ॥ १२ ॥

उनको अपनी ओर आते देख मैं तो भागा। क्योंकि मैं राम के पराक्रम को जानता था और पहले से भयभीत भी था ॥ १२ ॥

---

१ परिभूय—अनादृत्य । (शि०)

*समुक्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ ।
शरेण मुक्तो रामस्य कथञ्चित्प्राप्य जीवितम् ॥ १३ ॥

किन्तु मेरे दोनों साथी उन बाणों के लगने से मारे गये। मैंने किसी प्रकार रामचन्द्र के बाण से अपनी रक्षा की और प्राण बचाये ॥ १३ ॥

इह प्रव्राजितो[1] युक्तः[2]तापसोऽहं समाहितः[3] ।
वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ॥ १४ ॥

अब मैं और सब दुष्टताओं को त्याग, मन को अपने वश में कर, तपस्वियों के लिये उपयोगी आचरण करने में तत्पर हूँ। किन्तु अब भी मुझे चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, रामचन्द्र प्रत्येक वृक्ष में देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ॥ १५ ॥

हे रावण ! जैसे हाथ में फांसी लिये यमराज देख पड़ें, वैसे ही मुझे हाथ में धनुष लिये राम देख पड़ते हैं। सो एक दो राम नहीं, ऐसे राम मुझे सहस्रों देख पड़ते हैं; जिनसे मुझे बड़ा डर लगता है ॥ १५ ॥

रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप ॥ १६ ॥

---

१ प्रव्राजितोः--कृत सकलदुर्वृत्त परित्याग । (गो०) २ युक्तः—उचिताचरणः। (गो०) ३ समाहितः नियतमनस्कः । (गो०) * पाठान्तरे "समुद्भ्रान्तः" ।

और तो क्या, यह सारा वन ही मुझे राममय देख पड़ता है। हे राक्षसनाथ ! जब मैं देखता हूँ, तब मुझे राम ही देख पड़ते हैं। रामरहित स्थान तो मुझे देख ही नहीं पड़ता ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ।
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण ॥ १७ ॥

मैं स्वप्न में राम को देख घबड़ा कर मूर्छित हो जाता हूँ। हे रावण ! और तो क्या, जिन नामों के आदि में रकार होता है उनके सुनने से भी मुझे डर लगता है ॥ १७ ॥

रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं सञ्जनयन्ति मे ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ॥ १८ ॥

रत्न और रथ शब्दों के आदि में रकार होने के कारण ये शब्द भी मुझे भयभीत कर देते हैं। मैं रामचन्द्र के प्रभाव को जानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि, तुम रामचन्द्र से लड़ने में समर्थ नहीं हो ॥१८॥

बलिं वा नमुचिं वाऽपि हन्याद्धि रघुनन्दनः ।
रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु राक्षस ॥ १९ ॥

रामचन्द्र में राजा बलि और नमुचि को भी मारने की शक्ति है। इस पर भी तुम्हारी इच्छा हो तो तुम चाहे उनसे लड़ो अथवा न लड़ो ॥ १९ ॥

न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ।
बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ॥ २० ॥

किन्तु यदि तुम मुझे जीता जागता देखना चाहते हो, तो मेरे सामने राम की चर्चा भी मत करो। ऐसे अनेक साधु और धर्माचरणयुक्त लोग इस संसार में हो गये हैं ॥ २० ॥

परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ।
सोऽहं तवापराधेन विनश्येयं निशाचर ॥ २१ ॥

जिन्हें दूसरों के किये अपराधों के कारण सकुटुम्ब नष्ट हो जाना पड़ा है । सो क्या मुझे भी तुम्हारे अपराध के लिये अपना नाश करवाना पड़ेगा ॥ २१ ॥

कुरु यत्ते क्षमं तत्त्वमहं त्वा नानुयामि ह ।
रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ २२ ॥

तुम्हें अब जैसा सूझ पड़े वैसा तुम करो, किन्तु मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा । क्योंकि रामचन्द्र बड़े तेजस्वी, पराक्रमी और बड़े बलवान् हैं ॥ २२ ॥

अपि राक्षसलोकस्य न भवेदन्तको हि सः ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ २३ ॥
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

कहीं ऐसा न हो कि, राक्षसों का नाम निशान तक न रह जाय । यद्यपि जनस्थान का रहने वाला खर, शूर्पणखा के लिये अक्लिष्टकर्मा रामचन्द्र द्वारा मारा गया ; तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो, हे रावण ! तुम्हीं बतलाओ, इसमें रामचन्द्र का क्या अपराध है ? ॥ २३॥२४ ॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे ।

सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः ॥ २५ ॥
इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

तुम मेरे बन्धु हो, इसीसे मैंने तुम्हारी भलाई के लिये ही ये सब बातें तुमसे कही हैं। यदि तुम मेरी बातों को न मानोगे, तो (स्मरण रखना) तुम सपरिवार रामचन्द्र के बाणों से युद्ध में मारे जावोगे ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चत्वारिंशः सर्गः

—※—

मारीचेन तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं निशाचरः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम् ॥ १ ॥

युक्तियुक्त और मानने योग्य वचनों को सुन कर भी, रावण वैसे ही न माना, जैसे अपना मरण चाहने वाला आदमी औषध (का प्रभाव) नहीं मानता ॥ १ ॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यमयुक्तं कलाचोदितः ॥ २ ॥

उस समय, मृत्यु से प्रेरित रावण ने हितकर और युक्ति-युक्ति वचन कहने वाले मारीच से ऊटपटांग और कठोर वचन कहे ॥ २ ॥

यत्किलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते ।
वाक्यं निष्फलमर्त्यर्थमुप्तं बीजमिवोषरे ॥ ३ ॥

हे मारीच ! तुमने जो यह मेरी इच्छा के विरुद्ध वचन मुझसे कहे, सो ठीक नहीं हैं और ऊसर भूमि में बीज फैंक देने के समान निष्फल हैं ॥ ३ ॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे[1] ।
पापशीलस्य मूर्खस्य मानुषस्य विशेषतः ॥ ४ ॥

तुम्हारे ये वचन मेरी राम के विषय की धारणा को अन्यथा नहीं कर सकते । अर्थात् सीताहरण सम्बन्धी भावी युद्ध से मेरा मन नहीं फेर सकते । मैं उस पापी, मूर्ख और विशेष कर मनुष्य राम से नहीं डरता, ॥ ४ ॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा ।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं[2] श्रुत्वा वनमेकपदे[3] गतः ॥ ५ ॥

जिसने अपने सुहृदों को, राज्य को और माता पिता को छोड़, केवल स्त्री के निःसार वचनों से वनवास करना तुरन्त अङ्गीकार कर लिया ॥ ५ ॥

अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः ।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव सन्निधौ ॥ ६ ॥

मैं तो युद्ध में खर का वध करने वाले उस राम की प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को अवश्य हरूँगा ॥ ६ ॥

---

१ रामस्यसंयुगे रामस्यविषये । (गो०) २ प्राकृतं—असारं । (गो०) ३ एकपदे—उत्तरक्षणे । (गो०)

एवं मे निश्चला बुद्धिर्हृदि मारीच वर्तते ।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ७ ॥

मारीच ! इस विषय में मेरे मन की ऐसी दृढ़ धारणा है कि, देवताओं सहित इन्द्र भी उसे नहीं पलट सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा संपृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि ।
अपायं वाऽप्युपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

यदि मैंने तुमसे इस विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने को गुण दोष पूंछे होते, तो ये सब बातें तुम कह सकते थे ॥८॥

संपृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता ।
उद्यताञ्जलिना राज्ञे य इच्छेद्भूतिमात्मनः[1] ॥ ९ ॥

जो मंत्री चतुर और ऐश्वर्य के अभिलाषी होते हैं, वे राजा द्वारा कोई बात पूंछी जाने पर हाथ जोड़ कर उचित उत्तर देते हैं ॥ ९ ॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम् ।
उपचारेण[2] युक्तं च वक्तव्यो वसुधाधिपः ॥ १० ॥

क्योंकि राजा से बड़े सम्मान के साथ, अनुकूल, कोमल, हितयुक्त और शुभ वचन ही कहने चाहिये ॥ १० ॥

सावमर्दं[3] तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते ।
नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम् ॥ ११ ॥

हे मारीच ! हितकर भी वचन यदि तिरस्कार पूर्वक कहा जाय, तो माननीय राजा उस मानवर्जित वचन को सुन, प्रसन्न नहीं होते ॥११॥

---

१ भूतिं—ऐश्वर्यं ॥ (गो०) २ उपचारेणयुक्तं—बहुमानेनपुरस्कृतं । (गो०) ३ सावमर्दं—तिरस्कारसहितं । (गो०)

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः ।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य वरुणस्य यमस्य च ॥ १२ ॥

अमित तेज वाला राजा, अग्नि, इन्द्र, चन्द्र, यम और वरुण, इन पाँच देवताओं का रूप धारण करता है ॥ १२ ॥

औष्ण्यं[1] तथा विक्रमं च सौम्यं[2] दण्डं[3] प्रसन्नताम् ।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥ १३ ॥

इसीसे राजा में, अग्नि का मुख्य गुण उष्णत्व अर्थात् तीक्ष्णता, इन्द्र का मुख्य गुण पराक्रम, चन्द्रमा का मुख्य गुण आल्हादकरत्व (देखने से देखने वालों को प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला) यम का मुख्य गुण दण्ड अर्थात् दुष्टों का निग्रह और वरुण का मुख्य गुण प्रसन्नता पाये जाते हैं ॥ १३ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु मान्याः[4] पूज्याश्च[5] पार्थिवाः ।
त्वं तु [6]धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमास्थितः[7] ॥ १४ ॥

अतः सब अवसरों में राजा का मन से सम्मान और वाणी से सत्कार करना चाहिये । तूने राजधर्म को त्याग कर, अज्ञान का आश्रय लिया है (अर्थात् तू राजधर्म नहीं जानता और मूर्ख है) ॥१४॥

अभ्यागतं मां दौरात्म्यात्परुषं वक्तुमिच्छसि ।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षमं चात्मनि राक्षस ॥ १५ ॥

---

१ औष्ण्यं—तैक्ष्ण्यं । (गो०) २ सौम्यं—आल्हादकरत्वं । (गो०) ३ दण्डं—दुष्टनिग्रहं । (गो०) ४ मान्याः—मनसापूज्याः । (गो०) ५ पूज्याः—वाचा बहुमन्तव्याः । (गो०) ६ धर्मं—राजधर्मं । (गो०) ७ मोहं—अज्ञानं । (गो०)

इसीसे तेरे घर में अतिथि रूप में आने पर भी तूने दुर्जनतावश मुझसे ऐसे कठोर वचन कहे हैं। मैं (अपने भावी कर्तव्य के) न तो तुझसे गुण और दोष ही पूँछता हूँ और न अपनी भलाई (का उपाय) ॥१५॥

मयोक्तं तव चैतावत्सम्प्रत्यमितविक्रम।
अस्मिंस्तु त्वं महाकृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे अमित विक्रमी! मेरा तो तुझसे इतना ही कहना है कि, सीताहरण के इस महाकार्य में तू मेरी सहायता कर ॥ १६ ॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ॥ १७ ॥

मेरे कथनानुसार मेरी सहायता तुझे किस प्रकार करनी होगी सो भी मैं कहता हूँ, सुन। तू सोने और चांदी की बुन्दकियों-दार हिरन बन कर ॥१७॥

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे[1] चर।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

रामाश्रम में जा और वहाँ सीता के सामने (घास) चरने लग। फिर सीता को लुभा कर, जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा ॥१८॥

त्वां तु मायामृगं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥ १९ ॥

तेरे सोने के बनावटी मृग रूप को देख सीता को आश्चर्य होगा और वह राम से तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेगी ॥१९॥

---

१ प्रमुखे—अग्रे। (गो०)

अपक्रान्ते तु काकुत्स्थे दूरं यात्वा व्युदाहर ।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम् ॥ २० ॥

जब राम आश्रम से निकल तेरा पीछा करे, तब तू दूर जा कर, ठीक रामचन्द्र जी की बोली में "हा सीते" "हा लक्ष्मण" कह कर चिल्लाना ॥२०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं[1] सीतया च प्रचोदितः ।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तः सौमित्रिरपि सौहृदात् ॥ २१ ॥

तब ऐसा शब्द सुन सीता लक्ष्मण को भेजेगी और लक्ष्मण भाई के प्रेम से राम के मार्ग का अनुसरण करेंगे ॥२१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्[2] ।
आनयिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥ २२ ॥

राम और लक्ष्मण के आश्रम से चले जाने पर, मैं बिना प्रयास ही सीता को उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार इन्द्र शची को ले आये थे ॥ २२ ॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।
राज्यस्यार्धं प्रयच्छामि मारीच तव सुव्रत ॥ २३ ॥

हे राक्षस ! बस मेरा इतना काम कर चुकने पीछे, तू जहाँ चाहे वहाँ चले जाना । (इस काम के पारिश्रमिक में), हे सुव्रत मारीच ! मैं तुझे अपना आधा राज्य दूँगा ॥२३॥

गच्छ सौम्य शिवं[3] मार्गं[4] कार्यस्यास्य विवृद्धये ।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥ २४ ॥

---

१ पदवीं—मार्गं । (गो०) २ यथासुखं—यत्नंबिना । (गो०) ३ शिवं—मनोहरं । (गो०) ४ मार्गं—मृगसम्बन्धिरूपं मार्गं । (गो०)

हे सौम्य ! तुम इस कार्य को पूरा करने के लिये मृगों के चलने के मनोहर मार्ग से चलो । मैं भी रथ सहित तुम्हारे पीछे दण्डकवन में आता हूँ ॥२४॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम् ।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया ॥ २५ ॥

इस प्रकार छलबल से विना युद्ध किये ही राम की सीता को पा कर, मैं कृतकार्य हो, तेरे साथ लङ्का की ओर चल दूँगा ॥२५॥

न चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै ।
एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि[1] करिष्यसि ।
राज्ञो हि प्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते ॥ २६ ॥

यदि तू मेरा यह काम न करेगा, तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा । तुझे मेरा यह काम अपनी इच्छा न रहते भी अवश्य करना होगा । क्योंकि कोई आदमी राजा के विरुद्ध आचरण कर, सुखी नहीं रह सकता ॥ २६ ॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्य ।
एतद्यथावत्प्रतिगृह्य[2] बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम् ॥ २७ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ बलादपि—अनिच्छतानि । (गो०) २ प्रतिगृह्य—निश्चित्य । (गो०)

राम के पास जाने से तो तुझे अपने बचने की केवल शङ्का मात्र ही है। किन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से तेरी मौत निश्चित ही है। अतः इन दोनों बातों को सोच विचार कर, तुझे अपने लिये जो हितकर जान पड़े, सो अब कर ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—※—

आज्ञप्तोऽराजवद्वाक्यं प्रतिकूल निशाचरः ः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं मारीचो राक्षसाधिपम् ॥ १ ॥

जब प्रतिकूल बचन कहने पर राक्षसनाथ रावण ने राजाओं की तरह इस प्रकार आज्ञा दी, तब मारीच ने निर्भीक हो उससे ये कठोर बचन कहे ॥१॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा।
सपुत्रस्य सराष्ट्रस्य सामात्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

हे राक्षस! किस पापी ने तुम्हें यह उपदेश दिया है, जिससे तुम अपने राज्य, मंत्रियों और पुत्रों सहित नाश को प्राप्त हो ॥२॥

कस्त्वया सुखिना राजन्नाभिनन्दति पापकृत्।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः[1] ॥ ३ ॥

---

१ उपायतः—व्याजेन। (गो०)

वह कौन पापी है, जो तुम्हें सुखी देख सुखी नहीं है ? किसने उपाय के छल से यह तुम्हारी मौत का उपाय तुमको सुझाया है ? ॥३॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचराः ।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥ ४ ॥

हे राक्षसनाथ ! यह तो स्पष्ट ही है कि, तुम्हारे शत्रु बलहीन हो गये हैं, इसीसे वे चाहते हैं कि, कोई बलवान आ कर, तुम्हें घेर ले और तुम्हें नष्ट कर डाले ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितवादिना ।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर ॥ ५ ॥

हे रावण ! वह कौन नीच और तुम्हारा अहितकारी शत्रु है, जो तुम्हें यह शिक्षा दे, तुम्हारा नाश तुम्हारे ही हाथों करवाना चाहता है ॥५॥

वध्याः खलु न हन्यन्ते सचिवास्तव रावण ।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

हे रावण ! सचिव अवश्य ही अवध्य हैं। किन्तु वे सचिव अवश्य मार डालने योग्य हैं, जो तुम्हें कुमार्ग पर चलने से नहीं रोकते ॥६॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः ।
निग्राह्यः सर्वथा सद्भिर्न निग्राह्यो निगृह्यसे ॥ ७ ॥

जब राजा यथेच्छाचारी हो कुमार्गगामी होने लगे, तब मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे उसे सर्वप्रकार रोकें, किन्तु तुम्हें कौन रोके। तुम तो किसी का कहना मानते ही नहीं ॥ ७ ॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतांवर ।
स्वामिप्रसादात्सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥८॥

हे निशाचर ! हे विजय करने वालों में श्रेष्ठ ! मंत्रियों को अपने अपने स्वामी की प्रसन्नता ही से धर्म अर्थ काम और यश की प्राप्ति होती है॥ ८ ॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण ।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात्प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

और स्वामी के अप्रसन्न होने पर, हे रावण ! सब ही व्यर्थ हो जाता है। स्वामी के अप्रसन्न होने से इतर जनों को दुःख होता है॥ ९ ॥

राजमूलोहि धर्मश्च जयश्च जयतांवर ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

हे जयतांवर ! धर्म व विजय का मूल राजा ही है, अथवा राजा ही प्रजाओं के धर्म व विजय का मूलकारण है। इसी लिये हर दशा में राजा लोगों की रक्षा करनी चाहिये ॥१०॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन[1] निशाचर ।
न चापिप्रतिकूलेन[2] नाविनीतेन[3] राक्षस ॥ ११ ॥

हे निशाचर ! जो राजा अत्याचारी होने के कारण प्रजा जनों को अप्रसन्न रखता है और अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता ॥११॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः[4] सचिवा भज्यन्ते सह तेन वै ।
विषमे[5] सुरगाः शीघ्रा मन्द[6]सारथयो यथा ॥ १२ ॥

---

१ तीक्ष्णेन—क्रूरदण्डेन । (गो०) २ प्रतिकूलेन—प्रजाविरुद्धेन । (गो०) ३ अविनीतेन-इन्द्रियजयरहितेन । (गो०) ४ तीक्ष्णमंत्राः-तीक्ष्णोपाय प्रयोक्तारः । (गो०) ५ विषमे—निम्नोन्नत प्रदेशे । (गो०) ६ मन्द—अपटु । (गो०)

उग्र उपायों से काम लेने वाले मंत्री उस राजा के साथ अपने किये का फल उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार ऊँची नीची ज़मीन पर तेज़ी के साथ घोड़े हाँकने वाला नौसिखुआ सारथी। (अर्थात् ऊबड़ खाबड़ सड़क पर तेज़ी के साथ रथ दौड़ाने से केवल घोड़ों ही को कष्ट नहीं होता; किन्तु सारथी को भी कष्ट झेलना पड़ता है) ॥१२॥

बहवः साधवो लोके युक्ता[1] धर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

हे रावण! अनेक धर्मज्ञ जो धर्मानुष्ठान में तत्पर और नीति-मार्ग का अनुसरण करते थे, दूसरों के अपराध से अपने परिवार सहित नष्ट हो चुके हैं) ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

हे रावण! उग्रस्वभाव और प्रतिकूलाचरणसम्पन्न राजा से रक्षित प्रजा की उन्नति वैसे ही नहीं होती, जैसे सियारों से रक्षित भेड़ों को उन्नति नहीं होती ॥१४॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

जिन राक्षसों के तुम जैसे क्रूर स्वभाव, निर्बुद्धि और अजितेन्द्री राजा हो, वे राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जाँयगे ॥ १५ ॥

---

१ युक्ताः—नीतिमार्गनिष्ठाः। (गो०)

तदिदं काकतालीयं[1] घोरमासादितं मया ।
अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

अस्तु, मैं तो इस घोर काम में हाथ डालने से मारा जाऊँगा ही (इसका मुझे सोच नहीं) सोच तो मुझे इसका है कि, तुम ससैन्य नष्ट होगे ॥१६॥

मां निहत्य तु रामश्च न चिरात्त्वां वधिष्यति ।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः ॥ १७ ॥

मुझे क्या ? मैं यहाँ न मर कर यदि शत्रु (राम) के ही हाथ से मरूँगा तो (शत्रु के द्वारा मारे जाने के कारण) कृतकृत्य भी हो जाऊँगा;पर (याद रखो) राम तुम्हें भी अविलंब मार डालेंगे ॥१७॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामुपधारय ।
आत्मानं च हतं विद्धि हत्वा सीतां सबान्धवम् ॥१८॥

तू निश्चय जान कि, जहाँ राम के सामने मैं गया कि, मैं मारा-गया (अथवा रामदर्शन ही से तू मुझे मरा समझ ले) । साथ ही सीता को हरने से तू भी अपने को परिवार सहित मरा हुआ समझ ले ॥१८॥

आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया ।
नैव त्वमसि नाहं च नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

मान लो, यदि तुम सीता को रामाश्रम से हर भी लाये और मैं भी जीता जागता बच गया, तो भी तुम्हारो, मेरो, लङ्का की और लङ्कावासी राक्षसों की कुशल नहीं ॥१९॥

---

१ काकतालीयं — यादृच्छकं । (गो०)

निरर्थकं जल्पसि मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर ।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २० ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रावण ! मैं तेरा हितैषी हूँ। मेरे मना करने पर भी तू मेरी इन बातों पर कान नहीं देता। सो ठीक ही है, क्योंकि जिन लोगों की आयु समाप्त होने वाली होती है, वे प्रेततुल्य हो जाते हैं, और अपने मित्रों के हितकारी वचनों को नहीं माना करते ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

एवमुक्त्वा तु वचनं मारीचो रावणं ततः ।
गच्छावेत्यब्रवीद्दीनो[1] भयाद्रामिचरप्रभोः ॥ १ ॥

मारीच ने राक्षसराज रावण से ऐसे कठोर वचन तो कहे, किन्तु उसके भय से भीत हो, साथ ही घबड़ा कर यह भी कहा कि, अच्छा मैं चलता हूँ ॥१॥

दृष्ट्वाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा ।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण विनष्टं जीवितं च मे ॥ २ ॥

---

१ दीन—दौस्थ्यमुपपादयति । (गो०)

किन्तु यदि मेरे मारने को धनुर्बाण एवं खड्ग लिये हुए रामचन्द्र मुझे फिर दिखलाई पड़े, तो मेरा प्राण गया हुआ ही समझना ॥ २॥

न हि रामं पराक्रम्य जीवन्प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

क्योंकि कोई भी पुरुष रामचन्द्र के सामने जा, अपने पराक्रम से जीता जागता नहीं लौट सकता । क्योंकि रामचन्द्र यमदण्ड के समान हैं । सो तुम और मैं दोनों ही मारे जाँयगे ॥३॥

किन्नु शक्यं मया कर्तुमेवं त्वयि दुरात्मनि ।
एष गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

तुम जैसे दुरात्मा पर मेरा क्या वश है । अस्तु, हे तात ! हे निशाचर ! तेरा मङ्गल हो, ले मैं अब चलता हूँ ॥४॥

प्रहृष्टस्त्वभवत्तेन वचनेन स रावणः ।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीच का यह वचन सुन, राक्षेश्वर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका गाढ़ आलिंगन कर, उससे यह वचन बोला ॥ ५ ॥

एतच्छौण्डीर्य[1]युक्तं ते मच्छन्दादिव भाषितम् ।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो निशाचरः ॥ ६ ॥

हे मारीच ! अब तुमने वीरतायुक्त बात मेरे मन के अनुसार कही है । अब मैंने जाना कि, तुम मारीच हो । पहिले तो मैं तुम्हें एक साधरण राक्षस समझता था ॥६॥

---

१ शौण्डीर्यं—वीरत्वं । (गो०)

आरुह्यतामयं शीघ्रं रथो रत्नविभूषितः ।
मया सह तथा युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

अब तुम इस रत्नविभूषित और पिशाच-मुख वाले खरों से युक्त रथ पर मेरे साथ सवार हो लो ॥७॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

और सीता को लुभा कर फिर जहाँ चाहो वहाँ चले जाना । उस समय मैं सूनी पा, सीता को हर लाऊँगा ॥८॥

ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ।
आरुह्य ययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात् ॥ ९ ॥

तदनन्तर मारीच और रावण विमान जैसे रथ पर सवार हुए और तुरन्त उस आश्रम से रवाना हुए ॥९॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ।
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ॥ १० ॥

जाते हुए उन दोनों ने रास्ते में अनेक ग्रामों, वनों, पर्वतों, नदियों राष्ट्रों और नगरों को देखा * ॥ १० ॥

समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ।
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दण्डकवन में जा, राक्षसराज रावण और मारीच ने श्रीरामाश्रम को देखा ॥ ११ ॥

---

*लोगों का अनुमान है कि, वर्तमान् बंबई नगर का टापू ही मारीच के रहने का स्थान था ।

अवतीर्य रथात्तस्मात्ततः काञ्चनभूषणात् ।
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर सुवर्ण भूषित रथ से उतर, रावण ने मारीच का हाथ पकड़ उससे कहा ॥१२॥

एतद्रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ।
क्रियतां तत्सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ॥ १३ ॥

केले के वृक्षों से घिरा हुआ यही रामचन्द्र का आश्रम है; अब हे मित्र ! जिस काम के लिये हम लोग आये हैं, उसे झट पट कर डालो ॥१३॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ।
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह ॥ १४ ॥

तब रावण का यह वचन सुन, मारीच राक्षस मृग बन कर, रामाश्रम के द्वार पर विचरने लगा ॥१४॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ।
मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः ॥ १५ ॥

उस समय मारीच ने अपना बड़ा अद्भुत मृग का रूप बनाया। नीलम की तो उसके सींगों की नोंकें थीं और मुख की रंगत कुछ सफेद और कुछ काली थी ॥१५॥

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ।
किञ्चिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलदलाधरः ॥ १६ ॥

मुख लाल कमल जैसा था और कान श्याम कमल के समान थे। गर्दन कुछ उठी हुई और शरीर का निचला भाग नील कमल की तरह बैजनी रंग का था ॥१६॥

कुन्देन्दुवज्रसङ्काशमुदरं चास्य भास्वरम्
मधूकनिभपार्श्वश्च पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥ १७ ॥

उसका पेट नीले कमल के रंग का और हीरा की तरह चमकता था। महुआ के पुष्प के रंग की तरह रंग की उसकी दोनों कोखें थीं और कमल की केसर के रंग जैसे रंग की उसकी छवि थी ॥१७॥

वैडूर्यसङ्काशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः ।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजता ॥ १८ ॥

पन्ने के रंग जैसे रंग के उसके खुर, उसकी जांघें पतली और सब सन्धियां भरी हुई थीं; और इन्द्रधनुष जैसे रंग की पूंछ को वह उठाये हुए था ॥ १८ ॥

मनोहरःस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः ।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

वह देखने में बड़ा मनोहर, सचिक्कन रंग का था। और तरह तरह के रत्नों के रंगों से उसका शरीर सजा हुआ था। वह मारीच क्षणभर में परम् शोभायमान मृग बन गया था ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन्रम्यं रामाश्रमपदं च तत् ।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

वह राक्षस मारीच देखने योग्य मनोहर रूप धारण कर, उस वन और रमणीक श्रीरामाश्रम को शोभित करने लगा ॥ २० ॥

प्रलोभानार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम् ।
विचरन्गच्छते तस्माच्छाद्वलानि समन्ततः ॥ २१ ॥

वह, जानकी जी को लुभाने के लिये नाना प्रकार की धातुओं जैसे रंगों से विचित्र रूप धारण कर, हरी हरी दूब चरता हुआ, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में चारो ओर घूमने लगा ॥ २१ ॥

रूप्यैर्विन्दुशतैश्चित्रो भूत्वा स प्रियदर्शनः ।
विटपीनां किसलयान्भङ्क्त्वादन्विचचार ह ॥ २२ ॥

चांदी के रंग की सैकड़ों बूँदों से विभूषित होने के कारण वह बहुत ही भला मालूम पड़ता था और वृक्षों के कोमल पत्तों को चरता हुआ घूमता था ॥२२॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः ।
समाश्रयन्मन्दगतिः सीतासन्दर्शनं तथा ॥ २३ ॥

वह धीमी चाल से इधर उधर घूमता हुआ कभी केलों के और कभी कनैर की कुंजों की ओर जाता, जिससे सीता की दृष्टि में वह पड़ जाय ॥२३॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥ २४ ॥

वह, कमल पुष्प के रंग जैसी विचित्र पीठ को दिखलाता श्रीराम के आश्रम में सुखपूर्वक (मनमाना) घूमने लगा ॥ २४ ॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ २५ ॥

वह मृगोत्तम बार बार आश्रम में जाता और बार बार लौट आता था । फिर कुछ ही देर बाद वह आश्रम में जाता और थोड़े ही देर बाद वहाँ से फिर लौट आता था । इस प्रकार वह मृग आश्रम में घूम फिर रहा था ॥ २५ ॥

विक्रीडंश्च क्वचिद्भूमौ पुनरेव निषीदति ।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति ॥ २६ ॥

वह कुछ काल तक कुलेल करता और फिर क्षण भर विश्राम करता । फिर आश्रम के द्वार पर आ कर मृगों के झुंडों में चला जाता ॥२६॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते ।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन्राक्षसो मृगतां गतः ॥ २७ ॥

और मृगों के झुंडों के पीछे पीछे हो लेता और फिर लौट आता था । उस राक्षस ने जानकी के दर्शन की इच्छा से मृग का रूप धारण किया था ॥ २७ ॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन्[1] ।
समुद्वीक्ष्य च तं सर्वे मृगा ह्यन्ये वनेचराः ॥ २८ ॥

वह चित्र विचित्र मण्डलाकार गतियों से (अर्थात् चक्कर लगा कर) घूम रहा था । उसको देख हिरन तथा अन्य वनचर जन्तु॥२८॥

उपागम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश ।
राक्षसः सोऽपि तान्वन्यान्मृगान्मृगवधे रतः ॥ २९ ॥

उसके पास आ कर उसके शरीर को सूँघते और सूँघ कर इधर उधर भाग जाते थे । वह पशुघाती राक्षस भी ॥२९॥

प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन् ।
तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥ ३० ॥

अपना भाव छिपाने के लिये उनको छू कर के भी वह उनको खाता न था । उस समय सुघर नेत्रोंवाली सीता जी ॥३०॥

कुसुमापचयव्यग्रा पादपानभ्यवर्तत ।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा ॥ ३१ ॥

जानकी जी फूल तोड़ने में व्यग्र कभी कनेर, कभी अशोक और कभी आम के वृक्षों के नीचे घूम रही थीं ॥३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।
अनर्हाऽरण्यवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम् ॥ ३२ ॥

वनवास करने के अयोग्य, सुन्दर मुखवाली सीता जी ने फूल तोड़ने के लिये इधर उधर घूमते समय उस रत्नमय मृग को देखा ॥३२॥

मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।
सा तं रुचिरदन्तोष्ठी रूप्यधातुतनूरुहम् ॥ ३३ ॥

सुन्दर दाँतों और अधर वाली जानकी जी ने उस मणि मुक्ताओं से सर्वाङ्ग-विभूषित और रुपैले रोओं से चमकते हुए मृग को ॥३३॥

विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत ।
स च तां रामदयितां पश्यन्मायामयो मृगः ॥ ३४ ॥

आश्चर्य चकित हो बड़े प्यार से देखा । वह बनावटी हिरन भी श्रीरामचन्द्र की प्यारी जानकी को देखता रहा ॥३४॥

विचचार पुनश्चित्रं दीपयन्निव तद्वनम् ।
अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा नानारत्नमयं मृगम् ।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

फिर वह विचित्र मृग उस वन को सुशोभित करता हुआ वहाँ घूमने लगा। उस अपूर्व एवं अनेक रत्नमय मृग को देख, जनकदुलारी जानकी जी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सा तं संप्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमान्यपचिन्वती ।
हैमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥

फूलों को चुनती हुई सीता जी ने उस मृग को देखा, जो सोने और रूपे के रंग वाली कोखों से सुशोभित था ॥ १ ॥

प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्ट[1]हाटक[2]वर्णिनी ।
भर्तारमभिचक्रन्द[3] लक्ष्मणं चापि सायुधम् ॥ २ ॥

सुन्दर अंगों वाली तथा विशुद्ध सुवर्ण जैसे रंग के शरीरवाली सीता, उस हिरन को देख, अति आनन्दित हुई और आयुध ले कर आने के लिये श्रीराम और लक्ष्मण को उच्च स्वर से बुलाया ॥२॥

तयाऽऽहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥ ३ ॥

---

१ मृष्टं—शुद्धं । (गो०) २ हाटकं—सुवर्णं । (गो०)। ३ अभिचक्रन्द—उच्चैराह्वयत् । (गो०)

सीता जी के इस प्रकार पुकारने पर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस ओर ताकते हुए वहां गये और उन्होंने भी उस मृग को देखा ॥३॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ४ ॥

उस मृग को देख, लक्ष्मण के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—मुझे तो मृगरूपधारी यह निशाचर मारीच जान पड़ता है ॥४॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना[1] वने ।
अनेन निहता राजन्राजानः कामरूपिणा ॥ ५ ॥

हे राम ! इस पापी दुष्ट राक्षस ने मृगरूप धारण कर के परम हर्षित हो, शिकार खेलने को वन में आये हुए अनेक राजाओं को मारा है ॥५॥

अस्य मायाविदो मायामृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत्पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसन्निभम् ॥ ६ ॥

इस मायावी ने, इस समय माया के बल से मृग का रूप धारण किया है । हे पुरुषसिंह ! सूर्य की तरह (अथवा) गन्धर्वनगर की तरह यह मृग परम दीप्ति युक्त जान पड़ता है ॥ ६ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥ ७ ॥

---

१ उपाधिना—मृगरूपछलेन । (रा०)

हे पृथिवीनाथ ! हे राघव ! इस धरणीतल पर तो इस प्रकार का रत्नों से भूषित विचित्र मृग कोई है नहीं । अतः निस्सन्देह यह सब बनावट है ॥ ७ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।
उवाच सीता संहृष्टा चर्मणा हृतचेतना ॥ ८ ॥

छद्मवेषधारी मृग को देखने से हतबुद्धि हुई सीता, लक्ष्मण को बोलने से रोक कर और परम प्रसन्न हो एवं मुसकरा कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ ८ ॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मगो हरति मे मनः ।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ ९ ॥

हे आर्यपुत्र ! यह परम मनोहर मृग मेरे मन को हरे लेता है । सो हे महाबाहो ! इसे तुम ले आओ। मैं इसके साथ खेला करूँगी ॥९॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।
मृगाश्चरन्ति सहिताः सृमराश्चमरास्तथा ॥ १० ॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा ।
विचरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा मनोहराः ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! हमारे इस आश्रम में बहुत से मनोहर एवं श्रेष्ठ रूपवाले मृग, सृमर ऋच्छ, पृषत, वानर और किन्नरादि जातियों के अनेक जीव घूमा फिरा करते हैं ॥१०॥ ११॥

न चास्य सदृशो राजन्दृष्टपूर्वो मृगः पुरा ।
तेजसा[1] क्षमया[2] दीप्त्या[3] यथाऽयं मृगसत्तमः ॥१२॥

---

१ तेजसा—वर्णेन । (गो०) २ क्षमया—अत्वरया । (गो०) ३ दीप्त्या—शरीर प्रकाशेन ।(गो०)

किन्तु हे राजन्! जैसा रंग और जैसी चमक इस उत्तम हिरन में है और जैसा यह शान्त स्वभाव है, वैसा हिरन तो मैंने दूसरा पहले कभी नहीं देखा ॥१२॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नबिन्दुसमाचितः ।
द्योतयन्वनमव्यग्र शोभते शशिसन्निभः ॥ १३ ॥

इसका सारा शरीर कैसा रंग विरंगा है, बीच बीच में रत्नों की बिंदुकी कैसी शोभा दे रही हैं। यह मृग चन्द्रमा के समान वन-भूमि को शान्तभाव से कैसा प्रकाशित कर रहा है ॥ १३ ॥

अहो [1]रूपमहो लक्ष्मी:[2] स्वरसंपच्च शोभना ।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १४ ॥

आहा! देखो तो इसके शरीर का रंग और कान्ति कैसी अच्छी है और कैसा मनोहर इसका शब्द है। हे राम! यह रंग विरंगा अद्भुत हिरन मेरे मन को हरे लेता है ॥ १४ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव ।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥ १५ ॥

यदि तुम कहीं इसे जीता ही पकड़ लेते, तो यह एक बड़ा आश्चर्य-प्रद पदार्थ आश्रम में रह कर, विस्मय उत्पन्न किया करता ॥ १५ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः ।
अन्तःपुरविभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥ १६ ॥

फिर वनवास की अवधि बीतने पर जब हम लोग अयोध्या चलेंगे ; तब यह मृग हमारे रनवास की शोभा होगा॥१६॥

---

१ रूपं—वर्णः । (गो०) १ लक्ष्मीः—कान्तिः । (गो०)

भरतस्यार्यपुत्रस्त श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
[1]मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! इस उत्तम मृग को देख देख कर भरत, आप, मेरी सास और मैं स्वयं, विस्मित हुआ करूँगी ॥१७॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः ।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं मे भविष्यति ॥ १८ ॥

यदि यह मृगोत्तम जीता न भी पकड़ मिले, तो हे पुरुषसिंह ! इसका चाम भी मुझे बहुत पसंद आवेगा ॥१८॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।
[2]शष्पबृस्यां [3]विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम्[4] ॥१९॥

यदि यह मारा ही गया तो भी इसकी सुनहली चाम की चटाई पर बिछा कर. मैं बैठना पसन्द करूँगी ॥१९॥

[5]कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं[6] मतम् ।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २० ॥

यद्यपि यह मैं जानती हूँ कि, मनमानी चीज़ पर मन चला कर, उसकी प्राप्ति के लिये पति को प्रेरणा करना, सती स्त्रियों के लिये सर्वथा अनुचित और भयङ्कर कृत्य है, तथापि इस मृग की अद्भुत देह ने मुझे अत्यन्त विस्मित कर दिया है ॥ २० ॥

---

१ मृगरूपं—प्रशस्तमृगः । (गो०) २ शष्पबृस्यां—बालतृणैः कृतायां बृस्यां । (गो०) ३ उपासितुं—स्थातुं । (गो०) ४ विनीतायां—आस्तृतायां । (गो०) ५ कामवृत्तं—भर्तृप्रेरणरूपस्वेच्छाव्यापारः । (गो०) ६ असदृशं—अयुक्तं । (गो०)

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा ।
तरुणादित्यवर्णेन लक्षत्रपथ[1]वर्चसा ॥ २१ ॥
बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम् ।
एवं सीतावचः श्रुत्वा तं दृष्ट्वा मृगमद्भुतम् ॥ २२ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी भी उस सुवर्ण रोम वाले, मणिभूषित सींगों वाले, तरुण सूर्य के समान कान्ति वाले और आकाश के समान रंग वाले मृग को देख, विस्मित हुए । सीता के ऐसे वचन सुन और उस अद्भुत मृग को देख, ॥ २१ ॥ २२ ॥

लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मन उस मृग पर लुभा गया । वे सीता जी के कथन को मान और प्रसन्न हो अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥२३॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहां मृगगतामिमाम् ।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो तो सीता इस मृग के सौन्दर्य पर कैसी लट्टू हो गयी है । सचमुच अब ऐसा मृग मिलना दुर्लभ है ॥२४॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये ।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित्समो मृगः ॥ २५ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! जब ऐसा मृग नन्दनवन और चैत्ररथवन ही में नहीं है, तब पृथिवी पर ऐसा मृग मिलना सर्वथा दुर्लभ है ॥ २५ ॥

---

१ नक्षत्रपथः—छायापथः । (गो०)

[1]प्रतिलोमानुलोमैश्च रुचिरा रोमराजयः ।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः[2] कनकबिन्दुभिः ॥ २६ ॥

इस मृग के शरीर पर आड़ी तिरछी सुन्दर रोमावली सुवर्ण बिन्दुओं से भूषित हो, कैसी अद्भुत जान पड़ती हैं ॥२६॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।
जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतह्रदाम् ॥ २७ ॥

जैसे मेघ में बिजली कौंधे, वैसे ही जमुहाई लेने के समय इसके मुख से अग्निशिखा के समान लप लप करती जीभ निकलती है ॥२७॥

मसारगल्लर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः ।
कस्य नाभिरूपो[4]ऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २८ ॥

इसका मुख, नीलम के प्याले जैसा है और इसका पेट शङ्ख और मोती की तरह है । भला ऐसा सुन्दर मृग किसके मन को न लुभावेगा अथवा ऐसा सुन्दर मृग देख कौन लोभायमान न होगा? ॥२८॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयं प्रभो ।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥ २९ ॥

इसका सुवर्णनिर्मित और नाना रत्नखचित दिव्य रूप देख, किसका मन विस्मित न होगा ॥ २९ ॥

[किं पुनर्मैथिली सीता बाला नारी न विस्मयेत् ।]
मांसहेतोरपि मृगान्विहारार्थं च धन्विनः ॥ ३० ॥

---

१ प्रतिलोमाः—तिर्यग्भूताः । (गो०) २ अनुलोमाः—अनुकूलाः (गो०)
३ चित्राः—आश्चर्यभूताः । (गो०) ४ अभिरूपः—सुन्दरः । (गो०)

फिर भला इसको देख मैथिली सीता, जो एक स्त्री है, क्यों न विस्मित होगी। हे लक्ष्मण! धनुर्धारी राजा लोग, मांस और विनोद के लिये भी आखेट में मृगों को मारते हैं ॥३०॥

घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने ।
धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने ॥ ३१ ॥

राजाओं को शिकार के लिये बड़े बड़े वनों में घूमने फिरने पर बहुमूल्य पदार्थ भी मिल जाते हैं ॥ ३१ ॥

धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः ।
तत्सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम् ॥ ३२ ॥

अनेक प्रकार की धातुएँ, तरह तरह की मणियाँ, रत्न और स्वर्ण उनको मिलते हैं। इन्हीं श्रेष्ठ पदार्थों से राजा लोग अपने धनागार की वृद्धि करते हैं ॥ ३२ ॥

मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण ।
अर्थी येनार्थकृत्येन संप्रमत्यविचारयन् ॥ ३३ ॥

हे लक्ष्मण! इसी लिये वन में सब लोगों की इच्छा उसी प्रकार पूरी होती है, जिस प्रकार शुक्र की इच्छा पूरी हुई थी। अर्थ के लिये उद्योग करने में जो अर्थ अनायास मिल जाय ॥ ३३ ॥

तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याश्च लक्ष्मण ।
एतस्य मृगरत्नस्य[1] परार्ध्यै[2] काञ्चनत्वचि ॥ ३४ ॥
उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा ।
न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी ॥ ३५ ॥

---

१ मृगरत्नस्य—मृगश्रेष्ठस्य । (गो०) २ परार्ध्ये—श्लाघ्ये । (गो०)

भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शेनेति मे मतिः ।
एष चैव मृगः श्रीमान्यश्च दिव्यो नभश्चरः[1] ॥ ३६ ॥

हे लक्ष्मण ! उसी अर्थ को अर्थशास्त्रज्ञ अर्थ कहते हैं । अतः इस श्रेष्ठ मृग की श्लाघ्य सुनहली खाल पर सुन्दर कमर वाली जानकी मेरे साथ बैठेगी । मेरी समझ में इस मृग की खाल के बराबर छूने में कोमल, न तो कादली, न प्रियकी, न प्रवेणी न चाविकी जाति के हिरनों की खाल हो सकती है । यह मृग और आकाशचारी दिव्य ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ।
यदि वाऽयं तथा यन्मां भवेद्ब्रूदसि लक्ष्मण ॥ ३७ ॥

मृगशिरा नक्षत्र रूपी मृग—दोनों ही अत्यन्त शोभायुक्त हैं । हे लक्ष्मण ! यदि तुम्हारा कहना ही ठीक हो ॥ ३७ ॥

मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ।
एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना[2] ॥ ३८ ॥

और यह राक्षसी माया ही हो, तो भी इसका वध करना मेरा कर्त्तव्य है । क्योंकि इस कसाई मारीच ने दुष्टतापूर्वक, ॥ ३८ ॥

वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुङ्गवाः ।
उत्थाय[3] बहवो येन मृगयायां जनाधिपाः ॥ ३९ ॥

वन में विचरते हुए पहिले अनेक श्रेष्ठ मुनियों का वध किया है और वन में प्रकट हो, शिकार खेलने के लिये आये हुए अनेक राजाओं को जो, ॥ ३९ ॥

---

१ नभश्चरोमृगः —मृगशीर्षः । (गो०) २ अकृतात्मना—दुष्टभावेन । (गो०)
३ उत्थाय—प्रादुर्भूय । (गो०)

निहताः परमेष्वासास्तस्माद्ध्वस्त्वयं मृगः ।
पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः ॥ ४० ॥

बड़े बड़े धनुर्धारी थे, इसने वध किया है। इसलिये भी यह मृग-रूपधारी मारीच मारने योग्य है। पूर्वकाल में वातापी नामक राक्षस तपस्वियों को धोखा दे कर, ॥ ४० ॥

उदरस्थो द्विजान्हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ।
स कदाचिच्चिरात्लोभादाससाद महामुनिम् ॥ ४१ ॥

और उनके पेट में घुस उनको वैसे ही मार डाला करता था, जैसे गर्भस्थ खच्चरी अपनी माता को मार डालती है, सो उस राक्षस ने बहुत दिनों बाद, लोभ में पड़, अगस्त्य जी पर हाथ साफ करना चाहा ॥ ४१ ॥

अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्षस्तस्य बभूव ह ।
समुत्थाने[1] च तद्रूपं[2] कर्तुकामं समीक्ष्य तम् ॥ ४२ ॥
उत्स्मयित्वा तु भगवान्वातापिमिदमब्रवीत् ।
त्वयाविगण्य[3] वातापे परिभूताः स्वतेजसा ॥४३॥
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ।
तदेतन्न भवेद्रक्षो वातापिरिवलक्ष्मण ॥ ४४ ॥

वह राक्षस अगस्त्य मुनि का भक्ष्य बन गया। फिर श्राद्ध के अन्त में अपना पूर्व रूप धारण करने की इच्छा उस राक्षस की देख अगस्त्य जी ने हँस कर उससे यह कहा— हे वातापे! तूने बिना

---

१ समुत्थाने—श्राद्धान्ते । (गो०) २ तद्रूपं—रक्षोरूपं । (गो०)
३ अविगण्य—अविचार्य । (गो०)

सोचे समझे इस जीवलोक में बहुत ब्राह्मणों को अपने छल से नष्ट किया है, अतः तू मेरे पेट में जीर्ण हो गया। हे लक्ष्मण! वातापी की तरह ही क्या यह राक्षस नहीं है? ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ।
भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मां गतः ॥ ४५ ॥

जब यह मेरे जैसे जितेन्द्रिय और सदा धर्म में तत्पर रहने वाले का तिरस्कार करता है, तब यह उसी तरह मेरे हाथ से मारा जायगा, जिस प्रकार अगस्त्य द्वारा वातापी मारा गया था ॥ ४५ ॥

इह त्वं भव सन्नद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम् ।
अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन ॥ ४६ ॥

अब तुम तो शस्त्र ले और सावधान रह कर, जानकी की रक्षा करो। क्योंकि जानकी की रक्षा करना हमारा अवश्य करणीय कार्य है ॥ ४६ ॥

अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्यामि वा मृगम् ।
यावद्गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम् ॥ ४७ ॥

अब मैं या तो इस मृग को पकड़ कर ही लाता हूँ अथवा इसका वध ही करता हूँ। हे लक्ष्मण! अब मैं इस मृग को लाने के लिये शीघ्रता पूर्वक जाता हूँ ॥ ४७ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्यां मृगत्वचि गतस्पृहाम् ।
त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ ४८ ॥

देखो लक्ष्मण सीता जी की लालसा इस मृगचर्म में कितनी अधिक है। इससे यह हिरन अपनी खाल के कारण आज अवश्य मारा जायगा ॥ ४८ ॥

अप्रमत्तेन ते भद्रमाश्रमस्थेन सीतया ।
यावत्पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम् ।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं इस मृग को एक ही बाण से मार और इसका चाम ले लौट कर न आऊँ, तब तक तुम सावधानता पूर्वक इस आश्रम में सीता के पास रहो । मैं शीघ्र ही लौट कर आता हूँ ॥ ४९ ॥

[1]प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण ।
भवाप्रमत्तः परिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५० ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्ग ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जानकी की रक्षा के लिये अत्यन्त बली और चतुर जटायु के साथ सब से सदा चौकन्ने रह कर, यहाँ सावधान बने रहना ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का तेतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ प्रदक्षिणेन—अत्यन्तसमर्थेन । (गो०)

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः ।
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम्[1] ॥ १ ॥

भाई को इस प्रकार समझा कर, श्रीरामचन्द्र ने सोने की मूठ लगी हुई तलवार ली ॥ १ ॥

ततस्त्र्यवनतं चापमादायात्मविभूषणम् ।
आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

फिर तीन जगह से झुका हुआ धनुष, जो उनका आभूषण था, ले और दो तरकस पीठ पर बांध, प्रचण्ड पराक्रमी श्रीरामचन्द्र रवाना हुए ॥ २ ॥

तं वञ्चयानो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै ।
बभूवान्तर्हितस्त्रासात्पुनः सन्दर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, धोखेबाज़ मारीच कुछ देर के लिये छिप गया । पीछे से फिर दिखलाई दिया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।
तं स्म पश्यति रूपेण द्योतमानमिवाग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी खड्ग कमर में बाँधे और धनुष हाथ में लिये हुए, जिधर वह देख पड़ा उसी ओर चले । मारीच कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र जी को अपने समाने ही देखता था ॥ ४ ॥

---

१ त्सरुः—खड्गमुष्टिः । (गो०)

अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिं महावने ।
अतिवृत्तमिषोः पातात्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥

कभी वह मृग धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को बार बार देख कर उस महावन में दौड़ लगाता । कभी कुलांचें मार कर, दूर हो जाता और कभी अति निकट आ उनको लुभाता ॥ ५ ॥

शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरे ।
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥

कभी शङ्कित और घबड़ा कर वह इतनी ऊँची लङ्कांग भरता कि, मानों वह आकाश में चला जायगा । कभी देखते ही देखते अदृश्य हो जाता और कभी वन में दूर जा निकलता ॥ ६ ॥

छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।
मुहूर्तां देव ददृशे मुहुर्दूरात्प्रकाशते ॥ ७ ॥

कभी वह (पवन से) छितराये हुए मेघों से घिरे हुए शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह छिप जाता और मुहुर्त्त बाद ही फिर दूर पर दिखलाई पड़ता था ॥ ७ ॥

दर्शनादर्शनादेवं सोऽपाकर्षत राघवम् ।
सुदूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस प्रकार बार बार छिपता और प्रगट होता हुआ मृग रूपधारी मारीच, श्रीरामचन्द्र जी को आश्रम से दूर ले गया ॥ ८ ॥

आसीत्क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशः[1]तेन मोहितः[2] ।
अथावतस्थे *सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

---

१ विवशः कुतूहलपरवशः । (गो०) २ मोहितः—वञ्चितः । (गो०)

* पाठान्तरे—"सम्भ्रान्तः ।"

श्रीरामचन्द्र जी कुतूहलवश हो, मारीच से जब इस प्रकार कहे गये, तब वे क्रुद्ध और थक जाने के कारण छायायुक्त तृणमय स्थान पर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।
मृगैः परिवृतो वन्यैरदूरात्प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

वह मृगरूपधारी निशाचर श्रीरामचन्द्र जी को भुलावा देने के लिये, अन्य मृगों में जा मिला और समीप ही देख पड़ा ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वैनं पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संत्रासात्पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

जब उसने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी मुझे पकड़ा ही चाहते हैं, तब वह फिर भागा और डर कर फिर छिप गया ॥ ११ ॥

पुनरेव ततो दूराद्वृक्षषण्डान्निरःसृतम् ।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

फिर वह बहुत दूर जा कर वृक्ष समूह से निकलता हुआ दिखलाई पड़ा । महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यह देख कर अब उस मृग को मार डालना ही निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशंज्वलन्तमरिमर्दनः ॥ १३ ॥

उन्होंने रोष में भर कर, बड़े वेग से तरकस से सूर्य की तरह चमचमाता और शत्रु का नाश करने वाला एक बाण निकाला ॥ १३ ॥

सन्धाय सुदृढ़े चापे विकृष्य बलवद्बली ।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥

और उसको अपने मज़बूत धनुष पर चढ़ा और रोद्र को बल पूर्वक खींच, और हिरन का निशाना बांध, फुंसकारते हुए साँप की तरह ॥ १४ ॥

सुभेन्द्र ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।
शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥

छोड़ा । ब्रह्मा के बनाये हुए और चमचमाते हुए उस उत्तम बाण ने जा कर, उस मृग के शरीर को विदीर्ण कर डाला ॥ १५ ॥

मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसन्निभः ।
तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत्स शरातुरः ॥ १६ ॥

उस बज्र तुल्य बाण के लगने से मारीच एक ताड़ वृक्ष के बराबर ऊँचा उछल कर और बाण की चोट से व्यथित हो, ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १६ ॥

विनदन्भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः ।
म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥

ज़मीन पर गिर अल्प समय जीने वाले मारीच ने भयङ्कर नाद किया । मरते समय मारीच ने बनावटी (हिरन के) शरीर को त्याग दिया ॥ १७ ॥

स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।
इह प्रस्थापयेत्सीता शून्ये तां रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

उस समय वह रावण की बात याद कर, विचारने लगा कि, सीता क्यों कर लक्ष्मण को यहां भेजे, जिससे सीता को एकान्त में पा, रावण हर कर ले जाय ॥ १८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वरम् ।
सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

उपयुक्त अवसर जान, मारीच ने ठीक श्रीरामचन्द्र के कण्ठस्वर का अनुकरण कर, चिल्ला कर कहा—हा सीते ! हा लक्ष्मण ! ॥१९॥

तेन मर्मणि निर्भिन्नः शरेणानुपमेन च ।
मृगरूपं तु तत्त्यक्त्वा राक्षसं रूपमात्मनः ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र जी के अनुपम बाण से उसका मर्मस्थल ऐसा विदीर्ण हो गया था कि, वह फिर मृग का रूप धारण न कर सका और अपने राक्षस रूप में प्रकट हो गया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायो मारीचो जीवितं त्यजन् ।
ततो विचित्रकेयूरः सर्वाभरणभूषितः ॥ २१ ॥

मरने के समय मारीच विशाल शरीरधारी हो गया और उस समय विचित्र केयूरादि सब आभूषण धारण किये हुए वह देख पड़ा ॥ २१ ॥

हेममाली महादंष्ट्रो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ २२ ॥

बाण के लगने से वह सुवर्ण की माला पहिने हुए बड़े बड़े दाँतों वाला राक्षस बन गया । उस भयङ्कर राक्षस को पृथिवी पर गिरा हुआ देख ॥ २२ ॥

रामोरुधिरसिक्ताङ्गं वेष्टमानं महीतले ।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २३ ॥

और लोहू से तरबतर जमीन पर लोटता हुआ देख, श्रीरामचन्द्र मन ही मन सीता की चिन्ता करने लगे । उस समय उन्हें लक्ष्मण की कही बात याद आयी ॥ २३ ॥

मारीचस्यैव मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।
तत्तथा ह्यभवच्चायमारीचोऽयं मया हतः ॥ २४ ॥

वे सोचने लगे कि, देखो लक्ष्मण ने पहले ही कहा था कि, यह मारीच की माया है । सो उन्हींकी बात ठीक निकली और यह मारीच मेरे द्वारा मारा गया ॥ २४ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य च महास्वनम् ।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥२५॥

यह राक्षस "हा ! सीते हा लक्ष्मण ! " चिल्लता हुआ मरा है । सो जब ये शब्द सीता ने सुने होंगे, तब उसकी क्या दशा हुई होगी ॥ २५ ॥

लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।
इति सञ्चिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥२६॥

इससे महाबाहु लक्ष्मण की भी न मालूम क्या दशा हुई होगी । यह सोचने से डर के मारे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र के शरीर के रोए खड़े हो गये ॥ २६ ॥

तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वरम् ॥ २७ ॥

उस समय मृगरूपी मारीच को मार और उसका इस प्रकार चिल्लना सुन कर, वे बहुत डरे और दुःखी हुए ॥ २७ ॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः ॥
त्वरमाणो जनस्थानं [1]ससाराभिमुखस्तदा ॥ २८ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ ससार—ययौ (गो०)

तदनन्तर (श्रीरामचन्द्र जी) एक और मृग को मार और उसका मांस ले शीघ्रतापूर्वक जनस्थान की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने ।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥

जब जानकी जी ने उस वन में पति के कण्ठस्वर के सदृश स्वर में आर्त्तनाद सुना, तब वे लक्ष्मण से बोलीं कि, जा कर तुम श्रीरामचन्द्र को देखो तो ॥ १ ॥

न हि मे हृदयं स्थाने[1] जीवितं[2] वाऽवतिष्ठते* ।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥

इस समय मेरा जी ठिकाने नहीं; चित्त न जाने कैसा हो रहा है । क्योंकि मैंने परम पीड़ित और अत्यन्त चिल्लाते हुए श्रीरामचन्द्र का शब्द सुना है ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि ।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्[3] ॥ ३ ॥

---

१ स्थाने—स्वस्थाने । (गो०) २ जीवितं—प्राणः । (गो०) ३ शरणैषिणं—रक्षकार्थिनं । (गो०) * पाठान्तरे—"तिष्ठति ।"

अतः तुम वन में जा कर इस प्रकार आर्त्तनाद करने वाले अपने भाई की रक्षा करो और दौड़ कर शीघ्र जाओ, क्योंकि उनको इस समय रक्षक की आवश्यकता है ॥ ३ ॥

रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।
न जगाम तथेत्युक्त्वा तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥ ४ ॥

जान पड़ता है, वे राक्षसों के वश में जा पड़े हैं, इसीसे वे सिंहों के बीच में पड़े हुए बैल की तरह विकल हैं। सीता जी के इस कहने पर भी लक्ष्मण जी न गये। क्योंकि उनको उनके भाई श्रीरामचन्द्र जाते समय आश्रम में रह कर, सीता की रखवाली करने की आज्ञा दे गये थे ॥ ४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र कुपिता जनकात्मजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥

तब तो सीता जी ने क्रोध कर लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण ! तुम अपने भाई के मित्ररूपी शत्रु हो ॥ ५ ॥

यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपत्स्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

क्योंकि इस दशा में भी तुम भाई के समीप नहीं जाते। मैंने जान लिया, तुम मेरे लिये अपने भाई का विनाश चाहते हो ॥ ६ ॥

लोभान्मम कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

तुम निश्चय ही मुझे हथियाने के लोभ से श्रीरामचन्द्र जी के पास नहीं जाते। तुमको अपने भाई का दुःखी होना अच्छा लगता है। अपने भाई में तुम्हारी ज़रा भी प्रीति नहीं है ॥ ७ ॥

तेन तिष्ठसि निश्चिन्तमपरथ्यमहाद्युतिम् ।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥ ८ ॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः ।
इति ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकपरिप्लुताम् ॥ ९ ॥

(यदि ऐसा न होता तो) तुम क्या उस महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र के बिना इसी प्रकार निश्चिन्त और स्थिर बैठे रहते । देखो जिन श्रीरामचन्द्र जी के अधीन में हो कर, तुम वन में आये हो, उन्हीं श्रीरामचन्द्र जी के प्राण जब सङ्कट में पड़े हैं, तब मैं यहाँ रह कर ही क्या करूँगी (अर्थात् यदि तुम न जाओगे तो मैं जाऊँगी) । जब जानकी जी ने आँखों में आँसू भर कर, यह कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव ।
पन्नगासुरगन्धर्वदेवमानुषराक्षसैः ॥ १० ॥

तब मृगी के समान डरी हुई सीता जी से लक्ष्मण जी बोले कि, पन्नग, असुर, गन्धर्व, देवता, मनुष्य, राक्षस ॥ १० ॥

अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः ।
देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥११॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च ।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥
यो रामं प्रति युध्येत समरे वासवोपमम् ।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

कोई भी तुम्हारे पति (श्रीरामचन्द्र जी) को नहीं जीत सकता । इसमें कुछ भी सन्देह मत करना । हे सीते ! हे शोभने ! देवताओं,

मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों, भयङ्कर वानरों में कोई भी ऐसा नहीं, जो इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र के समाने रणक्षेत्र में खड़ा रह सके। युद्धक्षेत्र में श्रीरामचन्द्र अवध्य हैं। अतः तुमको ऐसा कहना उचित नहीं ॥१२॥१३॥

न त्वामिन्दीवरश्यामे हातुमुत्सहे राघवं विना।
अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र की अनुपस्थिति में, मैं तुम्हें इस वन में अकेली छोड़ कर नहीं जा सकता। बड़े बड़े बलवानों की भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र के बल को रोक सकें ॥१४॥

त्रिभिर्लोकैः समुद्युक्तैः सेश्वरैरपि सामरैः।
हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु सन्तापस्त्यज्यतामयम् ॥१५॥

अगर तीनों लोक और समस्त देवताओं सहित इन्द्र इकट्ठे हो जाँय, तो भी श्रीरामचन्द्र का सामना नहीं कर सकते। अतः तुम सन्ताप को दूर कर, आनन्दित हो ॥ १५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम्।
न च तस्य स्वरो व्यक्तं मायया केनचित्कृतः ॥ १६ ॥

उस उत्तम मृग को मार तुम्हारे पति शीघ्र आ जाँयगे। जो शब्द तुमने सुना है, वह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं है, यह तो किसी का बनावटी शब्द है ॥ १६ ॥

गन्धर्वनगरप्रख्या माया सा तस्य रक्षसः।
न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
कृतवैराश्च वैदेहि वयमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥

खरस्य निधनादेव जनस्थानवधं प्रति ।
राक्षसा विविधा वाचो विसृजन्ति[1] महावने ॥ १९ ॥

बल्कि गन्धर्व-नगर की तरह यह उस राक्षस की माया है। हे सीते ! महात्मा श्रीरामचन्द्र जी मुझको, तुम्हें धरोहर की तरह सौंप गये हैं। अतः हे वरारोहे ! मैं तुम्हें अकेली छोड़ कर जाना नहीं चाहता। (हे वैदेही ! एक बात और है) जनस्थाननिवासी खरादि राक्षसों का वध करने से राक्षसों से हमारा बैर हो गया है। सो इस महावन में राक्षस लोग हम लोगों को धोखा देने के लिये भाँति भाँति की बोलियाँ बोला करते हैं ॥१७॥१८॥१९॥

[2]हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।
लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥

और साधु जनों को पीड़ित करना राक्षसों का एक प्रकार का खेल है। अतः तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये ॥ २० ॥

अब्रवीत्परूषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।
[3]अनार्य[4]करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

---

१ वाचो विसृजन्ति अस्मन्मोहनार्थमितिशेषः । (गो०) २ हिंसैव साधुजन पीडैव विहारोयेषां । (रा०) ३ अनार्य—दुःशील । (गो०) ४ अकरुणारम्भ—दयाप्रसक्ति-रहित । (गो०)

और उन्होंने लक्ष्मण से, जो यथार्थ बात कह रहे थे, कठोर वचन कहते हुए कहा—हे दुःशील कठोर हृदय ! हे क्रूर स्वभाव और कुलकलङ्क ! मैं जान गयी कि, श्रीरामचन्द्र जी का विपद्ग्रस्त होना तुझको भला लगता है। तभी तो तू श्रीरामचन्द्र जी को विपद्ग्रस्त देख ऐसा कहता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

नैतच्चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुझ जैसे घातक और सदैव छिपे छिपे व्यवहार करने वाले वैरी को यदि ऐसी निन्द्य पापबुद्धि हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

लक्ष्मण ! तेरा स्वभाव बड़ा खोटा है, इसीसे तू अकेला श्रीराम के साथ वन में आया है। अथवा छिप कर भरत का भेजा हुआ तू श्रीराम के साथ आया है ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्यामं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः ॥ २६ ॥

सो लक्ष्मण ! याद रखना तेरी और भरत की यह साध कभी पूरी होने वाली नहीं। भला मैं नीलोत्पल श्याम और कमल-नयन श्रीरामचन्द्र को छोड़, क्यों क्षुद्र जन को अपना पति बनाऊँगी। मैं तो तेरे सामने ही अपने प्राण निश्चय ही दे दूँगी ॥ २५ ॥ २६ ॥

रामं विना क्षणमपि न हि जीवामि भूतले ।
इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥

श्रीराम के विना इस भूतल पर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती । जब जानकी जी ने, ऐसी रोमाञ्चकारी कठोर बातें कहीं ॥ २७ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिर्विजितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर सीता से कहा—आप मेरी साक्षात् देवता हैं, (अर्थात् पूज्या हैं) अतः मैं आपकी इन बातों का उत्तर नहीं दे सकता ॥ २८ ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेवं लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

हे मैथिली ! आपने जो ये अनुचित बातें कही हैं, सो स्त्रियों के लिये इनका कहना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि संसार में स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ २९ ॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥

लोक में देखा जाता है कि, स्त्रियाँ धर्म को छोड़ने वालीं, चञ्चल, उग्रस्वभाव और आपस में भेदभाव डालने वाली होती हैं । किन्तु हे जानकी ! ऐसे वाक्य मैं सह नहीं सकता ॥ ३० ॥

श्रोत्रयोरुभयोर्मेऽद्य तप्तनाराचसन्निभम् ।
उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिभूता वनेचराः ॥ ३१ ॥

अत्यन्त तपाये हुए बाणों की तरह तुम्हारे ये वचन मेरे दोनों कानों को विद्ध कर रहे हैं। अच्छा सब वनवासी देवता गण मेरे साक्षी बन कर सुनें ॥ ३१ ॥

न्यायवादी यथान्यायमुक्ताऽहं परुषं त्वया ।
धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥

मेरे यथार्थ कहने पर भी तुमने मुझसे कठोर वचन कहे। अतः तुमको धिक्कार है। जान पड़ता है, आज तुम्हारा अनिष्ट होने वाला है, तभी तुमको मुझ पर ऐसा निर्मूल सन्देह हुआ है ॥ ३२ ॥

स्त्रीत्वं दुष्टं स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गमिष्ये यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

हे सीते ! इस समय तुमने स्त्रियोचित दुष्ट स्वभाव दिखलाया है। मैं तो श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा मान, तुम्हें अकेली छोड़ कर, नहीं जाता था। किन्तु हे वरानने ! तुम्हारा मङ्गल हो ! लो मैं अब श्रीरामचन्द्र के पास जाता हूँ ॥ ३३ ॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३४ ॥

हे विशालाक्षि ! समस्त वनदेवता तुम्हारी रक्षा करें। इस समय बड़े बुरे बुरे शकुन मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३५ ॥

क्या मैं श्रीरामचन्द्र सहित लौट, फिर तुम्हें (यहाँ) देख सकूँगा ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा रुदन्ती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रं बाष्पपरिप्लुता ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण की ये बातें सुन, रोती हुई जानकी जी ने लक्ष्मण जी को उत्तर देते हुए आँखों में आंसू भर, फिर कठोर वचन कहे ॥ ३६ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि विना रामेण लक्ष्मण ।
अवाक्शिरश्चेऽथ वा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मण ! श्रीराम के विना मैं गोदावरी में डूब मरूँगी अथवा गले में फाँसी लगा कर मर जाऊँगी अथवा किसी ऊँचे स्थान से गिर कर प्राण दे दूँगी ॥ ३७ ॥

पिबाम्यहं विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि* पुरुषं स्पृशे ॥ ३८ ॥

अथवा हलाहल विष पीलूँगी अथवा अग्नि में कूद कर भस्म हो जाऊँगी; किन्तु श्रीरामचन्द्र को छोड़, परपुरुष को स्पर्श कभी भी न करूँगी ॥ ३८ ॥

इति लक्ष्मणमाक्रुश्य सीता दुःखसमन्विता ।
पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण से इस प्रकार कह और शोक से पीड़ित हो सीता दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर रोने लगीं ॥ ३९ ॥

तमार्तरूपां विमना रुदन्तीं
सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम्
आश्वासयामास न चैव भर्तुः
तं भ्रातरं किञ्चिदुवाच सीता ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"पदापि ।"

विशालनयना जनकनन्दिनी को ऐसे आर्त्तभाव से, उदास हो रोते हुए देख, लक्ष्मण ने उनको समझाया बुझाया, किन्तु जानकी जी अपने देवर से फिर कुछ भी न कहा (अर्थात् रूठ गयीं) ॥ ४० ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः
कृताञ्जलिः किञ्चिदभिप्रणम्य च ।
अवेक्षमाणो बहुशश्च मैथिलीं
जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४१ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी हाथ जोड़ और बहुत झुक कर सीता जी को प्रणाम कर और बार बार सीता को देखते हुए श्रीरामचन्द्र के पास चल दिये ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

तथा परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः
स विकाङ्क्षन्भृशं[1] रामं प्रतस्थे न चिरादिव[2] ॥ १ ॥

इस प्रकार जानकी की कटूक्तियों से कुपित हो, लक्ष्मण जी वहाँ से जाने की बिलकुल इच्छा न रहते भी, श्रीरामचन्द्र जी के पास तुरन्त चल दिये ॥ १ ॥

---

१ भृशं—अत्यन्तम् । (शिः) २ नचिरादिव—अविलम्बितमेव । इवशब्दो वाक्यालङ्कार इतिवा । (गो०)

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्रामवैदेहीं परिव्राजकरूपधृत् ॥ २॥

इतने में एकान्त अवसर पा, रावण ने सन्यासी का भेष बनाया और वह तुरन्त सीता के सामने आ पहुँचा ॥ २ ॥

[1]इक्ष्वाकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।
वामे चांसेऽवसज्ज्याथ शुभे [2]यष्टिकमण्डलू ॥ ३ ॥

उस समय रावण स्वच्छ गेरुआ रङ्ग के कपड़े पहिने हुए था, उसके सिर पर चोटी थी, सिर पर छत्र लगाये और पैरों में खड़ाऊ पहिने हुए था। उसके वाम कंधे पर त्रिदण्ड था और हाथ में कमण्डलु लिये हुए था ॥ ३ ॥

[नोट —रावण ने उस समय के संन्यासियों का यथार्थ रूप धारण किया था। इससे जान पड़ता है, रामायणकाल के संन्यासी चोटीकट नहीं होते थे। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने रामायण के अनुवाद में "शिखी" का अर्थ किया है "सिर पर जाल रखाये"—इसका कारण उनका चोटीकट संन्यासियों का पक्षपाती होना ही कहा जा सकता है। ऋषि अङ्गिरा ने सन्यासियों के चिन्ह बतलाते हुए लिखा है:—

"यतेर्लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः
ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणं ।
शिक्यं पात्रं बृसी चैव कौपीनं कटिवेष्टनम्
यस्यैतद्विद्यते लिङ्गं स यतिर्नेतरो यतिः ॥

इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने मूल श्लोक में प्रयुक्त "यष्टि" का अर्थ किया है "लाठी"। यदि रामाभिरामी तथा भूषण आदि टीकाकारों का किया हुआ महाभारत से समर्थित यष्टि का अर्थ (रावणस्तु यतिर्भूत्वामुण्डः कुण्डी त्रिदण्ड धृक्) त्रिदण्ड न भी करते, तो प्रसङ्गानुसार "दण्ड" तो करते; किन्तु न मालूम मिश्र जी महाराज ने यष्टि का अर्थ "लाठी" क्यों कर, कर डाला]

---

१ इक्ष्वाकः—स्वच्छः (शि०) २ यष्टिः—त्रिदण्डं (गो०) (रा०)

परिव्राजकरूपेण वैदेहीं समुपागमत् ।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥ ४ ॥

इस प्रकार का यति भेष धारण कर अतिबली रावण, श्रीराम लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता को अकेली पा, उनके पास उसी प्रकार गया ॥ ४ ॥

रहितां चन्द्रसूर्याभ्यांसन्ध्यामिव महत्तमः ।
तामपश्यत्ततो बालां रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की अनुपस्थिति में सन्ध्या के समय अन्धकार आता है । उसने श्रीरामाश्रम में जा यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को वैसे ही देखा ॥ ५ ॥

रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद्भृशदारुणः ।
तमुग्रतेजः कर्माणं जनस्थानरुहा द्रुमाः ॥ ६ ॥
समीक्ष्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्तं रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥

जैसे चन्द्रमा को अनुपस्थिति में राहु रोहिणी को देखता है । उस अत्याचारी रावण को देख, जनस्थान के वृक्ष हिलते न थे और हवा का चलना भी बन्द हो गया था । लाल लाल नेत्र कर सीता जी की ओर उसे देखते हुए देख ॥ ६ ॥ ७ ॥

स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद्गोदावरी नदी ।
रामस्य त्व[1]न्तरप्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥

---

१ अन्तरप्रेप्सु—विश्लेषान्वेषी । (गो०)

भय के मारे, तेज बहने वाली गोदावरी की धार भी धीमी पड़ गयी। श्रीराम से सीता का वियोग कराने की इच्छा रखने वाला रावण, ॥ ८ ॥

उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः ।
अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम् ॥ ९ ॥

जो दुर्जन होने पर भी उस समय सन्यासी का भेष धारण कर सज्जन बना हुआ था, सीता जी के पास, जो श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता में मग्न थीं, पहुँचा ॥ ९ ॥

अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः ।
स पापो भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥ १० ॥

रावण, जानकी जी के पास उसी तरह गया, जिस प्रकार शनैश्चर चित्रा के पास जाता है। उस समय उस पापी रावण का वह भव्य रूप वैसा ही जान पड़ता था, जैसा किसी कुएँ का, जो तृणों से ढका हुआ हो ॥ १० ॥

अतिष्ठत्प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ११ ॥
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम् ।
स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छत वैदेहीं दुष्टचेता निशाचरः ।
स मन्मथशराविष्टो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ॥ १३ ॥

रावण यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को देखता हुआ खड़ा हो गया। सुन्दर रूपवाली, मनोहर दाँतों वाली, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुख वाली, जो सीता पर्णकुटी में बैठी हुई अपने पति के शोक से दुःखी हो रही थीं, उन कमल सदृश नेत्र वाली, सुनहले

रंग की साड़ी पहिने हुए सीता के पास वह दुष्ट रावण पहुँचा। और सीता को देख वह कामासक्त हो संन्यासियों के पढ़ने योग्य वेद के मंत्रों को पढ़ने लगा ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ।
तामुत्तमां स्त्रियं लोके पद्महीनामिव श्रियम् ॥ १४॥
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह ।
का त्वं काञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि ॥ १५ ॥
कमलानां शुभां मालां पद्मनीव हि बिभ्रती ।
[1]ह्रीःकीर्तिःश्रीः[2] शुभा [3]लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने ॥१६॥
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी[4] ।
समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव ॥१७॥

तदनन्तर वह त्रैलोक्य-सुन्दरी और कमलहीन लक्ष्मी की तरह शोभायमान शरीर से युक्त सीता की प्रशंसा करने लगा (रावण बोला—हे रूप्य काञ्चन के समान वर्ण वाली ! हे चंपे रंग की साड़ी पहिनने वाली ! हे सुन्दर कमल के फूलों की माला से सुशोभित कमलिनि ! हे शुभानने ! क्या तुम विष्णुपत्नी भूदेवी हो। अथवा कीर्ति हो, अथवा कमला हो, अथवा लक्ष्मी देवी हो, अथवा कोई अप्सरा हो, अथवा स्वतंत्र विहार करने वाली कामदेव की पत्नी रति तो नहीं हो ? तुम्हारे दांत बराबर हैं, (ऊबड़ खाबड़ नहीं) उनके अग्रभाग कुन्द के फूल की तरह मनोहर और सफेद हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ ह्रीः—विष्णुपत्नी भूमिः । (गो०) २ श्रीः—कमला । (गो०) ३ लक्ष्मीः—कान्त्यधिष्ठानदेवता । (गो०) ४ स्वैरचारिणी—स्वतंत्रा । (गो०)

विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ।
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ ॥ १८ ॥

तेरे नेत्र विशाल, निर्मल और अरुणाई लिये हुए हैं और उनमें काली पुतलियाँ हैं। तेरी जंघाएं बड़ी और मोटी हैं और उनके नीचे का भाग हाथी की सूंड़ की तरह है ॥ १८ ॥

एतावुपचितौ[1] वृत्तौ संहतौ[2] संप्रविलगतौ ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ ॥ १९ ॥

और वे उठे हुए एवं गोलाकार होने के कारण आपस में मिले हुए और कुछ कुछ कम्पायमान हो रहे हैं। तुम्हारे दोनो उरोज मोटे और उनके अग्रभाग तने हुए हैं। वे परम मनोहर हैं और कोमल एवं ताल फल के आकार वाले हैं ॥ १९ ॥

मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ।
चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥ २० ॥

उन उरोजों पर मणियों की माला पड़ी हुई उनको शोभायमान कर रही है। हे मनोहर-हास्य-युक्ते ! हे सुन्दर दांतों वाली ! हे सुन्दर नेत्रों वाली ! हे विलासिनि ! ॥ २० ॥

मनो हरसि मे कान्ते नदीकूलमिवाम्भसा ।
करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनी ॥ २१ ॥

हे कान्ते ! तू मेरे मन को वैसे ही हर रही है जैसे नदी का जल नदी के तट को हरण करता है। तू पतली कमर वाली है, तू सुन्दर केशों वाली है और मिले हुए उरोजों से तू सुशोभित है ॥ २१ ॥

---

१ उपचितौ—उन्नतौ। (गो०) २ संहितौ—अन्योन्यसंश्लिष्टौ। (गो०)

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ २२ ॥

इस महीतल पर तो मैंने ऐसी रूपवती स्त्री कभी नहीं देखी। तेरे रूप के समान न तो कोई देवता की स्त्री है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है और न कोई किन्नरी ही है ॥ २२ ॥

रूपमद्र्यंच लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ।
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्मादयन्ति मे ॥ २३ ॥

कहाँ तो तेरा ऐसा सुन्दर रूप और तेरी यह सुकुमारता और वय (उम्र) और कहाँ यह वन में रहना। जब मैं इन बातों पर विचार करता हूँ, तब मेरा मन उन्मत्त हो उठता है ॥ २३ ॥

सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ।
राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ॥ २४ ॥

अतः तू आश्रम से निकल चल। तेरा यहाँ (वन में) रहना ठीक नहीं। क्योंकि इस वन में कामरूपी भयङ्कर राक्षसों का डेरा है ॥ २४ ॥

प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ।
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ॥ २५ ॥

तुम्हको तो सुन्दर विशाल वनों में और रमणीक एवं सम्पन्न नगरों और सुगन्धित पुष्पों से युक्त वृक्षों से परिपूर्ण उपवनों में विहार करना उचित है ॥ २५ ॥

वरं माल्यं वरं भोज्यं वरं वस्त्रं च शोभने ।
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ॥ २६ ॥

हे शोभने ! तुझे तो उत्तम पुष्पमालएँ धारण करनी चाहिये, सुस्वादु भोजन करने चाहिये। सुन्दर बढ़िया वस्त्र पहिनने चाहिये। हे अनिन्दिते ! तेरे समान तेरे लिये सुन्दर घर भी होना चाहिये ॥२६॥

कात्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने ।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥ २७ ॥

हे वरानने ! क्या तू रुद्रों की, मरुतों की अथवा वसुओं की स्त्री है ? तू तो मुझे देवता सी जान पड़ती है ॥ २७ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ।
राक्षसानामयं वासः कथं त्वमिहागता ॥ २८ ॥

इस वन में गन्धर्व, देवता अथवा किन्नर नहीं आया करते। क्योंकि यहां तो राक्षसों का डेरा है, सो तू यहाँ क्यों कर आयी ? ॥ २८ ॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगास्तथा ।
ऋक्षास्तरक्षवः[1] कङ्काः कथं तेभ्यो न बिभ्यसि ॥ २९ ॥

इस वन में बंदर, सिंह, चीते, बघेरें, मृग, रीछ, बड़े बड़े बाघ, और मांसभक्षी बड़े बड़े पक्षी रहते हैं, क्या उनका तुझको डर नहीं लगता ॥ २९ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम्[2] ।
कथमेका महारण्ये न विभेषि वरानने ॥ ३० ॥

हे वरानने ! इस महावन में बड़े बड़े बलवान भयङ्कर और मतवाले हाथी घूमा करते हैं। सो अकेली होने पर भी तुझे उनसे डर क्यों नहीं लगता ॥ ३० ॥

---

१ तरक्षवो—मृगादनामहाव्याघ्राः । (गो०) २ तरस्विनां—बलवतां । (गो०)

कासि कस्य कुतश्चित्वं किंनिमित्तं च दण्डकान् ।
एका चरसि कल्याणि घोरान्राक्षससेवितान् ॥ २१ ॥

हे कल्याणी ! तू कौन है ? किसकी स्त्री है ? कहाँ से आयी है ? और इस दण्डकवन में आने का कारण क्या है ? तू भयङ्कर राक्षसों से सेवित इस वन में अकेली क्यों विचरती है ॥ २१ ॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन दुरात्मना ।
द्विजातिवेषेण[1] हितं[2] दृष्ट्वा रावणमागतम् ॥ २२ ॥

जब इस प्रकार रावण ने सीता जी की प्रशंसा की तब उस संन्यासवेषधारी रावण को आया हुआ देख, सीता जी ने उसका यथाविधि आतिथ्य किया ॥ २२ ॥

सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली ।
उपनीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च ।
अब्रवीत्सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम् ॥ २३ ॥

सीता ने पहले उसे बैठने को आसन दिया, फिर पैर धोने को जल दिया, फिर फल आदि भोज्य पदार्थ देते हुए कहा, यह सिद्ध किये हुए पदार्थ हैं (अर्थात् भूंजे हुए अथवा पकाये हुए) ॥ २३ ॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भ[3]धारिणम् ।
अशक्यमुद्वेष्टुमपायदर्शनं
न्यमन्त्रयद्ब्राह्मणवत्प्रदाऽङ्गना ॥ २४ ॥

---

१ द्विजातिवेषेण—संन्यासवेषे (गो०) २ हितं—सहितं (गो०) ३ कुसुम्भ—महारजताख्यरञ्जकद्रव्यविशेष रक्तंवस्त्रं । (गो०)

संन्यासी का रूप धारण किये, गेरुआ वस्त्र पहिने अथवा कमण्डल लिये हुए रावण को देख, और उसे महात्मा जान, जानकी जी ने उसकी उपेक्षा करनी उचित न समझी। अतः जानकी जी ने उसका ब्राह्मण जैसा सत्कार किया ॥ ३४ ॥

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यताम्
इदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति ।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमम्
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ ३५ ॥

सीता जी ने कहा—हे ब्राह्मण ! यह आसन है इस पर आप बिराजें। यह पैर धोने को जल है, इसे लें। ये वन में उत्पन्न हुए पके या भूने हुए फल आपके भोजन के लिये हैं। आप इनको व्यग्रता छोड़ अर्थात् शान्त होकर, खाँय ॥ ३५ ॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम् ।
प्रसह्य तस्या हरणे धृतं मनः
समार्पयत्स्वात्मवधाय रावणः ॥ ३६ ॥

सीता जी ने जब इस प्रकार रावण का आतिथ्य किया और मधुर वचन कहे, तब रावण ने अपना नाश करने के लिये बलपूर्वक सीता को हरना चाहा ॥ ३६ ॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा ।

*विवीक्षमाणा हरितं ददर्श तन्
महद्वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ २७ ॥
इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

सीता जी परम सुन्दर और शिकार के लिये गए हुए श्रीरामचन्द्र जी को तथा लक्ष्मण जी को प्रतीक्षा करती हुई वन की ओर देखने लगीं। उस समय उनको चारों ओर हरा हरा वन ही देख पड़ा, किन्तु श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आते न देख पड़े ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—*—

रावणेन तु वैदेही तथा पृष्ठा जिहीर्षता[1] ।
परिव्राजकलिङ्गेन शशंसात्मानमङ्गना ॥ १ ॥

जब संन्यासी वेषधारी रावण ने हरण करने की अभिलाषा से, इस प्रकार पूँछा, तब सीता जी ने अपने मन में विचारा ॥१॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चायमनुक्तो हि शपेत माम् ।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

कि इस ब्राह्मण अतिथि को यदि मैं अपना नाम व गोत्र न बतलाऊँगी, तो यह मुझे शाप दे देगा। इस बात पर दो घड़ी विचार कर सीता जी बोलीं ॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः ।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामभार्या द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

---

१ जिहीर्षता—हर्तुमिच्छता। (गो०)

*पाठान्तरे—"निरीक्षमाणा," वा "समीक्षमाणा"।

मैं मिथिला देशाधिपति राजा जनक की लड़की हूँ। मेरा नाम सीता है और मैं श्रीरामचन्द्र की प्रिय भार्या हूँ ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने ।
भुञ्जानाभानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ४ ॥

विवाह के अनन्तर मैं ने बारह वर्ष तक इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी अयोध्या में रह कर, मनुष्यदुर्लभ भोग भोगे और अपने सब मनोरथों को पूर्ण किया ॥ ४ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः ।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभि[1]: ॥ ५ ॥

तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ मंत्रियों से परामर्श कर, श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करने का विचार किया ॥ ५ ॥

तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।
कैकेयी नाम भर्तारमार्या[2] सा याचते वरम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामाभिषेक की सब तैयारियाँ होने लगीं, तब कैकेयी ने, जो मेरी सास लगती है, महाराज से वर माँगा ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे ।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥

कैकेयी ने, मेरे ससुर को धर्म के वश में कर, मेरे पति के लिये वनवास और भरत के लिये राज्याभिषेक चाहा ॥ ७ ॥

ह्रीमयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम् ।
नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न च पास्ये कथञ्चन ॥ ८ ॥

---

१ राजमन्त्रिभिः—मंत्रिश्रेष्ठैः (गो) २ आर्या—पूज्या ममश्वश्रूरित्यर्थः । (गो०)

सत्यप्रतिज्ञ व पतिश्रेष्ठ महाराज दशरथ से ये दो वर माँगे। साथ ही यह भी कहा कि, मैं आज न किसी प्रकार भी खाऊँगी न पीऊंगी और न सोऊँगी ॥ ८ ॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ।
इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स मानदः ॥ ९ ॥

यदि श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ तो मैं अपने प्राण दे दूँगी। जब कैकेयी ने इस प्रकार कहा, तब बहुत सम्मान करने वाले मेरे ससुर महाराज दशरथ जी ने ॥ ९ ॥

अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याञ्चां चकार सा ।
मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥

कैकेयी से विविध प्रकार के अन्य पदार्थ माँगने के लिये कहा— परन्तु उसने और कुछ न चाहा। उस समय मेरे पति महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र की उम्र २५ वर्ष की ॥ १० ॥

अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ।
रामेति प्रथितो लोके गुणवान्[1] सत्यवाञ्शुचिः ॥ ११ ॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः ।
कामार्तस्तु महातेजाः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत् ।
अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥

और मेरी जन्मकाल से गणना करके १८ वर्ष की थी, श्रीरामचन्द्र जो लोक में प्रसिद्ध हैं और जो सुशील, सत्यवादी, पवित्र, बड़े नेत्रों और लंबी बाहुओं वाले हैं तथा सब प्राणियों के हितकारी हैं—उनका

---

१ गुणवान्—सौशील्यवान्। (गो०)

महातेजस्वी महाराज दशरथ ने कामासक्त हो, कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए स्वयं राज्याभिषेक न किया और जब अभिषेक के लिये श्रीरामचन्द्र पिता के समीप गये ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच धृतं वचः ।
तव पित्रा समाज्ञप्तं यमेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥

तब कैकेयी ने धीरज धारण कर, कहा—हे रामचन्द्र ! तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिये जो आज्ञा दी है, वह मुझसे सुनो ॥ १४ ॥

भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।
त्वया हि खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥

यह निष्कण्टक राज्य भरत को दिया जाय और तुम्हें १४ वर्ष तक अवश्य वन में रहना चाहिये ॥ १५ ॥

वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।
तथेत्युक्त्वा च तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥

इससे तुम्हें चाहिये कि, तुम अपने पिता को झूठा न होने दो। तब दृढ़ व्रतधारी मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी ने निडर हो कैकेयी से कहा कि, अच्छा ऐसा ही होगा ॥ १६ ॥

चकार तद्वचस्तस्या मम भर्ता दृढव्रतः ।
ददान्न प्रतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥

और तदनुसार ही कार्य भी किया। मेरे पति बड़े दृढ़व्रत हैं। वे दान तो देते हैं, पर दान लेते नहीं, वे सच बोलते हैं, किन्तु झूठ नहीं बोलते ॥ १७ ॥

एतद्ब्राह्मण रामस्य ध्रुवं व्रतमनुत्तमम् ।
तस्य भ्राता तु द्वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥

हे ब्राह्मण ! रामचन्द्र जी के निश्चय ये ही उत्तमोत्तम व्रत हैं। उनके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े वीर हैं ॥ १८ ॥

रामस्य दुरवव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम धर्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

वे मेरे पति के सहायक और समर में शत्रु का नाश करने वाले हैं। वे दृढ़व्रत और ब्रह्मचारी लक्ष्मण ॥ १९ ॥

अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥

जटा रखाये हुए हाथ में धनुष लिये तपस्वी के रूप में, मेरे साथ अनुगामी हुए हैं ॥ २० ॥

प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो जितेन्द्रियः ।
ते वयं प्रच्युता राज्यात्कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार धर्म में नित्य तत्पर और जितेन्द्रिय, श्रीरामचन्द्र जी आदि हम तीनों जन कैकेयी द्वारा राज्य से च्युत हो, इस दण्डक-वन में आये हैं ॥ २१ ॥

विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा ।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।
[रुरून्गोधान्वराहांश्च हत्वाऽऽदयामिषान्बहून् ॥२३॥]

और अपने बलबूते पर इस भङ्कर वन में विचरते हैं। द्विज-श्रेष्ठ, तुम मुहूर्त भर यहाँ ठहरो। मेरे पति अनेक वन्य पदार्थों को ले कर आते होंगे। रुरु, गोह और बनैले शूकर को मार, वे बहुत सा माँस लावेंगे ॥२२॥२३॥

स त्वं नाम च गोत्रं च कुलं चाचक्ष्व तत्त्वतः ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

अब आप अपना नाम, गोत्र और कुल ठीक ठीक बतलाइये और यह भी बतलाइये कि, आप अकेले इस दण्डकवन में क्यों फिरते हैं ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

जब सीता जी ने ऐसे वचन कहे, तब महाबली राक्षसनाथ रावण ने ये कठोर वचन कहे ॥ २५ ॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरपन्नगाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

हे सीते ! जिसके डर से देवताओं, असुरों और मनुष्यों सहित तीनों लोक थरथराते हैं, मैं वही राक्षसों का राजा रावण हूँ ॥ २६ ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम् ।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

हे अनिन्दिते ! तेरे सुवर्ण तुल्य शरीर के रंग और कौशेय वस्त्र को देख कर, मुझे अपनी पत्नियों के प्रति प्रीति नहीं रही ॥ २७ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ २८ ॥

मैं बहुत सी उत्तम स्त्रियों को अनेक स्थानों से हर कर लाया हूँ। सो तू उन सब में मेरी पटरानी बन ॥ २८ ॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा नगमूर्धनि ॥ २९ ॥

समुद्र के बीच में लङ्का नाम की मेरी महापुरी है। वह चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है और पर्वतशृङ्ग पर स्थित है ॥ २९ ॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विहरिष्यसि ।
न चास्यारण्यवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥३०॥

हे सीते ! वहाँ तू मेरे साथ जब वनों में विहार करेगी, तब तुझे इस वन में रहने की इच्छा न रह जायगी ॥ ३० ॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥ ३१ ॥

हे सीते ! यदि तू मेरी भार्या बनना अंगीकार कर लेगी, तो पाँच हज़ार दासियां, जो समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं, तेरी परिचर्या करेंगीं ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, अनिन्दिता सीता कुपित हुई और उस राक्षस का तिरस्कार कर बोलीं ॥ ३२ ॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

महेन्द्राचल पर्वत की तरह अचल अटल और समुद्र की तरह क्षोभरहित श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसन्धं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

जो सब शुभलक्षणों से युक्त और वटवृक्ष की तरह सबको सदैव सुखदायी हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ और महाभाग श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३४ ॥

[वटवृक्ष—"कूपोदकं वटच्छाया युवतीनां स्तनद्वयम् ।
शीतकाले भवेत्युष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥"]

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसङ्काशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

महाबाहु, चौड़ी छाती वाले, सिंह जैसी चाल चलने वाले, पुरुषसिंह, और सिंह से समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं[1] जितेन्द्रियम् ।
पृथुकीर्त्तिं महात्मानमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

मैं उन राजकुमार एवं जितेन्द्रिय श्रीराम की अनुगामिनी हूँ, जिनका मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य है, जिनकी कीर्ति दिग दिगन्त व्यापिनी है और जो महात्मा हैं ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिच्छसि सुदुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३७ ॥

सो तू शृगाल के समान हो कर, सिंहनी के तुल्य मुझे चाहता है। किन्तु तू मुझे उसी प्रकार नहीं छू सकता, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा को कोई नहीं छू सकता ॥ ३७ ॥

---

१ राजवत्सं—राजकुमारं (गो०)

पादपान्काञ्चनान्नूनं* बहून्पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि रावण ॥ ३८ ॥

अरे अभागे राक्षस ! जब तू श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय भार्या को हरना चाहता है, तब निश्चय ही तू बहुत से सुवर्णमय वृक्ष (स्वप्न में) देखता होगा ॥ ३८ ॥

[नोट—जो शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनको स्वप्न में सोने के वृक्ष दिखलाई पड़ते हैं ।]

क्षुधितस्य हि सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।
आशीविषस्य वदनादंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥

मृग के बलवान शत्रु भूखे सिंह के अथवा विषधर सर्प के मुख से तू दाँत उखाड़ना चाहता है ॥ ३९ ॥

मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान्गन्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥

तू पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल को हाथ से हरण करना चाहता है और हलाहल विषपान कर के भी तू सुखपूर्वक चला जाना चाहता है ॥ ४० ॥

अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वया लेक्षि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां योऽधिगन्तुं[1] त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को पाने की इच्छा कर, मानों तू आँख की सफाई सुई से करता है और जिह्वा से छुरे को चाटता है ॥ ४१ ॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

---

१ अधिगन्तु—प्राप्तुं । (गो०) * पाठान्तरे— 'बहू" ।

अथवा गले में पत्थर बाँध समुद्र को पार करता है और हाथों से सूर्य और चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है ॥ ४२ ॥

यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।
अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥

तू जो श्रीरामचन्द्र की भार्या को प्राप्त करना चाहता है, सो मानों तू प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में लपेट कर ले जाना चाहता है ॥ ४३ ॥

कल्याणवृत्तां[१] रामस्य यो भार्यां हर्तुमिच्छसि ।
अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥४४॥

तू जो ! शुभाचरण वाले श्रीराम की भार्या के पाने की अभिलाषा रखता है, सो मानों तू लोहे के नुकीले कांटों पर चलना चाहता है । तू श्रीराम की ऐसी पत्नी को प्राप्त करना चाहता है ॥४४॥

यदन्तरं सिंहशृगालयोर्वने[२]
यदन्तरं स्यन्दनिका[३]समुद्रयोः ।
सुराग्र्य[४]सौवीर[५]कयोर्यदन्तरं
तदन्तरं वै तव राघवस्य च ॥ ४५ ॥

जो भेद सिंह और स्यार में है, जो अन्तर क्षुद्र नदी और समुद्र है ; जो अन्तर श्रेष्ठ मद्य और कांजी में है ; वही अन्तर श्रीरामचन्द्र में और तुझमें है ॥ ४५ ॥

---

१ कल्याणवृत्तां—शुभाचारां । (गो०) २ वने—जले । (गो०) ३ स्यन्दनिका—क्षुद्रनदी । (गो०) ४ सुराग्रयं—श्रेष्ठ मद्यं । (गो०) ५ सौवीरकं—काञ्जिकं । (गो०)

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिबिडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

जो अन्तर सोने और सीसे लोहे में है, जो अन्तर चन्दन और पानी की कीचड़ में है, जो अन्तर वन में (बसने वाले) हाथी और बिल्ली में है; वही अन्तर दशरथनन्दन और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं [1]मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं सारसगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

जो अन्तर गरुड़ और कौए में है, जो अन्तर जलकाक और मोर में है और जो अन्तर वन में (बसने वाले) सारस और गृद्ध में है; वही अन्तर दाशरथी श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन्सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
वज्रं यथा मक्षिकयाऽवगीर्णम् ॥ ४८ ॥

इन्द्र के समान प्रभाव वाले और हाथ में धनुष बाण लिये हुए श्रीरामचन्द्र के रहते यदि तू मुझे हर भी ले जायगा, तो मुझे उसी

---

१ मद्गुः—जलवायसः । (गो०)

तरह न पचा सकेगा, जैसे मक्खी (चांवल के धोखे में) हीरा खा कर, उसे नहीं पचा सकती ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुधृष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पव्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार पवन के वेग से केले का वृक्ष काँपने लगता है, वैसे ही साधु स्वभाव वाली सीता, अत्यन्त धृष्टतापूर्ण बचन उस राक्षस से कह कर, थर थर कांपने लगी ॥ ४९ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म च स्वं
समावचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

काल समान रावण, सीता को डर से थर थर काँपते देख, उसे और भी अधिक भयभीत करने के लिये, अपने कुल, बल, नाम और कामों का बखान करने लगा ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का सैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां संरब्धः[1] परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटीं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार के कठोर वचन कहे, तब रावण ने महाक्रुद्ध हो और भौंहे टेढी कर, कठोर वचन कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्न्यो वरवर्णिनि ।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

हे सुन्दरी ! तेरा भला हो, मैं कुवेर का सौतेला भाई हूँ । मेरा नाम रावण है । मै दससीस वाला और बड़ा प्रतापी हूँ ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्रवन्ति भयाद्भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥

मेरे डर के मारे देवता, गन्धर्व, पिशाच, पन्नग और सर्प उसी प्रकार भाग खड़े होते हैं, जैसे मनुष्य लोग मृत्यु के डर से भागते हैं ॥ ३ ॥

येन वैश्रवणो राजा द्वैमात्रः[2] कारणान्तरे ।
द्वन्द्वमासादितः[3] क्रोधाद्रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

मैंने अपने सौतेले भाई कुवेर को कारण विशेष वश युद्ध में क्रुद्ध हो अपने बल विक्रम से जीता है ॥ ४ ॥

---

१ संरब्धः—कुपितः । (गो०) २ द्वैमात्रः—सपत्नीमातृपुत्रः । (गो०)
३ द्वन्द्वं—युद्धं । (गो०)

यद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत् ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः ॥ ५ ॥

वह कुवेर मेरे भय से भीत हो, भरी पूरी अपनी लङ्कापुरी को त्याग, पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर जा बसा है ॥ ५ ॥

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम् ।
वीर्यादेवार्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्[1] ॥ ६ ॥

उसके सुन्दर और इच्छाचारी पुष्पक विमान को मैंने बरजोरी उससे छीन लिया है। मैं उसी विमान में बैठ आकाश में घूमा करता हूँ ॥ ६ ॥

मम सञ्जातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि ।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥ ७ ॥

हे मैथिली ! इन्द्रादि देवता मेरा कुपित मुख देख, भयभीत हो भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः ।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात्सम्पद्यते रविः ॥ ८ ॥

जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ पवन शङ्कायुक्त हो बहता है। मेरे डर के मारे सूर्य की प्रखर किरणें चन्द्रमा की तरह शीतल पड़ जाती हैं ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः ।
भवन्ति यत्र यत्राहं तिष्ठामि विचरामि च ॥ ९ ॥

---

१ विहायसम्—आकाशं । (गो०)

जहां पर मैं उठता बैठता हूँ या घूमता फिरता हूँ, वहां वृक्षों के पत्तों का हिलना बंद हो जाता है और नदियों की धार रुक जाती है ॥ ९ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा ।
सम्पूर्णा राक्षसैघोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥ १० ॥

समुद्र के पार लङ्का नामक मेरी परम सुन्दर नगरी है। वह भयङ्कर राक्षसों से वैसे ही परिपूर्ण है, जैसे (देवताओं से) इन्द्रपुरी अमरावती ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजता ।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैडूर्यमयतोरणा ॥ ११ ॥

वह सफेद परकोटे से घिरी हुई है। उसके चौक सोने के हैं और उसके बाहिरी सब फाटक वैडूर्य मणि के बने हुए हैं। वह नगरी सुरम्य है ॥ ११ ॥

हस्त्यश्वरथसंबाधा तूर्यनादविनादिता ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः सङ्कुलोद्यान शोभिता ॥ १२ ॥

हाथियों और घोड़ों तथा रथों से वह भरी हुई है और उसमें बाजे सदा बजा ही करते हैं, सब ऋतुओं में फलने वाले वृक्षों से युक्त उद्यानों से वह सुशोभित है ॥ १२ ॥

तत्र त्वं वसती सीते राजपुत्रि मया सह ।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनी ॥ १३ ॥

हे राजकुमारी सीते ! वहाँ चल कर तू मेरे साथ रहना। वहाँ रहने पर तुझे कभी मानवी नारियों का स्मरण भी न होगा ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान्भोगान्दिव्यांश्च वरवर्णिनि ।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः ॥ १४ ॥

हे वरवर्णिनी ! जब तू नहाँ मनुष्योचित भोग्य एवं दिव्य पदार्थों को उपभोग करेगी ; तब तू गतायु और मनुष्य-शरीर-धारी राम को कभी याद भी न करेगी ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं *राज्ये दशरथेन यः ।
मन्दवीर्यः सुतो ज्येष्ठस्ततः प्रस्थापितो ह्ययम् ॥ १५ ॥

देखो दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र भरत को राज्य पर बिठाया और निकम्मे ज्येष्ठ पुत्र राम को बन में निकाल दिया ॥ १५ ॥

तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा[1] ।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन[2] तपस्विना[3] ॥ १६ ॥

हे विशालाक्षी ! तुम उस राज्यभ्रष्ट एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान-शून्य, डरपोंक और शोच्य राम के पास रह कर क्या करोगी ? ॥१६॥

सर्वराक्षसभर्तारं कामा[4]त्स्वयमिहागतम् ।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

मैं राक्षसों का राजा हो कर भी अपनी इच्छा से अपने आप यहाँ आया हूँ । मैं कामदेव के बाणों से घायल हो रहा हूँ । मेरा तिरस्कार करना तुझको उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु परितापं गमिष्यसि ।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी ॥ १८ ॥

---

१ गतचेतसा--कर्त्तव्याकर्त्तव्यमूढ़मनसा । (गो०) २ तापसेन—" भग्ना कृषेर्भागवता भवन्ति " इति न्यायेन अशूरेण । (गो०) ३ तपस्विना—शोच्येन । (गो०) ४ कामात्—स्वेच्छया । (शि०) * पाठान्तरे—" राज्ञा " ।

हे भीरु ! यदि तू मेरा तिरस्कार करेगी, तो पीछे तुझको वैसे ही पछताना पड़ेगा, जैसे उर्वशी अप्सरा राजा पुरूरवा के लात मार कर, पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः ।
तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

राम मनुष्य है, वह युद्ध में मेरी एक अंगुली के वल के समान भी (वलवान्) नहीं है । (अर्थात् उसमें इतना भी वल नहीं, जितना मेरी एक अंगुली में है) अतः वह युद्ध में मेरा सामना कैसे कर सकता है । हे वरवर्णिनी ! इसे तू अपना सौभाग्य समझ कि, मैं यहाँ आया हूँ । अतः तू मुझे अङ्गीकार कर ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं [1]रहिते राक्षसाधिपम् ॥ २० ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, सीता कुपित हो और लाल लाल नेत्र कर, उस निर्जन वन में रावण से कठोर वचन वोली ॥ २० ॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वभूतनमस्कृतम् ।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि ॥ २१ ॥

हे रावण ! तू सर्वदेवताओं के पूज्य कुवेर को अपना भाई वतला कर भी, ऐसा बुरा काम करने को (क्यों) उतारु हुआ है ? ॥ २१ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

हे रावण ! याद रख । निश्चय ही वे समस्त राक्षस मारे जांयगे, जिनका तुझ जैसा क्रूर, दुष्टबुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है ॥२२॥

---

१ रहिते—निर्जने वने । (गो०)

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम् ।
न च रामस्य भार्यां मामपनीयास्ति जीवितम् ॥ २३ ॥

इन्द्र की पत्नी शची को हर कर, कोई चाहे भले ही जीता बना रहे; किन्तु रामपत्नी मुझको हर कर, कोई जीता नहीं रह सकता ॥२३॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य हस्ता-
च्छचीं प्रधृष्यापतिरूपरूपाम् ।
न मादृशीं राक्षस दूषयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥ २४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राक्षस ! अत्यन्त रूपवती शची को हरने वाला, वज्रधारी इन्द्र के हाथ से एक बार जीता बच भी सकता है; किन्तु मुझ जैसी को दूषित कर, अमृतपान किया हुआ पुरुष भी, मृत्यु के हाथ से नहीं बच सकता ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का अड़तालीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद्वपुः ॥ १ ॥

प्रतापी रावण ने सीता के ये वचन सुन, हाथ पर हाथ मार, अपना विशाल शरीर प्रकट किया ॥ १ ॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे च ततो भृशम् ।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ ॥ २ ॥

फिर उसने सीता से कहा—मैं जानता हूँ कि, तू पगली है, क्योंकि तूने मेरे बल एवं पराक्रम पर ध्यान नहीं दिया ॥ २ ॥

उद्वहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः ।
आपिबेयं समुद्रं च हन्यां मृत्युं रणे स्थितः ॥ ३ ॥

मैं आकाश में बैठा बैठा अपनी भुजाओं से इस पृथिवी को उठा सकता हूँ, और समुद्र को पी सकता हूँ और काल को संग्राम में मार सकता हूँ ॥ ३ ॥

अर्कं रुन्ध्यां शरैस्तीक्ष्णैर्निभिन्द्यां* हि महीतलम् ।
कामरूपिणमुन्मत्ते पश्य मां कामदं पतिम् ॥ ४ ॥

मैं अपने पैने बाणों से सूर्य की गति को रोक सकता हूँ और पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ। हे उन्मत्ते! मुझ इच्छारूपधारी और मनोरथपूर्ण करने वाले पति को देख। (अर्थात् मुझे अपना पति बना) ॥ ४ ॥

एवमुक्तवतस्तस्य सूर्यकल्पे शिखिप्रभे ।
क्रुद्धस्य [1]हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ ५ ॥

ऐसा कहते हुए रावण की पीली आँखे मारे क्रोध के प्रज्वलित आग की तरह लाल हो गयीं ॥ ५ ॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य भिक्षुरूपं स रावणः ।
स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः ॥ ६ ॥

---

१ हरिपर्यन्ते—पिङ्गलवर्णपर्यन्ते । (गो०) * पाठान्तरे—" विभिन्द्यां ।"

उसी क्षण कुबेर के छोटे भाई रावण ने अपने उस संन्यासी भेष को त्याग, काल के समान भयङ्कर रूप धारण किया ॥ ६ ॥

संरक्तनयनः [1]श्रीमांस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
क्रोधेन महताऽविष्टो नीलजीमूतसन्निभः ॥ ७ ॥

विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल धारण किये हुए, विचित्र शक्ति सम्पन्न और नील मेघ की तरह डीलडौल का रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ७ ॥

दशास्यः कार्मुकी बाणी बभूव क्षणदाचरः ।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत् ॥ ८ ॥

उस समय वह महाकाय रावण, बनावटी संन्यासी का रूप त्याग कर, दस मुख और बीस भुजा वाला हो गया ॥ ८ ॥

प्रतिपद्य स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।
संरक्तनयनः क्रोधाज्जीमूतनिचयप्रभः ॥ ९ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने अपना असली रूप धारण कर लिया। क्रोध के मारे उस नीलमेघ सदृश शरीर वाले रावण के नेत्र लाल हो गये थे ॥ ९ ॥

रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ॥ १० ॥
वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ॥ ११ ॥

---

१ श्रीमान् विचित्रशक्तिसम्पन्नः । (गो०)

वह लाल वस्त्र पहिने हुए था और स्त्रियों में उत्तम जानकी की ओर देख, उन सूर्य के समान प्रभावाली, काले बालों से युक्त, वस्त्र भूषण धारण किये हुए जानकी जी से कहने लगा—यदि तीनों लोकों में विख्यात व्यक्ति को तू अपना पति बनाना चाहती है ॥ १० ॥ ११ ॥

मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ।
मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः प्रियस्तव ॥ १२ ॥

तो हे वरारोहे ! मेरा पल्ला पकड़ । क्योंकि मैं ही तेरे योग्य पति हूँ । तू चिरकाल तक मेरे साथ रह । मैं ही तेरा उपयुक्त प्रेमी हूँ ॥ १२ ॥

नैव चाहं क्वचिद्भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ।
त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ॥ १३ ॥

हे भद्रे ! मैं कभी कोई बात तेरे मन के प्रतिकूल न करूँगा । अतः तू अब राम, जो मनुष्य है, उसकी ओर से अपने प्रेम को हटा, मुझसे प्रेम कर ॥ १३ ॥

राज्याच्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ।
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ॥ १४ ॥

रामचन्द्र तो राज्यच्युत, अकृतकार्य और परिमित आयु वाला है । अरे मूढ़ और अपने को बुद्धिमान समझने वाली ! तू राम के कौन से गुण पर लट्टू हो रही है ? ॥ १४ ॥

यः स्त्रिया वचनाद्राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ।
अस्मिन्व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ॥ १५ ॥

जो राम, स्त्री का कहना मान, राज्य और इष्टमित्रों को त्याग, इस सर्पादि सङ्कुल भयानक वन में बास करता है, वह दुर्बुद्धि नहीं तो है क्या ? ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम् ।
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस प्रियभाषिणी और प्रेम करने योग्य सीता से कह, कामान्ध एवं महादुष्ट राक्षस रावण ने सीता के निकट जा ॥१६॥

जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ।
वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः ॥ १७ ॥
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ।
तं दृष्ट्वा मृत्युसङ्काशं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ॥ १८ ॥
प्राद्रवन्गिरिसङ्काशं भर्याता वनदेवताः ।
स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ॥ १९ ॥
प्रत्यदृश्यत [1]हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ।
ततस्तां परुषैर्वाक्यैर्भर्त्सयन्स महास्वनः ॥ २० ॥

सीता को उसी प्रकार पकड़ लिया, जिस प्रकार आकाश में बुध ने रोहिणी को पकड़ लिया था । रावण ने बाएँ हाथ से सीता के सिर के बालों को और दहिने हाथ से दोनों ऊरुओं को पकड़ा । उस समय काल के समान पैने दांतो वाले और लंबी भुजाओं वाले तथा पर्वत के समान लंबे चौड़े डीलडौल वाले रावण को देख, वनदेवता भयभीत हो, भाग गये । तदनन्तर रावण का मायामय आकाशचारी बड़ा रथ, जिसमें खच्चर जुते हुए थे और जिसके पहिये सौने के थे, सामने देख पड़ा । रावण ने गम्भीर स्वर से, कठोर वचन कह, सीता को धमकाया ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

---

१ हेमाङ्गो—स्वर्णमयचक्रः । (गो०)

अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत्तदा ।
सा गृहीता विचुक्रोश रावणेन यशस्विनी ॥ २१ ॥
रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरगतं वने ।
तामकामां[1] स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव ॥ २२ ॥

फिर गोदी में उठा सीता को रथ में बिठा लिया। उस समय रावण द्वारा पकड़ी हुई यशस्विनी सीता अत्यन्त दुःखी हो, वन में दूर गये हुए श्रीराम को "राम" "राम" कह, बड़े ज़ोर से पुकारने लगी। उस समय वह कामान्ध राक्षस विरागिणी सीता को पन्नगराज की स्त्री की तरह ॥ २१ ॥ २२ ॥

विवेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ।
ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा ॥ २३ ॥
भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथाऽऽतुरा ।
हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक ॥ २४ ॥

रावण छटपटाती सीता को ले कर रथ सहित आकाशमार्ग से चल दिया। उस समय रावण के वश में पड़ी सीता उन्मत्त की तरह घबड़ा कर, रोगी की तरह बहुत विलाप करने लगी। सीता जी विलाप करती हुई कहने लगी, हे बड़ी भुजाओं वाले और गुरुजनों के मन को प्रसन्न करने वाले लक्ष्मण ! ॥ २३ ॥ २४ ॥

ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा *कामरूपिणा ।
जीवितं सुखमर्थांश्च धर्महेतो[2] परित्यजन् ॥ २५ ॥

---

१ अकामां—विरागिणीं । (गो०) २ धर्महेतो—आश्रित संरक्षण रूप धर्महेतोः । (गो०)

* पाठान्तरे—"मामर्षिणा ।"

मुझे कामरूपी राक्षस हरे लिये जाता है। हाय! तुम्हें इसकी ख़बर नहीं है। हे राघव! तुमने आश्रितों की रक्षा रूपी धर्म के लिये जीवन-सुख और राज्य को भी त्याग दिया॥ २५॥

ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि।
ननु नामाविनीतानां विनेतासि[1] परन्तप॥ २६॥

यह पापी राक्षस मुझे हरे लिये जाता है, क्या तुमको यह नहीं देख पड़ता? हे परन्तप! तुम तो दुर्जनों के शिक्षक (दण्ड देने वाले) हो॥ २६॥

कथमेवंविधं पापं न त्वं शास्सि हि रावणम्।
ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्॥२७॥

तब इस प्रकार के पाप करने वाले इस पापी रावण को क्यों दण्ड नहीं देते? ठीक है, दुष्ट कर्म का फल तुरन्त ही नहीं मिलता॥ २७॥

कालोऽप्यङ्गी[2] भवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये[3]।
स कर्म कृतवानेतत्कालोपहतचेतनः॥ २८॥

जिस प्रकार अनाज के पकने में कुछ समय लगता है, उसी प्रकार पाप भी कर्त्ता को फल देने के लिये कुछ समय लेता है। रावण ने काल के प्रभाव से चेतना रहित हो (नष्ट बुद्धि हो), जो यह कर्म किया है॥ २८॥

जीवितान्तकरं घोरं रामाव्यसनमाप्नुहि।
हन्तेदानीं सकामास्तु कैकेयी सह बान्धवैः॥ २९॥

---

१ विनेतासि—शिक्षकः। (गो०) २ कालोप्यङ्गी—सहकारिकारणं। (गो०)
३ पक्तये—पाकाय। (गे०)

सो इसके लिये रावण को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्राणान्त करने वाली घोर विपद् में पड़ना पड़ेगा। इस समय अपने बान्धवों सहित कैकेयी का मनोरथ पूरा हुआ॥ २९ ॥

ह्रिये यद्धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः।
[1]आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारान्सपुष्पितान्॥ ३० ॥

क्योंकि धर्म में तत्पर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी मैं हरी जा रही हूँ। मैं जनस्थान में इन फूले हुए कर्णिकार वृक्षों को सम्बोधन कर कहती हूँ कि, ॥ ३० ॥

क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः।
माल्यवन्तं शिखरिणं वन्दे प्रस्रवणं गिरिम्॥ ३१ ॥

कि तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र से कह देना कि, रावण सीता को हर कर ले गया। पुष्पित वृक्षों से युक्त एवं प्रशस्त शिखर वाले प्रस्रवण पर्वत को मैं प्रणाम करती हूँ कि, ॥ ३१ ॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः।
हंसकारण्डवाकीर्णां वन्दे गोदावरीं नदीम्॥ ३२ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि रावण सीता को हर कर ले गया। हंस और सारस पक्षियों से सेवित गोदावरी नदी को मैं प्रणाम करती हूँ कि, ॥ ३२ ॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः।
दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे॥ ३३ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि सीता को रावण हर ले गया। अनेक वृक्षों से पूर्ण इस वन में जो देवता रहते हैं,॥३३॥

---

१ आमंत्रये—संबोधयामि। (गो०)

नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।
यानि कानि चिदप्यत्र सत्त्वानि[४] निवसन्त्युत ॥३४॥
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ।
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ ३५ ॥
विवशापहृता सीता रावणेनेति शंसत ।
विदित्वा मां महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ॥ ३६ ॥

उन सब को मैं प्रणाम करती हूँ कि, वे मेरा (रावण द्वारा) हरा जाना मेरे पति (श्रीरामचन्द्र जी) से कह दें। अन्य जो कोई जीव-जन्तु इस वन में रहते हैं, तथा जो मृगपक्षी (यहाँ) हैं उन सब की मैं शरण होती हूँ और उनसे प्रार्थना करती हूँ कि, वे मेरे पति से कह दें कि, उनकी प्राणों के समान प्यारी भार्या (सीता) को, बरजोरी रावण ने हर लिया है। क्योंकि बड़ी भुजाओं वाले महाबली श्रीराम को यदि यह वृत्तान्त मालूम हो गया तो, ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि ।
सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ॥ ३७ ॥

वे अपने पराक्रम द्वारा मुझे यमराज से भी छुड़ा लावेंगे। इस प्रकार दुःखित और दीन हो विलाप करती हुई सीता ने ॥ ३७ ॥

वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना ।
सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशं गता ॥ ३८ ॥

जो विशाल नेत्र वाली थी, वृक्ष पर बैठे हुए जटायु को देखा। रावण के वश में पड़ी हुई सीता ने जटायु को देख ॥ ३८ ॥

---

१ सत्त्वानि—जन्तवः । (गो०)

समाक्रन्दद्भयपरा दुःखोपहतया गिरा ।
जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत् ॥ ३९ ॥
अनेन राक्षसेन्द्रेण क्रूरेण पापकर्मणा ।
नैष वारयितुं शक्यस्तव क्रूरो निशाचरः ।
सत्त्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥ ४० ॥

भयभीत एवं दुःखित हो रो कर कहा, हे मेरे बड़े बूढ़े जटायु ! देखो यह पापी रावण मुझे अनाथ की तरह निर्भय भाव से पकड़ कर लिये जाता है। जान पड़ता है तुम इस महाबली, विजयी, कूटयुद्ध करने वाले, क्रूर और आयुधधारी राक्षस को रोक नहीं सकते (अतः) ॥ ३९ ॥ ४० ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम ।
लक्ष्मणाय च तत्सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥ ४१ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्ग ॥

हे जटायु ! तुम श्रीरामचन्द्र जी से मेरे हरे जाने का यथार्थ वृत्तान्त कह देना और लक्ष्मण को यह आद्यन्त समस्त वृत्तान्त बता देना ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्नचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

तं शब्दमवसुप्तस्तु[1] जटायुरथ शुश्रुवे ।
निरीक्ष्य रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः ॥ १ ॥

अवसुप्तः—ईषत्सुप्तो जटायुः । (गो०)

जटायु ने जो उस समय ऊँघ रहा था, सीता की आवाज़ सुन, आँखें खोलीं और उसने रावण और सीता को देखा ॥ १ ॥

ततः पर्वतकूटाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः ।
वनस्पतिगतः श्रीमान्व्याजहार शुभां गिरम् ॥ २ ॥

उस पर्वत के शृङ्ग के तुल्य बड़े डीलडौल के जटायु पक्षी ने, जिसकी बड़ी पैनी चोंच था, पेड़ पर बैठे ही बैठे मधुर शब्दों में रावण से कहा ॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्म[1] पुराणे[2] सत्य संश्रयः ।
जटायुर्नाम नाम्नाऽहं गृध्रराजो महाबलः ॥ ३ ॥

हे दशग्रीव! मैं सदैव से सेवाधर्म में लगा हुआ हूँ और सत्य पर आरूढ़ हूँ। मेरा नाम जटायु है और मैं गीधों का महाबलवान् राजा हूँ ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ ४ ॥
तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ।
सीता नाम वारारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

जो सब लोकों के राजा हैं, जो इन्द्र और वरुण के तुल्य हैं और जो प्राणि मात्र की भलाई में लगे रहते हैं, उन्हीं त्रिलोकीनाथ दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र की यह यशस्विनी वरारोहा धर्मपत्नी सीता है, जिसे तुम हर कर लिये जाते हो ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

१ धर्मे—दाम्यवृत्तावित्यर्थः । (गो०) २ पुराणे—सनातने । (गो०)

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान्परामृशेत् ।
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबलः ॥ ६ ॥

जो राजा धर्ममार्ग पर आरूढ़ है क्या उसको परस्त्री पर हाथ डालना उचित है ? हे महाबली ! तुमको तो राजपत्नी की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

निवर्तय मतिं नीचां परदाराभिमर्शनात् ।
न तत्समाचरेद्धीरो[1] यत्परोऽस्य विगर्हयेत् ॥ ७ ॥

अतः तुम पराई स्त्री के हरण करने की नीच बुद्धि को त्याग दो । जिस काम के करने से निन्दा होती हो, वह काम श्रीमान् पुरुष नहीं किया करते ॥ ७ ॥

यथाऽऽत्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिता[2] ।
*धर्ममर्थं च कामं च शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्[3] ॥ ८ ॥
व्यवस्यन्ति न राजानः धर्मं पौलस्त्यनन्दन ।
राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ॥ ९ ॥

विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि, अपनी स्त्री की तरह पराई स्त्री की भी रक्षा करे । हे पौलस्त्यनन्दन ! शिष्टजन अथवा विवेकीजन धर्म, अर्थ, अथवा काम सम्बन्धी किसी भी कार्य के विषय में जब शास्त्र का विधान नहीं पाते, तब राजा जैसा करता है, उसीका वे लोग अनुसरण करते हैं । अतः राजा को सदैव धर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिये । क्योंकि राजा ही धर्म और राजा ही काम और राजा ही समस्त उत्तम द्रव्यों का ख़ज़ाना है ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ धीरः—धीमान् । (गो०) २ विपश्चिता—विवेकिना । (गो०) ३ शास्त्रेष्वनागतम्—शास्त्रेषु अनुपदिष्टं । (गो०) * पठान्तरे—" अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम् " ।

धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ।
पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसांवर ॥ १० ॥

धर्म, शुभकर्म अथवा पापकर्म सब की जड़ राजा ही है। क्योंकि राजा की प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रजाजनों की भी प्रवृत्ति होती है। हे! राक्षसोत्तम! स्वभाव ही से पापी और चञ्चल हो कर भी ॥ १० ॥

ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृतिः ।
कामं स्वभावो यो यस्य न शक्यः परिमार्जितुम् ॥ ११ ॥

तुम किस प्रकार दुष्कर्म करने वाले जन को देवविमान प्राप्त होने के समान, इस ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हो? जो कामी है अथवा स्वेच्छाचारी है, वह अपने उस स्वभाव को बदल नहीं सकता ॥ ११ ॥

न हि दुष्टात्मनामा[1]र्यमावसत्यालये[2] चिरम् ।
विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ॥ १२ ॥
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ १३ ॥

इसीसे दुष्ट जनों के हृदय में सदुपदेश बहुत देर तक नहीं टिकता जब महाबली श्रीराम ने तुम्हारे अधिकृत देश में, अथवा पुर में, तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया; तब तुम उनके प्रति यह अपराध कार्य क्यों कर रहे हो। यदि कहो कि, शूर्पणखा के पीछे जनस्थान-वासी खरादि का ॥ १२ ॥ १३ ॥

---

१ आर्यं—सदुपदेशः। (गो०) २ आलये—हृदये। (गो०)

अतिष्ठतो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ १४ ॥

वध कर अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र पहिले ही मर्यादा भङ्ग कर चुके हैं, तो तुम्हीं बतलाओ कि, वास्तव में श्रीरामचन्द्र का इसमें क्या दोष है, ॥ १४ ॥

यस्य त्वं लोकनाथस्य भार्यां हृत्वा गमिष्यसि ।
क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा ॥ १५ ॥
दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ।
सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ॥ १६ ॥

जो तुम उन लोकनाथ की भार्या को हर कर लिये जाते हो ? हे रावण ! तुम तुरन्त सीता को छोड़ दो । नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि, जिस प्रकार इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार कहीं श्रीराम तुझे (भी) अपने अग्नितुल्य नेत्र से भस्म कर डालें । अरे रावण ! महाविषैले सर्प को आंचल में बाँध कर भी, तू नहीं चेतता ॥ १५ ॥ १६ ॥

ग्रीवायां प्रतिमुक्तं[1] च कालपाशं न पश्यसि ।
स भार सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत् ॥ १७ ॥

तुम गले में काल का फंदा लगा कर भी आंख से नहीं देखते । हे सौम्य ! बोझ उतना ही उठाना चाहिये जितने से स्वयम् दब जाना न पड़े ॥ १७ ॥

---

१ प्रतिमुक्तं—आमुक्तं । (गो०)

तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ।
यत्कृत्वा न भवेद्धर्मो न कीर्त्तिर्न यशो भुवि ॥ १८ ॥
शरीरस्य भवेत्खेदः कस्तत्कर्म समाचरेत् ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण ॥ १९ ॥

वही अन्न खाना चाहिये जो किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न न कर के पच जाय । जिस काय के करने में न तो पुण्य ही होता है और न संसार में कीर्ति और यश ही फैलता है, बल्कि जिसके करने से शरीर को क्लेश हो ऐसे कम को कौन (समझदार) पुरुष करेगा ? हे रावण ! मुझे उत्पन्न हुए साठ हज़ार वर्ष बीत चुके ॥ १८ ॥ १९ ॥

पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः ।
वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सशरः कवची रथी ॥ २० ॥

और मैं अपने बाप दादों के परम्परागत प्राप्त राज्य का पालन यथावत् करता हूँ । यद्यपि मैं बूढ़ा हूँ और तुम युवा हो, रथ पर सवार हो, कवचधारी हो और धनुष बाण लिये हुए हो ॥२०॥

तथाऽप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि ।
न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ॥ २१ ॥

तथापि तुम सीता को ले कर यहाँ से कुशलपूर्वक नहीं जा सकते । मेरी आँखों के सामने तुम बरजोरी सीता को नहीं ले जा सकते ॥ २१ ॥

हेतुभिर्न्यायसायुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ २२ ॥

जैसे किसी वेदवेत्ता के समाने कोई तर्कशास्त्री वेद के मंत्रों का अनुचित अर्थ नहीं कर सकता। हे रावण! यदि तुझे शूरवीर होने का दावा है, तो दो घड़ी यहाँ रुक कर, मुझसे युद्ध कर ॥ २२ ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा ।
अमकृत्संयुगे येन निहता *दैत्यदानवाः ॥ २३ ॥

फिर देखना कि, मैं तुझे मार कर पृथिवी पर उसी प्रकार लिटाता हूँ कि नहीं, जिस प्रकार पहिले खर मार कर पृथिवी पर लोट चुका है। हे रावण! जिन्होंने अनेक वार युद्ध में दैत्य और दानवों को मारा है ॥ २३ ॥

न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ॥ २४ ॥

वे चीरधारी श्रीराम संग्राम में क्या तेरा वध करने में देर लगावेंगे! मैं क्या करूँ वे दोनों राजकुमार वन में दूर निकल गये हैं ॥ ३४ ॥

क्षिप्रं त्वं नश्यसे[1] नीच तयोभातो न संशयः ।
न हि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम् ॥ २५ ॥
सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ।
अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः ॥ २६ ॥
जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च ।
तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण ॥ २७ ॥

---

१ नश्यसे—अदर्शनं प्राप्नोषि । (गो०) * पाठान्तरे—" देव "

हे नीच ! तू भी उनसे डर कर, निस्सन्देह शीघ्र मारा जायगा, किन्तु मेरे जीते जी तो तू कमलनयनी श्रीराम की प्यारी पट-रानी सीता को नहीं ले जाने पावेगा। क्योंकि मैं तो उन महात्मा श्रीराम की और दशरथ की भलाई जान दे कर भी अवश्य करूँगा। हे दशग्रीव रावण ! खड़ा रह !! खड़ा रह !!! मुहूर्त्त भर में ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥ २७ ॥

युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं[1] निशाचर ।
वृन्तादिव फलं त्वा तु पातयेयं रथोत्तमात् ॥ २८ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

हे निशाचर ! मैं तेरा अपने बल के अनुरूप युद्धोचित आतिथ्य कर, पके फल की तरह तुझे इस उत्तम रथ से नीचे गिराये देता हूँ ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकपञ्चाशः सर्गः

—※—

इत्युक्तस्य यथान्यायं रावणस्य जटायुषा ।
क्रुद्धस्याग्निनिभाः सर्वा रेजुर्विंशतिदृष्टयः ॥ १ ॥

जटायु के न्यायपूर्वक कहे हुए बचनों को सुन कर, रावण के बीसों नेत्र क्रोध में भरने के कारण अग्नि के समान लाल पड़ गये ॥ १ ॥

---

१ यथाप्राणं—यथाबलं । (गो०)

संरक्तनयनः क्रोधादुद्धकाञ्चनकुण्डलः ।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः[1] ॥ २ ॥

तब जटायु के वाक्यों को न सह कर शुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए रावण, क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, जटायु पर बड़े वेग से दौड़ा ॥ २ ॥

स [2]संप्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन्महावने ।
बभूव वातोद्धतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाश में पवन प्रेरित दो मेघों की टक्कर होती है, उसी प्रकार उन दोनों का विकट युद्ध हुआ ॥ ३ ॥

तद्बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा ।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ४ ॥

पक्षधारी दो माल्यवान श्रेष्ठपर्वतों की तरह गृद्धराज जटायु और राक्षसेश्वर रावण का अद्भुत युद्ध हुआ ॥ ४ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्चविकर्णिभिः ।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलः ॥ ५ ॥

रावण ने महाबली जटायु के ऊपर पैनी नोकों वाले नालीक और विकर्णि नामक बड़े भयङ्कर तीरों की वर्षा कर उसे ढक दिया ॥५॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः[3] ।
जटायुः प्रतिजग्राह[4] रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ६ ॥

---

१ अमर्षणः—असहनः । (गो०) २ संप्रहारः—युद्धं । (गो०)
३ पत्ररथेश्वरः—पक्षीश्वरः । (गो०) ४ प्रतिजग्राह—सेहे । (गो०)

परन्तु पक्षीश्वर गृद्ध ने उस युद्ध में रावण के सब तीरों और अस्त्रों के प्रहारों को सह लिया ॥ ६ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।
चकार बहुधा गात्र व्रणान्पतगसत्तमः ॥ ७ ॥

और जटायु ने अपने पैने नखवाले दोनों पैरों से रावण के शरीर को क्षत विक्षत कर डाला ॥ ७ ॥

अथ क्रोधाद्दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्[1] ।
मृत्युदण्डनिभान्घोराञ्शत्रुमर्दनकाङ्क्षया ॥ ८ ॥

तब तो क्रोध में भर कर, दशग्रीव रावण ने जटायु का बध करने के लिये बड़े भयङ्कर कालदण्ड की तरह दस बाण निकाले ॥ ८ ॥

स तैर्वाणैर्महावीर्यः पूर्णोत्तैरजिह्मगैः[2] ।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ९ ॥

और कान तक धनुष के रोड़े को खींच कर, उन सीधे चलने वाले सान पर पैनाये हुए और भयङ्कर बाणों से जटायु का शरीर विदीर्ण किया ॥ ९ ॥

स राक्षसरथे पश्यञ्जानकीं बाष्पलोचनाम् ।
अचिन्तयित्वा तान्बाणान्राक्षसं समभिद्रवत् ॥ १० ॥

जटायु ने उन बाणों की तो कुछ परवाह न की, किन्तु जब देखा कि, रावण के रथ में बैठी जानकी नेत्रों से आंसू बहा रही है, तब वह रावण की ओर झपटा ॥ १० ॥

---

१ मार्गणान्—बाणान् । (गो०) २ आजिह्मगैः—ऋजुगामिभिः । (गो०)

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगेश्वरः ॥ ११ ॥

और उस महातेजस्वी पक्षिराज ने मारे लातों के रावण का तीरों सहित धनुष, जिसमें मोती और मणियां जड़ी थीं, तोड़ डाला ॥११॥

ततोऽन्यद्धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः ।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १२ ॥

तब तो अत्यन्त कुपित हो रावण ने दूसरा धनुष उठाया और जटायु पर सैकड़ों सहस्रों बाणों की वर्षा की ॥१२॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।
कुलायमुपसम्प्राप्तः पक्षीव प्रबभौ तदा ॥ १३ ॥

उस समय जटायु उस शरसमूह से बिध कर घौंसले में बैठे हुए पक्षी की तरह शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १३ ॥

स तानि शरवर्षाणि पक्षाभ्यां च विधूय च ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद्धनुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी जटायु ने अपने दोनों पंखों से उस शरजाल को खण्डित कर, अपने दोनों पंजों से रावण के उस (दूसरे) बड़े धनुष को भी तोड़ डाला ॥ १४ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम्[1] ।
पक्षाभ्यां स महावीर्यो व्याधुनोत्पतगेश्वरः ॥ १५ ॥

---

१ शरावरं—कवचं । (गो०)

(इतना ही नहीं बल्कि) अपने पंखों के प्रहार से महातेजस्वी जटायु ने रावण का अग्नि की तरह चमचमाता कवच भी तोड़ फोड़ डाला ॥ १५ ॥

काञ्चनोरश्छदान्दिव्यान्पिशाचवदनान्खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १६ ॥

उस बली जटायु ने रावण का सुवर्णमय दिव्य कवच तोड़, अति शीघ्र दौड़ने वाले और पिशाचों जैसे मुख वाले रथ में जुते हुए खच्चरों को मार डाला, ॥ १६ ॥

वरं त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥ १७ ॥

फिर इच्छागामी, अग्नि के समान चमचमाता, और मणियों के बने पावदानों से युक्त, तथा जिसके जुये में तीन बाँस लगे हुए थे—ऐसे रावण के बड़े रथ को जटायु ने तोड़ डाला ॥ १७ ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह ।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १८ ॥

फिर जटायु ने पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह छत्र, चामरों को और उनके थामने वाले राक्षसों को भी मार डाला ॥ १८ ॥

सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेनैव महच्छिरः ।
पुनर्व्यपाहरच्छ्रीमान्पक्षिराजो महाबलः ॥ १९ ॥

फिर महाबली पक्षिराज जटायु ने अपनी चोंच के प्रहार से रावण के सारथी का बड़ा सिर भी काट डाला । इस प्रकार परम बल सम्पन्न पक्षिराज द्वारा ॥ १९ ॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥ २० ॥

जब रावण का धनुष तोड़ा गया, रथ नष्ट किया गया, और घोड़े तथा सारथी मार डाले गये, तब रावण सीता को अपनी गोदी में लिये हुए भूमि पर कूद पड़ा ॥ २० ॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम् ।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमभूजयन् ॥ २१ ॥

सवारी नष्ट होने के कारण रावण को पृथ्वी पर गिरा हुआ देख, समस्त प्राणी "वाह वाह" कह कर, जटायु की प्रशंसा करने लगे ॥ २१ ॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम् ।
उत्पपात धुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः ॥ २२ ॥

पक्षिराज जटायु को बुढ़ापे के कारण थका जान, रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सीता को ले फिर आकाशमार्ग से चल दिया ॥२२॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के गच्छन्तं जनकात्मजाम् ।
गृध्रराजः समुत्पत्य समभिद्रुत्य रावणम् ॥ २३ ॥

रावण को प्रसन्न होते हुए और जानकी को लेकर जाते हुए देख, जटायु ने बड़े वेग से उसका पीछा किया ॥ २३ ॥

*समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ।
वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे "ममावार्य" "तमावार्य" वा ।

अल्पबुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ।
सबन्धुः सामात्यः सबलः समरिच्छदः ॥ २५ ॥

और उस महातेजस्वी जटायु ने रावण का मार्ग रोक उससे यह कहा—तू अपने इष्टमित्रों, भाईबन्धुओं, मंत्रियों, सेनाओं और कुटुम्ब सहित समस्त राक्षसकुल का सर्वनाश करने के लिये हो, वज्र समान बाण धारण करने वाले श्रीरामचन्द्र की भार्या, इन जानकी को चुरा कर लिये जा रहा है ॥ २४ ॥ २५ ॥

विषपानं पिबस्येतत्पिपासित इवोदकम् ।
अनुबन्धम्[1]अजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः[2] ॥ २६ ॥

जिस प्रकार प्यासा पानी पीता है, उसी प्रकार तू यह विषपान कर रहा है। असमर्थ लोग जिस प्रकार अपने किये हुए कर्म के फल को न जान कर, ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥ २७ ॥

शीघ्र विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार तू भी विनष्ट हो जायगा। तूने अपने गले में काल की फाँसी डाल ली है, अब तू किस देश में भाग कर इससे निस्तार पा सकता है ॥ २७ ॥

वधाय बडिशं गृहय सामिषं जलजो यथा ।
न हि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ॥ २८ ॥

---

१ अनुबन्धः फलम् । (गो०) २ अविचक्षणाः—असमर्थाः । (गो०)

धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ।
यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ॥ २९ ॥
तस्करा चरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ ३० ॥

मांस के टुकड़े से युक्त बंशी के कांटे की ओर अपने प्राण खोने को जिस प्रकार मछली दौड़ती है, उसी प्रकार तू भी यह काम कर रहा है। हे रावण! श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण अजेय हैं, वे तेरे इस अपराध को, जो तू उनके आश्रम से सीता को हर कर लिये जाता है कभी क्षमा न करेंगे। तू जो यह लोकनिन्दित और डरपोकों जैसा काम कर रहा है, सो चोरों के योग्य है, वीरों के योग्य नहीं है। यदि तुझे वीर होने का अभिमान है, तो दो घड़ी ठहरा रह और युद्ध कर ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ।
परेतकाले पुरुषो यत्कर्म प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ।
पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः कर्म को नु तत् ॥ ३२ ॥

और फिर देख, मैं तुझे उसी तरह, जिस तरह तेरा भाई खर मारा गया है, मार कर भूमि पर गिराता हूँ कि, नहीं। मरते समय मनुष्य अपने नाश के लिये जैसे अधर्म के काम किया करते हैं, वैसे ही तू भी कर रहा है। जिस कर्म का सम्बन्ध पाप से है उस कर्म को कौन पुरुष ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ।
एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ॥ ३३ ॥

निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ।
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विरराद समन्ततः ॥ ३४ ॥

करेगा—भले ही वह लोकाधिपति साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो। इस प्रकार की हित की बातें कह, जटायु उस बलवान राक्षस दशग्रीव रावण की पीठ से लिपट गया और अपने पैने नाखूनों से उसकी समस्त पीठ विदीर्ण कर डाली ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

[नोट—जब रावण ने जटायु का तिरस्कार कर, उसकी बातों पर ध्यान न दिया और वह आगे बढ़ने लगा, तब जटायु उसकी पीठ में लिपट गया—ऐसा जान पड़ता है ।]

अधिरूढो गजारोहो यथा स्वाद्दुष्टवारणम् ।
विरराद नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन् ॥ ३५ ॥

जैसे महावत् दुष्ट हाथी की गर्दन पर सवार हो, उसके अंकुश चुभोता है, उसी प्रकार जटायु ने रावण की पीठ पर अपनी चोंच चुभोयी ॥ ३५ ॥

केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ।
स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ ३६ ॥

नख, चोंच और पंखों के हथियार से लड़ने वाले जटायु ने रावण के सिर के बाल नोंच डाले । इस प्रकार जटायु से बार बार सताये जाने पर ॥ ३६ ॥

[1]अमर्षस्फुरितोष्ठः सन्प्राकम्पत[2] स रावणः ।
स परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ॥ ३७ ॥

---

१ अमर्षेण—क्रोधेन । (गो०) २ प्राकम्पत—प्रहारार्थं प्रदक्षिणं प्राचलदित्यर्थः । (गो०)

रावण क्रोध के मारे ओंठों को फरफराता हुआ, जटायु पर वार करने के लिये मुड़ा। उसने सीता को बाईं बगल में दबाया ॥ ३७ ॥

तलेनाभिजघानाशु जटायुं क्रोधमूर्छितः ।
जटायुस्तमभिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः ॥ ३८ ॥

और वह क्रोध में भर कर, जटायु के थपेड़े मारने लगा। पक्षिराज जटायु ने उसके थपेड़े को बचाया और अपनी चोंच से ॥ ३८ ॥

वामबाहून्दश तदा [1]व्यपाहरदरिन्दमः ।
संछिन्नबाहोः सर्वे वाहवः सहसाऽभवन् ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन जटायु ने रावण की बाईं ओर की दसों भुजाओं को काट गिराया; किन्तु तत्क्षण रावण की बीसों भुजाएँ उसी प्रकार निकल आयीं, ॥ ३९ ॥

विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ।
ततः क्रोधाद्दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य रावणः ॥ ४० ॥

जिस प्रकार विष की ज्वालाएं फैंकते हुए सर्प बांबी से निकलते हैं। तब रावण ने क्रोध में भर सीता को तो छोड़ दिया ॥ ४० ॥

मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत्[2] ।
ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः ॥ ४१ ॥
राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ।
तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः ॥ ४२ ॥

---

१ व्यपाहरत्—अच्छिनत् । (गो०) २ अपोथयत्—अताडयत् । (गो०)

और वह मुंकों और लातों से गृध्रराज को मारने लगा। अतुल वीर्यवान उन दोनों का (अर्थात् राक्षसराज और पक्षिराज का) एक मुहूर्त्त तक घमासान युद्ध हुआ। उस समय श्रीराम के लिये युद्ध करते हुए जटायु के, रावण ने ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पक्षौ पार्श्वौ च पादौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ।
स च्छिन्नपक्षः सहसा राक्षसा रौद्रकर्मणा ।
निपपात हतो गृध्रो धरण्यामल्प जीवितः ॥ ४३ ॥

तलवार से समूल दोनों पर और दोनों पैर काट डाले। तब भयानक कर्म करने वाले रावण द्वारा पक्षों के काटे जाने पर जटायु गृद्ध मरणप्रायः हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

जटायु को घायल पड़ा देख, दुःख से पीड़ित हो कर, सीता उस की ओर उसी प्रकार दौड़ी, जिस प्रकार कोई अपने किसी भाई बन्धु को पीड़ित देख, उसकी ओर दौड़ता है ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सुपाण्डुरोरस्कमुदारवर्यम् ।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

लङ्काधिपति रावण ने, नीले मेघ के समान रंग वाले, पाण्डुर रंग की छाती वाले और अत्यन्त पराक्रमी जटायु को, उस समय, शान्त हुई वन की आग की तरह, पृथिवी पर पड़ा देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं राक्षसवेगमर्दितम् ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

रावण के द्वारा मर्दित अंगों वाले और भूमि पर लोटते हुए जटायु को अपने कण्ठ से लगा. शशिवदनी जानकी जी रोने लगीं ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का एकयावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

तमल्पजीवितं गृध्रं स्फुरन्तं राक्षसाधिपः ।
ददर्श भूमौ पतितं समीपे राघवाश्रमात् ॥ १ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने श्रीरामाश्रम के समीप उस मृतप्राय जटायु को भूमि पर पड़ा हुआ और तड़फड़ाते हुए देखा ॥ १ ॥

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन बलीयसा* ।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥

बलवान् रावण द्वारा मारे गये जटायु को देख, सीता जी बहुत दुःखी हुईं और विलाप करने लगीं ॥ २ ॥

---

* पाठान्तरे—" समीक्ष्य तम् ।"

आलिङ्ग्य गृध्रं निहतं रावणेन बलीयसा ।
विललाप सुदुःखार्ता सीता शशिनिभानना ॥ ३ ॥

बलवान रावण द्वारा घायल किये गये गृद्धराज को आलिङ्गन कर, चन्द्रवदनी सीता अत्यन्त दुखी हो, विलाप करने लगीं ॥ ३ ॥

निमित्तं लक्षणज्ञानं शकुनिश्वरदर्शनम् ।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां प्रतिदृश्यते ॥ ४ ॥

वे बोलीं कि, बाएं या दहिने अङ्गों का फड़कना, पक्षियों का बोलना और स्वप्न में सुवर्ण रूपी वृक्षों आदि का देखना; मनुष्यों के सुख दुःख के बारे में साक्षी रूप देख पड़ते हैं ॥ ४ ॥

नूनं राम न जानासि महद्व्यसनमात्मनः ।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थं मदर्थं मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

यद्यपि आज निश्चय ही मृग और पक्षीगण इस विपत्ति की सूचना देने को श्रीराम के सामने दौड़ते होंगे, तथापि यह भी निश्चय है कि, श्रीरामचन्द्र जी इस महान् कष्ट को न समझ सकेंगे ॥ ५ ॥

अयं हि पापचारेण मां त्रातुमभिसङ्गतः ।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद्विहङ्गमः ॥ ६ ॥

यह बेचारा जटायु, जो मेरी रक्षा करने यहाँ आया था, यह भी मारा जा कर, मेरे अभाग्य से ज़मीन पर अचेत हुआ पड़ा है ॥६॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना ।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु [1]यथाऽन्तिके ॥ ७ ॥

---

१ शृणुतामन्तकेयथा — शृण्वतांसमीप इव । (गो०)

हे राम ! हे लक्ष्मण ! इस समय मुझे आ कर बचाओ। डरी हुई सीता इस प्रकार उस समय रो कर कह रही थी; मानों श्रीराम और लक्ष्मण पास ही कहीं उसकी बातें सुन ही रहे हों ॥ ७ ॥

तां विलष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत् ।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ८ ॥

अनाथ की तरह विलाप करती हुई, कुम्हलाई हुई माला और मसले हुए आभूषणों को पहिने हुए सीता की ओर राक्षसेश्वर रावण दौड़ा ॥ ८ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान् ।
मुञ्चमुञ्चेति बहुशः प्रवदन्राक्षसाधिपः ॥ ९ ॥

उस समय सीता लता की तरह बड़े बड़े वृक्षों से लिपटने लगी। तब रावण ने उनसे बार बार कहा "छोड़ छोड़" ॥ ९ ॥

क्रोशन्तीं रामरामेति रामेण रहितां वने ।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसन्निभः ॥ १० ॥

उस समय श्रीराम की अनुपस्थिति में राम राम कह कर, उस वन में रोती हुई सीता के पास जा, रावण ने काल की तरह अपने विनाश के लिये सीता के सिर के बाल पकड़ लिये ॥ १० ॥

प्रधर्षितायां सीतायां बभूव सचराचरम् ।
जगत्सर्वममर्यादं तमसाऽन्धेन संवृतम् ॥ ११ ॥

सीता का ऐसा अपमान होते देख कर, सम्पूर्ण चराचर जगत् मर्यादा रहित हो कर, निविड़ अन्धकार से व्याप्त हो गया। अर्थात् सब चराचर जीव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ११ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दीनां दिव्येन चक्षुषा ॥ १२ ॥

हवा का चलना बंद हो गया । सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया । उस समय दुःखिनी सीता के केशाकर्षण को दिव्य दृष्टि से देख, ॥ १२ ॥

कृतं कार्यमिति श्रीमान्व्याजहार पितामहः ।
प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन्सर्वे ते परमर्षयः ॥ १३ ॥

ब्रह्मा जी ने कहा कि, कार्य सिद्ध हो गया । समस्त बड़े बड़े ऋषि लोग हर्षित और दुःखित भी हुए ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः ।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्व यदृच्छया ॥ १४ ॥

दण्डकारण्यवासी लोगों ने सीता का केशाकर्षण देख, जान लिया कि, रावण के नाश में अब बहुत विलंब नहीं है ॥ १४ ॥

स तु तां राम रामेति रुदन्तीं लक्ष्मणेति च ।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १५ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर, रोती हुई जानकी को पकड़ कर, राक्षसनाथ रावण आकाश में चला गया ॥ १५ ॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा ॥ १६ ॥

उस समय विशुद्ध सुवर्ण के भूषणों को पहिने हुए और चंपई रंग की साड़ी धारण किये हुए राजपुत्री जानकी ऐसी जान पड़ी, मानों बादल में बिजली ॥ १६ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।
अधिकं प्रतिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना ॥ १७ ॥

उस समय सीता जी की चंपई रंग की साड़ी के उड़ने से रावण भी, अग्नि से प्रदीप्त पर्वत की तरह शोभित जान पड़ता था ॥ १७ ॥

तस्याः परमकल्याण्याश्चन्दनाक्तानि सुरभीणि च ।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १८ ॥

परम कल्याण रूपिणी सीता जी के शरीर पर जो सुगन्धि युक्त लाल वर्ण के कमलदल थे, वे रावण के शरीर पर गिरते जाते थे ॥ १८ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम् ।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे ॥ १९ ॥

सुवर्ण के रंग जैसी सीता जी की साड़ी, जो आकाश में उड़ रही थी, ऐसी शोभायमान् जान पड़ती थी, जैसे सूर्य की प्रभा से लाल मेघ शोभायमान् होते हैं ॥ १९ ॥

तस्यास्तत्सुनसं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ २० ॥

सीता का निर्मल मुखमण्डल, रावण की गोदी में, श्रीरामचन्द्र जी के विना, नाल (डंडी) रहित कमल की तरह किसी प्रकार भी शोभायमान नहीं देख पड़ता था ॥ २० ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः ।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम् ॥ २१ ॥

शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलङ्कृतम् ।
तस्यास्तद्विमलं वक्त्रमाकाशे राहणाङ्गतम् ॥ २२ ॥

अच्छे ललाट वाला, सुन्दर केशों से युक्त, पद्मगर्भसम प्रकाशित, त्रुटिरहित, सुन्दर, सफेद, स्वच्छ और प्रभायुक्त दाँतों से सुशोभित और मनोहर नेत्रों से युक्त सीता का मुखमण्डल, रावण की गोद में ऐसा जान पड़ता था, जैसे नीले मेघों से निकल कर चन्द्रमा उदय हुआ हो ॥ २१ ॥ २२ ॥

रुदितं व्यपमृष्टास्रं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम् ।
सुनासं चारु ताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम् ॥ २३ ॥
*राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद्वदनं शुभम् ।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥ २४ ॥

अनवरत रोदनयुक्त आँसुओं से मलिन हुआ, चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, सुन्दर नासिका सहित, मनोहर व लाल ओंठों से युक्त, सुवर्ण जैसी कान्तिवाला और रावण की तेज चाल के कारण कम्पित सीता का मुख, श्रीरामचन्द्र के विना वैसे ही सुशोभित नहीं होता था, जैसे दिन में उदय हुआ चन्द्रमा ॥ २३ ॥ २४ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम् ।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥ २५ ॥

सुवर्ण के रंग के शरीर की सीता नीले रंग के शरीर वाले रावण के साथ ऐसी शोभायमान होती थी जैसे सोने की जंज़ीर नीले रंग के हाथी के शरीर पर शोभायमान होती है ॥ २५ ॥

पाठान्तरे—" राक्षसेन ।"

सा पद्मगौरी हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥ २६ ॥

वह कमल फूल के केसर के और सोने के समान पीली और सुवर्ण के भूषणों से भूषित सीता रावण की गोद में ऐसी शोभा देती थी, मानों बादल में बिजली दमक रही हो ॥ २६ ॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसाधिपः ।
बभौ सचपलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २७ ॥

उस समय सीता जी के गहनों के बजने के शब्द से रावण गरजते हुए मेघ की तरह जान पड़ता था ॥ २७ ॥

उत्तमाङ्गच्च्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
सीतायाः ह्रीयमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २८ ॥

जिस समय रावण सीता को हर कर ले चला; उस समय सीता जी के सिर से फूलों की झड़ी सी पृथिवी पर चारों ओर हो रही थी ॥ २८ ॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ २९ ॥
अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम् ।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥ ३० ॥

वायु के झोंकों और रावण के आकाश-गमन के वेग से वे पुष्प उसके चारों ओर उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों नक्षत्रों की माला बड़े ऊँचे मेरुपर्वत के चारों ओर घूम रही हो ॥ २९ ॥ ३० ॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम् ।
विद्युन्मण्डलसङ्काशं पपात मधुरस्वनम् ॥ ३१ ॥

उसी समय जानकी जी के चरण से मधुर झनकार करता हुआ रत्नजड़ाऊ नूपुर खसक कर, चक्कर खाती हुई बिजली की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३१ ॥

तां महोल्का[1]मिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा ।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३२ ॥

कुबेर का छोटा भाई रावण तेजस्विनी सीता को, आकाशमार्ग में उत्पातसूचक तारा (महोल्का) की तरह लिये हुए चला जाता था ॥ ३२ ॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले ।
सघोषाण्यवकीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥ ३३ ॥

सीता जी के वे अग्नि की तरह दमकते हुए गहने, खुल खुल कर ज़मीन पर झनकार के साथ ऐसे गिरते थे, जैसे आकाश से टूटे हुए तारे ॥ ३३ ॥

तस्याः स्तनान्तराद्भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः ।
वैदेह्या निपतन्भाति गङ्गेव [illegible] ॥ ३४ ॥

सीता जी के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार, जो चन्द्रमा की तरह चमचमाता था, ज़मीन पर गिरते समय ऐसा जान पड़ा, मानो आकाश से गङ्गा गिर रही हो ॥ ३४ ॥

---

१ महोल्का—उत्पातसूचकतारा । (गो०)

उत्पतन्तिवातोद्धूता नानाद्विजगणायुताः ।
मा भैरिति विधूताग्रा व्याजह्रुरिव पादपाः ॥ ३५ ॥

रावण के गमन के वेग से उत्पन्न वायु से कम्पित हो, पक्षिगण मानों अपना सिर हिला कर, सीता को धीरज बंधाते हुए कह रहे थे कि, डरो मत ॥ ३५ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः ।
सखीमिव गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम् ॥ ३६ ॥

तालाबों में जो कमल के फूल थे (रावण के गमन के वेग-से) वे ध्वस्त हो गये थे और मछली आदि जलचर जीव जन्तु, भयभीत हो गये थे। मानों वे भी सीता के वियोग से वैसे विकल हो रहे थे, जैसे कोई स्त्री अपनी सहेली के लिये शोक करती हो ॥ ३६ ॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।
अन्वधावंस्तदा रोषात्सीतां छायानुगामिनः ॥ ३७ ॥

सिंह, व्याघ्र, मृग और पक्षी क्रोध में भर सीता जी को परछाईं पकड़ने के लिये चारो ओर से आ कर, उनके पीछे पीछे दौड़ते चले जाते थे ॥ ३७ ॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहवः ।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३८ ॥

जानकी जी के हरे जाने से, पर्वतश्रेणी अपने शिखर रूपी बाहों को उठा और झरनों के जल से मानों अश्रु बहा रो रही थी ॥ ३८ ॥

---

१ उत्पन्नेति—रावणवेगोत्पन्नेत्यर्थः । (गो०) २ विधूताग्राः—आश्वसनाय चलितशिरसः सन्तः । (गो०) ३ गतोच्छ्वासां—गतप्राणां । (गो०)

ह्रियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः ।
प्रतिध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत्पाण्डरमण्डलः ॥ ३९ ॥

सीता जी का हरा जाना देख, सूर्यदेव दुःखी होने के कारण तेज-हीन हो गये और उनका मण्डल धुंधला पड़ गया ॥ ३९ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता ।
यत्र रामस्य वैदेहीं भार्यां हरति रावणः ॥ ४० ॥
इति सर्वाणि भूतानि गणशः[1] पर्यदेवयन् ।
विस्वरा दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः[2] ॥ ४१ ॥

उस वन के यावत् प्राणी एकत्र हो विलाप करते हुए कहते थे कि, जब रावण, श्रीरामभार्या सीता को हर कर लिये जाता है, तब फिर धर्म, सत्य, दया, सरलता और सुशीलता की तो इतिश्री ही हो गयी । एक ओर मृगछौने त्रस्त हो दुःखी हो रो रहे थे ॥४०॥४१॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैरश्रुपूर्णाविलेक्षणाः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥ ४२ ॥

बारंबार नेत्र खोल खोल कर यह देखने से, वनदेवताओं के शरीर मारे भय के थर थर काँप रहे थे ॥ ४२ ॥

विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ॥ ४३ ॥
तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वरम् ।
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ॥ ४४ ॥

---

१ गणशः—सङ्घशः । (गो०) २ मृगपोतकाः—मृगशावाः । (गो०)

स तामनुक्रोशदतीं विसंज्ञां विनिःश्वसन्तीं विवशां विषण्णाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥ ४५ ॥

बहुत करके वे हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्लाती, रोती, दुःखी होती हुई और बार बार पृथिवी की ओर निहारती, खुले हुए बाल और माथे के मिटे हुए तिलक वाली और दृढ़ पतिव्रत धारण करने वाली सीता को रावण अपने विनाश के लिये हर कर लिये जाता था ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४६ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

मनोहर दांतों वाली, मन्द मन्द हास करने वाली सीता, बन्धुजनों से हीन और दोनों अर्थात् राम लक्ष्मण को न देखने से, बहुत उदास और भयभीत हो गयी ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का बावनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावण को आकाशमार्ग से जाते देख, जनकात्मजा मैथिली बहुत डरी और दुःखित हो घबड़ा गयी ॥ १ ॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
क्रन्ती करुणं सीता ह्रियमाणेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

हरे जाने पर, क्रोध के मारे और रोते रोते सीता के नेत्र लाल हो गये, वह आर्तस्वर से रोती हुई भयङ्कर नेत्रों वाले राक्षसेश्वर रावण से यह बोली ॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणाऽनेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यन्मां चोरयित्वा पलायसे ॥ ३ ॥

अरे नीच रावण ! क्या तुझको यह काम करते हुए लज्जा नहीं मालूम पड़ती कि, जो तू मुझे अकेली पा और चुरा कर भागा जा रहा है ॥ ३ ॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन्भीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥ ४ ॥

मैं जान गयी तू बड़ा दुष्ट और डरपोंक है । अतः निश्चय ही तू मुझे हरने के लिये मायामृग के रूप से, मेरे पति को आश्रम से दूर ले गया ॥ ४ ॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम ॥ ५ ॥

फिर इस बूढ़े गृद्धराज को भी, जो मेरे ससुर का मित्र था और मेरी रक्षा करने को तैयार हुआ था, मार डाला ॥ ५ ॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम ।
विश्राव्य नामधेयं हि बुद्धनास्मि जिता त्वया ॥ ६ ॥

हे राक्षसाधम ! इससे तू बड़ा पराक्रमी जान पड़ता है । (यह व्यङ्ग्योक्ति है) तूने केवल अपना नाम सुना कर, मुझे हरा है—तू मुझे युद्ध में जीत कर नहीं लाया ॥ ६ ॥

ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे ।
स्त्रियाश्च हरणं नीच रहिते तु परस्य च ॥ ७ ॥

अरे नीच ! सूने में पराई स्त्री के हरण करने का, यह निन्दनीय कर्म कर, तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥ ७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम् ।
सुनृशंसमधर्मिष्ठं तव शौण्डीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

तू अपने को शूर बतला कर, जो ऐसा क्रूर और पापकर्म कर रहा है, सो लोग तेरे इस कर्म की निन्दा करेंगे ॥ ८ ॥

धिक्ते शौर्यं च सत्त्वं च यस्त्वं कथितवांस्तदा ।
कुलाक्रोशकरं लोके धिक्ते चारि मीदृशम् ॥ ९ ॥

हरन करने के समय तूने जिस शूर वीरता और बल को बखान किया था, उस तेरी शूरवीरता और बल को धिक्कार है । इस लोक में कुल को कलङ्क लगाने वाले तेरे इस चरित्र पर भी लानत है ॥ ९ ॥

किं कर्तुं शक्यमेवं हि यज्जवेनैव धावसि ।
मुहूर्तमपि तिष्ठस्व न जीवन्प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

ऐसी दशा में जब तू बड़े वेग से भागा जा रहा है कोई क्या कर सकता है। हाँ, यदि तू एक मुहूर्त भर ठहर जाय, तो तू जीता हुआ तो न जा सकेगा ॥ १० ॥

न हि चक्षुष्पथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः ।
ससैन्योऽपि ससर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

उन राजपुत्रों की दृष्टि में पड़ते ही तू अपनी सेना सहित भी एक मुहूर्त्त भर भी जीता जागता नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथञ्चन ।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहङ्गमः ॥ १२ ॥

पक्षी जिस प्रकार वन के दावानल को नहीं छू सकता, उसी प्रकार तू उन राजकुमारों के बाणों का स्पर्श किसी तरह सहन नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण ।
मत्प्रधर्षणरुष्टो हि भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥ १३ ॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि ।
येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥

अतएव हे रावण ! भली प्रकार अपना हित विचार कर सीधी तरह मुझको छोड़ दे। यदि न छोड़ेगा, तो मेरी धर्षणा से क्रुद्ध हो, मेरे पति अपने भाई लक्ष्मण सहित तेरे विनाश के लिये उद्योग करेंगे। हे नीच ! जिस उद्देश से तू बरजोरी मुझे हरे लिये जाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

व्यवसायः स ते नीच भविष्यति निरर्थकः ।
न ह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं बिबुधोपमम् ॥ १५ ॥

वह तेरा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकेगा। क्योंकि मैं उस देवता तुल्य अपने पति को न देख ॥ १५ ॥

उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान्धारयितुं चिरम्।
न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥

और शत्रु के वश में पड़, बहुत दिनों जीती न रह सकूँगी। मैं समझती हूँ कि, तू अपने हित और कल्याण की ओर दृष्टि नहीं देता ॥ १६ ॥

मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते।
मुमूर्षूणां हि सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

जो पुरुष शीघ्र मरने वाला होता है वह अपथ्य सेवन करने लगता है। क्योंकि ऐसे पुरुष को पथ्य वस्तु भली ही नहीं लगती ॥ १७ ॥

पश्याम्यद्य हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम्।
यथा चास्मिन्भयस्थाने न बिभेषि दशानन ॥ १८ ॥

हे दशानन! मैं देख रही हूँ कि, तेरे गले में काल की फाँसी पड़ चुकी है, क्योंकि इस भय के स्थान में भी तुझे भय नहीं लगता ॥१८॥

व्यक्तं हिरण्मयान्हि त्वं सम्पश्यसि महीरुहान्।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघनिवाहिनीम् ॥ १९ ॥

इससे स्पष्ट है कि, तू सोने के वृक्ष देखता (स्वप्न में) होगा। तू भयङ्कर और रुधिर के प्रवाह को बहाने वाली वैतरणी नदी को ॥ १९ ॥

असिपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैडूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥

द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम् ।
न हि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं[1] महात्मनः ॥ २१ ॥

और भयङ्कर असिपत्र बन नामक नरक को देखना चाहता है। तू तपाये हुए सुवर्ण के फलों से पूर्ण और पन्नों के पत्रों वाले और नुकीले लोहे के काटों से युक्त शाल्मली के वृक्ष को देखेगा। महात्मा श्रीराम का ऐसा अप्रिय कार्य कर ॥ २० ॥ २१ ॥

[नोट—जो परदाराभिगमन करते हैं उन्हें मरने पर यमलोक में कटीले शाल्मली वृक्ष को आलिङ्गन करना पड़ता है।]

*चरितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृणः ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

तू बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकता। जैसे कोई विष पी कर बहुत दिनों तक नहीं जी सकता। हे निर्घृण रावण! अब तू दृढ़ काल-पाश से बंध गया है ॥ २२ ॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म भर्तुर्मम महात्मनः ।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रात्रा महावने ॥ २३ ॥

मेरे महात्मा भर्त्ता के सामने से भाग कर, तू कहाँ सुख पा सकता है! उन्होंने पलक मारते दण्डकवन में अकेले ही अपने भाई लक्ष्मण की सहायता के बिना ॥ २३ ॥

राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश ।
स कथं राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ।
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम् ॥ २४ ॥

---

१ अलीकं—अप्रियं। (गो०)

* पाठान्तरे—"धारितु", "धरितं" वा।

चौदह हजार राक्षसों को मार डाला था। वे सब अस्त्रों के चलाने में निपुण एवं बलवान तथा वीर श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी भार्या के चोर तुझको अपने पैने बाणों से क्यों न मारेंगे ॥ २४ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा ।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावण की गोद में पड़ी हुई सीता, भय और शोक से पीड़ित हो, इस प्रकार के और भी अनेक कठोर वचन कह, करुण स्वर से विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

तथा भृशार्तां बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम् ।
जहार पापः करुणं विवेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुम् ॥ २६ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

जानकी जी बहुत घबड़ा कर, करुणा सहित विलाप कर अनेक कठोर वचन कहने लगीं। उस समय वह पापी रावण भय से काँपता हुआ, छटपटाती सीता को लिये चला जाता था ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—※—

ह्रियमाणा तु वैदेही कञ्चिन्नाथमपश्यती ।
ददर्श गिरिशृङ्गस्थान्पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार जाती हुई सीता ने, जब कोई अपना बचाने वाला न देखा, तब उनकी निगाह एक पर्वतशिखर पर बैठे हुए, पांच बंदरों पर पड़ी ॥ १ ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम् ।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥

उन विशालाक्षी वरारोहा जानकी जी ने सुवर्ण की तरह चमकीले चंपई रंग के वस्त्र में बाँध अपने कुछ उत्तम गहनों को उन बंदरों के बीच में ॥ २ ॥

मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति मैथिली ।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

यह समझ कर, गिरा दिया कि, वे बानर सम्भवतः सीता के हरण का संदेसा श्रीराम से कह दें। सीता जी के छोड़े हुए वे वस्त्र सहित आभूषण बंदरों के बीच में जा गिरे ॥ ३ ॥

सम्भ्रमात्तु दशग्रीवस्तत्कर्म न स बुद्धवान्।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥

विक्रोशन्तीं तथा सीतां ददृशुर्वानरर्षभाः ।
स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥

सीता जी का यह कर्म, हड़बड़ी में रावण ने नहीं जान पाया। पीली आंखों वाले वे श्रेष्ठ वानर उच्च स्वर से चिल्लाती हुई सीता को बिना पलक झपकाये अर्थात् टकटकी बाँधे देखते रहे। पम्पा को लांघ लंकापुरी की ओर ॥ ४ ॥ ५ ॥

जगाम रुदतीं गृह्य वैदेहीं राक्षसेश्वरः ।
तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥

राक्षसेश्वर रावण रोती हुई सीता को लिये हुए चला गया। उस समय रावण सीता रूपी अपनी मौत को लिये वैसे ही अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ चला जाता था ॥ ६ ॥

उत्सङ्गेनेव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम् ।
वनानि सरितः शैलान्सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥

जैसे कोई पैने दांतों वाली और महाविषैली साँपिन को अपनी गोद में ले प्रसन्न होता हो। अनेक वनों, नदियों, पहाड़ों और झीलों को पीछे छोड़ता हुआ, रावण आगे बढ़ता चला जाता था ॥ ७ ॥

स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः ।
तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥

वह ऐसी जल्दी चला जा रहा था, जैसे धनुष से छूटा बाण जाता है। तिमि (एक प्रकार की बड़ी भयङ्कर मछली) और घड़ियालों के निवासस्थान और वरुण के आवासस्थान सागर को भी रावण ने पार किया ॥ ८ ॥

सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम् ।
सम्भ्रमात्परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥

उस समय सीता को हरी जाती देख, नदीनाथ समुद्र तरङ्गहीन हो गया और उसमें रहने वाले मत्स्य और सर्प घबड़ा उठे ॥ ९ ॥

वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः ।
अन्तरिक्षगता वाचः [1]ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥

सीता जी के हरने पर समुद्र की तो यह दशा हुई । उधर आकाशस्थित चारणगण यह बात बोले, ॥ १० ॥

एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तदाब्रुवन् ।
स तु सीतां विवेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥ ११ ॥

बस अब रावण किसी प्रकार नहीं बच सकता । उस समय यही बात सिद्धों ने भी कही । रावण छटपटाती हुई सीता को गोदी में लिये ॥ ११ ॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।
सोऽभिगम्यं पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥

अपनी लङ्का पुरी में ले गया । वह सीता को नहीं ले गया बल्कि वह अपनी मृत्यु को ले गया । लङ्कापुरी बड़े बड़े चौराहों और चौड़ी सड़कों से सुशोभित थी ॥ १२ ॥

संरूढकक्ष्याबहुलं स्वमन्तःपुरमाविशत् ।
तत्र तामसितापाङ्गां शोकमोहपरायणाम् ॥ १३ ॥

---

१ ससृजुः—ऊचुः । (गो०)

उसकी शालाएँ राक्षसजनों से भरी हुई थीं। रावण ने अपने अन्तःपुर में ले जाकर सीता को, जो शोक मोह से युक्त और परम सुन्दरी थी, बैठा दिया ॥ १३ ॥

निदधे रावणः सीता मयो मायामिव स्त्रियम्।
अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः ॥ १४ ॥

उस समय ऐसा बोध हुआ मानो मयदानव अपनी पुरी में आसुरी माया ले आया है। रावण ने सीता जी को अपने रनवास में ठहरा भयङ्कर सूरतवाली पिशाचिनों से कहा ॥ १४ ॥

यथा नेमां पुमान्स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः।
मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद्यदिच्छेत्तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा।
या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किञ्चिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम्।
तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥१७॥

मेरी आज्ञा हुए बिना सीता को न कोई पुरुष और न कोई स्त्री ही देखने पावे। मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, गहने आदि वस्तुओं में से सीता जो मांगे सो तुम मुझसे पूंछे बिना उसे देना। जान कर अथवा अनजाने जो कोई सीता से कठोर वचन कहेगा, वह जान से मार डाला जायगा। प्रतापी रावण इस प्रकार उन राक्षसियों को आज्ञा दे ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मार्त्किं कृत्यमिति चिन्तयन्।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान्राक्षसान्पिशिताशनान् ॥ १८ ॥

अन्तःपुर से निकल सोचने लगा कि, अब क्या करना चाहिये। इस प्रकार सोचते विचारते उसने देखा कि, आठ मांसभक्षी और बड़े बलवान राक्षस बैठे हैं ॥ १८ ॥

स तान्दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः।
उवाचैतानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उन राक्षसों को देख और ब्रह्मा जी के वरदान से मोहित रावण, उनके बल और पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ, उनसे यह बोला ॥ १९ ॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः।
जनस्थानं हतस्थानं भूतपूर्वं खरालयम् ॥ २० ॥

हे राक्षस लोगों! अब तुम लोग तरह तरह के अस्त्र लेकर शीघ्र यहाँ से जनस्थान को, जहाँ पहिले खर रहा करता और जो इस समय नष्ट हो गया है, जाओ ॥ २० ॥

तत्रोष्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

और वहाँ जा कर रहो। क्योंकि वहाँ के राक्षसों के मारे जाने से वह स्थान शून्य हुआ पड़ा है। तुम लोग अपने पुरुषार्थ और बल के भरोसे वहाँ जा कर रहना और किसी बात से डरना मत ॥ २१ ॥

बलं हि सुमहद्यन्मे जनस्थाने निवेशितम्।
सदूषणखरं युद्धे हतं रामेण सायकैः ॥ २२ ॥

मैंने तो जनस्थान में एक बड़ी सेना रखी थी, किन्तु श्रीरामचन्द्र ने अपने बाणों से खरदूषण सहित उसको मार डाला ॥ २२ ॥

तत्र क्रोधो ममामर्षाद्धैर्यस्योपरि वर्तते ।
वैरं च सुमहज्जातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

अतः इससे मुझे बड़ा क्रोध हुआ है और इस क्रोध ने मेरे धैर्य को भी दबा लिया है। श्रीराम के साथ मेरा बड़ा भारी वैर हो गया है ॥ २३ ॥

निर्वातयितुमिच्छामि तच्च वैरमहं रिपोः ।
न हि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

इस बैर का बदला मैं शत्रु से लेना चाहता हूँ और जब तक मैं युद्ध में अपने शत्रु को न मार डालूँगा, तब तक मुझे नींद नहीं आवेगी ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम् ।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

किन्तु जब मैं खरहन्ता श्रीराम का वध कर डालूँगा, तब मुझे वैसे ही प्रसन्नता होगी, जैसी प्रसन्नता किसी निर्धनी को धन पाने पर होती है ॥ २५ ॥

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता ।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

तुम लोग जनस्थान में रह कर, श्रीराम किस समय क्या करते हैं, सो सदा ही ठीक ठीक खोज खबर लेते रहो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरपि निशाचरैः ।
कर्तव्यश्च सदा यत्नो राघवस्य वधं प्रति ॥ २७ ॥

तुम सब लोग वहाँ बड़ी सावधानी से जाना और श्रीरामचन्द्र को मार डालने के लिये सदा प्रयत्नवान् बने रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं च बलज्ञोऽहं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं नियोजिताः ॥ २८ ॥

रणक्षेत्र में मैं तुम लोगों के पराक्रम की अनेक बार परीक्षा कर चुका हूँ । इसीसे मैं तुम लोगों को जनस्थान में रहने के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ २८ ॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावण के इस प्रकार के मधुर और सारगर्भित वचन सुन, वे आठो राक्षस, रावण को प्रणाम कर, और लङ्का छोड़, गुप्त रूप से जनस्थान को चल दिये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसंप्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहान्मुदितः स राक्षसः ॥ ३० ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

उधर सीता को पा कर, रावण प्रसन्न हो, लङ्का में रहने लगा और श्रीराम के साथ वैर बाँध कर भी, वह भ्रान्तिवश प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

संदिश्य राक्षसान्घोरान्रावणोऽष्टौ महाबलान् ।
आत्मानं [1]बुद्धिवैक्लव्यात्कृतकृत्यममन्यत ॥ १ ॥

रावण ने महाबलवान आठ राक्षसों को जनस्थान में रहने के लिये भेज, अपने बुद्धिदौर्बल्य से, अपने को कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणसमर्पित[2]ः ।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

और वह कामबाण से पीड़ित हो, सीता का स्मरण करता हुआ, सीता को देखने के लिये अपने रमणीक घर में गया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म[3] रावणो राक्षसाधिपः ।
अपश्यद्राक्षसीमध्ये सीतां शोकपरायणाम् ॥ ३ ॥

---

१ बुद्धिवैक्लव्यात्—बुद्धिदौर्बल्यात् । (गो०) २ समर्पितः—पीडित । (गो०) वेश्म—अन्तःपुरं । (गो०)

राक्षसेश्वर रावण ने उस घर में प्रवेश कर, दुःख से पीड़ित सीता को राक्षसियों के बीच में बैठे हुए देखा ॥ ३ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभाराभिपीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे ॥ ४ ॥

उस समय सीता जी शोक के भार से पीड़ित अत्यन्त उदास और नेत्रों से आँसू बहाती हुई बैठी थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों नाव, हवा के झोके से उलट कर, जल में डूब रही हो॥ ४ ॥

मृगयूंथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम् ।
अधोमुखमुखीं सीतामभ्येत्य च निशाचरः ॥ ५ ॥

अथवा झुंड से छूटी हुई और कुत्तों से घिरी हुई हिरनी हो। उस समय नीचे सिर किये बैठी हुई सीता को रावण ने देखा ॥ ५॥

तां तु शोकपरां दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलादर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोक से पीड़ित और उदास सीता जी की इच्छा न रहते भी, रावण ने बरजोरी उनको अपना देवगृह तुल्य दिव्यभवन दिखलाया ॥ ६ ॥

हर्म्यप्रासादसंबाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

उस घर में अनेक अटा अटारियाँ और बारजे थे। उसमें हज़ारों स्त्रियाँ रहती थीं और तरह तरह के पक्षी कलरें कर रहे थे तथा यथास्थान अनेक प्रकार के रत्न जड़े हुए थे ॥ ७ ॥

*दान्तैश्च तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैडूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः ॥ ८ ॥

उस भवन के खंभे हाथीदाँत, सुवर्ण, स्फटिक, चाँदी और वैडूर्य की नक्काशी के काम से भूषित और देखने में बड़े मनोहर जान पड़ते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्हादं तप्तकाञ्चनतोरणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥ ९ ॥

(उस समय) सुरीली नौबत बज रही थी और दरवाज़े पर सौने की बंदनवारें लटक रही थीं रावण सीता को लिये हुए सुवर्ण-निर्मित विचित्र सीढ़ियों पर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तिका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

उस भवन की अटारियों के सुन्दर झरोखे हाथीदाँत और चाँदी के बने थे। वहाँ पर बहुत सी ऐसी अटारियाँ बनी हुई थीं, जिनमें सौने के जंगले लगे हुए थे ॥ १० ॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥ ११ ॥

उन अटारियों के सब फर्श चूना के पक्के बने थे और रंग बिरंगे पत्थर जगह जगह जड़े हुए थे। इस प्रकार के अपने भवन को रावण ने जानकी जी को दिखलाया ॥ ११ ॥

[1]दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानावृक्षसमन्विताः ।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

---

१ दीर्घिकाः—वाप्यः । (गो०)

* पाठान्तरे—"काञ्चनैः", "दान्तकै": वा ।

शोकपरायणा सीता को रावण ने उस भवन में जगह जगह बनी हुई बावड़ी व पुष्करिणी, जिनके चारों ओर वृक्ष शोभायमान थे, दिखलायीं ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु वैदेह्याः कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया ॥ १३ ॥

अपने उस समस्त उत्तम भवन को रावण ने सीता को दिखलाया और सीता को लोभ में फसाने के लिये वह पापी रावण बोला ॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैं दस करोड़ और बाइस करोड़ अर्थात् बत्तीस करोड़ बड़े भयङ्कर काम करने वाले राक्षसों का स्वामी हूँ ॥ १४ ॥

[1]वर्जयित्वा जरावृद्धान्बालांश्च रजनीचरान् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥ १५ ॥

बूढ़े और बालक राक्षसों को छोड़ कर, मेरे निज के एक हज़ार टहलुए हैं ॥ १५ ॥

यदिदं राजतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥ १६ ॥

---

१ वर्जयित्वेतिबालवृद्धान्विना ममैकस्य एकसहस्र परिचारक जातं । (गो०)
२ राजतंत्रं—राजपरिक । (गो०)

यह समस्त राजपरिकर तुम्हारे ही अधीन है। हे विशालाक्षि! मेरा जीवन भी तुम्हारे अधीन है। क्योंकि मैं तुम्हें अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय समझता हूँ॥ १६॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां मम योऽसौ परिग्रहः।
तासां त्वमीश्वरा सीते मम भार्या भव प्रिये॥ १७॥

हे प्रिये सीते! मेरे रनवास में जो मेरी व्याही हुई स्त्रियां हैं, उन सब के ऊपर तुम स्वामिनी बनो॥ १७॥

साधु किं तेऽन्यथा बुद्धया रोचयस्व वचो मम।
भजस्व माऽभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ १८॥

हे सीते! मैंने जो अभी कहा है उसे तुम मान लो। क्योंकि मैंने जो कहा है वही ठीक है। तुम इसके विपरीत यदि कुछ करोगी तो उसका कुछ फल न होगा। इस समय मैं काम से पीड़ित हो रहा हूँ सो मुझे अंगीकार कर, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ॥ १८॥

परिक्षिप्ता सहस्रेण लङ्केयं शतयोजना।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः॥ १९॥

सौ योजन के विस्तार वाली लङ्का चारो ओर एक हज़ार योजन तक समुद्र से घिरी है। अतः सब देवताओं सहित इन्द्र भी इसे जीत नहीं सकते॥ १९॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषूरगेषुच।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत्॥ २०॥

क्या देवताओं में, क्या यक्षों में, क्या गन्धर्वों में और क्या नागों में, ऐसा कोई भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पराक्रम में मेरा सामना कर सके ॥ २० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन गतायुषा ।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

देखो, राज्य से च्युत, दीन, भिक्षुक, पैदल घूमने वाले, मनुष्य जाति के और गतायु एवं अल्पतेज वाले श्रीराम को ले कर, तुम क्या करोगी ? ॥ २१ ॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव ।
यौवनं ह्यध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥ २२ ॥

हे सीते ! तुम तो मुझे ही अपनाओ, क्योंकि तुम्हारे योग्य पति तो मैं ही हूँ । यह जवानी सदा नहीं रहती, अतः जब तक यह है तब तक तुम मेरे साथ विहार करो ॥ २२ ॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने ।
काऽस्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

हे बरानने ! अब तुम श्रीरामचन्द्र से पुनः मिलने की आशा मत रक्खो । क्योंकि ऐसी शक्ति किसमें है जो कल्पना द्वारा भी यहाँ आ सके ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धं महाजवः ।
दीप्यमानस्य चाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलां शिखाम्* ॥ २४ ॥

जिस तरह प्रचण्ड पवन का पाशों से बांधना और अग्नि की शिखा का थामना असम्भव है, उसी तरह श्रीरामचन्द्र का यहाँ आना भी असम्भव है ॥ २४ ॥

पाठान्तरे—"विमलाशिखा", "विमलाः शिखाः" ।

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने ।
विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

हे शोभने ! मैं तो तीनों लोकों में ऐसी सामर्थ्य किसी में नहीं देखता जो मेरी भुजा से रक्षित तुझको अपने पराक्रम द्वारा यहाँ से ले जाय ॥ २५ ॥

लङ्कायां सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय ।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचराः ॥ २६ ॥

अतएव तू अब इस लङ्का के विशाल राज्य का पालन कर, केवल मैं स्वयं और देवता लोग ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण चराचर तेरे दहलुए हो कर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकोदकक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व माम् ।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥

तू अपना अभिषेक करा कर और प्रसन्न हो कर मेरे साथ विहार कर । पूर्वजन्म के तेरे जो कुछ पाप थे, वे सब वनवास करने से नष्ट हो गये ॥ २७ ॥

यच्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाप्नुहि ।
इह माल्यानि सर्वाणि दिव्यगन्धानि मैथिली ॥ २८ ॥

और जो पूर्वजन्म के पुण्यफल बाकी हैं, उनके फलों को तू लङ्का में रह कर उपभोग कर । हे मैथिली ! यहाँ पर जो ये दिव्य मालाएँ और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ हैं ॥ २८ ॥

भूषणानि च मुख्यानि सेवस्व च मया सह ।
पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥

और जो बढ़िया बढ़िया आभूषण हैं, उन सब को, तू मेरे साथ विहार कर के भोग। मेरे भाई कुवेर का पुष्पक नामक, ॥ २९ ॥

विमानं सूर्यसङ्काशं तरसा निर्जितं मया ।
विशालं रमणीयं च तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ३० ॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम् ।
वदनं पद्मसङ्काशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने ।
एवं वदति तस्मिन्सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥

सूर्य के समान देदीप्यमान जो विमान है और जिसे मैंने संग्राम में जीत कर पाया है, वह विशालकाय, रमणीय, और विमानों में उत्तम है। उसमें बैठ कर तू मेरे साथ सुख सहित, विहार कर। हे वरानने ! तेरा यह मुख जो कमल की तरह साफ और सुन्दर है, शोक के कारण मलिन होने से शोभित नहीं होता। जब रावण ने इस प्रकार कहा ; तब सीता वस्त्र से ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

पिधायेन्दुनिभं सीता मुखमश्रूण्यवर्तयत् ।
ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां दीनां चिन्ताहतप्रभाम् ॥३३॥

चन्द्र के समान अपना मुख ढांक कर रोने लगी। मारे चिन्ता के उसका मुख फीका पड़ गया। वह अत्यन्त उदास और अस्वस्थ सी हो, चिन्तामग्न हो गयी ॥ ३३ ॥

उवाच वचनं पापो रावणो राक्षसेश्वरः ।
अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन च ॥ ३४ ॥

ऐसी दशा को प्राप्त सीता से पापी राक्षसेश्वर रावण कहने लगा । हे वैदेही ! धर्मलोप हो जाने की शङ्का से तेरा लज्जित होना व्यर्थ है ॥ ३४ ॥

आर्षोऽयं दैवनिष्यन्दो यस्त्वामभिगमिष्यति ।
एतौ पादौ मयास्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥३५॥

क्योंकि राक्षस विवाह भी तो ऋषिप्रोक्त विवाह है । (यह अधर्म कार्य नहीं है) इस विवाह के द्वारा परपुरुष का संसर्ग प्रायश्चितार्ह नहीं है । देखो मैं अपने दसों सिर, तेरे दोनों कोमल चरणों पर रखता हूँ ॥ ३५ ॥

प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।
इमाः शून्या[1] मया वाचः शुष्यमाणेन[2] भाषिताः ।
न चापि रावणः काञ्चिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह ॥ ३६ ॥

अब तू मेरे ऊपर तुरन्त प्रसन्न हो जा । मै तेरा वशवर्ती दास हूँ । देख, मैंने काम से पीड़ित होने के कारण ही ऐसी अधीनताई की बातें केवल तुझीसे कही हैं । नहीं तो रावण ने आज तक कभी किसी स्त्री के पैरों पर अपने सिर नहीं रखे ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

---

१ शून्याः—नीचाः (गो०) २ शुष्यमाणेन—अनङ्गेन तप्यमानेन । (गो०)

रावण, मृत्यु के वश हो कर सीता से इस प्रकार कह कर, अपने मन में समझ बैठा कि, सीता मेरी हो गयी ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का पञ्चपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता ।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शोक से पीड़ित सीता जी ने, तिनके की आड़ कर, निर्भय हो, रावण से कहा ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम [1]धर्मसेतुरिवाचलः ।
सत्यसन्धः परिज्ञातो[2] यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥

महाराज दशरथ जी, जो धर्म की अटल मर्यादा के स्थापन करने वाले थे और अपनी सत्यप्रतिज्ञा के लिये प्रसिद्ध थे, श्रीरामचन्द्र जी उन्हींके पुत्र हैं ॥ २ ॥

रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं हि पतिर्मम ॥ ३ ॥

वे श्रीरामचन्द्र भी धर्मात्मा के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हैं । वे ही दीर्घबाहु और विशालाक्ष श्रीरामचन्द्र मेरे पति और देवता हैं ॥ ३ ॥

---

१ धर्मसेतुः—मर्यादास्थापकः । (गो०) २ परिज्ञातः—प्रसिद्धः । (गो०)

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान्हरिष्यति ॥ ४ ॥

वे इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए हैं, उनके सिंहों जैसे कंधे हैं और वे बड़े द्युतिमान् हैं। वे अपने भाई लक्ष्मण के सहित यहाँ आ कर अवश्य ही तेरा वध करेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया स्यां धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

यदि कहीं उनकी उपस्थिति में तूने मुझे बलपूर्वक हरने का साहस किया होता तो तू आज युद्ध में मारा जा कर जनस्थान में खर की तरह भूमि पर पड़ा (अनन्त निन्द्रा में) सोता होता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः[1] सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

तू जिन भयङ्कर महाबली राक्षसों का बखान कर चुका है वे सब श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते ही उसी प्रकार निर्वीर्य (बलहीन) हो जायँगे , जिस प्रकार गरुड़ के सामने जाने से बड़े बड़े विषधर सर्प विषहीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्यानिर्मुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

श्रीराम के धनुष से छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण राक्षसों के शरीर को उसी प्रकार वेध डालेंगे जिस प्रकार गङ्गा की लहरें किनारों को ध्वस्त कर डालती हैं ॥ ७ ॥

---

१ निर्विषाः – निर्वीर्या इति राक्षसपक्षे । (गो०)

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद्वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

हे रावण ! यद्यपि तू देवताओं और दानवों से अवध्य है, तथापि श्रीरामचन्द्र से वैर बाँध तू जीता नहीं बच सकता ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ही तेरे बचे हुए जीवन का समय पूरा कर देंगे । यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए पशु की तरह अब तेरा जीना दुर्लभ है ॥ ९ ॥

यदि पश्येत्स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो गच्छेः सद्यः पराभवम् ॥ १० ॥

यदि श्रीरामचन्द्र क्रोध से प्रज्वलित अपने नेत्रों से तुझे देख दें, तो हे राक्षस ! तू अभी भस्म हो कर पराभव को प्राप्त हो जाय ॥१०॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा ।
सागरं शोषयेद्वापि स सीतां मोचयेदिह ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र आकाश से चन्द्रमा को भूमि पर गिरा या नष्ट कर सकते हैं और समुद्र का जल सुखा सकते हैं वे ही श्रीरामचन्द्र सीता को यहाँ से छुड़ावेंगे ॥ ११ ॥

गतायुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः ।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

तेरे किये हुए परदाराभिमर्शन रूपी पाप से तेरी आयु बीत चुकी। तेरी श्री नष्ट हो चुकी, तेरा बल नष्ट हो चुका और तेरी इन्द्रियां भी अपने अपने कामों से जवाब दे चुकीं। तेरी यह लङ्का भी अब शीघ्र ही विधवा होने वाली है ॥ १२ ॥

[पराई स्त्री के साथ खोटा कर्म करने से स्मृतियों के अनुसार मनुष्य की आयु, उसका बल, यश और उसकी लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाती है। यथा
आयुर्बलं यशो लक्ष्मीः परदाराभिमर्शनात् सद्यएव विनश्यन्ति ।]

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति ।
याहं नीता विनाभावं[1] पतिपार्श्वात्त्वया वने ॥ १३ ॥

तूने जो यह पापकर्म किया है, सो इसका परिणाम कभी सुखदायी नहीं हो सकता। क्योंकि तूने वन में रहते हुए, मेरा वियोग मेरे पति से करवाया है ॥ १३ ॥

स हि दैवतसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः ।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥ १४ ॥

मेरे वह महाद्युतिमान् स्वामी अपने भाई लक्ष्मण के साथ केवल अपने पराक्रम से, निर्भय हो, निर्जन वन में वास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते दर्पं बलं वीर्यमुत्सेकं च तथाविधम् ।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥ १५ ॥

वह संग्राम में बाणों की वर्षा कर के तेरी देह से, तेरे अभिमान, बल और पराक्रम और मर्यादाहीन कर्म करने की तेरी प्रवृति को दूर कर देंगे ॥ १५ ॥

विनाभावं—वियोगं। (गो०) उत्सेकं—उल्लंघ्यकार्यकारित्वं। (गो०)

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

मृत्यु के वश होने के कारण जब प्राणियों का नाश निकट आ जाता है, तब वे काल के वश हो कार्यों में प्रमाद करने लगते हैं ॥१६॥

मां प्रधृष्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम ।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥ १७ ॥

हे राक्षसाधम ! मेरी धर्षणा से तेरी मौत निकट आ पहुँची है । अब तेरा, तेरे राक्षसों का और तेरे अन्तःपुरवासियों का वध होगा ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता ।
द्विजातिमन्त्रपूता च चण्डालेनाभिमर्शितुम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार स्रुवा तथा अन्य यज्ञपात्रों से भूषित और ब्राह्मणों से मन्त्र द्वारा पवित्र की हुई यज्ञवेदी चाण्डाल के छूने योग्य नहीं होती ॥ १८ ॥

तथाऽहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी पतिव्रता ।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याऽस्मि राक्षसाधम पापिना ॥१९॥

उसी प्रकार उन धर्मतत्पर श्रीरामचन्द्र जी की पतिव्रता धर्मपत्नी तुझ जैसे राक्षसाधम पापी के छूने योग्य नहीं है ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यदा ।
हंसी सा तृणषण्डस्थं कथं पश्येत मद्गुकम् ॥ २० ॥

राजहंस के साथ कमलों में सदा क्रीड़ा करने वाली हंसनी तृणों के बीच बैठे हुए जलकाक को कैसे देख सकती है ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा खादयस्व वा ।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ॥ २१ ॥

हे राक्षस ! यह शरीर तो निश्चेष्ट है, चाहे तू इसे बाँध या मार । मुझे इस शरीर को न रखना है और न अपने प्राण ही बचाने हैं ॥२१॥

न तु शक्ष्याम्युपक्रोशं[1] पृथिव्यां दातुमात्मनः ।
एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात्परुषं वचः ॥ २२ ॥
रावणं मैथिली तत्र पुनर्नोवाच किञ्चन ।
सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम् ॥ २३ ॥

क्योंकि मैं इस पृथिवी पर अपना अपवाद करवाना नहीं चाहती । इस प्रकार वैदेही क्रोध में भर रावण से कठोर वचन कह कर, चुप हो गयी और फिर कुछ भी न बोली । सीता जी के ये रोमाञ्चकारी कठोर वचन सुन कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः ।
शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि ॥२४॥

रावण, सीता को भय दिखलाता हुआ कहने लगा । हे सीते ! सुन, बारह महीने के भीतर ॥ २४ ॥

कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि ।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

---

१ उपक्रोशं—अपवादं । (गो०)

चारुहासिनी (सुन्दर हँसी हँसने वाली) ! यदि तू मुझे स्वीकार न करेगी तो मेरे रसोइये, मेरे प्रातः कालीन भोजन (कलेवा) के लिये तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

शत्रु को रुलाने वाला रावण सीता से ऐसे कठोर, वचन कह कर क्रोध में भर राक्षसियों से यह वचन बोला ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विकृता घोरदर्शनाः ।
दर्पमस्या विनेष्यध्वं मांसशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

हे विकटरूपा ! हे भयङ्कर रूप वाली ! हे रक्त मांस खाने वाली राक्षसियों ! तुम सब इस सीता का गर्व दूर करो ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा राक्षसीगणाः ।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

भयङ्कर सूरत वाली राक्षसियों ने यह सुन तत्क्षण (रावण को) हाथ जोड़ और जो आज्ञा कह, सीता जी को घेर लिया ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजा तु रावणो घोरदर्शनः ।
प्रचाल्य चरणोत्क्षेपैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

यह देख, रावण मानों अपनी चाल से पृथिवी को कंपा और विदीर्ण करता हुआ, कुछ पग चल कर उन राक्षसियों से फिर कहने लगा ॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामियम् ।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

इस सीता को तुम लोग अशोकवाटिका में ले जाओ और वहाँ इसको घेर कर गूढ़ भाव से सदा इसकी रखवाली किया करो ॥३०॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ॥ ३१ ॥

जंगली हथिनी जिस प्रकार वश में की जाती है उसी प्रकार तुम सब भी खूब डरा धमका कर और फिर धीरज बँधा कर इसे मेरे वश में करो ॥ ३१ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं प्रतिगृह्य तु ॥ ३२ ॥

जब रावण ने इस प्रकार उनको आज्ञा दी, तब वे राक्षसियाँ सीता जी को अपने साथ ले, अशोकवाटिका में चली गयीं ॥३२॥

सर्वकालफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्द्रुमाम् ।
सर्वकालमदैश्चाप द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह अशोकवाटिका ऐसे वृक्षों से युक्त थी, जिनमें सदैव फल फला करते और तरह तरह के फूल फूला करते थे और जिन पर सदा मतवाले हो भाँति भाँति के पक्षी रहा करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

उस समय शोक से कर्षित और राक्षसियों के पाले पड़ी हुई सीता की वही दशा थी जो दशा हिरनी की बाघिन के पाले पड़ने से होती है ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

बड़े भारी शोक में पड़ी हुई जनकदुलारी मैथिली को फंदे में फंसी हुई हिरनी की तरह, अशोकवाटिका में ज़रा भी सुख न मिला ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।
पतिं स्मरन्ती दयितं च दैवतं
विचेतनाऽभूद्भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

विकट नेत्र वाली राक्षसियों से डरायी धमकायी जाने के कारण अत्यन्त भयभीत हो, जानकी जी को कुछ भी आराम न मिला और अपने प्यारे पति और देवर को स्मरण करती हुई सीता जी अचेत सी हो गयीं ॥ ३६ ॥

अरण्यकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—※—

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम् ।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि निवर्तते ॥ १ ॥

उस ओर श्रीरामचन्द्र जी मृग रूप धर कर विचरण करने वाले काम रूपी राक्षस मारीच को मार, शीघ्र ही आश्रम की ओर लौटे ॥ १ ॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम् ।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी बड़ी शीघ्रता के साथ सीता जी को देखने के लिये लौट रहे थे, उस समय उनकी पीठ के पीछे शृगाल महाकठोर शब्द कर के चिल्लाने लगा ॥ २ ॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम् ।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥

उस गीदड़ का वह रोमाञ्चकारी और दारुण शब्द सुन, श्रीरामचन्द्र जी के मन में शङ्का उत्पन्न हो गयी और वे चिन्तित हुए ॥ ३ ॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा ।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥

(मन ही मन) उन्होंने कहा जिस प्रकार का शब्द गीदड़ कर रहा है, इससे तो जान पड़ता है कि, कोई अशुभ होगा। कहीं राक्षसों ने सीता को खा न डाल हो। अब तो सीता को सकुशल देख कर ही मेरे जी में जी आवेगा ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालम्ब्य मामकम् ।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद्यदि ॥ ५ ॥

मृगरूप धारी मारीच जो मेरी बोली बना लक्ष्मण और सीता का नाम ले पुकारा था, उसे यदि लक्ष्मण ने सुना होगा ॥ ५ ॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वा च मैथिलीम् ।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥ ६ ॥

तो लक्ष्मण उस पुकार को सुन और सीता जी द्वारा प्रेरित हो और सीता को छोड़, शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः ।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥ ७ ॥

मारीच सोने का मृग बन, मुझे आश्रम से इतनी दूर बहका लाया। इससे जान पड़ता है कि, राक्षस मिल कर, निश्चय ही सीता का वध करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

दूरं नीत्वा तु मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार च ॥ ८ ॥

आश्रम से मुझे इतनी दूर ले जा कर और मेरे बाण से घायल हो कर, उसका—"हा लक्ष्मण ! मैं मारा गया कहना—(अवश्य राक्षसों के षड़यंत्र का सूचक है।) ॥ ८ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्ताभ्यां रहिताभ्यां महावने ।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥

इस महावन में मेरे वहाँ से चले आने पर उन दोनों का मङ्गल हो। जनस्थाननिवासी राक्षसों का वध करने के कारण अब तो राक्षसों से बैर बँध ही गया है ॥ ९ ॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च ।
इत्येवं चिन्तयन्रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥ १० ॥

तिस पर मुझे बहुत से बड़े बुरे अशकुन दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी मन ही मन सोचते विचारते और गीदड़ों का चीत्कार सुनते आश्रम की ओर लौटे ॥ १० ॥

आत्मनश्चापनयनान्मृगरूपेण रक्षसा ।
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः ॥ ११ ॥

वे बार बार अपने मन में यही सोचते बिचारते थे कि, देखो मृग रूपी राक्षस आश्रम से मुझे कितनी दूर ले आया ऐसा सोचते और शङ्कित होते श्रीरामचन्द्र जनस्थान में पहुँचे ॥ ११ ॥

तं दीनमनसो दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः ।
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान् ॥ १२ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को उदास देख, सब मृग और पक्षी स्वयं उदास हो उनके पास गये और बाईं ओर से रास्ता काट कर, घोर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः ।
न्यवर्तताथ [1]त्वरितो जवेना[2]श्रममात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र इन महाभयङ्कर अपशकुनों को देख कर हड़बड़ा कर, शीघ्रता पूर्वक अपने आश्रम को लौटने लगे ॥ १३ ॥

स तु सीतां वरारोहां लक्ष्मणं च महाबलम् ।
आजगाम जनस्थानं चिन्तयन्नेव राघवः ॥ १४ ॥

वे वरारोहा सीता और महाबली लक्ष्मण के लिये चिन्ता करते हुए जनस्थान में पहुँचे ॥ १४ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम् ।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय[3] स लक्ष्मणः ॥ १५ ॥

रास्ते में श्रीरामचन्द्र ने, उदास लक्ष्मण को अपनी ओर आते हुए देखा । जब लक्ष्मण निकट आ गये ॥ १५ ॥

विषण्णः सुविषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना ।
सङ्गम्यार्हेऽथ तं भ्राता ज्येष्ठो लक्ष्मणमागतम् ॥ १६ ॥
विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते ।
गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

तब विषादित और दुःखित हो श्रीरामचन्द्र जी ने आये हुए लक्ष्मण जी की, जो विषाद युक्त और दुःखी हो रहे थे, उस निर्जन वन में सीता को अकेली छोड़ आने के लिये निन्दा की। श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण का बायाँ हाथ पकड़ कर ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ त्वरितः—मानसिकत्वरासहितः । (गो०) २ जवेन—कायिकत्वरया । (गो०) ३ समीयाय—सङ्गतः । (गो०)

उवाच [1]मधुरोदर्कमिदं परुषमार्तिमत् ।
अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यस्त्वं विहाय ताम् ॥ १८ ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित्स्वस्ति भवेदिह ।
न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

आर्त्त की तरह कुछ कोमलता युक्त, कठोर वचन कहे—हे लक्ष्मण ! तुमने यह बहुत बुरा काम किया जो तुम उस सीता को अकेली छोड़ यहाँ चले आये । हे सौम्य ! तुम्हारी इस करतूत से क्या सीता को भलाई होगी ? हे वीर ! मुझे तो इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है कि, सीता को ॥ १८ ॥ १९ ॥

विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः ।
अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ २० ॥

वनचारी राक्षसों ने या तो मार डाला या खा डाला । क्योंकि ये सब अशकुन ऐसे हो रहे हैं ॥ २० ॥

अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयावहे ।
जीवन्त्याः* पुरुषव्याघ्र सुतायाः जनकस्य वै ॥ २१ ॥

कि हे लक्ष्मण ! हे पुरुष व्याघ्र ! मैं जनकदुलारी सीता को जीता और सकुशल देख सकूंगा कि नहीं ॥ २१ ॥

यथा वै मृगसङ्घाश्च गोमायुश्चैव भैरवम् ।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम् ।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २२ ॥

---

१ मधुरोदर्कं—मधुरोत्तर । (गो०)

* पाठान्तरे—"जीवन्त्यः"

हे महाबली ! ये मृग समूह, गीदड़ और पक्षी सूर्य की ओर मुँह उठा ऐसा शब्द कर रहे हैं, जिससे जान पड़ता है कि, राजपुत्री सीता के कुशल होने में सन्देह है ॥ २२ ॥

इदं हि रक्षो मृगसन्निकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।
हतं कथञ्चिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥ २३ ॥

वह राक्षस जो मृग का रूप धर मुझे भुलावा दे आश्रम से बहुत दूर ले गया वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया, मरते समय उसने निज राक्षस रूप धारण किया ॥ २३ ॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ २४ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय मेरा मन बहुत उदास है और घबड़ा रहा है । बाईं आँख भी फड़क रही है । हे लक्ष्मण ! निस्सन्देह सीता अब आश्रम में नहीं है । या तो कोई उसे हर कर ले गया, या वह मर गयी अथवा रास्ते में होगी ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—※—

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्ये दशरथात्मजः ।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥ १ ॥

धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस निर्जनवन में लक्ष्मण को सीता के विना आया हुआ देख, उनसे पूछा ॥ १ ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगामह ।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! जो दण्डकारण्य में आते समय मेरे साथ आ रही थी और जिसे छोड़ तुम यहाँ आये हो, वह वैदेही कहाँ है ॥ २ ॥

राज्य भ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान्परिधावतः ।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही ऽनुमध्यमा ॥ ३ ॥

राज्य से भ्रष्ट, दीन और दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की साथिन है, वह क्षीण कटि वाली सीता कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता [1]सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

सुरसुता—सुरस्त्री । (गो०)

हे वीर ! जिसके बिना मैं क्षण भर भी जीता नहीं रह सकता वह मेरे प्राणों की आधार और देवस्त्री के समान सीता कहां है ? ॥ ४ ॥

पतित्वममराणां वा पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण ।
तां विना [1]तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं उस सुवर्ण-वर्ण जनकात्मजा के विना, स्वर्ग राज्य या भूमण्डल का राज्य नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम ।
कच्चित्प्रव्राजनं सौम्य न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी वैदेही क्या अभी तक जीवित है ? कहीं मेरी चौदह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा तो मिथ्या नहीं हो जायगी ? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि ।
कच्चित्सकामा सुखिता कैकेयी सा भविष्यति ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के पीछे मेरे प्राण त्यागने पर और तुम्हारे अयोध्या लौट कर जाने पर, क्या कैकेयी सफल मनोरथ और सुखी होगी ? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी[2] ।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चित्सौम्य न केकयीम् ॥८॥

---

१ तपनीयं—स्वर्ण । (गो०) २ तपस्विनी—शोच्या । (गो०) ३ वृत्ता—परेता । (गो०)

हे सौम्य ! बापुरी कौशल्या मृत-पुत्रा हो जाने पर, अपने पुत्र के राज्य पाने से हर्षित और सफल मनोरथ कैकेयी की टहल कभी न करेगी ॥ ८ ॥

यदि जीवित वैदेही गमिष्यास्याश्रमं पुनः ।
सुवृत्ता[1] यदि वृत्ता[2] सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥९॥

हे लक्ष्मण ! यदि सीता जीती होगी तो मैं आश्रम में जाऊँगा और यदि वह पतिव्रता जीवित न हुई तो मैं अपनी जान दे दूँगा ॥ ९ ॥

यदि सत्याश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।
पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! यदि आश्रम में जाने पर सीता पूर्ववत् हँस कर मुझसे बातचीत न करेगी तो मैं मर जाऊँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम सच सच मुझे बतलाओ कि, सीता जीती है कि नहीं ? अथवा रक्षा करने में तुम्हारी असावधानी होने के कारण राक्षसों ने उसे खा डाला ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखदर्शिनी ।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वह सुकुमारी और बाला सीता, जिसने दुःख कभी नहीं सहे, मेरे वियोग में उदास हो चिन्ताग्रस्त होगी ॥ १२ ॥

---

१ सुवृत्ता—स्वाचारा । (गो०) २ वृत्ता—परेता । (गो०)

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन[1] सुदुरात्मना ।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्त्वयापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

अतिशय दुष्ट राक्षस मारीच ने उच्च स्वर से "हा लक्ष्मण मैं मारा गया" पुकार कर, तुमको धोखा दिया और तुम्हारे मन में भय उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

श्रुतस्तु शङ्के वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम ।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

सीता ने भी मेरे समान कण्ठस्वर को सुन कर और डर कर शङ्कित हो तुमको मेरे निकट भेजा और तुम भी मुझे देखने के लिये तुरन्त चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां राक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमने जानकी को वन में अकेली छोड़ कर अच्छा काम नहीं किया । तुमने यहाँ आ कर उन नृशंस राक्षसों को मुझसे बदला लेने का अवसर दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा खर के मारे जाने से माँसभोजी राक्षस गण दुःखित हैं । उन घोर राक्षसों ने अवश्य सीता को खा डाला होगा ॥ १६ ॥

---

[1] जिह्मेन—कपटेन । (गो०)

अहोऽस्मिन्व्यसने मग्नः सर्वथा शत्रुसूदन ।
*किंन्विदानीं करिष्यामि शङ्के [illegible] ॥१७॥

हे शत्रुसूदन लक्ष्मण ! मैं तो बड़े सङ्कट में पड़ गया । मुझे तो अब इस बात की चिन्ता है कि, ऐसी विपत्ति पड़ने पर मैं क्या करूँगा ॥ १७ ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सुमुखी सीता के लिये चिन्ता करते हुए लक्ष्मण जी के साथ शीघ्रता के साथ जनस्थान में पहुँचे ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधा श्रमाच्चैव पिपासया च ।
विनिःश्वसन्शुष्कमुखो विवर्णः
[1]प्रतिश्रयं प्राप्तसमीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

भूख, प्यास और थकावट के मारे श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और चेहरे की रंगत फीकी पड़ गयी थी । उन्होंने आर्त हो दीर्घ निश्वास त्याग कर, लक्ष्मण जी के कर्म की निन्दा की और अपने आश्रम में पहुँच उसको सूना पड़ा पाया ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं सम्प्रविगाह्य वीरो
विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित् ।

---

१ प्रतिश्रयं—स्वाश्रमप्रदेशं । (गो०)

* पाठान्तरे—" किन्त्विदानीं", किंचेदानीं"

एतत्तदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

अपना आश्रम देख चुकने पर वीर श्रीरामचन्द्र सीता जी के कई एक विहारस्थलों में घूमे और ये सीता के विहारस्थल हैं यह बात याद आते ही उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बहुत व्यथित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—※—

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा[1] रघुनन्दनः ।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुखार्दितं पुनः ॥ १ ॥

आश्रम को लौटते समय मार्ग में श्रीरामचन्द्र जी के पूँछने पर जब लक्ष्मण चुप रहे और कुछ न बोले तब फिर महादुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोपास्य मैथिलीम् ।
यदा सा तव विश्वासाद्वने विरहिता मया ॥ २ ॥

---

१ अन्तरा—मध्येमार्गे । (गो०)

भाई ! मैंने तो तुम्हारे विश्वास पर सीता को वन में अकेले छोड़ा था । सो तुम उसे अकेली छोड़ क्यों यहाँ चले आये ॥ २ ॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण ।
शङ्कमानं महत्पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता को छोड़, तुमको आते देख मेरा मन अनिष्ट की शङ्का कर जो व्यथित हुआ था सो मेरी वह शङ्का सत्य ही सिद्ध हुई ॥ ३ ॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे ।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि ॥ ४ ॥

तुम को दूर ही से जानकी के विना आते देख, मेरा बायाँ नेत्र, बायी भुजा और हृदय का वाम भाग फड़कने लगा था ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत् ॥ ५ ॥

शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन पुनः अत्यन्त दुःखी हुए और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ५ ॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥ ६ ॥

मैं अपनी इच्छा से जानकी को छोड़ यहाँ नहीं आया, वल्कि उनके उग्र वचन कहने पर ही मैं आपके पास आया हूँ ॥ ६ ॥

आर्येणेव पराक्रुष्टं हा सीते लक्ष्मणेति च ।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम् ॥ ७ ॥

आप ही ने तो "हा लक्ष्मण" और "हा सीता मुझे बचाओ" उच्चस्वर से कहा था। आपका यह उच्चस्वर से कहा हुआ वाक्य जानकी जी के कान तक पहुँचा ॥ ७ ॥

सा तमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली ।
गच्छ गच्छेति मामाह रुदन्ती भयविह्वला ॥ ८ ॥

आपके इस आर्त स्वर को सुन आपकी प्रीति के कारण राती और भयभीत हुई सीता ने मुझसे "शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ" कहा ॥ ८ ॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया ।
प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं त्वत्प्रत्ययान्वितम् ॥ ९ ॥

जब सीता ने कितनी ही बार मुझसे जाने को कहा, तब मैंने आपके सम्बन्ध में उनको विश्वास कराने के लिये यह कहा ॥ ९ ॥

न तत्पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत् ।
निर्भृता भव नास्त्येतत्केनाप्येवमुदाहृतम् ॥ १० ॥

मुझे कोई ऐसा राक्षस नहीं देख पड़ता जो श्रीरामचन्द्र जी को भयभीत कर सके । अतः तुम चिन्ता मत करो। यह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं बल्कि किसी दूसरे का बनावटी शब्द है ॥ १० ॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति ।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत्त्रिदशानपि ॥ ११ ॥

हे सीते ! जो श्रीरामचन्द्र जी देवताओं की रक्षा करने में समर्थ हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र—"मुझे बचाओ" ऐसा निन्द्य और तुच्छ वचन कैसे कह सकते हैं ॥ ११ ॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम् ।
राक्षसेनेरितं वाक्यं त्राहि त्राहीति शोभने ॥ १२ ॥

हे शोभने ! किसी राक्षस ने किसी दुष्ट अभिप्राय से मेरे भाई के कण्ठस्वर का अनुकरण कर कहा होगा कि, "मुझे बचाओ मुझे बचाओ" ॥ १२ ॥

[1]विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति ।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता ॥ १३ ॥

"हे लक्ष्मण ! मुझे बचाओ ।" इस वाक्य को कहने वाले के कण्ठस्वर की विशेष विवेचना करने पर यह श्रीरामचन्द्र का कहा हुआ वाक्य नहीं जान पड़ता । अतः निन्द्य स्त्रियों की तरह आपको इसके लिये दुःखी न होना चाहिये ॥ १३ ॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका ।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु पुमान्वै राघवं रणे ॥ १४ ॥

व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं । अतः तुम अब स्वस्थ हो जाओ । क्योंकि तीनों लोकों में ऐसा कोई पुरुष नहीं जो श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में खड़ा रह सके ॥ १४ ॥

जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत् ।
न जय्यो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ १५ ॥

---

१ विस्वरमिति—स्वर प्रकार विशेष शोधनेऽपिनायं रामस्वर इति । (गो०)

जो युद्ध में, श्रीराम को पराजित करे—ऐसा न तो कोई उत्पन्न हुआ और न आगे ही कोई उत्पन्न होगा। इन्द्रादि देवताओं में भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र को युद्ध में जीत सकें ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना[1]।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

ऐसा कहने पर भी, कलुषित बुद्धि होने के कारण, आँसू बहाते हुए सीता जी ने मुझसे ये कठोर वचन कहे ॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थं पाप एव निवेशितः।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसि ॥ १७ ॥

मेरे ऊपर तुम्हारी नियत डिग गयी है, पर याद रखो, श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने पर भी तुम मुझे न पा सकोगे ॥ १७ ॥

सङ्केताद्भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैवमभ्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

तुम भरत के इशारे से श्रीरामचन्द्र के साथ आये हो। इसीसे तो श्रीरामचन्द्र जी के बुलाने पर भी तुम, सहायतार्थ उनके पास नहीं जाते ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि।
राघवस्यान्तरप्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

---

१ परिमोहितचेतना—कलुषितबुद्धिः। (गो०)

तुम गुप्त शत्रु हो अथवा मित्ररूपी शत्रु हो और मेरे लिये ही श्रीराम के साथ आये हो। तुम सदा अवसर ढूढ़ते हो कि, कब श्रीरामचन्द्र जी कहीं जायँ और मैं सीता को हथियाऊँ। इसी से तो तुम श्रीराम की सहायता के लिये नहीं जाते ॥ १९ ॥

एवमुक्तो हि वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

जब जानकी जी ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मुझे क्रोध आ गया और मारे क्रोध के मेरे नेत्र लाल हो गये और ओंठ फड़कने लगे। मैं आश्रम के बाहिर चला आया ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः सन्तापमोहितः ।
अब्रवीद्दुष्कृतं सौम्य तां विना यत्त्वमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण के ऐसा कहने पर, सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सौम्य ! तुम जो जानकी को छोड़, चल खड़े हुए, सो तुमने बहुत ही बुरा काम किया ॥ २१ ॥

जानन्नपि समर्थं मां राक्षसां विनिवारणे ।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निःसृतो भवान् ॥२२॥

आप तो यह जानते ही थे कि, राम राक्षसों को मारने में समर्थ हैं, फिर क्यों मैथिली के कठोर वचन सुन आप चल खड़े हुए ॥ २२ ॥

न हि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यद्यासि मैथिलीम् ।
*क्रुद्धायाः परुषं वाक्यं श्रुत्वा यत्त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे—"क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रियाश्चत्वमिहागतः ।"

हे लक्ष्मण ! तुम सीता को छोड़ कर चल खड़े हुए—इस बात से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं हूँ। क्योंकि तुम क्रुद्ध स्त्री का कठोर वचन सुन यहाँ चले आये ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत्प्रचोदितः ।
क्रोधस्य वशमापन्नो नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

तुमने यह काम सर्वथा अनुचित किया जो सीता के कहने पर क्रुद्ध हो, मेरी आज्ञा की अवज्ञा की ॥ २४ ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया ।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

देखो यह राक्षस मेरे बाण से घायल हो मरा पड़ा है। यह वही है जो मृग का रूप धारण कर मुझे आश्रम से दूर ले आया था ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया ।
मायीं तनुं त्यज्य स विक्लबस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

मैंने धनुष खींच और उस पर बाण रख साधारण रीति से उसे चला जब एक ही बाण उसके मारा, तब वह बनावटी हिरन का शरीर छोड़, आर्तस्वर करता हुआ केयूरधारी राक्षस हो गया ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसंश्रवम् ।

उदाहृतं तद्वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥
इति एकोनषष्टितमः सर्गः

जब वह तीर से घायल हुआ, तब दूर तक सुनाई पड़े इतने उच्च कण्ठ से, आर्तनाद कर उसने मेरे कण्ठस्वर का अनुकरण कर वह अत्यन्त दारुण वाक्य कहा, जिसे सुन तुम वैदेही को छोड़ यहाँ चले आये ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्टितमः सर्गः

—※—

भृशमाव्रजमानस्य[1] तस्याधोवामलोचनम् ।
प्रास्फुरच्चास्खलद्वामो वेपथुश्चाप्यजायत ॥ १ ॥

मारीच का वध कर आश्रम को आते समय श्रीरामचन्द्र जी के वाम नेत्र का नीचे का भाग बार बार फड़का, और चलने में अकस्मात् पैर फिसल गया और शरीर कांपने लगा ॥ १ ॥

[नोट—प्रसिद्ध है कि—

"प्रयाणकालेस्खलनं करोतीष्टस्य भञ्जनं"

अर्थात् यात्रा के समय पैर का फिसलना (अथवा हाथ की छड़ी का गिर कर टूट जाना) अशकुन माना गया है और इसका फल यह है कि, जिस कार्य के लिये जाय वह कार्य सिद्ध न हो ।]

---

१ आव्रजमानस्य—आगच्छतः । (गो०) २ वेपथुः—कम्पः । (गो०)

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।
अपि क्षेमं नु सीताया इति वै व्याजहार च ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी इन अशकुनों को देख कहने लगे कि, जाने सीता सकुशल है कि, नहीं ॥ २ ॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः ।
शून्यमावसथं[1] दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ ३ ॥

सीता को देखने की अभिलाषा से शीघ्र शीघ्र चल जब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आश्रम में पहुँचे तब देखा कि भवन सूना पड़ा है । आश्रम को सूना देख वे बहुत घबड़ाये ॥ ३ ॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन्रघुनन्दनः ।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥

वे उद्भ्रान्त मनुष्य की तरह हाथों को झटकारते पर्णशाला के भीतर गये और वहाँ चारों ओर घूम फिर कर सीता को खोजा ॥४॥

ददर्श पर्णशालां च रहितां सीतया तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने पर्णशाला को सीता जी के वहाँ न होने से, उसी प्रकार शोभाहीन पाया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमलनी ध्वस्त होने के कारण शोभाहीन हो जाती है ॥ ५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तवनदेवतम् ॥ ६ ॥

---

१ आवसथं—गृहं । (गो०)

उस समय उस आश्रम के वृक्ष मानों रो रहे थे, फूल कुम्हलाये हुए थे और मृग तथा पक्षी उदास हो रहे थे। वनदेवता उस आश्रम को ध्वस्त और शोभाहीन देख, उसे त्याग कर चल दिये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धबृसीकटम् ।
दृष्ट्वा शून्यं निजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उस आश्रम में मृगचर्म और कुश इधर उधर पड़े हुए थे। आसन और चटाई इधर उधर फैंकी हुई पड़ी हुई थीं। अपने आश्रम को सूना देख, श्रीरामचन्द्र जी बार बार विलाप कर रहे थे ॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा[1] वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथ वा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥ ८ ॥

वे कह रहे थे कि, क्या सीता को कोई हर ले गया या वह मर गई या अपने आप अन्तर्धान हो गयी अथवा किसी ने उसे मार कर खा डाला, अथवा विनोद के लिये वह यह कर रही है अथवा डरपोंक होने के कारण कहीं छिप रही है अथवा वन में चली गयी है ॥ ८ ॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

अथवा कहीं फूल चुनने और फल लाने को वन में गयी है अथवा जल लाने के लिये किसी सरोवर या नदी पर गयी है ॥ ९ ॥

---

१ नष्टा—याट्टच्छिकमदर्शनं गता । (गो०) २ निलीना—विनोदाय व्यवहिता । (गो०)

यत्नान्मृग्यमाणस्तु नासासाद वने प्रियाम् ।
शोकरक्तेक्षणः शोकादुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जो ने यत्न पूर्वक ढूँढ़ने पर भी उस वन में अपनी प्यारी सीता को कहीं न पाया, तब शोक के मारे उनकी आँखें लाल हो गयीं और मारे शोक के वे उन्मत्त की तरह हो गये ॥ १० ॥

वृक्षाद्वृक्षं प्रधावन्स गिरेश्चाद्रिं नदान्नदीम् ।
बभूव विलपन्रामः शोकपङ्कार्णवाप्लुतः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी शोक रूपी कीचड़ के समुद्र में डूब कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक और एक नदी से दूसरी नदी तक विलाप करते हुए दौड़ते फिरते थे ॥ ११ ॥

अपि कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥

(वे विलाप करके कहते थे) हे कदंब वृक्ष ! तुम्हारे फूलों पर विशेष अनुराग रखने वाली मेरी प्रिया शुभानना सीता का पता यदि तुम्हें मालूम हो तो बतलाओ ॥ १२ ॥

स्निग्धपल्लवसङ्काशा पीतकौशेयवासिनी ।
शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी ॥१३॥

हे बिल्व वृक्ष ! उस बिल्व-फल-सदृश स्तन वाली, पल्लव समान कान्ति युक्त, पीली रेशमी साड़ी पहिने हुए सीता को, यदि तुमने देखा हो तो मुझे बतलाओ ॥ १३ ॥

अथवाऽर्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता भीरुर्यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

अथवा हे अर्जुन वृक्ष ! मेरी प्यारी सीता तुमको बहुत चाहती थी, सो वह जनकदुलारी और डरपोंक जानकी जीवित है कि नहीं-सो बतलाओ ॥ १४ ॥

ककुभः ककुभोरूं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
यथा पल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥ १५ ॥

यह ककुभ का पेड़, ककुभ के समान जाघों वाली सीता को निश्चय ही जानता होगा । क्योंकि यह वनस्पति, लता, पत्ते और पुष्पों से कैसा लदा हुआ है ? ॥ १५ ॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्ययम् ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

यह तिलक-वृक्ष तो तिलक-वृक्ष-प्रिय सीता का पता अवश्य जानता होगा; देखो इस वृक्ष श्रेष्ठ तिलक वृक्ष के ऊपर भौंरे कैसे गूंज रहे हैं ॥ १६ ॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासन्दर्शनेन माम् ॥ १७ ॥

हे अशोक वृक्ष ! तुम शोक के नाश करने वाले हो । अतः तुम शोक से हतचित्त मुझको शीघ्र मेरी प्रिया से मिला कर, मुझे अपने जैसे नाम वाला (अर्थात् अशोक—शोकरहित) कर दो ॥ १७ ॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालफलस्तनी ।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥ १८ ॥

हे ताल वृक्ष ! यदि तुमने पके हुए ताल फल के आकर सदृश स्तनवाली सीता को देखा हो और मेरे ऊपर तुम ज़रा भी दया करते हो, तो मुझे बतलाओ कि, वह वरारोहा सीता कहाँ है ? ॥ १८ ॥

यदि दृष्टा त्वया सीता जम्बु जाम्बूनदप्रभाम* ।
प्रियां यदि विजानीषे निःशङ्कं कथयस्व मे ॥ १९ ॥

हे जामुन वृक्ष ! यदि सुवर्ण समान प्रभावाली मेरी प्रिया को तुमने देखा हो तो निःसङ्कोच हो बतला दो ॥ १९ ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य सुपुष्पैः शोभसे भृशम् ।
कर्णिकारप्रिया साध्वी शंस दृष्टा प्रिया यदि ॥ २० ॥

हे कार्णिकार ! आज तो तुम पुष्पों से पुष्पित हो अत्यन्त शोभित हो रहे हो । यदि तुमने मेरी पतिव्रता सीता को देखा हो तो, मुझे बतला दो ॥ २० ॥

चूतनीपमहासालान्पनसान्कुरवान्धवान् ।
दाडिमानसनान्गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः ॥ २१ ॥
मल्लिका माधवीश्चैव चम्पकान्केतकीस्तथा ।
पृच्छन्रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसी प्रकार महायशस्वी श्रीरामचन्द्र, आम, कदंब बड़े बड़े साखू, कटहर, कुरट, अनार, मौलसिरी, नागकेसर, चंपा और

---

*पाठान्तरे—"जम्बुफलोपमाम्" ।

केतकी के वृक्षों के पास जा उनसे पूंछते हुए उन्मत्त की तरह वन में देख पड़ते थे ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथवा मृगशाबाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम् ।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥ २३ ॥

(केवल वृक्षों ही से नहीं श्रीरामचन्द्र जी ने सीता का हाल वन के पशुओं से भी पूंछा । वे मृगों से बोले)—हे मृगों ! क्या तुम उस मृगनयनी सीता का कुछ हाल जानते हो । अवश्य मृगों की तरह देखने वाली मेरी कान्ता हिरनियों के साथ होगी ॥ २३ ॥

गज सा गजनासोरूर्यदि दृष्टा त्वया भवेत् ।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥ २४ ॥

हे गजेन्द्र ! तुम्हारी सूंड के समान आकार की जाघों वाली सीता को क्या तुमने कहीं देखा है ? मैं तो समझता हूँ तुम उसका पता अवश्य जानते हो—सो तुम उसका पता मुझे बतलाओ ॥ २४ ॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।
मैथिली मम विस्रब्धं कथयस्व न ते भयम् ॥ २५ ॥

हे शार्दूल ! यदि चन्द्रानना मेरी प्यारी मैथिली तुम्हारी जान में कहीं हो, तो मुझ पर विश्वास कर और निर्भय हो मुझे बतला दो ॥ २५ ॥

किं धावसि प्रिये *दूरं दृष्टासि कमलेक्षणे ।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—"नूनं", "मेऽद्य"

हे कमलेक्षणे ! मैंने तुम्हें देख लिया । अब तुम क्यों दूर भागी जाती हो । वृक्षों की आड़ में क्यों छिपती हो । मुझसे बातचीत क्यों नहीं करती ? ॥ २६ ॥

तिष्ठतिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलाऽसि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥ २७ ॥

हे वरारोहे ! खड़ी रह, खड़ी रह । क्या तुझको मेरे ऊपर दया नहीं आती । तेरा तो स्वभाव इतना हास्यप्रिय नहीं था, फिर तू क्यों मेरी ऐसी उपेक्षा कर रही है ॥ २७ ॥

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि ।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥ २८ ॥

हे वरवर्णिनी (सुन्दर वर्ण धारिणी) ! तेरी पीली साड़ी से मैंने तुझको पहिचान लिया और दौड़ती हुई तुझे देख लिया । यदि तू मेरी हितैषिणी हो तो अब खड़ी रह ॥ २८ ॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी ।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥ २९ ॥

अथवा हे चारुहासिनी ! मैंने जिसको देखा है वह तुम नहीं हो । तुमको तो अवश्य ही किसी ने मार डाला । यदि ऐसा न होता तो मुझे इस दारुण दुःख में पटक सीता मेरी उपेक्षा न करती ॥२९॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः ।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

अवश्य ही मांस खाने वाले राक्षसों ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी प्रिया के अंगों के टुकड़े टुकड़े करके उसे खा डाला ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं चारुकुण्डलम् ।
पूर्णचन्द्रमिव ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

ओहो ! उसका वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य मुख, जो सुन्दर दांतों और ओंठों से युक्त तथा सुन्दर नासिका से शोभित एवं कुण्डलों से भूषित था, राक्षसों द्वारा ग्रस्त होने पर निश्चय ही प्रभाहीन अर्थात् फीका पड़ गया होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयशोभिता ।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥३२॥

हा ! उस विलाप करती हुई चम्पकवर्णी की, हार पचलड़ी आदि आभूषणों से शोभित, कोमल एवं सुन्दरी ग्रीवा, राक्षसों ने काट कर खा डाली होगी ॥ ३२ ॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥ ३३ ॥

नवीन पत्तों की तरह कोमल और हाथों में पहनने योग्य आभूषणों से भूषित, उसकी छटपटाती हुई दोनों भुजाओं को राक्षसों ने खा डाला होगा ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।
[1]सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

---

१ सार्थेन—पथिकसमुदायेन । (गो०)

राक्षसों द्वारा खाये जाने के लिये ही वह मुझसे अलहदा हुई, जैसे पथिकों के समूह से बिछुड़ी हुई स्त्री, अनेक भाई बंदों के रहने पर भी—नष्ट हो जाती है ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसि त्वं प्रियां क्वचित् ।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
इत्येवं विलपन्रामः परिधावन्वनाद्वनम् ।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात्क्वचिद्विभ्रमते[1] बलात् ॥ ३६ ॥

हा महाबाहो ! हा लक्ष्मण ! क्या तुम्हें मेरी प्यारी कहीं देख पड़ती है ? हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहाँ चली गयीं ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्र बार बार विलाप करते हुए वन में इधर उधर दौड़ते फिरते थे । कभी दौड़ते दौड़ते वे गिर पड़ते और कभी हवा के बबंडर की तरह चक्कर काटने लगते थे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।
स वनानि नदीः शैलान्गिरिप्रस्रवणानि च ।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

कभी श्रीरामचन्द्र जी उन्मत की तरह देख पड़ते थे । कभी कभी वे सीता जी को ढूढ़ते हुए वेग सहित नदी, पहाड़, झरने, और वनों में घूम फिर रहे थे ॥ ३७ ॥

तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति ।

---

१ विभ्रमते—वात्येव भ्रमणं प्राप्नोति । (शि०)

[1]अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

सीता के मिलने की पूर्ण आशा रख, अथवा सीता के मिलने की आशा को परित्याग न कर, श्रीरामचन्द्र उस विशाल वन में बराबर भ्रमण करते हुए बार बार सीता को खोजने का श्रम उठाने लगे। अथवा आशा परित्याग न करके श्रीरामचन्द्र जी बार बार बड़े परिश्रम के साथ उस विशाल वन में घूम कर सीता को खोज रहे थे ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकषष्टितमः सर्गः

—:※:—

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः।
रहितां पर्णशालां च विध्वस्तान्यासनानि च ॥ १ ॥

इस प्रकार सारा वन भला श्रीरामचन्द्र जी फिर अपने आश्रम में आये। तब भी उन्होंने देखा कि, आश्रम सूना पड़ा है और आसन चटाई आदि भी इधर उधर पड़ी हैं ॥ १ ॥

अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं सन्निरीक्ष्य च सर्वशः।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ ॥ २ ॥

---

१ अनिष्ठिताशः—अनिष्पन्नाशः सन्। (गो०)

सर्वत्र खोजने पर भी सीता को न देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की दोनों सुन्दर भुजाओं को पकड़ कर से बोले ॥ २ ॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता कहाँ है ? वह यहाँ से कहाँ गयी ? अथवा यहाँ से उसे कोई पकड़ कर ले गया ? अथवा किसी ने उसे खा डाला ? ॥ ३ ॥

वृक्षेणाच्छाद्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥ ४ ॥

हे सीते ! वृक्ष की ओट में छिप यदि तुम मुझसे हँसी करती हो, तो अब और अधिक हँसी कर मुझे दुःखी मत करो ॥ ४ ॥

यैः सह क्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यास्राविलेक्षणाः ॥ ५ ॥

हे सीते ! तुम जिन पालतू मृगछौनों के साथ खेला करती थीं, वे सब के सब तुम्हारे वियोग में आँसू बहाते, तुम्हें स्मरण कर रहे हैं ॥५॥

सीतया रहितोऽहं वै न हि जीवामि लक्ष्मण ।
*वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के बिना मैं जीता नहीं रह सकता । सीता के हर जाने से उत्पन्न हुए महाशोक ने मुझे घेर लिया है ॥ ६ ॥

परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।
कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—'मृतं'

अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।
कामवृत्तमनार्यं मां मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥
धिक्त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।
विवशं शोकसन्तप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥ ९ ॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्तिर्नरमिवानृजुम्[1] ।
क्व गच्छसि वरारोहे मां नोत्सृज सुमध्यमे ॥ १० ॥

परलोक में मेरी भेंट पितृदेव महाराज दशरथ से अवश्य होगी और वे कहेंगे कि, प्रतिज्ञात वनवास की अवधि को पूरा किये बिना तुम मेरे पास क्यों चले आये ? मुझको स्वेच्छाचारी, अनार्य, और मिथ्यावादी, कह कर परलोक में मेरे पिता मुझे अवश्य ही धिक्कारेंगे। हे सीते ! विवश, शोकाकुल, दीन, भग्नमनोरथ और दयापात्र मुझको उसी प्रकार छोड़, तुम कहाँ जाती हो. जिस प्रकार कपटाचारी को कीर्ति त्याग कर चली जाती है। हे वरारोहे ! हे सुमध्यमे ! तुम कहाँ जाती हो ? तुम मुझको मत त्यागो ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

त्वया विरहितश्चाहं मोक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
इतीव विलपन्रामः सीतादर्शनलालसः ॥ ११ ॥

हे प्रिये ! तेरे वियोग में मैं अपने प्राण गँवा दूँगा। श्रीरामचन्द्र जी सीता को देखने की आकांक्षा कर, इस प्रकार विलाप करने लगे ॥ ११ ॥

न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम् ।
अनासादयमानं तं सीतां दशरथात्मजम् ॥ १२ ॥

---

१ अनृजुं—कपटाचारं । (गो०)

इस प्रकार अत्यन्त दुःख से आर्त्त होने पर भी सीता जी को न पा कर दशरथनन्दन ॥ १२ ॥

पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

कीचड़ में फँसे हुए हाथी की तरह, शोक में मग्न हो गये। तब लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी की हितकामना के लिये उनसे बोले ॥१३॥

मा विषादं महाबाहो कुरु यत्नं मया सह ।
इदं च हि वनं शूर बहुकंदरशोभितम् ॥ १४ ॥

हे बड़ी भुजाओं वाले ! आप दुःखी न हूजिये। आइये मेरे साथ सीता को ढूढ़ने का प्रयत्न कीजिये। हे वीर ! इस वन में बहुत सी कंदराएं (गुफाएं) हैं ॥ १४ ॥

प्रियकाननसञ्चारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।
सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम् ॥१५॥

जानकी जी को वन में घूमना प्रिय है। इसीसे वे वन को देख उन्मत्त सी हो जाती हैं। अतः या तो वे कहीं इस वन में घूम रही होंगी अथवा किसी पुष्पित कमलों से शोभित सरोवर पर होंगी ॥१५॥

सरितं वाऽपि सम्भ्रान्ताः मीनवञ्जुल[1]सेविताम् ।
स्नातुकामा निलीना स्याद्धासकामा वने क्वचित् ॥१६॥

हो सकता है वे मछलियों और वञ्जुल पक्षियों से सेवित नदी में स्नान करने गयी हों अथवा हम दोनों के साथ हँसी करने को कहीं छिपी बैठी हों ॥ १६ ॥

---

१ वञ्जुलो वेतसः । (गो०)

विन्नासयितुकामा वा लीना स्यात्काननेऽथवा ।
जिज्ञासमाना[1] वैदेहीं त्वां मां च पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥

अथवा हमको तंग करने के लिये इस वन में कहीं छिप गयी हों. अथवा आपकी और मेरी, खोजने की शक्ति की परीक्षा ले रही हों ॥ १७ ॥

तस्या ह्यन्वेषणे श्रीमन्क्षिप्रमेव यतावहै ।
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा ॥ १८ ॥

अतएव हे श्रीमन् ! हम दोनों को उनके खोजने में शीघ्र यत्नवान् होना चाहिये । जहाँ हो वहाँ जानकी को पाने के लिये हमको यह सारा वन मझाना चाहिये ॥ १८ ॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन समाहितः ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप मेरा कहना मानें तो शोकाकुल मत हूजिये । इस प्रकार जब लक्ष्मण जी ने सौहार्द्र से समझाया तब श्रीरामचन्द्र जी का चित्त ठिकाने हुआ और ॥ १९ ॥

सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ।
तौ वनानि गिरींश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ सीता को खोजने लगे । अब वे दोनों वनों पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूंढने लगे ॥ २० ॥

---

१ जिज्ञासमाना —आवयोरन्वेषणादिसामर्थ्यं जिज्ञासमानेत्यर्थः । गो०)

निखिलेन विचिन्वानौ सीतां दशरथात्मजौ ।
तस्य शैलस्य सानूनि[1] गुहाश्च शिखराणि च ॥ २१ ॥

दशरथनन्दन उन दोनों राजकुमारों ने रत्ती रत्ती कर सारे वनों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूढ़ा । उन्होंने वहाँ के पर्वत के शिला प्रदेशों, कंदराओं और शिखरों को भी देखा ॥ २१ ॥

निखिलेन विचिन्वानौ नैव तामभिजग्मतुः ।
विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २२ ॥

यद्यपि उन्होंने रत्ती रत्ती वन मझाया, किन्तु सीता का पता न लगा । सारा पहाड़ खोज कर श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा ॥२२॥

नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ।
ततो दुःखाभिसन्तप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
विचरन्दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
प्राप्स्यसि त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ २४ ॥
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्धा महीमिमाम् ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन स राघवः ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण ! इस पहाड़ पर तो सीता नहीं दिखलाई पड़ती । तब दुःख से सन्तप्त लक्ष्मण, दण्डकवन में विचरते हुए एवं तेजस्वी श्रीरामचन्द्र से बोले—हे महाप्राज्ञ ! तुम्हें जानकी जी वैसे ही मिलेगी जैसे बलि को बाँध, विष्णु को यह पृथिवी मिली थी । इस प्रकार सौहार्द्र से लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥२३॥२४॥२५॥

सानूनि—शिलाप्रदेशान । (शि०)

उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ।
वनं सर्वं सुविचितं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ २६ ॥
गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकंदरनिर्झरः ।
न हि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २७ ॥

तब दुःख से विकल हो श्रीरामचन्द्र जी दीन वाणी से लक्ष्मण से कहने लगे। हे महाप्राज्ञ! मैंने समस्त वन और खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरें, यह पहाड़, बहुत सी कंदराएं और अनेक झरने भली भाँति खोजें, किन्तु प्राणों से भी बढ़ कर वैदेही न मिली ॥ २६ ॥ २७ ॥

एवं स विलपन्रामः सीताहरणकर्शितः ।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलो[1]ऽभवत् ॥ २८ ॥

सीता-हरण से व्यथित श्रीरामचन्द्र इस प्रकार विलाप करते हुए उदास और शोकाकुल हो दो घड़ी के लिये परवश हो गये ॥ २८ ॥

सन्तप्तो [2]ह्यवसन्नाङ्गो गतबुद्धि[3]र्विचेतनः[4] ।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्यायतमायतम् ॥ २९ ॥

वे सन्तप्त होने के कारण कृशाङ्ग, निस्संज्ञ, निश्चेष्ट, आर्त्त और दीन हो कर गरम और लंबी साँसें लेने लगे ॥ २९ ॥

बहुलं स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः ।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुलो बाष्पगद्गदः ॥ ३० ॥

---

१ विह्वलः--परवशः (गो०) २ अवसन्नाङ्गः—कृशाङ्गः । (गो०)
३ गतबुद्धिः—निस्संज्ञः । (गो०) ४ विचेतनः—निश्चेष्टः । (गो०)

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र बारंबार लंबी साँसें ले और "हा प्रिये" कह तथा गद्गद हो, उच्च स्वर से रोने लगे ॥ ३० ॥

तं ततः सान्त्वयामास लक्ष्मणः प्रियबान्धवः ।
बहुप्रकारं धर्मज्ञः प्रश्रितं प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी दशा देख, उनके प्यारे भाई धर्मज्ञ लक्ष्मण जी ने, विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर, उनको अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान की ॥ ३१ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटाच्च्युतम् ।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्रोशत्स पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

इतिः एकषष्टितमः सर्गः ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण की कही बातों का तिरस्कार कर, और प्यारी सीता को न देख, बार बार उच्चस्वर से रोने लगे ॥ ३२ ॥

अरण्यकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विषष्टितमः सर्गः

—※—

सीतामपश्यन्धर्मात्मा कामोपहतचेतनः ।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

महाबाहु, धर्मात्मा और कमललोचन श्रीरामचन्द्र, सीता जी को न देख, मारे शोक के चेतनाशून्य हो विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्यन्निव स तां सीतामपश्यन्मदनार्दितः ।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥ २ ॥

सीता को न देख कर भी मानों देखते हुए श्रीरामचन्द्र काम से पीड़ित हो गद्गद कण्ठ से बोले ॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतया प्रिये ।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥
कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम् ॥ ४ ॥

हे पुष्पों की चाहने वाली और मेरे शोक को बढ़ाने वाली प्रिये ! तू अपने शरीर को अशोक की शाखाओं से छिपाती है और केले के वृक्ष के समान अपनी दोनों जाँघों को केले के वृक्ष से छिपा तो रही है; किन्तु छिपा नहीं सकती, मैं उनको देख रहा हूँ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥ ५ ॥

हे भद्रे ! हे देवि ! तू हसती हुई कर्णिकार के वन में विचर रही है, किन्तु मुझको पीड़ा दे कर; अतः अब मेरे साथ ठट्ठा मत कर ॥ ५ ॥

परिहासेन किं सीते परिश्रान्तस्य मे प्रिये ।
अयं स परिहासोऽपि साधु देवि न रोचते ॥ ६ ॥

हे प्रिये सीते ! मुझ परिश्रान्त के साथ ठट्ठा करने से क्या लाभ ? यह तेरा परिहास करना ठीक न होने के कारण मुझे पसंद नहीं है ॥ ६ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हास्योऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ७ ॥

हे प्रिये ! मुझे यह मालूम है कि, तू परिहास-प्रिय है, परन्तु विशेष कर इस आश्रम-स्थान में परिहास करना अच्छा नहीं ॥ ७ ॥

आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।
सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृताऽपि वा ॥ ८ ॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसंपैति लक्ष्मण ।
एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

हे विशालाक्षी ! यह तेरी पर्णकुटी सूनी पड़ी है, सो यहाँ आ ! हे लक्ष्मण ! स्पष्ट जान पड़ता है कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला या वे उसे हर ले गये । क्योंकि मुझे विलाप करते देख कर भी वह मेरे पास नहीं आती । हे लक्ष्मण ! देखो ये मृगों के झुंड आँखों में आँसू भर ॥ ८ ॥ ९ ॥

शंसन्तीव हि वैदेहीं भक्षितां रजनीचरैः ।
हा ममार्ये[1] क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥१०॥

मानों कह रहे हैं कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला है । हे मेरी पूज्ये ! हे पतिव्रते ! हे वरवर्णिनि ! तू कहाँ गयी ? ॥ १० ॥

---

१ आर्ये—पूज्ये । (गो०)

हा सकामा त्वया देवी कैकेयी सा भविष्यति ।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥ ११ ॥

हे देवि ! मेरे कारण कैकेयी सफलमनोरथ होगी । क्योंकि वह देखेगी कि, सीता सहित मैं घर से निकला था और जाऊँगा सीता रहित ॥ ११ ॥

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तः पुरं पुनः ।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ १२ ॥

मुझसे किस प्रकार सीता बिना सूने अन्तःपुर में फिर जाया जायगा ? सब लोग मुझको पराक्रमहीन और निठुर बतलावेंगे ॥१२॥

कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥ १३ ॥

सीता के हर जाने से मेरा कातरपन तो स्पष्ट ही है । मैं जब वनवास से लौट कर जाऊँगा तब मिथिलेश जनक ॥ १३ ॥

कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ १४ ॥

मुझसे जानकी की कुशल पूछेंहीगे । उस समय मैं क्यों कर उनके सामने अपनी आँखें कर सकूँगा । विदेहराज सीता रहित मुझको देख निश्चय ॥ १४ ॥

दुहितृस्नेहसन्तप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १५ ॥

अपनी बेटी जानकी के नाश से सन्तप्त हो मूर्च्छित हो जायँगे। अथवा मैं भरत द्वारा पालित अयोध्या में जाऊँ ही नहीं ॥ १५ ॥

स्वर्गोऽपि सीतया हीनः शून्य एव मतो मम।
मामिहोत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यां पुरीं शुभाम् ॥१६॥

अयोध्या की तो बात ही क्या है, मेरे मतानुसार तो सीता के विना स्वर्ग भी सूना है। अतएव हे लक्ष्मण! तुम मुझको इस वन में छोड़ अयोध्या को चले जाओ ॥ १६ ॥

न त्वहं तां सीतां जीवेयं हि कथञ्चन।
गाढमालिङ्ग्य भरतो वाच्यो मद्वचनात्त्वया ॥ १७ ॥

क्योंकि मैं सीता विना किसी प्रकार भी जीवित नहीं रह सकता। वहाँ जा और भरत को गाढ़ आलिंगन कर मेरी ओर से कहना ॥ १७ ॥

अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुन्धराम्।
अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १८ ॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तकारिणा ॥ १९ ॥

कि, श्रीरामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है कि, तुमही पृथिवी का पालन करो। मेरी माता, कैकेयी और अपनी माता सुमित्रा और कौशल्या को यथाक्रम मेरी ओर से प्रणाम करना! हे लक्ष्मण! मेरे आज्ञानुवर्ती आपको उचित है कि, माताओं की यत्नपूर्वक रक्षा करते रहना ॥ १८॥ १९ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रकर्शन।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥ २० ॥

हे परन्तप ! तुम सीता का तथा मेरे विनाश का वृत्तान्त भी मेरी जननी से विस्तार पूर्वक कह देना ॥ २० ॥

इति विलपति राघवे सुदीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या ।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥ २१ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्ग ॥

श्रीरामचन्द्र जी सुकेशी सीता के विरह में अत्यन्त विकल हो, इस प्रकार से विलाप करने लगे । भय और विकलता से लक्ष्मण जी भी व्यथित हो अत्यन्त आतुर हो गये ॥ २१ ॥

अरण्यकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
कामेन शोकेन च पीड्यमानः ।
विषादयन्भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥ १ ॥

राजपुत्र श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी सीता के विना काम और शोक से पीड़ित होने के कारण भाई लक्ष्मण को भी विषादयुक्त कर स्वयं भी फिर अत्यन्त विषादयुक्त हुए ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः ।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूपम्
उष्णं विनिःश्वस्य रुदन्सशोकम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी विपुल शोक में निमग्न हो, गरम साँस ले, शोक व्याकुल लक्ष्मण से, शोक के कारण रो कर बोले ॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकेन शोको हि परम्परायां
मामेति भिन्दन्हृदयं मनश्च ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, मेरे समान दुष्कर्म करने वाला दूसरा पुरुष इस पृथिवी पर नहीं है। देखो न, एक के बाद एक, इस प्रकार लगातार शोक मेरे हृदय और मन को विदीर्ण किये डालता है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ ४ ॥

पहले जन्म में निश्चय ही मैंने बद् बद् कर अनेक बार बहुत से पाप किये हैं, उन्हींका कर्मविपाक आज मुझे भोगना पड़ता है और इसीसे मेरे ऊपर दुःख के ऊपर दुःख पड़ रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगम्[1]
आपूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो न, राज्य का नाश, स्वजनों का वियोग, पिता का मरण, जननी से विछोह, इन बातों का जब मैं स्मरण करता हूँ तब मेरा हृदय शोकों से परिपूर्ण हो जाता है ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य शून्यम् ।
सीतावियोगात्पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसा प्रदीप्तः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! इस शून्य बन में आने पर, मैं इन सब दुःखों को भूल सा गया था । किन्तु सीता के वियोग से, काठ के संयोग से सहसा प्रज्वलित आग की तरह, वे भूले हुए दुःख फिर हरे हो गये हैं ॥ ६ ॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
बलाद्धृता खं समुपेत्य भीरुः ।

---

१ शोकवेगं—शोकराशिं । (गा०) २ प्रविचिन्तितानि—स्मृतानि । (गो०)

अपस्वरं सस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥ ७ ॥

निस्सन्देह कोई राक्षस उसी भीरू स्वभाव वाली पूज्या सीता को, आकाशमार्ग से ले गया है और उस समय वह भयभीत हो, विकृत स्वर से बारंबार रोई और चिल्लाई होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य[1] प्रियदर्शनस्य
सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
नूनं प्रियाया मम नाभिभातः ॥ ८ ॥

गोल और लाल चन्दन जैसे लाल रंग वाले और देखने में प्रिय लगने वाले मेरी प्रिया जानकी जी के स्तन, जो सदा उत्तम चन्दन से चर्चित होने योग्य हैं, वे अवश्य ही गाढ़े गाढ़े लोहू से सन गये होंगे ॥ ८ ॥

तच्छलक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागतायाः
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

मधुर, स्पष्ट और कोमल वचनों का बोलने वाला और सुन्दर घुंघराले बालों के बीच शोभित मेरी प्रिया का मुख, राक्षस के वश में होने से वैसे ही शोभायमान नहीं होता होगा जैसे राहु से ग्रस्त चन्द्रमा शोभायमान नहीं होता ॥ ९ ॥

---

१ लोहितस्य—लोहिताख्यस्य उत्तम चन्दनस्य । (गो०)

तां हारयष्टेरिव सदोचितायाः
ग्रीवां प्रियायाः मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
विभिद्य शून्ये रुधिराशनानि ॥ १० ॥

मेरी पतिव्रता प्रिया की वह सुन्दर गरदन जो सदा हारों से भूषित रहती थी, निश्चय ही एकान्त पा, रुधिर पीने वाले राक्षसों ने उसे चीर कर उसका रुधिर पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने वने या
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

मेरी अनुपस्थिति में जब निर्जन बन में राक्षसों ने चारों ओर से घेर कर सीता को खींचा होगा, तब उस बड़े नेत्र वाली ने अवश्य ही कुररी की तरह बड़ा आर्तनाद किया होगा ॥ ११ ॥

अस्मिन्मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! उदार स्वभाव वाली सीता, मेरे साथ इस शिला पर बैठ मनोहर हास्यपूर्वक तुमसे कितनी ही बातें कहा करती थी ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! यह नदियों में श्रेष्ठ गोदावरी नदी मेरी प्रिया को सर्वदा अत्यन्त प्यारी थी सो मैं सोचता हूँ कि, कदाचित् नदी के तट पर गयी हो, किन्तु वह अकेली तो वहाँ कभी नहीं जाती ॥१३॥

पद्माननां पद्मविशालनेत्रां
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं न हि सा कदाचिन्
मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

फिर मैं यह भी सोचता हूँ कि, वह कमलमुखी और कमल के समान विशाल नेत्र वाली कहीं कमल के फूल लाने को न गयी हो ; किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मेरे बिना वह कमल लेने भी नहीं जाती ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तम्
एकाकिनी साऽतिबिभेति भीरुः॥ १५ ॥

अथवा इस फूले हुए वृक्षों के समूह से शोभित तथा भांति भांति के पक्षियों से युक्त इस वन को देखने वह अपनी इच्छा से

गयी हो ! किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह डरपोंक स्वभाव को होने के कारण अकेली बन में जाते बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकवशस्य सत्यम् ॥ १६ ॥

हे सूर्यदेव ! तुम लोगों के किये अनकिये तथा पाप पुण्य मय कर्मों के साक्षी हो । मुझे यह तो सत्य सत्य बतलाओ कि, मेरी प्रिया कहाँ गयी । अथवा उसको कोई हर कर ले गया ? क्योंकि मैं इस समय शोक से विकल हो रहा हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चि-
द्यत्नेन नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलशालिनीं तां
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ १७ ॥

हे पवनदेव ! समस्त लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो नित्य आपकी जानकारी में न आती हो । अतएव आप ही उस कुल-मर्यादा की रखने वाली सीता के विषय में यह बतलाओ कि, यह मर गई या किसी ने उसे हर लिया या वह इसी वन के किसी मार्ग में है ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेवम् ।

---

* पाठान्तरे "नित्यम्" ।

उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥१८॥

जब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को शोक से विह्वल हो इस प्रकार अव्यवस्थित चित्त वाले मनुष्य की तरह विलाप करते देखा, तब लक्ष्मण ने दीनता त्याग न्यायानुमोदित एवं कालोचित वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे ॥ १८ ॥

शोकं विमुञ्चार्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥ १९ ॥

हे आर्य ! शोक को त्यागिये और धैर्य को धारण कीजिये । तदनन्तर उत्साह पूर्वक जानकी जी को ढूंढ़िये । क्योंकि जो लोग उत्साही होते हैं वे दुष्कर कार्यों के करने में भी कभी दुःख नहीं पाते ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं[1]
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः ।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

---

१ उदग्रपौरुषं — श्रेष्ठपराक्रमं । (गो०)

श्रेष्ठ पराक्रमी लक्ष्मण के यह कहने पर भी श्रीरामचन्द्र ने आर्त होने के कारण लक्ष्मण जी के कथन को सुना अनसुना कर दिया। बल्कि वे धैर्य छोड़ पुनः अत्यन्त दुःखी हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ

—※—

चतुःषष्टितमः सर्ग

—※—

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥

दीनता को प्राप्त श्रीरामचन्द्र दीन वचन कह लक्ष्मण से बोले—हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र गोदावरी के तट पर जाकर देख आओ कि ॥ १ ॥

अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता ।
[illegible] रामेण लक्ष्मणः *पुनरेवहि ॥ २ ॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः[1] ।
तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे ।
कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी ॥ ४ ॥

जानकी कहीं कमल के फूल लेने तो वहाँ नहीं गयी। श्रीरामचन्द्र जी के पुनः वही बात कहने पर शीघ्रगामी लक्ष्मण तुरन्त

---

१ लघुविक्रमः—अतिशीघ्रपादप्रक्षेपवान् लक्ष्मणः । (शि०)
पाठान्तरे—"परवीरहा ।"

गोदावरी के तट पर पहुँचे और उस सुन्दर घाटों वाली गोदावरी के चारों ओर देख भाल कर श्रीरामचन्द्र के पास लौट आये और बोले—मैंने सभी घाटों पर उन्हें ढूढ़ा, किन्तु कहीं भी वे मुझे न मिलीं। मैंने उन्हें पुकारा भी किन्तु मुझे कुछ उत्तर न मिला। नहीं मालूम क्लेशनाशिनी सीता, कहाँ चली गयीं ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

न ह्यहं वेद तं देशं यत्र सा जनकात्मजा ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः सन्तापमोहितः ॥ ५ ॥

मैं नहीं कह सकता कि, जानकी जी कहाँ हैं? लक्ष्मण जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी उदास और सन्तप्त हो ॥ ५ ॥

रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम् ।
स तामुपस्थितो रामः क सीतेत्येवमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तथा स्वयं गोदावरी नदी के तट पर जा, कहने लगे—हे सीते! तुम कहाँ हो? ॥ ६ ॥

भूतानि राक्षसेन्द्रेण बधार्हेण हृतामपि ।
न तां शशंसु रामाय तथा गोदावरी नदी ॥ ७ ॥

सब प्राणियों ने तथा गोदावरी नदी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह न कहा कि, वध करने योग्य रावण सीता को हर कर ले गया है ॥ ७ ॥

ततः प्रचोदिता भूतैः[1] शंसास्मत्तां प्रियामिति ।
न तु साऽभ्यवदत्सीतां पृष्टा रामेण शोचता ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस वन के प्राणियों ने गोदावरी से अनुरोध किया कि, श्रीरामचन्द्र को बतला दे कि, रावण सीता को हर कर ले गया है ।

---

१ भूतानि—वन्यानि सत्त्वानि । (गो०)

चिन्ताग्रस्त श्रीरामचन्द्र जी ने पूंछा ; किन्तु गोदावरी ने न बतलाया ॥ ८ ॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः ।
ध्यात्वा भयात्तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ताम् ॥ ९ ॥

क्योंकि रावण की शक्ल और उस दुष्ट के कार्यों का स्मरण कर मारे डर के गोदावरी को साहस न हुआ कि, वह सीता का हाल श्रीराम से कहे ॥ ९ ॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कृतः ।
उवाच रामः सौमित्रिं सीताऽदर्शनकर्शितः ॥ १० ॥

सीता जी के दर्शन से इस प्रकार नदी से निराश हो श्रीरामचन्द्र जी ने जो सीता के विरह से पीडित थे, लक्ष्मण जी से कहा ॥१०॥

एषा गोदावरी सौम्य किञ्चिन्न प्रतिभाषते ।
किन्नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ ११ ॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।
या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥
सर्वं व्यपनयेच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।
ज्ञातिपक्षविहीनस्य राजपुत्रीमपश्यतः ॥ १३ ॥

हे सौम्य ! देखो यह गोदावरी तो कुछ जवाब ही नहीं देती । अब लौट कर महाराज जनक से तथा सीता की माता से मैं कैसे अप्रिय वचन कहूँगा । जो जानकी वन में उत्पन्न कन्द मूलादि से सन्तुष्ट हो, मुझ राज्य विहीन के सब शोक दूर किया करती थी, वह सीता कहाँ गयी ? एक तो पहले ही मैं कुटुम्बियों से रहित था, अब राजपुत्री जानकी भी नहीं रही ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।
मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १४ ॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि दृश्यते ।
एते मृगा महावीरा मामीक्षन्ते मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

सो अब ऐसा मुझे जान पड़ता है कि, ये रातें भी जागने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ी हो जाँयगी । मन्दाकिनी नदी, जनस्थान और इस समस्त प्रस्रवण पहाड़ को चल फिर कर ढूंढूंगा । कदाचित् सीता से भेंट हो जाय । हे वीर ! देखो ये बड़े बड़े मृग मेरी ओर देखते हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

वक्तुकामा इव हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।
तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥

इनके सङ्केतों से ऐसा जान पड़ता है मानों ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं । उनकी (मृगों की) ओर देख पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र ने उनसे कहा ॥ १६ ॥

क्व सीतेति निरीक्षन्वै बाष्पसंरुद्धया दृशा ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।
मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामन्वपद्यत ॥ १८ ॥

हे मृगों ! सीता कहाँ है ? यह कहते ही श्रीरामचन्द्र जी की आंखों में आँसू भर आये और कण्ठ गद्गद हो गया । श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूंछने पर वे मृग शीघ्र उठ कर दक्षिणाभिमुख हो आकाश मार्ग को दिखलाते हुए चले और जिस रास्ते से रावण सीता को हर कर ले गया था, उसी मार्ग से वे आगे बढ़े ॥१७॥१८॥

तेन मार्गेण धावन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।
येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥
पुनश्च मार्गमिच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥ २० ॥

उसी मार्ग पर मृग दौड़ते चले जाते थे और मुड़ मुड़ कर पीछे श्रीरामचन्द्र जी को देखते जाते थे। जिस ओर के रास्ते को और ज़मीन को वे मृग देखते तथा जाते जाते शब्द करते जाते थे; उस ओर लक्ष्मण ने देखा और उन मृगों की बोली के अभिप्राय को समझ तथा उनकी चेष्टा पर ध्यान दे ॥ १९ ॥ २० ॥

उवाच लक्ष्मणो ज्येष्ठं धीमान्भ्रातरमार्तवत् ।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सहसोत्थिताः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण ने आर्त्त की तरह अपने ज्येष्ठ बुद्धिमान भाई से कहा—आपने इनसे पूछा कि, सीता कहाँ है? सो ये मृग एक साथ उठ कर, ॥ २१ ॥

दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।
साधु गच्छावहै देव दिशमेतां हि नैर्ऋतिम् ॥ २२ ॥

हमें आकाश और दक्षिण दिशा दिखला रहे हैं। अतः जैसा कि, ये बतला रहे हैं, वैसे ही हमें नैर्ऋत्य दिशा की ओर चलना चाहिये ॥ २२ ॥

यदि स्यादागमः कश्चिदार्यावा साऽथ लक्ष्यते ।
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥

सम्भव है उस ओर जाने से सीता का पता चल जाय या वही मिल जाय। लक्ष्मण के ये बचन सुन और "बहुत अच्छा" कह, श्रीरामचन्द्र दक्षिण दिशा को ओर चल दिये॥ २३॥

लक्ष्मणानुगतः श्रीमान्वीक्षमाणो वसुन्धराम्।
एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ॥ २४॥

लक्ष्मण जी श्रीराम के पीछे हो लिये। श्रीरामचन्द्र ज़मीन की ओर दृष्टि लगाये हुए चले। इस प्रकार वे दोनो भाई आपस में वर्त्तालाप करते चले जाते थे॥ २४॥

वसुन्धरायां पतितं पुष्पमार्गमपश्यताम्।
तां पुष्पवृष्टिं पतितां दृष्ट्वा रामो महीतले॥ २५॥

उन्होंने कुछ दूर आगे जा कर देखा कि, पृथवी में आकाश से गिरे हुए फूल मार्ग पर पड़े हैं। उस पुष्पवृष्टि के पुष्पों को धरातल पर पड़े हुए देख,॥ २५॥

उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः।
अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण॥ २६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दुःखी हो दुःखित लक्ष्मण से कहा, हे लक्ष्मण! मैं जानता हूँ ये वे ही फूल हैं॥ २६॥

पिनद्धानीह वैदेह्या मया दत्तानि कानने।
मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी॥ २७॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम्।
एवमुक्त्वा महाबाहुं लक्ष्मणं पुरुषर्षभः॥ २८॥

जो मैंने ला कर वन में सीता को दिये थे और जिन्हें उसने अपने अंगों पर धारण किया था। ऐसा जान पड़ता है कि, मेरी प्रसन्नता के लिये सूर्य ने इन्हें कुम्हलाने नहीं दिया, पवन ने इनको उड़ा कर तितर बितर नहीं किया और यशस्विनी पृथिवी ने इन्हें जहाँ के तहाँ बनाये रखा है। पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम ने इस प्रकार महाबाहु लक्ष्मण से कहा ॥ २७ ॥ २८ ॥

उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।
कच्चित्त्वयेदृशी दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने प्रस्रवण पर्वत से कहा, हे पर्वतनाथ! क्या तुमने उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता को देखा है? ॥ २९ ॥

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।
क्रुद्धोऽब्रवीद्गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥

मेरी प्रिया मेरे बिना क्या इस वन में तुमने कहीं देखी है। जब उस पर्वत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब श्रीरामचन्द्र कड़क कर क्रुद्ध हो वैसे ही उस पर्वत से बोले, जैसे सिंह गुर्रा कर मृगों से बोलता है ॥ ३० ॥

तां हेमवर्णां हेमाभां सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत्सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

हे पर्वत! तुम मुझे उस सुवर्णवर्णा सीता को दिखला दो। नहीं तो मैं तुम्हारे इन शृङ्गों को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
शंसन्निव ततः सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र द्वारा सीता के विषय में इस प्रकार पूछे जाने पर वह पर्वत बतलाने की इच्छा रखता हुआ भी, (रावण के भय से) बतलाने को तैयार न हुआ ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत से कहा कि, तू मेरे बाणों की आग से जल कर भस्म हो जायगा (अर्थात् मैं तुझे अपने बाणों से भस्म कर डालूँगा) ॥ ३३ ॥

असेव्यः सन्ततं चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।
इमां वा सरितां चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ।
यदि नाख्याति मे सीतामार्यां चन्द्रनिभाननाम् ॥ ३४ ॥

फिर तृण वृक्ष, पल्लवादि के भस्म होने से कोई तेरा आश्रय ग्रहण न करेगा । हे लक्ष्मण ! यदि यह पर्वत और नदी गोदावरी मेरी पतिव्रता एवं चन्द्रबदनी सीता का पता नहीं बतलावेगी तो आज मैं इस गोदावरी नदी को भी सुखा डालूँगा और पर्वत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३४ ॥

एवं स रुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी कह, अत्यन्त कुपित हुए और क्रुद्ध हो, वे मानों नेत्रों से उस पर्वत को भस्म करना चाहते थे ॥ ३५ ॥

ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।
त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥

इतने में वहाँ भूमि पर राक्षस का विशाल पद-चिन्ह देख पड़ा । साथ ही उन जानकी जी के पदों के चिन्ह भी दिखलाई पड़े, जो

श्रीरामचन्द्र के दर्शनों की इच्छा किये हुए, राक्षस से त्रस्त हो, इधर उधर दौड़ी थीं ॥ ३६ ॥

राक्षसेनानुवृत्ताया मैथिल्याश्च पदान्यथ ।
स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥

राक्षस का पीछा करने से जानकी के भी पैरों के चिन्ह राक्षस के पैरों के चिन्हों के भीतर बने देख पड़े । श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी वा राक्षस के पदचिन्हों को एक में मिला देखा ॥ ३७ ॥

भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

फिर धनुष व तरकस को भी टूटा हुआ वहाँ पड़ा देख, तथा रथ को भी चूर चूर हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उद्विग्न हो, अपने प्यारे भाई लक्ष्मण से कहा ॥ ३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः शीर्णाः कनकबिन्दवः ।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो जानकी जी के गहनों के सोने के दाने (दाने) तथा विविध प्रकार की मालाएं यहाँ बिखरी हुई पड़ी हैं ॥ ३९ ॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः ।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥ ४० ॥

और देखो ये लोहू की सुवर्णबिन्दु सम विचित्र बूंदे, पृथिवी के चारों ओर टपकायी हुई सी देख पड़ती हैं ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः ।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥४१॥

हे लक्ष्मण ! इससे जान पड़ता है कि, कामरूपी राक्षसों ने सीता के शरीर को टुकड़े टुकड़े कर और आपस में हिस्सा बांट कर खा डाला है ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं वैदेह्या द्वयोरेवेतरेतरम् ।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥ ४२ ॥

ऐसा मालूम देता है कि, सीता के लिये दो राक्षसों का यहाँ परस्पर झगड़ा हुआ है और आपस में घोर लड़ाई हुई है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिविचित्रं चेदं तपनीयविभूषितम् ।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद्धनुः ॥ ४३ ॥

हे सौम्य ! मोती और मोतियों से जड़ा हुआ यह विशाल धनुष टूटा हुआ ज़मीन पर किसका पड़ा हुआ है ? ॥ ४३ ॥

[राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवाऽपि वा ।]
तरुणादित्यसङ्काशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

हे वत्स ! या तो यह धनुष किसी राक्षस का है अथवा किसी देवता का । क्योंकि यह मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह कैसा चमक रहा है और स्थान स्थान पर पन्नों की गोलियाँ कैसी जड़ी हैं ॥ ४४ ॥

विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥

यह सोने का कवच किसका टूटा फूटा पड़ा है और सौ कीलियों का यह छत्र जो दिव्य मालाओं से भूषित है, किसका है ? ॥ ४५ ॥

भग्नदण्डमिदं कस्य भूमौ सञ्चनिपातितम् ।
काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।
दीप्तपावकसङ्काशो भूतिकाम्तनरध्वजः ॥ ४७ ॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य सांग्रामिको रथः ।
रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥

और यह टूटा हुआ दण्ड किसका ज़मीन पर पड़ा हुआ है ? देखो ये सुवर्णकवच से सजे हुए, पिशाचमुख, भयङ्कर और बड़े डील डौल के खच्चर युद्ध में किसके मारे गये हैं। यह प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकता और समरध्वज युक्त संग्राम-रथ चूर हो कर किसका पड़ा है ? या सौ अंगुल लंबे और फलहीन एवं सुवर्ण-भूषित ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

कस्येमेऽभिहता बाणाः प्रकीर्णा घोरकर्मणः ।
शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

भयङ्कर बाण किसके छुटराये हुए पड़े हैं। हे लक्ष्मण ! बाणों से भरे ये दोनों तरकस किसके पड़े हुए हैं ? ॥ ४९ ॥

प्रतोदाभीषुहस्तो वै कस्यायं सारथिर्हतः ।
कस्येमौ पुरुषव्याघ्र शयाते निहतो युधि ॥ ५० ॥
चामरग्राहिणौ सौम्य सोष्णीषमणिकुण्डलौ ।
पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५१ ॥

देखो, चाबुक और रास हाथ में लिये किसी का सारथी भी मरा हुआ पड़ा है। हे पुरुषसिंह ! चँवर लेने वाले ये दोनों जन जो सिर

पर पगड़ी और कानों में जड़ाऊ कुण्डल धारण किये हुए हैं, युद्ध में मरे हुए किसके पड़े हैं, जान पड़ता है कि, अवश्य यह किसी राक्षस के आने जाने का मार्ग है ॥ ५० ॥ ५१ ॥

वैरं शतगुणं पश्य ममेदं जीवितान्तकम् ।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ ५२ ॥

हे सौम्य ! देखो अत्यन्त कठोर हृदय, और काम रूपी राक्षसों के साथ अब तो सौगुना अधिक ऐसा बैर हो गया, जिसका परिणाम उनका प्राणनाश होगा ॥ ५२ ॥

हृता मृता वा सीता सा भक्षिता वा तपस्विनी ।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥ ५३ ॥

या तो राक्षसों ने सीता को हर लिया, अथवा उस तपस्विनी ने सङ्कट में पड़, स्वयं प्राण त्याग दिये अथवा किसी वन्य पशु ने उसे खा डाला । देखो हरे जाने के समय इस महावन में धर्म ने भी सीता की रक्षा न की ॥ ५३ ॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण ।
के हि लोकेऽप्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥ ५४ ॥

हे सौम्य ! जब जानकी जी मार कर खायी गयी अथवा हरी ही गयी, तब यदि धर्म ने उसकी रक्षा न की, तब इस संसार में और कौन ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरा हित कर सकता है ॥ ५४ ॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं[1] करुणवेदिनम्[2] ।
अज्ञानादवमन्येरन्सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५५ ॥

---

१ शूरमपि संहारकरणसमर्थमपि ।(गो०) २ करुण वेदिनं—कारुण्य परंपपुरुषं। (गो०)

इसीसे हे लक्ष्मण ! प्राणिमात्र अज्ञान के वशवर्ती हो, उन परमेश्वर का, जो लोकों के रचने, पालने और संहार करने की शक्ति रखते हैं, नहीं मानते अर्थात् उनका अनादर करते हैं। लोगों का यह स्वभाव ही है ॥ ५५ ॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं[1] करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५६ ॥

हे सौम्य ! देवता लोग तो मेरे कोमल-हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय और दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन मानते हैं ॥ ५६ ॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५७ ॥

हे लक्ष्मण ! इन गुणों का समावेश मुझमें होने के कारण, गुण दूषित हो गये हैं। देखो, अब सब प्राणियों और विशेष कर राक्षसों के अभाव के लिये ॥ ५७ ॥

संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान्सूर्य इवोदितः ।
संहृत्यैव गुणान्सर्वान्मम तेजः प्रकाशते ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की चाँदनी को हटा, उदय हुए सूर्य की तरह, इन गुणों को नाश कर, मेरा तेज कैसा प्रकट होता है ॥५८ ॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किन्नरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥५९॥

---

१ करुणवेदिनं दान्तं—विषयचापल्यरहितं मां । (गो०)

हे लक्ष्मण ! इस तेज के प्रकट होने पर न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही सुखी रहने पावेंगे ॥ ५९ ॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।
निःसम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, मैं अपने अस्त्र रूपी बाणों से आकाश को ढके देता हूँ, जिससे तीनों लोकों में आने जाने वाले विमानों का रास्ता ही बंद हो जायगा ॥ ६० ॥

सन्निरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम् ।
विप्रनष्टानलमरुद्रास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६१ ॥

ग्रहों की गति रुक जायगी, चद्रमा जहाँ का तहाँ स्थिर हो जायगा। वायु, अग्नि और सूर्य की द्युति के ढक जाने से सर्वत्र अन्धकार छा जायगा ॥ ६१ ॥

विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६२ ॥

पर्वतों के शृङ्ग काट कर मैं गिरा दूँगा, जलाशयों को सुखा दूँगा और वनों को वृक्ष, लता तथा झाड़ों से शून्य कर दूँगा। समुद्रों को उजाड़ दूँगा ॥ ६२ ॥

त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालधर्मणा ।
न तां कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति यदीश्वराः* ॥ ६३ ॥

यदि देवतागण सीता को कुशल पूर्वक मुझे न दे देंगे, तो मैं तीनों लोकों में प्रलयकाल उपस्थित कर दूँगा ॥ ६३ ॥

---

* पाठान्तरे—ममेश्वराः ।

अस्मिन्मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।
नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६४ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं उनको (देवताओं को) अभी अपना पराक्रम दिखला दूँगा । आकाश में जाकर भी कोई न बच सकेगा ॥ ६४ ॥

मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम् ।
अर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६५ ॥

हे लक्ष्मण ! आज मेरे धनुष से छूटे हुए तीरों से समस्त प्राणी निरन्तर आहत होंगे । मृग व पक्षी सब के सब तीरों से घायल हो कर तथा घबड़ा कर नष्ट हो जांयगे ॥ ६५ ॥

समाकुलममर्यादं जगत्पश्याद्य* लक्ष्मण ।
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकं दुरासदैः† ॥ ६६ ॥
करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।
मम रोषप्रयुक्तानां सायकानां बलं सुराः ॥ ६७ ॥
द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानामतिदूरातिगामिनाम् ।
नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखना, सारा जगत् घबड़ा कर मर्यादा त्याग देगा । सीता के लिये मैं कमान का रोदा कान तक खींच कर, ऐसे बाण छोड़ूँगा, जिन्हें कोई न सह सकेगा और मैं इस जगत को पिशाचों और राक्षसों से शून्य कर दूँगा । आज मेरे उन बाणों की महिमा को, जिन्हें मैं क्रोध में भर चलाऊँगा और जो बहुत दूर तक चले जायेंगे, देवता लोग देखेंगे । न तो देवता, न दैत्य न पिशाच और न राक्षस ही ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

---

* पाठान्तरे—"जगत्पश्यार्य ।" †पाठान्तरे...दुरावरैः ।"

भविष्यन्ति मम क्रोधात्त्रैलोक्ये विप्रणाशिते ।
देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥ ६९ ॥

क्रोध में भर इस त्रैलोक्य का नाश करते समय मेरे सामने ठिक सकेंगे । देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसों के भी जो लोक हैं ॥ ६९॥

बहुधा न भविष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः ।
निर्मर्यादानिमाँल्लोकान्करिष्याम्यद्य सायकैः ॥ ७० ॥

वे मेरे तीरों की मार से खण्ड खण्ड हो कर नीचे गिर पड़ेंगे । मैं अपने बाणों की मार से आज लोकों की मर्यादा भङ्ग कर दूँगा ॥ ७० ॥

हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः ।
तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७१ ॥

यदि देवता लोग मेरी सीता को जो भले ही हर ली गयी हो या मर ही क्यों न गयी हो, सकुशल मुझे न देवेंगे ॥ ७१ ॥

नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो रामो निष्पीड्य कार्मुकम् ॥७२॥

तो मैं चराचर सहित सारे जगत ही को नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों को नष्ट कर डालूँगा । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध के मारे नेत्रों को लाल लाल कर, हाथ में धनुष लिया ॥ ७२ ॥

शरमादाय सन्दीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ।
सन्धाय धनुषि श्रीमान्रामः परपुरञ्जयः ॥ ७३ ॥

फिर चमचमाता और सर्प के विष के समान भयङ्कर बाण ले, शत्रुनाशकारी श्रीमान रामचन्द्र ने धनुष पर रखा ॥ ७३ ॥

युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः[1] ॥ ७४ ॥
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण ।
तथाऽहं क्रोधसंयुक्ता न निवार्योऽस्मि सर्वथा ॥ ७५ ॥

और प्रलय कालीन अग्नि की तरह क्रुद्ध हो यह बचन बोले—हे लक्ष्मण ! जिस प्रकार से बुढ़ापा, मृत्यु और भाग्य प्राणी मात्र के रोके नहीं रोके जा सकते, उसी प्रकार क्रोध से युक्त मुझको भी कोई किसी प्रकार भी नहीं रोक सकता ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम् ।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत्सशैलं [1]परिवर्तयाम्यहम ॥ ७६ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

सुन्दर दाँत वाली, निन्दा रहित मैथिली सीता यदि मुझे न मिली तो मैं देव, गन्धर्व, मनुष्य, पन्नग और पहाड़ों सहित सारे जगत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ७६ ॥

अरण्यकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ विधिः—अदृष्टं । (गो०) २ परिवर्तयामि—नाशयामि । (गो०)

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:※:—

तप्यमानं तथा रामं सीताहरणकर्शितम् ।
लोकानामभवे युक्तं संवर्तकमिवानलम् ॥ १ ॥
वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
दग्धुकामं जगत्सर्वं युगान्ते तु यथा हरम् ॥ २ ॥
अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं तु लक्ष्मणः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ ३ ॥

सीता जी के हरण से क्लेशित और सन्तप्त और प्रलय कालीन अग्नि की तरह लोकों का नाश करने में तत्पर, बार बार रोदा युक्त धनुष को देखते हुए, बार बार लंबी साँसें लेते हुए, तथा युग के अन्त में सम्पूर्ण जगत् को रूद्र की तरह भस्म करने को तत्पर, अपूर्व विलक्षण क्रोध से युक्त, श्रीरामचन्द्र जी को देख, लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर उनसे बोले। (उस समय) मारे डर के लक्ष्मण जी का मुख सूख गया था ॥ १ ॥ २॥ ३ ॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि ॥ ४ ॥

आप दयालु स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्राणिमात्र के हित में रत होकर, इस समय क्रोध के वशवर्ती हो, अपने स्वभाव को न त्यागिये ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।
एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

जैसे चन्द्रमा में श्री, सूर्य में प्रभा, वायु में गति और पृथ्वी में क्षमा नियमित रूप से रहती है, वैसे ही आपमें इन चारों गुणों के सहित उत्तम यश स्थित है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान्हन्तुं त्वमर्हसि ।
न तु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ ६ ॥
केन वा कस्य वा हेतोः सायुधः सपरिच्छदः ।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः ॥ ७ ॥

आपको यह उचित नहीं कि, एक के अपराध से सम्पूर्ण जगत का नाश करें। अभी तो यह भी नहीं मालूम कि, यह किसका अस्त्रशस्त्रों सहित तथा सपरिकर संग्राम रथ टूट पड़ा है और किसने और क्यों इसको तोड़ा है। यह स्थान खुर और रथ के पहियों से खुदा हुआ तथा लोहू की बूंदों से छिटकाया हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज ।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर ॥ ८ ॥

हे राजकुमार ! अतः अवश्य ही यहाँ घोर संग्राम हुआ है। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि, एक रथी के साथ किसी पशु का युद्ध हुआ है; दो जनों का युद्ध नहीं हुआ ॥ ८ ॥

न हि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम् ।
नैकस्य तु कृते लोकान्विनाशयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

बड़ी सेना के चरणचिन्ह भी यहाँ पर नहीं देख पड़ते। इस लिये आपको एक के पीछे समस्त लोकों का नाश करना ठीक नहीं ॥ ९ ॥

युक्तादण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः ।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः ॥ १० ॥

राजा लोग अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले होने पर भी दयालु और शान्त स्वभाव हुआ करते हैं और आप तो सदा सब प्राणियों को शरण देने वाले और उनकी परमगति हैं ॥ १० ॥

को नुदारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव ।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥ ११ ॥

हे राघव ! आपकी स्त्री का नष्ट होना कौन अच्छा मानता है। नदी, समुद्र, पर्वत, देव, गन्धर्व और दानव ॥ ११ ॥

नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः[1] ।
येन राजन्हृता सीता तमन्वेषितु मर्हसि ॥ १२ ॥

इनमें से कोई भी आपका बिगाड़ नहीं कर सकता, जैसे ऋत्विज यज्ञदीक्षा प्राप्त पुरुष का अप्रिय नहीं कर सकते। हे राजन् ! जिसने सीता चुराई है, उसको तलाश करना चाहिये ॥ १२ ॥

मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः ।
समुद्रं च विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥ १३ ॥
गुहाश्च विविधा घोरा नदीः पद्मवनानि च ।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः ॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ॥ १४ ॥

---

१ साधवः—ऋत्विजः। (गो०)

इस काल में भी, मैं धनुष को ले आपका सहायक होऊँगा। महर्षि भी आपको इस कार्य में सहायता देंगे। हम लोग जब तक सीता का हरण करने वाले का पता न लगा लेंगे, तब तक समुद्र, पर्वत, वन, भयानक गुफाएँ, कमलों सहित अनेक ताल तलैयाँ, देव और गन्धर्वों के लोकों में चल, सावधानी से ढूंढ़ते ही रहेंगे ॥१३॥१४॥

न चेत्साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः ।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात्प्राप्तकालं करिष्यसि ॥ १५ ॥

इस पर भी यदि देवतागण सीधी तरह आपकी पत्नी को ला कर, उपस्थित न करेंगे, तो हे कौशलेन्द्र ! उनको दण्ड दीजियेगा ॥ १५ ॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ततः समुत्पाटय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः ॥ १६ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र ! शील, साम, विनय और नीति से यदि सीता आपको न मिले, तो आप इन्द्र के वज्र के समान सोने के पुंखों वाले तीरों से लोकों को नष्ट कर डालियेगा ॥ १६ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

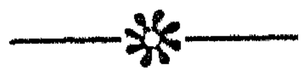

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

तं तथा शोकसन्तप्तं विलपन्तमनाथवत् ।
मोहेन महताऽऽविष्टं परिधूनमचेतनम् ॥ १ ॥

लक्ष्मण के इस प्रकार समझाने पर भी शोकसन्तप्त, अनाथ की तरह विलाप करते, महामोह से युक्त, मारे चिन्ता के चेतना रहित ॥ १ ॥

ततः सौमित्रिराश्वास्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः ।
रामं संबोधयामास चरणौ चाभिपीडयन् ॥ २ ॥

श्रीराम को लक्ष्मण जी उनके चरण पकड़ कर, एक मुहूर्त्त तक समझाते हुए, कहने लगे ॥ २ ॥

महता तपसा राम महता चापि कर्मणा ।
राज्ञा दशरथेनासि लब्धोऽमृतमिवामरैः ॥ ३ ॥

हे राम ! महाराज दशरथ ने बड़े जप, तप और कर्मानुष्ठान कर के आपको उसी प्रकार प्राप्त किया था, जिस प्रकार बड़े बड़े प्रयत्न कर, देवताओं ने अमृत प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

महाराज, तुम्हारे गुणों पर मुग्ध हो, तुम्हारे वियोग में, देवलोक को प्राप्त हुए हैं। यह बात हम लोगों को भरत जी से अवगत हो चुकी है ॥ ४ ॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप ही इस प्राप्त हुए दुःख को न सहेंगे, तो अज्ञानी और अल्पबुद्धि वाले दूसर लोगों में कौन सह सकेगा ॥५॥

[आश्वासिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्यनापदः ।
संस्पृश त्वग्निवद्राजन् क्षणेन् व्यपयान्तिच ॥ ६ ॥]

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपने चित्त को सँभालिये । क्योंकि कौन ऐसा प्राणी है, जिस पर विपत्ति नहीं पड़ती और अग्नि की तरह स्पर्श कर, क्षण भर ही में निकल नहीं जाती ॥ ६ ॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं तमः स्पृशत् ॥ ७ ॥

लोक का स्वभाव ही यह है । देखिये राजा नहुष के पुत्र ययाति स्वर्ग में जा कर भी अपनी उद्दण्डता से च्युत हुए ॥ ७ ॥

महर्षिर्यो वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्ना ैकशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥ ८ ॥

फिर हमारे पिता के पुरोहित महर्षि वशिष्ठ जी के सौ पुत्रों को एक ही दिन में विश्वामित्र ने मार डाला ॥ ८ ॥

या चेयं जगतां माता देवी लोकनमस्कृता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते सत्यसंश्रव ॥ ९ ॥

हे सत्यप्रतिज्ञ ! जगन्माता, सर्वपूज्या यह पृथ्वी भी स्थिर नहीं है । भूकम्पादि दुःख इस पर भी पड़ा करते हैं ॥ ९ ॥

यौ धर्मौ जगतां नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ १० ॥

जो सूर्य चन्द्र जगत् के नेत्र और साक्षात् धर्म स्वरूप हैं और जिनमें समस्त संसार टिका हुआ है, सो इन दोनों महाबलियों को भी राहु केतु ग्रस लेते हैं ॥ १० ॥

[1]सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतादिदेहिनः[2] ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! राजा मान्धाता, नल आदि जैसे बड़े बड़े लोग और देवता भी तो सर्वान्तर्यामी दैव से छुटकारा नहीं पा सकते ॥ ११ ॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

इन्द्रादि देवता भी नीति अनीति से उत्पन्न सुख और दुःख भोगते हुए सुने जाते हैं । अतः आप दुःखी न हों ॥ १२ ॥

नष्टायामपि वैदेह्यां हृतयामपि चानघ ।
शोचितुं नार्हसे वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥ १३ ॥

हे अनघ ! हे वीर ! चाहे जानकी मार डाली गयी हो अथवा हर ही क्यों न ली गयी हो । तो भी आपको साधारण लोगों की तरह शोक करना उचित नहीं ॥ १३ ॥

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सततं सत्यदर्शिनः ।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥ १४ ॥

---

१ सुमहान्त्यपि भूतानि—मान्धातृनलप्रभृति महाजना अपि । (गो०)
२ सर्वभूतादिदेहिनः—सर्वभूतान्तर्यामिदेवस्यर्थः । (गो०)

क्योंकि आप जैसे निरन्तर यथार्थदर्शी महात्मा शोक से विकल नहीं होते। प्रत्युत बड़े बड़े कर्तव्यकारी स्थानों अथवा अवसरों में भी ऐसे लोग विगत शोक देख पड़ते हैं॥ १४॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे॥ १५॥

हे नरश्रेष्ठ! आप अपनी बुद्धि से इसका ठीक ठीक विचार कीजिये। क्योंकि जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अपनी बुद्धि ही से शुभ और अशुभ जान लेते हैं॥ १५॥

अदृष्टगुणदोषाणामश्रुताणांतु कर्मणाम्।
आन्तरेऽ क्रियां तेषां फलसिद्धिं प्रजल्पते॥ १६॥

जिन कर्मों के गुण दोष प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते, ऐसे अस्थिर कर्मों के अनुष्ठान से, इष्टफल की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है॥ १६॥

त्वमेव हि पुरा राम मामेवं बहुशोऽन्वशाः[1]।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद्बृहस्पतिः॥ १७॥

हे वीर! आप ही ने मुझे पहले कितना न्याय और अन्याय सम्बन्धी उपदेश दिया था, सो भला आपको उपदेश देने में तो साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं॥ १७॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया[2]।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम्॥ १८॥

---

१ अन्वशाः—अनुशासितवानसि। (गो०) २ दुरन्वया—दुर्लभा। (गो०)

हे महाप्राज्ञ ! आपकी बुद्धि को देवता लोग भी नहीं पा सकते। किन्तु इस समय शोक के कारण आपका ज्ञान जो सो रहा है, उसे मैं जगाता हूँ ॥ १८ ॥

दिव्यं च मानुषं च त्वमात्मनश्च पराक्रमम् ।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥ १९ ॥

हे इक्ष्वाकुश्रेष्ठ ! आप अपने दिव्य और मानवी पराक्रम की ओर देख कर, शत्रुवध का प्रयत्न कीजिये ॥ १९ ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ ।
तमेव त्वं रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सब का नाश कर आप क्या कीजियेगा। आप उसी अपने शत्रु को खोजिये, जिसने सीता हरी है और उसीका आप नाश भी कीजिये ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का छ्याछठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:※:—

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम् ।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र को इस प्रकार समझाया, तब सारग्राही श्रीरामचन्द्र शान्त हुए ॥ १ ॥

सन्निगृह्य महाबाहुः प्रहृतं क्रोधजन्मनः ।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

और महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने क्रोध को त्याग और अपने विचित्र धनुष की प्रत्यञ्चा उतार लक्ष्मण से कहा ॥ २ ॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण ।
केनोपायेन पश्येयं सीतामिति विचिन्तय ॥ ३ ॥

हे वत्स लक्ष्मण ! अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? अब यह सोचो कि, सीता के पाने के लिये क्या उपाय किया जाय ? ॥ ३ ॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी से लक्ष्मण ने कहा—आप इसी जनस्थान में सीता को खोजिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम् ।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि [1]निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

क्योंकि यहाँ बहुत से राक्षस रहा करते हैं और यहां अनेक वृक्ष, लता, दुर्गम पर्वत घाटियाँ और कन्दराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः ।
आवासाः किन्नराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥ ६ ॥

वे कन्दराएँ विविध प्रकार के भयङ्कर जीव जन्तुओं से भरी हैं । यहां अनेक किन्नरों के निवासस्थान और गन्धर्वों के भवन भी हैं ॥ ६ ॥

---

१ निर्दराः—विदीर्णपाषाणाः । (रा०)

तानि युक्तो मया सार्धं त्वमन्वेषितुमर्हसि ।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभ ॥ ७ ॥

उन सब को आप मेरे साथ चल कर भली भाँति ढूढ़िये। आप जैसे महात्मा, बुद्धिमान् और नृपतिश्रेष्ठ ॥ ७ ॥

आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः ।
इत्युक्तस्तद्वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥ ८ ॥

सङ्कट के समय वैसे ही कभी विचलित नहीं होते, जैसे वायु के झोकों से पर्वत नहीं हिलाया जा सकता। लक्ष्मण जी के कहने को मान, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित उस समस्त वन में विचरने लगे ॥ ८ ॥

क्रुद्धो रामः शरं घोरं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥

क्रुद्ध हो कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर बड़ा पैना और महाभयङ्कर छुरा के नाम से प्रसिद्ध बाण चढ़ा लिया ॥ ९ ॥

ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १० ॥

कुछ दूर आगे जाने पर श्रीरामचन्द्र ने पर्वत के शिखर की तरह विशालकाय और रुधिर से तर उस महाभाग पक्षिराज जटायु को भूमि पर पड़ा देखा। उसे देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ १० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः ।
गृध्ररूपमिदं रक्षो व्यक्तं भवति कानने ॥ ११ ॥

देखो, निस्सन्देह इसीने सीता को खाया है। अवश्य ही यह गृद्ध का रूप धारण किये कोई राक्षस है और इसी वन में घूमता फिरता है ॥ ११ ॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम् ।
एनं वधिष्ये दीप्तास्यैर्घोरैर्बाणैरजिह्मगैः ॥ १२ ॥

देखो यह राक्षस विशालनेत्रों वाली सीता को खा कैसे सुख से बैठा हुआ है। अतः मैं सीधे जाने वाले और अग्नि की तरह चमचमाते भयङ्कर बाणों से इसका वध करूँगा ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वाऽभ्यपतद्गृध्रं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

यह कह कर और क्रोध कर, समुद्र पृथ्वी को कंपाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर क्षुर नामक बाण रखा और तदनन्तर वे उसे देखने के लिये उसके समीप गये ॥ १३ ॥

तं दीनं दीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन् ।
अभ्यभाषत पक्षी तु रामं दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इनको आते देख, बेचारे जटायु ने, फेनयुक्त रुधिर को वमन कर और अत्यन्त दुःखी हो दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र से कहा ॥१४॥

यामोषधिमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने ।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ १५ ॥

हे आयुष्मन् ! औषधि की तरह तुम जिसे इस महावन में ढूढ़ते फिरते हो, उस देवी सीता को और मेरे प्राणों को रावण ने निर्भय हो हर लिया है ॥ १५ ॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

हे राघव ! महाबली रावण को, आपकी और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सूने आश्रम से सीता को हर कर ले जाते हुए मैंने देखा है ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपद्योऽहं रावणश्च रणे मया ।
विध्वंसितरथश्चात्र पातितो धरणीतले ॥ १७ ॥

सीता को ले जाते देख, मैंने रावण का सामना किया और उससे युद्ध कर उसके रथ को तोड़ कर, यहाँ गिरा दिया ॥ १७ ॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेतदस्य शरावरम् ।
अयमस्य रथो राम भग्नः सांग्रामिको मया ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! देखिये, वह तो उसका टूटा हुआ धनुष पड़ा है और यह उसका बढ़िया बाण टूटा पड़ा है । मेरा तोड़ा हुआ यह उसका संग्राम-रथ पड़ा है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षो निहतो युधि ।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ च्छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥ १९ ॥

यह सारथी भी उसीका है, जिसे युद्ध में मैंने अपने पंखों के प्रहार से मार कर पृथिवी पर पटक दिया था । मुझे थका हुआ देख, रावण ने तलवार से मेरे पंख काट डाले ॥ १९ ॥

सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम् ।
रक्षसा निहतं पूर्वं न मां हन्तुं त्वमर्हसि ॥ २० ॥

और सीता को ले वह आकाशमार्ग से चला गया। राक्षस ने तो पहिले ही मुझे मार डालने में कुछ उठा नहीं रखा, अतः आपको मेरा वध करना उचित नहीं ॥ २० ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय [illegible]
द्विगुणीकृततापार्तः सीतासक्तां प्रियां कथाम् ॥ २१ ॥
गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद्धनुः ।
निपपाताबशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र इस प्रकार उसकी दशा देख और उसके मुख से प्यारी सीता का वृत्तान्त सुन, दूने दुःखी हुए। तदनन्तर जटायु को छाती से लगा और धनुष को फेंक, पृथिवी पर गिर, लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥ २१ ॥ २२ ॥

[1]एकमेकायने दुर्गे निःश्वसन्तं कथञ्चन ।
समीक्ष्य दुःखिततरो रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ २३ ॥

अकेले मनुष्य के जाने योग्य मार्ग वाले विकट स्थान में पड़े और कभी कभी सांस लेते हुए जटायु को देख ; शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ २३ ॥

राज्याद्भ्रंशो वने वासः सीता नष्टा द्विजो हतः ।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्निर्दहेदपि पावकम् ॥ २४ ॥

राज्य से भ्रष्ट, वन में वास, सीताहरण और इस पक्षी का मरण, ये सब मेरे खोटे भाग्य के ही परिणाम हैं। इस प्रकार का मेरा खोटा भाग्य यदि चाहे तो अग्नि को भी भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

---

१ एकमेकायने—एकमात्रजनगम्येऽतएव कृच्छ्रदेशेपतित मितिशेषः। (शि०)

सम्पूर्णमपि वेदध्य प्रतरेयं[1] महोदधिम् ।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या शिशुप्येत्सरितां पतिः ॥ २५ ॥

मैं अपने भाग्य का क्या बखान करूँ। यदि मैं अपने सन्ताप की शान्ति के लिये समुद्र में कूदूँ, तो वह भी मेरे खोटे भाग्य से सूख जाय ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन्सचराचरे ।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

हे भाई ! इस चराचर जगत में, मेरे तुल्य अभागा कोई न होगा। क्योंकि इसीके कारण, मुझे महादुःख रूपी जाल में फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अयं पितृवयस्यो[2] मे गृध्रराजो जरान्वितः ।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥

देखो यह वृद्ध गृद्धराज जटायु मेरे पिता का मित्र है। मेरा भाग्य लौट जाने से यह भी मृत हो पृथिवी पर पड़ा है ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं विदर्शयन् ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से अनेक बातें कहीं। तदनन्तर लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र ने पिता समान स्नेह दिखलाते हुए जटायु को स्पर्श किया ॥ २८ ॥

निकृतपक्षं रुधिरावसिक्तं
स गृध्रराजं परिरभ्य रामः ।

---

१ प्रतरेयं —तापशान्तेयेपलवेयंचेत् । (गो०) २ पितृवयस्यः —सखा । (गो०)

क्व मैथिली प्राणसमा ममेति
विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥ २९ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

पंख कटे हुए और रुधिर में सने गीधों के राजा जटायु के शरीर पर हाथ फेर, श्रीरामचन्द्र ने उससे यह बात पूछी कि, "मेरी वह प्राण समान सीता कहाँ है ?" यह कह श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २९ ॥

अरण्यकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:※:—

रामः संप्रेक्ष्य तं गृध्रं भुवि रौद्रेणपातितम् ।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

जटायु को, उस भयङ्कर राक्षस के प्रहार से पृथिवी पर पड़ा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से यह बोले ॥ १ ॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहङ्गमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यक्ष्यति दुस्त्यजान् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही यह पक्षी मेरा काम करता हुआ, मेरे लिये ही राक्षस द्वारा लड़ाई में मारा जा कर अब दुस्त्यज प्राणों को त्याग रहा है ॥ २ ॥

अयमस्य[1] शरीरेऽस्मिन्प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथाहि स्वरहीनोऽयं विक्लबः समुदीक्षते ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! अभी इसके शरीर में थोड़ी थोड़ी जान बाकी है किन्तु इसका स्वर धीमा पड़ गया है और विकल हो, यह हम लोगों को देख रहा है ॥ ३ ॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहर्तुं पुनः ।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥

हे जटायु ! यदि तुममें बोलने की शक्ति हो, तो तुम सीता का वृत्तान्त और अपने वध का हाल मुझसे पुनः कहो । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४ ॥

किन्निमित्तोऽहरत्सीतां रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधंतु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥ ५ ॥

किस लिये रावण ने सीता को हरा । मैंने उसका क्या बिगाड़ा था जिससे वह मेरी प्यारी को हर ले गया ॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसङ्काशं मुखमासीन्मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन्काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

हे पक्षिश्रेष्ठ ! उस समय सीता का वह चन्द्रसम सुन्दर मुख-मण्डल कैसा देख पड़ता था और उस समय सीता ने क्या क्या कहा था ॥ ६ ॥

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥ ७ ॥

---

१ अयंप्राणः—सूक्ष्मप्राणः । (गो०)

उस राक्षस का पराक्रम और रूप कैसा है ? वह राक्षस काम क्या करता है और वह रहने वाला कहाँ का है। मैं जो पूछता हूँ सो सब आप बतला दें ॥ ७ ॥

तमुद्वीक्ष्याथ दीनात्मा विलपन्तमनन्तरम् ।
वाचाऽतिसन्नया[1] रामं जटायुरिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

तब जटायु ने श्रीरामचन्द्र का विलाप सुन, विकल हो बड़ी कठिनता से अर्थात् लड़खड़ाती वाणी से उनसे यह कहा ॥ ८ ॥

हृता सा राक्षसेन्द्रेण रावणेन विहायसा ।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसङ्कुलाम् ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह दुरात्मा राक्षसेन्द्र रावण, वायु और मेघों की घटा से युक्त बड़ी माया रच कर, सीता को हर कर ले गया है ॥ ९ ॥

परिश्रान्तस्य मे तात पक्षौ च्छित्त्वा स राक्षसः ।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ १० ॥

मुझ थके हुए के दोनों पंख काट, वह राक्षस सीता को दक्षिण दिशा को चला गया है ॥ १० ॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव ।
पश्यामि दूरान्सौवर्णान्कुशेशयकृतभूषणान् ॥ ११ ॥

हे राघव ! मरण की पीड़ा से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। मेरी आँखों के सामने चक्कर आ रहे हैं। मुझे अपने सामने सोने के वृक्ष, जिनकी चोटियों पर खस जमा है, देख पड़ते हैं ॥ ११ ॥

---

१ अतिसन्नया—अतिकार्श्यं प्राप्तया ।(गो०)

येन यातो मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः ।
विप्रनष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

हे राम ! जिस घड़ी रावण ने सीता को हरा वह घड़ी ऐसी है कि, उस घड़ी में खोया हुआ धन उसके मालिक को पुनः प्राप्त हो। अथवा नष्ट हुआ धन उसीके स्वामी को मिले ॥ १२ ॥

विन्दो नाम मुहूर्तोऽयं स च काकुत्स्थ नाबुधत् ।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसके हरणकाल के मुहूर्त्त का नाम वृन्द था। किन्तु रावण को यह बात मालूम न थी। आपकी प्रिया सीता को हर कर राक्षसेश्वर रावण ॥ १३ ॥

झषवद्बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ।
न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ॥ १४ ॥

बंसी के काँटे को निगलने वाली मछली की तरह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा। तुमको जानकी के लिये दुःखी न होना चाहिये ॥१४॥

वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा ते राक्षसं रणे ।
असंमूढस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ॥ १५ ॥

क्योंकि तुम शीघ्र युद्ध में उस राक्षस को मार, फिर सीता के साथ विहार करोगे। अतः सावधानता पूर्वक वार्तालाप करते करते ॥ १५ ॥

आस्यात्सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्व सामिषम् ।
पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ॥ १६ ॥

मांस और रुधिर की उसे वमन हुई। तिस पर भी उसने इतना और बतलाया कि, वह राक्षस विश्रवा का पुत्र और कुबेर का भाई है ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दुर्लभान्प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ।
ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः ॥ १७ ॥

यह कह पक्षिराज जटायु ने अपने दुर्लभ प्राणों को त्याग दिया। उधर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े कह रहे थे कि, आगे कहो; आगे कहो ॥ १७ ॥

त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य जग्मुः प्राणा विहायसम् ।
स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तदा ॥ १८ ॥

गीध के शरीर को छोड़ जटायु का आत्मा आकाश में पहुँचा। तब उस पक्षी का सिर पृथिवी पर लटक पड़ा और उसके दोनो पैर फैल गये ॥ १८ ॥

विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ।
तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ॥ १९ ॥

शरीर को फैला कर वह पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत के समान बड़े भारी डीलडौल के, ताम्रवत् लाल नेत्र वाले गीध को मरा हुआ देखा ॥ १९ ॥

रामः सुबहुभिःदुर्खैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत् ।
बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जो ने बहुत दुःखी और उदास हो लक्ष्मण से कहा—बहुत काल तक जन-स्थान में सुख पूर्वक रह कर ॥ २० ॥

अनेन इण्डकारण्ये त्रिशीर्णमिह पक्षिणा ।
अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालमनुत्थितः ॥ २१ ॥

इस पक्षी ने इसी दण्डकारण्य में प्राण त्यागे हैं (अर्थात् यहीं रहा और यहीं प्राण भी त्यागे) यह बहुत काल का पुराना बूढ़ा है ॥ २१ ॥

सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ।
पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ॥ २२ ॥
सीतामभ्यवपन्नो वै राक्षसेन बलीयसा ।
गृध्रराज्यं परित्यज्य पैतृकैतामहं महत् ॥ २३ ॥

सो वह आज यहाँ मरा हुआ पड़ा है । इसीसे कहा जाता है कि, काल का उलङ्घन कोई नहीं कर सकता । देखो लक्ष्मण ! यह गीध मेरा कैसा उपकारी था । यह सीता को बचाते समय बलवान् रावण के हाथ से मारा गया है । देखो वंशपरम्परागत गृद्धराज्य को परित्याग कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

मम हेतोरयं प्राणान्सुमोच पतगेश्वरः ।
सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ॥ २४ ॥

इस पक्षिराज ने मेरे पीछे अपने प्राण गँवाये हैं । हे लक्ष्मण ! निश्चय ही साधु-स्वभाव और धर्मात्मा सर्वत्र ही पाये जाते हैं ॥ २४ ॥

शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ॥ २५ ॥

सो केवल मनुष्यों ही में नहीं, किन्तु पशुपक्षियों में भी वीर और शरण आये हुए की रक्षा करने वाले पाये जाते हैं । हे सौम्य !

सीता जी के हरे जाने का मुझे उतना अब क्लेश नहीं है, जितना कि, ॥ २५ ॥

यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप ।
राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः ॥ २६ ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च तथाऽयं पतगेश्वरः ।
सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ॥ २७ ॥

मुझे मेरे लिये प्राण गँवाने वाले इस गृद्ध के मरने का है। जिस प्रकार महायशस्वी महाराज दशरथ मेरे पूज्य और मान्य थे, उसी प्रकार पूज्य और मान्य यह पक्षिराज है। हे लक्ष्मण! तुम जा कर लकड़ियाँ ले आओ। मैं लकड़ियां रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करूँगा॥ २६ ॥ २७ ॥

गृध्रराजं दिधक्षामि मत्कृते निधनं गतम् ।
देहं पतगराजस्य* चितामारोप्य राघव ॥ २८ ॥

जो गृद्धराज मेरे पीछे मारा गया है, उसका दाह मैं करूँगा। यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु के मृत शरीर को चिता पर रखा ॥ २८ ॥

इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ।
या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ॥ २९ ॥

फिर लक्ष्मण से कहा कि, मैं इस गीधराज का, जिसे भयङ्कर कर्म करने वाले रावण ने मार डाला है, दाहकर्म करता हूँ। (फिर जटायु के आत्मा को संबोधन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले) जो गति अश्वमेधादि यज्ञ करनेवालों को, जो गति अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों को मरने के बाद प्राप्त होती है, वह तुझे प्राप्त हो ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—"नाथं पतगलोकस्य"।

अपरावर्तिनां या च मा च भूमिप्रदायिनाम् ।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥ ३० ॥

जो गति (या लोक) मुमुक्षुओं को, जो गति (या लोक) भूमिदान करने वालों को प्राप्त होती हैं उन उत्तम गतियों (लोकों) को तुम मेरी आज्ञा से प्राप्त हो ॥ ३० ॥

[नोट—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, कर्मज्ञानादि से भी कहीं बढ़ कर भगवत्कैङ्कर्य की महिमा है ।]

गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ।
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ॥ ३१ ॥

हे महाबली गृद्धराज ! मैंने तुम्हारा अन्तिम संस्कार किया है । अब तुम जाओ । यह कह कर और गीध के मृत शरीर को चिता पर रख उसमें श्रीरामचन्द्र ने आग लगा दी ॥ ३१ ॥

ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ।
रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा अर्थात् कृतज्ञ श्रीरामचन्द्र अपने भाई बन्द की तरह जटायु का दाहकर्म कर, दुःखी हुए । तदनन्तर पराक्रमी श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ वन में जा, ॥ ३२ ॥

स्थूलान्हत्वा महारोहीननु तस्तार तं द्विजम् ।
रोहिमांसानि चोत्कृत्य पेशीकृत्य महायशाः ॥ ३३ ॥
शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ।
यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः ॥ ३४ ॥

तत्स्वर्गगमनं तस्य पित्र्यं[1] रामो जजाप ह ॥
ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ॥
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ३५ ॥

मोटे रोहू मछलियों को मार कर, उस पक्षी के लिये महा-यशस्वी श्रीराम ने भूमि पर कुश बिछाये। फिर मछलियों के माँस के टुकड़े कर और माँस को साफ कर तथा उसे पीस कर, उसके पिण्ड बना सुन्दर हरे कुशों के ऊपर पक्षी को पिण्डदान किया। ब्राह्मणगण मृतकर्म में मृतपुरुष की सद्गति के लिये जिन मंत्रों का प्रयोग करते हैं, उन मंत्रों का प्रयोग श्रीरामचन्द्र जी ने गृद्धराज की स्वर्गगमन कामना के लिये, उसको अपना पितर मान, किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित गोदावरी नदी के तट पर पहुँच कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जले गृध्राय राघवौ ॥
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शास्त्र की निर्दिष्ट की हुई विधि से जल में स्नान कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान्यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः ।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वह जटायु, जिसने अत्यन्त दुष्कर और यश देने वाला कर्म कर युद्ध में प्राण गँवाये थे, महर्षियों की तरह श्रीराम-

---

१ पित्र्यं—पितृदेवताकं। (गो०)

चन्द्र जी के हाथ से अन्तिम संस्कार पाकर परमपवित्र पुण्यगति अर्थात् परमपद (त्रिपाद विभूति-वैकुण्ठ) को प्राप्त हुआ ॥३७॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः ।
अवेक्ष्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥
इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

पक्षियों में उत्तम जटायु का श्राद्धादि कर्म कर और पक्षिराज के इस कथन में कि, तुमको सीता मिलेगी, विश्वास कर, दोनों भाई सीता को खोजने के लिये इन्द्र और उपेन्द्र की तरह वन में आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

[नोट---इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, श्राद्धादि मृतक कर्म करने की पद्धति अनादि काल से चली आ रही है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीरामचन्द्र जी ने वैदिक मन्त्रों से गीध को पिण्ड दानादि क्यों किया? इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणटीकाकार ने कहा है कि, गीध भगवद्भक्त था, अतः उसके लिये वर्ण का बंधन नहीं रहा। क्योंकि महाभारत का यह वचन है कि---

"नक्षुद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥]"

आरण्यकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—:※:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ रामलक्ष्मणौ ।
अवेक्षन्तौ वने सीतां पश्चिमां जग्मतुर्दिशम् ॥ १ ॥

पक्षिराज की जलक्रियादि पूरी कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से रवाने हो, वन में सीता को ढूंढते हुए पश्चिम दिशा की ओर चले ॥ १ ॥

तौ दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिजग्मतुः* ॥ २ ॥

फिर धनुष बाण खड्ग हाथों में ले दोनों भाई उस मार्ग से जिस पर पहले कोई नहीं चला था, चल कर, पश्चिम दक्षिण के कोण की ओर चले ॥ २ ॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

अनेक प्रकार के घने झाड़, वृत्तवल्ली, लता आदि होने के कारण वह रास्ता केवल दुर्गम ही नहीं था, बल्कि भयङ्कर भी था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन व्यालसिंहनिषेवितम् ।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतियातौ महाबलौ ॥ ४ ॥

इस मार्ग को तै कर, वे अत्यन्त बलवान दोनों राजकुमार, ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ पर अजगर सर्प और सिंह रहते थे। इस महाभयङ्कर महारण्य को भी उन दोनों ने पार किया ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानाद्त्रिक्रोशं गम्य राघवौ ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर चलते चलते वे दोनों बड़े पराक्रमी राजकुमार जनस्थान से तीन कोस दूर, क्रौञ्च नामक एक घने जङ्गल में पहुँचे ॥५॥

---

* पाठान्तरे — " पन्थानं प्रतिपेदतुः " ।
अथवा " पन्थानमभिजग्मतुः " ।

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानाव्यालमृगैर्युतम् ॥ ६ ॥

यह वन मेघों की घटा की तरह गंभीर था। उसमें जिधर देखो उधर फूल खिले हुए होने के कारण तथा भाँति भाँति के पक्षियों से भरा पूरा और तरह तरह के अजगरों और अन्य वन जन्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण वह हँसता हुआ सा जान पड़ता था ॥६॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद्वनं तौ विचिक्यतुः ।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणकर्शितौ ॥ ७ ॥

दोनों राजकुमार सीता जी के हरण से दुःखित हो, उस बन में इधर उधर सीता जी को खोजने लगे। बीच बीच में वे ठहर भी जाते थे ॥ ७ ॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा ।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे दोनों राजकुमार तीन कोस पूर्व की ओर जा, क्रौञ्चारण्य को पार कर, मतङ्गाश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तु तद्वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम् ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह वन बहुत से भयङ्कर बनैले जीव जन्तुओं से भरा हुआ होने के कारण बड़ा भयङ्कर था। उसमें तरह तरह के जीव जन्तु रहते थे और वह सघन वृक्षों से भरा हुआ था ॥ ९ ॥

ददृशाते तु तौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम् ॥ १० ॥

दोनों दशरथनन्दनों ने वहाँ पर एक पर्वत-कन्दरा देखी। वह पाताल की तरह गहरी थी और उसमें सदा अंधकार छाया रहता था ॥ १० ॥

आसाद्य तौ नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्या विदूरतः ।
ददृशाते महारूपां राक्षसीं विकृताननाम् ॥ ११ ॥

उन दोनों पुरुषसिंहों ने, उस गुफा के समीप जा कर एक भयङ्कर रूप वाली विकरालमुखी राक्षसी को देखा ॥ ११ ॥

भक्षयन्तीं मृगान्भीमान्विकटां मुक्तमूर्धजाम् ।
प्रैक्षेतां तौ ततस्तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

वह बड़े बड़े मृगों को खाया करती थी, वह विकट रूप वाली और सिर के बालों को खोले हुए थी। ऐसी उस राक्षसी को उन दोनों भाइयों ने देखा ॥ १३ ॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः ।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्बत[1] लक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

---

१ समालम्बत—हस्ते गृहीतवती । (गो०)

वह राक्षसी इन दोनों भाइयों को देख और आगे चलते हुए लक्ष्मण को देख, बोली—"आओ हम दोनों विहार करें", तदनन्तर उसने लक्ष्मण का हाथ पकड़ लिया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगूह्य[1] सा ।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

वह लक्ष्मण जी को चिपटा कर कहने लगी—मेरा अधोमुखी नाम है। तुम मुझे बड़े प्रिय हो। बड़े भाग्य से तुम मुझे मिले हो ॥ १५ ॥

नाथ पर्वतकूटेषु नदीनां पुलिनेषु च ।
आयुःशेषमिमं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥ १६ ॥

हे नाथ ! दुर्गम पर्वतों में और नदियों के तटों पर जीवन के शेष दिनों तक मेरे साथ तुम विहार करना ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः ।
कर्णनासौ स्तनौ चास्या निचकर्तारिसूदनः ॥ १७ ॥

उसके ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी ने कुपित हो और म्यान से तलवार निकाल उसके नाक, कान और स्तनों को काट डाला ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी भीमदर्शना ॥ १८ ॥

जब उसके कान और नाक काट डाले गये, तब वह भयङ्कर राक्षसी भयङ्कर नाद करती शिखर से आयी थी उधर ही को भाग खड़ी हुई ॥ १८ ॥

---

१ उपगुह्य—आलिङ्ग्य । (गो०)

तस्यां गतायां गहनं विशन्तौ वनमोजसा ।
आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

जब वह वहाँ से चली गयी तब शत्रुओं का नाश करने वाले और महातेजस्वी दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से शीघ्रता पूर्वक चल एक गहन वन में पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः [1]सत्ववांश्[2]ची[3]क्लान्[4]शुचिः[5] ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं भीमतेजसम्* ॥ २० ॥

महातेजस्वी, निर्मल मन वाले, सदाचारी एवं पवित्र शरीर वाले लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर प्रकाशमान श्रीरामचन्द्रजी से बोले ॥२०॥

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः ।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥

हे भाई ! मेरी बाम भुजा बहुत फड़क रही है और मन ऊब सा रहा है । इनके अतिरिक्त और भी अपशकुन मुझे देख पड़ते हैं ॥२१॥

तस्मात्सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं हितम् ।
ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

सो आप मेरे कहने से तैयार रहिये । ये सारे के सारे अपशकुन मुझे निकटवर्ती भय की स्पष्ट सूचना दे रहे हैं ॥ २२ ॥

एष वञ्चुलको नाम पक्षी परमदारुणः ।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

---

१ सत्ववान — निर्मलमनस्कः । (गो०) २ चीक्लान् — सद्वृत्तान् (गो०)
५ शुचि — कायशुद्धियुक्तः । (गो०) * " पाठान्तरे — दीप्ततेजसम् "

परन्तु विजय हमारी अवश्य होगी। क्योंकि यह अत्यन्त भयानक वज्रलक पक्षी मानों हमारी विजयसूचना का बखान करता हुआ बोल रहा है ॥ २३ ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद्वनमोजसा ।
संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद्वनम् ॥ २४ ॥

जिस समय तेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मण उस वन को ढूँढ रहे थे; उस समय एक ऐसा भयानक शब्द सुन पड़ा, जिससे ऐसा जान पड़ा कि, मानों वन टुकड़े टुकड़े हुआ जाता हो ॥ २४ ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गगनं मातरिश्वना[1] ।
वनस्य तस्य शब्दोऽभूदित्यमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

इतने में बड़ी ज़ोर से आंधी चली। पवन चलने के शब्द से समस्त वन शब्दायमान हो गया और वह शब्द आकाश में छा सा गया ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः कक्षे[2] सहानुजः ।
ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

वे दोनों भाई उस शब्द होने का कारण जानना ही चाहते थे कि, एक बड़े डीलडौल का और चौड़ी छाती वाला राक्षस समीप ही देख पड़ा ॥ २६ ॥

आसेदतुस्ततस्तत्र तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।
विवृद्धमशिरोग्रीवं कवन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

वह राक्षस आकर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने खड़ा हो गया। वह बहुत लंबा चौड़ा, बिना सिर और गरदन का कवन्ध था और उसका मुख पेट में था ॥ २७ ॥

---

१ मातरिश्वना—वायुना। (गो०) २ कक्षे—गुल्मे। (गो०)

रोमभिर्निचितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम् ।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके शरीर के रोंगटे काँटों की तरह नुकीले थे और वह पहाड़ की तरह ऊँचा था। बड़ा भयङ्कर और मेघ की गरज की तरह उसका स्वर था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥

अग्नि की शिखा की तरह प्रदीप्त उसका एक नेत्र ललाट में था, जिस पर धुमैले पलक थे। वह नेत्र बड़ा भी बहुत था ॥ २९ ॥

एकेनोरसि घोरेण नयनेनाशुदर्शिना ।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

एक नेत्र उसका उसकी छाती पर था। यह नेत्र अत्यन्त भयङ्कर देख पड़ता था। उसका मुख भी बहुत बड़ा था, जिसमें बड़े बड़े दाँत थे और वह अपने ओठों को चाटता था ॥ ३० ॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगाद्विपान् ।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥
कराभ्यां विविधान्गृह्य ऋक्षन्पक्षिगणान्मृगान् ।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान्मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

बड़े बड़े भयङ्कर भालुओं, सिंहो, मृगों, और पक्षियों को वह खाया करता था और बड़ी बड़ी तथा भयङ्कर एवं एक योजन भर लंबी दोनों भुजाओं को फैला, हाथों से अनेक रीछों, पक्षियों, और मृगों को पकड़ कर, अपने मुख में डाल लिया करता था ॥३१॥३२॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः[1] ।
अथ तौ समभिक्रम्य क्रोशमात्रे ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥
स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन्बलात् ॥ ३५ ॥

वह रास्ता रोके हुए था। एक कोस की दूरी से ही राक्षस दोनों भाइयों को देख पड़ा और जब वे उसके पास पहुँचे, तब उस अत्यन्त भयङ्कर एवं निष्ठुर कबन्ध ने अपनी लंबी भुजाएँ फैला कर उन दोनों को किचकिचा कर पकड़ लिया ॥ ३३ ॥ ३४ ३५ ॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजोवपुर्धरौ ।
भ्रातरौ विवशं यान्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥ ३६ ॥

तलवार और मज़बूत धनुष लिये हुए, अत्यन्त तेजस्वी शरीर धारी और महाबलवान् होने पर भी, वे दोनों भाई कबन्ध द्वारा खींच लिये गये ॥ ३६ ॥

तत्र धैर्येण शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।
बाल्यादन्तश्चयत्वाच्च लक्ष्मणस्तु विदिव्यथे ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र तो अपनी धीरता और वीरता से दुःखी न हुए, परन्तु लक्ष्मण बालक होने के कारण पकड़े जाने पर घबड़ा गये ॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन्राघवं राघवानुजः ।
पश्य मां वीर विवशं राक्षसस्य वशं गतम् ॥ ३८ ॥

---

[1] प्रपन्नयोः—समीपं प्राप्तयोः । (गो०)

और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर ! देखो मैं तो इस राक्षस के फंदे में फँस गया ॥ ३८ ॥

मयैकेन विनिर्युक्तः परिमुञ्चस्व राघव ।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम् ॥ ३९ ॥

अतः अब आप मेरी इस राक्षस को बलि दे और अपने को छुड़ा, आप सुखपूर्वक चले जाइये ॥ ३९ ॥

अधिगन्ताऽसि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः ।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ॥ ४० ॥

हे काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र ! मुझे विश्वास है कि, आपको सीता मिलेगी । आप पुरुखों का राज्य पाकर ॥ ४० ॥

तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा ।
लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

और राजसिंहासन पर बैठ, मुझे सदा स्मरण करते रहियेगा अथवा मुझे भूल मत जाइयेगा । जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा तब श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले ॥ ४१ ॥

मा स्म त्रासं कृथा वीर न हि त्वादृग्विषीदति ।
एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥

हे वीर ! भयभीत मत हो । क्योंकि तुम्हारे जैसे पराक्रमी पुरुषों को इस प्रकार घबड़ाना उचित नहीं । इतने में उस निर्दयी राक्षस ने दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण से कहा ॥ ४२ ॥

पप्रच्छ घननिर्घोषः कबन्धो दानवोत्तमः
कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ ॥ ४३ ॥

दानवोत्तम कबन्ध ने मेघ की तरह गरज कर पूछा कि, तुम दोनों युवक जो वृषभ जैसे ऊँचे कंधों वाले और बड़े बड़े खड्गों को धारण किये हुए हो, कौन हो ? ॥ ४३ ॥

घोरं देशमिमं प्राप्तौ मम भक्षावुपस्थितौ ।
वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम् ॥ ४४ ॥

इस भयङ्कर वन में आकर तुम मेरे भक्ष्य बने हो । अब तुम अपना प्रयोजन बतलाओ कि, तुम दोनों यहाँ क्यों आये हो ॥ ४४ ॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥

मैं इस समय भूख से दुःखी हो रहा हूँ । सो तुम्हारा यहाँ धनुष बाण और खड्ग धारण कर, पैने सींगों के बैल की तरह आना ॥ ४५ ॥

ममास्यमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं पुनः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥

मानों मेरे मुख में पड़ना है । अतः तुम्हारा अब जीवित बचना दुर्लभ है । उस दुष्ट कबन्ध के ये बचन सुन ॥ ४६ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ।
कृच्छ्रात्कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥

सूखे मुख से श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण से बोले । हे सत्यपराक्रमी ! देखो, ऐसे ऐसे दारुण कष्ट सह कर, ॥ ४७ ॥

व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।
कालस्य सुमहद्वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥

और प्राणों को जोखों में डाल कर कर भी प्यारी सीता को हम न पा सके। हे लक्ष्मण! मुझे तो काल ही सब से बढ़ कर बली जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्यमोहितौ।
नातिभारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण! देखो, तुम और मैं दोनों ही काल के प्रभाव से इस विपत्ति में आ फंसे हैं। प्राणिमात्र को दुःख देने में काल को तनिक भी श्रम नहीं होता ॥ ४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति तथा वालुकसेतवः ॥ ५० ॥

देखो, शूर, बलवान् एवं अस्त्रविद्या में पटु लोग भी युद्ध में काल के वश होकर बालू के बाँध की तरह खसक पड़ते हैं॥ ५० ॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान्।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाऽकरोत् ॥ ५१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

दृढ़, सत्यपराक्रमी, प्रतापी और महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने बड़े पुरुषार्थी लक्ष्मण को देख कर और मन में सोच समझ कर, धैर्य धारण किया ॥ ५१ ॥

अरण्यकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

सप्ततितमः सर्गः

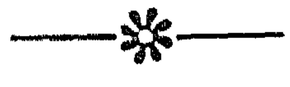

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को अपनी बाहों में जकड़े हुए खड़े देख, कबन्ध ने उनसे कहा ॥ १ ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ ।
आहारार्थं तु सन्दिष्टौ दैवेन गतचेतसौ ॥ २ ॥

अरे क्षत्रियश्रेष्ठ ! मुझे देख तुम दोनों जन डरे हुए से क्यों खड़े हो ! मुझ भूखे के आहार के लिये विधाता ने तुमको मेरे पास भेज दिया है ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्रातिकालं हिते तदा ।
उवाचार्तिं समापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः* ॥ ३ ॥

कबन्ध के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी दुःखित हो और अपना बल अज़माने का निश्चय कर, समयानुकूल श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः ।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू च्छिन्दावहै गुरू ॥ ४ ॥

देखो, यह राक्षसाधम हम दोनों को पकड़े हुए है । अतः हम दोनों इसकी ये दोनों बड़ी भारी भुजाएं काट डालें ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—" कृतलक्षणः " ।

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः ।
लोकं हयतिजितं कृत्वा हयावां हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

यह बड़े डीलडौल का भयङ्कर राक्षस केवल अपनी भुजाओं के बलबूते पर सब लोकों को जीत कर, अब हम दोनों को मार डालना चाहता है ॥ ५ ॥

निश्चेष्टानां वधो राजन्कुत्सितो जगतीपतेः ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! यज्ञ में बलि देने के लिये लाये गये बकरों की तरह चेष्टा रहित मरना क्षत्रियों के लिये बड़ी निन्दा की बात है ॥ ६ ॥

एतत्सञ्जल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः ।
विदार्यास्यं तदा रौद्रस्तौ भक्षयितुमारभत् ॥ ७ ॥

उन दोनों की इस प्रकार की बातचीत सुन, राक्षस क्रुद्ध हो अपना भयङ्कर मुँह फैला, उन दोनों को खाने के लिये तैयार हुआ ॥ ७ ॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ ।
अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ[1] बाहू तस्यांसदेशतः ॥ ८ ॥

तब देश और काल के जानने वाले श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अपनी अपनी तलवारों से उसकी बाहें सहज में कन्धे से काट डालीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो[2] दक्षिणं बाहुं सव्यसक्त[3]मसिना ततः ।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

---

१ सुसंहृष्टौ -कदली-गण्ड इवच्छेदनादिति । (गो०) २ दक्षिणः--समर्थः । (गो०) ३ -सक्तं -अतिबंधं यथा भवात तथा । (गो०)

तलवार चलाने में समर्थ अथवा दक्ष श्रीरामचन्द्र ने उसकी दहिनी भुजा और शूरवीर लक्ष्मण ने उसकी बाँई भुजा बड़ी फुरती से काटी ॥ ९ ॥

स पपात महाबाहुर्विकबन्धो विभीषणः ।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा ॥ १० ॥

भुजाओं के कटते ही महाबाहु कबन्ध, मेघ की तरह भयङ्कर शब्द कर और अपने उस भयङ्कर शब्द से आकाश, पृथिवी तथा समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ, भूमि पर गिर पड़ा ॥१०॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः ।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः ॥ ११ ॥

दोनों भुजाओं के कटने से अपने शरीर को रुधिर से लथपथ देख और दीन हो, दानव कबन्ध ने पूछा, तुम दोनों युवक कौन हो ? ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
शशंस राघवं तस्य कबन्धस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

इस प्रश्न के उत्तर में शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण, कबन्ध को, श्रीरामचन्द्र का परिचय देते हुए, कहने लगे ॥ १२ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
अस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

यह इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न हैं और श्रीराम के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं । मैं इनका छोटा भाई हूँ और मेरा नाम लक्ष्मण है ॥१३॥

[मात्रा प्रतिहृते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम् ।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद्वनम्] ॥ १४ ॥

इनकी सौतेली माता ने इनकी राज्य की प्राप्ति में बाधा डाली और उसके कहने से ये, वन में चले आये। सो मेरे तथा अपनी भार्या के सहित ये महावन में विचरण करते थे ॥ १४ ॥

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
राक्षसाऽपहृता पत्नी यामिच्छन्ताविहागतौ ॥ १५ ॥

इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरामचन्द्र की पत्नी को, इस विजन वन में रहने के समय, एक राक्षस हर कर ले गया है। उसीको खोजते खोजते हम लोग यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने ।
आस्येनोरसि दीर्घेण प्रमजङ्घो[1]निवेष्टसे ॥ १६ ॥

यह तो बतलाओ कि, तुम कौन हो और किस लिये कबन्ध की तरह और अपनी छाती में चमचमाता मुख लगाये, जंघारहित हो, इस निर्जन वन में लोट रहे हो ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः ।
उवाच परमप्रीतस्तद्विक्रान्तं स्मरन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मण जी का वचन सुन, वह राक्षस हर्षित हो और इन्द्र की कही बात को स्मरण कर, कहने लगा ॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि चाप्यहम् ।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥१८॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुम दोनों का स्वागत करता हूँ। आज भाग्य ही से मैंने तुम दोनों के दर्शन पाये हैं। यह भी मेरे लिये सौभाग्य

---

१ निवेष्टसे—लुठसीत्यर्थवत् । (गो०)

की बात है कि, मेरे इन दोनों बाहुरूपी बन्धनों को तुमने काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्तं ह्यविनयाद्यथा ।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥
इति सप्तदशः सर्गः ॥

मैंने अपनी अनम्रता से जिस प्रकार यह बेढंगा रूप पाया है, उसका यथार्थ वर्णन मैं करता हूँ। हे नरव्याघ्र ! उसे तुम सुनो ॥१९॥
अरण्यकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकसप्ततितमः सर्गः

—※—

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रम ।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १ ॥

हे महाबाहु श्रीरामचन्द्र ! प्राचीन काल में मैं महाबलवान् और बड़ा पराक्रमी था, मैं अपने अचिन्त्य रूप की सुन्दरता के लिये तीनों लोकों में वैसे ही प्रसिद्ध था ॥ १ ॥

यथा सोमस्य शक्रस्य सूर्यस्य च यथा वपुः ।
सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥

जैसे सूर्य, इन्द्र और चन्द्रमा प्रसिद्ध हैं। मैं लोगों को डराने के लिये बड़ा भयानक रूप बना कर ॥ २ ॥

ऋषीन्वनगतान्राम त्रासयामि ततस्ततः ।
ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥

हे राम ! वन में बसने वाले ऋषियों को त्रस्त करने लगा । कुछ काल बीतने पर स्थूलशिरा नाम के एक महर्षि को मैंने कुपित किया ॥ ३ ॥

संचिन्वन्विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥ ४ ॥

एक दिन स्थूलशिरा वन में विविध भाँति के फूलफलादि इकट्ठे कर रहे थे । मैंने इस रूप से उनको बहुत दुःख दिया । तब उन्होंने मेरी ओर देख कर, मुझे घोर शाप दिया ॥ ४ ॥

एतदेवनृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो अवेदिति ॥ ५ ॥

वे बोले—तेरा इसी प्रकार का क्रूर और गर्हित रूप सदा के लिये हो जाय । क्रुद्ध हो उनको शाप देते देख, मैंने शाप के अन्त के लिये उनसे प्रार्थना की ॥ ५ ॥

अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।
यदा च्छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद्विजने वने ॥ ६ ॥

तब शाप का अन्त होने के लिये उन्होंने कहा कि, जब श्रीरामचन्द्र तेरी दोनों भुजाएं काट विजन वन में तुझे फूंक देंगे ॥ ६ ॥

तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे[1] ।
अहं हि तपसोग्रेण पितामह[2]मतोषयम् ॥ ८ ॥

---

१ रणाजिरे—रणाङ्गणे । (गो०)

तब तू पूर्ववत् अपना अत्यन्त सुन्दर और शुभ रूप पावेगा। हे लक्ष्मण! तुम मुझे इनु का पुत्र जानो। तब तक मेरा रूप सुन्दर था। किन्तु मेरा यह विकराल रूप तो रणाङ्गण में इन्द्र के कुपित होने से हुआ है। वह वृत्तान्त इस प्रकार है—मैंने उग्रतप द्वारा ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया ॥ ७ ॥ ८ ॥

दीर्घमायुः स मे प्रादात्ततो मां [1]विभ्रमोऽस्पृशत् ।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मे शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

सन्तुष्ट हो जब मुझे ब्रह्मा जी ने दीर्घायु होने का वरदान दिया; तब मुझे बड़ा गर्व हो गया। मैंने सोचा कि, जब मुझे दीर्घायु होने का वरदान मिल चुका है; तब इन्द्र मेरा क्या कर सकता है ॥ ९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम् ।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥

यह सोच मैंने युद्धक्षेत्र में इन्द्र को ललकारा। तब इन्द्र ने अपना सौ धार का वज्र मेरे ऊपर छोड़ा ॥ १० ॥

सक्थिनी चैव मूर्धा च शरीरे संप्रवेशितम् ।
स मया याच्यमानः सन्नानयद्यमसादनम् ॥ ११ ॥

जिसके लगने से मेरी दोनों जंघाएँ और मस्तक शरीर में घुस गये, किन्तु मेरे प्रार्थना करने पर मुझे मार नहीं डाला अथवा मैंने अपनी मौत चाही भी परन्तु उन्होंने मुझे यमपुर को नहीं भेजा ॥११॥

पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति समाब्रवीत् ।
अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥ १२ ॥

---

१ विभ्रमोगवँः (रा०) ।

प्रत्युत इन्द्र ने इतना ही कहा कि, जाओ पितामह ब्रह्मा जी का वचन सत्य हो। इस पर मैंने इन्द्र से कहा कि—जंघा, सिर और मुख तो आपने वज्र के आघात से मेरे शरीर में घुसा दिये। अब मैं भोजन विना बहुत दिनों तक कैसे जीता रहूँगा ॥ १२ ॥

वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम् ।
एवमुक्तस्तु मे शक्रो बाहू योजनमायतौ ॥ १३ ॥

इस बात को सुन इन्द्र ने कहा कि, अच्छा, अब तेरी बाँहें, एक योजन लंबी हो जायंगी और तू बहुत दिनों तक जीवित भी रहेगा ॥१३॥

प्रादादास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत् ।
सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संकृष्यास्मिन्वनेचरान् ॥१४॥
सिंहद्विपमृगव्याघ्रान्भक्षयामि समन्ततः ।
स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः ॥ १५ ॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि ।
अनेन वपुषा राम वनेऽस्मिन्नराजसत्तम ॥ १६ ॥

इन्द्र ने मेरे मुख में पैने पैने दाँत लगा मुख मेरे पेट में लगा दिया। तब से मैं अपने दोनों लंबे हाथ फैला कर, वन में विचरने वाले सिंह, चीते, हिरन, तेंदुए को पकड़ पकड़ कर मुख में डाल लिया करता हूँ। इन्द्र ने मुझसे यह भी कहा कि, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जब तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब से हे राजसत्तम! मैं इसी शरीर से इस वन में ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यद्यत्पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये ।
अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं लप्स्यते ॥ १७ ॥

मैं जिस जीवजन्तु को पाता, उसे पकड़ना अच्छा समझता था। साथ ही यह भी विचारता था कि, किसी दिन श्रीरामचन्द्र भी मेरी भुजाओं से अवश्य पकड़े जायँगे ॥ १७ ॥

इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।
स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥

इस प्रकार मैं इस शरीर को त्यागने के लिये प्रयत्न कर रहा था। सो आप वही राम हैं। क्योंकि और किसी का सामर्थ्य नहीं, जो मुझे मार सके ॥ १८ ॥

शक्यो हन्तुं यथातत्त्वमेतदुक्तं महर्षिणा ।
अहं हि [1]मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥

क्योंकि महर्षि जी ही ने ऐसा कहा था सो सत्य ही हुआ। अतः हे पुरुषश्रेष्ठ! और तो मुझसे कुछ नहीं हो सकता, परन्तु मैं अपने बुद्धिबल से आपकी सहायता करूँगा ॥ १९ ॥

मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥

आप द्वारा मेरा अग्निसंस्कार होने पर, मैं आपको एक मित्र बताऊँगा। जब इस प्रकार से उस दनु के पुत्र ने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २० ॥

इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्योपशृण्वतः ।
रावणेन हृता भार्या मम सीता यशस्विनी ॥ २१ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को सुनाते हुए उससे कहा—रावण ने मेरी यशस्विनी भार्या सीता हर ली है ॥ २१ ॥

---

१ मतिसाचिव्यं—बुद्धिसाहाय्यं। (गो०)

निष्क्रान्तस्य जनस्थानात्सह भ्रात्रा यथासुखम् ।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥

रावण ने जब सीता हरी, तब मैं लक्ष्मण सहित जनस्थान से बाहिर गया हुआ था । मैं उस राक्षस का नाम मात्र जानता हूँ, उसे पहचानता नहीं ॥ २२ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे ।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥

हमें यह भी नहीं मालूम कि, वह कहाँ का रहने वाला है और उसका प्रभाव कैसा है । देखो, हम शोकाकुल और सहायहीन हो इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं ॥ २३ ॥

कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारे च वर्तताम् ।
काष्ठान्याहाय शुष्काणि काले समानि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥

इसलिये तुम हम पर दया कर, हमारी उपयुक्त सहायता करो । हम हाथियों के, समय पर अर्थात् खाने के लिये तोड़े हुए लक्कड़ इकट्ठे कर, ॥ २४ ॥

धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते ।
स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥

और बड़ा गढ़ा खोद, हे वीर ! हम तुम्हें अभी भस्म किये देते हैं । किन्तु तुम यह तो बताओ कि, सीता को कौन हर कर ले गया है और कहाँ ले गया है ॥ २५ ॥

कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥

सोवाच कुशलो वक्तुं वक्तारमपि राघवम् ।
दिव्यमास्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥

यदि तुम्हें ठीक ठीक हाल मालूम हो और यदि उसे तुम हमें बतला दोगे, तो इससे हमारा बड़ा काम निकलेगा । जब श्रीराम चन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब वह दानवश्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी कुशलता के साथ कहने लगा । वह बोला --हे राम ! न तो मुझे दिव्य ज्ञान है और न मैं सीता को पहिचानता ही हूँ ॥ २६ ॥ २७ ॥

यस्तां ज्ञास्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।
अदग्धस्य तु विज्ञातुं शक्तिरास्ति न मे प्रभो ॥ २८ ॥

परन्तु मैं जल कर जब अपना असली रूप पाऊँगा, तब मैं उस बतलाने वाले का नाम ठिकाना बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है । हे प्रभो ! बिना दग्ध हुए बतलाने की मुझमें शक्ति नहीं है ॥ २८ ॥

राक्षसं ते महावीर्यं सीता येन हृता तव ।
विज्ञानं हि मम भ्रष्टं शापदोषेण राघव ॥ २९ ॥

जिस राक्षस ने तुम्हारी सीता हरी है वह बड़ा पराक्रमी है । हे राघव ! शाप-दोष से मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है ॥ २९ ॥

स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ।
किंतु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ॥ ३० ॥

अपने पाप के बल से मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है । हे श्रीरामचन्द्र ! सूर्यास्त होने के पूर्व ही ॥ ३० ॥

[नोट-- इससे जान पड़ता है कि, मुर्दे को सूर्यास्त के बाद दग्ध न करना चाहिये ।]

तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ।
दग्धस्त्वयाऽहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ॥ ३१ ॥
वक्ष्यामि तमहं वीर यस्तं ज्ञास्यति राक्षसम् ।
तेन सख्यं च कर्तव्यं न्यायवृत्तेन राघव ।
कल्पयिष्यति ते प्रीतः साहाय्यं लघुविक्रमः ॥ ३२ ॥

मुझे गढ़े में रख, यथाविधि भस्म कर दो । हे राम ! जब तुम मुझे विधिपूर्वक गढ़े में डाल भस्म कर दोगे, तब मैं उसका नाम तुमको बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है । तुम उससे न्याय-पूर्वक मित्रता करना । वह प्रसन्न हो कर बहुत शीघ्र तुम्हारा काम कर देगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

न हि तस्यास्त्वविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव ।
सर्वत्रपरिनिष्टो लोकानुराऽसौ कारणान्तरे ॥ ३३ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

क्योंकि तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह न जानता हो । क्योंकि वह कारणान्तर से, सब लोकों में पहिले घूम चुका है ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—※—

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

उन राजकुमारों से कबन्ध ने जब इस प्रकार कहा, तब उन दोनों भाइयों ने एक पहाड़ी गढ़े में उसके शरीर को डाल, आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोरस्कान्निर्दहिरादिभिः समन्ततः ।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

फिर लक्ष्मण ने बड़े बड़े लक्कड़ जला चारों ओर से चिता में आग लगा, चिता प्रदीप्त कर दी। चिता चारों ओर से जलने लगी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत् ।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहति पावकः ॥ ३ ॥

तब कबन्ध का घी के पिंड के समान चरबी से पूर्ण बड़ा शरीर, अग्नि में धीरे धीरे जलने लगा ॥ ३ ॥

स विधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ।
अरजे वाससी निर्म्मुक्ते दिव्यां महाबलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर महाबली कबंध शीघ्र चिता को छोड़, दो स्वच्छ वस्त्र और दिव्य माला धारण कर, धूमरहित अग्नि की तरह उसमें से निकला ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विमलाम्बरः ।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥

वह कान्तियुक्त शरीर धारण कर, प्रसन्न होता हुआ, बड़े वेग से आकाश में गया। उसके शरीर के समस्त अंग प्रत्यंग गहनों से भूषित थे ॥ ५ ॥

विमाने भास्वरे तिष्ठन्हंसयुक्ते यशस्करे ।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजन् ॥ ६ ॥

तदन्तर वह चमचमाते हंसयुक्त यश देने वाले विमान में बैठकर अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने लगा ॥६॥

सोऽन्तरिक्षगतो रामं कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

आकाश में पहुँच कबन्ध ने श्रीराम को सम्बोधन कर कहा—हे श्रीरामचन्द्र ! सुनो मैं बतलाता हूँ जिस प्रकार तुमको सीता मिलेगी ॥ ७ ॥

राम षडयुक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते ।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

काम करने की संसार में छः युक्तियाँ हैं-(यथा १ सन्धि, २ विग्रह, ३ यान, ४ आसन, ५ द्वैधीभाव और ६ समाश्रय) श्रेष्ठजन इन्हींकी सहायता से सब बातों का विचार करते हैं। इनको काम में लाये बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य दुर्दशाग्रस्त होता है अथवा जिसे दुर्दशा घेर लेती है उसकी दुर्दशा ही होती चली जाती है ॥ ८ ॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः ।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

तुम दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो। इसीसे स्त्रीहरण का यह दुःख तुम पर पड़ा है ॥ ९ ॥

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत्सुहृदां वर ।
अकृत्वा हि न ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

अतः हे सुहृदों में श्रेष्ठ ! तुम अवश्य उससे मैत्री करो। क्योंकि मैंने बहुत सोचा, मुझे तो तुम्हारे कार्य की सिद्धि, बिना उससे मैत्री किये, अन्य किसी उपाय से नहीं दीख पड़ती ॥ १० ॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! सुनो, मैं कहता हूँ ! सुग्रीव नाम का एक वानर है। इन्द्रपुत्र वालि ने उस अपने भाई को क्रुद्ध हो, निकाल दिया है ॥ ११ ॥

ऋश्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते ।
निवसत्यात्मवान्वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ १२ ॥

वह ज्ञानवान सुग्रीव अपने चार साथी वानरों के सहित ऋष्यमूक पर्वत पर जो पम्पा सरोवर तक फैला हुआ शोभायमान है, सदा वास करता है ॥ १२ ॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजसा प्रभया मितः ।
सत्यसन्धो विनीतश्च धृतिमान्मतिमान्बलान् ॥ १३ ॥

वह वानरों का राजा सुग्रीव बड़ा बलवान, तेजस्वी, अमित प्रभा वाला, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान् और बड़ा बुद्धिमान है ॥ १३ ॥

दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान्महाबलपराक्रमः ।
भ्रात्रा विवासितो राम राज्यहेतोर्महाबलः ॥ १४ ॥

वह सुग्रीव चतुर, साहसी, कान्तिमान् महाबली और महा पराक्रमी है। हे श्रीराम ! उस महाबली को उसके ज्येष्ठ भाई वाली ने राज्य के हेतु निकाल दिया है ॥ १४ ॥

स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥ १५ ॥

निश्चय ही वह तुमसे मैत्री करेगा और सीता के ढूढ़ने में तुम्हें सहायता भी देगा। हे राम ! तुम दुःखी मत हो ॥ १५ ॥

भवितव्यं हि यच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।
भवितव्यमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

हे इक्ष्वाकु-कुलशार्दूल ! होनहार को मेंटने की शक्ति किसी में नहीं है। क्योंकि काल की गति को कोई रोक नहीं सकता ॥ १६ ॥

गच्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥ १७ ॥

अतः हे राम ! अब तुम शीघ्र यहाँ से महाबली सुग्रीव के पास जाओ। हे राघव ! यहाँ से शीघ्र जाकर तुम उससे मैत्री कर लो ॥१७॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।
स च ते नावमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ १८ ॥

जिससे पीछे आपस में मनमुटाव न हो, इस लिये प्रज्वलित अग्नि को साक्षी कर मैत्री करना। साथ ही यह भी याद रखना कि, वानरराज सुग्रीव का आपके द्वारा कभी अपमान न होने पावे ॥ १८ ॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

क्योंकि वह वानरराज कृतज्ञ है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला है, बड़ा बलवान है और इस समय उसे भी सहायता

की आवश्यकता है (तुम दोनों उसके कार्य को करने में समर्थ भी हो) ॥ १९ ॥

कृतार्थो वाऽकृतार्थो वा कृत्यं तव करिष्यति ।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः ॥ २० ॥

चाहे उसका काम पूरा हो जाय या अधूरा ही रहै, किन्तु वह तुम्हारा काम कर देगा । वह ऋक्षराज नामक वानर का पुत्र, भाई के डर के मारे पम्पा के किनारे किनारे घूमा करता है ॥ २० ॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्विषः[1] ।
सन्निधायायुधं क्षिप्रमृश्यमूकालयं कपिम् ॥ २१ ॥

वह सूर्य का औरस पुत्र, वालि से शत्रुता होने के कारण बहुत दुःखी रहता है । तुम सब आयुधों को रख कर, उस ऋष्यमूक पर्वतवासी वानर से ॥ २१ ॥

कुरु राघव सत्येन[2] वयस्यं वनचारिणम् ।
स हि स्थानानि सर्वाणि कात्स्न्र्येन कपिकुञ्जरः ॥ २२ ॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति ।
न तस्याविदितं लोक किञ्चिदस्ति हि राघव ॥ २३ ॥

शपथपूर्वक मैत्री करना । क्योंकि वह कपिकुञ्जर सुग्रीव मनुष्याहारी राक्षसों के समस्त स्थानों को भली भाँति जानता है । हे राघव ! लोक में कोई भी जगह ऐसी नहीं, जिसे वह न जानता हो ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

१ कृतकिल्विषः—कृतवैरः । (गो०) २ सत्येन—शपथेन । (गो०)

यावत्सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुररिन्दम ।
स नदीर्विपुलाञ्छैलान्गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥

हे अरिन्दम ! जहाँ तक सूर्य की किरण जा सकती है उतने बीच की समस्त नदियों, पर्वतों, दुर्गम स्थानों और कन्दराओं को ॥ २४ ॥

अन्वीक्ष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।
वानरांश्च महाकायान्प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥

वानरों के साथ दृढ़ कर वह तुम्हारी पत्नी तुमको प्राप्त करवा देगा । अथवा (स्वयं न जाकर) अपने अधीनस्थ बड़े डीलडौल के बन्दरों को सीता को ढूँढ़ने के लिये भेज सकेगा ॥ २५ ॥

दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।
स यास्यति वरारोहां निर्मलां रावणालये ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में चिन्तित निष्कलङ्क सुन्दरी सीता का पता लगा—यदि वह रावण के घर में हुई तो भी—वहाँ से ला कर उन्हें तुमसे मिला देगा ॥ २६ ॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।
प्लवङ्गमानां प्रवरस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥ २७ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह वानरश्रेष्ठ ऐसा प्रतापी है कि, चाहे सीता मेरुपर्वत के शिखर पर गयी हो अथवा पाताल में हो, वह वहाँ जा और राक्षसों को मार कर, तुम्हें लाकर दे देगा ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

—:※:—

निदर्शयित्वा रामाय सीतायाः प्रतिपादने ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

कबन्ध सीता जी के मिलने का इस प्रकार उपाय बतला, फिर भी श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त वचन कहने लगा ॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! वहाँ जाने के लिये आपको यह रास्ता सुखदायी होगा, क्योंकि ये जहाँ फूले हुए मनोहर वृक्ष लग रहे हैं। वे वृक्ष पश्चिम की ओर देखने से देख पड़ेंगे ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसप्लक्षन्यग्रोधतिन्दुकाः ।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥

देखो, जामुन, चिरौंजी, कटहर, बड़, पाकर, तेंदू, पीपल, कठ, चम्पा और आम के अनेक वृक्ष हैं ॥ ३ ॥

धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥

धव, नागकेसर, तिलक, करञ्ज, नील, अशोक, कदंब और पुष्पित कनैर ॥ ४ ॥

अग्निमुख्या अशोकश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान्बलात् ॥ ५ ॥

अरूस, अशोक, रक्तचन्दन और मन्दार-नामक वृक्ष लगे हैं। या तो इन पर चढ़ कर अथवा बलपूर्वक उनकी डालें झुका कर ॥ ५ ॥

फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन्तौ गमिष्यथः ।
तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

अमृत की तरह मीठे फलों को तोड़ और उनको खाते हुए तुम दोनों जन चले जाना । हे काकुत्स्थ ! उस पुष्पित वृक्षों से युक्त वन को नाँघने पर ॥ ६ ॥

नन्दनप्रतिमं चान्यत्कुरवो ह्युत्तरा इव ।
सर्वकामफला वृक्षाः पादपास्तु मधुस्रवाः ॥ ७ ॥

तुमको नन्दन और उत्तर कुरु की तरह रक्तवन मिलेगा । इस वन के वृक्षों में सदा फल फूला करते हैं और बड़े मीठे और रसदार होते हैं ॥ ७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।
फलभारानतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

उस वन में, चैत्ररथ वन की तरह वृक्षों में सब ऋतुओं के फल लगा करते हैं। फलों के बोझ से वहां के वृक्ष झुके रहते हैं॥ ८॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसन्निभाः।
तानारुह्याथ वा भूमौ पातयित्वा यथासुखम्॥ ९॥

बड़ी बड़ी शाखाओं के कारण वहां के वृक्ष पर्वताकार मेघों की तरह सुशोभित देख पड़ते हैं। हे राम! इन वृक्षों पर चढ़ कर अथवा ज़मीन पर गिरा कर—जैसे सुविधा हो वैसे॥ ९॥

फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति॥
चङ्क्रमन्तौ नरान्देशान्शैलांश्चैलं वनाद्वनम्॥ १०॥

लक्ष्मण जी उन अमृत की तरह स्वादिष्ट फलों को लाकर तुमको दे दिया करेंगे! इस प्रकार कितने ही सुन्दर देशों, पर्वतों और बनों में घूमते फिरते॥ १०॥

ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः।
अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम्॥ ११॥

तुम दोनों पम्पा नामक सरोवर पर पहुँचोगे। इस सरोवर के भीतर न तो सिवार (एक प्रकार की पानी में जमने वाली घास) है और न कंकड़ियां हैं। इसके तट की भूमि पर विल्कुलाहट भी नहीं है। इसके सब घाट भी एक से बने हैं॥ ११॥

राम सञ्जातवालूकां कमलोत्पलशालिनीम्।
तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव॥ १२॥

हे राम! उसमें अच्छी रेती है। उसमें कमल फूला करते हैं हे राघव! वहाँ हंस, राजहंस, क्रौंच और कुरर रहते हैं॥ १२॥

[1]वल्गुस्वना निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः[2] ।
नोद्विजन्ते नरान्दृष्ट्वा [3]वधस्याकोविदाः शुभाः ॥ १२ ॥

सरोवर में तैरते हुए बड़ी प्यारी बोलियां बोला करते हैं। वे मनुष्यों को देख डरते नहीं ; क्योंकि वध क्या होता है सो वे जानते ही नहीं (अर्थात् वहाँ कोई पक्षी नहीं मारने पाता) ॥ १२ ॥

घृतपिण्डोपमान्स्थूलांस्तान्द्विजान्भक्षयिष्यथः ।
रोहितान्वक्रतुण्डांश्च नडमीनांश्च राघव ॥ १४ ॥

हे राघव ! उन घृतपिण्ड की तरह मोटे मोटे पक्षियों को और रोहू, चक्रतुण्ड, नड नामक मछलियों को मार कर तुम खाना ॥१४॥

पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान्हतान् ।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तान[4]कृशानेककण्टकान् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! जिनके पंख नहीं होते और जो बड़ी मोटी होती हैं एवं त्वचा और बहुत काँटों वाली बढ़िया मछलियों को काँटे में छेद कर और आग पर भूंज कर (कबाब बना कर) ॥ १५ ॥

तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।
भृशं ते खादतो मत्स्यान्पम्पायाः पुष्पसञ्चये ॥ १६ ॥

बड़े चाव से लक्ष्मण तुमको देंगे। कमल पुष्पों में विचरती हुई बहुत सी मछलियों को तुम खाना ॥ १६ ॥

पद्मगन्धि शिवं[5]वारि सुखशीतमनामयम् ।
उद्धृत्य सततापिलष्टं रौप्यस्फाटिकसन्निभम् ॥ १७ ॥

---

१ वल्गुस्वनाः—रम्यस्वनाः । (गो०) २ सलिलगोचराः—सलिलचारिणः (गो०) ३ वधस्याकोविदाः—वधमजानानाः । (गो०) ४ अयस्तप्तान्—अयः-शूलाग्रप्रोततया पक्कान् । (गो०) ५ शिवं—पापापहं । (गो०)

असौ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।
स्थूलान्गिरिगुहाशय्यान्वराहान्वनचारिणः ॥ १८ ॥
अपां लोभादुपावृत्तान्वृषभानिव नर्दतः ।
[1]रूपान्वितांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ॥ १९ ॥

पम्पा सरोवर का कमल पुष्प की सुगन्धि से युक्त, रोग-हर, पापनाशक, आनन्ददायक, सुशीतल, चाँदी और स्फटिक पत्थर की तरह स्वच्छ जल, लक्ष्मण कमल के पत्तों में लाकर तुमको पिलावेंगे । पर्वत कंदरों में सोने वाले तथा वन में विचरने वाले बड़े मोटे मोटे सुन्दर सुअर जो पम्पा सरोवर के तट पर बैल की तरह बोलते हुए जल पीने आया करते हैं, तुमको देख पड़ेंगे ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

सायाह्ने विचरन्राम विटपीन्माल्यधारिणः ।
शीतोदकं च पम्पाया दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! सन्ध्या के समय जब तुम वहाँ घूमा करोगे तब तुम को बड़ी बड़ी शाखाएं वाले और फूले हुए वृक्षों तथा पम्पा सरोवर के शीतल जल को देख कर तुम्हारा शोक दूर हो जायगा ॥ २० ॥

सुमनोभिश्चितांस्तत्र तिलकान्वत्तकमालकान् ।
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ॥ २१ ॥

हे राघव ! वहाँ पर तिलक और करंज के वृक्ष फूलों से लदे हैं । कुई और कमल के फूल वहाँ फूले हुए हैं ॥ २१ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता[2] नरः ।
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ॥ २२ ॥

---

१ रूपान्वितान्—सौन्दर्यवतः । (गो०) २ आरोपयिता—गृहीत्वाग्रथिता । (गो०)

हे राघव ! किन्तु उन फूलों की माला बनाने वाला कोई आदमी वहाँ नहीं रहता। वहाँ के पुष्प न कभी मुरझाते हैं, न अपने आप गिरते हैं ॥ २२ ॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः ।
तेषां भाराभितप्तानां वन्यमाहरतां गुरोः ॥ २३ ॥

वहाँ पर मतङ्ग ऋषि के शिष्य ऋषि लोग एकाग्रचित्त होकर रहते थे। जब वे गुरु के लिये बन के फल फूल कंद लेने जाते और बोझ से पीड़ित होते ॥ २३ ॥

ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात्स्वेदबिन्दवः ।
तानि जातानि माल्यानि मुनीनां तपसा तदा ॥ २४ ॥

तब उनकी देह से पसीने की जो बूंदे टपकतीं, वे उनकी तपस्या के प्रभाव से फूल हो जाती थीं ॥ २४ ॥

स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ।
तेषामद्यापि तत्रैव दृश्यते परिचारिणी ॥ २५ ॥

हे राघव ! पसीने की बूंदों से उत्पन्न होने के कारण वे फूल कभी नष्ट नहीं होते। (वे ऋषि लोग तो उस स्थान को त्याग कर चले गये हैं) परन्तु उनकी परिचारिका अब तक वहाँ देख पड़ती हैं ॥ २५ ॥

[1]श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ।
त्वां तु धर्मे[2] स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम् ॥ २६ ॥

---

१ श्रमणी—संन्यासिनी। (गो०) २ धर्मे—गुरु परिचरणधर्मे। (गो०

दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ।
ततस्तद्राम पम्पायाः पश्चिमं तीरमाश्रित ॥ २७ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसका नाम शबरी है । वह संन्यासिनी है और वह बहुत बूढ़ी है । परन्तु वह गुरुपरिचर्या में सदा निरत रहने वाली शबरी देवोपम और सब लोगों से नमस्कार किये जाने योग्य, आपके दर्शन कर, स्वर्ग को चल देगी । पम्पा के पश्चिम तीर पर ॥ २६ ॥ २७ ॥

आश्रमस्थानमतुलं गुह्य[२] काकुत्स्थ पश्यसि ।
न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तमाश्रमम् ॥ २८ ॥

तुमको अनुपम एक ऐसा आश्रम देख पड़ेगा, जिसे दुर्गम होने के कारण, अन्य लोग नहीं देख सकते । हाथी उस आश्रम को नहीं नष्ट कर सकते ॥ २८ ॥

विविधास्तत्र वै नागा वने तस्मिंश्च पर्वते ।
ऋषेस्तत्र मतङ्गस्य विधानात्तच्च काननम् ॥ २९ ॥

यद्यपि वहाँ के वन और वहाँ के पर्वत पर बहुत से हाथी रहा करते हैं, तथापि मतङ्ग ऋषि के प्रभाव से उस आश्रम के वन को नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

[मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ।]
तस्मिन्नन्दनसङ्काशे देवारण्योपमे वने ॥ ३० ॥

हे रघुनन्दन ! वह वन मतङ्गवन के नाम से प्रसिद्ध है । हे श्रीराम ! वह वन देवताओं के नन्दन वन की तरह रमणीक है ॥ ३० ॥

---

१ अतुलं—अनुपमम् । (गो०) २ गुह्यं—इतरैरदर्शनीयं । (गो०)

[illegible] रंस्यसे राम निर्वृतः[1] ।
ऋश्यमूकश्च पम्पायाः पुरस्[illegible]कुलः ॥ २१ ॥

उसमें भाँति भाँति के दुःख त्याग कर पक्षी रहते हैं । हे श्रीराम ! उस वन में तुम विहार करना । पम्पा सरोवर के सामने ही पुष्पित वृक्षों से शोभित ऋष्यमूक नामक पर्वत है ॥ २१ ॥

सुदुःखारोहणो नाम शिशुनागाभिरक्षितः ।
उदारो ब्रह्मणा यैव पूर्वकाले विनिर्मितः ॥ २२ ॥
शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।
यत्स्वप्ने लभते वित्तं तत्प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ २३ ॥

उस दुरारोह पर्वत की रखवाली छोटे छोटे हाथी के बच्चे किया करते हैं । इस पर्वत को उदारमना ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में स्वयं बनाया था। उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष सोवे और स्वप्न में उसे धन का मिलना देख पड़े तो, जागने पर भी उसे धन मिलता है ॥ २२ ॥ २३ ॥

न त्वेनं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ।
यस्तु तं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ॥ २४ ॥
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ।
तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान् ॥ २५ ॥

पापाचारी और पापी पुरुष उस पर्वत पर नहीं चढ़ सकता । यदि कोपाचारी और पापी पुरुष उस पर चढ़ भी जाय तो जब

---

१ निर्वृतः—निवृत्तदुःख । (गो०)

वह सोता है तब राक्षस लोग उसे मार डालते हैं। वहाँ पर कोई हाथियों का चिंघारना बहुत सुन पड़ता है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गारण्यवासिनाम् ।
सिक्ता रुधिरधाराभिः संहृत्य परमद्विपाः ॥ ३६ ॥
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः ।
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं शीतमव्ययम् ॥ ३७ ॥

हे श्रीराम ! ये महागज मतङ्ग ऋषि के वन में क्रीड़ा करते और वहीं रहते हैं। वे सब लाल मद की धारों से तर, कभी तो गिरोह बाँध घूमते हैं, कभी अलग अलग चरते हैं। उनके शरीर का रंग काले मेघ जैसा है और वे बड़े बलवान हैं। वे वहाँ पर पम्पा सरोवर का कभी न निघटने वाला, निर्मल और शीतल जल पीकर ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

निर्वृताः संविगाहन्ते[1] वनानि वनगोचराः ।
ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलका[2]मलकप्रभान् ॥ ३८ ॥
रुरूनपेतापजयान्दृष्ट्वा शोकं जहिष्यसि ।
राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥ ३९ ॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम् ।
तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ह्रदः ॥ ४० ॥

और अपनी प्यास मिटा, वन में प्रवेश कर, वन में विचरा करते हैं। हे राम ! रीछ, बाघ और नीलम मणि की तरह प्रभा

---

१ संविगाहन्ते—प्रविशन्ति । (गो०) २ नीलकोमलकप्रभान्—नील रत्नवन्मनोज्ञ प्रभान् । (गो०)

वाले रुरु मृगों को देखने से तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा। वहाँ पर एक पहाड़ी बड़ी गुफा है। उसका द्वार एक शिला से बंद रहता है। उसके भीतर जाना बड़ा कष्टदायक है। उस गुफा के मुहारे के सामने ही शीतल जल का एक बड़ा सरोवर है॥ ३८॥ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

फलमूलान्वितो रम्यो नानामृगसमावृतः।
तस्यां वसति सुग्रीवश्चतुर्भिः सह वानरैः॥ ४१ ॥

वहाँ अनेक फल और मूल हैं। भाँति भाँति के बनैले जीव जन्तु उसके इर्दगिर्द घूमा फिरा करते हैं। उसीमें अपने साथी चार बानरों के सहित सुग्रीव रहा करता है॥ ४१॥

कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यावतिष्ठते।
कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ॥ ४२ ॥

कभी कभी वह पर्वतशिखर पर भी जा बैठा करता है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को सब बातें बतला कर वह कबंध राक्षस॥ ४२॥

स्रग्वी भास्करवर्णाभः खे व्यरोचत वीर्यवान्।
तं तु खस्थं महाभागं कबन्धं रामलक्ष्णौ॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके॥ ४३ ॥

माला धारण किये सूर्य की तरह चमचमाता हुआ वीर्यवान वह राक्षस आकाश में जा शोभायमान हुआ। उस बड़े भाग्यवान को देख, श्रीराम और लक्ष्मण ने उससे कहा कि, अच्छा अब हम तो सुग्रीव के पास जाते हैं, तुम भी स्वर्ग को जाओ॥ ४३॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत्स च ।
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४४ ॥

इस पर कबंध ने कहा कि, आप भी अपना काम सिद्ध करने के लिये जाइये । तब कबंध हर्षित श्रीराम लक्ष्मण से बिदा हो, वहाँ से प्रस्थानित हुआ ॥ ४४ ॥

स तत्कबन्धः प्रतिपद्य रूपं
द्युतः श्रिया भास्करतुल्यदेहः ।
निदर्शयन्राममवेक्ष्य खस्थः
सख्यं कुरुष्वेति तदाऽभ्युवाच ॥ ४५ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार कबन्ध अपना पूर्वरूप प्राप्त कर शोभायुक्त, देदीप्यमान अपनी देह को दिखला और आकाश में स्थित हो श्रीराम को देख कर उनसे बोला कि, आप जाकर सुग्रीव से मैत्री कीजिये ॥ ४५ ॥

अरण्यकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—※—

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
प्रतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥ १ ॥

वे दोनों राजकुमार कबन्ध के बतलाये मार्ग को धर पश्चिम की ओर उस वन में हो कर चले ॥ १ ॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान्क्षौद्र कल्पफलान्द्रुमान् ।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण पहाड़ों पर तरह तरह के शहद की तरह मीठे फलों से फले हुए वृक्षों को देखते हुए, सुग्रीव से मिलने के लिये चले जाते थे ॥ २ ॥

कृत्वा च शैलपृष्ठे तु तौ वासं रामलक्ष्णौ ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥ ३ ॥

श्रीराम लक्ष्मण रास्ते में एक पर्वत के ऊपर टिक कर पम्पा सरोवर के और पश्चिम तट पर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर पहुँच वहां उन्होंने शबरी का रमणीक आश्रम देखा ॥ ४ ॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम् ।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

बहुत से वृक्षों से घिरे हुए शबरी के आश्रम में जा और वहां की रमणीयता देखते हुए, वे शबरी के निकट जा पहुँचे ॥ ५ ॥

तौ च दृष्ट्वा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
रामस्य पादौ जग्राह लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

वह सिद्धा शबरी इन दोनों भाइयों को देखते ही हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी। फिर उसने दोनों बुद्धिमान भाइयों के चरणों का स्पर्श किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं शंसितव्रताम् ॥ ७ ॥

फिर उसने अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि यथाविधि अर्पण कर उनका आतिथ्य किया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने धर्म निरता शबरी से पूछा ॥ ७ ॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः[1] कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चित्ते नियतः[2] क्रोध आहारश्च तपोधने ॥ ८ ॥

कामादि छः रिपुओं को जो तपस्या में विघ्न डाला करते हैं, तुमने जीत तो लिया है ? तुम्हारी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ती तो जाती है ? तुमने क्रोध को तो अपने वश में कर रखा है ? हे तपोधने ! तुम आहार में तो संभल कर रहती हो न ? ॥ ८ ॥

कच्चित्ते नियमाः[3] प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्[4] ।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

हे चारुभाषिणी ! तुम्हारे सब व्रत तो ठीक ठीक चले जाते हैं ? तुम्हारा मन सन्तुष्ट तो रहता है ? क्या तुम्हारी गुरु-शुश्रुषा सफल हुई ॥ ९ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्युपस्थिता ॥ १० ॥

---

१ विघ्ना—तपोविघ्नाः कामादयः । (गो) २ नियतः—निगृहीतः । (गो०)
३ नियमाः—व्रतानि । (गो०) ४ मनसः सुखं—मनः सन्तोषः । (गो०)

जब श्रीरामचन्द्र जी ने शबरी से ये प्रश्न किये, तब सिद्धपुरुषों की मान्य वह सिद्धा तपस्विनी श्रीराम से कहने लगी ॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया ।
अद्य मे सफलं तप्तं गुरवश्च सुपूजिताः ॥ ११ ॥

आपके दर्शन करके मुझे आज तप करने का फल मिल गया। आज, मेरा तप करना और गुरु की सेवा करना सफल हुआ ॥११॥

अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति ।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

यही क्यों, आज मेरा जन्म भी सफल हो गया। हे देवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ! आज आपका पूजन कर, मुझे स्वर्ग भी मिल जायगा ॥ १२ ॥

चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन ।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम ॥ १३ ॥

हे श्रीराम ! आपके निर्हेतुक कृपाकटाक्ष से आज मैं पवित्र हो गयी। हे अरिन्दम ! आपकी कृपा से मुझे अब अक्षय्य लोकों की भी प्राप्ति होगी ॥ १३ ॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः ।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

हे श्रीराम ! जब आप चित्रकूट में पधारे थे, तब वे ऋषिलोग जिनकी मैं सेवा किया करती थी, दिव्य विमानों में बैठ स्वर्ग को चले गये ॥ १४ ॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः ।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥ १५ ॥

जाते समय वे महाभाग और धर्मज्ञ महर्षि मुझसे यह कह गये कि, श्रीरामचन्द्र तेरे इस पुण्यजनक आश्रम में आवेंगे ॥ १५ ॥

स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः ।
तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

उस समय तू उनका और उनके साथी लक्ष्मण का स्वागत कर आतिथ्य करना । उनके दर्शन करने से तुझे श्रेष्ठ अक्षय्य लोकों की प्राप्ति होगी ॥ १६ ॥

मया तु विविधं वन्यं सञ्चितं पुरुषर्षभ ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसंभवम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषोत्तम ! मैंने आपके लिये पम्पा सरोवर के निकटवर्त्ती वन से अनेक वन में उत्पन्न होने वाले कन्दमूल फलों को इकट्ठा कर रखा है ॥ १७ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ।
राघवः प्राह विज्ञाने[1] तां नित्यमबहिष्कृताम् ॥ १८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ये वचन सुन अति दुर्लभ परमात्मा का ज्ञान रखने वाली उस शबरी से बोले ॥ १८ ॥

दनोः सकाशत्तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनः ।
श्रुंत प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रुष्टुं यदि मन्यसे ॥ १९ ॥

हे तपस्विनी ! मैंने दनु के मुख से तुम्हारे महात्मा मुनियों के प्रभाव को भली भांति से सुन रखा है । किन्तु यदि तुम्हें मेरी बात पसंद हो तो, मुझे प्रत्यक्ष उनका प्रभाव दिखला दो ॥ १९ ॥

---

१ विज्ञाने नित्यबहिष्कृताम् —अतिदुर्लभपरमात्मज्ञानेविज्ञानवतीं । (शि०)

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्राद्विनिःसृतम् ।
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से निकले हुए ये बचन सुन, शबरी ने दोनों भाइयों को वह बड़ा बन दिखलाया ॥ २० ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ।
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ॥ २१ ॥

वह बोली—हे रघुनन्दन ! मृगों और पक्षियों से भरा पूरा और काले बादल की तरह श्याम रङ्ग का यह वन देखिये। यह मतङ्ग वन के नाम से प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महावने* ।
जुहवांचक्रिरे[1] तीर्थं[2] [3]मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥ २२ ॥

इसी महाबन में विशुद्धात्मा और मंत्रों को जानने वाले गुरु लोग वैदिक मंत्रों से यज्ञ किया करते थे और उन्होंने गङ्गादि पवित्र तीर्थों को मंत्रशक्ति से यहाँ बुलाया था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदिर्यत्र ते मे सुसत्कृताः ।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

यही वह प्रत्यक्स्थल नाम की वेदी है, जहाँ बैठ कर मेरे पूज्य गुरुलोग पुष्पाञ्जलि (वृद्धावस्था के कारण) थर थराते हुए हाथों से अर्पण किया करते थे ॥ २३ ॥

---

१ जुहवांचक्रिरे—आहूतवन्तः । (गो०) २ तीर्थं—गंगादिपुण्यसलिलं । (गो०) ३ मन्त्रवत्—मन्त्रवतां । (गो०) * पाठान्तरे—"महाधृते," "महामते ।"

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूद्वह ।
द्योतयन्ति दिशः सर्वा श्रिया वेद्योऽतुलप्रभाः ॥ २४ ॥

हे रघुनन्दन ! देखिये उनके तपोबल से आज भी यह वेदी अपनी अतुलित प्रभा से सब दिशाओं को प्रकाशित कर रही है ॥ २४ ॥

अशक्नुवद्भि स्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेऽभ्यागतान्पश्य सहितान्सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

जब उपवास करते करते वे निर्बल हो गये, तब उनके चिन्तवन करते ही सातों समुद्र उनके स्नानार्थ यहाँ प्रकट हुए। सो इन सातों समुद्रों को देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह ।
अद्यापि नावशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

इस जगह स्नान करके उन्होंने अपने जो गीले बल्कल वस्त्र इन वृक्षों पर सुखाये थे, वे आज तक नहीं सूखे ॥ २६ ॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै ।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं ग्लानत्वं नोपयान्ति वै ॥ २७ ॥

देवताओं के पूजन में उन लोगों ने जो कोमल हाल की खिली कलियाँ चढ़ाई थीं, वे अब तक नहीं मुरझायीं हैं ॥ २७ ॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्तुमेतत्कलेवरम् ॥ २८ ॥

उनके वन में जो सब वस्तुए देखने योग्य थीं, वे सब आपने देखीं

और उनके सबन्ध में जो बातें सुनने योग्य थीं, वे सब आपने सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा से चाहती हूँ कि, इस शरीर को त्याग दूँ ॥ २८ ॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम् ।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी ॥ २९ ॥

जिससे मैं उन धर्मात्मा महर्षियों के पास जा सकूँ, जिनकी मैं दासी हूँ और जिनका यह आश्रम है ॥ २९ ॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
महर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति तत्त्वतः ॥ ३० ॥

उस धर्मिष्ठा शबरी के बचन सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं संशितव्रताम् ।
अर्चितोऽहं त्वयाभक्त्या गच्छ कामं यथासुखम् ॥३१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी दृढ़ व्रत धारिणी शबरी से बोले कि, हे भद्रे ! तूने हमारा भली भाँति पूजन किया अब तू सुख पूर्वक जहाँ जाना चाहती हो वहाँ चली जा ॥ ३१ ॥

इत्युक्ता जटिला वृद्धा चीरकृष्णाजिनाम्बरा ।
तस्मिन्मुहूर्ते शबरी देहं जीर्णं जिहासती ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र का यह बचन सुन उसी घड़ी वह जटाधारिणी तथा चीर एवं कृष्ण मृगचर्म को पहिरने वाली शबरी अपनी पुरानी देह को त्यागने की इच्छा से ॥ ३२ ॥

अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ।
ज्वलत्पावकसङ्काशा स्वर्गमेव जगाम सा ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की अनुमति ले, जलती हुई आग में कूद पड़ी। फिर उस अग्नि में से प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमाता रूप धारण कर, वह निकली और स्वर्ग को चली गयी ॥ ३३ ॥

दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ।
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ॥ ३४ ॥

उस समय वह बढ़िया आभूषण पहिने हुए थी। उसके शरीर में दिव्य चन्दन लगा हुआ था। वह सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी। आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित हो वह देखने में बड़ी सुन्दरी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामिनी यथा ।
यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत्पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

वह अपने शरीर की प्रभा से वहाँ ऐसा प्रकाश कर रही थी, जैसे बिजली अपने प्रकाश से चारों ओर प्रकाश कर दिया करती है। उसके गुरु धर्मात्मा महर्षि लोग जिन लोकों में विहार करते थे, वहीं वह शबरी भी अपने समाधिबल से जा पहुँची ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

दिवं तु तस्या यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः ॥ १ ॥

जब शबरी अपने तेज के प्रभाव से स्वर्ग को चली गयी, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण सहित सोचने लगे ॥ १ ॥

स चिन्तयित्वा धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम् ।
हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

और उन महात्माओं के प्रभाव को सोच एकमात्र परम हितैषी अपने भाई लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ २ ॥

दृष्टोऽयमाश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम् ।
[1]विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! मैंने उन महात्माओं का यह आश्रम देखा । यहाँ तो अनेक आश्चर्यमय वस्तुएं देख पड़ती हैं । देखो न यहाँ पर हिरन और सिंह तथा अनेक पक्षी आपस का वैरभाव त्याग कर बसे हुए हैं ॥ ३ ॥

स्नानानां च समुद्राणामेषु तीर्थेषु लक्ष्मण ।
उप[1]स्पृष्टं च विधिवत्पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ४ ॥

---

१ विश्वस्ताः --विश्वासं प्राप्ताः परस्परहिंसकत्वरहिताः ।(गो०) २ उपस्पृष्टं—स्नातं । (गो०)

प्रनष्टमशुभं तत्तत्कल्याणं समुपस्थितम् ।
तेन तत्त्वेन हृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैंने उनके इस सप्तसागर तीर्थ में स्नान कर विधिवत् पितृतर्पण भी किया । इससे मेरा जो अशुभ था वह दूर हो गया और शुभ आकर अब उपस्थित हुआ । सो अशुभ के नष्ट होने और शुभ के प्राप्त होने से इस समय मेरा मन, हे लक्ष्मण ! अत्यन्त हर्षित है ॥ ४ ॥ ५ ॥

हृदये हि नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति ।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम् ॥ ६ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय मेरे हृदय में शुभ भावों का आविर्भाव होगा । सो अब आओ पम्पा सरोवर के तट पर चलें ॥ ६ ॥

ऋश्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते ।
यस्मिन्वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंशुमतः सुतः ॥ ७ ॥

वहाँ से वह ऋष्यमूक पर्वत भी समीप ही देख पड़ता है, जिस पर सूर्य के पुत्र धर्मात्मा सुग्रीव रहते हैं ॥ ७ ॥

नित्यं वालिभयात्त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः ।
अभित्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ ८ ॥

सुग्रीव सदा वाली के भय से त्रस्त हो, चार वानरों सहित वहां पर रहते हैं । अतः मैं उन वानरश्रेष्ठ सुग्रीव को देखने के लिये शीघ्र ही चलूँगा ॥ ८ ॥

तदधीनं हि मे सौम्य सीतायाः परिमार्गणम् ।
एवं ब्रुवाणं तं धीरं रामं सौमित्रिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे सौम्य ! क्योंकि सीता जी को खोजना उसीके अधीन है। इस प्रकार कहते हुए वीर श्रीरामचन्द्र से लक्ष्मण जी बोले ॥ ९ ॥

गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः।
आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशांपतिः ॥ १० ॥

हां, वहाँ शीघ्र ही पहुँचना चाहिये। मेरा मन भी वहाँ पहुँचने के लिये जल्दी कर रहा है। यह सुन पृथ्वीश्वर दोनों भाई उस मातङ्गाश्रम से रवाना हुए ॥ १० ॥

आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सहप्रभुः* ।
स ददर्श ततः पुण्याम्[1]उदारजनसेविताम् ॥ ११ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी पम्पा के तट पर पहुँचे और उन्होंने उस झील को देखा जिसके तट पर तपस्या करने वाले ऋषि मुनि रहा करते थे ॥ ११ ॥

नलादुमलताबीर्णां पम्पां पानीयवाहिनीम्[2] ।
पद्मैः सौगन्धिकैः[3]रक्तां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ॥ १२ ॥

पम्पा नाम की झील के चारों ओर सघन वृक्ष और लताएँ लगी हुई थीं और इसका जल पीने में शीतल और स्वादिष्ट था। उसमें लाल लाल कमल और सफेद कुईं के फूल फूल रहे थे ॥ १२ ॥

नीलां कुवलयोद्घाटैर्बकुवर्णां[4] कुथामिव ।
स तामासाद्य वै रामो दूरादुदकवाहिनीम् ॥ १३ ॥

---

१ उदारजनाः—मुनिप्रभृतयः। (गो०) २ पानीयवाहिनीं—पानार्हशीतल स्वाद जलवतीमित्यर्थः। (गो०) ३ सौगन्धिकैः—कल्हारैः। (गो०) ४ कुवलयोद्घाटैः—कुवलयसमूहैः। (गो०) कुथा—चित्र कम्बलं। (गो०)

* पाठान्तरे—सहाभिभूः।

मतङ्गसरसं नाम ह्रदं समवगाहत ।
अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम् ॥ १४ ॥
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम् ।
तिलकैर्बीजपूरैश्च धवैः शुक्लद्रुमैस्तथा ॥ १५ ॥
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः ।
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भाण्डीरैर्निचुलैस्तथा ॥ १६ ॥
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ।
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १७ ॥

सरोवर में नीले रङ्ग के कमल के फूल भी थे। इन सफेद, लाल और नीले कमलों से ऐसा जान पड़ता था, मानों रङ्ग विरङ्गा कंवल बिछा हो। फिर श्रीरामचन्द्र जी मतङ्गसर नाम के कुण्ड पर गये। इस कुण्ड का जल उत्तम था और दूर से बह कर वह उसमें गिरता था। श्रीरामचन्द्र जी ने इस ; द में स्नान किये। ह्रद में खुशबू-दार लाल, नीले सफेद कमल खिले हुए थे। उसके चारोंओर पुष्पित आम का वन था और उस वन में मोर बोल रहे थे। तिलक, बीजपूरक, वट, लोध, फूली हुई कनैर और फूले हुए पुन्नाग, मालती, कुंद, गुल्म, भांडीर, निचुल, (हर्फारेवड़ी) अशोक, सप्तपर्ण, केतकि, नेमि आदि वृक्षों से वह वन शृङ्गार की हुई स्त्री की तरह भूषित देख पड़ता था ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

समीक्षमाणौ पुष्पाढ्यं सर्वतो विपुलद्रुमम् ।
कोयष्टिकैश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीचकैः ॥ १८ ॥

कोयष्टिका, अर्जुन, शतफ, लंबे बाँस आदि के वृक्ष उस वन में फूलों से लदे हुए, दोनों राजकुमारों ने देखे ॥ १८ ॥

एतैश्चान्यैश्च विहगैर्नादितं तु वनं महत् ।
ततो जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ सुसमाहितौ ॥ १९ ॥

इनके अतिरिक्त उस वन में और भी वृक्ष थे। वह महावन भाँति भाँति के पक्षियों की बोलियों से गूंज रहा था। दोनों पुरुष-श्रेष्ठ उस वन में अव्यग्र और सावधान हो विचरण करने लगे ॥ १९ ॥

तद्वनं चैव सरसः पश्यन्तौ शकुनैर्युतम् ।
स ददर्श ततः पम्पां शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥ २० ॥

उस वन को तथा उस सरोवर को जो पक्षियों से सेवित था-दोनों भाइयों ने भली भाँति घूम फिर कर देखा। तदनन्तर पवित्र शीतल जल के भण्डार पम्पा नामक सरोवर को देखा ॥२०॥

प्रहृष्टनानाशकुनां पादपैरुपशोभिताम् ।
स रामो विविधान्वृक्षान्सरांसि विविधानि च ॥ २१ ॥
पश्यन्कामाभिसन्तप्तो जगाम परमं[1] ह्रदम् ।
पुष्पितोपवनोपेतां साल्चम्पकशोभिताम् ॥ २२ ॥

वहाँ पर भाँति भाँति के पक्षी प्रसन्न हो बोल रहे थे और तरह तरह के वृक्षों से वह शोभित हो रहा था। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विविध वृक्षों और तालाबों को देखते और कामपीड़ित हो, पम्पा सरोवर पर पहुँचे। वह पम्पा सरोवर फूले हुए साल, चम्पा आदि वृक्षों से युक्त उपवनों से घिरी हुई थी ॥ २१॥ २२ ॥

रम्यो पवनसंबाधारम्य संपीडितोदकाम् ।
स्फटिकोपमतोयाढ्यां श्लक्ष्णवालुकसन्ततम् ॥ २३ ॥

परमंह्रदम् —पंम्पाख्यसरं । (गो०)

मनोहर वन उसके किनारे पर था वह कमलों से पूर्ण थी और उसका जल ऊपर से गिरने के कारण स्फटिक की तरह निर्मल था और उसकी सुन्दर चिकनी बालू थी ॥ २३ ॥

स तां दृष्ट्वा पुनः पम्पां पद्मसौगन्धिकैर्युताम् ।
इत्युवाच तदा वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः ॥ २४ ॥

तदनन्तर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने उस सुगन्धित कमल के फूलों से युक्त पम्पा सरोवर को पुनः देख लक्ष्मण से कहा ॥ २४ ॥

अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ।
ऋश्यमूक इति ख्यातः पुण्यः पुष्पितपादपः ॥ २५ ॥

इसीके किनारे कबन्ध का बतलाया और धातुओं से मण्डित एवं विख्यात ऋष्यमूक पर्वत जिस पर पवित्र पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं, अवस्थित है ॥ २५ ॥

हरेर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ।
अध्यास्ते तं महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः ॥ २६ ॥

महात्मा वानर ऋक्षराज के पुत्र महाबलवान् सुग्रीव उसी पर रहते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्र नरर्षभ ।
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमम् ॥ २७ ॥

सो हे नरश्रेष्ठ ! तुम वानरराज सुग्रीव के पास जाओ। यह कह, फिर श्रीरामचन्द्र जी सत्यपराक्रमी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ २७ ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तस्यामासक्तचेतसा ।
कथं मया विना शक्यं सीतां लक्ष्मण जीवितुम् ॥२८॥

हे लक्ष्मण ! मैं राज्य से भ्रष्ट दीन और सीतागतप्राण हो रहा हूँ । विना मेरे सीता क्योंकर जी सकेगी ॥ २८ ।

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्य मनन्यचेतसम्[1] ।
विवेश पम्पां नलिनीं[2] मनोहरां
रघूत्तमः शोकविषादयन्त्रितः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी काम से पीडित हो लक्ष्मण जी से, जो उनकी बात सुनने को सावधान थे इस प्रकार कह और शोक से पीडित हो, उस कमल से युक्त मनोहर पम्पासरोवर में स्नान करने के लिये घुसे ॥ २९ ॥

ततो महद्वर्त्म सुदूरसंक्रमः
क्रमेण गत्वा [3]प्रतिकूलधन्वनम् ।
ददर्श पम्पां शुभदर्शकानना-
मनेकनानाविधपक्षिजालकाम् ॥ ३० ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्ग ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्
अरण्यकाण्डः समाप्तः ॥

---

१ अनन्यचेतसं—स्ववाक्यश्रवणेसावधानं । (गो०) २ नलिनीं—सरसीं । (गो०) ३ प्रतिकूलधन्वनम्—पथिकजनप्रतिकूलभूतमरुकान्तारं कबन्धवनमित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, कबन्ध के अत्यन्त भयङ्कर वन को पार कर तथा बहुत दूर चल कर और रास्ते में अनेक दर्शनीय सुन्दर वनों से जो भाँति भाँति के पक्षियों से परिपूर्ण था, शोभित पम्पासरोवर को देखते हुए ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ ॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH, at the National Press, Allahabad.

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय कल्पकाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदात्त मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिकाय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

श्रृणुन्नारायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्बध्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यद्दासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

किष्किन्धाकाण्ड—५

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०.

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

विषय-सूची

किष्किन्धाकाण्ड

प्रथम सर्ग १–३०

कामोद्दीपन करने वाले रमणीय पम्पातीरवर्ती वनप्रदेश को देख कर, श्रीरामचन्द्र जी का वहाँ की शोभा वर्णन करने के मिस अपने हृदयस्थ शोक को लक्ष्मण के प्रति प्रकट करना। लक्ष्मण जी के वचनों से श्रीरामचन्द्र जी का शोक कम होना और पम्पातट से ऋष्यमूक की ओर प्रस्थान।

दूसरा सर्ग ३०–३६

सुग्रीव द्वारा ऋष्यमूक पर्वत के समीप घूमते फिरते हुए रामलक्ष्मण का देखा जाना। उनको देख और भयभीत हो सुग्रीव का वानरों के साथ कथोपकथन। तदनन्तर राम-लक्ष्मण के मन का भेद लेने के लिये भिक्षुक के रूप में हनुमान जी का, सुग्रीव की आज्ञा से प्रस्थान।

तीसरा सर्ग ३६–४६

प्रथम हनुमान जी का प्रशंसासूचक वचनों से श्रीराम-चन्द्र जी की स्तुति, पीछे यह कहना कि सुग्रीव आपके साथ मित्रता करना चाहते हैं। हनुमान जी की लच्छेदार बातचीत सुन श्रीरामचन्द्र जी का विस्मित होना और हनुमान जी की विद्याबुद्धि की बड़ाई करना। लक्ष्मण का हनुमान जी से कहना कि, हम भी सुग्रीव को ढूढ़ ही रहे थे।

चौथा सर्ग ४६–५४

लक्ष्मण का हनुमान जी को अपना समस्त वृत्तान्त सुनाना तथा यह भी कहना कि, कबन्ध ने कहा है कि, सीता के हरने वाले को सुग्रीव जानते हैं। अतः तुम उसके पास जाओ। तदनन्तर हनुमान जी का दोनों भाइयों को सुग्रीव के समीप ले जाना।

पाँचवा सर्ग ५४–६१

हनुमान जी का सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी का समस्त वृत्तान्त सुनाना। सुग्रीव और श्रीरामचद्र जी की, अग्नि को साक्षी कर, मैत्री होना और श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव को ढाँढस बँधाना।

छठवाँ सर्ग ६२–६७

सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र जी को रावण द्वारा सीता के हरे जाने का वृत्तान्त सुनाना और सीता द्वारा ऊपर से डाले हुए आभूषणों द्वारा अपने कथन का समर्थन करना। सीता के आभूषणों को देख श्रीरामचन्द्र जी का दुःखी होना।

सातवाँ सर्ग ६८–७३

आपस में एक दूसरे की सहायता करने के लिये श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव का वचनबद्ध होना और एक दूसरे को अपने अपने सुख दुःख की कथा सुनाना।

आठवाँ सर्ग ७४–८३

श्रीरामचन्द्र जी की बातों से सन्तुष्ट हो सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र जी से प्रेमालाप करना, फिर आँखों में आँसू भर वालि द्वारा अपने निकाले जाने का वृत्तान्त सुना के

फिर श्रीरामचन्द्र जी की अभयवाणी को सुन सुग्रीव का स्वस्थ हो कर, संक्षेप में वालि के साथ वैर बंधने के कारण का वर्णन।

नवाँ सर्ग ८४–८९

सुग्रीव द्वारा वालि के साथ उसके वैर बंधने का कारण विस्तार पूर्वक कहा जाना।

दसवाँ सर्ग ९०–९७

श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव को अभय प्रदान।

ग्यारहवाँ सर्ग ९७–११६

श्रीरामचन्द्र जी का बलाबल जानने के लिये सुग्रीव को वालि की वीरता का वृत्तान्त कहना, तदनन्तर सुग्रीव को विश्वास दिलाने के लिये श्रीरामचन्द्र जी का पैर के अंगूठे की ठोकर से दुन्दुभि राक्षस के पञ्जर को बड़ी दूर फेंक देना।

बारहवाँ सर्ग ११७–१२६

श्रीरामचन्द्र जी का एक ही बाण से सप्तसाल वृक्षों को भञ्जन करना, श्रीरामचन्द्र जी के भेजे हुए सुग्रीव का वालि के साथ घोर युद्ध छोड़ कर ऋष्यमूक पर भाग जाना। वहां श्रीरामचन्द्र जी के सामने सुग्रीव का दुखिया कर रोना, तब वालि के न मारने का कारण बतलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को आज्ञा देना कि सुग्रीव को गजपुष्पीलता की माला पहिना दो।

तेरहवाँ सर्ग १२६–१३२

वालिवध के लिये किष्किन्धा को ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का रास्ते में सप्तजनमुनि के आश्रम को देखना।

तब सुग्रीव का उन ऋषियों का माहात्म्य श्रीरामचन्द्र जी को सुनाना और श्रीरामचन्द्र जी का उन मुनिप्रवरों द्वारा पूजन किया जाना।

चौदहवाँ सर्ग १३२–१३७

श्रीरामचन्द्र जी की सहायता प्राप्त सुग्रीव का किष्किन्धा में गर्जना।

पन्द्रहवाँ सर्ग १३७–१४४

सुग्रीव का गर्जन तर्जन सुन और सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी की सहायता प्राप्त होने का अनुमान कर, तारा का अपने पति वालि को लड़ने से रोकना।

सोलवाँ सर्ग १४४–१५३

तारा के रोकने पर भी वालि का सुग्रीव के साथ लड़ने को जाना। वालि और सुग्रीव का युद्ध। श्रीरामचन्द्र जी द्वारा वालि का वध।

सत्रहवाँ सर्ग १५३–१६४

मरते हुए वालि का श्रीरामचन्द्र जी के प्रति कठोर वचन कहना।

अठारहवाँ सर्ग १६५–१८०

वालि के आरोपों का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा निराकरण किया जाना और अपने कर्म को युक्तियुक्त प्रतिपादन करना।

उन्नीसवाँ सर्ग १८०–१८६

श्रीरामचन्द्र जी के बाण से अपने पति के मारे जाने का हाल सुन तारा का विलाप करना।

बीसवाँ सर्ग १८६–१९२

शोककर्शिता तारा का विलाप सुन और अङ्गद को साथ ले अन्य वानरियों का रोना।

इक्कीसवाँ सर्ग १९३–१९७

दुःखार्ता तारा को हनुमान जी का धीरज बंधाना।

बाइसवाँ सर्ग १९७–२०४

मरणोन्मुख वालि द्वारा सुग्रीव को राज्य और अङ्गद का सौंपा जाना।

तेइसवाँ सर्ग २०४–२११

तारा का विलाप।

चौबीसवाँ सर्ग २११–२२६

वालि के मारे जाने के बाद सुग्रीव का पश्चात्ताप करना। रोती हुई एवं पति की तरह स्वयं भी मारे जाने की प्रार्थना करती हुई तारा को श्रीरामचन्द्र जी का धीरज बंधाना।

पच्चीसवाँ सर्ग २२६–२३८

श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से सुग्रीव, तारा, अङ्गदादि का दुःख दूर होना और उनके द्वारा वालि का दाहकर्मादि किया जाना।

छब्बीसवाँ सर्ग २३८–२४६

सुग्रीव का राज्याभिषेक और अङ्गद का युवराज बनाया जाना।

सत्ताइसवाँ सर्ग २४७–२५८

प्रस्रवणगिरि पर श्रीरामचन्द्र जी का वर्षा ऋतु बिताना और सीता जी का स्मरण करना। तब सीता के दुःख से

दुःखी श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण को समझा बुझा कर प्रोत्साहित करना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग २५८–२७७

वर्षाऋतु की शोभा का वर्णन।

उन्तीसवाँ सर्ग २७७–२८५

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति की हुई प्रतिज्ञा को भूल कर, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा में रत सुग्रीव को हनुमान जी का प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये प्रेरणा करना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी का काम पूरा करने के लिये, वानरी सेना एकत्र करने के लिये सुग्रीव का नील को आज्ञा देना।

तीसवाँ सर्ग २८६–३०९

शरद्ऋतु वर्णन और श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को सुग्रीव के पास याद दिलाने के लिये समझा बुझा कर भेजना।

इकतीसवाँ सर्ग ३१०–३२३

लक्ष्मण का किष्किन्धा में जाना और अङ्गद द्वारा सुग्रीव के पास अपने आगमन की सूचना भिजवाना।

बत्तीसवाँ सर्ग ३२३–३२८

हनुमान जी का सुग्रीव को सावधान करते हुए कहना कि तुम श्रीरामचन्द्र जी के किये उपकार को भूल कर अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो रहे हो।

तेतीसवाँ सर्ग ३२८–३४५

दुर्ग में आये हुए लक्ष्मण के धनुष की टंकार को सुन, सुग्रीव का भयभीत होना और तारा से बातचीत करना।

क्रोध में भरे लक्ष्मण को तारा का समझाना बुझाना और लक्ष्मण का सुग्रीव की राजसभा में प्रवेश करना।

चौंतीसवाँ सर्ग ३४६–३५०

लक्ष्मण का सुग्रीव को बहुत सा डराना धमकाना।

पैंतीसवाँ सर्ग ३५०–३५६

लक्ष्मण के प्रति तारा का सान्त्वनाप्रद सम्भाषण।

छत्तीसवाँ सर्ग ३५६–३६०

तारा की बातचीत से लक्ष्मण के क्रोध का शान्त होना और सुग्रीव से कहना कि, बस बहुत हुआ अब तुम मेरे साथ यहाँ से श्रीरामचन्द्र जी के पास चलो।

सैंतीसवाँ सर्ग ३६१–३६८

सुग्रीव की आज्ञा से हनुमान जी का समस्त वानरों को बुलाना।

अड़तीसवाँ सर्ग ३६९–३७६

लक्ष्मण जी के साथ पालकी में बैठ सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र के पास जाना।

उन्तालीसवाँ सर्ग ३७६–३८५

किष्किन्धा में समस्त मुख्य वानरों का अपने परिवारों के साथ समागम।

चालीसवाँ सर्ग ३८६–४०१

वानरों के आजाने पर; "ये सब वानर वीर आपके अधीन हैं आप इनको आज्ञा दें"—सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन करना। तब श्रीरामचन्द्रजी का कहना कि, तुमको मेरा कार्य मालूम है, अतः तुम्हीं इनको उचित

आज्ञा दो। तब सुग्रीव का भिन्न भिन्न वानरसमूहों को भिन्न भिन्न दिशाओं में जाने की आज्ञा देना।

इकतालीसवाँ सर्ग ४०१–४१२

सुग्रीव का, दक्षिण दिशा में विशेष पराक्रमी एवं बलवान हनुमान अङ्गदादि को जाने की आज्ञा देना।

ब्यालीसवाँ सर्ग ४१२–४२५

पश्चिम दिशा में सुषेण के अधीन वानरी सेना का भेजा जाना और पश्चिम दिशा में ढूढने योग्य स्थानों का सुग्रीव द्वारा सुषेण के प्रति वर्णन किया जाना।

तैतालीसवाँ सर्ग ४२५–४३९

उत्तर दिशा में वानर यूथपति शतबली को जाने की आज्ञा देना और वहाँ के मुख्य मुख्य स्थानों का वर्णन।

चौवालीसवाँ सर्ग ४३९–४४३

सुग्रीव द्वारा उत्साहित किये जाने पर हनुमान जी को उत्साहित देख एवं उनके द्वारा कार्य की सिद्धि होती जान, सीता जी को विश्वास कराने के लिये श्रीरामचन्द्र जी का हनुमान जी को अपनी नामाङ्कित अंगूठी का देना।

पैंतालीसवाँ सर्ग ४४३–४४७

सीतान्वेषण के लिये प्रस्थानोन्मुख वानर यूथपतियों द्वारा अपने अपने विक्रम का बखान किया जाना।

छियालीसवाँ सर्ग ४४७–४५३

सुग्रीव द्वारा वानरयूथपतियों को समस्त भूमण्डल का रत्ती रत्ती हाल बतलाये जाने पर और उसे सुन श्रीरामचन्द्र जीका विस्मित होना और सुग्रीव से पूछना कि,

तुमको इतना भूगोल क्यों कर विदित हुआ? उत्तर में सुग्रीव का कहना कि वालि से भयभीत हो मुझे अपने प्राण बचाने के लिये सारी पृथ्वी का पर्यटन करना पड़ा था, इससे मुझे पृथ्वी के समस्त स्थलों का वृत्तान्त अवगत है।

सैंतालीसवाँ सर्ग ४५३–४५६

पूर्व, उत्तर एवं पश्चिम दिशाओं में गये हुए विनतादि वानर यूथपतियों का सीता का पता पाये विना ही लौट कर आ जाना।

अड़तालीसवाँ सर्ग ४५६–४६१

कण्डू नामक किसी मुनि के शाप के प्रभाव से निर्जन, निर्जल और वृक्षशून्य वियावान में, सुरनिर्भय नामक एक असुर के साथ हनुमान अङ्गदादि का समागम। उसे रावण जान, अङ्गद द्वारा उसका वध। विन्ध्यपर्वत की गुफाओं घाटियों और उसके शिखरों को रत्ती रत्ती ढूढ़ने पर भी सीता का पता न चलने पर, वानरों का उत्साहभङ्ग होना।

उनचासवाँ सर्ग ४६२–४६६

तब अङ्गद के प्रोत्साहित करने पर वानरों का पुनः सीता की खोज के कार्य में प्रवृत्त होना और विन्ध्यगिरि के दक्षिण वाले वन में पहुँचना।

पचासवाँ सर्ग ४६७–४७६

विन्ध्यगिरि के दक्षिण भाग में घूमते फिरते वानरों का ऋक्षविल में प्रवेश और वहाँ एक तापसी से भेंट।

इक्यावनवाँ सर्ग ४७६–४८०

हनुमान जी का उस तापसी से उसका परिचय मांगना और उस अद्भुत विल का वृत्तान्त पूँछना और तापसी का समस्त वृत्तान्त बतलाना और अपना परिचय देना।

बावनवाँ सर्ग ४८१–४८५

श्रीहनुमान का परिचय पाकर तापसी स्वयंप्रभा का अत्यन्त हर्षित होना।

त्रेपनवाँ सर्ग ४८५–४९४

उस विल से बाहिर पहुँचा देने के लिये हनुमान जी का स्वयंप्रभा से प्रार्थना करना और धर्मचारिणी स्वयंप्रभा का उन सब को बात की बात में बाहिर पहुँचा देना। बाहिर पहुँच सीता का पता न लगा सकने और पता लगाने के काल की अवधि बीत जाने के कारण वानरों का अनशनव्रत धारण कर शरीर त्यागने के लिये तैयार होना।

चौवनवाँ सर्ग ४९४–५००

उत्साही हनुमान का अङ्गद को प्रायोपवेशन न करने के लिये समझाना बुझाना और प्रोत्साहित करना।

पचपनवाँ सर्ग ५००–५०५

हनुमान जी के समझाने बुझाने पर भी अन्य वानरों के साथ अङ्गद का प्रायोपवेशन करना। अङ्गद द्वारा सुग्रीव की निन्दा किया जाना।

छप्पनवाँ सर्ग ५०६–५०९

प्रायोपवेशनव्रत धारण किये हुए वानरों को देख वृद्ध सम्पाति का अनायास भोजन प्राप्त होने के लिये हर्षित

होना। अत्यन्त क्रूर शक्र के सम्पाति को देख चकित वानरों का दुःखी होना। दुःख प्रकट करते समय वानरों के मुख से अपने भाई जटायु की चर्चा सुन, सम्पाति का वानरों से प्रीतिपूर्वक बातचीत करना।

सत्तावनवाँ सर्ग ५१०–५१५

सम्पाति के पूँछने पर अङ्गद द्वारा जटायु की मृत्यु, श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त, सीता का हरण, वानरों के प्रायोपवेशनादि का विस्तार पूर्वक वृत्तान्त कहा जाना।

अट्ठावनवाँ सर्ग ५१६–५२४

अङ्गदादि को दीन दुःखी देख, सम्पाति द्वारा वानरों को सीता का पता बतलाया जाना। वानरों द्वारा सम्पाति के समुद्रतट पर ले जाये जाने पर, सम्पाति का जटायु के लिये जलाञ्जलि देना।

उनसठवाँ सर्ग ५२४–५३०

सम्पाति से जाम्बवान का यह पूँछना कि, आपको सीता के हरे जाने का पता क्यों कर मालूम है उत्तर में सम्पाति का यह बतलाना कि मुझे अपने पुत्र सुपार्श्व द्वारा यह हाल मालूम हुआ।

साठवाँ सर्ग ५३१–५३५

फिर सम्पाति का आत्मवृत्तान्त निरूपण करना और निशाकर मुनि के साथ सम्पाति की जो बातचीत हुई थी उसका वर्णन।

इकसठवाँ सर्ग ५३५–५३९

"वानरों के साथ समागम होने पर नये पर निकलेंगे"
—इसका वृत्तान्त सम्पाति द्वारा वानरों से कहा जाना।

बासठवाँ सर्ग ५३९–५४३

श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिये आये हुए वानरों के दर्शन होने पर तुम्हारे पुनः पंख निकलेंगे। निशाकर मुनि के इस वरदान का सम्पाति द्वारा वर्णन।

त्रेसठवाँ सर्ग ५४३–५४६

निशाकर मुनि के वरदानानुसार सम्पाति के नये पंखों का जमना। यह चमत्कार देख वानरों का द्विगुने उत्साह के साथ दक्षिण समुद्रतट पर उपस्थित होना।

चौंसठवाँ सर्ग ५४७–५५२

सागर को नाँघने के लिये सब वानरों का कोलाहल।

पैंसठवाँ सर्ग ५५२–५५९

वानर यूथपतियों का आपस में अपनी अपनी नाँघने की शक्ति का बतलाना।

छियासठवाँ सर्ग ५६०–५६८

जाम्बवान का हनुमान जी को प्रोत्साहित करना, हनुमान नाम की व्युत्पत्ति का वर्णन, हनुमान जी के शारीरिक बल का निरूपण, हनुमान जी के प्रभाव का वर्णन।

सरसठवाँ सर्ग ५६८–५७९

वानरों द्वारा हनुमान जी की स्तुति, हनुमान जी का अपना पराक्रम प्रकट करना, लङ्का जाने के लिये हनुमान जी का महेन्द्राचल पर्वत पर चढ़ना और उनका मनसा लङ्कागमन।

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यन्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरौ हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वसति वित्तां मन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यावादिद्वान्तदुर्वान्तनिर्धूपनविचक्षणः ।
जयतीर्थोऽयतरणिर्भावतां ना हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मनिरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

बाष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तद्गुणगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महात्याकरणाम्भोधिमन्थ्यमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये सूनरायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
सप्रसादनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:※:—

किष्किन्धाकाण्डः

स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलाम्[1] ।
रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ १ ॥

जब लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी कमलों और मछलियों से युक्त पम्पा नाम की परम मनोहर झील पर गये, तब वे सीता का स्मरण कर विकल हो गये और विलाप करने लगे ॥ १ ॥

तस्य दृष्ट्वैव तां हर्षादिन्द्रियाणि चकम्पिरे ।
स कामवशमापन्नः सौमित्रिमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

किन्तु जब उन्होंने पम्पा सरोवर को अच्छी तरह देखा, तब हर्ष में भर उनका शरीर काँप उठा और कामातुर हो वे लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ २ ॥

सौमित्रे शोभते पम्पा वैडूर्यविमलोदका ।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधैर्द्रुमैः ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, पन्ने की तरह हरे रंग और स्वच्छ जल वाली इस पम्पा सरोवर की कैसी शोभा हो रही है । इसमें तरह तरह

---

१ पद्मोत्पलझषाकुलां—कमलेन्दीवरमत्स्यै आकुलां । (गो०)

के कमल खिल रहे हैं और इसके चारों ओर खड़े नाना भांति के वृक्ष इसको सुशोभित कर रहे हैं ॥ ३ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम् ।
यत्र राजन्ति शैलाभा द्रुमाः सशिखरा इव ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, पम्पा के निकटवर्ती वनों में शृङ्गयुक्त पर्वत की तरह ऊँचे ऊँचे पेड़ शोभायमान हो रहे हैं ॥ ४ ॥

मां तु शोकाभिसन्तप्तं माधवः[1] पीडयन्निव ।
भरतस्य[2] च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च ॥ ५ ॥
शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना ।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥ ६ ॥

मुझ शोकसन्तप्त को वसन्त पीड़ा सी दे रहा है। एक तो भरत जी का अयोध्यापुरी के बाहिर नन्दिग्राम में रह कर व्रतोपवासादि कर दुःख सहन करना, दूसरा सीता का हरण। इनसे यद्यपि मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ; तथापि निर्विकार एवं शीतल जल वाली, अनेक प्रकार के पुष्पों से सुशोभित और विचित्र काननों से युक्त यह पम्पा झील मुझे शोभायुक्त मालूम पड़ती है ॥ ५ ॥ ६ ॥

नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थं शुभदर्शना ।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला ॥ ७ ॥

यह पम्पा झील कमल के फूलों से ढकी हुई होने से देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। इसके आस पास साँप अजगर घूमा

---

१ माधवो—वसन्तः । (गो०) २ भरतस्यदुःखेन—नगराद्बहिर्व्रतोपवासादि नियमकृतदुःखेन । (गो०)

करते हैं और वनैले मृग आदि पशु तथा पक्षी इसके तट पर सदा भरे रहते हैं ॥ ७ ॥

अधिकं प्रतिभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम् ।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमैरिवार्पितम् ॥ ८ ॥

यह झील नीले पीले तृणों से सुशोभित है और नाना प्रकार के पुष्पों वाले वृक्षों से जो हाथी को रंग बिरंगी झूल की तरह जान पड़ते हैं, कैसी शोभायमान हो रही है ॥ ८ ॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरनुगूढानि सर्वतः ॥ ९ ॥

देखो, ये वृक्ष जिनकी फुनगियां फूलों के बोझ से लदी हैं और जो स्वयं चारों ओर से फूली हुई लताओं से लिपटे हुए हैं, इस पम्पा झील की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ९ ॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः[२] ।
गन्धवान्[३] सुरभिर्मासो जातपुष्पफलद्रुमः ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, सुखदायक पवन सन् सन् करता बह रहा है । यह मधुमास कामोद्दीपक होने के कारण गर्वीला सा हो रहा है । इस ऋतु में वृक्ष, फूलों और फलों से भर जाते हैं ॥ १० ॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम् ।
सृजतां पुष्पवर्षाणि तोयं तोयमुचामिव ॥ ११ ॥

---

१ परिस्तोमैः कुथैः । (गो०) २ प्रचुरमन्मथः—कामोद्दीपकं । (रा०)
३ गन्धवान्—कामोद्दीपनेनगर्ववान् । (रा०) ४ सुरभिर्मासो—मधुमासः (रा०)

हे लक्ष्मण ! पुष्पित वृक्षों से युक्त वनों का रूप तो देखो। वन के ये वृक्ष ऐसी ही पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं, मानों बादल पानी की वर्षा कर रहे हों ॥ ११ ॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः ।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥ १२ ॥

सुन्दर पत्थरों के ऊपर उगे हुए नाना प्रकार के वृक्ष पवन के वेग से काँप कर पृथिवी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः ।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडन्निव समन्ततः ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु का वायु, इन पुष्पों के द्वारा जो कुछ गिरे और कुछ गिरने को हैं और कुछ वृक्षों ही में लगे हैं, कैसा चारों ओर खेल सा खेल रहा है ॥ १३ ॥

विक्षिपन्विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कचाः ।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥ १४ ॥

वायु चलने पर पुष्पों से लदी वृक्षों की शाखाओं के साथ फूल भी हिलने लगते हैं। फूलों के हिलने से उन पर बैठे हुए भौंरे फूलों को छोड़ गूंजने लगते हैं ॥ १४ ॥

मत्तकोकिलसन्नादैर्नर्तयन्निव पादपान् ।
शैलकन्दरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥ १५ ॥

देखो, पहाड़ की गुफाओं से निकल कर वायु वृक्षों को नचाता हुआ इन मतवाली कोयलों के द्वारा मानों मधुर गान कर रहा है ॥ १५ ॥

तेन विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः ।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः ॥ १६ ॥

पवन के चारों ओर से चलने पर वृक्षों की शाखाओं के परस्पर मिल जाने से ये वृक्ष माला की तरह गुथे हुए से जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

स एष सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः ।
गन्धमभ्यावहन्पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः ॥ १७ ॥

यह पवन सुखस्पर्श, चन्दन की तरह शीतल और शुद्ध गन्ध से युक्त हो, श्रम को दूर कर रहा है ॥ १७ ॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः ।
षट्पदैरनुकूजन्तो वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १८ ॥

मधुगन्ध युक्त वनों में वायु से प्रेरित यह वृक्षावली, भौंरों के गुंजार द्वारा मानों नाद कर रही है ॥ १८ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः ।
संसक्तशिखराः[1] शैला विराजन्ते महाद्रुमैः ॥ १९ ॥

पर्वतों के शिखरों पर उगे हुए सुन्दर पुष्पित वृक्षों की फुनगियों के आपस में मिल जाने से पर्वत की शोभा ऐसी हो रही है, मानों पुष्पों का ढेर शोभित हो ॥ १९ ॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः ।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥ २० ॥

---

१ संसक्त शिखराः—परस्परसंश्लिष्टाग्राः । (गो०)

वृक्षों की फुनगियां पुष्पों से ढक जाने से तथा उनके ऊपर भौंरे के गुंजार करने से और पवन के झोकों के लगने के कारण वृक्षों के हिलने से ऐसा जान पड़ता है, मानों पेड़ गा नाच रहे हैं ॥ २० ॥

पुष्पिताग्रांस्तु पश्येमान्कर्णिकारान्समन्ततः ।
हाटकप्रतिसंछन्नान्नरान्पीताम्बरानिव ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! चारों ओर खड़े इन फूले हुए कर्णिकार (कनेर) के पेड़ों को तो देखो । मानों सुवर्ण के आभूषण पहिने हुए और पीताम्बर धारण किये हुए मनुष्य खड़े हों ॥ २१ ॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः ।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसन्दीपनो मम ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु विविध प्रकार के पक्षियों से नादित हो, मेरे सीता-वियोग-जन्य शोक को बढ़ा रहा है ॥ २२ ॥

मां हि शोकसमाक्रान्तं सन्तापयति मन्मथः ।
हृष्टः प्रवदमानश्च मामाह्वयति कोकिलः ॥ २३ ॥

शोक से सन्तापित मुझको यह कामदेव और भी अधिक सन्तप्त कर रहा है और प्रसन्न हो कूकती हुई कोयल मानों मुझे ललकार रही है ॥ २३ ॥

एष नत्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे ।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥ २४ ॥

देखो लक्ष्मण ! जान पड़ता है कि, मनोरम वन के झरनों के तट पर बैठा हुआ जलकुक्कुट, हर्षित हो, अपने शब्द से मुझ कामातुर को विकल कर देगा ॥ २४ ॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया ।
मामाहूय प्रमुदिता परमं प्रत्यनन्दत ॥ २५ ॥

मेरी प्रिया सीता, आश्रम में इसकी बोली सुन और मुझको बुला कर अत्यानन्दित होती थी ॥ २५ ॥

एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः ।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति ततस्ततः ॥ २६ ॥

ये तरह तरह के अद्भुत पक्षी भाँति भाँति की बोलियाँ बोलते हुए चारों ओर से आ कर वृक्षों, गुल्मों और लताओं पर गिरते हैं ॥ २६ ॥

विमिश्रा विहगाः पुम्भिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! भाँति भाँति के (नर और मादा) पक्षियों के जोड़े अपने समुदायों में आनन्दित हो रहे हैं और देखो भृङ्गराज पक्षी प्रसन्न हो, कैसी प्यारी बोली बोल रहा है ॥ २७ ॥

तस्याः कूले प्रमुदिताः शकुनाः सङ्घशस्त्विह ।
नत्यूहरुतविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥ २८ ॥

देखो पम्पा के तट पर पक्षियों के समूह के समूह, दात्यूह पक्षी तथा नरकोयल की बोलियाँ सुन कैसे प्रसन्न हो रहे हैं ॥ २८ ॥

स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपनाः ।
अशोकस्तवकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः ॥ २९ ॥

देखो, ये सब पेड़ भी बोल रहे हैं । जिससे मेरा काम उत्तेजित होता है और गुंजार करते हुए भौंरों से भरा यह अशोक के

पुष्पों का गुच्छा मुझे दहकते हुए अंगार की तरह मालूम पड़ता है ॥ २९ ॥

मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।
न हि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥ ३० ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।
अयं हि दयितस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥ ३१ ॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु रूपी आग, जिसमें लाल लाल पत्ते रूपी ज्वाला उठ रही है, मुझे मानों भस्म कर डालेगी। उस कमलनयनी, सुकेशी और मधुरभाषिणी को देखे बिना मेरा जीना व्यर्थ है। क्योंकि मेरी प्यारी को यह ऋतु बहुत ही प्यारी लगती है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।
मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥ ३२ ॥
अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्न चिरादिव ।
अपश्यतस्तां दयितां पश्यतो रुचिरद्रुमान् ॥ ३३ ॥

हे दोषरहित ! यह समय जिसमें चारों ओर से कोयल की कुहू कुहू सुन पड़ती है मेरी प्रिया को बहुत पसन्द है। मदन की भय-जनित शोक रूपी आग, जो वसन्त के रमणीय गुणों से अधिक बढ़ रही है, मुझे थोड़ी ही देर में बहुत जल्द भस्म कर डालेगी। क्योंकि यह सुन्दर वृक्ष तो मुझे देख पड़ते हैं ; किन्तु प्यारी सीता मुझे नहीं देख पड़ती ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ममायमात्मप्रभवो[1] भूयस्त्व[2]मुपयास्यति ।
अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयते मम ॥ ३४ ॥

अतः कामदेव और भी बढ़ेगा। इस समय सीता का मेरे पास न होना मेरे शोक को अधिकाधिक बढ़ा रहा है ॥ ३४ ॥

दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।
मां ह्यद्य मृगशाबाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥ ३५ ॥

यह रति की थकावट दूर करने वाला वसन्त, मेरे सामने आ और उस मृगनयनी, चिन्तावती और शोकपूर्ण, के सामने न होने से मुझे बहुत दुःखी कर रहा है ॥ ३५ ॥

सन्तापयति सौमित्रे क्रूरश्चै[1]त्रो वनानिलः ।
अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥ ३६ ॥

स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।
शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्छिताः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मण ! यह चैत्र का क्रूर वन-वायु भी मुझे पीड़ित करता है। देखो ! ये मोर नाचते हुए इधर उधर शोभायमान हो रहे हैं। वायु से कम्पायमान इनके पंख ऐसी शोभा दे रहे हैं, मानों स्फटिक के बनाये हुए झरोखे हों। ये समस्त मोर अपनी मोरनियों से घिरे हुए उन्मत्त से हो रहे हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मन्मथाभिपरीतस्य[2] मम मन्मथवर्धनाः ।
पश्य लक्ष्मण नृत्यन्तं मयूरमुपनृत्यति ॥ ३८ ॥

---

१ आत्मप्रभवः—मन्मथः । (गो०) २ भूयस्त्वं—प्रवृद्धत्वं । (रा०)
अभिपरीतस्य—व्याप्तस्य । (रा०)

शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुषु ।
तामेव मनसा[1] रामां[2] मयूरोप्युपधावति ॥ ३९ ॥

ये मोर स्वयं कामदेव से व्याप्त हो मेरे काम को उत्तेजित कर रहे हैं। देखो लक्ष्मण ! इस पर्वत की चोटी पर मोर को नाचते देख कर, यह मोरनी कामदेव से पीड़ित हो, अपने पति के साथ नाच रही है और वह अपने पति के पास जाना चाहती है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव ।
मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥ ४० ॥

मोर अपने सुन्दर दोनों पंखों को फैला कर और प्यारी बोली बोल मानों मेरा उपहास करता है। इस मोर की मोरनी को कोई राक्षस पकड़ कर के नहीं ले गया ॥ ४० ॥

तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।
मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥

इसीसे तो यह इस रमणीय वन में अपनी प्यारी के साथ नाच रहा है। हे लक्ष्मण ! इस चैत्र मास में सीता के विना मेरा यहाँ रहना दुःसह है ॥ ४१ ॥

पश्य लक्ष्मण संरागं तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद्भर्तारं रमतेऽन्तिके ॥ ४२ ॥

---

१ मनसा उपधावीत—समीपमागन्तुमिच्छतीत्यर्थः । (गो०) २ रामां—कान्तां । (गो०)

हे लक्ष्मण ! पशु पक्षियों में भी प्रेमानुराग पाया जाता है। देखो, ये मोरनियां काम से पीड़ित हो मोरों के पास कैसी दौड़ी चली जाती हैं ॥ ४२ ॥

ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥ ४३ ॥

यदि मेरी उस विशालाक्षी जानकी को राक्षस हर कर न ले गया होता, तो वह भी कामपीड़ित हो, मेरे पास आने की इच्छा करती ॥ ४३ ॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये[1] ॥ ४४ ॥

देखो लक्ष्मण ! इस वसन्त ऋतु में वन के सब पुष्पित वृक्षों के फूल, मेरे लिये किसी काम के नहीं ॥ ४४ ॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं प्रधुकरोत्करैः ॥ ४५ ॥

वृक्षों के शोभारूपी ये फूल जो अत्यन्त सुन्दर हैं, भौरों के झुण्डों के साथ साथ पृथिवी पर गिर कर निष्फल हुए जाते हैं ॥ ४५ ॥

वदन्ति रावं मुदिताः शकुनाः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

ये पक्षियों के समूह हर्ष से चहकते और एक दूसरे को ललकारते मेरे काम की उन्मादावस्था की वृद्धि कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

---

१ शिशिरात्यये—वसन्ते (गो०)

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता साऽपि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

इस समय जहां मेरी प्यारी सीता होगी, यदि वहां भी वसन्त हुआ, तो वह भी परवश हो, मेरी तरह शोक कर विकल होती होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तोऽयं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत्सा मया विना ॥ ४८ ॥

निश्चय ही जहाँ पर सीता होगी वहां वसन्त ऋतु का नाम निशान भी न होगा । नहीं तो वह कमलनयनी मेरे विना वहां कैसे रह सकती थी ॥ ४८ ॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥४९॥

और यदि जहां पर मेरी प्यारी है वहां भी वसन्त ऋतु हुआ, तो वह सुश्रोणी दूसरों से डराई धमकाई जा कर, क्या करती होगी ॥ ४९ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुपूर्वाभिभाषिणी ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

श्यामा, कमलनयनी और मृदुभाषण करने वाली सीता इस वसन्त ऋतु के आने पर निश्चय ही अपने प्राण गँवा देगी ॥ ५० ॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्प्रति वर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥ ५१ ॥

इस समय इस बात का तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि, मेरे वियोग में सीता कभी जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

मयि भावस्तु[1] वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

क्योंकि मेरे मन में सीता का और सीता के मन में मेरा पूर्ण और यथार्थ अनुराग है ॥ ५२ ॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो[2] मम ॥ ५३ ॥

यह शीतल मन्द सुगन्ध वायु सीता के लिये चिन्तातुर, मुझको अग्नि की तरह सन्तापकारी है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकं वर्धयते मम ॥ ५४ ॥

जिस पवन को पहले मैं सीता के साथ रहते समय अत्यन्त सुखकारक मानता था, वही वायु इस समय सीता के विना मेरा शोक बढ़ा रहा है ॥ ५४ ॥

तां विना स विहङ्गो यः पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिनर्दति ॥ ५५ ॥

जब सीता जी पास थीं तब इस कौए ने आकाश में उड़ और कठोर बोली बोल, जानकी के वियोग की सूचना दी थी। इस समय यह पक्षी प्रसन्नता से उड़ कर वृक्ष पर बैठ फिर उनके (सीता के) मिलन को जता रहा है ॥ ५५ ॥

---

१ भावोऽनुरागः । (गो०) २ पावकप्रतिमा—सन्तापकर इत्यर्थः । (गो०)

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः ।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

मुझे मालूम पड़ता है कि, यह कौआ मुझे सीता का सन्देशा दे रहा है और यह मुझे उस विशालाक्षी के पास पहुँचावेगा ॥ ५६ ॥

शृणु लक्ष्मण सन्नादं वने मदविवर्धनम् ।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामुपकूजताम् ॥ ५७ ॥

लक्ष्मण सुनो ! इन फूली हुई वृक्षों की शाखाओं पर बैठे हुए पक्षियों का चहकना मेरी कामवासना को बढ़ा रहा है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम् ।
षट्पदः सहसाऽभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

देखो यह भौरा पवन चालित इस तिलक वृक्ष की लता पर कैसा शीघ्र जा कर मँडरा रहा है, मानों कोई मतवाला अपनी प्यारी के पास जाय ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।
स्तवकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

यह अशोक का पेड़ कामीजनों के शोक का बढ़ाने वाला है। यह पवन से कम्पित हो अपने पत्तों से मानों मुझको डरवाता हुआ खड़ा है ॥ ५९ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः ।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मण ! ये बौरे हुए आम के वृक्ष ऐसे देख पड़ते हैं, मानों अंगराग (चन्दनादि) को लगाये हुए कामोन्मत्त मनुष्य हों ॥ ६० ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु ।
किन्नरा नरशार्दूल विचरन्ति ततस्ततः ॥ ६१ ॥

हे लक्ष्मण ! इस पम्पासरोवर के तटवर्ती विचित्र वन में किन्नर लोग इधर उधर कैसे घूम फिर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥ ६२ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, इस समय पम्पासरोवर के जल में ये सुगन्ध युक्त कमल के फूल तरुण सूर्य्य की तरह कैसे चमचमा रहे हैं ॥६२॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता ।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकान्विता ॥ ६३ ॥

देखो यह पम्पा नाम की झील, भाँति भाँति के सुगन्ध युक्त कमल-पुष्पों से तथा हंस और कारण्डव पक्षियों से कैसी सुन्दर जान पड़ती है ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः पट्पदाहृतकेसरैः ।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥ ६४ ॥
चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा ।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

इस पम्पा के बग़ल वाले विचित्र वन, चक्रवाकों के झुण्डों से तथा पानी पीने के अभिलाषी मृगों और हाथियों के दलों से युक्त हो कर कैसे शोभित हो रहे हैं ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

पवनाहितवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि ।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो वायु के झोकों से उठी हुई लहरों के लहराने से यह कमल के फूल कैसे अच्छे मालूम देते हैं ॥ ६६ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं पङ्कजप्रियाम् ।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

कमलाक्षी जानकी को, जिसको कमल पुष्प अत्यन्त प्रिय हैं, न देखने से मुझे अपना जीवित रहना भी अच्छा नहीं जान पड़ता ॥ ६७ ॥

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम् ।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

हे लक्ष्मण ! ज़रा कामदेव की वामगति को तो देखो। जिसका वियोग हो चुका है और जिसका फिर मिलना भी अति दुर्लभ है, उसी शुभ वचन बोलनेवाली कल्याणी का, यह बार बार स्मरण कराती है ॥ ६८ ॥

शक्यो धारयितुं कामो भवेदद्यागतो[1] मया ।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात्पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

यदि पुष्पित वृक्षों वाला यह वसन्त मुझे न सतावे, तो मैं इस समय काम के वेग को भी रोक सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे ।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

देखो सीता के पास रहने पर मुझे जो पदार्थ प्रिय लगते थे वे उसके विना मुझे अब फीके जान पड़ते हैं ॥ ७० ॥

---

१ अद्यागतः—इदानीं वर्तमानः । (गो०)

पद्मकोशपलाशानि दृष्ट्वा दृष्टिर्हि मन्यते ।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरी निगाह में इन कमलपत्रों का बड़ा आदर है। क्योंकि ठीक ये सीता की आँखों के कोयों के समान देख पड़ते हैं ॥ ७१ ॥

पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिःसृतः ।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

कमल के फूलों की केसर की सुगन्धि से मिला हुआ और अन्य वृक्षों के बीच हो कर चलने वाला, यह मनोहर पवन सीता के निश्वास के तुल्य वह रहा है ॥ ७२ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुनि ।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं[1] परमशोभनाम् ॥ ७३ ॥

हे लक्ष्मण ! पम्पा की दक्षिण ओर देखो । वहाँ पर्वत-शिखर पर कर्णिकार की फूली हुई लताएँ कैसी मनोहर देख पड़ती है ॥ ७३ ॥

अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिः सुविभूषितः ।
विचित्रं सृजते रेणुं वायुवेगविघट्टितम् ॥ ७४ ॥

अनेक धातुओं से विभूषित यह पर्वतराज तेज़ वायु के चलने से कैसी विचित्र धूल उड़ा रहा है ॥ ७४ ॥

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः संप्रपुष्पितैः ।
निष्पत्रैः सर्वतो रम्यैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः ॥ ७५ ॥

---

१ यष्टिं—लतां । (गो०) ।

हे लक्ष्मण ! इस पर्वत के शिखर चारों ओर से फूले हुए तथा पत्तों से रहित टेसू के पेड़ों से युक्त ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पर्वत में आग लग गयी हो ॥ ७५ ॥

पम्पातीररुहाश्चेमे संसक्ता मधुगन्धिनः ।
मालतीमल्लिकाषण्डाः करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ७६ ॥
केतक्यः सिन्धुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः ।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥ ७७ ॥
चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला वकुलास्तथा ।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाः सुपुष्पिताः ॥ ७८ ॥
नीपाश्च वरणाश्चैव खर्जूराश्च सुपुष्पिताः ।
पद्मकाश्चोपशोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ॥ ७९ ॥
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः ।
अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च पूर्णकाः पारिभद्रकाः ॥ ८० ॥
चूताः पाटलयश्चैव कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
मुचुलिन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु ॥ ८१ ॥
केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशुपा धवाः ।
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरबकास्तथा ॥ ८२ ॥
तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्पन्दनास्तथा ।
पुष्पितान्पुष्पितग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान् ॥ ८३ ॥

पम्पा सरोवर के तरुवर पम्पा सरोवर ही के जल से सींचे हुए । मधुर गन्धयुक्त थे जुही, बिजौरा, नीबू, कुन्द के गुच्छे, चिलबिल, महुआ, बेंत, मौलसिरी, चंपा, तिलक, नागकेसर, पद्मक,

नीज, अशोक, लोध, अकोज, कोरैया, चूर्णक, मदार, आम, गुलाब, कचनार, मुचकुन्द, केवड़ा, जसोड़ा, सिरसा, सीसों, धव, सेमर, टेसू, लाल कौरैया, तिमिश, करञ्ज, चन्दन, स्यन्दन आदि के वृक्ष फूल रहे हैं और फूली हुई लताओं से युक्त है ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

द्रुमान्पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान्बहून् ।
वातविक्षिप्तविटपान्यथासन्नान्द्रुमानिमान् ॥ ८४ ॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः ।
पादपात्पादपं गच्छञ्शैलाच्छैलं वनाद्वनम् ॥ ८५ ॥
वाति नैकरसास्वादः सम्मोदित इवानिलः ।
केचित्पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥ ८६ ॥

हे लक्ष्मण ! पम्पा के तट पर इन अनेक सुन्दर पेड़ों को तो देखो । वायु के झोंको से इनकी डालियाँ कैसी हिल रही हैं और लताएँ भी इनको उसी प्रकार आलिङ्गन करती हैं, जिस प्रकार मद से मतवाली सुन्दरियाँ अपने पतियों को आलिङ्गन करती हैं । देखो यह पवन एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर और एक वन से दूसरे वन में जा कर और अनेक रसों का स्वाद ले कर, अत्यन्त आनन्दित सा घूम रहा है । किसी किसी पेड़ की डालियाँ अधिक पुष्पयुक्त होने के कारण बहुत अधिक महक दे रही हैं ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः ।
इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥ ८७ ॥
रागमत्तो मधुकरः कुसुमेष्ववलीयते ।
निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति ॥ ८८ ॥

कोई कोई पेड़ कलियों से युक्त श्याम वर्ण हो शोभायमान हो रहे हैं। ये फूल मीठे हैं, यह स्वादिष्ट हैं, यह फूल खिले हुए हैं—इस प्रकार समझ और अनुराग में भर भौरा उड़ उड़ कर फूलों पर बैठता है, और फिर वहाँ से उड़ कर सहसा अन्य वृक्ष पर जाता है ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ ।
इयं कुसुमसङ्घातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता ॥ ८९ ॥

मधु का लोभी भौरा इस प्रकार पम्पा-तीर-वर्ती वृक्षों पर मँडराता फिरता है। देखो तो इस भूमि पर कैसे फूल बिछे हैं। मानों सोने के लिये कोमल चटाई बिछी हो ॥ ८९ ॥

स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव ।
विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नगसानुषु ॥ ९० ॥
विकीर्णैः पीतरक्ता हि सौमित्रे प्रस्तराः कृतः ।
हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम् ॥ ९१ ॥
पुष्पमासे हि तरवः सङ्घर्षादिव पुष्पिताः
आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः ॥ ९२ ॥

ये फूल अपने आप गिरे हैं, किन्तु ऐसे गिरे हैं, मानों सोने के लिये सेज बिछी हो। इस पर्वत के शिखरों पर विविध रंग के पुष्पों से रंग बिरंगी चादर सी बिछी हुई है। हे लक्ष्मण! देखो हेमन्त ऋतु के बीतने पर फूलों की कैसी बाहुल्यता देख पड़ती है। मानों ये वृक्ष एक दूसरे की देखा देखी फूलों को उत्पन्न कर रहे हैं। ये पेड़ भौरों की गुंजार से मानों आपस में एक दूसरे को ललकार रहे हैं ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण ।
एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम् ॥ ९३ ॥

हे लक्ष्मण ! पुष्पों से लदे वृक्ष बहुत शोभायमान हो रहे हैं। यह कारण्डव पक्षी, इस विमल जल में डुबकी लगा, ॥ ९३ ॥

रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन्मम ।
मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेवं मनोहरम् ॥ ९४ ॥

अपनी मादा के साथ विहार करता हुआ, मानों मेरे कामदेव को उत्तेजित कर रहा है। इस पम्पा का मन्दाकिनी जैसा मनोहर रूप ठीक ही है ॥ ९४ ॥

स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः ।
यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि ॥ ९५ ॥
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम ।
न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह ॥ ९६ ॥
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत् ।
अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो रुचिरच्छदाः ॥ ९७ ॥

क्योंकि उसके मनोहर गुण तो जगजाहिर हैं। यदि वह पतिव्रता कहीं इस समय देख पड़ती, तो हे रघूत्तम ! अयोध्या की तो बात ही क्या, इन्द्रासन की भी मैं चाह न करता और इसी जगह वास करता। उसके साथ जब मैं इस हरित तृणमय देश में विहार करता, तब न तो मुझे किसी प्रकार की चिन्ता होती और न अन्य पदार्थों की मुझे आकांक्षा होती। देखो अनेक पुष्पों से शोभित और हरे हरे सुन्दर पत्तों से युक्त ये वृक्ष ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

काननेऽस्मिन्विना कान्तां चित्तमुन्मादयन्ति मे ।
पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम् ॥ ९८ ॥

चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ।
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां वराहमृगसेविताम् ॥ ९९ ॥

इस वन में प्यारी सीता के विना, मेरे चित्त को उन्मादित कर रहे हैं। हे लक्ष्मण! शीतल जल वाली कमलों से युक्त, चक्रवाकों से सेवित, कारण्डवों से सुशोभित, बत्तकों, जलमुरगावियों आदि जलपक्षियों से युक्त, सुअर, हिरन, सिंह आदि अन्य जन्तुओं से सेवित इस पम्पा झील को देखो ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहङ्गमैः ।
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः ॥ १०० ॥

इस पम्पा सरोवर की शोभा इन बोलते हुए पक्षियों से और भी अधिक बढ़ गई है। तरह तरह के प्रमुदित पक्षी मेरी काम-वासना को उत्तेजित करते हैं ॥ १०० ॥

श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ।
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान्मृगान् ॥ १०१

और पङ्कजनयनी, श्यामा और चन्द्रवदनी प्यारी सीता का स्मरण कराते हैं। देखो, इन विचित्र शिखरों पर ये हिरन हिरनियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ १०१ ॥

मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम् ।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥ १०२ ॥

और मृग-शावक-नयनी वैदेही के विरह में मुझको व्यथित करते हैं। ये मृगगण जो इधर उधर घूम रहे हैं, मेरे मन को दुःखी कर रहे हैं ॥ १०२ ॥

अस्मिन्सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणायुते।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम ॥ १०३ ॥

यदि मैं मतवाले पक्षियों से पूर्ण इस मनोहर शिखर पर उस प्राणप्यारी का दर्शन पाऊँ तो, मेरा जी ठिकाने हो अथवा मेरा मन स्वस्थ हो ॥ १०३ ॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा।
सेवते यदि वैदेही पम्पायाः पवनं सुखम् ॥ १०४ ॥

हे लक्ष्मण! यदि वह पतली कमर वाली जानकी मेरे साथ इस पम्पा के तट पर सुखदायी पवन सेवन करे, तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ ॥ १०४ ॥

पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम्।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पोपवनमारुतम् ॥ १०५ ॥

हे लक्ष्मण! वे लोग धन्य हैं जो कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त, पम्पासरोवर के तट के शोकहारी वायु का सेवन करते हैं ॥ १०५ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया।
कथं धारयति प्राणान्विवशा जनकात्मजा ॥ १०६ ॥

वह श्यामा, कमलनयनी जनककुमारी सीता मेरे वियोग में विवश हो, प्राण धारण करने में कैसे समर्थ होगी? ॥ १०६ ॥

किंनु वक्ष्यामि राजानं धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ।
सीताया जनकं पृष्टः कुशलं जनसंसदि ॥ १०७ ॥

अब मैं इस धर्मज्ञ, और सत्यवादी राजा जनक को जब वे सब के सामने, सीता का कुशल मुझसे पूंछेंगे, क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १०७ ॥

या मामनुगता मन्दं[1] पित्रा प्रवाजितं वनम् ।
सीता सत्पथ[2]मास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥१०८॥

मैं बड़ा अभागा हूँ । जब पिता जी ने मुझे वन में भेजा, तब सीता मेरे साथ आई । हा ऐसी पतिव्रता प्यारी सीता इस समय न मालूम कहाँ होगी ? ॥ १०८ ॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।
या मामनुगता राज्याद्भ्रष्टं विगतचेतसम्[3] ॥ १०९ ॥

हे लक्ष्मण ! राज्य से रहित होने पर मुझ विकल हृदय के साथ जो सीता यहां आई थी, उसके विना इस समय मैं दीन हो कर क्यों कर जीवित बना रहूँ ? ॥ १०९ ॥

तच्चारुश्चितपक्ष्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मनो मम ॥ ११० ॥

इस समय सुन्दर कमल जैसे नेत्रों से भूषित, सुगन्धयुक्त और व्रणरहित प्यारी के मुख को देखे विना मेरा मन विकल हो रहा है ॥ ११० ॥

---

१ मन्दं—भाग्यरहितं । (गो०) २ सत्पथं—पतिव्रतामार्गं । (गो०)
३ विगतचेतसं—विकलहृदयं । (गो०)

स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥ १११ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सीता के वे अनुपम वाक्य कब सुनूँगा जो हास्य युक्त गुणों से युक्त, सुनने में मधुर और परिणाम में हितकारी होते हैं ॥१११ ॥

प्राप्य दुःखं वने श्यामा सा मां मन्मथकर्शितम् ।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी साध्वभ्यभाषत ॥ ११२ ॥

वह श्यामा वन में कष्ट सह कर भी, मुझे कामपीड़ित देख, दुःख रहित की तरह हर्षित हो, मनोहर वचन बोला करती थी ॥ ११२ ॥

किंनु वक्ष्यामि कौसल्यामयोध्यायां नृपात्मज ।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चातिमनस्विनीम् ॥ ११३ ॥

हे राजपुत्र ! मैं अयोध्या में लौट कर, माता कौशल्या को, जब वह मुझ से पूँछेगी कि, मेरी पुत्रवधू सीता कहाँ है, तब क्या उत्तर दूँगा ॥ ११३ ॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
न ह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥ ११४ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम अयोध्या को लौट जाओ और भ्रातृवत्सल भरत से मिलो । मैं तो अब सीता के विना न जीऊँगा ॥ ११४ ॥

इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाथवत् ।
उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम्[1] ॥ ११५ ॥

---

१ युक्तमव्ययम्—युक्तिभिरविनाश्यं । (गो०)

इस प्रकार अनाथ की तरह श्रीरामचन्द्र को विलाप करते देख, लक्ष्मण ने युक्ति से खण्डन न करने योग्य वचन कहे ॥ ११५ ॥

संस्तम्भ राम भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम ।
नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥ ११६ ॥

हे राम ! धीरज रखो । तुम्हारा मङ्गल हो । तुम चिन्ता मत करो । हे पुरुषोत्तम ! तुम जैसे निर्मल बुद्धिवालों की बुद्धि ऐसा मन्द तो नहीं होनी चाहिये ॥ ११६ ॥

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने ।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद्वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥ ११७ ॥

आप विरहजन्य दुःख को स्मरण कर, प्रियजनों के प्रति स्नेह को त्याग दीजिये । क्योंकि देखिये, अत्यन्त स्नेहयुक्त (तेल में पड़ने से) गीली वत्ती भी जल जाती है ॥ ११७ ॥

[1]यदि गच्छति पातालं ततो ह्यधिकमेव वा ।
सर्वथा रावणस्तावन्न भविष्यति राघव ॥ ११८ ॥

हे राघव ! रावण चाहे तो पाताल में अथवा पाताल से भी बढ़ कर किसी अन्य गुप्तस्थान में जा छिपे, पर वह बच नहीं सकता—वह मारा तो अवश्य ही जायगा ॥ ११८ ॥

प्रवृत्ति[1]र्लभ्यतां तावत्तस्य पापस्य रक्षसः ।
ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥ ११९ ॥

प्रथम तो उस पापी राक्षस का वृत्तान्त जानना चाहिये । तदनन्तर या तो वह सीता को स्वयं छोड़ ही देगा अथवा मारा ही जायगा ॥ ११९ ॥

---

१ प्रवृत्तिः—वार्ता । (गो०)

यदि यात्यदितेर्गर्भं रावणः सह सीतया ।
तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद्दास्यति मैथिलीम् ॥ १२० ॥

यदि रावण सीता सहित दिति के गर्भ में जा छिपे और सीता को न दे तो मैं वहाँ भी उसका वध करूँगा ॥ १२० ॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः ।
अर्थो हि नष्टकार्यार्थैर्नायत्नेनाधिगम्यते ॥ १२१ ॥

इस लिये हे भाई ! आप अपना चित्त ठिकाने कीजिये । इस दैन्य को त्याग दीजिये । क्योंकि खोई हुई वस्तु विना प्रयत्न किये नहीं मिलती ॥ १२१ ॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम् ।
सोत्साहस्यास्ति लोकेऽस्मिन्न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥१२२

हे भाई ! उत्साह बड़ा बलवान होता है । क्योंकि उत्साह से बढ़ कर दूसरा कोई बल ही नहीं है । जो उत्साही लोग हैं, उनके लिये इस संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ १२२ ॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
उत्साहमात्रमाश्रित्य सीतां प्रतिलभेमहि ॥ १२३ ॥

उत्साही जन किसी भी कार्य के करने में नहीं घबड़ाते । अतः हम भी केवल उत्साह ही से जानकी को प्राप्त करेंगे ॥ १२३ ॥

त्यज्यतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः ।
महात्मानं कृतात्मानमात्मानं नावबुध्यसे ॥ १२४ ॥

आप महात्मा और कृतविद्य हो कर भी अपने स्वरूप को क्यों नहीं चीन्हते ? आप शोक को, त्याग कर कामी जनों जैसी इस वृत्ति को पीठ पीछे फैंकिये, अर्थात् त्याग दीजिये ॥ १२४ ॥

एवं संबोधितस्तत्र शोकोपहतचेतनः ।
न्यस्य शोकं च मोहं च ततो धैर्यमुपागमत् ॥ १२५ ॥

जब लक्ष्मण जी ने शोक से विकल श्रीरामचन्द्र जी को इस प्रकार समझाया, तब श्रीरामचन्द्र जी ने शोक और मोह को त्याग धैर्य धारण किया ॥ १२५ ॥

सोऽभ्यतिक्रामदव्यग्रस्तामचिन्त्यपराक्रमः ।
रामः पम्पां सुरुचिरां रम्यपारिप्लवद्रुमाम्[1] ॥ १२६ ॥

तदनन्तर अचिन्त्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अव्यग्र चित्त से हिलते हुए वृक्षों से युक्त उस अत्यन्त मनोहर पम्पासर को घूम घूम कर देखने लगे ॥ १२६ ॥

निरीक्षमाणः सहसा महात्मा
सर्वं वनं निर्झरकन्दरांश्च ।
उद्विग्नचेताः सह लक्ष्मणेन
विचार्य दुःखोपहतः प्रतस्थे ॥ १२७ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी वनस्थली, झरने व गुफाओं को देखते हुए लक्ष्मण सहित उद्विग्न और दुःखित थे, तथापि (मन ही मन) विचार करते हुए चले जाते थे ॥ १२७ ॥

तं मत्तमातङ्गविलासगामी
गच्छन्तमव्यग्रमना महात्मा ।
स लक्ष्मणो राघवमप्रमत्तो
ररक्ष धर्मेण बलेन चैव ॥ १२८ ॥

---

1 पारिप्लवद्रुमाम्—चञ्चलद्रुमां । (गो०)

मतवाले हाथी की तरह चलने वाले, अव्यग्रमना, महात्मा लक्ष्मण जी, श्रीरामचन्द्र जी की धर्म से और बल से भी सावधानतापूर्वक रक्षा करते जाते थे ॥ १२८ ॥

तादृश्यमूकस्य समीपचारी
चरन्ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ ।
शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी
वितत्रसे नैव चिचेष्ट किञ्चित् ॥ १२९ ॥

ऋष्यमूक पर्वत के समीप वालि के भय से विचरने वाले और बड़े वेगवान् वानरराज सुग्रीव उन दोनों भाइयों के अद्भुत रूप के दर्शन कर, भयभीत हो कुछ निश्चेष्ट हो गये ॥ १२९ ॥

स तौ महात्मा गजमन्दगामी
शाखामृगस्तत्र चिरं चरन्तौ ।
दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम
चिन्तापरीतो भयभारमग्नः ॥ १३० ॥

सुग्रीव वहाँ बहुत देर से घूमता ही था कि, इतने में गज की तरह मन्द गमन करने वाले दोनों राजकुमारों को देख वह बहुत दुःखी हुआ और चिन्ता के मारे विकल हो बहुत डर गया ॥ १३० ॥

तमाश्रमं पुण्यसुखं शरण्यं
सदैव शाखामृगसेवितान्तम् ।
त्रस्ताश्च दृष्ट्वा हरयोऽभिजग्मुः
महौजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ १३१ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

महापराक्रमशाली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को देख और डर कर वहाँ के बन्दर उस पवित्र, सुखदायी और सुरक्षित तथा वानरों से सेवित आश्रम को छोड़ भाग गये ॥ १३१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पहिला सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वितीयः सर्गः

—※—

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत् ॥ १ ॥

वीर और अति उत्तम आयुधधारी दोनों भाई महात्मा श्रीराम लक्ष्मण को देख वानरराज सुग्रीव भयभीत हुए ॥ १ ॥

उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन्।
न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिदेशे वानरपुङ्गवः ॥ २ ॥

और उद्विग्न हो सब दिशाओं को देखते हुए वानरश्रेष्ठ सुग्रीव एक स्थान पर न टिक सके ॥ २ ॥

नैव चक्रे मनः स्थातुं वीक्षमाणो महाबलौ।
कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह ॥ ३ ॥

उन महाबली दोनों वीरों को देख कर, सुग्रीव ने वहाँ ठहरने की इच्छा न की, उन परमत्रस्त कपिश्रेष्ठ का मन अत्यन्त विषाद को प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥

चिन्तयित्वा[1] स धर्मात्मा विमृश्य गुरुलाघवम्[2] ।
सुग्रीवः परमोद्विग्नः सर्वैरनुचरैः सह ॥ ४ ॥

वे धर्मात्मा कपिराज सुग्रीव वालि को स्मरण कर और उनके बल का आधिक्य और अपने बल का अल्पत्व विचार कर, अपने अनुचरों सहित बहुत घबड़ाये ॥ ४ ॥

ततः स सचिवेभ्यस्तु सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
शशंस परमोद्विग्नः पश्यंस्तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव, राम लक्ष्मण को देखने के कारण घबड़ा कर अपने मंत्रियों से बोले ॥ ५ ॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ ध्रुवम् ।
छद्मना चीरवसनौ प्रचरन्ताविहागतौ ॥ ६ ॥

ये दोनों अवश्य वालि के भेजे हुए हैं और कपटाचार से चीर वस्त्र धारण कर इस दुर्गम वन में घूमते फिरते यहाँ आये हैं ॥ ६ ॥

ततः सुग्रीवसचिवा दृष्ट्वा परमधन्विनौ ।
जग्मुर्गिरितटात्तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम् ॥ ७ ॥

धनुषधारी राम लक्ष्मण को देख सुग्रीव के सचिव पम्पा सरोवर के उस तट को छोड़ उस पहाड़ के अन्य ऊँचे शिखर पर चले गये ॥ ७ ॥

ते क्षिप्रमधिगम्याथ यूथपा यूथपर्षभम् ।
हरयो वानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे ॥ ८ ॥

---

१ चिन्तयित्वा वालिबलं संस्मृत्य । (शि०) २ गुरुलाघवम्—तद्बलस्य गुरुत्वं स्वबलस्य लघुत्वं । (रा०)

उनमें से बड़े बड़े यूथों के यूथपति वानर शीघ्रता से वानर-श्रेष्ठ सुग्रीव के पास जा उनको घेर कर खड़े हो गये ॥ ८ ॥

एकमेकायनगताः प्लवमाना गिरेर्गिरिम् ।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराण्यपि ॥ ९ ॥

एक एक कर वे सब एकत्र हो और पर्वतशिखरों को हिलाते हुए एक पर्वत से कूद कर दूसरे पर्वत पर जाने लगे। अर्थात् कूद फांद करने लगे ॥ ९ ॥

ततः शाखामृगाः सर्वे प्लवमाना महाबलाः ।
बभञ्जुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान्दुर्गसंश्रितान् ॥ १० ॥

अनन्तर वे बड़े बड़े बली कपि उस पर्वत पर उगे हुए बड़े बड़े पेड़ों की पुष्पित डालियों को तोड़ तोड़ कर गिराने लगे ॥ १० ॥

आप्लवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम् ।
मृगमार्जारशार्दूलांस्त्रासयन्तो ययुस्तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर वे बड़े बली वानर उस महापर्वत के समस्त स्थानों में बसने वाले मृग, वनबिलाव, शार्दूलादिकों को भयभीत कर कूद फांद कर जाने लगे ॥ ११ ॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रं समाश्रिताः ।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ १२ ॥

फिर सुग्रीव के मुख्य मुख्य मंत्री सुग्रीव के सामने जा हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

ततस्तं भयसंविग्नं वालिकिल्विषशङ्कितम् ।
उवाच हनुमान्वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः ॥ १३ ॥

तब बातचीत करने में चतुर हनुमान जी वालि के डर से अनिष्ट की शङ्का कर के भयभीत हुए, सुग्रीव से बोले ॥ १३ ॥

सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान् ।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः ॥ १४ ॥
यस्मादुद्विग्नचेतास्त्वं प्रद्रुतो हरिपुङ्गव ।
तं क्रूरदर्शनं क्रूरं नेह पश्यामि वालिनम् ॥ १५ ॥

वालि के डर से कोई वानर भयभीत न हो, क्योंकि यह पर्वत श्रेष्ठ मलयाचल है। यहाँ पर वालि के भय की सम्भावना भी नहीं है फिर जिस कारण से तुम लोग घबड़ा कर भागे हो वह क्रूर दर्शन और क्रूरस्वभाव वालि भी तो मुझे यहां नहीं देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

यस्मात्तव भयं सौम्य पूर्वजात्पापकर्मणः ।
स नेह वाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम् ॥ १६ ॥

हे सौम्य ! जिस पापी बड़े भाई से तुम डरते हो, वह दुष्टात्मा वालि मुझे यहां नहीं देख पड़ता ॥ १६ ॥

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम ।
लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ ॥ १७ ॥

हे वानरराज ! आश्चर्य्य है कि, आप अपना शाखामृगत्व स्पष्ट ही प्रदर्शित कर रहे हैं। आप चञ्चल स्वभाव वानर जाति के होने के कारण अपनी बुद्धि को स्थिर नहीं रख सकते और ज़रा ज़रा सी बातों से अपना जी छोटा कर लेते हैं ॥ १७ ॥

बुद्धि[1]विज्ञान[2]सम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर ।
न ह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥ १८ ॥

---

१ बुद्धिः सामान्यतोज्ञानं (गो०) २ विशेषतो ज्ञानं विज्ञानं (गो०)

सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान तथा सङ्केत द्वारा आपको अपने सब काम कर लेने चाहिये। क्योंकि बुद्धिहीन राजा सब प्राणियों का शासन नहीं कर सकता है ॥ १८ ॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः ।
ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह ॥ १९ ॥

सुग्रीव, हनुमान के यह शुभवचन सुन, उनसे अति हितकर वचन बोले ॥ १९ ॥

दीर्घबाहू विशालाक्षौ शरचापासिधारिणौ ।
कस्य न स्याद्भयं दृष्ट्वा ह्येतौ सुरसुतोपमौ ॥ २० ॥

हे हनुमन् ! दीर्घबाहु, विशाल चक्षु, तीर, कमान, और खड्ग धारण किये और देवपुत्रों के समान, इन दोनों को देख कर, किसको भय न सतावेगा ? ॥ २० ॥

वालिप्रणिहितावेतौ शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ ।
राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः ॥ २१ ॥

मुझे तो इन दोनों नरश्रेष्ठों को देख यही शङ्का होती है कि, ये दोनों निश्चय ही वालि के भेजे हुए हैं । क्योंकि राजाओं के बहुत मित्र हुआ करते हैं, अतः इन पर विश्वास न करना चाहिये ॥ २१ ॥

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छन्नचारिणः ।
विश्वस्तानामविश्वस्ता रन्ध्रेषु प्रहरन्ति हि ॥ २२ ॥

मनुष्य को चाहिये कि, वह कपट रूपधारी वैरियों को पहचाने । क्योंकि वे कपट रूपधारी विश्वास करने वालों पर स्वयं तो

विश्वास नहीं करते, किन्तु अवसर मिलने पर प्रहार करते हैं ॥ २२ ॥

कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शनाः ।
भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः ॥ २३ ॥

वालि ऐसे कामों में बड़ा चतुर है । क्योंकि राजा लोग बहुदर्शी और उपायों के जानने वाले हुआ करते हैं । वे अपने शत्रुओं का घात करने में बड़े उद्योगी होते हैं । अतः मुझ जैसे क्षुद्रजनों को उचित है कि, ऐसे मनुष्यों को पहचाने ॥ २३ ॥

तौ त्वया प्राकृतेनैव गत्वा ज्ञेयौ प्लवङ्गम ।
इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च ॥ २४ ॥
लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि ।
विश्वासयन्प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः ॥ २५ ॥

अतः हे हनुमन् ! तुम अपना प्राकृत वेष बना कर, उनके समीप जाओ और चेष्टाओं से, रूप (शक्ल) से और वार्तालाप से उनका भेद ले आओ । यदि वे प्रसन्न जान पड़ें तो उनकी बार बार प्रशंसा कर और चेष्टाओं से उनके मन में अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न कर लेना ॥ २४ ॥ २५ ॥

ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव ।
प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य धनुर्धरौ ॥ २६ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! तुम मेरी ओर मुख कर खड़े होना और उन दोनों से वन में आने का प्रयोजन पूँछना ॥ २६ ॥

शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम ।
व्याभाषितैर्वा विज्ञेया स्याद्दुष्टादुष्टता तयोः ॥ २७ ॥

हे वानर ! यदि उनका हृदय तुम्हें शुद्ध जान पड़े, तो तुम उनके रूपों से तथा बातचीत से उनके मन की दुष्टता अदुष्टता का पता लगा लेना ॥ २७ ॥

इत्येवं कपिराजेन सन्दिष्टो मारुतात्मजः ।
चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २८ ॥

जब इस प्रकार सुग्रीव ने मारुतात्मज हनुमानजी को आज्ञा दी, तब हनुमान जी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के निकट जाने को तैयार हुए ॥ २८ ॥

तथेति सम्पूज्य वचस्तु तस्य त-
त्कपेः सुभीमस्य दुरासदस्य च ।
महानुभावो हनुमान्ययौ तदा
स यत्र रामोतिबलश्च लक्ष्मणः ॥ २९ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

महानुभाव कपिश्रेष्ठ हनुमान, अतिभीत दुर्धर्ष सुग्रीव जी के वचन मान, जहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण थे, वहाँ को चले गये ॥ २९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का द्वितीय सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

तृतीयः सर्गः

—※—

वचो विज्ञाय हनुमान्सुग्रीवस्य महात्मनः ।
पर्वतादृश्यमूकात्तु पुप्लुवे यत्र राघवौ ॥ १ ॥

हनुमान, महात्मा सुग्रीव के वचन सुन ऋष्यमूक पर्वत से कूद कर श्रीराम और लक्ष्मण के निकट गये ॥ १ ॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः ।
भिक्षुरूपं[1] ततो भेजे शठबुद्धितया[2] कपिः ॥ २ ॥

जाते समय अपने छिपाने के लिये हनुमानजी ने वानर का रूप छोड़ संन्यासी का वेष धारण किया ॥ २ ॥

ततः स हनुमान्वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया ।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च ॥ ३ ॥
आवभाषे तदा वीरौ यथावत्प्रशशंस च ।
सम्पूज्य विधिवद्वीरो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ४ ॥

तदनन्तर हनुमानजी श्रीराम और लक्ष्मण के पास गये और नम्रता पूर्वक प्रणाम कर मधुर एवं मनोहर वाणी से उन दोनों की प्रशंसा करने लगे। उन दोनो वीरों की यथार्थ प्रशंसा कर, पवनतनय हनुमान जी ने, विधिपूर्वक उन दोनों की पूजा की ॥ ३ ॥ ४ ॥

उवाच कामतो[3] वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ ।
राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ ॥ ५ ॥

हनुमान जी ने सुग्रीव के आदेश के अविरुद्ध, अपनी इच्छानुसार उन सत्यपराक्रमी दोनों वीरों से मृदुभाव से कहा—आप राजर्षि सदृश, देवताओं के समान तपस्वी और कठोर व्रतधारी, हैं ॥ ५ ॥

---

१ भिक्षुरूपं—सन्यासि वेषं । (गो०) २—शठबुद्धितया—वञ्चकबुद्धितया । (गो०) ३ कामतः—सुग्रीवोपदेशाविरुद्धस्वेच्छातः । (रामानु०)

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ ।
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः ॥ ६ ॥

हे सुन्दरवर्णवालो ! आप लोग मृगों और अन्य वनचारियों को त्रस्त करते हुए, इस वन में क्यों आये हैं ? ॥ ६ ॥

पम्पातीरुहान्वृक्षान्वीक्षमाणौ समन्ततः ।
इमां नदीं शुभजवां शोभयन्तौ तपस्विनौ ॥ ७ ॥

आप लोग पम्पा के तटवर्ती वृक्षों को चारों ओर से देखते हुए इस पुण्य जल वाली नदी की शोभा को बढ़ा रहे हैं ॥ ७ ॥

धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः ॥ ८ ॥

आप धैर्यवान्, सुवर्ण की कान्ति के समान चीर पहिने हुए, बड़ी बाहों वाले और ऊँची स्वाँस लेते हुए कौन हैं, जो इन वनवासी प्रजाजनों को पीड़ा देते हैं ॥ ८ ॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ सिंहातिबलविक्रमौ ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुसूदनौ ॥ ९ ॥

आपकी चितवन सिंह के समान है । आप महाबलवान् और महापराक्रमी हैं । इन्द्रधनुष की तरह आप दोनों के धनुष देख कर जान पड़ता है कि, आप शत्रुओं का नाश कर देंगे ॥ ९ ॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ[1] ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ ॥ १० ॥

---

१ वृषभश्रेष्ठविक्रमौः—वृषभश्रेष्ठगमनौ । (गो०)

आप कान्तिमान्, सुस्वरूप, और साँड की तरह मस्तानी चाल चलने वाले हैं। आप हाथी की सूंड़ की तरह उतार चढ़ाव वाली लंबी भुजाओं वाले हैं। आप बुद्धिमान् और पुरुषों में श्रेष्ठ हैं ॥१०॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽयं युवयोरवभासितः।
राज्यार्हावमरप्रख्यौ कथं देशमिहागतौ ॥ ११ ॥

आप दोनों की प्रभा से यह पर्वत प्रकाशित हो रहा है और दोनों ही जन जो राज्य करने योग्य तथा देवतुल्य हैं, इस वन में क्यों आये हैं? ॥ ११ ॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ।
अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिवागतौ ॥ १२ ॥

आपके नेत्र कमल के सदृश हैं, आप वीर हैं और जटाजूट धारण किये हुए हैं। आप दोनों की मुखाकृति एक दूसरे से मिलती जुलती हुई सी है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानों आप दोनों देवलोक से यहाँ आये हैं ॥ १२ ॥

यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुन्धराम्।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि, मानों चन्द्रमा और सूर्य अपनी इच्छा से धराधाम पर अवतीर्ण हुए हों। आप दोनों जन ऊँचे वक्षःस्थलों से युक्त, मनुष्यों का रूप धारण किये हुए क्या कोई देवता हैं ॥ १३ ॥

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ[1]।
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः ॥ १४ ॥

---

१ समदाविवगोवृषौ—समदौहृष्टौगोवृषौ तरुणवृषभाविव। (रा०)

आप दोनों वीरों के कंधे सिंह के समान हैं। आप महाउत्साही और तरुण वृषभों की तरह हैं। आपकी भुजाएँ विशाल और गोल परिघाकार* देख पड़ती हैं॥ १४॥

सर्वभूषणभूषार्हौ किमर्थं न विभूषितौ।
उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम्॥ १५॥

आप समस्त आभूषण धारण करने योग्य हो कर भी भूषण क्यों धारण नहीं करते? मेरी समझ में तो आप दोनों ही पृथिवी की रक्षा करने योग्य हैं अर्थात् राजा होने योग्य हैं॥ १५॥

ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम्।
इमे च धनुषी चित्रे[1] श्लक्ष्णे चित्रानुलेपने[2]॥ १६॥

आप सागर, वन, विन्ध्याचल, मेरु पर्वत से विभूषित, इस समूची पृथिवी की रक्षा कर सकते हैं। आपके ये दोनों धनुष अद्भुत, चिकने और सुनहली कलई किये हुए हैं॥ १६॥

प्रकाशेते यथेन्द्रस्य वज्रे हेमविभूषिते।
सम्पूर्णा निशितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः॥ १७॥

और इन्द्र के हेमविभूषित वज्र की तरह शोभा दे रहे हैं। आप दोनों के तरकस भी पैने बाणों से परिपूर्ण हो, देखने में बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं॥ १७॥

जीवितान्तकरैर्घोरैः श्वसद्भिरिव पन्नगैः।
महाप्रमाणौ विस्तीर्णौ तप्तहाटकभूषितौ॥ १८॥

---

१ चित्रे—अद्भुतावहे। (गो०) २ चित्रानुलेपने—स्वर्णजलरूपणं यथोक्ते। (रा०)

* परिघ—एक प्रकार की गदा।

खड्गावेतौ विराजेते निर्मुक्ताविव पन्नगौ ।
एवं मां परिभाषन्तं कस्माद्वै नाभिभाषथः ॥ १९ ॥

आपके तरकसों के बाण फुसकारते हुए सर्प की तरह स्पर्श करते ही शत्रु के प्राणों का संहार करने वाले हैं। बड़े लंबे तथा चौड़े और सुनहली मूँठों वाले ये दोनों खड्ग कैंचुली छोड़े हुए सर्पों की तरह जड़ रहें (टकरा रहें) हैं। मैं आपसे इस प्रकार (सभ्यतापूर्वक) बातचीत करता हूँ; किन्तु इसका क्या कारण है जो आप मुझसे नहीं बोलते ॥ १८ ॥ १९ ॥

सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चिद्वानरयूथपः ।
वीरो विनिकृतो[1] भ्रात्रा जगद्भ्रमति दुःखितः ॥ २० ॥

सुग्रीव नामक धर्मात्मा और वीर कोई एक वानर है, जो वानरों का मुखिया है। वह अपने भाई द्वारा ठगा जा कर दुःखित हो सारे जगत में घूमता फिरता है ॥ २० ॥

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनूमान्नाम वानरः ॥ २१ ॥

मैं उसके वानरों में मुख्य हनुमान नामक वानर हूँ और उस वानरराज महात्मा सुग्रीव का भेजा हुआ आपके समीप आया हूँ ॥ २१ ॥

युवाभ्यां सह धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति ।
तस्य मां सचिवं विद्धि वानरं पवनात्मजम् ॥ २२ ॥

---

१ विनिकृतः—वञ्चितः । (गो०)

वे धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनों के साथ मैत्री करना चाहते हैं। मुझे आप पवन का पुत्र और सुग्रीव का मन्त्री जानिये ॥ २२ ॥

भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकाम्यया ।
ऋश्यमूकादिह प्राप्तं कामगं कामरूपिणम् ॥ २३ ॥

सुग्रीव की प्रीति के लिये (अर्थात् प्रसन्नता के लिये) मैंने संन्यासी का रूप धारण किया है। क्योंकि मैं यथेच्छाचारी और यथेच्छ रूप धारण करने वाला हूँ। मैं ऋष्यमूक पर्वत से यहाँ आया हूँ ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ ।
वाक्यज्ञौ वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ २४ ॥

वाक्यज्ञ और वीर श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से इस प्रकार कह, वाक्यकुशल हनुमान जी चुप हो गये और फिर कुछ न बोले ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रहृष्टवदनः श्रीमान्भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥ २५ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए और पास खड़े हुए लक्ष्मण जी से बोले ॥ २५ ॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमुपागतः ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण ! ये उन वानरराज महात्मा सुग्रीव के मन्त्री हैं जिनसे मैं स्वयं मिलना चाहता था। सो यह उनके मन्त्री स्वयं ही मेरे पास आये हैं ॥ २६ ॥

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दम ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! सुग्रीव के वाक्यविशारद सचिव और शत्रुओं का नाश करने वाले इन कपिश्रेष्ठ से तुम मधुर वाणी से नीति पूर्वक बातचीत करो ॥ २७ ॥

नानृग्वेदविनीतस्य[1] नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जिस प्रकार की बातचीत इन्होंने हमसे की है, वैसी बातचीत ऋग्वेद-यजुर्वेद और सामवेद के जाने विना, कोई कर नहीं सकता ॥ २८ ॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ २९ ॥

अवश्य ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण बहुधा सुना है । (अर्थात् पढ़ा है) क्योंकि इन्होंने इतनी बातें कहीं, किन्तु इनके मुख से एक भी बात अशुद्ध नहीं निकली ॥ २९ ॥

न मुखे नेत्रयोर्वाऽपि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च गात्रेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, प्रत्युत बोलते समय भी इनके नेत्र, ललाट, भौंहे तथा अन्य शरीर का कोई अवयव विकृति को प्राप्त नहीं हुआ ॥३०॥

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमद्रुतम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे ॥ ३१ ॥

---

१ विनीतस्य—शिक्षितस्य । (गो०)

इन्होंने अपने कथन को न तो अंधाधुंध बढ़ाया (जिसे सुनने से जी ऊब उठे) और न इतना संक्षिप्त ही किया कि, उसका भाव समझने में भ्रम उत्पन्न हो। अपने कथन को व्यक्त करते समय इन्होंने न तो शीघ्रता की और न विलम्ब ही किया। इनके कहे वचन हृदयस्थ और कण्ठगत हैं, (अर्थात् बनावटी नहीं है अथवा जो अक्षर जहाँ से उठना चाहिये उसे इन्होंने वहीं से उठाया है।) इनका स्वर भी मध्यम है ॥ ३१ ॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं[1] वाचं हृदयहारिणीम्[2] ॥ ३२ ॥

इनकी वाणी व्याकरण से संस्कारित क्रमसम्पन्न और न धीमी है और न तेज़ है। ये जो बातें करते हैं, वे मधुर और अन्य गुणों से युक्त होती हैं ॥ ३२ ॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥ ३३ ॥

छाती, कण्ठ, सिर—इन तीन स्थानों से निकली हुई, इनकी अद्भुत वाणी, हाथ में तलवार लिये (मारने को उद्यत) शत्रु के कठोर हृदय को भी पिघला देगी, औरों की तो बात ही क्या है ॥ ३३ ॥

एवंविधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु ।
सिध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥ ३४ ॥

हे लक्ष्मण! यदि इस प्रकार का दूत राजा के पास न रहे, तो राजाओं के कार्य क्यों कर सिद्ध हों? ॥ ३४ ॥

१—कल्याणीं—इतरगुणवतीं । (गो०) २ हृदयहारिणीम्—मधुरां । (गो०)

एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिध्यन्ति सर्वार्था दूतवाक्यमचोदिताः ॥ ३५ ॥

जिस राजा के पास ऐसे गुणवान् कार्य बनाने वाले दूत रहते हों, उस राजा के सब काम दूतों के वाक्यों ही से सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम् ॥ ३६ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी ने इस प्रकार कहा, तब वचन बोलने में चतुर लक्ष्मण ने पवनतनय एवं सुग्रीव के सचिव वाक्यज्ञ हनुमान जी से कहा ॥ ३६ ॥

विदिता नौ गुणा विद्वन्सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ॥ ३७ ॥

हे विद्वन् ! हम लोगों को महात्मा सुग्रीव के सब गुण विदित हैं । हम दोनों उन्हीं कपिराज सुग्रीव को ढूँढते फिरते हैं ॥ ३७ ॥

यथा ब्रवीषि हनुमन्सुग्रीववचनादिह ।
तत्तथा हि करिष्यावो वचनात्तव सत्तम ॥ ३८ ॥

हे हनुमन् ! सुग्रीव ने जो तुम्हारे द्वारा हमसे कहलाया है, हम लोग तदनुसार ही करेंगे ॥ ३८ ॥

तत्तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य
प्रहृष्टरूपः पवनात्मजः कपिः ।

मनः समाधाय जयोपपत्तौ
सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम् ॥ ३९ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

कपिश्रेष्ठ पवनतनय हनुमान जी लक्ष्मणजी के ये वचन सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और वालि को इनके द्वारा जीतने का मन में निश्चय कर, सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी की परस्पर मैत्री कराने की इच्छा करते हुए ॥ ३९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ

—*—

चतुर्थः सर्गः

—:०:—

ततः प्रहृष्टो हनुमान्कृत्यवानिति तद्वचः ।
श्रुत्वा मधुरसम्भाषं सुग्रीवं मनसा गतः ॥ १ ॥

हनुमान जी, श्रीलक्ष्मणजी के मधुर सम्भाषण को सुन, अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में सुग्रीव का मनोरथ सिद्ध हुआ जाना ॥ १ ॥

भव्यो राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
यदयं कृत्यवान्प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम् ॥ २ ॥

उन्होंने विचारा कि, सुग्रीव को पुनः राज्य की प्राप्ति होगी। क्योंकि सुग्रीव से इनका भी कुछ प्रयोजन जान पड़ता है और अपने काम के लिये ये स्वयं यहां आये हैं ॥ २ ॥

ततः परमसंहृष्टो हनुमान्प्लवगर्षभः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं रामं वाक्यविशारदः ॥ ३ ॥

तब तो वानरश्रेष्ठ हनुमान (यह विचार) परम प्रसन्न हुए और वचन बोलने में निपुण श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

किमर्थं त्वं वनं घोरं पम्पाकाननमण्डितम् ।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम् ॥ ४ ॥

हे राम ! पम्पासरोवर के तीरवर्ती वन से सुशोभित तथा भाँति भाँति के अजगरों और बाघ चीतों से भरे हुए वन में आप भाई के सहित किस लिये आये हैं ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो रामचोदितः ।
आचचक्षे महात्मानं रामं दशरथात्मजम् ॥ ५ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी के कहने से, हनुमान जी को दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५ ॥

राजा दशरथो नाम द्युतिमान्धर्मवत्सलः ।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभ्यपालयत् ॥ ६ ॥
न द्वेष्टा विद्यते तस्य न च स द्वेष्टि कञ्चन ।
स च सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः ॥ ७ ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः ।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ ८ ॥

हे हनुमन् ! दशरथ नाम के महाराज जो तेजस्वी, धर्मवत्सल, धर्मपूर्वक सदा चारों वर्णों को प्रजा का पालन करने वाले, शत्रु-

रहित, द्वेषशून्य, और प्राणि मात्र का दूसरे पितामह ब्रह्मा की तरह पालन करने वाले, और जो दक्षिणायुक्त अग्निष्टोमादि बहुत से यज्ञ करने वाले थे, उनके ये प्रथम पुत्र श्रीरामचन्द्र के नाम से लोगों में प्रसिद्ध हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

शरण्यः सर्वभूतानां पितुर्निर्देशपारगः ।
वीरो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवत्तमः ॥ ९ ॥

ये सब प्राणियों के रक्षक, पितृआज्ञा का पालन करने वाले, और दशरथ के सुपुत्रों में अत्यन्त गुणवान् हैं ॥ ९ ॥

राजलक्षणसम्पन्नः संयुक्तो राजसम्पदा ।
राज्याद्भ्रष्टो वने वस्तुं मया सार्धमिहागतः ॥ १० ॥

इनमें समस्त राजाओं के लक्षण विद्यमान हैं और यावत् राज्य सम्पत्ति वाले हैं। किन्तु राज्यभ्रष्ट हो कर मेरे साथ वन में रहने के लिये इस वन में आये हैं ॥ १० ॥

भार्यया च महातेजाः सीतयाऽनुगतो वशी ।
दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभा के सहित अस्ताचलगामी होते हैं, उसी प्रकार यह भी अपनी प्यारी पत्नी सीता के साथ यहां आये हैं ॥ ११ ॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः ।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः ॥ १२ ॥

मैं इनका छोटा भाई हूँ। ये कृतज्ञ और बहुज्ञ हैं। मैं इनके गुणों पर मोहित हो, इनकी सेवा किया करता हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है ॥ १२ ॥

सुखार्हस्य महार्हस्य[1] सर्वभूतहितात्मनः ।
ऐश्वर्येण च हीनस्य वनवासाश्रितस्य च ॥ १३ ॥

यह सुख भोगने और ऐश्वर्य सम्पन्न होने योग्य हैं तथा प्राणिमात्र के हितैषी हैं। किन्तु इस समय ऐश्वर्य से विहीन हो वनवास कर रहे हैं ॥ १३ ॥

रक्षसापहृता भार्या रहिते कामरूपिणा ।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी येनास्य सा हृता ॥ १४ ॥

हम लोगों की अनुपस्थिति में इनकी पत्नी को कामरूपी राक्षस हर ले गया है। जिस राक्षस ने उन्हें हरा है, उसको हमने अभी तक नहीं जान पाया ॥ १४ ॥

दनुर्नाम दितेः पुत्रः शापाद्राक्षसतां गतः ।
आख्यातस्तेन सुग्रीवः समर्थो वानरर्षभः ॥ १५ ॥

दनु नामक दिति के पुत्र ने जो शाप के कारण कबन्ध राक्षस हो गया था—हमें इस कार्य में सहायता देने की सामर्थ्य रखने वाले वानरोत्तम सुग्रीव का नाम बतलाया है ॥ १५ ॥

स ज्ञास्यति महावीर्यस्तव भार्यापहारिणम् ।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो गतः सुखम् ॥ १६ ॥

उसने हमसे कहा था कि, महाबलवान सुग्रीव तुम्हारी स्त्री के चुराने वाले को जानता है और वह बतला देगा। यह कह

---

१ महार्हस्य—ऐश्वर्यासम्पन्नस्य । (गो०)

कर वह दनु दिव्य रूप धारण कर सुखपूर्वक स्वर्ग को चला गया॥ १६ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः ।
अहं चैव हि रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ ॥ १७ ॥

हे हनुमन्! तुम्हारे पूँछने पर जो कुछ सच्चा सच्चा हाल था सो मैंने तुमको सुनाया। मैं और श्रीरामचन्द्र सुग्रीव के शरण में आये हैं ॥ १७ ॥

एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति ॥ १८ ॥

देखो, ये लोकों के नाथ, श्रीरामचन्द्र जी बहुत सा द्रव्य ब्राह्मणों को दे और बड़ा यश सम्पादन कर, इस समय सुग्रीव को अपना रक्षक बनाया चाहते हैं ॥ १८ ॥

पिता यस्य पुरा ह्यासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः ।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः ॥ १९ ॥

जो लोकों के शरण देने वाले और धर्मवत्सल महाराज दशरथ थे, उनके पुत्र ने रक्षक बनने योग्य सुग्रीव को अपना रक्षक बनाया है ॥ १९ ॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा ।
गुरुर्मे[1] राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः ॥ २० ॥

पहिले जो लोकों के स्वयं आश्रयदाता थे वे ही मेरे बड़े भाई धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को अपना आश्रयदाता या रक्षक बनाना चाहते हैं ॥ २० ॥

---

१ गुरुः—अग्रजः। (गो०)

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः ।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते ॥ २१ ॥

जिनके प्रसन्न होने पर यह प्रजा प्रसन्न होती थी, वे श्रीरामचन्द्र वानरराज सुग्रीव की अपने ऊपर प्रसन्नता चाहते हैं ॥ २१ ॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै ॥ २२ ॥
तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः ॥ २३ ॥

सर्वगुणों से युक्त राजाओं को जिन महाराज दशरथ ने सम्मानित किया था, उन्हींके जगत्प्रसिद्ध ज्येष्ठपुत्र श्रीरामचन्द्र जी वानरेन्द्र सुग्रीव के शरण में जाना चाहते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥

शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते ।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं हरियूथपः ॥ २४ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्यारी पत्नी के शोक से विकल हो, सुग्रीव के शरण में आये हैं, अतः वानरराज सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर कृपा करनी चाहिये ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं करुणं साश्रुलोचनम् ।
हनुमान्प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २५ ॥

जब इस प्रकार दीन भाव से और आँखों में आँसू भर लक्ष्मण जी ने कहा; तब वाक्यविशारद हनुमान जी उनसे बोले ॥ २५ ॥

ईदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार के बुद्धिमान् क्रोध शून्य और जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष से सुग्रीव को अवश्य भेंट करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे पुरुषों से भेंट बड़े भाग्य से होती है ॥ २६ ॥

स हि राज्यात्परिभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना ।
हृतदारो वने त्यक्तो भ्रात्रा विनिकृतो[1] भृशम् ॥ २७ ॥

सुग्रीव भी राज्य से भ्रष्ट हैं और वालि से शत्रुता हो जाने के कारण वे वालि द्वारा वञ्चित किये गये हैं और भयभीत हो वन में वास करते हैं। वालि ने उनकी स्त्री को भी छीन लिया है ॥ २७ ॥

करिष्यति स साहाय्यं युवयोर्भास्करात्मजः ।
सुग्रीवः सह चास्माभिः सीतायाः परिमार्गणे ॥ २८ ॥

वे सूर्यपुत्र सुग्रीव, सीता का पता लगाने में आपकी सहायता करेंगे और मैं स्वयं भी इस कार्य में हाथ बटाऊँगा ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमाञ्श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
बभाषे सोऽभिगच्छेम सुग्रीवमिति राघवम् ॥ २९ ॥

हनुमान जी इस प्रकार के सुमधुर और कोमल वचन कह श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर! आइये अब सुग्रीव के पास चलें ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवाणं धर्मात्मा हनुमन्तं स लक्ष्मणः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं[2] प्रोवाच राघवम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार कहते हुए हनुमान जी का महात्मा लक्ष्मण जी ने दूतानुरूप सन्मान किया। तदनन्तर वे श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३० ॥

---

१ विनिकृतः—वञ्चितः। (गो०) २ यथान्यायं—दूतानुरूपं। (गो०)

कपिः कथयते हृष्टो यथायं मारुतात्मजः ।
कृत्यवान्सोऽपि संप्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव ॥ ३१ ॥

हे राघव ! पवनतनय ने जो कुछ प्रसन्न हो कहा है, उस पर से यह जाना जाता है कि, सुग्रीव भी आप ही की तरह अर्थी हैं। अतः वह आपके कार्य में सहायता देगा ॥ ३१ ॥

प्रसन्नमुखवर्णश्च व्यक्तं हृष्टश्च भाषते ।
नानृतं वक्ष्यते धीरो हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥

धीर पवनतनय हनुमान जी जिस प्रकार हर्षित हो प्रसन्नमुख से बातचीत कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि, ये कभी झूठ नहीं बोलते ॥ ३२ ॥

ततः स तु महाप्राज्ञो हनुमान्मारुतात्मजः ।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर बड़े चतुर हनुमान जी दोनों भाइयों को सुग्रीव के पास ले चलने को तैयार हुए ॥ ३३ ॥

भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः ।
पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः ॥ ३४ ॥

उस समय उन्होंने संन्यासी का रूप त्याग कर, अपना असली वानर रूप धारण किया और दोनों राजकुमारों को अपनी पीठ पर चढ़ा उनको सुग्रीव के पास ले गये ॥ ३४ ॥

स तु विपुलयशाः कपिप्रवीरः
पवनसुतः कृतकृत्यवत्प्रहृष्टः ।

गिरिवरमुरुविक्रमः प्रयातः
सुशुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम् ॥ ३५ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

महायशस्वी वानरश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान, उसी प्रकार परम प्रसन्न हुए, जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने पर होता है। हनुमान जी श्रीराम और लक्ष्मण सहित उस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूक पर जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौथा सर्ग पूर्ण हुआ।

—※—

पञ्चमः सर्गः ॥

—※—

[जान पड़ता है श्री राम और लक्ष्मण को देख कर, भयभीत हो सुग्रीव मलय पर्वत के किसी सघन स्थान में जा छिपे थे। अतः हनुमानजी ऋष्यमूक पर श्रीराम और लक्ष्मण को छोड़ असली बात कहने को अकेले ही सुग्रीव के पास गये।]

ऋश्यमूकात्तु हनुमान्गत्वातु मलयं गिरिम्।
आचचक्षे तदा वीरौ कपिराजाय राघवौ ॥ १ ॥

हनुमानजी ऋष्यमूक पर्वत से मलयाचल पर जा, सुग्रीव से श्री राम और लक्ष्मण के आगमन का वृत्तान्त निवेदन कर, कहने लगे ॥ १ ॥

अयं रामो महाप्राज्ञः संप्राप्तो दृढविक्रमः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः ॥ २ ॥

हे महाप्राज्ञ ! यह दृढ़ और सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ आये हैं ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो रामो दशरथात्मजः ।
धर्मे निगदित[1]श्चैव पितुर्निर्देशपारगः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र इक्ष्वाकुकुलोद्भव महाराज दशरथ के पुत्र हैं और पितृआज्ञा पालनरूपी धर्मानुष्ठान में प्रसिद्ध हैं तथा पिता की आज्ञा के पालन करने वाले हैं ॥ ३ ॥

तस्यास्य वसतोऽरण्ये नियतस्य महात्मनः ।
रावणेन हृता भार्या स त्वां शरणमागतः ॥ ४ ॥

वन में वास करते हुए इन धर्मात्मा की भार्या को रावण हर ले गया है । अब ये आपकी शरण में आये हैं ॥ ४ ॥

राजसूयाश्वमेधैश्च वह्नियेनाभितर्पितः ।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः ॥ ५ ॥
तपसा सत्यवाक्येन वसुधा येन पालिता ।
स्त्रीहेतोस्तस्य पुत्रोऽयं रामस्त्वां शरणं गतः ॥ ६ ॥

जिन्होंने राजसूय और अश्वमेध यज्ञों को कर, अग्निदेव को तृप्त किया है और जिन्होंने बहुत सी दक्षिणा और सैकड़ों हज़ारों गायें ब्राह्मणों को दे डाली हैं तथा जिन्होंने बड़े परिश्रम से सत्यतापूर्वक पृथिवी का शासन किया है, उनके पुत्र ये श्रीरामचन्द्र राक्षस द्वारा हरी हुई स्त्री के पुनः प्राप्त करने के लिये आपके शरण में आये हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

---

१ निगदितः—प्रसिद्धः । (गो०)

भवता सख्यकामौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रतिगृह्यार्चयस्वैतौ पूजनीयतमावुभौ ॥ ७ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई पूज्य जनों में अग्रणी हैं और आपसे मित्रता करना चाहते हैं। अतः इनको ग्रहण कर इनका सत्कार कीजिये ॥ ७ ॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
भयं च राघवाद्घोरं प्रजहौ विगतज्वरः ॥ ८ ॥

हनुमान के ये वचन सुन, सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र को देख उनके मन में जो बड़ा भारी भय उत्पन्न हो गया था, वह दूर हुआ और उनकी चिन्ता दूर हुई ॥ ८ ॥

स कृत्वा मानुषं रूपं सुग्रीवः प्लवगर्षभः ।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्या प्रोवाच राघवम् ॥ ९ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने मनुष्य का रूप धारण कर और अत्यन्त दर्शनीय बन कर प्रीतिपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ९ ॥

भवान्धर्मविनीतश्च[1] विक्रान्तः सर्ववत्सलः ।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः ॥ १० ॥

आप धर्मज्ञ हैं, पराक्रमी हैं और सब पर कृपा करने वाले हैं। क्योंकि हनुमान जी ने आपके गुण यथार्थ रूप से कह सुनाये हैं ॥ १० ॥

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो ।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह ॥ ११ ॥

---

१ धर्मविनीतः—धर्मशिक्षितः । (रा०)

हे प्रभो! मैं जाति का वन्दर हूँ। मेरे साथ आपने जो मैत्री करनी चाही है सो यह आपने मुझको बड़ा सम्मान प्रदान किया है और इससे मुझे बड़ा लाभ है ॥ ११ ॥

रोचते यदि वा सख्यं वाहुरेष प्रसारितः ।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥ १२ ॥

यदि मेरे साथ मैत्री करना आपको पसन्द हो तो मैं अपना यह हाथ पसारता हूँ। आप इसे अपने हाथ से पकड़ कर मित्रता की मर्यादा स्थापित कीजिये ॥ १२ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम् ।
स प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥ १३ ॥

सुग्रीव के ये सुन्दर वचन सुन श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न मन से सुग्रीव का हाथ अपने हाथ से पकड़ा ॥ १३॥

हृद्यं सौहृदमालम्ब्य पर्यष्वजत पीडितम् ।
ततो हनूमान्सन्त्यज्य भिक्षुरूपमरिन्दमः ॥ १४ ॥

और फिर प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र ने सुग्रीव को भलीभाँति अपनी छाती से लगाया। इतने में हनुमान जी ने संन्यासि रूप त्याग कर ॥ १४ ॥

काष्ठयोः स्वेन[1] रूपेण जनयामास पावकम् ।
दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम् ॥ १५ ॥

और अपना वानर का रूप धारण कर दो अरणियों को मथ कर आग निकाली। फिर अग्निदेव का पुष्पादि से पूजन किया ॥ १५ ॥

---

१ स्वेनरूपेण—वानररूपेण । (गो०)

तयोर्मध्येऽथ सुप्रीतो निदधे सुसमाहितः ।
ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर उस अग्नि को दोनों (राम और सुग्रीव) के बीच में स्थापित किया। जब अग्नि जलने लगी; तब दोनों ने उसकी परिक्रमा की ॥ १६ ॥

सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।
ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥ १७ ॥
अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमुपजग्मतुः ।
त्वं वयस्योऽसि मे हृद्यो ह्येकं दुःखं सुखं च नौ ॥१८॥
सुग्रीवं राघवो वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत् ।
ततः स पर्णबहुलां छित्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ॥१९॥

इस प्रकार सुग्रीव और श्रीराम की मैत्री हो गई। तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न मन से वे दोनों श्रीराम और सुग्रीव आपस में एक दूसरे को देखने लगे और बहुत देर तक देखते रहने पर भी दोनों में से एक को भी तृप्ति न हुई। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न हो, सुग्रीव से कहा—तुम मेरे हृदय के प्यारे सखा हो। आज से तुम्हारा दुःख सुख मेरा दुःख सुख और मेरा दुःख सुख तुम्हारा दुःख सुख हुआ। सुग्रीव साखू के पेड़ के पत्तों और फूलों से लदी हुई एक डाली तोड़ लाये ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ।
लक्ष्मणायाथ संहृष्टो हनुमान्प्लवगर्षभः ॥ २० ॥

सुग्रीव उस साखू के पेड़ की डाली को ज़मीन पर बिछा कर श्रीरामचन्द्र सहित उस पर बैठ गये। तदनन्तर वानरोत्तम हनुमान जी ने प्रसन्न हो कर, ॥ २० ॥

शाखां चन्दनवृक्षस्य ददौ परमपुष्पिताम् ।
ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥ २१ ॥
प्रत्युवाच तदा रामं हर्षव्याकुललोचनः ।
अहं विनिकृतो राम चरामीह भयार्दितः ॥ २२ ॥

अत्यन्त फूली हुई चन्दन वृक्ष की एक डाली तोड़ कर, लक्ष्मण जी को बैठने के लिये दी। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो मधुर वाणी से, हर्ष के मारे आंखों में आंसू भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी से बोले। हे राम! मैं वालि द्वारा छला गया हूँ और उसके डर से मारा मारा फिरता हूँ ॥ २१ ॥ २२ ॥

हृतभार्यो वने त्रस्तो दुर्गमे तदुपाश्रितः ।
सोऽहं त्रस्तो वने भीतो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ॥ २३ ॥

मैं भार्या के हर जाने से दुःखी हूँ और भयभीत हो इस दुर्गम वन में वास करता हूँ। मेरा चित्त सदा विकल रहता है और रात दिन मारे डर के मुझे इस वन में भीरु की तरह रहना पड़ता है ॥ २३ ॥

वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ।
वालिनो मे महाभाग भयार्तस्याभयं कुरु ॥ २४ ॥

हे राघव! मेरे वालि नामक भाई के कारण मेरी यह दशा हुई है। क्योंकि वह मुझसे शत्रुता रखता है। हे महाभाग! मैं भयभीत हो रहा हूँ। आप मुझे वालि के भय से अभय कीजिये ॥ २४ ॥

कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ भयं मे न भवेद्यथा ।
एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ २५ ॥

हे काकुत्स्थ ! और ऐसा कुछ कीजिये कि, जिससे मेरा यह भय सदा के लिये दूर हो जाय । जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा तब तेजस्वी धर्मज्ञ और धर्मवत्सल ॥ २५ ॥

प्रत्यभाषत काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ।
उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी मुसक्याते हुए सुग्रीव से कहने लगे । हे महाकपे ! मैं यह जानता हूँ कि, मित्रता करने से उपकार ही होता है ॥ २६ ॥

वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ।
अमोघाः सूर्यसङ्काशा ममैते निशिताः शराः ॥ २७ ॥

मैं तुम्हारी भार्या को छीनने वाले वालि का वध करूँगा । मेरे ये अमोघ (कभी ख़ाली न जाने वाले अर्थात् अचूक) सूर्य की तरह चमचमाते और पैने बाण ॥ २७ ॥

तस्मिन्वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ।
कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसन्निभाः ॥ २८ ॥
तीक्ष्णाग्रा ऋजुपर्वाणः सरोषा भुजगा इव ।
तमद्य वालिनं पश्य क्रूरैराशीविषोपमैः ॥
शरैर्विनिहतं भूमौ विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २९ ॥

उस दुष्ट वालि के ऊपर बड़े वेग से गिरेंगे । देखो ये कङ्क-पक्ष-भूषित, इन्द्रवज्र के तुल्य प्रभावाले, तीखे और सीधे पौरोंवाले बाण कुपित सर्प की तरह कैसे जान पड़ते हैं । तुम अब देखना कि, सर्पों

की तरह मेरे इन बाणों से बालि मारा जा कर पहाड़ की तरह भूमि पर कैसे गिरता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

स तु तद्वचनं श्रुत्वा रामवस्यात्मनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३० ॥

अपने लिये हितकर श्रीरामचन्द्रजी के इन वचनों को सुन सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हो कर कहने लगे ॥ ३० ॥

तव प्रसादेन नृसिंह राघव
प्रियां च राज्यं च समाप्नुयामहम् ।
तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात्स पुनर्ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हे नरों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र ! आपकी कृपा से मुझे मेरी पत्नी और राज्य तो मिल ही जायँगे ; किन्तु साथ ही साथ कुछ ऐसा भी कीजिये जिससे वह मेरा वैरी जेठा भाई फिर मुझे न मारे ॥ ३१ ॥

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां
राजीवहेमज्वलनोपमानि ।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ॥ ३२ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव की मैत्री होने के समय कमल सदृश सीता का दहिना और सुवर्ण की तरह पीला बालि का तथा अग्नि की तरह लाल रावण के वाम नेत्र फड़कन लगे ॥ ३२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

षष्ठः सर्गः

—※—

पुनरेवाब्रवीत्प्रीतो राघवं रघुनन्दनम् ।
अयमाख्याति मे राम सचिवो मन्त्रिसत्तमः ॥ १ ॥

तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो कर पुनः श्रीरामचन्द्रजी से बोले कि, हे रामचन्द्र ! मंत्रियों में श्रेष्ठ मेरे मंत्री हनुमान ने आपका सब वृत्तान्त मुझे बतला दिया है ॥ १ ॥

हनुमान्यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥ २ ॥

हनुमान जी ने मुझे सारा वृत्तान्त बतला दिया है कि, जिस कारण आपको अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित वन में वास करना पड़ता है ॥ २ ॥

रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा
त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥ ३ ॥

रुदन करती हुई आपकी भार्या मिथिलेशनन्दनी जानकी को राक्षस हर कर ले गया, जिस समय आप और धीमान् लक्ष्मण उपस्थित न थे ॥ ३ ॥

अन्तरप्रेप्सुना तेन हत्वा गृध्रं जटायुषम् ।
भार्यावियोगजं दुःखमचिरात्त्वं विमोक्ष्यसे ॥ ४ ॥

वह राक्षस तो अवसर की खोज में था हो (सो आप दोनों के आश्रम से हटते ही वह सीता को हर कर ले गया) जब जटायु ने

उसे रोकना चाहा तब उस (राक्षस ने) जटायु को मार डाला। अब मैं थोड़े ही दिनों में आपके इस भार्या-वियोग-जन्य दुःख को र दूँगा ॥ ४ ॥

अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव ।
रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले ॥ ५ ॥

मैं वेदश्रुति को तरह सीता को छुड़ा कर आपके निकट ले आऊँगा। वह रसातल या आकाश कहीं भी क्यों न हो ॥ ५ ॥

अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिन्दम ।
इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव ॥ ६ ॥

हे अरिन्दम ! मैं आपकी भार्या को ला कर आपसे मिला दूँगा। हे राघव ! आप मेरे इस कथन को सत्य मानें ॥ ६ ॥

न शक्या सा जरयितुम[1]पि सेन्द्रैः सुरासुरैः ।
तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा ॥ ७ ॥

इन्द्र सहित देवता अथवा दैत्य दानव कोई भी आपकी भार्या जानकी जी को उसी तरह नहीं पचा सकता जिस प्रकार विष को कोई नहीं पचा सकता ॥ ७ ॥

त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते ।
अनुमानात्तु जानामि मैथिली सा न संशयः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! आप शोक छोड़ दीजिये। मैं आपकी प्यारी को लाये देता हूँ। हे राम ! मैं अनुमान से जानता हूँ कि, निस्सन्देह वही सीता होगी ॥ ८ ॥

---

१ जरयितुं—आत्मसात्कर्तुं । (गो०)

ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा क्रूरकर्मणा ।
क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम् ॥ ९ ॥

जिसे मैंने क्रूरकर्मा राक्षस द्वारा हर कर लिये जाते हुए देखा है । उस समय वह राम राम और लक्ष्मण लक्ष्मण कह कर उच्च स्वर से पुकार रही थी ॥ ९ ॥

स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ।
आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतटे स्थितम् ॥ १० ॥

और रावण की गोद में नागिन की तरह छट पटा रही थी । उस समय मुझ समेत पाँच वानरों को पर्वत पर बैठा देख ॥ १० ॥

उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ।
तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव ॥ ११ ॥

उत्तरीय वस्त्र सहित कई एक उत्तम आभूषणों को ऊपर से छोड़ा । उन सब को मैंने उठा कर रख छोड़ा है ॥ ११ ॥

आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ।
तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ॥ १२ ॥

मैं उन्हें लाता हूँ । आप उन्हें पहचानिये । यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने प्रियभाषी सुग्रीव से कहा ॥ १२ ॥

आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम् ॥ १३ ॥
प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया ।
उत्तरीयं गृहीत्वा तु शुभान्याभरणानि च ॥ १४ ॥

इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ।
ततो गृहीत्वा तद्वासः शुभान्याभरणानि च ॥ १५ ॥

हे मित्र ! उन सब वस्तुओं को शीघ्र ले आओ। विलंब क्यों कर रहे हो ! जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये पहाड़ की एक गहन गुहा में प्रवेश किया और शीघ्रता पूर्वक उस उत्तरीय वस्त्र और उन बहुमूल्यवान् आभूषणों को ला कर श्रीरामचन्द्र के सामने रखा और यह कहा कि, ये देखिये वे ये ही हैं। तब श्रीरामचन्द्र जी उन वस्त्रों और उन बढ़िया गहनों को हाथ में ले कर ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

अभवद्बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः ।
सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु वाष्पेण दूषितः ॥ १६ ॥

कुहरे में ढके चन्द्रमा की तरह अश्रुयुक्त हो गये। सीता का प्रेम उमड़ने से उनके नेत्र आँसुओं से दूषित हो गये ॥ १६ ॥

हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत्क्षितौ ।
हृदि कृत्वा तु बहुशस्तमलङ्कारमुत्तमम् ॥ १७ ॥
निश्श्वास भृशं सर्पो विलस्थ इव रोषितः ।
अविच्छिन्नाश्रुवेगस्तु सौमित्रिं वीक्ष्य पार्श्वतः ॥ १८ ॥
परिदेवयितुं[1] दीनं रामः समुपचक्रमे ।
पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया ॥ १९ ॥

वे "प्यारी" कह कर रोते हुए, धीरज छोड़ भूमि पर गिर पड़े। श्रीरामचन्द्र जी उन बढ़िया आभूषणों को बार बार छाती से

१ परिदेवयितुं—प्रलपितुं। (गो०)।

लगा, बिल में बैठे क्रुद्ध सर्प की तरह फुंसकारें छोड़ने लगे और नेत्रों से अविरल अश्रुधार प्रवाहित कर बग़ल में बैठे लक्ष्मण की ओर देख दीन भाव से प्रलाप करने लगे। वे बोले—हे लक्ष्मण! देखो, जब राक्षस जानकी जी को हर कर लिये जाता था, तब उन्होंने ये वस्तुएँ नीचे डाली थीं॥ १७॥ १८॥ १९॥

उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद्भूषणानि च।
शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया॥ २०॥
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथारूपं हि दृश्यते।
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥

सीता ने हरण के समय यह उत्तरीय वस्त्र और ये आभूषण अपने शरीर से उतार कर हरी घास से युक्त भूमि पर छोड़ दिये थे। देखो ये सब वैसे के वैसे ही बने हुए हैं। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर लक्ष्मण जी ने कहा॥ २०॥॥ २१॥

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥ २२॥

मैं सीता के बाजूबंद और कुण्डलों को नहीं पहचानता, किन्तु हाँ मैं उनके (पैर के) बिछुओं को अवश्यय पहचानता हूँ; क्योंकि चरणवंदना के समय इनको मैं नित्य ही देखा करता था॥ २२॥

ततः स राघवो दीनः सुग्रीवमिदमब्रवीत्।
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया॥ २३॥

तब तो दीन हो कर श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से यह बोले—सुग्रीव यह तो बतलाओ, तुमने उसको किस देश की ओर जाती हुई देखा था॥ २३॥

रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणैः प्रिया प्रिया ।
क्व वा वसति तद्रक्षो महद्व्यसनदं मम ॥ २४ ॥

मेरी प्यारी प्रिया को हर कर ले जाने वाला वह भयङ्कर राक्षस कहाँ रहता है, जिसने मुझे यह बड़ा भारी दुःख दे रखा है ॥ २४ ॥

यन्निमित्तमहं सर्वान्नाशयिष्यामि राक्षसान् ।
हरता मैथिलीं येन मां च रोषयता भृशम् ।
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम् ॥ २५ ॥

उसकी इस करतूत के कारण मुझे समस्त राक्षसों का संहार करना पड़ेगा । उसने जानकी को हर कर मुझे बहुत क्रुद्ध किया है मानों उसने अपनी मौत का दरवाज़ा स्वयं ही खोला है ॥ २५ ॥

मम दयिततरा हृता वनान्ता-
द्रजनिचरेण विमथ्य[1] येन सा ।
कथय मम रिपुं त्वमद्य वै
प्लवगपते यमसन्निधिं नयामि ॥ २६ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

हे कपीश्वर ! जिस राक्षस ने मुझे धोखा दे कर मेरी प्राणप्यारी को वन में हरा है, उस मेरे वैरी का नाम तुम मुझे बतलाओ जिससे मैं उसे आज ही यमपुरी भेजदूँ ॥ २६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

१ विमथ्य—वञ्चयित्वा । (रा०)

सप्तमः सर्गः

—※—

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार आर्त्त हो वचन कहे, तब वानर सुग्रीव ने भी आँखों में आँसू भर हाथ जोड़ और गद्गद् हो कर कहा ॥ १ ॥

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः ।
सामर्थ्यं विक्रमं वाऽपि दौष्कुलेयस्य वा कुलम् ॥ २ ॥

मुझे उस पापी राक्षस का न तो निवासस्थान और न उसकी सामर्थ्य और पराक्रम ही मालूम हैं। मैं उस दुष्ट कुल वाले का कुल भी नहीं जानता ॥ २ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि त्यज शोकमरिन्दम ।
करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्यसि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

किन्तु हे शत्रुनाशन ! मैं सत्य सत्य प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, जानकी जी को प्राप्त करने के लिये मैं कोई बात उठा न रखूँगा। अतः अब आप शोक न कीजिये ॥ ३ ॥

रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम् ।
तथाऽस्मि कर्ता न चिराद्यथा प्रीतो भविष्यसि ॥ ४ ॥

वंश सहित रावण को मार, और अपने पुरुषार्थ को सफल कर मैं ऐसा कार्य करूँगा जिससे आप प्रसन्न हो जायंगे ॥ ४ ॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर ।
त्वद्विधानामसदृशमीदृशं विद्धि लाघवम् ॥ ५ ॥

बस अब आप दीनता त्यागिये और धीरज रखिये। क्योंकि आप जैसे पुरुषों को इस प्रकार की दीनता प्रदर्शित करना बड़ी ओछी बात है ॥ ५ ॥

मयाऽपि व्यसनं प्राप्तं भार्याहरणजं महत् ।
न चाहमेवं शोचामि न च धैर्यं परित्यजे ॥ ६ ॥

मैं भी तो अपनी पत्नी के हरे जाने से बड़ा दुःख भोग रहा हूँ। किन्तु मैं इस प्रकार न तो दुःखी होता हूँ और न धीरज ही छोड़ बैठता हूँ ॥ ६ ॥

नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो[2] वानरोऽपि सन् ।
महात्मा च विनीतश्च[3] किं पुनर्धृतिमान्भवान् ॥ ७ ॥

यद्यपि मैं अनार्य जाति का वानर हूँ, तथापि मैं उसके लिये इतना चिन्तातुर नहीं हूँ। फिर आप तो महात्मा बड़े बूढ़ों द्वारा सुशिक्षित, और धैर्यवान् पुरुष हैं ॥ ७ ॥

बाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि ।
मर्यादां सत्त्वयुक्तानां[4] धृतिं नोत्सृष्टुमर्हसि ॥ ८ ॥

आप शोक से निकलते हुए अपने आँसुओं को धैर्य धारण कर रोकिये । सतोगुणियों के मर्यादारूप धैर्य को आप न त्यागिये ॥ ८ ॥

---

१ वैक्लव्यं—दैन्यं । (गो०) २ प्राकृतः—हीनः । (गो०) ३ विनीतश्च—वृद्धैः सुशिक्षितः । (गो०) ४ सत्त्वयुक्तानां—सत्त्वगुणवतां । (रा०)

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तके।
विमृशन्बै स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥ ९ ॥

क्योंकि धैर्यवान् पुरुष, स्वजन-वियोग के समय, धननाश के समय, भय उपस्थित होने पर और प्राणों की शङ्का उपस्थित होने पर भी; अपनी बुद्धि से काम लेते हैं और उसीसे वे कभी दुःखी नहीं होते ॥ ९ ॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले ॥ १० ॥

जो लोग मूर्ख होते हैं, वे नित्य ही दीन बने रहते हैं। वे लाचार हो शोक में वैसे ही डूब जाते हैं, जैसे बड़े बोझ से दबी हुई नाव पानी में डूब जाती है ॥ १० ॥

एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात्त्वां प्रसादये।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं[1] दातुमर्हसि ॥ ११ ॥

मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि, आप मेरी प्रीति की ओर देख कर, प्रसन्न हों और पुरुषार्थ का सहारा ले, शोक को अपने मन में पैठने का अवसर ही न दें ॥ ११ ॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम्।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

जो लोग शोक किया करते हैं, वे कभी सुखी हो ही नहीं सकते। प्रत्युत उनके तेज की भी हानि होती है। अतः आपको शोक न करना चाहिये ॥ १२ ॥

---

१ अन्तरं—अवकाशं। (गो०)

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।
स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम् ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र ! जो लोग सदा शोक में डूबे रहते हैं, उनके जीवन में भी सन्देह हो जाता है। अतः आप शोक को त्याग कर, केवल धैर्य धारण कीजिये ॥ १३ ॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूमि नोपदिशामि ते ।
वयस्यतां पूजयन्मे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १४ ॥

मैं केवल मित्रता के कर्त्तव्य से प्रेरित हो, आपसे आपके हित की बात कहता हूँ—मैं आपको उपदेश नहीं देता। अतः आप मेरी मैत्री को मान शोक मत कीजिये ॥ १४ ॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः ।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत् ॥ १५ ॥
प्रकृतिस्थस्तु काकुत्स्थः सुग्रीववचनात्प्रभुः ।
संपरिष्वज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

जब सुग्रीव ने श्रीराम को इस प्रकार मधुर वचनों से समझाया, तब श्रीरामचन्द्र अपने कपड़े के छोर से, आंसू से भरे अपने मुख को पोंछ, स्वस्थ हो एवं सुग्रीव को हृदय से लगा कर, यह बात बोले ॥ १५ ॥ १६ ॥

कर्तव्यं यद्वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च ।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत्त्वया ॥ १७ ॥

हे सुग्रीव ! स्नेही और हितैषी मित्र के अनुरूप और योग्य कार्य तुमने किया है ॥ १७ ॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन्काले विशेषतः ॥ १८ ॥

हे मित्र! तुम्हारे समझाने बुझाने से मेरा मन ठीक हो गया है। तुम्हारे जैसा मित्र मिलना दुर्लभ है। सो भी ऐसी विपत्ति के समय ॥ १८ ॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥

परन्तु हे मित्र! सीता जी और उस घोर दुरात्मा राक्षस रावण का पता लगाने का तुम प्रयत्न करो ॥ १९ ॥

मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम्।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं संपद्यते मयि ॥ २० ॥

अपना जो काम तुम मुझसे करवाना चाहते हो सो तुम मुझसे बेधड़क कहो। मैं तुम्हारे सब काम उसी प्रकार सिद्ध कर दूँगा जिस प्रकार उपजाऊ खेत में वर्षा ऋतु में बोया हुआ बीज सफल होता है ॥ २० ॥

मया च यदिदं वाक्यमभिमानात्[1]समीरितम्।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥ २१ ॥
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव च ते शपे ॥ २२ ॥

हे वानरश्रेष्ठ! मैंने शौर्याभिमान से जो बात कही है इससे तुम सत्य सत्य ही जानना। क्योंकि न तो पहले मैं कभी मिथ्या बोला

१ अभिमानात्—शौर्याभिमानात्। (गो०)

और न आगे ही कभी बोलूंगा। इस बात के लिये मैं प्रतिज्ञा करता हूँ और सत्यता पूर्वक शपथ खाता हूँ ॥ २१ ॥ २२ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह।
राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन कर सुग्रीव अपने मंत्रियों सहित बहुत प्रसन्न हुए—विशेष कर श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिज्ञा को सत्य जान उन्होंने अपने को कृतार्थ माना ॥ २३ ॥

एवमेकान्तसंपृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ।
उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखं प्रभाषताम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार एकान्त में बैठे वे दोनों नर और वानर अपने अपने सुख दुःख आपस में कहते सुनते थे ॥ २४ ॥

महानुभावस्य वचो निशम्य
हरिर्नराणामृषभस्य तस्य।
कृतं स मेने हरिवीरमुख्य-
स्तदा स्वकार्यं हृदयेन विद्वान् ॥ २५ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

वानरराज सुग्रीव ने राजराजेश्वर श्रीरामचन्द्र के वचन सुन मन ही मन विचार किया कि, निस्सन्देह अब मेरा कार्य हो गया। अथवा सुग्रीव ने अपना कार्य पूर्ण हुआ जाना ॥ २५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टमः सर्गः

—※—

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन वानरः ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से सन्तुष्ट हो कर, वानर सुग्रीव ने लक्ष्मण के ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र से यह कहा ॥ १ ॥

सर्वथाऽहमनुग्राह्यो देवतानामसंशयः ।
उपपन्नगुणोपेतः सखा यस्य भवान्मम ॥ २ ॥

जब आप जैसे सर्वगुण सम्पन्न मेरे मित्र हो चुके, तब मैं देवताओं का भी सब प्रकार से कृपापात्र बन चुका ॥ २ ॥

शक्यं खलु भवेद्राम सहायेन त्वयाऽनघ ।
सुरराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किं पुनः प्रभो ॥ ३ ॥

हे राम ! आपकी सहायता से तो मैं स्वर्ग का राज्य भी प्राप्त कर सकता हूँ । इस राज्य की गिनती ही क्या है ? ॥ ३ ॥

सोऽहं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव राघव ।
यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघववंशजम् ॥ ४ ॥

हे राघव ! अब तो मैं अपने मित्र बांधवों का पूज्य हो गया । क्योंकि मेरे अब महाराज रघु के वंश वाले अग्निसाक्षिक मित्र हुए हैं ॥ ४ ॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः ।
न तु वक्तुं समर्थोऽहं स्वयमात्मगतान्गुणान् ॥ ५ ॥

किन्तु हे राघव! मैं भी आपका योग्य मित्र हूँ—यह बात आपको धीरे-धीरे जान पड़ेगी। मैं अपनी बड़ाई अपने मुँह से आपके सामने नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं[1] त्वद्विधानां कृतात्मनाम् ।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवता[2]मिव ॥ ६ ॥

आप जैसे महात्मा और अत्यन्त स्वाधीन पुरुषों की प्रीति और धैर्य अटल होते हैं ॥ ६ ॥

रजतं वा सुवर्णं वा वस्त्राण्याभरणानि च ।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः ॥ ७ ॥

जो सन्मित्र होते हैं वे अपने मित्र की सोने, चाँदी की चीज़ें, भूषण वस्त्रादि को अपनी ही समझते हैं अर्थात् अपनी और मित्र की चीज़ों को एक ही सी समझते हैं। भेदभाव नहीं रखते ॥ ७ ॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः ॥ ८ ॥

चाहे धनी हो चाहे निर्धन, चाहे दुःखी हो चाहे सुखी, चाहे निर्दोष हो चाहे सदोष—मित्र मित्र ही है ॥ ८ ॥

धनत्यागः सुखत्यागो देहत्यागोऽपि वा पुनः ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥ ९ ॥

जो लोग आपस के स्नेह ही को देखते हैं उनके लिये अपने मित्र के पीछे धन का त्याग, सुख का त्याग अथवा देश तक का त्याग कोई बड़ी बात नहीं ॥ ९ ॥

---

१ भूयिष्ठ—अतिशयेन । (गो०) २ आत्मवतां—स्वाधीनानां । (रा०)

तत्तथेत्यब्रवीद्रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या[1] वासवस्येव धीमतः ॥ १० ॥

प्रियवादी सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने, इन्द्र की कान्ति की तरह कान्ति वाले धीमान लक्ष्मण जी के सामने सुग्रीव से कहा—तुम्हारा कहना बहुत ठीक है॥ १० ॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम् ।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोल[2]मपातयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र और महाबलवान लक्ष्मण को भूमि पर बैठा देख, पर्वत पर चारों ओर दृष्टि फैला कर निहारा ॥ ११ ॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः ।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम् ॥ १२ ॥

सुग्रीव को पास ही साखू का एक वृक्ष देख पड़ा, जिसमें कुछ फूल और पत्ते लगे थे और जिस पर भौंरे मड़रा रहे थे ॥ १२ ॥

तस्यैकां पर्णबहुलां भङ्क्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ।
सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ॥ १३ ॥

तब सुग्रीव उस वृक्ष से एक सघन पत्तों वाली और पुष्पित डाली तोड़ लाये और उसको बिछा कर, उस पर श्रीरामचन्द्र के साथ वे बैठ गये ॥ १३ ॥

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम् ।
सालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत् ॥ १४ ॥

---

१ लक्ष्म्या—कान्त्या । (गो०) २ लोलं—चक्षुः । (गो०)

सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र को बैठे हुए देख, हनुमान जी ने लक्ष्मण जी के बैठने के लिये एक साखू की डाली तोड़ी और उसे बिछा कर उस पर विनीत भाव से लक्ष्मण जी को बिठाया ॥ १४ ॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा ।
फलपुष्पसमाकीर्णे तस्मिन्गिरिवरोत्तमे ॥ १५ ॥

तब सुप्रसन्न मन तथा सागर की तरह गम्भीर स्वभाव युक्त श्री राम को फल पुष्प परिपूर्ण उस श्रेष्ठ पर्वत पर बैठा हुआ देख कर, ॥ १५ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
उवाच प्रणयाद्रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥ १६ ॥

सुग्रीव हर्षित हो मधुर एवं हितकारी वचनों से, प्रेम और हर्ष पूर्ण होने के कारण घबड़ाये से हो कर, श्रीरामचन्द्र से बोले ॥ १६ ॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः ।
ऋश्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥ १७ ॥

मैं वालि से छला जा कर, उसके डर के मारे इस ऋष्यमूक पर्वत पर मारा मारा फिरता हूँ। मुझे अपनी स्त्री के छिन जाने का बड़ा दुःख है ॥ १७ ॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥ १८ ॥

सो यहाँ पर भी उस वालि के भय से मैं त्रस्त रहा करता हूँ और इसीसे मेरा जी भी ठिकाने नहीं रहता। मेरे भाई वालि ने मुझे धोखा दिया है। मेरा उसका वैर हो गया है ॥ १८ ॥

वालिनो मे भवार्तस्य सर्वलोकाभयङ्कर ।
ममापि त्वमनाथस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

हे सब लोकों के अभयदाता ! मैं वालि से बहुत भयभीत हूँ और मेरा रक्षक भी कोई नहीं है। अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ।
प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ २० ॥

जब सुग्रीव जी ने ऐसा कहा तब धर्मज्ञ धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी हँसते हुए उनसे बोले ॥ २० ॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम् ।
अद्यैव तं हनिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥ २१ ॥

मनुष्य उपकार करने ही से मित्र और अपकार करने से ही शत्रु हो जाता है। मैं फिर भी कहता हूँ कि, मैं आज ही तुम्हारी भार्या के हरने वाले उस वालि को मार डालूँगा ॥ २१ ॥

इमे हि मे महावेगाः पत्रिणस्तिग्मतेजसः ।
कार्त्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥ २२ ॥

ये मेरे बाण बड़े वेगवान्, बड़े परों वाले, तीखे, चमचमाते, और कार्तिकेय जी के वन में उत्पन्न एवं सुवर्ण भूषित हैं ॥ २२ ॥

कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसन्निभाः ।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः संरोषा इव पन्नगाः ॥ २३ ॥

ये कङ्कपत्रों से सुशोभित, इन्द्र के वज्र के समान, अच्छे पर्वों (पोरुओं) वाले तीखे फलकों से युक्त और क्रुद्ध सर्प की तरह हैं ॥ २३ ॥

भ्रातृसंज्ञमिमं ते वालिनं कृतकिल्बिषम् ।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २४ ॥

इन बाणों से मैं तुम्हारे शत्रु रूपी भाई और पापी वालि को मारूँगा। तुम उसे भूमि पर पर्वत की तरह गिरा देखोगे॥ २४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः ।
महर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

वाहिनीपति सुग्रीव, श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन अत्यन्त हर्षित हो "साधु साधु" कह श्रीरामचन्द्र जी की बड़ाई करने लगे ॥ २५ ॥

राम शोकाभिभूतोऽहं शोकार्तानां भवान्गतिः ।
वयस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥ २६ ॥

हे राम ! मैं शोक से विकल हो रहा हूँ और आप शोक से पीड़ित पुरुषों की गति हैं। सो मैं आपको अपना मित्र समझ आपके सामने अपना दुःख प्रकट कर रहा हूँ ॥ २६ ॥

त्वं हि पाणिप्रदानेन वयस्यो मेऽग्निसाक्षिकम् ।
कृतः प्राणैर्बहुमतः सत्येनापि शपामि ते ॥ २७ ॥

आपने अपने हाथ से मेरा हाथ पकड़ अग्नि के सामने मुझे अपना मित्र बनाया है। मैं सत्य सत्य शपथ पूर्वक कहता हूँ कि, आप मुझे निज प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं ॥ २७ ॥

वयस्य इति कृत्वा च विस्रब्धं प्रवदाम्यहम् ।
दुःखमन्तर्गतं यन्मे मनो हरति नित्यशः ॥ २८ ॥

आपको अपना मित्र समझ कर और आप पर विश्वास कर मैं अपना समस्त वृत्तान्त आपके सामने प्रकट करता हूँ। हे राम! मेरे मन के भीतर का यह दुःख मुझे सदा बहुत सताया करता है ॥ २८ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं वाष्पदूषितलोचनः ।
वाष्पोपहतया वाचा नाचैः शक्नोति भाषितुम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार कहते कहते सुग्रीव की आँखों से आँसू बहने लगे और गला भर आया और गला भर आने से वह उच्च स्वर से न बोल सके ॥ २९ ॥

वाष्पवेगं तु सहसा नदीवेगमिवागतम् ।
धारयामास धैर्येण सुग्रीवो रामसन्निधौ ॥ ३० ॥
स निगृह्य तु तं वाष्पं प्रमृज्य नयने शुभे ।
विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ३१ ॥

वानरराज सुग्रीव ने, नदी के वेग की तरह बहते हुए आंसुओं के वेग को धैर्य धारण कर रोका। फिर आंसू पोंछ और ठंडी साँस ले, श्रीराम को अपनी विपत्कथा कह सुनाई ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पुराहं वालिना राम राज्यात्स्वादवरोपितः ।
परुषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा ॥ ३२ ॥
हृता भार्या च मे तेन प्रणेभ्योऽपि गरीयसी ।
सुहृदश्च मदीया ये संयता बन्धनेषु ते ॥ ३३ ॥

हे राम! पहले बलवान वालि ने मुझको राजसिंहासन से उतार और कठोर वचन कह धिक्कारा और बरजोरी घर से निकाल

दिया। फिर मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को छीन लिया और जो मेरे हितैषी मित्र थे, उनको पकड़ कर बन्दी बना लिया ॥ ३३ ॥

यत्नवांश्च सुदुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव ।
बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥ ३४ ॥

हे राघव ! वह दुष्ट मेरा नाश करने के लिये कई बार यत्न कर चुका है। किन्तु अभी तक उसने मुझे मारने को जितने बन्दर भेजे वे सब मेरे हाथ से मारे गये ॥ ३४ ॥

शङ्कया त्वेतया चेह दृष्ट्वा त्वामपि राघव ।
नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि बिभ्यति ॥ ३५ ॥

हे राघव ! इसी शङ्का के कारण मैं आपको देख आपके पास नहीं आया। मैं वालि से बहुत डरा हुआ हूँ और भय से सब भयभीत होते ही हैं ॥ ३५ ॥

केवलं हि सहाया मे हनूमत्प्रमुखास्त्विमे ।
अतोऽहं धारयाम्यद्य प्राणान्कृच्छ्रगतोऽपि सन् ॥ ३६

ये केवल हनुमानादि वानर मेरे सहायक हैं। इसीसे अत्यन्त क्लेश भोगता हुआ भी मैं जीवित हूँ ॥ ३६ ॥

एते हि कपयः स्निग्धा मां रक्षन्ति समन्ततः ।
सह गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति च स्थिते ॥ ३७ ॥

ये वानर मेरे बड़े स्नेही हैं और मेरी सब प्रकार से रक्षा किया करते हैं। जहाँ कहीं मैं जाता हूँ वहाँ ही ये मेरे साथ जाते हैं और जहाँ कहीं मैं रहता हूँ वहाँ ही ये मेरे साथ रहते हैं। सारांश यह कि, ये सदा मेरे साथ रहते हैं ॥ ३७ ॥

संक्षेपस्त्वेष ते राम किमुक्त्वा विस्तरं हि ते ।
स मे ज्येष्ठो रिपुर्भ्राता वाली विश्रुतपौरुषः ॥ ३८ ॥

हे राम ! विस्तार करने से क्या, मैंने अपना सब वृत्तान्त संक्षेप से कह दिया । मेरा ज्येष्ठ भ्राता वालि मेरा वैरी है और एक प्रसिद्ध पराक्रमी वानर है ॥ ३८ ॥

तद्विनाशाद्धि मे दुःखं प्रनष्टं स्यादनन्तरम् ।
सुखं मे जीवितं चैव तद्विनाशनिबन्धनम् ॥ ३९ ॥

उसके नाश होने ही से मेरे दुःख का भी नाश होगा । उसके मारे जाने ही से मेरे सुखी होने और जीवित रहने की भी सम्भावना हो सकती है ॥ ३९ ॥

एष मे राम शोकान्तः शोकार्तेन निवेदितः ।
दुःखितः सुखितो वाऽपि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥४०॥

मैंने शोकार्त्त हो कर जो अपने शोक के नाश का उपाय बतलाया है, बस इसीसे मेरा दुःख दूर हो सकता है । मित्र दुःखी हो अथवा सुखी, मित्र के लिये मित्र ही एकमात्र सहारा है ॥ ४० ॥

श्रुत्वैतद्वचनं रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
किंनिमित्तमभूद्वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४१ ॥

सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र ने उनसे यह कहा—वालि के साथ तुम्हारी शत्रुता किस लिये हुई, सो मैं ठीक ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

अहं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर ।
आनन्तर्यं विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ ४२ ॥

मैं पहले तुम्हारे दोनों की पारस्परिक मित्रता का कारण सुन चुकने पर बलाबल का विचार कर, तुम्हें सुखी करने का विधान करूँगा ॥ ४२ ॥

बलवान्हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम् ॥
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥ ४३ ॥

हे सुग्रीव ! तुम्हारे अपमान की बात सुन, मेरा क्रोध, हृदय-कम्पनकारी वर्षाकालीन जल की तरह बढ़ता जाता है ॥ ४३ ॥

हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः ।
सृष्टश्चेद्धि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥ ४४ ॥

तुम प्रसन्न मन से मुझ पर विश्वास कर, अपना हाल कहो। इतने में मैं अपने धनुष पर रोदा चढ़ाता हूँ। तुम यह बात पक्की जान लेना कि, मैंने बाण छोड़ा कि, तुम्हारा वैरी मरा ॥ ४४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४५ ॥

जब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब सुग्रीव अपने चारों सहचारी वानरों सहित अतुलित हर्ष को प्राप्त हुए ॥ ४५ ॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाग्रजे ।
वैरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्रजी से वालि से वैर बँधने का कारण कहना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

नवमः सर्गः

—※—

श्रूयतां राम यद्वृत्तमादितः प्रभृति त्वया ।
यथा वैरं समुद्भूतं यथा चाहं निराकृतः ॥ १ ॥

हे राम ! जिस प्रकार वालि से मेरा वैर हुआ और जिस प्रकार मैं घर से निकाला गया—सो मैं आदि से कहता हूँ। आप सुनिये ॥ १ ॥

वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।
पितुर्बहुमतो नित्यं ममापि च तथा पुरा ॥ २ ॥

शत्रुओं का नाश करने वाले मेरे बड़े भाई वालि को हमारे पिता बहुत मानते थे और वैर होने के पूर्व, मैं भी उसे बहुत मानता था ॥ २ ॥

पितर्युपरतेऽस्माकं ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः ।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥ ३ ॥

कुछ दिनों बाद जब पिता जी का देहान्त हुआ, तब वालि को, जेठा समझ, मंत्रियों ने राजसिंहासन पर बैठाया ॥ ३ ॥

राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत् ।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत्स्थितः ॥ ४ ॥

वालि पिता पितामहादिकों के विस्तृत राज्य का शासन करने लगा। मैं उसके पास दास की तरह विनीतभाव से रहने लगा ॥ ४ ॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो[1] दुन्दुभेः सुतः ।
तेन तस्य महद्वैरं स्त्रीकृतं विश्रुतं पुरा ॥ ५ ॥

कुछ समय बीतने पर दुन्दुभी के ज्येष्ठ एवं तेजस्वी पुत्र मायावी के साथ किसी स्त्री के पीछे, वालि की शत्रुता हो गयी ॥ ५ ॥

स तु सुप्तजने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे ॥ ६ ॥

एक बार रात्रि में, जबकि सब लोग सो रहे थे, वह दानव किष्किन्धा नगरी के बहिर्द्वार पर आ बड़े ज़ोर से चिल्लाया और युद्ध के लिये वालि को ललकारा ॥ ६ ॥

प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दितं भैरवस्वनम् ।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात्तदा ॥ ७ ॥
स तु वै निःसृतः क्रोधात्तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥ ८ ॥
स तु निर्धूय सर्वान्नो निर्जगाम महाबलः ।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥ ९ ॥

उस समय सोता हुआ मेरा भाई वालि उसके उस भयङ्कर गर्जन को सुन, जाग उठा और उसके उस तर्जन को न सह कर तथा क्रोध में भर, बड़ी तेज़ी से उसे मारने को घर से निकला। यद्यपि वालि की स्त्रियों ने और मैंने भी विनम्र भाव से उसको बहुत रोका ; तथापि वह महाबली किसी का कहना न मान, घर से निकल ही गया। उस समय भ्रातृ-स्नेह के वशवर्त्ती हो, मैं भी उसके साथ हो लिया ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ पूर्वजः—अग्रजः । (गो०)

स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम् ।
असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव ततो भृशम् ॥ १० ॥

तदनन्तर वह असुर, मेरे भाई को तथा दूर पर मुझको देख, डर गया और डर कर बड़ी तेज़ी से भागा ॥ १० ॥

तस्मिन्द्रवति संत्रस्ते ह्यावां द्रुततरं गतौ ।
प्रकाशश्च कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्गच्छता तदा ॥ ११ ॥

जब वह हम लोगों से डर कर बड़ी तेज़ी से भागा, तब हम दोनों भाई भी बड़ी तेज़ी से उसके पीछे दौड़े । क्योंकि चन्द्रमा के उदय होने से उस समय चाँदनी छिटकी हुई थी ॥ ११ ॥

स तृणैरावृतं दुर्गं धरण्या विवरं महत् ।
प्रविवेशासुरो वेगादावामासाद्य विष्ठितौ ॥ १२ ॥

भागते भागते वह असुर, पृथिवी के एक बड़े दुर्गम बिल में, जिसका मुख घास फूँस से ढका हुआ था, बड़ी तेज़ी से घुस गया । हम दोनों भाई, उस बिल के द्वार पर पहुँच कर, रुक गये ॥ १२ ॥

तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः ।
मामुवाच तदा वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥ १३ ॥

अपने वैरी को गुफा में घुसा हुआ देख, मेरा भाई वालि बहुत क्रुद्ध हुआ और क्षुब्ध हो मुझसे बोला ॥ १३ ॥

इह त्वं तिष्ठ सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः ।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि सहसा रिपुम् ॥ १४ ॥

हे सुग्रीव ! जब तक मैं इस शत्रु को मार कर न लौटूँ, तब तक तुम यहीं पर खड़े रहना ॥ १४ ॥

मया त्वेतद्वचः श्रुत्वा याचितः स परन्तपः ।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश विलं महत् ॥ १५ ॥

वालि का यह वचन सुन, मैंने उसके साथ उस गुफा में जाने की प्रार्थना की, किन्तु वालि ने मुझे अपने चरणों की शपथ दे कर, अकेले ही उस बड़ी गुफा में प्रवेश किया ॥ १५ ॥

तस्य प्रविष्टस्य विलं साग्रः[1] संवत्सरो गतः ।
स्थितस्य च मम द्वारि स कालोऽप्यत्यवर्तत ॥ १६ ॥
अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः ।
भ्रातरं तु न पश्यामि पापाशङ्कि च मे मनः ॥ १७ ॥

जब वालि को उस गुफा में घुसे एक वर्ष से ऊपर बीत गया, तब तो मैंने वालि को मरा समझा और स्नेह से मैं विकल हो गया। भाई को न देखने से मेरे मन में अनिष्ट की शङ्का उत्पन्न हुई ॥ १६ ॥ १७ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य विलात्तस्माद्विनिःसृतम् ।
सफेनं रुधिरं रक्तमहं दृष्ट्वा सुदुःखितः ॥ १८ ॥

इस पर भी मैं वहाँ खड़ा ही रहा। बहुत दिनों बाद उस गुफा से फेन सहित रुधिर निकला। उसे देख, मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥ १८ ॥

नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः ।
निरस्तस्य च संग्रामे क्रोशतो निःस्वनो गुरोः ॥ १९ ॥

तब युद्ध में निरत और गर्जते हुए असुरों का घोर शब्द मुझको सुनाई पड़ा ॥ १९ ॥

---

१ साग्रः—सम्पूर्णः । (गो०)

अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम् ।
पिधाय च विलद्वारं शिलया गिरिमात्रया ॥ २० ॥

तब तो मैंने इन लक्षणों से वालि को मरा हुआ जान, एक बड़ी भारी शिला ले कर, उस गुफा का द्वार बंद कर दिया ॥ २० ॥

शोकार्तश्चोदकं कृत्वा किष्किन्धामागतः सखे ।
गूहमानस्य मे तत्त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम् ॥ २१ ॥

हे मित्र ! फिर शोकार्त्त हो और भाई को जलाञ्जलि दे, मैं किष्किन्धा में आया । यद्यपि मैंने वालि के मरने की बात यत्न पूर्वक छिपाई ; तथापि मंत्रियों को मालूम हो ही गयी ॥ २१ ॥

ततोऽहं तैः समागम्य सम्मतैरभिषेचितः ।
राज्यं प्रशासतस्तस्य न्यायतो मम राघव ॥ २२ ॥

हे राघव ! तदनन्तर उन सब मंत्रियों ने मिल कर, मेरा राज्याभिषेक कर दिया । तब मैं न्यायपूर्वक राज्य करने लगा ॥ २२ ॥

आजगाम रिपुं हत्वा वाली तमसुरोत्तमम् ।
अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा वाली संरक्तलोचनः ॥ २३ ॥

इतने में अपने शत्रु उस महाअसुर को मार, वालि लौट आया । मुझको राजसिंहासन पर बैठा देख, मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल हो गयीं ॥ २३ ॥

मदीयान्मन्त्रिणो बद्ध्वा परुषं वाक्यमब्रवीत् ।
निग्रहेऽपि समर्थस्य तं पापं प्रति राघव ॥ २४ ॥

उसने मेरे मंत्रियों को पकड़ उनसे बड़े कठोर शब्द कहे । हे राघव ! यद्यपि उस समय मुझमें यह शक्ति थी कि, मैं उस पापिष्ट वालि का निग्रह करता ; ॥ २४ ॥

न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातुर्गौरवयन्त्रिता ।
हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा ॥ २५ ॥

तथापि भाई के बड़प्पन का विचार कर, मैंने वैसा न किया। जब मेरे उस भाई ने अपने वैरी को मार, नगर में प्रवेश किया ॥ २५ ॥

मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभ्यवादयम् ।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन सन्तुष्टेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥

तब मैंने उसका सम्मान करने के लिये उसे प्रणाम किया। किन्तु उसने न तो मुझे आशीर्वाद दिया और न वह मुझ पर प्रसन्न ही हुआ ॥ २६ ॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो ।
कृताञ्जलिरुपागम्य स्थितोऽहं तस्य पार्श्वतः ।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः ॥ २७ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

हे प्रभो ! मैंने बारबार मुकुट सहित अपना सीस उसके चरणों में रख उसे प्रणाम किया और हाथ जोड़े मैं उसकी बग़ल में खड़ा रहा, किन्तु वह मेरे ऊपर प्रसन्न न हुआ ॥ २७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

दशमः सर्गः

—※—

ततः क्रोधसमाविष्टं संरब्धं तमुपागतम् ।
अहं प्रसादयाञ्चक्रे भ्रातरं हितकाम्यया ॥ १ ॥

तब मैं उसकी हितकामना से, उसको क्रोध में भरा देख, उसे प्रसन्न करने लगा ॥ १ ॥

दिष्ट्याऽसि कुशली प्राप्तो दिष्ट्यापि निहतो रिपुः ।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दनः ॥ २ ॥

मैंने कहा—यह बड़े भाग्य की बात है कि, आप शत्रु को मार कर सकुशल लौट आये । मुझ अनाथ के एक तुम्हीं नाथ हो और अनाथों को हर्षित करने वाले हो ॥ २ ॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ।
छत्रं सबालव्यजनं प्रतीच्छस्व मयोद्यतम् ॥ ३ ॥

अब आप अपना यह बहुतसी कीलियों वाला और पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह मनोहर छत्र और चंवर, जिसे मैंने धारण किया था—लीजिये ॥ ३ ॥

आर्तश्चाथ बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप ।
दृष्ट्वाहं शोणितं द्वारि बिलाच्चापि समुत्थितम् ॥ ४ ॥

हे राजन्! मैं उस गुफा के द्वार पर आर्त्त हो, एक वर्ष तक खड़ा रहा । पीछे से उस बिल से एक बड़ी भारी रुधिर की धार निकली ॥ ४ ॥

शोकसंविग्नहृदयो भृशं व्याकुलितेन्द्रियः ।
अपिधाय बिलद्वारं गिरिशृङ्गेण तत्तथा ॥ ५ ॥

तब तो मैं शोकाकुल और अत्यन्त विकल हुआ और एक बड़ी शिला से गुफा का द्वार बंद कर दिया ॥ ५ ॥

तस्मादेशादपाक्रम्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः ।
विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मन्त्रिभिरेव च ॥ ६ ॥
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ।
त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथापुरम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वहाँ से पुनः किष्किन्धा में आया । मंत्रियों और पुरवासियों ने मुझे दुःखी देख—मेरी इच्छा न रहते भी मुझे राजसिंहासन पर बिठा दिया । सो आप इसको क्षमा करें । आप ही सम्मान पाने योग्य राजा हैं । मैं पहले आपका जैसा सेवक था वैसा ही मैं सदा रहूँगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

राजभावनियोगोऽयं मया त्वद्विरहात्कृतः ।
सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम् ॥ ८ ॥

आपके न रहने ही से मुझे लोगों ने राजसिंहासन पर बिठा दिया था । आप मंत्रियों और पुरवासियों सहित जैसा निरुपद्रव इस नगर को छोड़ गये थे, यह वैसा ही बना हुआ है ॥ ८ ॥

न्यासभूतमिदं राज्यं तव निर्यातयाम्यहम् ।
मा च रोषं कृथाः सौम्य मयि शत्रुनिबर्हण ॥ ९ ॥

अभी तक आपका यह राज्य मेरे पास धरोहर की तरह रख था, उसे मैं आपको लौटाये देता हूँ । हे शत्रुसूदन ! मेरे ऊपर आप क्रुद्ध न हों ॥ ९ ॥

याचे त्वां शिरसा राजन्मया बद्धोऽयमञ्जलिः ।
बलादस्मि समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः ॥ १० ॥
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया ।
स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स तु निर्भर्त्स्य वानरः ॥ ११ ॥
धिक्त्वामिति च मामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह ।
प्रकृतीश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान् ॥ १२ ॥

हे राजन्! मैं अपना माथा नवा और हाथ जोड़, आपसे यही माँगता हूँ। मंत्रियों और पुरवासियों ने मुझे बरजोरी इस लिये राजसिंहासन पर बिठा दिया था कि, कहीं सूना राज्य देख, कोई वैरी इसे न दबा ले। मैं विनम्र भाव से जब इस प्रकार कह रहा था, तब वाली ने मुझे बहुत धिक्कारा। फिर प्रजाजनों और मंत्रियों को एकत्र कर, ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

मामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परमगर्हितम् ।
विदितं वो यथा रात्रौ मायावी स महासुरः ॥ १३ ॥
मां समाह्वयत क्रूरो युद्धकाङ्क्षी सुदुर्मतिः ।
तस्य तद्गर्जितं श्रुत्वा निःसृतोऽहं नृपालयात् ॥ १४ ॥

और मेरे मित्रों के बीच मुझसे उसने बड़ी बुरी बुरी बातें कहीं। उसने कहा तुम लोग यह तो जानते हो ही कि, उस नृशंस मायावी महासुर ने मुझे रात को युद्ध के लिये ललकारा था। उसकी आवाज़ सुन, मैं तुरन्त राजभवन से निकला ॥ १३ ॥ १४ ॥

अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः ।
स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः ॥ १५ ॥

भ्रातृवद्भयसंत्रस्तो वीक्ष्यावां तमनुद्रुतौ ।
अनुद्रुतश्च वेगेन प्रविवेश महाविलम् ॥ १६ ॥

और मेरे पीछे पीछे मेरा यह कठोर हृदय भाई भी हो लिया। उस रात में, हम दोनों जनों को देख, वह महाबली असुर भयभीत हो, भागा। जब हमने भी उसका पीछा किया, तब वह बड़ी तेज़ी से भाग कर, एक बड़ी गुफा में घुस गया ॥ १५ ॥ १६ ॥

तं प्रविष्टं विदित्वा तु सुघोरं सुमहद्विलम् ।
अयमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु क्रूरदर्शनः ॥ १७ ॥

'उस बहुत बड़ी और भयङ्कर गुफा में उसको घुसा हुआ जान, मैंने अपने इस क्रूरदर्शन भाई से कहा ॥ १७ ॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम् ।
विलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ॥ १८ ॥

मैं इसे मारे बिना पुरी में नहीं जा सकता। सो जब तक मैं इसको मार कर लौटूँ, तब तक तुम इस गुफा के द्वार पर रह कर, मेरी प्रतीक्षा करना ॥ १८ ॥

स्थितोऽयमिति मत्वा तु प्रविष्टोऽहं दुरासदम् ।
तं च मे मार्गमाणस्य गतः संवत्सरस्तदा ॥ १९ ॥

मैं यह जान कर कि, मेरा भाई तो द्वार पर मौजूद ही है, उस दुर्गम गुफा में घुस गया। वहाँ जा कर उस दानव के ढूँढ़ने ही में एक साल लगा ॥ १९ ॥

स तु दृष्टो मया शत्रुरनिर्वेदा[1]द्भयावहः ।
निहतश्च मया तत्र सोऽसुरो बन्धुभिः सह ॥ २० ॥

---

१ अनिर्वेदात्—अक्लेशात्। (गो०)

वह भयावह शत्रु विना प्रयास ही मुझे देख पड़ा। मैंने सपरिवार उसको मार डाला ॥ २० ॥

तस्यास्यात्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्विलम् ।
पूर्णमासीद्दुराक्रामं स्तनतस्तस्य[1] भूतले[2] ॥ २१ ॥

बध करने के समय वह ऐसा चिल्लाया कि उसकी उस चिल्लाहट से तथा उसके शरीर से निकले हुए रक्त से वह गुफा भर गयी ॥ २१ ॥

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तं महासुरम् ।
निष्क्रामन्नैव पश्यामि विलस्यापिहितं मुखम् २२ ॥

उस महापराक्रमी महासुर को मार, जब मैं वहां से बाहिर आने लगा ; तब देखा कि, गुफा का द्वारा बंद पड़ा है ॥ २२ ॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः ।
यदा प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ २३ ॥

तब मैंने सुग्रीव ! सुग्रीव ! कह कर, बार बार पुकारा । किन्तु जब मुझे किसी ने उत्तर न दिया ; तब मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥२३॥

पादप्रहारैस्तु मया बहुभिस्तद्विदारितम् ।
ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुरमुपागतः ॥ २४ ॥

अन्त में मैंने लातों से उस पत्थर को तोड़ डाला और उस मार्ग से निकल कर, मैं नगर में आया ॥ २४ ॥

अत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं प्रार्थयताऽऽत्मनः ।
सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥ २५ ॥

---

१ स्तनतः—गर्जतः । (गो०) २ भूतले—भूविवरे । (गो०)

इस क्रूर सुग्रीव ने भ्रातृस्नेह को भुला कर, राज्य पाने के लोभ से मुझे गुफा में बंद कर दिया था ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः ।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः ॥ २६ ॥

साधुपन को त्याग, वालि ने यह कह और एक वस्त्र पहिना कर, मुझे निकाल दिया ॥ २६ ॥

तेनाहमपविद्धश्च हृतदारश्च राघव ।
तद्भयाच्च मही कृत्स्ना क्रान्तेयं सवनार्णवा ॥ २७ ॥

हे राघव ! मेरी स्त्री को भी उसने छीन लिया । तब से मैं उसके भय से त्रस्त हो वनों और समुद्रों सहित सारी पृथिवी पर घूमता रहा ॥ २७ ॥

ऋश्यमूकं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः ।
प्रविष्टोऽस्मि दुराधर्षं वालिनः कारणान्तरे ॥ २८ ॥

अपनी स्त्री के छिन जाने के दुःख से दुःखी हो, मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर चला आया । क्योंकि, कारणान्तर से वालि इस पर्वत पर नहीं आ सकता ॥ २८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत् ।
अनागसा मया प्राप्तं व्यसनं पश्य राघव ॥ २९ ॥

वालि से महावैर बँधने का जो कारण था, वह आपको सुनाया । हे राम देखिये, मैं निरपराध होने पर भी, महादुःख भोग रहा हूँ ॥ २९ ॥

वालिनस्तु भयार्तस्य सर्वलोकाभयङ्कर ।
कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ३० ॥

हे राम ! आप सब लोकों के भय दूर करने वाले हैं। अतः वालि को दण्ड दे कर, मुझे भी उसके भय से छुड़ाइये ॥ ३० ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम् ।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ ३१ ॥

तेजस्वी एवं धर्मात्मा श्रीराम जी सुग्रीव के यह धर्मसाने वचन सुन और मुसकरा कर, उससे कहने लगे ॥ ३१ ॥

अमोघाः सूर्यसङ्काशा ममैते निशिताः शराः ।
तस्मिन्वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ॥ ३२ ॥

हे सुग्रीव ! मेरे ये तीखे और सूर्य की तरह चमचमाते अचूक बाण उस दुराचारी वालि के ऊपर बड़ी तेज़ी के साथ गिरेंगे ॥ ३२ ॥

यावत्तं नाभिपश्यामि तव भार्यापहारिणम् ।
तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः ॥ ३३ ॥

जब तक मैं तुम्हारी स्त्री को छीनने वाले वालि को नहीं देख पाता, तभी तक उस कुचरित्र और पापाचारी को जीवित समझो ॥ ३३ ॥

आत्मानुमानात्पश्यामि मग्नं त्वां शोकसागरे ।
त्वामहं तारयिष्यामि कामं प्राप्स्यसि पुष्कलम् ॥ ३४ ॥

मैं अपने ऊपर से जानता हूँ कि, तुम भी शोकसागर में निमग्न हो रहे हो, किन्तु तुम्हारा उद्धार करूँगा और तुमको बड़ा लाभ होगा ॥ ३४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्मनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के हर्ष और पौरुष बढ़ाने वाले वचनों को सुन कर, सुग्रीव बहुत प्रसन्न हुए और बड़े अर्थगर्भित वचन बोले ॥ ३५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकादशः सर्गः

—※—

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम् ।
सुग्रीवः पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के हर्ष और पुरुषार्थ बढ़ाने वाले वचन सुन कर, सुग्रीव उनका पूजन कर प्रशंसा करते हुए बोले ॥ १ ॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्मर्मातिगैः शरैः ।
त्वं दहेः कुपितो लोकान्युगान्त इव भास्करः ॥ २ ॥

हे राम ! आप क्रुद्ध होने पर चमचमाते, पैने और मर्मभेदी बाणों से समस्त लोकों को वैसे ही जला सकते हैं, जैसे प्रलयकालीन सूर्य ॥ २ ॥

वालिनः पौरुषं यत्तद्यच्च वीर्यं धृतिश्च या ।
तन्ममैकमनाः श्रुत्वा विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ३ ॥

किन्तु वालि का पौरुष, पराक्रम और धीरता को सावधानता पूर्वक सुन लीजिये। तदनन्तर जो उचित समझिये कीजिये॥ ३॥

समुद्रात्पश्चिमात्पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः॥ ४॥

वालि सूर्य उदय होने के पूर्व पश्चिम समुद्र से पूर्व समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से उत्तर समुद्र के किनारे तक घूम आता है, किन्तु इतनी दूर चल कर भी वह थकता नहीं॥ ४॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि।
ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान्॥ ५॥

वह महापराक्रमी वालि पर्वतों पर चढ़, उनके बड़े बड़े शिखरों को उछाल कर (गेंद की तरह) हाथ में गुपक लेता है॥ ५॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः॥ ६॥

वनों के बड़े बड़े दृढ़ और तरह तरह के वृक्षों को उसने उखाड़ कर फेंक दिया है और अपने बल का परिचय दिया है॥ ६॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान्॥ ७॥

कैलास पर्वत के शिखर के समान विशालकाय दुन्दभी नामक पराक्रमी भैसा, अपने शरीर में एक हज़ार हाथियों का बल रखता था॥ ७॥

वीर्योत्सेकेन दुष्टात्मा वरदानाच्च मोहितः।
जगाम सुमहाकायः समुद्रं सरितां पतिम्॥ ८॥

वह अपने शारीरिक बल और वरदान के घमण्ड से मतवाला हो महाकाय दुन्दभी, समुद्र के निकट गया ॥ ८ ॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसञ्चयम् ।
मह्यं युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम् ॥ ९ ॥

वह समुद्र की लहरों को रोक कर रत्नसञ्चयी समुद्र से बोला कि, मुझसे युद्ध करो ॥ ९ ॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः ।
अब्रवीद्वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम् ॥ १० ॥

हे राजन् ! तब धर्मात्मा समुद्र ने उठ कर कालपाश से बद्ध उस दानव से कहा कि, ॥ १० ॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद ।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥ ११ ॥

हे युद्धविशारद ! मुझमें तो इतनी सामर्थ्य नहीं कि, मैं तेरे साथ लड़ सकूँ, किन्तु सुन, मैं तुझे उसको बतलाता हूँ, जो तेरे साथ युद्ध कर सकेगा ॥ ११ ॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम् ।
शङ्करश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः ॥ १२ ॥
गुहाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्दरः ।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमाहवे ॥ १३ ॥

देख, तपस्वियों की आश्रयस्थल और शङ्कर के ससुर, हिमवान नाम से प्रसिद्ध और अनेक गुफाओं और झरनों से युक्त, पर्वतराज के निकट तुम जाओ। वह तुम को युद्ध में प्रसन्न कर सकता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

तं भीत इति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः ।
हिमवद्वनमागच्छच्छरश्चापादिव च्युतः ॥ १४ ॥

वह असुरोत्तम समुद्र को अपने से भयभीत हुआ जान, कमान से छूटे हुए तीर की तरह बड़े वेग से सीधा हिमालय के वन में पहुँचा ॥ १४ ॥

ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रविपुलाः शिलाः ।
चिक्षेप बहुधा भूमौ दुन्दुभिर्विननाद च ॥ १५ ॥

और उस पर्वत की, बर्फ़ से ढकी होने के कारण सफ़ेद और गजेन्द्र की तरह विशाल शिला को उखाड़ उखाड़ कर, भूमि पर पटक, बड़े ज़ोर से गर्जा ॥ १५ ॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः ।
हिमवानब्रवीद्वाक्यं स्थ एव शिखरे स्थितः ॥ १६ ॥

तब सफ़ेद बादल की तरह सुन्दर और मनोहर आकार धारण कर, हिमालय अपने एक शिखर पर खड़ा हो कर, दुन्दभि से बोला ॥ १६ ॥

क्लेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल ।
रणकर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणं ह्यहम् ॥ १७ ॥

हे धर्मवत्सल दुन्दभे ! मुझे कष्ट देना तुम्हें उचित नहीं। क्योंकि मैं तो रणकौशल में कुशल नहीं हूँ। मैं तो तपस्वियों का आश्रयस्थल मात्र हूँ ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं रोषात्संरक्तलोचनः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् हिमवान के ऐसे वचन सुन, वह दुन्दुभि क्रोध से लाल लाल नेत्र कर के बोला ॥ १८ ॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद्वा निरुद्यमः ।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे योऽद्य युद्धं युयुत्सतः ॥ १९ ॥

यदि तुम मुझसे युद्ध करने में असमर्थ हो अथवा मेरे डर से तुम उद्यमहीन हो तो, बतलाओ मुझसे युद्ध करने योग्य कौन है ? ॥ १९ ॥

हिमवानब्रवीद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः ।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात्तमसुरोत्तमम् ॥ २० ॥

वचन बोलने में चतुर धर्मात्मा हिमालय उसके ऐसे वचन सुन उस क्रोध से मतवाले असुरोत्तम से ऐसे वचन बोला जैसे कि, वह पहिले कभी नहीं बोला था ॥ २० ॥

वाली नाम महाप्राज्ञः शक्रतुल्यपराक्रमः ।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान्किष्किन्धामतुलप्रभाम् ॥ २१ ॥

हिमवान ने कहा—हे असुरोत्तम ! अतुलित प्रभा वाली किष्किन्धा नामक नगरी में बड़ा बुद्धिमान, प्रतापी और इन्द्र के समान पराक्रमी वालि नाम का एक वानर रहता है ॥ २१ ॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः ।
द्वन्द्वयुद्धं महद्दातुं नमुचेरिव वासवः ॥ २२ ॥

वह बड़ा बुद्धिमान वालि तुमसे उसी प्रकार युद्ध कर सकता है, जिस प्रकार नमुचि दैत्य के साथ इन्द्र ने युद्ध किया था ॥ २२ ॥

तं शीघ्रमभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि ।
स हि दुर्धर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि ॥ २३ ॥

यदि तुमको युद्ध करने की अभिलाषा है, तो तुम शीघ्र उसके पास जाओ। क्योंकि वह बड़ा दुर्धर्ष और युद्ध के कार्य में बड़ा शूर है ॥ २३ ॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं क्रोधाविष्टः स दुन्दुभिः ।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्धां वालिनस्तदा ॥ २४ ॥

हिमवान के ये वचन सुन दुन्दभि क्रोध में भरा हुआ अति शीघ्रता पूर्वक वालि की किष्किन्धा नामक नगरी में आया ॥ २४ ॥

धारयन्माहिषं रूपं तीक्ष्णशृङ्गो भयावहः ।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले ॥ २५ ॥

वह असुर पैने पैने सींगों सहित भयानक भैसे का रूप धारण किये हुए, आकाश में वर्षा ऋतु के जलपूर्ण मेघ की तरह देख पड़ता था ॥ २५ ॥

ततस्तद्द्वारमागम्य किष्किन्धाया महाबलः ।
ननर्द कम्पयन्भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा ॥ २६ ॥

फिर वह महाबली दुन्दभि किष्किन्धा नगरी के द्वार पर जा पृथिवी को कंपाता हुआ, नगाड़े के शब्द के समान नाद करने लगा ॥ २६ ॥

समीपस्थान्द्रुमान्भञ्जन्वसुधां दारयन्खुरैः ।
विषाणेनोल्लिखन्दर्पात्तद्द्वारं द्विरदो यथा ॥ २७ ॥

वह अभिमान में भर मतवाले हाथी की तरह किष्किन्धा के द्वार वाले पेड़ों को उखाड़ने और अपने खुरों और सींगों से भूमि को खोदने लगा ॥ २७ ॥

अन्तःपुरगतो वाली श्रुत्वा शब्दममर्षणः ।
निष्पपात सह स्त्रीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥ २८ ॥

अन्तःपुर में बैठा हुआ वालि उसके शब्द को सुन और उसे न सह कर, तारागण सहित चन्द्रमा की तरह सब स्त्रियों के साथ बाहर चला आया ॥ २८ ॥

मितं व्यक्ताक्षरपदं तमुवाचाथ दुन्दुभिम् ।
हरीणामीश्वरो वाली सर्वेषां वनचारिणाम् ॥ २९ ॥

समस्त वनचरों और वानरों का राजा वालि, दुन्दभि से संक्षेप में, किन्तु स्पष्ट शब्दों में बोला ॥ २९ ॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं रुद्ध्वा विनर्दसि ।
दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान्महाबल ॥ ३० ॥

तू क्यों इस नगर के द्वार को छेंके हुए गर्जता है । हे महाबलवान् दुन्दभि ! मैं तुझे जानता हूँ । तू अपने प्राण बचा ॥ ३० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं रोषात्संरक्तलोचनः ॥ ३१ ॥

धीमान् वानरराज वालि के ऐसे वचन सुन कर, दुन्दभि लाल लाल आँखें कर, वालि से कहने लगा ॥ ३१ ॥

न त्वं स्त्रीसन्निधौ वीर वचनं वक्तुमर्हसि ।
मम युद्धं प्रयच्छाद्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥ ३२ ॥

हे वीर ! स्त्रियों के समीप खड़े हो कर, तुझे ऐसी बातें कहनी उचित नहीं । आज मेरे साथ युद्ध कर, तब मुझे तेरा बल मालूम हो जायगा ॥ ३२ ॥

अथवा धारयिष्यामि क्रोधमद्य निशामिमाम् ।
गृह्यतामुदयः स्वैरं कामभोगेषु वानर ॥ ३३ ॥

अथवा यदि तू अभी युद्ध करना नहीं चाहता हो तो, आज मैं अपने क्रोध को रोके लेता हूँ । कल सवेरे युद्ध हो । हे वानर ! आज की रात तुम सुख और भोग लो ॥ ३३ ॥

दीयतां सम्प्रदानं[1] च परिष्वज्य च वानरान् ।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्त्वं संसादय सुहृज्जनान् ॥ ३४ ॥

जो कुछ तुम्हें दान पुण्य करना हो सो कर लो और जिन वानरों से मिलना भेंटना हो मिल भेंट लो और सब इष्टमित्रों को भी आदर मान से प्रसन्न कर लो ॥ ३४ ॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे ।
क्रीडस्व च सह स्त्रीभिरहं ते दर्पनाशनः ॥ ३५ ॥

किष्किन्धा को भी भली भाँति देख भाल लो, और अपने समान किसी योग्य वानर को यह राज्य सौंप दो । अपनी स्त्रियों से क्रीडा भी कर लो । क्योंकि मैं तुम्हारा अहङ्कार दूर कर, तुमको मार डालूँगा ॥ ३५ ॥

यो हि मत्तं[2] प्रमत्तं[3] वा सुप्तं वा रहितं[4] भृशम् ।
हन्यात्स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं[5] मदमोहितम्[6] ॥ ३६ ॥

---

१ सम्प्रदानं—देयद्रव्यं । (गो०) २ मत्तं—मधुपानादिनामत्तं । (गो०) ३ प्रमत्तं—अनवहितं । (गो०) ४ रहितं—आयुधादिशून्यं । (गो०) ५ त्वद्विधं—त्वामिवस्त्रीमध्यगतं । (गो०) ६ मदमोहितं—मदनमोहितं । (गो०)

जो पुरुष शराबी, असावधान, सोते हुए, आयुधादि से रहित, और तुम्हारी तरह मदन से मोहित को मारता है, वह गर्भहत्या के पाप को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

स प्रहस्यान्नवीन्मन्दं क्रोधात्तमसुरोत्तमम् ।
विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्तारामभृतिकास्तदा ॥ ३७ ॥

उस असुर के ये वचन सुन, वालि ने क्रोध में भर उन तारा आदि समस्त स्त्रियों को विदा किया और मुसक्या कर धीरे धीरे दुन्दभि से कहा ॥ ३७ ॥

मत्तोऽयमिति मा मंस्था यद्यभीतोऽसि संयुगे ।
मदोयं संग्रहारेऽस्मिन्वीरपानं समर्थ्यताम् ॥ ३८ ॥

हे वीर ! तू मुझे मतवाला मत जान । यदि तू संग्राम में निर्भय है, तो इस मद्यपान को तू वीरपान जान ॥ ३८ ॥

तमेवमुक्त्वा संक्रुद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।
पित्रा दत्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

ऐसा कह, वालि अपने गले की माला को, जो उसे उसके पिता इन्द्र ने दी थी, पहिन कर, युद्ध के लिये उद्यत हुआ ॥ ३९ ॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसन्निभम् ।
आविध्यत तदा वाली विनदन्कपिकुञ्जरः ॥ ४० ॥

वालि ने उस पहाड़ जैसे आकार के दुन्दभि के दोनों सींग पकड़, उसे दूर फेंक दिया और घोर नाद किया ॥ ४० ॥

वाली व्यापातयाञ्चक्रे ननर्द च महास्वनम् ।
श्रोत्राभ्यामथ रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ॥ ४१ ॥

दुन्दभि को गिरा कर वालि सिंहनाद कर गर्जने लगा। वालि ने उसे ऐसी ज़ोर से पटका कि, उसके कानों से रक्त वहने लगा ॥४१॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात्परस्परजयैषिणोः ।
युद्धं समभवद्घोरं दुन्दुभेर्वानरस्य च ॥ ४२ ॥

तदनन्तर परस्पर जीतने की इच्छा रखने वाले और क्रोध में भरे हुए वालि और दुन्दभि का घोर युद्ध हुआ ॥ ४२ ॥

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव शिलाभिः पादपैस्तथा ॥ ४३ ॥

इन्द्र तुल्य पराक्रमी वालि लात, घूंसा, जाँघ, शिला और वृक्षों से युद्ध करने लगा ॥ ४३ ॥

परस्परं व्रतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा ।
असीददसुरो युद्धे शक्रसूनुर्न्यवर्धत ॥ ४४ ॥

वानर और असुर का युद्ध हुआ। युद्ध होते होते उस असुर का बल क्षीण होने लगा और वालि का वढ़ने लगा ॥ ४४ ॥

व्यापारवीर्यधैर्यैश्च परिक्षीणं पराक्रमैः ।
तं तु दुन्दुभिमुत्पाट्य धरण्यामभ्यपातयत् ॥ ४५ ॥

जब दुन्दभि का साहस, वल, धैर्य और पराक्रम मन्द पड़ गया, तब वालि ने उठा कर, उसे ज़मीन पर पटक दिया ॥ ४५ ॥

युद्धे प्राणहरे तस्मिन्निष्पिष्टो दुन्दुभिस्तदा ।
पपात च महाकायः क्षितौ पञ्चत्वमागतः ॥ ४६ ॥

उस प्राणविनाशकारी युद्ध में दुन्दभि को वालि ने चूर्ण कर डाला। तब वह महाकाय असुर ज़मीन पर गिर कर, मर गया ॥ ४६ ॥

तं तोलयित्वा बाहुभ्यां गतसत्त्वमचेतनम् ।
चिक्षेप बलवान्वाली वेगेनैकेन योजनम् ॥ ४७ ॥

बलवान् वालि ने उस गतप्राण दुन्दभि को उठा कर, एक योजन पर फेंक दिया ॥ ४७ ॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रात्क्षतजविन्दवः ।
प्रपेतुर्मारुतोत्क्षिप्ता मतङ्गस्याश्रमं प्रति ॥ ४८ ॥

वालि ने जब उसे बड़े ज़ोर से फेंका, तब उसके मुख से टपकता हुआ रुधिर, वायु के झोके से उड़ कर, मतङ्ग के आश्रम में गिरा ॥ ४८ ॥

तान्दृष्ट्वा पतितांस्तस्य मुनिः शोणितविप्रुषः ।
क्रुद्धस्तत्र महाभागश्चिन्तयामास को न्वयम् ॥ ४९ ॥
येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना ।
कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा[1] च वालिशः ॥ ५० ॥

मुनि उन रुधिर की बूंदों को देख, बहुत क्रुद्ध हुए और कुछ देर तक वे सोचते रहे कि, किस दुष्ट ने मेरे ऊपर यह रुधिर का छिड़काव किया है। वह कौन दुरात्मा, दुर्बुद्धि, नीच, अजितेन्द्रिय और मूर्ख है ? ॥ ४९ ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वाथ विनिष्क्रम्य ददर्श मुनिपुङ्गवः ।
महिषं पर्वताकारं गतासुं पतितं भुवि ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सोच विचार ज्यों ही मुनि आश्रम से निकले, त्यों ही उन्हें एक पर्वताकार भैंसा मरा हुआ, ज़मीन पर पड़ा, देख पड़ा ॥५१॥

---

१ अकृतात्मा—अवशीकृतान्तःकरणः । (गो०)

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत् ।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वालिनं प्रति ॥ ५२ ॥

तब तो मतङ्ग मुनि ने तपोबल से जान लिया, कि, यह सारी करतूत वालि की है। अतः यह जान उन्होंने भैंसा फेंकने वाले वालि को शाप दिया ॥ ५२ ॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत् ॥
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः ॥ ५३ ॥

मेरे आश्रम को जिसने रक्त की बूंदों से तर कर दूषित कर दिया है, वह इस आश्रम में न आने पावेगा और यदि आया तो वह मर जायगा ॥ ५३ ॥

संभग्नाः पादपाश्चेमे क्षिपतेहासुरीं तनुम् ।
समन्ताद्योजनं पूर्णमाश्रमं मामकं यदि ॥ ५४ ॥
आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति ।
ये चापि सचिवास्तस्य संश्रिता मामकं वनम् ॥ ५५ ॥
न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम् ।
यदि तेऽपीह तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

इस असुर की मृत देह फेंक कर, जिसने मेरे आश्रम के वृक्ष तोड़े हैं वह यदि मेरे आश्रम में घुसा या इस आश्रम के चार कोस के घेरे के भीतर वह दुर्बुद्धि आया, तो भी, वह निश्चय ही मर जायगा। उसके मित्र या मंत्री—कोई भी जो मेरे वन में वास करते हैं, अब वे भी यहाँ न रहें। यदि वे यहाँ रहेंगे तो, उन्हें भी मैं अवश्य शाप दे दूँगा। अतः मेरे इस शाप को सुन, उन्हें अन्यत्र जहाँ कहीं सुख मिले, वहाँ चल देना चाहिये ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

वनेऽस्मिन्मामकेऽत्यर्थं पुत्रवत्परिपालिते ।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥ ५७ ॥

क्योंकि मैं इस वन का पालन सदा पुत्रवत् किया करता हूँ। उनके यहाँ रहने से पत्ते अङ्कुर फल और मूल एक भी नहीं बचने पाते ॥ ५७ ॥

दिवसश्चास्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम् ।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति ॥ ५८ ॥

आज के दिन तक मेरे शाप की मर्यादा है, सबेरा होते ही वालि की ओर के जिस किसी वंदर को यहाँ देखूँगा, तो उसे हज़ारों वर्ष तक पत्थर हो कर रहना पड़ेगा ॥ ५८ ॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम् ।
निश्चक्रमुर्वनात्तस्मात्तान्दृष्ट्वा वालिरब्रवीत् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर उस वन के रहने वाले सब वानर मुनि के ये वचन सुन कर, वहाँ से चले गये। उनको वहाँ से निकला हुआ देख, वालि बोला ॥ ५९ ॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः ।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम् ॥ ६० ॥

मतङ्गवनवासी वानरों ! तुम सब के सब क्यों मेरे पास आये हो ? सब वानर प्रसन्न तो हैं ? ॥ ६० ॥

ततस्ते कारणं सर्वं तदा शापं च वालिनः ।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने ॥ ६१ ॥

उन सब वानरों ने सुवर्णमालाधारी वालि से सारा वृत्तान्त कहा और यह कहा कि, आपको भी मतङ्ग मुनि ने शाप दिया है ॥ ६१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाली वचनं वानरेरितम् ।
स महर्षिं तदासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥ ६२ ॥

उन वानरों के वचन सुन वालि महर्षि मतङ्ग के पास जा और हाथ जोड़ उनको प्रसन्न करने लगा ॥ ६२ ॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रविवेशाश्रमं तदा ।
शापधारणभीतस्तु वाली विह्वलतां गतः ॥ ६३ ॥

परन्तु महर्षि मतङ्ग उसकी बातों पर ध्यान न दे, अपने आश्रम के भीतर उठ कर चले गये और शाप के भय से वालि अत्यन्त विकल हो गया ॥ ६३ ॥

ततः शापभयाद्भीत ऋश्यमूकं महागिरिम् ।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥ ६४ ॥

हे नरेश्वर ! तब से शाप के भय से वालि इस ऋष्यमूक पर्वत पर कभी नहीं आता—यहां तक कि, इस पर्वत की ओर मारे डर के देखता भी नहीं ॥ ६४ ॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाऽहमिदं राम महावनम् ।
विचरामि सहामात्यो विषादेन विवर्जितः ॥ ६५ ॥

वालि का इस वन में आना निषिद्ध जान कर ही मैं, विषाद रहित हो, मंत्रियों सहित इस वन में वास करता हूँ ॥ ६५ ॥

एषोऽस्थिनिचयस्तस्य दुन्दुभेः सम्प्रकाशते ।
वीर्योत्सेकान्निरस्तस्य गिरिकूटोपमो महान् ॥ ६६ ॥

देखिये, यही उस दुन्दुभि की हड्डियों का पहाड़ के समान ढेर है, जिसको वालि ने अपने बल पराक्रम से उठा कर, यहां फैंका था ॥ ६६ ॥

इमे च विपुलाः साला: सप्त शाखावलम्बिनः ।
यत्रैकं घटते[1] वाली निष्पत्रयितुमोजसा ॥ ६७ ॥

हे राम ! ये जो मोटे सात साखू के बड़ी बड़ी शाखाओं वाले पेड़ हैं, इनमें से एक एक को वालि अपने पराक्रम से हिला कर बिना पत्ते का कर सकता है ॥ ६७ ॥

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकीर्तितम् ।
कथं तं वालिनं हन्तुं समरे शक्ष्यसे नृप ॥ ६८ ॥

हे राम ! मैंने यह आपसे वालि का बल वर्णन किया सो आप उस वालि को युद्ध में किस प्रकार मार सकेंगे ॥ ६८ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसँल्लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
कस्मिन्कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम् ॥ ६९ ॥

इस प्रकार कहते हुए सुग्रीव से लक्ष्मण जी ने हँस कर कहा—श्रीरामचन्द्र जी कौनसा काम कर के तुमको दिखावें जिससे उनके द्वारा वालि के मारे जाने का तुमको विश्वास हो ॥ ६९ ॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान्पुरा ।
एवमेकैकशो वाली विव्याधाथ स चासकृत् ॥ ७० ॥

यह सुन, सुग्रीव बोले कि, ये सात साल के वृक्ष जो सामने देख पड़ते हैं वालि इन पेड़ों में से एक को पकड़ जब चाहता था, तब एक ही बार में सब वृक्षों को हिला देता था ॥ ७० ॥

रामोऽपि दारयेदेषां बाणेनैकेन चेद्द्रुमम् ।
वालिनं निहतं मन्ये दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ ७१ ॥

---

१ घटते—शक्नोति । (गो०)

सो श्रीरामचन्द्र जी भी यदि एक ही बाण से इनमें से एक भी साल के वृक्ष को काट डालें तो, मैं इनका पराक्रम देखूँ, वालि को मरा समझूँ ॥ ७१ ॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण ।
उद्यम्याथ प्रक्षिपेच्चेत्तरसा द्वे धनुःशते ॥ ७२ ॥

मृत दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को एक पैर से यदि राम दो सौ धनुष पर फेंक दें तो मैं वालि को मरा समझूँ ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥

यह कह सुग्रीव लाल लाल नेत्र कर और मुहूर्त्त भर सोच कर, फिर श्रीराम से बोले ॥ ७३ ॥

शूरश्च शूरघाती च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान्वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥ ७४ ॥

हे राम ! वालि स्वयं बड़ा शूर वीर और शूर वीरों का वध करने वाला है । वह एक प्रसिद्ध बलवान् और पुरुषार्थी है । उस बलवान् वानर वालि को युद्ध में कोई पराजित नहीं कर सकता है ॥ ७४ ॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि संचिन्त्य भीतोऽहमृश्यमूकं समाश्रितः ॥ ७५ ॥

उसके जितने काम देखे जाते हैं, उन्हें देवता भी नहीं कर सकते । उनके उन कर्मों का स्मरण करने ही से मुझे बड़ा डर लगता है और इसीसे मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर पड़ा रहता हूँ ॥ ७५ ॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्न मुञ्चामि ऋश्यमूकमहं त्विमम् ॥ ७६ ॥

उस अजेय, अधृष्य, और सहन करने के अयोग्य वालि को याद कर के, मैं ऋश्यमूक पर्वत को नहीं छोड़ सकता ॥ ७६ ॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चापि विचरामि महावने ।
अनुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥ ७७ ॥

मै उद्विग्न और शङ्कित हो हनुमानादि पांच मंत्रियों के साथ इस महावन में घूमा फिरा करता हूँ ॥ ७७ ॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल ।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥ ७८ ॥

हे मित्रवत्सल नरश्रेष्ठ ! आप श्लाघ्य और सन्मित्र हैं। जैसे लोग हिमालय का आश्रय लेते हैं, वैसे ही मैंने आपका आश्रय लिया है ॥ ७८ ॥

किंतु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः ।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥ ७९ ॥

हे राघव ! मुझे अपने उस बलवान् एवं दुष्टात्मा भाई वालि का बल मालूम है ; परन्तु मुझे अभी यह नहीं मालूम कि, आप कैसे बलवान् हैं ॥ ७९ ॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये ।
कर्मभिस्तस्य भीमैस्तु कातर्यं जनितं मम ॥ ८० ॥

इस लिये न तो मैं उसके साथ तुलना कर सकता हूँ, न मैं आपका अनादर करता हूँ और न आपको उससे भयभीत ही करता हूँ। किन्तु उसके इन भयङ्कर कर्मों को सोच कर, मैं कातर होता हूँ ॥ ८० ॥

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः ।
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ८१ ॥

हे राघव ! आपके वचन, धैर्य और आकृति ही से आपके वीर होने का परिचय मिलता है। ये सब गुण, राख से ढकी हुई आग की तरह आपके तेज को सूचित करते हैं ॥ ८१ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः ।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रभुः ॥ ८२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी महात्मा सुग्रीव के ये वचन सुन, मुसक्या कर उनसे बोले ॥ ८२ ॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर ।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥ ८३ ॥

हे वानर ! यदि तुमको मेरे पराक्रम पर विश्वास नहीं है, तो मैं तुम्हें अपने में वालि के साथ युद्ध करने में उत्कृष्ट बल रखने का पक्का विश्वास कराये देता हूँ ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वं लक्ष्मणपूर्वजः ।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥ ८४ ॥
तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम् ।
असुरस्य तनुं शुष्कं पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥ ८५ ॥

महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव को समझा कर, अपने पैर के अँगूठे से दुन्दुभी की हड्डियों के ढेर को अनायास दस योजन पर फेंक दिया। उस असुर के शरीर की सूखी हड्डियों को बलवान श्रीरामचन्द्र जी के पैर के अँगूठे से ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमर्थवत् ॥ ८६ ॥

फैंका जाना देख, सुग्रीव ने लक्ष्मण के सामने श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त ये वचन कहे ॥ ८६ ॥

हरीणामग्रतो वीरं तपन्तमिव भास्करम् ।
आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ॥ ८७ ॥
लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव ।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥ ८८ ॥
क्षिप्तमेवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ।
नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाऽधिकम् ॥ ८९ ॥

सुग्रीव ने ये वचन वानरों के सामने सूर्य की तरह तपते हुए श्रीरामचन्द्र जी से कहे—हे सखे ! पहले यह शरीर रुधिर मांस युक्त था । उस समय मेरे भाई वालि ने बड़े परिश्रम से इसे उठा कर फैंका था । हे रघुनन्दन ! अब तो यह शरीर मांसहीन होने से तृण की तरह, हल्का हो गया है । उसे आपने सहज में फैंक दिया है । अतः आपके और वालि के बल में कमीवेशी नहीं मालूम हो सकती ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत्सुमहद्राघवान्तरम् ।
स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बले ॥ ९० ॥

हे राघव ! गीली और सूखी वस्तु के वज़न में बड़ा अन्तर होता है । इसीसे आपके और उसके बल की तुलना करने में संशय उत्पन्न हो गया ॥ ९० ॥

सालमेकं तु निर्भिन्द्या भवेद्व्यक्तिर्बलाबले ।
कृत्वेदं कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम् ।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥ ९१ ॥

आप एक साखू के पेड़ को भेदन करें तो अभी आपका और वालि का बलाबल मालूम पड़ जाय । आप इस हाथी की सूँड़ की तरह अपने धनुष पर रोदा चढ़ा कर और उसे कान तक खींच एक बड़ा तीर छोड़िये ॥ ९१ ॥

इमं हि सालं सहितस्त्वया शरो
न संशयोऽस्ति विदारयिष्यति ।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजात्मज शापितो मया ॥ ९२ ॥

हे राजपुत्र ! आपका छोड़ा हुआ तीर निश्चय ही इस शाल के वृक्ष को विदीर्ण कर डालेगा । अब आप इस विषय में कुछ भी सोच विचार न करें और आपको मेरी शपथ है, आप अवश्य मेरा इतना प्रिय कार्य कर के दिखावें ॥ ९२ ॥

यथा हि तेजःसु वरः सदा रवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान्महाद्रिषु ।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥ ९३ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

जैसे तेजस्वियों में सूर्य, पर्वतों में हिमालय और चौपायों में सिंह श्रेष्ठ है, वैसे ही पराक्रमशाली पुरुषों में आप श्रेष्ठ हैं ॥ ९३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का ग्यारहवां सर्ग पूरा हुआ ।

द्वादशः सर्गः

—*—

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम् ।
प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥ १ ॥

सुग्रीव के इन वचनों को सुन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने, उनको विश्वास कराने के लिये, अपना धनुष उठाया ॥ १ ॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः ।
सालमुद्दिश्य चिक्षेप ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥ २ ॥

मानप्रद श्रीराम जी ने उस भयङ्कर धनुष पर एक तीर रख, और साल के पेड़ को निशाना बना उसे ऐसे ज़ोर से छोड़ा कि, उसके छुटने के शब्द से दसों दिशाएँ परिपूर्ण हो गयीं ॥ २ ॥

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः[1] ।
भित्त्वा सालान्गिरिमस्थे सप्त भूमिं विवेश ह ॥ ३ ॥

सोने के बंदों से जकड़ा हुआ, वह तीर बलवान श्रीरामचन्द्र जी द्वारा चलाया जा कर, सातों तालों के पेड़ों को और पर्वत को फोड़ कर ज़मीन में घुस गया ॥ ३ ॥

प्रविष्टश्च मुहूर्तेन धरां भित्त्वा महाजवः ।
निष्पत्य च पुनस्तूर्णं स्वतूणीं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

वह तीर बड़ी तेज़ी से निकल ज़मीन को फोड़ और मुहूर्त्त भर में वहाँ से फिर श्रीरामचन्द्र जी के तरकस में आ गया ॥ ४ ॥

---

१ स्वर्णपरिष्कृतः—स्वर्णपट्टालंकृतः ।

तान्दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान्सालान्वानरपुङ्गवः ।
रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः ॥ ५ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने सात ताल वृक्षों को विदीर्ण करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के बाण के वेग को देख बड़ा अचंभा माना ॥ ५ ॥

स मूर्ध्ना न्यपतद्भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः[1] ।
सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

सुग्रीव के मालादि भूषण खसक पड़े। उन्होंने पृथिवी पर पसर कर श्रीरामचन्द्रजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और परम प्रसन्न हो हाथ जोड़े ॥ ६ ॥

इदं चोवाच धर्मज्ञं कर्मणा तेन हर्षितः ।
रामं सर्वास्त्रविदुषां श्रेष्ठं शूरमवस्थितम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के उस कार्य से प्रसन्न हो, सुग्रीव, सर्वशस्त्र-विशारद, वीरवर और धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ७ ॥

सेन्द्रानपि सुरान्सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ ।
समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप अपने बाणों से चाहे तो युद्ध में इन्द्रादि समस्त देवताओं को मार सकते हैं। फिर वालि की तो विसात ही क्या है ॥ ८ ॥

येन सप्त महासाला गिरिर्भूमिश्च दारिताः ।
बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः ॥ ९ ॥

---

१ प्रलम्बीकृतभूषण—इत्येनेन उदात्तस्पर्शउक्तः । (गो०)

जिसने सात साल के पेड़ों को और भूमि को एक ही बाण से विदीर्ण कर डाला, उसके (अर्थात् आपके) सामने युद्धक्षेत्र में कौन खड़ा रह सकता है ॥ ९ ॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम ।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ १० ॥

आज मेरा दुःख दूर हुआ और मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। मैंने तुमको इन्द्र और वरुण के तुल्य मित्र पाया है ॥ १० ॥

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ। आप मुझे प्रसन्न करने के लिये वैरी रूपी मेरे भाई को मारिये ॥ ११ ॥

ततो रामः परिष्वज्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुमतं वचः ॥ १२ ॥

बड़े बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी के समान प्रियदर्शन सुग्रीव को गले लगा कर, उनसे कहा ॥ १२ ॥

अस्मादृगच्छेम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः ।
गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम्[1] ॥ १३ ॥

हे सुग्रीव ! अब यहाँ से शीघ्र ही किष्किन्धा को चलना चाहिये। तुम आगे जा कर अपने भ्रातृहिंसक भाई को ललकारो ॥ १३ ॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन्गहने वने ॥ १४ ॥

---

१ भ्रातृगन्धिनम्—भ्रातृहिंसकं । (गो०)

यह कह कर, श्रीराम सुग्रीवादि सब तुल्य वालि की राजधानी किष्किन्धा पुरी में पहुँचे और सघन वन में पेड़ों की आड़ में छिप कर खड़े रहे ॥ १४ ॥

सुग्रीवो व्यनदद्घोरं वालिनो ह्वानकारणात् ।
गाढं परिहितो[1] वेगान्नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सुग्रीव कपड़ा कमर में लपेट वालि को बुलाने के लिये बड़े ज़ोर से चिल्लाते रहे, मानों आकाश को वे विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १५ ॥

ननाद सुमहानादं पूरयन्वै नभःस्थलम् ।
तं श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः ॥ १६ ॥

उच्चस्वर से चिल्लाते हुए सुग्रीव के नाद से आकाश परिपूर्ण हो गया । तब भाई के उस नाद को सुन, महाबली वालि बहुत क्रुद्ध हुआ ॥ १६ ॥

निष्पपात* सुसंरब्धो भास्करोऽस्ततटादिव ।
ततस्तु तुमुलं युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत् ॥ १७ ॥

और ऐसे झपट कर आया, जैसे सूर्य अस्ताचल से निकल कर आते हैं । तदनन्तर वालि और सुग्रीव का तुमुल युद्ध हुआ ॥१७॥

गगने ग्रहयोर्घोरं बुधाङ्गारकयोरिव ।
तलैरशनिकल्पैश्च वज्रकल्पैश्च मुष्टिभिः ॥ १८ ॥

आकाश में बुध और मङ्गल ग्रहों की तरह वालि और सुग्रीव, वज्र तुल्य थप्पड़ और वज्र तुल्य घूँसों से ॥ १८ ॥

---

१ गाढं परिहितो—बलवृद्धये दृढवद्धपरिधानः । (गो०) * पाठान्तरे " निश्चक्राम " ।

जघ्नतुः समरेऽन्योन्यं भ्रातरौ क्रोधमूर्छितौ ।
ततो रामो धनुष्पाणिस्तावुभौ समुदीक्ष्य तु ॥ १९ ॥

क्रोध में भर एक दूसरे को मारने लगे । उस समय श्रीरामचन्द्र जी धनुष बाण लिये हुए उन दोनों भाइयों को देखते रहे ॥ १९ ॥

अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ।
यन्नावगच्छत्सुग्रीवं वालिनं वाऽपि राघवः ॥ २० ॥

दोनों एक ही शक्ल सूरत के थे, मानों दोनों अश्वनीकुमार हों। श्रीरामचन्द्र जी को यह भेद न जान पड़ा कि, उन दोनों में कौनसा वालि है और कौन सा सुग्रीव ॥ २० ॥

ततो न कृतवान्बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम् ।
एतस्मिन्नन्तरे भग्नः सुग्रीवस्तेन वालिना ॥ २१ ॥
अपश्यन्राघवं नाथमृश्यमूकं प्रदुद्रुवे ।
क्रान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः* ॥ २२ ॥

इसीसे श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रु के प्राण हरने वाले अपने बाण को न छोड़ा । उधर सुग्रीव, वालि से हार कर, श्रीरामचन्द्र जी को अपनी सहायता करने में उद्यत न देख, ऋश्यमूक पर्वत पर भाग गया । उस समय वालि के प्रहारों से सुग्रीव क्षत विक्षत हो रहा था । वह थक गया था और खून में डूबा हुआ था ॥ २१ ॥ २२ ॥

वालिनाऽभिद्रुतः क्रोधात्प्रविवेश महावनम् ।
तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयार्दितः ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे "जर्झरी"

वालि ने जब क्रोध में भर सुग्रीव का पीछा किया, तब सुग्रीव भाग कर महावन में चला गया। सुग्रीव को उस महावन में प्रविष्ट हुआ देख, वालि शाप के भय से त्रस्त हो ॥ २३ ॥

मुक्तो ह्यसि त्वमित्युक्त्वा सन्निवृत्तो महाद्युतिः ।
राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनूमता ॥ २४ ॥

बोला कि, जा तुझे छोड़ दिया। यह कह वह महाद्युतिमान् वालि वहाँ से लौट गया। श्रीरामचन्द्र जी भी लक्ष्मण और हनुमान के साथ ॥ २४ ॥

तदेव वनमागच्छत्सुग्रीवो यत्र वानरः ।
तं समीक्ष्यागतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
ह्रीमान्दीनमुवाचेदं वसुधामवलोकयन् ।
आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम् ॥ २६ ॥

उस वन में पहुँचे जहाँ सुग्रीव थे। सुग्रीव ने, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, लज्जा के मारे नीचे सिर झुका, पृथिवी की ओर देखते हुए दीनता पूर्वक कहा—हे राम! तुमने अपना पराक्रम दिखा, मुझसे तो कहा कि, वालि को ललकारो ॥ २५ ॥ २६ ॥

वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ।
तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ॥ २७ ॥

और शत्रु से मुझे खूब पिटवाया सो यह तुमने क्यों किया? हे राघव! यदि आपको उसे नहीं मारना था तो यह बात आपको स्पष्ट रूप से पहिले ही कह देनी चाहिये थी ॥ २७ ॥

वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ।
तस्य चैवं ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ २८ ॥

कि, मैं वालि को न मारूँगा। यदि यह बात मुझे मालूम हो जाती तो मैं यहां से वहां क्यों जाता। इस प्रकार कहते हुए महात्मा सुग्रीव से ॥ २८ ॥

करुणं दीनया वाचा राघवः पुनरब्रवीत् ।
सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम् ॥ २९ ॥
कारणं येन वाणोऽयं न मया स विसर्जितः ।
अलङ्कारेण वेषेण[1] प्रमाणेन[2] गतेन च ॥ ३० ॥
त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम् ।
स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर ॥ ३१ ॥
विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिः[3] वां नोपलक्षये ।
ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने करुणा पूर्ण और नम्रता युक्त शब्दों में पुनः कहा। हे सुग्रीव! क्रोध मत करो। मैंने जिस लिये तीर नहीं चलाया उसका कारण सुनो। तुम्हारी दोनों की सजावट, आकार, डील-डौल, चालढाल एक दूसरे से बिल्कुल मिलती है। यहाँ तक कि, तुम दोनों का कण्ठस्वर, तेज, चितवन, विक्रम और बोलचाल में भी कुछ विशेषता नहीं देख पड़ती। हे वानरोत्तम, तुम दोनों की एकसी शक्ल होने के कारण मैं धोखे में पड़ गया ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिवर्हणम् ।
जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात्तु विशङ्कितः ॥ ३३ ॥

---

१ वेषेण—आकारेण । (गो०) २ प्रमाणेन—औन्नत्येन । (रा०)
३ व्यक्तिं—विशेषं । (गो०)

इसी लिये मैंने महावेगवान् शत्रुनाशकारी तीर नहीं छोड़ा। उस समय मेरे मन में तुम दोनों का एकसा रूप देख, सन्देह उठ खड़ा हुआ था और इसीसे प्राणघातक भयङ्कर बाण मैंने नहीं छोड़ा था ॥ ३३ ॥

मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरपि कृतो मया।
त्वयि वीरे विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया ॥ ३४ ॥

हे कपिराज! यदि धोखे में और हड़बड़ी में वह बाण तुम्हारे लग जाता तो हम दोनों की जड़ ही कट जाती ॥ ३४ ॥

मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्याद्धरीश्वर।
दत्ताभयवधो नाम पातकं महदुच्यते ॥ ३५ ॥

और हे हरीश्वर! मेरी मूर्खता और लड़कपन का सर्वत्र ढिंढोरा पिट जाता। इतना ही नहीं, बल्कि अभय दे कर, वध करने से मुझे बड़ा भारी पाप लगता ॥ ३५ ॥

अहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वरवर्णिनी।
त्वदधीना वयं सर्वे वनेऽस्मिञ्शरणं भवान् ॥ ३६ ॥

क्या मैं, क्या लक्ष्मण और क्या श्रेष्ठवर्ण वाली जानकी—हम सब ही आपके अधीन हैं, क्योंकि यहां इस वन में आप ही एक मात्र हम लोगों के रक्षक हैं ॥ ३६ ॥

तस्माद्युध्यस्व भूयस्त्वं निःशङ्को* वानरेश्वर।
†अस्मिन्मुहूर्ते सुग्रीव पश्य वालिनमाहवे ॥ ३७ ॥
निरस्तमिषुणैकेन वेष्टमानं महीतले।
अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर ॥ ३८ ॥

---

* पाठान्तरे "मा मा शङ्काश्च वानर"। † पाठान्तरे—"एतत्"।

अतएव हे कपिराज ! तुम निःशङ्क होकर पुनः जा कर, वालि से लड़ो। तुम इसी मुहूर्त्त देखोगे कि, संग्राम में मेरे एक बाण से गिर कर वाली भूमि पर लटपटा रहा है। किन्तु हे वानरराज ! तुम अपनी पहिचान के लिये कोई चिन्ह धारण कर लो ॥३७॥ ३८ ॥

येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम् ।
गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम् ॥ ३९ ॥
कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमाकुलाम् ॥ ४० ॥

जिससे द्वन्द्वयुद्ध करते समय मैं तुमको पहिचान सकूँ। हे लक्ष्मण ! तुम इस फूली हुई और शुभ लक्षण वाली नागपुष्पी लता को उखाड़ कर, महात्मा सुग्रीव के गले में बाँध दो। तब पर्वत के किनारे उगी हुई और फूली हुई ॥ ३९ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत् ।
स तया शुशुभे श्रीमाँल्लतया कण्ठसक्तया ॥ ४१ ॥
मालयेव बलाकानां ससन्ध्य इव तोयदः ॥ ४२ ॥

नागपुष्पी को उखाड़, लक्ष्मण ने उसे सुग्रीव के कण्ठ में बाँध दी। उस लता की माला पहिनने से सुग्रीव की ऐसी शोभा हुई, जैसी शोभा कि, बगलों की पंक्ति से सन्ध्याकालीन मेघ की होती है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यसमाहितः ।
जगाम सह रामेण किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥ ४३ ॥

॥ इति द्वादशः सर्गः ॥

अपने शरीर को इस प्रकार शोभायमान कर और श्रीरामचन्द्र के वचनों पर ध्यान दे कर, सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को साथ ले, पुनः वालि की राजधानी किष्किन्धा पुरी को गये ॥ ४३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बारहवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयोदशः सर्गः

—※—

ऋश्यमूकात्स धर्मात्मा किष्किन्धां लक्ष्मणाग्रजः ।
जगाम सहसुग्रीवो वालिविक्रमपालिताम् ॥ १ ॥

वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र, सुग्रीव को साथ ले, ऋश्यमूक से, वालि के पराक्रम से पालित, किष्किन्धा पुरी को गये ॥ १ ॥

समुद्यम्य महच्चापं रामः काञ्चनभूषितम् ।
शरांश्चादित्यसङ्काशान्गृहीत्वा रणसाधकान् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर रोदा चढ़ा कर और सूर्य की तरह चमचमाते और लड़ाई में काम आने वाले तीर, हाथ में ले लिये ॥ २ ॥

अग्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

मज़बूत गरदन वाले सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण, महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के आगे आगे हो लिये ॥ ३ ॥

पृष्ठतो हनुमान्वीरो नलो नीलश्च वानर ।
तारश्चैव महातेजा हरियूथपयूथपः ॥ ४ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हनुमान, नल, नील और महातेजस्वी तार हो लिये। तार यूथपतियों के यूथ का पति अर्थात् जरनल था ॥ ४ ॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः ।
प्रसन्नाम्बुवहाश्चैव सरितः सागरङ्गमाः ॥ ५ ॥

रास्ते में वे पुष्पों के बोझ से झुके हुए पेड़ों को और स्वच्छ जल वाली एवं समुद्रगामिनी नदियों को देखते जाते थे ॥ ५ ॥

कन्दराणि च शैलांश्च निर्दराणि गुहास्तथा ।
शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥

वे कन्दराएँ, पहाड़, घाटियां, गुफाएँ, बड़े बड़े शिखर और देखने में सुन्दर दर्रे देखते जाते थे ॥ ६ ॥

वैडूर्यविमलैः पर्णैः पद्मैश्चाकोशकुड्मलैः ।
शोभितान्सजलान्मार्गे तटाकांश्च व्यलोकयन् ॥ ७ ॥

उन लोगों ने जाते जाते रास्ते में पन्नों की तरह हरे रंग के पत्तों सहित खिले हुए कमल के फूलों से युक्त शोभायमान तालाब देखे ॥ ७ ॥

कारण्डैः सारसैर्हंसैर्वञ्जुलैर्जलकुक्कुटैः ।
चक्रवाकैस्तथा चान्यैः शकुनैरुपनादितान् ॥ ८ ॥

इन तालाबों के तट पर कारण्डव, सारस, हंस, वञ्जुल, जलकुक्कुट, चकई चकवा आदि पक्षी मीठी बोलियां बोल रहे थे ॥८॥

मृदुशष्पाङ्कुराहारान्निर्भयान्वनगोचरान् ।
चरतः सर्वतोऽपश्यन्स्थलीषु हरिणान्स्थितान् ॥९॥

उन लोगों को, मुलायम हरी दूब चरने वाले और निर्भय हो वन में घूमने वाले हिरन, वहाँ की वन-स्थलियों में चारो ओर बैठे हुए देख पड़े ॥ ९ ॥

तटाकवैरिणश्चापि शुक्लदन्तविभूषितान् ।
घोरानेकचरान्वन्यान्द्विरदान्कूलघातिनः ॥ १० ॥

तड़ागों के वैरी, सफ़ेद दाँतों वाले, भयङ्कर रूप वाले, नादियों के कगारों को गिराने वाले, जंगली हाथी भी देख पड़े ॥ १० ॥

मत्तान्गिरितटोत्कृष्टाञ्जङ्गमानिव पर्वतान् ।
वारणान्वारिदप्रख्यान्महीरेणुसमुक्षितान् ॥ ११ ॥

मतवाले, पर्वतों पर टक्कर मारने वाले, चलते पर्वत की तरह अथवा बड़े बड़े मेघों की तरह, धूल से नहाये हुए हाथियों को ॥११॥

वने वनचरांश्चान्यान्खेचरांश्च विहङ्गमान् ।
पश्यन्तस्त्वरिता जग्मुः सुग्रीववशवर्तिनः ॥ १२ ॥

वानरों को तथा और भी अन्य प्रकार के वनचारी जीवों को और आकाशचारी अनेक पक्षियों को देखते हुए, सुग्रीव के वशवर्ती हो, वे सब चले जाते थे ॥ १२ ॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः ।
द्रुमषण्डं वनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ १३ ॥

जिस समय वे सब बड़ी तेज़ी से चले जा रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने सघन वृक्षों वाले एक वन प्रदेश को देख, सुग्रीव से कहा ॥ १३ ॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षषण्डः प्रकाशते ।
मेघसङ्घातविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः ॥ १४ ॥

हे मित्र ! आकाशस्थ मेघ की तरह यह जो वृक्ष समूह हैं और जिसके चारों ओर केले के पेड़ लगे हैं, ॥ १४ ॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सखे कौतूहलं हि मे ।
कौतूहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

यह क्या है ? इसे मैं जानना चाहता हूँ । क्योंकि इसे जानने का मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है । सो तुम मेरे इस कौतूहल को दूर करो ॥ १५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
गच्छन्नेवाचचक्षेऽथ सुग्रीवस्तन्महद्वनम् ॥ १६ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, चलते चलते सुग्रीव ने उस महावन का वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ १६ ॥

एतद्राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम् ।
उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुमूलफलोदकम् ॥ १७ ॥

हे रघुनन्दन ! यह लंबा चौड़ा और श्रम को हरने वाला एक आश्रम है । यह उद्यान, वन और स्वादिष्ट कन्द मूल फल और जल से परिपूर्ण है ॥ १७ ॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः ।
सप्तैवासन्नधः शीर्षा नियतं जलशायिनः ॥ १८ ॥

इसमें बड़े कठोर व्रतधारी सप्तजन नामक सात मुनि तप किया करते थे । तपस्या करते समय वे ऊपर को पैर और नीचे को सिर किये रहते थे और नियम से जलशयन करते थे ॥ १८ ॥

सप्तरात्रकृताहारा वायुना वनवासिनः ।
दिवं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥ १९ ॥

वे वनवासी मुनि सात दिन पीछे एक दिन केवल वायुभक्षण कर लेते थे। इस प्रकार उन्होंने सात सौ वर्ष तक तप किया और अन्त में सातों के सातों सदेह स्वर्ग को सिधारे ॥ १९ ॥

तेषामेवंप्रभावानां द्रुमप्राकारसंवृतम् ।
आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ २० ॥

उन्हीं मुनियों के प्रभाव से यह आश्रम वृक्षों से घिरा हुआ है और इसमें इन्द्र सहित सुर और असुर भी नहीं जा सकते ॥ २० ॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येतत्तथाऽन्ये वनचारिणः ।
विशन्ति मोहाद्ये तत्र निवर्तन्ते न ते पुनः ॥ २१ ॥

पक्षी अथवा अन्य जंगली कोई जीव इसमें नहीं जाते और जो कोई भूला भटका वहाँ चला जाता है, वह फिर वहाँ से लौट कर नहीं आता; अर्थात् वहीं मर जाता है ॥ २१ ॥

विभूषणरवाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षराः ।
तूर्यगीतस्वनाश्चात्र गन्धो दिव्यश्च राघव ॥ २२ ॥

हे राघव! इसमें अप्सराओं का मधुर गान और गहनों की झंकार, और बाजों की ध्वनि सुन पड़ती है और बड़ी सुगन्धि भी आया करती है ॥ २२ ॥

त्रेताग्नयोऽपि दीप्यन्ते धूमो ह्यत्र प्रकाशते ।
वेष्टयन्निव वृक्षाग्रान्कपोताङ्गारुणो घनः ॥ २३ ॥

इस आश्रम में तीनों प्रकार के अग्नि (अर्थात् गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि और औपासनाग्नि) प्रज्वलित रहते हैं। उनका यह कबूतर के अंग के रंग जैसा कुछ कुछ लाल धुआँ, इन सब वृक्षों पर छाया रहता है ॥ २३ ॥

एते दृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः ।
मेघजालमतिच्छन्ना वैदूर्यगिरयो यथा ॥ २४ ॥

देखो ये वृक्ष, जिनकी फुनगियाँ धुआँ से ढकी हैं, ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे मेघों से ढका हुआ पन्ने का पर्वत हो ॥ २४ ॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मंस्तान्समुद्दिश्य राघव ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रयतः संयताञ्जलिः ॥ २५ ॥

हे धर्मात्मन्! हे राघव! तुम लक्ष्मण सहित हाथ जोड़ कर, उन मुनियों के उद्देश्य से प्रणाम करो ॥ २५ ॥

प्रणमन्ति हि ये तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
न तेषामशुभं किञ्चिच्छरीरे राम दृश्यते ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! जो लोग इन ब्रह्मवादी सिद्ध पुरुषों को प्रणाम करते हैं, उनके शरीर में ज़रासा भी पाप नहीं रहता ॥ २६ ॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृताञ्जलिः ।
समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीनभ्यवादयत् ॥ २७ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने भाई लक्ष्मण सहित, हाथ जोड़ कर, उन महात्मा ऋषियों को प्रणाम किया ॥ २७ ॥

अभिवाद्य तु धर्मात्मा रामो भ्राता च लक्ष्मणः ।
सुग्रीवो वानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः ॥ २८ ॥

उनको प्रणाम कर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य वानर प्रसन्न होते हुए गमन करने लगे ॥ २८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात्सप्तजनाश्रमात् ।
ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥२९॥

सप्तजन आश्रम से बहुत दूर चलने के बाद उन लोगों ने वालि की दुर्द्धर्ष किष्किन्धा नगरी देखी ॥ २९ ॥

ततस्तु रामानुजरामवानराः
प्रगृह्य शस्त्राण्युदितार्कतेजसः ।
पुरीं सुरेशात्मजवीर्यपालितां
वधाय शत्रोः पुनरागताः सह ॥ ३० ॥

॥ इति त्रयोदशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा अन्य वानर सूर्य की तरह चमचमाते शस्त्रों को ले, शत्रु का वध करने के लिये, इन्द्रपुत्र वालि की राजधानी किष्किन्धा में फिर पहुँचे ॥ ३० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्दशः सर्गः

—※—

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिपालिताम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन्गहने वने ॥ १ ॥

वे सब लोग शीघ्रता पूर्वक वालि द्वारा पालित किष्किन्धा के समीप पहुँच, सघन वन में पेड़ों की आड़ में खड़े हो गये ॥ १ ॥

विसार्य* सर्वतो दृष्टिं कानने काननप्रियः ।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः क्रोधमाहारयद्भृशम् ॥ २ ॥

मोटी गर्दन वाले सुग्रीव चारों ओर वन में दृष्टि फैला कर, युद्ध करने के लिये अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ २ ॥

ततः स निनदं घोरं कृत्वा युद्धाय चाह्वयत् ।
परिवारैः परिवृतो नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ ३ ॥

और बड़ी ज़ोर से चिल्ला कर युद्ध के लिये वालि को ललकरने लगे । उनका वह नाद चारों ओर व्याप्त हो गया और उस समय ऐसा जान पड़ा मानों आकाश फटा जाता है ॥ ३ ॥

गर्जन्निव महामेघो वायुवेगपुरःसरः ।
अथ बालार्कसदृशो दृप्तसिंहगतिस्तदा ॥ ४ ॥

वायु के वेग से चलते हुए बड़े बादल की तरह गर्ज कर, बालसूर्य सदृश सिंह जैसी चाल चलने वाले ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा रामं क्रियादक्षं सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ।
हरिवागुरया व्याप्तां तप्तकाञ्चनतोरणाम् ॥ ५ ॥

क्रियाकुशल श्रीराम को देख, सुग्रीव बोले, हे रामचन्द्र ! वानरों को फँसाने वाले पाशों से युक्त तथा तपाये हुए काञ्चन की वन्दनवारों से भूषित, ॥ ५ ॥

पश्य† प्राकारयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
प्रतिज्ञा या त्वया वीर कृता वालिवधे पुरा ॥ ६ ॥

परकोटे और कलों से सुसज्जित, वालि की किष्किन्धा पुरी को देखिये । हे वीर ! वालि के वध के लिये पहिले तुमने जो प्रतिज्ञा की थी ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—" विचार्य " † पाठान्तरे—" प्राहःस्म ध्वज "

सफलां तां कुरु क्षिप्रं लतां काल इवागतः ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सुग्रीवेण स राघवः ॥ ७ ॥

उसे आप उसी प्रकार शीघ्र सफल कीजिये जिस प्रकार ऋतु प्राप्त होने पर लताएँ फूलने फलने लगती हैं। जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से सुग्रीव ने यह कहा ॥ ७ ॥

तमथोवाच सुग्रीवं वचनं शत्रुसूदनः ।
कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया ॥ ८ ॥
लक्ष्मणेन समुत्पाट्य यैषा कण्ठे कृता तव ।
शोभसे ह्यधिकं वीर लतया कण्ठसक्तया ॥ ९ ॥
विपरीत इवाकाशे सूर्यो नक्षत्रमालया ।
अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर ॥ १० ॥

तब शत्रुओं का संहार करने वाले श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से बोले—हे वीर! तुम्हारी पहिचान के लिये, लक्ष्मण ने गजपुष्पीलता को उखाड़, तुम्हारे कण्ठ में बाँध ही दिया है। इस कारण तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है जैसे आकाश में नक्षत्रों की माला के समीप जाने से सूर्य की होती है। हे वानर! आज मैं वालि सम्बन्धी तुम्हारा भय और वैर ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे ।
मम दर्शय सुग्रीव वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ॥ ११ ॥

युद्ध में एक ही बाण चला कर, नष्ट कर दूँगा। हे सुग्रीव! तुम अपने भ्रातृरूपी वैरी को मुझे दिखला भर दो ॥ ११ ॥

वाली विनिहतो यावद्भूमौ पांसुषु वेष्टते ।
यदि दृष्टिपथं प्राप्तो जीवन्स विनिवर्तते ॥ १२ ॥

वालि आज मेरे बाण से घायल हो कर, वन में धूल के ऊपर गिर कर छटपटावेगा। यदि वह मेरे सामने आ कर जीता लौट जाय ॥ १२ ॥

ततो दोषेण मा गच्छेत्सद्यो गर्हेच्च मा भवान्।
प्रत्यक्षं सप्त ते साला मया बाणेन दारिताः ॥ १३ ॥

तो तुम मुझे दोष देना और फिर मेरे पास मत आना तथा मुझे धिक्कारना। यह तो तुम देख ही चुके हो कि, मैंने एक ही बाण से सातों ताल वृक्षों का भेदन कर दिया ॥ १३ ॥

तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं मया।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे वीर कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता ॥ १४ ॥

इससे तुमको विश्वास हो गया होगा कि, मैं वालि को मार सकता हूँ। अतः आज तुम वालि को मरा हुआ ही समझो। हे वीर! बड़ी बड़ी कठिनाइयों में पड़ कर भी, मैं झूँठ कभी नहीं बोला ॥ १४ ॥

धर्मलोभपरीतेन[1] न च वक्ष्ये कथञ्चन।
सफलां च करिष्यामि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम् ॥ १५ ॥
प्रसूतं कलमं क्षेत्रे वर्षेणेव शतक्रतुः।
तदाह्वाननिमित्तं त्वं वालिनो हेममालिनः ॥ १६ ॥

और न कभी बोलूँगा। क्योंकि मुझे धर्म की हानि सह्य नहीं है। तुम अपने मन से अपना सन्देह निकाल डालो। मैं अपनी प्रतिज्ञा उसी प्रकार सफल करूँगा, जिस प्रकार इन्द्र जल बर्सा कर धान्य के खेतों को सफल करते हैं। अब तुम उस सुवर्णमालाधारी वालि को ललकारो ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ धर्मलोभपरीतेन—धर्महान्यसहिष्णुनेत्यर्थः। (गो०)

सुग्रीव कुरु तं शब्दं निष्पतेद्येन वानरः ।
जितकाशी बलश्लाघी त्वया चाधर्षितः पुरा ॥ १७ ॥

इसके लिये तुम ऐसा शब्द करो, जिससे वह बाहिर निकल आवे। क्योंकि बालि सदा ही विजय की चाहना किया करता है और अपने बली होने की नामवरी के लिये वह सदा घूमा ही करता है। फिर इसके पूर्व तुमको वह हरा भी चुका है ॥ १७ ॥

निष्पतिष्यत्यसङ्गेन[1] वाली स प्रियसंयुगः ।
रिपूणां धर्षणं शूरा मर्षयन्ति न संयुगे ॥ १८ ॥

समरप्रिय बालि तुम्हारा शब्द सुनते ही तुरन्त निकल आवेगा। क्योंकि शूर लोग युद्ध में वैरी की ललकार नहीं सह सकते ॥ १८ ॥

जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः ।
स तु रामवचः श्रुत्वा सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥ १९ ॥

जो लोग अपने पराक्रम को जानते हैं वे, विशेष कर, स्त्री के सामने, शत्रु की ललकार सुन, चुपचाप नहीं बैठ सकते। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, सुवर्णवर्ण वाले सुग्रीव जी ॥ १९ ॥

ननर्द क्रूरनादेन विनिर्भिन्दन्निवाम्बरम् ।
तस्य शब्देन वित्रस्ता गावो यान्ति हतप्रभाः ।
राजदोषपरामृष्टाः[2] कुलस्त्रिय इवाकुलाः ॥ २० ॥

आकाश को विदीर्ण करते हुए भयङ्कर नाद करने लगे। उस नाद से डर कर गायें सहम गयीं और वैसे ही भाग खड़ी हुईं जैसे

---

१ असङ्गेन—अविलंबेन । (गो०) २ राजदोष—अराजकत्वदोषरूपेण । (गो०) ३ परामृष्टाः परैः परपुरुषैः आमृष्टाः केशेषुगृहीताः । (गो०)

अराजकता फैलने पर परपुरुष द्वारा सिर के केश खैंचे जाने पर, कुलीन स्त्रियां सहम जाती और भाग खड़ी होती हैं ॥ २० ॥

द्रवन्ति च मृगाः शीघ्रं भग्ना इव रणे हयाः ।
पतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥ २१ ॥

लड़ाई के मैदान में चाबुक से पीटे हुए घोड़ों की तरह मृगगण इधर उधर दौड़ने लगे। उड़ते हुए पक्षी, क्षीण-पुण्य ग्रहों की तरह पृथिवी पर गिरने लगे ॥ २१ ॥

ततः स जीमूतगणप्रणादो
नादं ह्यमुञ्चत्त्वरया प्रतीतः ।
सूर्यात्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्वानिलचञ्चलोर्मिः ॥ २२ ॥

॥ इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सूर्यपुत्र सुग्रीव, जिसका तेज, शौर्य और बल बहुत बढ़ गया था श्रीरामचन्द्र जी के वचनों पर विश्वास कर, मेघ की तरह इस प्रकार नाद कर रहा था, जिस प्रकार वायु से प्रेरित चञ्चल तरङ्गों वाला समुद्र गरजता है ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौदहवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चदशः सर्गः

—※—

अथ तस्य निनादं तु सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शुश्रावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥

अन्तःपुर में स्त्रियों के बीच बैठे हुए वालि से सुग्रीव का सिंह-नाद सुन कर न रहा गया ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम् ।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापतितो महान् ॥ २ ॥

सब प्राणियों को कंपायमान करने वाले उस सिंहनाद को सुन कर, वालि का सारा नशा सहसा उतर गया और वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ २ ॥

स तु रोषपरीताङ्गो वाली सन्ध्यातपप्रभः ।
उपरक्त[1] इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ३ ॥

सुवर्ण के समान दीप्तिवान् वालि क्रुद्ध हो, राहुग्रस्त सूर्य की तरह तत्काल ही प्रभाहीन जान पड़ने लगा ॥ ३ ॥

वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधादीप्ताग्निसन्निभः ।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः ॥ ४ ॥

मारे क्रोध के वालि अपने कराल दांत पीसने लगा, उसकी दोनों आंखें दहकते हुए अंगारे की तरह लाल हो गयीं। उस समय वह पुष्पहीन कमलदण्डों से युक्त जलाशय की तरह दिखलाई पड़ता था ॥ ४ ॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः ।
वेगेन चरणन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ ५ ॥

सुग्रीव के न सहने योग्य सिंहनाद को सुन, वालि ज़मीन पर पैर पटकता बड़े वेग से निकला। उसके पैर पटकने से ऐसा जान पड़ता था, मानों वह ज़मीन को विदीर्ण कर डालेगा ॥ ५ ॥

---

१ उपरक्तो राहुग्रस्तो। (गो०)

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहादर्शितसौहृदा ।
उवाच त्रस्तसंभ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः ॥ ६ ॥

यह देख तारा भयभीत हो बहुत घबड़ायी और प्रेम सहित वालि को आलिङ्गन कर यह हित की बात बोली ॥ ६ ॥

साधु क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम् ।
शयनादुत्थितः काल्यं त्यज मुक्तामिव स्रजम् ॥ ७ ॥

हे वीर ! नदी के वेग की तरह उमड़े हुए इस क्रोध को तुम उसी तरह त्याग दो, जिस तरह शय्या से सो कर उठा हुआ पुरुष, रात की पहिनी हुई फूलमाला को त्याग देता है ॥ ७ ॥

काल्यमेतेन संग्रामं करिष्यसि हरीश्वर ।
वीर ते शत्रुवाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते ॥ ८ ॥

हे कपिराज ! कल जा कर तुम सुग्रीव के साथ लड़ लेना । हे वीर ! यद्यपि न तो तुम्हारा शत्रु तुमसे बल में अधिक है और न उससे किसी बात में तुम कम हो ॥ ८ ॥

सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते ।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यसे ॥ ९ ॥

तथापि इस समय तुम्हारा घर से सहसा निकलना मुझे पसंद नहीं आता । मैं जिसलिये तुम्हें रोक रही हूँ उसका कारण भी बतलाती हूँ । सुनिये, ॥ ९ ॥

पूर्वमापतितः क्रोधात्स त्वामाह्वयते युधि ।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः ॥ १० ॥

पहले जब सुग्रीव ने महाक्रोध कर, तुम्हें युद्ध के लिये ललकारा था, तब तुम गये और उसे मार कर भगा आये ॥ १० ॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः ।
इहैत्य पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे ॥ ११ ॥

हाल ही में तुम्हारे हाथ से पिट कर और भगाया जा कर भी वह फिर तुम्हें ललकार रहा है—इससे मेरे मन में बड़ा सन्देह उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः ।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम् ॥ १२ ॥

क्योंकि इस समय उसका अहङ्कार, उद्योग और नाद का ढंग जैसा है, उस पर ध्यान देने से कहना पड़ता है कि, यह कोई साधारण बात नहीं है अथवा इसका कारण साधारण नहीं है ॥१२॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम् ।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्यैष गर्जति ॥ १३ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, बिना सहायता पाये सुग्रीव यहाँ आने वाला नहीं। उसे अवश्य कोई सहायक मिल गया है, जिसके बल-बूते पर वह ऐसा गर्ज रहा है ॥ १३ ॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः ।
अपरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सह नैष्यति ॥ १४ ॥

सुग्रीव स्वभाव ही से चतुर और बुद्धिमान वानर है। उसने बिना भली भाँति बल विक्रम की जाँच किये, कभी किसी से मैत्री न की होगी ॥ १४ ॥

पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः ।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्यामि त्वा हितं वचः ॥ १५ ॥

हे वीर ! अंगद के मुख से पहिले मैं जो बातें सुन चुकी हूँ, वे हितकर बातें तुमसे कहती हूँ ॥ १५ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः ।
प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासैर्निवेदिता ॥ १६ ॥

कुमार अंगद वन में घूमने गया था । वहाँ इसे विश्वस्त जासूसों से मालूम हुआ कि ॥ १६ ॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ ।
इक्ष्वाकूणां कुले जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

अयोध्या के महाराज दशरथ के दो पुत्र जो बड़े शूरवीर होने के कारण, युद्ध में अजेय हैं और इक्ष्वाकुकुलोद्भव हैं तथा जिनके नाम श्रीराम और लक्ष्मण प्रसिद्ध हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीवप्रियकामार्थं प्राप्तौ तत्र दुरासदौ ।
तव भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्कशः ॥ १८ ॥

सुग्रीव का अभीष्ट कार्य करने के लिये, वे दोनों दुर्द्धर्ष वीर कटिबद्ध हुए हैं । वे ही प्रसिद्ध रणकर्कश तुम्हारे भाई सुग्रीव के सहायक बने हैं ॥ १८ ॥

रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥ १९ ॥

उनमें से श्रीरामचन्द्र, जो शत्रु का मर्दन करने के लिये प्रलय-काल के अग्नि की तरह उठे हैं, वे साधुओं के वृक्षरूपी आश्रय-दाता और दीन दुःखियों के एकमात्र सहारे हैं ॥ १९ ॥

आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥ २० ॥

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान् ।
तत्क्षमं न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥ २१ ॥

वे आर्त्तों के अवलंब, यश के पात्र, लौकिक ज्ञान और शास्त्र जन्य ज्ञान से सम्पन्न, पितृआज्ञाकारी, धातुओं की खान हिमालय की तरह गुणों की महाखान है। उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से विरोध करना तुमको उचित नहीं ॥ २० ॥ २१ ॥

दुर्जयेनाप्रमेयेन रामेण रणकर्मसु ।
शूर वक्ष्यामि ते किञ्चिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥ २२ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र संग्राम में दुर्जय हैं। हे शूर! मैं तुमसे कुछ कहती हूँ। तुम उस मेरे कथन का बुरा न मानना ॥ २२ ॥

श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम् ।
यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं साध्वभिषेचय ॥ २३ ॥

मैं तुम्हारे हित की जो बात कहती हूँ, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो। तुम अभी सुग्रीव को युवराजपद पर अभिषिक्त कर दो ॥ २३ ॥

विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन्यवीयसा* ।
अहं हि ते क्षमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥ २४ ॥

तुम उसके साथ झगड़ा टंटा मत करो। क्योंकि सुग्रीव तुम्हारा छोटा भाई है। मेरी यह भी इच्छा है कि, तुम्हारी, श्रीरामचन्द्र जी से प्रीति हो जाय ॥ २४ ॥

सुग्रीवेण च संप्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः ।
लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—" राजन्वलीयसा "

और तुम भी वैरभाव छोड़ कर सुग्रीव से भी मेल कर लो। वह तुम्हारा छोटा भाई है, तुम्हें तो उसका लालन पालन करना चाहिये ॥ २५ ॥

तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते।
न हि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि कञ्चन ॥ २६ ॥

चाहे वह तुमसे दूर रहे अथवा तुम्हारे समीप, पर है तो तुम्हारा भाई ही। मुझे तो सारे संसार में उस जैसा भाई कोई नहीं देख पड़ता ॥ २६ ॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यनन्तरम्।
वैरमेतत्समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥ २७ ॥

अतः दान मानादि से उसका सत्कार कर, उसे अपना लो। फिर तो वह स्वयं ही वैर छोड़ तुम्हारे पास रहने लगेगा ॥ २७ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवस्तव बन्धुः सदा मतः।
भ्रातुः सौहृदमालम्ब नान्या गतिरिहास्ति ते ॥ २८ ॥

बड़ी गरदन वाला सुग्रीव तुम्हारा सदा अनुकूल बन्धु है। अतः तुम उसके साथ सौहार्द्र स्थापन कर लो। इसको छोड़ तुम्हारे कल्याण का और कोई उपाय नहीं है ॥ २८ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम्।
याच्यमानः प्रयत्नेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २९ ॥

यदि तुम मेरी प्रसन्नता के लिये कोई काम करना चाहते हो और मुझे अपनी हितैषिणी मानते हो, तो मैं जो कुछ प्रार्थना करती हूँ, उसे अपने लिये हितकर जान, तदनुसार बड़े यत्न के साथ कार्य करो ॥ २९ ॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविधातुमर्हसि ।
क्षमो हि ते कोसलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥ ३० ॥

तुम मेरे हितकर वचनों को सुन कर, क्रुद्ध न होना। इन्द्र तुल्य तेजस्वी उन कोशलराजपुत्र के साथ तुम्हारा विरोध करना अच्छा नहीं ॥ ३० ॥

तदा हि तारा हितमेव वाक्यं
तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे ।
न रोचते तद्वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥ ३१ ॥

॥ इति पञ्चदशः सर्गः ॥

तारा गिड़गिड़ा कर, इस प्रकार पथ्यरूप हितकर वचन कह रही थी, किन्तु वालि को वे वचन अच्छे नहीं लगते थे। क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा था ॥ ३१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षोडशः सर्गः

—※—

तामेवं ब्रुवतीं तारां ताराधिपनिभाननाम् ।
वाली निर्भर्त्सयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब चन्द्रमुखी तारा ने वालि से इस प्रकार कहा तब वह तारा को धिक्कारता हुआ यह वचन बोला ॥ १ ॥

गर्जतोऽस्य च संरम्भं भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः ।
मर्षयिष्याम्यहं केन कारणेन वरानने ॥ २ ॥

हे वरानने (श्रेष्ठमुखवाली) ! मेरा वह भाई तो मेरा बड़ा शत्रु है । फिर वह जब इस प्रकार गर्व सहित गर्ज रहा है, तब भला मैं उसके इस गर्जन तर्जन को कैसे सह सकता हूँ ॥ २ ॥

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ।
धर्षणामर्षणं भीरु मरणादतिरिच्यते ॥ ३ ॥

हे भीरु ! देख, जो शूर कभी किसी से पराजित नहीं हुए और जिन्होंने रणक्षेत्र में शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाई, उनके लिये इस प्रकार का तिरस्कार सहना मरने से भी गया बीता है ॥ ३ ॥

सोढुं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे ।
सुग्रीवस्य च संरम्भं हीनग्रीवस्य गर्जतः ॥ ४ ॥

रणक्षेत्र में युद्धाभिलाषी हीनग्रीव सुग्रीव का अभिमान सहित गर्जना, मैं किसी भी तरह नहीं सह सकता ॥ ४ ॥

न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का विचार कर, तू मेरे लिये दुःखी मत हो । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी धर्मज्ञ और कृतज्ञ हैं । वे ऐसा पापकर्म क्योंकर करेंगे ॥ ५ ॥

निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि ।
सौहृदं दर्शितं तारे मयि भक्तिः कृता त्वया ॥ ६ ॥

तू स्त्रियों के साथ लौट जा। तू क्यों फिर मेरे पीछे चली आती है। हे तारे! तुझको मेरे प्रति जितनी हितैषिता और प्रीति दिखलानी चाहिये थी, उतनी तू दिखला चुकी ॥ ६ ॥

प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि संभ्रमम्।
दर्पमात्रं विनेष्यामि न च प्राणैर्विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥

मैं तो सुग्रीव से युद्ध कर, उसका दर्प चूर्ण करूँगा, किन्तु उसकी जान न लूँगा। अतः तू विकल न हो ॥ ७ ॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यथेप्सितम्।
वृक्षैर्मुष्टिप्रहारैश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥ ८ ॥

युद्ध के लिये खड़े सुग्रीव का जैसा कि तू कहती है, मैं वध न करूँगा। अतः मैं केवल वृक्षों और घूसों के प्रहार से उसे पीड़ित करूँगा, जिससे वह अपनी गुफा में लौट कर, चला जाय ॥ ८ ॥

न मे गर्वितमायस्तं सहिष्यति दुरात्मवान्।
कृतं तारे सहायत्वं[1] सौहृदं दर्शितं मयि ॥ ९ ॥

हे तारे! वह दुरात्मा मेरी गर्व भरी चोट न सह सकेगा। तूने परामर्श दे अपना सौहार्द्र प्रकट किया है ॥ ९ ॥

शापितासि मम प्राणैर्निवर्तस्व जनेन च।
अहं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

तुझे मेरे प्राणों की शपथ (मेरी जान की क़सम) है। तू अब इन सब स्त्रियों के साथ लौट जा। मैं युद्ध में भाई को केवल हरा कर ही लौट आऊँगा ॥ १० ॥

---

१ सहायत्वं—बुद्धिसाहाय्यं। (गो०)

तं तु तारा परिष्वज्य वालिनं प्रियवादिनी ।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा[1] सा प्रदक्षिणम् ॥ ११ ॥

प्रियवादिनी और अत्यन्त चतुरा तारा, वालि के शरीर से लिपट कर धीरे धीरे (मन्द स्वर से) रोई और फिर उसने वालि की परिक्रमा की ॥ ११ ॥

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रवद्विजयैषिणी ।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥ १२ ॥

फिर वालि के विजय के लिये मन्त्रयुक्त मङ्गलाचार कर, शोकाकुल हो, अन्य स्त्रियों सहित वह रनवास में चली गयी ॥ १२ ॥

प्रविष्टायां तु तारायां सह स्त्रीभिः स्वमालयम् ।
नगरान्निर्ययौ क्रुद्धो महासर्प इव श्वसन् ॥ १३ ॥

स्त्रियों सहित तारा के अन्तःपुर में चले जाने पर, वालि क्रुद्ध सर्प की तरह फुँसकारता हुआ, किष्किन्धा से बाहिर निकला ॥ १३ ॥

स निष्पत्य महातेजा वाली परमरोषणः ।
सर्वतश्चारयन्दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महाबली वालि ने बाहिर निकल और रोष में भर, शत्रु को खोजने की आकांक्षा से, चारों ओर देखा ॥ १४ ॥

स ददर्श ततः श्रीमान्सुग्रीवं हेमपिङ्गलम् ।
सुसंवीतमवष्टब्धं दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

---

१ दक्षिणा—स्वस्मिन्परस्मिंश्च तुल्यहिता । (गो०)

तदनन्तर सोने की तरह पीले नेत्र वाले सुग्रीव को, कमर कसे और युद्ध के लिये तैयार देखा। उस समय सुग्रीव दहकती हुई आग की तरह जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

स तं दृष्ट्वा महावीर्यं सुग्रीवं पर्यवस्थितम् ।
गाढं परिदधे वासो वाली परमरोषणः ॥ १६ ॥

इस प्रकार लड़ने के लिये तैयार सुग्रीव को देख, वालि ने भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, कपड़े से अपनी कमर कस कर बाँधी ॥ १६ ॥

स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान् ।
सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणः[1] ॥ १७ ॥

पराक्रमी वालि कमर कस और घूँसा तान, सुग्रीव से लड़ने के लिये अवसर खोजता हुआ चला ॥ १७ ॥

श्लिष्टमुष्टिं समुद्यम्य संरब्धतरमागतः ।
सुग्रीवोऽपि तमुद्दिश्य वालिनं हेममालिनम् ॥ १८ ॥

सुग्रीव भी मूका तान और अत्यन्त क्रुद्ध ; सोने का हार धारण किये हुए वालि के समीप गये ॥ १८ ॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणपण्डितम् ।
आपतन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

तब वालि, क्रोध के मारे रक्त नयन और रणविशारद सुग्रीव को महावेग से अपनी ओर आते देख, यह बोला ॥ १९ ॥

एष मुष्टिर्मया बद्धो गाढः सन्निहिताङ्गुलिः ।
मया वेगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति ॥ २० ॥

---

१ कृतक्षणः—लब्धावसरो । (गो०)

देख, सब उँगलियों को मोड़ कर, मैंने जो यह मूका बाँधा है, सो जब मैं बड़े ज़ोर से इसे तेरे मारूँगा, तब इसके लगने से तेरे प्राण निकल जायँगे ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत् ।
तव चैव हरन्प्राणान्मुष्टिः पततु मूर्धनि ॥ २१ ॥

वालि के यह कहने पर सुग्रीव ने क्रुद्ध हो, वालि से कहा—हमारा मूका भी तेरे सिर पर लगने से तेरे प्राण हर लेगा ॥ २१ ॥

ताडितस्तेन संक्रुद्धस्तमभिक्रम्य वेगितः ।
अभवच्छोणितोद्गारी सोत्पीड इव पर्वतः ॥ २२ ॥

तब वालि ने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर, बड़े ज़ोर से सुग्रीव के घूँसा मारा। उस घूँसे के लगने से सुग्रीव, उसी प्रकार मुख से खून थोकने लगा, जिस प्रकार पर्वत से झरने का जल निकलता है ॥ २२ ॥

सुग्रीवेण तु निःसङ्गं सालमुत्पाट्य तेजसा ।
गात्रेष्वभिहतो वाली वज्रेणेव महागिरिः ॥ २३ ॥

तब सुग्रीव ने साखू का एक पेड़ उखाड़, वालि के ऐसे मारा जैसे इन्द्र ने पर्वतराज के वज्र मारा था ॥ २३ ॥

स तु वाली प्रचलितः सालताडनविह्वलः ।
गुरुभारसमाक्रान्तो नौसार्थ इव सागरे ॥ २४ ॥

उस वृक्ष के लगने से विकल हो, वालि उसी तरह डगमगाया, जिस प्रकार बहुत बोझ से लदी हुई नाव, समुद्र के बीच डगमगाती है ॥ २४ ॥

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगिनौ ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ २५ ॥

इस तरह भयङ्कर बल-विक्रम-शाली तथा गरुड़ के समान वेग-वान तथा विशाल काय वालि और सुग्रीव ऐसे लड़ने लगे, मानों आकाश में चन्द्र और सूर्य लड़ रहे हों ॥ २५ ॥

परस्परमभिप्रेक्ष्य च्छिद्रान्वेषणतत्परौ ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥ २६ ॥
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयते ।
वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥ २७ ॥

वे दोनों आपस में एक दूसरे की घात देख रहे थे । इस बीच में वालि का बल एवं पराक्रम बढ़ रहा था और सुग्रीव का घटता जाता था । सुग्रीव वालि द्वारा गर्वहीन और क्षीण पराक्रम हो गये ॥ २६ ॥ २७ ॥

वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम् ।
वृक्षैः सशाखैः सशिखैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥ २८ ॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २९ ॥

परन्तु सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को दिखाने के लिये, वालि के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो, जड़ व शाखा सहित पेड़ों, शिलाओं और वज्र सम धारवाले नखों से, घूँसों से, लातों से, जाँघों से और बाहुओं से बराबर लड़ने लगे । उन दोनों का युद्ध वैसा ही घोर हुआ, जैसा कि, वृत्रासुर के साथ इन्द्र का हुआ था ॥ २८ ॥ २९ ॥

तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ ।
मेघाविव महाशब्दैस्तर्जयानौ* परस्परम् ॥ ३० ॥

वे दोनों वनचर वंदर युद्ध करते हुए रुधिर से तरबतर हो और मेघ की तरह घोर शब्द कर, परस्पर तर्जन गर्जन करने लगे ॥ ३० ॥

हीयमानमथोऽपश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सुग्रीव का पराक्रम घट जाने के कारण वह वारंवार इधर उधर ताक रहा है ॥ ३१ ॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
शरं च वीक्षते वीरो वालिनो वधकारणात् ॥ ३२ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को आर्त्त देख, वालि का वध करने की इच्छा से, बाण की ओर देखने लगे ॥ ३२ ॥

ततो धनुषि सन्धाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

फिर वे विषधर सर्प की तरह एक बाण धनुष पर रख, यमराज के कालचक्र की तरह, अपने धनुष के रोदे को खींचा ॥ ३३ ॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः[1] ।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥ ३४ ॥

---

१ पत्ररथेश्वराः—पक्षिश्रेष्ठाः । (गो०) * पाठान्तरे—" तर्जमानौ " ।

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की टंकार से बड़े बड़े पक्षी और मृग भयभीत हुए और प्रलयकाल उपस्थित हुआ समझ, मोहित हो भागने लगे ॥ ३४ ॥

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसन्निभः ।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः ॥ ३५ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने, प्रदीप्त अग्नि के समान और वज्र जैसा शब्द करता हुआ महाबाण छोड़ा । वह बड़े वेग से जा कर, वालि की छाती में लगा ॥ ३५ ॥

ततस्तेन महातेजा वीर्योत्सिक्तः कपीश्वरः ।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले ॥ ३६ ॥

बाण के लगते ही महातेजस्वी और पराक्रमी वालि घायल हो ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले ।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः ॥ ३७ ॥

जैसे आश्विन की पूर्णिमा के अन्त में इन्द्रध्वज गिर पड़ता है, वैसे ही वालि गिरा और गिर कर श्रीहीन और अचेत हो गया ॥ ३७ ॥

नरोत्तमः कालयुगान्तकोपमं
शरोत्तमं काञ्चनरूप्यभूषितम् ।
ससर्ज दीप्तं तममित्रमर्दनं
सधूममग्निं मुखतो यथा हरः ॥ ३८ ॥

पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने कालरूपी, शत्रुनाशकारी एवं सुनहला और रुपहला कामदार बाण, उसी प्रकार छोड़ा, जिस प्रकार शिव जी अपने मुख से धूम सहित आग छोड़ते हैं ॥ ३८ ॥

अथोक्षितः शोणिततोयविस्रवैः
सुपुष्पिताशोक इवानिलोद्धतः ।
विचेतनो वासवसूनुराहवे
विभ्रंशितेन्द्रध्वजवत्क्षितिं गतः ॥ ३९ ॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस बाण के लगने से वालि का पर्वताकार शरीर रक्त के छींटों से रंग गया और वह पुष्पित अशोक वृक्ष की तरह देख पड़ने लगा। इन्द्रसुत वालि, मूर्छित हो पवन के झोंके से टूटे हुए इन्द्रध्वज की तरह भूमि पर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—※—

ततः शरेणाभिहतो रामेण रणकर्कशः ।
पपात सहसा वाली निकृत्त इव पादपः ॥ १ ॥

रणकर्कश वालि, श्रीरामचन्द्र जी के बाण से घायल हो, कटे हुए वृक्ष की तरह सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ १ ॥

स भूमौ न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
अपतद्देवराजस्य मुक्तरश्मिरिव ध्वजः ॥ २ ॥

तपाये हुए सोने के आभूषण पहिने हुए वालि, ज़मीन पर कटी हुई डोरी वाली इन्द्रध्वजा की तरह गिर कर, पृथिवी पर लोट गया ॥ २ ॥

तस्मिन्निपतिते भूमौ वानराणां गणेश्वरे ।
नष्टचन्द्रमिव व्योम न व्यराजत भूतलम् ॥ ३ ॥

वानरराज वालि के भूमि पर गिरते ही उसके राज्य की भूमि उसी प्रकार शोभारहित हो गयी, जिस प्रकार चन्द्रमाहीन आकाश शोभारहित हो जाता है ॥ ३ ॥

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः ।
न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ ४ ॥

यद्यपि वालि ज़मीन पर गिर पड़ा, तथापि उस महात्मा के शरीर की शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नष्ट न हुए ॥ ४ ॥

शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी वज्रभूषिता ।
दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥ ५ ॥

क्योंकि इन्द्रप्रदत्त, हीरे की जड़ाऊ, सुवर्ण की उत्तम, माला ने वानरराज वालि के प्राणों को, तेज को, और शोभा को रोक रखा था ॥ ५ ॥

स तया मालया वीरो हैमया हरियूथपः ।
सन्ध्यानुरक्तपर्यन्तः पयोधर इवाभवत् ॥ ६ ॥

वानरराज वीर वालि, उस सुवर्ण की माला को धारण करने से सन्ध्याकालीन मेघ की तरह शोभायमान हो रहा था ॥ ६ ॥

तस्य माला च देहश्च मर्मघाती च यः शरः ।
त्रिधेव रचिता लक्ष्मीः पतितस्यापि शोभते ॥ ७ ॥

यद्यपि वालि गिर पड़ा था, तथापि उस समय भी उस सुवर्ण की माला, रक्तरञ्जित देह और मर्मघाती तीर से वालि सुशोभित देख पड़ता था ॥ ७ ॥

तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् ।
रामबाणासनात्क्षिप्तमावहत्परमां गतिम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटा हुआ और स्वर्ग का मार्ग दिखाने वाला (साधक) वह बाण वीर वालि को परमगति का देने वाला हुआ ॥ ८ ॥

तं तदा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम् ।
बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव ॥ ९ ॥
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ।
आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम् ॥ १० ॥
महेन्द्रमिव दुर्धर्षं महेन्द्रमिव दुःसहम् ।
महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम् ॥ ११ ॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो ददर्शोपससर्प च ॥ १२ ॥

इस प्रकार संग्राम में घायल हो गिरे हुए ज्वाला रहित अग्नि की तरह अथवा पुण्यक्षीण होने पर स्वर्गच्युति ययाति की तरह अथवा प्रलय काल में पृथिवी पर गिरे हुए सूर्य की तरह और इन्द्र की तरह दुर्धर्ष, तथा विष्णु की तरह दुस्सह, ऊँची छाती वाले, बड़ी भुजा वाले, प्रदीप्त मुख और पीले नेत्रों वाले इन्द्रपुत्र वालि को देख, बहुसम्मान पुरस्सर दोनों भाई उसके समीप चले गये ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तं दृष्ट्वा राघवं वाली लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अब्रवीत्प्रश्रितं[1] वाक्यं परुषं धर्मसंहितम् ॥ १३ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनयान्वितं । (गो०)

महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को देख, वह (वालि) नम्रतायुक्त और धर्मयुक्त कठोर वचन बोला ॥ १३ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः ।
कुलीनः सत्त्वसंपन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ॥ १४ ॥

तुम एक राजा के पुत्र, जगत्प्रसिद्ध, देखने में सुन्दर, कुलीन, बलवान्, तेजस्वी और व्रतधारी कहलाते हो ॥ १४ ॥

पराङ्मुखवधं[1] कृत्वा को नु प्राप्तस्त्वया गुणः[2] ।
यदहं युद्धसंरब्धः शरेणोरसि ताडितः ॥ १५ ॥

हे राम ! दूसरे से युद्ध करते हुए का वध कर, तुमने कौनसा बड़प्पन पाया । जिस समय मैं सुग्रीव के साथ युद्ध में फँसा हुआ था उस समय तुमने मेरे तीर मारा ॥ १५ ॥

कुलीनः सत्त्वसंपन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
रामः करुणवेदी च प्रजानां च हिते रतः ॥ १६ ॥

हे राम ! तुम कुलीन, पराक्रमी, तेजस्वी, सदाचारी, करुणा के स्वरूप को जानने वाले, और प्रजा के हित में तत्पर रहने वाले हो ॥ १६ ॥

सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो[3] दृढव्रतः ।
इति ते सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥ १७ ॥

आप दयावान्, बड़े उत्साही, आचार के जानने वाले और दृढ़ व्रतधारी हैं। पृथिवी के सब जन इस प्रकार तुमको प्रसिद्ध कर तुम्हारे यश का बखान किया करते हैं ॥ १७ ॥

---

१ पराङ्मुखवध—परयुद्धासक्तवधं । (गो०) २ गुणः—उत्कर्षः । (गो०) ३ समयज्ञः—आचरज्ञः । (गो०)

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः ।
पार्थिवानां गुणा राजन्दण्डश्चाप्यपराधिषु ॥ १८ ॥

दम, शम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्व, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना—ये राजाओं के गुण हैं ॥ १८ ॥

तान्गुणान्संप्रधार्याहमप्रयं चाभिजनं तव ।
तारया प्रतिषिद्धोऽपि सुग्रीवेण समागतः ॥ १९ ॥

मैं सुना करता था कि, तुम में ये सब राजोचित गुण हैं और आपको श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुआ जान, तारा के मना करने पर भी, मैं सुग्रीव से युद्ध करने को तैयार हुआ था ॥ १९ ॥

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं योद्धुमर्हति ।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥ २० ॥

दूसरे के साथ युद्ध में प्रवृत्त, दूसरी ओर ध्यान देने वाले मुझ पर तुम तीर न छोड़ोगे—यह मेरा विचार तब था, जब मैंने आपको देखा भी न था ॥ २० ॥

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम् ।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ २१ ॥

परन्तु अब मैंने अच्छी तरह जान लिया कि, तुम कोरी धर्म की ध्वजा उड़ाने वाले, तृणों से ढके हुए कूप की तरह, अधर्मी और पापाचारी हो ॥ २१ ॥

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम् ।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥ २२ ॥

तुम्हारा वेश मात्र सज्जनों जैसा है, किन्तु छिपी हुई आग की तरह, तुम कपटी धर्मानुष्ठानी हो ॥ २२ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा नापकरोम्यहम् ।
न च त्वामवजाने च कस्तात्त्वं हंस्यकिल्बिषम् ॥ २३ ॥

हे राम ! मैंने तुम्हारे देश या नगर में कोई बुरा काम नहीं किया। इस लिये मेरी समझ में नहीं आता कि, तुमने क्यों मुझे मारा है ॥ २३ ॥

फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम् ।
मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम् ॥ २४ ॥

देखो, मैं तो सदा फल मूल खाया करता हूँ और वन में रहने वाला वंदर हूँ। फिर मैं तो दूसरे के साथ युद्ध में फँसा हुआ था ॥ २४ ॥

लिङ्गमप्यस्ति ते राजन्दृश्यते धर्मसंहितम् ।
कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवा[1]न्नष्टसंशयः[2] ॥ २५ ॥
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत् ।
राम राजकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! तुम धर्मधारियों जैसे चिन्ह भी धारण किये हुए हो। फिर भला बतलाओ तो, कौन ऐसा क्षत्रियकुलोत्पन्न, शास्त्रों को सुन कर, धर्माधर्म के सम्बन्ध में संशयहीन हो तथा धर्मधारियों जैसे चिन्ह धारण कर, तुम्हारी तरह ऐसा कठोर कर्म करेगा। हे रामचन्द्र ! तुम महाराज रघु के कुल में उत्पन्न हुए हो और धर्मात्मा कहलाते हो ॥ २५ ॥ २६ ॥

अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसि ।
साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ ॥ २७ ॥

---

१ श्रुतवान्—शास्त्रश्रवण सम्पन्नः अतएव २ नष्टसंशयः—धर्माधर्मविषयक संशयरहितः । (शि०)

फिर तुम सौम्य हो कर भी, सुग्रीव जैसे क्रूर जन के साथ क्यों फिरते हो। अथवा शुभरूप धारण करके तुम अधर्म कर्म क्यों करते हो अथवा जब कि तुम इस प्रकार के पापाचारी हो, तब तुम अपने को धर्म के वेश में क्यों छिपाये रहते हो ? हे राजन्! क्षमा, दान, धर्म, सत्य, धैर्य, पराक्रम ॥ २७ ॥

पार्थिवानां गुणा राजन्दण्डश्चाप्यपराधिषु ।
वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशनाः ॥ २८ ॥

और अपराधियों को दण्ड देना—ये राजाओं के गुण हैं। हे राम! हम लोग तो फल मूल खाने वाले, वनचारी शाखामृग (बंदर) हैं ॥ २८ ॥

एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं[1] नरेश्वरः ।
भूमिर्हिरण्यं रूप्यं च विग्रहे कारणानि च ॥ २९ ॥
अत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ।
नयश्चविनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि ॥ ३० ॥
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ।
त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ॥ ३१ ॥
राजवृत्तैश्च सङ्कीर्णः शरासनपरायणः ।
न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता ॥ ३२ ॥

हम लोगों का तो यह स्वभाव है। (अर्थात् यदि हम लोगों की बुद्धि पशुओं जैसी हो तो आश्चर्य नहीं) किन्तु आप केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि नरेश्वर अर्थात् राजा हो। (आप में तो पशु-बुद्धि कभी न आनी चाहिये) मनुष्यों में ज़मीन, और धन दौलत

---

१ पुरुषः मनुष्यः । (गो०)

को ले कर झगड़े उठ खड़े होते हैं। (सो हमारे पास तो केवल वन के फल मूल हैं) सो क्या आपको इन फल मूलों का या मेरे अधिकृत वन का लोभ (इस कार्य में प्रवृत्ति का कारण) है? नीति, विनय, अनुग्रह और विग्रह—राजाओं के लिये अनुष्ठेय होने पर भी, इनके अनुष्ठान में स्वेच्छाचारिता नहीं करनी चाहिये, किन्तु तुम तो अत्यन्त स्वेच्छाचारी, कोपन स्वभाव, चञ्चल चित्त और राजनीति के विरुद्ध आचरण वाले तथा धनुष बाण धारण करने वाले हो। तुममें न तो धर्म का आदर है और न तुम्हारी बुद्धि ही स्थिर है॥ २९॥ ३०॥ ३१॥ ३२॥

इन्द्रियैः कामवृत्तः सन्कुप्यसे मनुजेश्वर।
हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्॥ ३३॥

हे नरनाथ! तुम तो स्वेच्छाचारी होने के कारण इन्द्रियों के दास बने हुए हो। मुझ जैसे निरपराधी को तीर से मार कर॥ ३३॥

किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कृत्वा कर्म जुगुप्सितम्।
राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः॥ ३४॥
नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः।
सूचकश्च कदर्यश्च[1] मित्रघ्नो गुरुतल्पगः॥ ३५॥
लोकं पापात्मनामेते गच्छन्त्यत्र न संशयः।
अधार्यं चर्म मे सद्भी रोमाण्यस्थि च वर्जितम्॥ ३६॥

और ऐसा घृणित कर्म कर के तुम सज्जनों के बीच में क्या कहोगे? देखो राजघाती, ब्राह्मणघाती, गोघाती, चोर और जीव-

---

२ कदर्यः—लुब्धः।

धारियों की हिंसा में तत्पर, नास्तिक, परिवेत्ता (ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित होने पर भी अपना विवाह कर लेने वाला) ये सब नरकगामी होते हैं। चुग़लखोर, क्रूम, मित्रघाती, गुरूपत्नीगामी भी निस्सन्देह नरकगामी होते हैं। हे श्रीराम! देखो, जो सज्जन लोग हैं वे न तो मेरे चर्म को और न मेरे रूओं को और न मेरी हड्डियों को अपने काम में लाते हैं॥ ३४॥ ३५॥ ३६॥

अभक्ष्याणि च मांसानि त्वद्विधैर्धर्मचारिभिः।
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण[1] राघव॥ ३७॥
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः।
चर्म चास्थि च मे राजन्न स्पृशन्ति मनीषिणः॥ ३८॥

तुम जैसे धर्मचारी जन हम लोगों का मांस भी नहीं खाते। क्योंकि हे राघव! पांच नख वाले पांच जन्तु यथा श्वाविध, सेई, गोह, खरगोश और कछुआ ब्राह्मण और क्षत्रियों के खाने योग्य हैं। किन्तु हे राजन्! जो समझदार लोग हैं, वे तो मेरी चाम और हड्डी भी नहीं छूते॥ ३७॥ ३८॥

[नोट—श्लोक ३७ में "ब्रह्मक्षत्रेण" को देख मानना पड़ेगा कि, रामायणकाल में मांसभक्षण की प्रथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों में समान रूप से वर्तमान थी।]

अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः।
तारया वाक्यमुक्तोऽहं सत्यं सर्वज्ञया हितम्॥ ३९॥

और मांस तो हमारा अभक्ष्य है ही। सो वर्जित पांच नख वालों में से मुझको तुमने मारा है। सब हाल जानने वाली तारा ने मुझसे सत्य और हित ही की बात कही थी॥ ३९॥

---

१ ब्रह्मक्षत्रेणेत्युपलक्षणं त्रैवार्णिकेनेत्यर्थः। (गो०)

तदतिक्रम्य मोहेन कालस्य वशमागतः ।
त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा ॥ ४० ॥
प्रमदा शीलसम्पन्ना धूर्तेन पतिना यथा ।
शठे नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः ॥ ४१ ॥

किन्तु मैं अज्ञानवश उसका कहना न मान, कालकवलित हुआ। हे काकुत्स्थ! जिस प्रकार धूर्त पति को पा कर सुशील स्त्री सनाथ नहीं होती, उसी प्रकार तुम जैसे नाथ को पा कर, पृथिवी सनाथ नहीं हुई। क्योंकि तुम तो धूर्त, अपकारी, ओछे, और बनावटी शान्ति को धारण करने वाले हो ॥ ४० ॥ ४१ ॥

कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना ।
छिन्नचारित्रकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना ॥ ४२ ॥

दशरथ जैसे महात्मा के तुम जैसे पापात्मा कैसे उत्पन्न हुए? जिसने चारित्र रूप बन्धन को तोड़ डाला और सज्जनों के धर्ममार्ग को उलङ्घन किया है ॥ ४२ ॥

त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ।
अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ॥ ४३ ॥

और जिसने धर्म रूपी अङ्कुश का भय त्याग दिया है, उस राम रूपी हाथी से मैं मारा गया हूँ। अशुभ, अयुक्त और सज्जनों से निन्दित ॥ ४३ ॥

वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ।
उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमस्ते प्रकाशितः ॥ ४४ ॥
अपकारिषु तं राजन्न हि पश्यामि विक्रमम् ।
दृश्यमानस्तु युध्येथा मया यदि नृपात्मज ॥ ४५ ॥

कर्म कर, तुम सज्जनों के सामने क्या जवाब दोगे ? मुझ उदासीनों पर तुमने जैसा बल पराक्रम दिखलाया है, वैसा अपकारियों पर प्रकट करते तुम मुझे नहीं देख पड़ते। हे राजकुमार ! यदि तुम मेरे सन्मुख हो कर मुझसे लड़ते ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया ।
त्वयाऽदृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः ॥ ४६ ॥

तो तुम मेरे हाथ से मारे जा कर, अवश्य यमराज का दर्शन करते। परन्तु क्या कहूँ ? तुमने तो छिप कर, मुझे वैसे मारा है ॥ ४६ ॥

प्रसुप्तः पन्नगेनेव नरः पापवशं गतः ।
सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ॥ ४७ ॥
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः ।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान्भवेत् ॥ ४८ ॥

जैसे पापात्मा लोग सोते हुए सर्प को मार डालते हैं। हे राम ! यदि तुमने सुग्रीव को प्रसन्न करने के लिये मुझे मारा है और यदि तुम मुझे अपना यह प्रयोजन बतला देते, तो मैं एक ही दिन में सीता को ला देता ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां ते निहतं रावणं रणे ।
न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम् ॥ ४९ ॥
आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव ।
युक्तं यत्प्राप्नुयाद्राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि ॥ ५० ॥

यही नहीं, बल्कि उस रावण को संग्राम में मार और उसका गला बाँध, तुम्हारे पास ले आता। तुम्हारी सीता चाहे समुद्र जल के

भीतर होती अथवा पाताल ही में क्यों न होती, किन्तु तुम्हारी आज्ञा के अनुसार उसी प्रकार सीता को ला देता, जिस प्रकार हयग्रीव भगवान् मधु और कैटभ नाम दैत्यों से पाताल में अवरुद्ध श्वेताश्वतरी रूपी श्रुति को ले आये थे। मेरे स्वर्गवासी होने पर सुग्रीव को राज्य मिलना तो ठीक ही है ॥ ४९ ॥ ५० ॥

अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाऽहं निहतो रणे।
काममेवंविधो लोकः कालेन विनियुज्यते।
क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥ ५१ ॥

किन्तु तुम्हारे हाथ से अधर्मपूर्वक मेरा मारा जाना अनुचित है। जो जन्मता है वह एक दिन अवश्य मरेगा ही। सो मुझे अपने मरने का तो कुछ भी विषाद नहीं है। किंन्तु विषाद तो मुझे इस बात का है कि, तुम अपने अनुचित कृत्य का उत्तर लोगों को क्या दोगे? सो तुम इसका ठीक ठीक उत्तर सोच लो ॥ ५१ ॥

इत्येवमुक्त्वा परिशुष्कवक्त्रः
शराभिघातादुव्यथितो महात्मा।
समीक्ष्य रामं रविसन्निकाशं
तूष्णीं बभूवामरराजसूनुः ॥ ५२ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

यह कहते कहते महाबलवान वालि का मुख सूख गया और तीर के घाव से वह व्यथित हो गया। फिर सूर्य के समान प्रकाशमान श्रीरामचन्द्र जी को सामने देख, इन्द्रपुत्र वालि चुप हो गया ॥५२॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टादशः सर्गः

—※—

इत्युक्तः प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
परुषं वालिना रामो निहतेन विचेतसा ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा घायल और अचेतन वालि, श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार विनयान्वित धर्म-अर्थ-युक्त तथा हितकर, किन्तु कठोर, वचन बोला ॥ १ ॥

तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम् ।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमुपशान्तमिवानलम् ॥ २ ॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम्
अधिक्षिप्तस्तदा रामः पश्चाद्वालिनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

प्रभाहीन सूर्य, अथवा जलरहित मेघ, अथवा बुझी हुई आग के समान, धर्मार्थ-गुण-युक्त वचनों से, उत्तम वानरनाथ वालि द्वारा आक्षेप किये जाने पर, श्रीरामचन्द्र जी वालि से बोले ॥ २ ॥ ३ ॥

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम् ।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥ ४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और लौकिकाचार को जाने विना ही, तुम बालक की तरह, मेरी निन्दा क्यों करते हो ? ॥ ४ ॥

अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान्वृद्धानाचार्यसम्मतान् ।
सौम्य वानर चापल्यात्किं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

हे सौम्य ! मान्य आचार्यों और बुद्धिमान् बड़े बूढ़ों से बिना पूँछे, वानर-स्वभाव-सुलभ चपलतावश, क्या तुम मुझसे इस विषय में कुछ कह सकते हो ? ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहावपि ॥ ६ ॥

(क्या तुम नहीं जानते कि,) पर्वतों और वनों सहित यह समस्त भूमण्डल इक्ष्वाकुवंश वालों का है। इस अखिल भूमण्डल में जितने पशु पक्षी मनुष्य रहते हैं, उन सब को दण्ड देने अथवा उन पर अनुग्रह करने का इक्ष्वाकुवंशवालों को अधिकार है ॥ ६ ॥

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवागृजुः ।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥ ७ ॥

भरतजी, जो सत्यवादी, सीधे, धर्म, काम और अर्थ के तत्व के ज्ञाता तथा अपराधियों को दण्ड देने और साधुओं पर अनुग्रह करने में तत्पर हैं, इस समय इस भूमण्डल का शासन कर रहे हैं ॥ ७ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन्सत्यं च सुस्थितम् ।
विक्रमश्च यथादृष्टः स राजा देशकालवित् ॥ ८ ॥

भरतजी नीतिवान् और शिक्षित राजा हैं। वे सत्याचरण में निरत हैं और पराक्रमी होने के साथ साथ यथोचित देश काल के जानने वाले हैं ॥ ८ ॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः[1] ॥ ९ ॥

---

[1] धर्मसन्तान—धर्मवृद्धि । (गो०)

उन्हींके धर्माज्ञापालक हम तथा अन्य राजा लोग धर्मवृद्धि की कामना से, सारी पृथिवी पर घूमा फिरा करते हैं ॥ ९ ॥

तस्मिन्नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले ।
पालयत्यखिलां भूमिं कश्चरेद्धर्मनिग्रहम् ॥ १० ॥

उन राजसिंह और धर्मवत्सल राजा भरत के राज्यकाल में किस पुरुष में सामर्थ्य है, जो धर्मविरुद्ध कोई कर्म कर सके ? ॥१०॥

ते वयं धर्मविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः ।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि ॥ ११ ॥

हम लोग भरत जी की आज्ञा के अनुसार तथा अपने उत्कृष्ट धर्ममार्ग पर आरूढ़ हो, अधर्मयुक्त पुरुषों का यथाविधि विचार किया करते हैं ॥ ११ ॥

त्वं तु संक्लिष्टधर्मा च कर्मणा च विगर्हितः ।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि ॥ १२ ॥

तुम धर्म को सताने वाले, कुकर्म में रत, केवल काम के दास बन कर, राजधर्म की उपेक्षा कर रहे हो ॥ १२ ॥

ज्येष्ठो भ्राता पिता चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे पथि हि वर्तिनः ॥ १३ ॥

धर्ममार्ग पर चलने वाले जनों के मतानुसार जेठा भाई, पिता और विद्यादाता गुरु ये तीनों ही जन्मदाता पिता के बराबर हैं ॥१३॥

यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः ।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चेदत्र कारणम् ॥ १४ ॥

धर्म की व्यवस्था के अनुसार छोटा भाई, पुत्र और शिष्य ; ये तीनों पुत्र के बराबर हैं ॥ १४ ॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम ।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥ १५ ॥

हे वानर ! सज्जनों का धर्म ऐसा सूक्ष्म है कि, सहज में उसे कोई जान नहीं सकता। परन्तु वह धर्म प्रत्येक प्राणी के हृदय में वर्त्तमान है। इसीसे अन्तरात्मा द्वारा ही शुभाशुभ का ज्ञान हुआ करता है ॥ १५ ॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः ।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन्द्रक्ष्यसे नु किम् ॥ १६ ॥

तुम बन्दर की जाति के और चञ्चल स्वभाव के हो ! तुम अपने जैसे अशिक्षित बुद्धिवाले बंदरों के साथ परामर्श कर धर्म की सूक्ष्मगति को कैसे जान सकते हो ! क्योंकि जो मनुष्य जन्मान्ध होता है वह यदि किसी दूसरे जन्मान्ध, के साथ परामर्श कर, मार्ग जानना चाहे तो क्या उसे मार्ग मिल सकता है ? ॥ १६ ॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते ।
न हि मां केवलं रोषात्त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

अब मैं अपने इस कथन को स्पष्ट किये देता हूँ। तुम केवल रोष में भर मुझे दोषी नहीं ठहरा सकते ॥ १७ ॥

तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः ।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥ १८ ॥

पहिले जिस लिये मैंने तुमको मारा है, उसका कारण जान लो। तुमने सनातन धर्म को छोड़, अपने भाई की भार्या को अपनी भार्या बना लिया है ॥ १८ ॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥ १९ ॥

इन महात्मा सुग्रीव के जीवित रहते, इनकी भार्या रुमा के साथ, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, तुम कामासक्त हो, पापकर्म करते हो ॥ १९ ॥

तद्व्यतीतस्य ते धर्मात्कामवृत्तस्य वानर ।
भ्रातृभार्यावमर्शेऽस्मिन्दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥ २० ॥

तुमने कामासक्त हो धर्ममार्ग का उल्लङ्घन किया है। भाई की स्त्री के साथ बुरा काम करने के लिये मैंने यह दण्ड तुमको दिया है ॥ २० ॥

न हि धर्मविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः ।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप ॥ २१ ॥

हे हरियूथप ! धर्म की मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले और लोक-व्यवहार की मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले को मारने के सिवाय मुझे और कोई दण्ड नहीं देख पड़ता ॥ २१ ॥

न हि ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्भवः ।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाऽप्यनुजस्य यः ॥ २२ ॥

मेरा जन्म श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल में हुआ है, अतः मैं पाप अर्थात् पापी को इस तरह नहीं देख सकता। जो कोई सहोदरा भगिनी अथवा अपने छोटे भाई की स्त्री ॥ २२ ॥

प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः ।
भरतस्तु महीपालो वयं चादेशवर्तिनः ॥ २३ ॥

के साथ कामव्यवहार (बुरा काम) करता है, उसके लिये वध ही उचित दण्ड बतलाया गया है। हम तो महाराज भरत के आज्ञापालक हैं ॥ २३ ॥

त्वं तु धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ।
गुरुर्धर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥ २४ ॥

अतः हम तुमसे धर्मत्याग करने वाले की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं, क्योंकि जो बुद्धिमान धर्म (ईमानदारी) से प्रजा का पालन करते हैं, वे महाअधर्मियों का निग्रह किये बिना कैसे रह सकते हैं ? ॥ २४ ॥

भरतः कामवृत्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः ।
वयं तु भरतादेशं विधिं कृत्वा हरीश्वर ॥ २५ ॥

भरत जी ने कामाधीन और स्वेच्छाचारियों को दण्ड देने की व्यवस्था की है। सो हे हरीश्वर ! हम लोग भरत के निर्देशानुसार शास्त्र की विधि का पालन करने में तत्पर रहते हैं ॥ २५ ॥

त्वद्विधान्मिन्नमर्यादान्नियन्तुं पर्यवस्थिताः ।
सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा ॥ २६ ॥

और तुम जैसे धर्म की मर्यादा तोड़ने वालों का नियन्त्रण करने को तैयार रहते हैं। फिर सुग्रीव मेरा मित्र है। मेरे लिये जैसे लक्ष्मण हैं वैसे ही सुग्रीव भी हैं ॥ २६ ॥

दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसि रतः स मे ।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसन्निधौ ॥ २७ ॥

यह मित्रता स्त्री और राज्य के लिये हुई है, इसके लिये वानरों के सामने मैं सुग्रीव को वचन भी दे चुका हूँ ॥ २७ ॥

प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ।
तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंहितैः ॥ २८ ॥
शासनं तव यद्युक्तं तद्भवाननुमन्यताम् ।
सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः ॥ २९ ॥

सो भला मुझ जैसा पुरुष अपनी प्रतिज्ञा को कैसे तोड़ सकता है । इन्हीं सब धर्मविषयक बड़े बड़े कारणों से तुम्हें मैंने जो उचित दण्ड दिया है, उसे तुम भी मान लो । तुम्हें जो दण्ड दिया गया है, वह सब प्रकार से धर्मानुसार है ॥ २८ ॥ २९ ॥

वयस्यस्यापि कर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यतः ।
शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ ३० ॥

मित्र के कर्त्तव्य की ओर दृष्टि रखते हुए, मुझे मित्र का उपकार करना उचित ही था और धर्म की ओर दृष्टि करके तुमको भी यह उचित था कि, तुम प्रार्थनापूर्वक यह दण्ड ग्रहण करते ॥ ३० ॥

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ[1] ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तत्त्वथा चरितं हरे ॥ ३१ ॥

हे वानर ! इस विषय में मनु जी के शुभाचरण प्रतिपादक दो श्लोक सुने जाते हैं । इनको धर्मज्ञ पुरुषों ने भी माना है और मैं भी मानता हूँ ॥ ३१ ॥

---

१ चारित्रवत्सलौ — शुभाचरणप्रतिपादकौ । (शि०)

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३२ ॥

उन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि, जो मनुष्य पाप करने पर राजा द्वारा दण्डित किये जाते हैं वे पाप से मुक्त हो, पुण्यात्मा सत्पुरुषों की तरह, स्वर्गवासी होते हैं ॥ ३२ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३३ ॥

जो चोर अथवा पापी स्वयं जा कर राजा से अपना पापकर्म कह देता है और दण्ड चाहता है, उसे राजा चाहे तो दण्ड दे चाहे दण्ड न दे कर क्षमा कर दे । दोनों दशाओं में वह पापी तो पाप से छूट जाता है ; किन्तु राजा पापी को पाप का दण्ड न देने से स्वयं पाप का भागी हो जाता है ॥ ३३ ॥

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतम् त्वया ॥ ३४ ॥

जैसा पाप तुमने किया है वैसा ही किसी श्रमण (बौद्ध सन्यासी) ने भी किया था और जब वह दण्डित होने के लिये महाराज मान्धाता के पास गया ; तब उन्होंने उसे दण्ड न दे कर क्षमा कर दिया । इसके लिये महाराज मान्धाता को घोर कष्ट सहना पड़ा था ॥ ३४ ॥

[नोट—इस श्लोक में " श्रमण " शब्द देख, कहना पड़ेगा कि बौद्धमत राजा मान्धाता के समय में भी प्रचलित था । श्रमण का अर्थ टीकाकार ने " क्षपणक " किया है । क्षपणक का अर्थ आप्टे साहब ने अपने कोश में, A Baudha or Jaina mendicant, लिखा है ।]

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥ ३५ ॥

इसी तरह अन्य लोग जो प्रमादवश पाप कर, राजाओं द्वारा दण्ड ग्रहण कर, प्रायश्चित्त कर डालते हैं, इससे उनका पाप दूर हो जाता है ॥ ३५ ॥

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ३६ ॥

हे वानरोत्तम ! अब तुम्हारा पछताना व्यर्थ है । क्योंकि यह तुम्हारा वध धर्मानुसार ही किया गया है और मैं धर्मशास्त्र के वश में हूँ ; स्वतन्त्र नहीं हूँ ॥ ३६ ॥

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुङ्गव ।
यच्छ्रुत्वा हेतुमद्वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! इस विषय के और भी कारण है, मैं उन्हें भी तुम्हें बतलाता हूँ । उनको सुनकर तुम अपने मन का क्रोध त्याग दो ॥ ३७ ॥

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरियूथप ।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ॥ ३८ ॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून्मृगान् ।
प्रधावितान्वा वित्रस्तान्विस्रब्धांश्चापि निष्ठितान् ॥ ३९ ॥

हे हरियूथप ! मैंने तुमको जो छिप कर मारा है, सो इसके लिये न तो मुझे सन्ताप है और न दुःख ही । क्योंकि अनेक शिकारी लोग जाल, फंदा और कपट व्यवहार से, छिपकर या प्रकट हो कर,

भागते हुए, डरे हुए, निर्भय बैठे हुए अनेक मृग पकड़ा ही करते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

प्रमत्तानप्रमत्तान्वा नरा मांसार्थिनो भृशम् ।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥ ४० ॥

मांसाहारी लोग सावधान या असावधान मृगों को पीठ पीछे से मारा ही करते हैं । इसमें कुछ भी दोष नहीं है ॥ ४० ॥

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ।
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ॥ ४१ ॥

धर्म के तत्व को जानने वाले बड़े बड़े राजर्षि शिकार खेला ही करते हैं । हे वानर ! इसीसे मैंने भी छिप कर, तुम्हें युद्ध में बाण से मारा है ॥ ४१ ॥

अयुध्यन्प्रतियुध्यन्वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ।
दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च ॥ ४२ ॥
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः ।
तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत् ॥ ४३ ॥

चाहें तुम्हारे साथ युद्ध कर अथवा युद्ध न कर, मैंने तुम्हें मारा, तो इसमें दोष क्या है ? क्योंकि तुम वानर तो हो ही । देखो, दुर्लभ धर्म, जीवन और कल्याण के देने वाले राजा ही होते हैं । अतः उनको न तो मारना चाहिये, न उन पर क्रोध करना चाहिये, न उन पर आक्षेप करना चाहिये और न उनसे कटुवचन कहने चाहिये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

देवा मनुष्यरूपेण चरन्त्येते महीतले ।
त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः ॥ ४४ ॥

प्रदूषयसि मां धर्मे पितृपैतामहे स्थितम् ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम् ॥ ४५ ॥

क्योंकि वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत वे मनुष्य रूपी देवता पृथिवी पर घूमा करते हैं। तुम तो धर्म का तिरस्कार कर, केवल क्रोध के वशवर्ती हो मुझको, जो बाप दादों के धर्म पर आरूढ़ हूँ, दोष लगाते हो। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर, वालि को बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः ।
प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ॥ ४६ ॥

वह धर्म की दृष्टि से सोचने लगा और भली भाँति विचार कर, उसने श्रीरामचन्द्र जी को निर्दोष पाया। तब कपिराज वालि ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ४६ ॥

यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तदेवं नात्र संशयः ।
प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि* नाप्रकृष्टस्तु शक्नुयात्† ॥ ४७ ॥

हे पुरुषोत्तम ! तुम जो कहते हो सो निसन्देह ठीक है। भला क्षुद्र जन की क्या सामर्थ्य है, जो उत्कृष्ट जनों के साथ उत्तर प्रत्युत्तर कर सके ॥ ४७ ॥

तदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादादुक्तमप्रियम् ।
तत्रापि खलु मे दोषं कर्तुं नार्हसि राघव ॥ ४८ ॥

पहिले मैंने भूल से जो कठोर वचन कहे, हे राघव ! उनके लिये मुझे तुम दोषी मत ठहराओ ॥ ४८ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रकृष्टेऽहं "। † पाठान्तरे— " शक्नुयाम् "।

त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः[1] प्रजानां च हिते रतः ।
कार्यकारणसिद्धौ[2] ते प्रसन्ना बुद्धिरव्यया ॥ ४९ ॥

क्योंकि तुम तो हम लोगों के मन की बातों को जानने वाले अथवा सब पदार्थों के तत्व को जानने वाले और प्रजाजनों के हित में तत्पर हो। तुम दण्डविधान करने और दण्ड का कारण निश्चित करने में निपुण हो ॥ ४९ ॥

मामप्यगतधर्माणं व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम् ।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥ ५० ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं धर्म उल्लङ्घन करने वालों में अग्रणी हूँ। तुम धर्मयुक्त वचनों (के उपदेश) से मुझको उत्तम लोक दे कर, मेरा प्रतिपालन करो ॥ ५० ॥

न त्वात्मानमहं शोचे न तारां न च बान्धवान् ।
यथा पुत्रं गुणश्रेष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम् ॥ ५१ ॥

मुझे न तो अपनी, न तारा की और न भाईबन्दों की कुछ चिन्ता है। किन्तु मुझे इस समय जो कुछ चिन्ता है, वह सोने के बाजू पहिने हुए, अपने गुणी पुत्र अङ्गद की है ॥ ५१ ॥

स ममादर्शनादीनो बाल्यात्प्रभृति लालितः ।
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति ॥ ५२ ॥

---

१ दृष्टार्थतत्वज्ञः—अस्मदादिज्ञान विषयीभूतार्थ याथार्थ्य विज्ञाता । (शि०) २ कार्यकारणसिद्धौ—कार्य दण्डनं कारणं तद्धेतु भूतंपापं तयोः सिद्धौ परिज्ञाने । (गो०)

क्योंकि लड़कपन से बड़े दुलार के साथ पाला पोसा हुआ मेरा वह पुत्र, मुझे न देख कर, सूखे हुए तालाब की तरह सूख जायगा ॥ ५२ ॥

बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः ॥ ५३ ॥

हे राम ! तारा के गर्भ से उत्पन्न मेरे एक मात्र प्यारे पुत्र अङ्गद को, जो अभी कच्ची बुद्धि का है, किन्तु है महाबली, तुम रक्षा करो ॥ ५३ ॥

सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम् ।
त्वं हि शास्ता च गोप्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥५४॥

सुग्रीव और अङ्गद के विषय में आप उत्तम बुद्धि रखें, क्योंकि आप ही उनके रक्षक और शासनकर्त्ता हैं और करने अनकरने कामों के बारे में आप ही उनके शिक्षक हैं ॥ ५४ ॥

या ते नरपते वृत्ति[1]र्भरते लक्ष्मणे च या ।
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां त्वमाधातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! आपकी जैसी प्रीति भरत और लक्ष्मण में है, वैसी ही प्रीति आप सुग्रीव और अङ्गद में भी रखें ॥ ५५ ॥

मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम् ।
सुग्रीवो नावमन्येत तथाऽवस्थातुमर्हसि ॥ ५६ ॥

मेरे अपराधों को स्मरण कर, सुग्रीव तपस्विनी तारा को तंग न करें या निकाल न दें; आप ऐसी व्यवस्था कर दीजियेगा ॥ ५६ ॥

---

१ वृत्तिः—प्रीतिः । (गो०)

त्वया ह्यनुगृहीतेन राज्यं शक्यमुपासितुम् ।
त्वद्वशे वर्तमानेन तव चित्तानुवर्तिना ॥ ५७ ॥
शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम् ।
त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया ॥ ५८ ॥
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः ।
इत्युक्त्वा सन्नतो रामं विरराम हरीश्वरः ॥ ५९ ॥

आपके वश में रह कर, आपकी इच्छानुसार चल कर और आपका कृपापात्र बन कर ही वह वानर (सुग्रीव) अपने राज्य का केवल शासन ही नहीं कर सकता, बल्कि स्वर्ग की प्राप्ति भी सहज में कर सकता है। हे श्रीरामचन्द्र ! मैं तुम्हारे हाथ से मारे जाने की इच्छा हो से तारा की बात न मान कर, सुग्रीव से लड़ने आया था। वानरराज वालि श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर, चुप हो गया ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

स तमाश्वासयद्रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम्[1] ।
सामसम्पन्नया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥ ६० ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी धर्मार्थयुक्त एवं साधुसम्मत वचनों से बड़े ज्ञानवान् वालि को समझाने लगे ॥ ६० ॥

न सन्तापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम ।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम ॥ ६१ ॥
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः ।
दण्ड्ये यः पातयेद्दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते ॥ ६२ ॥

---

१ व्यक्तदर्शनं—विशदज्ञानं । (गो०)

कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ।
तद्धवान्दण्डसंयोगादस्माद्विगतकिल्बिषः ॥ ६३ ॥
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां धर्मदृष्टेन वर्त्मना ।
त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम् ॥
त्वया विधानं हर्यक्ष न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ ६४ ॥

हे वानर ! तुम मेरे लिये और अपने लिये ज़रा भी सन्तप्त न होना । क्योंकि मैंने धर्मशास्त्र द्वारा भली भाँति विचार कर देखा है कि, दण्ड देने योग्य को जो दण्ड देता है और जो दण्ड पाता है, उसकी कार्य-सिद्धि और कारण-सिद्धि कभी नष्ट नहीं होती । अतः दण्ड पा कर, तुम पाप से छूट गये और दण्ड ही द्वारा तुम अपनी धर्मयुक्त प्रकृति को प्राप्त कर सके । अतः अब तुम शोक और मोह को त्याग, अपने मन का खटका दूर कर दो, क्योंकि तुम पूर्वकृत कर्मों के फल को उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर ।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥ ६५ ॥

हे कपिराज ! अङ्गद जिस प्रकार तुम्हारे साथ वर्ताव करता था वैसा ही व्यवहार वह मेरे और सुग्रीव के साथ भी निस्सन्देह करेगा ॥ ६५ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं महात्मनः
समाहितं धर्मपथानुवर्तिनः ।
निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥ ६६ ॥

महात्मा एवं रणजयी श्रीरामचन्द्र जी के धर्मयुक्त और समाधानकारक वचनों को सुन, फिर वालि ने युक्तियुक्त वचन कहे ॥ ६६ ॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रदूषितस्त्वं यदजानता प्रभो ।
इदं महेन्द्रोपम भीमविक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥ ६७ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान भीम विक्रम सम्पन्न ! मैंने तीर की चोट से विकल हो, निर्बुद्धियों जैसी जो कटु बातें कही हैं, उनके लिये आप मुझे क्षमा करें और मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ६७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनविंशः सर्गः

—※—

स वानरमहाराजः शयानः शरविक्षतः ।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

वह कपिराज वालि, जो तीर से घायल हो, ज़मीन पर पड़ा हुआ था और जिसे युक्तियुक्त वचनों से श्रीरामचन्द्र जी ने समझाया था, फिर कुछ न बोल सका ॥ १ ॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम् ।
रामबाणेन च क्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥ २ ॥

क्योंकि एक तो उसके अङ्ग पत्थरों से चुटीले हो ही रहे थे, दूसरे पेड़ों का आघात भी उसने सहा था, तिस पर श्रीरामचन्द्र के तीर के घाव से तो वह अब तब हो रहा था, अर्थात् मरने ही वाला था। मरने के पूर्व वालि मूर्छित हो गया ॥ २ ॥

तं भार्या बाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे ।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥ ३ ॥

इतने में तारा ने सुना कि, वानरश्रेष्ठ वालि युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी के शराघात से मारा गया ॥ ३ ॥

सा सपुत्राप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम् ।
निष्पपात भृशं त्रस्ता मृगीव गिरिगह्वरात् ॥ ४ ॥

पति के मारे जाने की अत्यन्त दारुण ख़बर पा कर, पुत्र को लिये हुए तारा, त्रस्त हो, गिरिकन्दरा से उसी प्रकार दौड़ कर बाहिर निकली, जिस प्रकार डरी हुई हिरनी दौड़ कर भागती है ॥ ४ ॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा भीमविक्रमाः ।
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५ ॥

जो वानर अङ्गद के साथ सदा रहते थे और बड़े बलवान कहलाते थे, वे श्रीरामचन्द्र को धनुष लिये हुए देख, मारे डर के भाग खड़े हुए ॥ ५ ॥

सा ददर्श ततस्तस्तान्हरीनापततो द्रुतम्* ।
यूथादिव परिभ्रष्टान्मृगान्निहतयूथपान् ॥ ६ ॥

तारा ने देखा कि, मुखिया के मारे जाने पर और झुण्ड से बिछुड़े हुए हिरनों की तरह, बन्दर डर कर, भाग रहे हैं ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"भृशम्"

तानुवाच समासाद्य दुःखितान्दुःखिता सती ।
रामवित्रासितान्सर्वाननुबद्धानिवेषुभिः ॥ ७ ॥

तब तो दुखिनी तारा ने, उन वानरों के समीप जा, जो श्रीरामचन्द्र जी को देख, ऐसे भाग गये थे, मानों वे (स्वयं) बाणों से घायल हो गये हों, दुःखित हो, कहा ॥ ७ ॥

वानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः ।
तं विहाय सुसंत्रस्ताः कस्माद्द्रवथ दुर्गताः ॥ ८ ॥

हे वानरों ! जिस राजसिंह के तुम लोग आगे आगे चला करते थे, उसे छोड़, तुम लोग क्यों इस प्रकार त्रस्त हो कर भागते हो ॥ ८ ॥

राज्यहेतोः स चेद्भ्राता भ्रात्रा रौद्रेण पातितः ।
रामेण प्रहितै रौद्रैर्मार्गणैर्दूरपातिभिः ॥ ९ ॥

अगर राज्य पाने के लिये वानरराज को उसके क्रूर भाई सुग्रीव ने, श्रीराम के दूरगामी बाणों से, दूर खड़े श्रीरामचन्द्र द्वारा मरवा डाला, तो इसके लिये तुम क्यों डर कर, भाग रहे हो ॥ ९ ॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः ।
प्राप्तकालमविक्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥ १० ॥

तारा के वचन सुन कर, कामरूपी वानर समयानुकूल और युक्तियुक्त उससे यह वचन बोले ॥ १० ॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम् ।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम् ॥ ११ ॥

हे जीवपुत्रे (वह स्त्री जिसका पुत्र जीवित है) तुम घर को लौट जाओ और अपने पुत्र अंगद की रक्षा करो। क्योंकि श्रीराम रूपी काल, वालि को मार कर लिये जाता है ॥ ११ ॥

क्षिप्तान्वृक्षान्समाविध्य विपुलाश्च शिलास्तथा ।
वाली वज्रसमैर्बाणै रामेण विनिपातितः ॥ १२ ॥

देखो न, वालि के फैंके हुए अनेक वृक्षों और शिलाओं को व्यर्थ कर श्रीरामचन्द्र ने अपने वज्र तुल्य बाण से वालि को अन्त में मार ही डाला ॥ १२ ॥

अभिद्रुतमिदं सर्वं विद्रुतं प्रसृतं बलम् ।
*अस्मिन्प्लवगशार्दूले हते शक्रसमप्रभे ॥ १३ ॥

इन्द्र तुल्य पराक्रमसम्पन्न कपिराज को मरा हुआ देख, यह समस्त कपिसेना भयभीत हो भागी जाती है ॥ १३ ॥

रक्ष्यतां नगरद्वारमङ्गदश्चाभिषिच्यताम् ।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवङ्गमाः ॥ १४ ॥

इस समय नगर की रक्षा का प्रबन्ध कर, अंगद को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दीजिये। जब अंगद राजसिंहासन पर बैठ जाँयगे, तब सब वानर उनकी सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अथवारुचितं स्थानमिह ते रुचिराननें ।
आविशन्ति हि दुर्गाणि क्षिप्रमन्यानि वानराः ॥ १५ ॥

अथवा हे रुचिराननें ! (सुन्दरमुख वाली) यदि तुम्हें यहाँ ठहरना अच्छा लगता हो तो, ये सब बन्दर इस पर्वत के दुर्गम स्थानों में तुरन्त चले जाँयगे ॥ १५ ॥

---

* पाठान्तरे "तस्मिन् ।"

अभार्याश्च सभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः ।
लुब्धेभ्यो विप्रयुक्तेभ्यस्तेभ्यो नस्तुमुलं भयम् ॥ १६ ॥

क्योंकि उनमें अनेक तो ऐसे हैं, जिनके स्त्री नहीं हैं और बहुत स्त्री वाले भी हैं । ये सब सुग्रीवादि वानर राज्य के लालची और पहले के हमारे शत्रु हैं। इसीसे इन लोगों से हमें बड़ा डर लगता है ॥ १६ ॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना ।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥ १७ ॥

चारुहासिनी तारा थोड़ी दूर खड़े हुए वानरों के ऐसे वचन सुन, उनसे अपनी पदमर्यादा के अनुकूल वचन बोली ॥ १७ ॥

पुत्रेण मम किं कार्यं किं राज्येन किमात्मना ।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन्भर्तरि नश्यति ॥ १८ ॥

जब मेरे वे (ये) महाभाग कपिश्रेष्ठ पति ही न रहे—मर गये, तब मुझे पुत्र, राज्य अथवा अपने जीवन ही का क्या करना है ॥ १८ ॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।
योऽसौ राममयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥ १९ ॥

जो मेरे पति श्रीरामचन्द्रजी के छोड़े हुए तीर से मारे गये हैं, मैं तो उन्हीं महात्मा के चरणों के समीप जाऊँगी ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदन्ती शोककर्शिता ।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥ २० ॥

यह कह कर, शोक से विकल हुई तारा रोती हुई उस ओर दौड़ी और मारे दुःख के अपने हाथों से अपना सिर और छाती पीटने लगी ॥ २० ॥

आव्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि ।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ २१ ॥
क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम् ।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम् ।
नर्दन्तं नर्दतां भीमं शूरं शूरेण पातितम् ॥ २३ ॥
शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराजं यथा हतम् ।
अर्चितं सर्वलोकस्य सपताकं सवेदिकम् ॥ २४ ॥
नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ।
अवष्टभ्य च तिष्ठन्तं ददर्श धनुरुत्तमम् ॥ २५ ॥
रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैवानुजं शुभा ।
तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे ॥ २६ ॥

वहाँ आ कर उसने अपने पति को ज़मीन पर पड़ा हुआ देखा। जो वालि समर में पीठ न दिखाने वाला, दानवेन्द्रों का मारने वाला था, जो वज्र चलाने वाले इन्द्र की तरह बड़े बड़े पर्वतों का फैंकने वाला था, जो प्रचण्ड पवन से युक्त मेघों की तरह गर्जने वाला था, इन्द्र जैसा पराक्रमी और बरसे हुए मेघ की तरह था और वानरों में श्रेष्ठ था उस वीर को, शूर श्रीरामचन्द्र जी ने मार कर वैसे ही गिरा दिया है, जैसे शार्दूल माँस के लिये सिंह को मार डालता है। अथवा जिस प्रकार सर्वपूज्य पताका और वेदी सहित वृक्ष को, साँप पकड़ने के लिये, गरुड़ गिरा देता है। उस समय तारा ने धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को तथा उनके छोटे भाई लक्ष्मण को तथा सुग्रीव को

खड़े देखा ; तथा आगे वह युद्ध में मारे गये अपने पति को ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ।
सुप्त्वेवैः* पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति क्रोशतीं† ॥
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा सन्दितं मृत्युदामभिः ॥ २७ ॥

देख, विकल और उद्विग्न हो तारा भूमि पर गिर पड़ी । थोड़ी देर बाद तारा सोती हुई के समान उठ कर, हा आर्यपुत्र! कह और कालकवलित पति को देख, रोने लगी ॥ २७ ॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशन्तीं कुररीमिव ।
विषादमगमत्कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥ २८ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

उस समय सुग्रीव, कुररी की तरह रोती हुई तारा को और अंगद को वहाँ खड़े देख, बहुत दुखी हुए ॥ २८ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

विंशः सर्गः

—※—

रामचापविसृष्टेन शरेणान्तकरेण तम् ।
दृष्ट्वा विनिहतं भूमौ तारा ताराधिपानना ॥ १ ॥

चन्द्रमुखी तारा श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटे हुए प्राण-नाशक बाण से अपने पति को मरा हुआ देख, ॥ १ ॥

---

* पाठान्तरे " सुप्त्वेव " । † पाठान्तरे—" शोचती " ।

सा समासाद्य भर्तारं पर्यष्वजत भामिनी ।
इषुणाभिहतं दृष्ट्वा वालिनं कुञ्जरोपमम् ॥ २ ॥

वह वाण से मारे गये और हाथी की तरह गिरे हुए वालि के निकट जा, उससे लिपट गयी ॥ २ ॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभं शोकसन्तप्तमानसा ।
तारा तरुमिवोन्मूलं पर्यदेवयदातुरा ॥ ३ ॥

फिर पर्वतेन्द्र के समान वानरेन्द्र वालि को उखड़े हुए वृक्ष की तरह पड़ा देख, वह विलाप कर कहने लगी ॥ ३ ॥

रणे दारुण विक्रान्त प्रवीर प्लवतांवर ।
किं दीनामनुरक्तां* मामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥ ४ ॥

युद्ध में दारुण विक्रम दिखाने वाले, उत्कृष्टवीर और वानर-श्रेष्ठ ! तुम इस समय इस दीना और तुममें अनुराग रखने वाली से क्यों नहं बोलते ? ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम् ।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ॥ ५ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! तुम उठो और उत्तम पलंग पर शयन करो। क्योंकि नृपश्रेष्ठ इस प्रकार ज़मीन पर नहीं लेटा करते ॥ ५ ॥

अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप ।
गतासुरपि यां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ॥ ६ ॥

हे पृथिवीनाथ ! मैं जान गयी कि, यह पृथिवी तुमको अतीव प्रिय है । क्योंकि तुम प्राणहीन होकर भी, मुझे छोड़ अपने शरीर से पृथिवी को चिपटाये हुए हो ॥ ६ ॥

---

*पाठान्तरे — "दीनामपुरोभागाम्" ।

व्यक्तमन्या त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तिता ।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥ ७ ॥

हे वीर ! मैं जान गयी । तुमने आज अपने धर्मबल से किष्किन्धा की तरह स्वर्ग के मार्ग में कोई और रमणीक पुरी बनाई है ॥ ७ ॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु ।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥ ८ ॥

तुम्हारे साथ वसन्त ऋतु में हम लोगों ने, जो विहार सुगन्धि-युक्त वनों में किये हैं, वे सब आज तुम्हारे साथ ही समाप्त हो गये ॥ ८ ॥

निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे ।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥ ९ ॥

हे महायूथपतियों के यूथपति ! तुम्हारे मरते ही मेरा सारा आनन्द और सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गईं और मैं शोकसागर में डूब गयी ॥ ९ ॥

हृदयं सुस्थिरं मह्यं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ।
यन्न शोकाभिसन्तप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥ १० ॥

हाय ! मेरा यह हृदय कैसा कठोर है, जो तुमको भूमि पर गिरा देख, शोक से सन्तप्त हो, टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता ॥ १० ॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः ।
यत्तु तस्य त्वया व्युष्टिः[1] प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥ ११ ॥

---

१ व्युष्टिः—फलं । (गो०)

तुमने सुग्रीव की भार्या को छीन कर, सुग्रीव को वन में निकाल दिया, सो हे वानरराज ! आज यह उसी कर्म का फल प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

निःश्रेयसपरा मोहात्त्वया चाहं विगर्हिता ।
यैषाऽध्रुवं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितैषिणी ॥ १२ ॥

हे वानरेन्द्र ! मैं सदा से तुम्हारा कल्याण चाहने वाली और हितैषिणी हूँ । किन्तु तुमने तो मोहवश, हित की बातें कहने पर भी मुझको दुत्कार दिया ॥ १२ ॥

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद ।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ १३ ॥

हे मानद ! मुझे निश्चय है कि, अब तुम स्वर्ग में जा वहाँ पर अपने रूप यौवन से गर्वित हो, परम चतुरा अप्सराओं के मन को मुग्ध कर दोगे ॥ १३ ॥

कालो निःसंशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव ।
बलाद्येनावपन्नोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥ १४ ॥

मैंने निश्चय कर के जान लिया है कि, जीवन का अन्त करने वाले काल ने बरजोरी तुमको यहाँ ला कर सुग्रीव के वश में कर दिया है ॥ १४ ॥

वैधव्यं शोकसन्तापं कृपणं कृपणा सती ।
अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥ १५ ॥

हाय ! जो मैं अभी तक कभी दीन नहीं हुई थी, सो आज दीन हुई और सदा सुख से पली हुई मुझको, अब विधवापन का शोक और सन्ताप भोगना पड़ेगा ॥ १५ ॥

लालितश्चाङ्गदो वीरः सुकुमारः सुखोचितः ।
वत्स्यते कामवस्थां मे पितृव्ये क्रोधमूर्च्छिते ॥ १६ ॥

हाय ! अब मेरे इस दुलारे और सुख भोगने योग्य वीर सुकुमार अङ्गद की क्या दशा होगी । क्योंकि सुग्रीव क्रोधी स्वभाव का ठहरा । उससे अङ्गद से कैसे पटेगी ॥ १६ ॥

कुरुष्व पितरं पुत्र सुदृष्टं धर्मवत्सलम् ।
दुर्लभं दर्शनं वत्स तव तस्य भविष्यति ॥ १७ ॥

बेटा ! अपने धर्मवत्सल पिता का अन्तिम वार दर्शन कर लो, क्योंकि फिर इनका दर्शन तुमको दुर्लभ हो जायगा ॥ १७ ॥

समाश्वासय पुत्रं त्वं सन्देशं सन्दिशस्व च ।
मूर्ध्नि चैनं समाघ्राय प्रवासं प्रस्थितो ह्यसि ॥ १८ ॥

हे नाथ ! अपने इस पुत्र को ढाँढस बंधाओ और मुझसे जो कुछ कहना हो सो कह दो । पुत्र का मस्तक सूंघ लो, क्योंकि अब तो तुम सदा के लिये परदेश जा ही रहे हो ॥ १८ ॥

रामेण हि महत्कर्म कृतं त्वामभिनिघ्नता ।
आनृण्यं च गतं तस्य सुग्रीवस्य प्रतिश्रवे ॥ १९ ॥

तुम्हें मार कर, श्रीराम ने बड़ा काम किया है । वे यह कार्य कर अपनी उस प्रतिज्ञा से उऋण हो चुके, जो उन्होंने सुग्रीव से की थी ॥ १९ ॥

सकामो भव सुग्रीव रुमां त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
भुङ्क्ष्व राज्यमनुद्विग्नः शस्तो भ्राता रिपुस्तव ॥ २० ॥

हे सुग्रीव ! तुम्हारा वैरी भाई मारा गया । अब तुम सफल मनोरथ हो रुमा को लो और बेखटके राज्य करो ॥ २० ॥

किं मामेवं विलपतीं प्रेम्णा त्वं नाभिभाषसे ।
इमाः पश्य वरा वह्वीर्भार्यास्ते वानरेश्वर ॥ २१ ॥

हे वानरेश्वर ! मैं आपकी प्यारी पत्नी आपके सामने खड़ी रो रही हूँ, सो तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं । यह देखो, तुम्हारी अन्य स्त्रियां भी तुमको घेरे खड़ी हुईं विलाप कर रही हैं ॥ २१ ॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा वानर्यः सर्वतश्च ताः ।
परिगृह्याङ्गदं दीनं दुःखार्ताः परिचुक्रुशुः ॥ २२ ॥

इस प्रकार का तारा का विलाप सुन, वे सब वानरी अङ्गद को पकड़ दुःख से विकल हो चिल्ला कर कहने लगीं ॥ २२ ॥

किमङ्गदं साङ्गदवीरबाहो ।
विहाय यास्यद्य चिरप्रवासम् ।
न युक्तमेवं गुणसन्निकृष्टं
विहाय पुत्रं प्रियपुत्र गन्तुम् ॥ २३ ॥

हे वीरवर ! तुम इस प्रियदर्शन अङ्गद को छोड़ अनन्त काल के लिये क्यों यात्रा करते हो ? अपने समान गुणवान् और सुन्दर एवं मनोहर रूप वाले पुत्र का त्याग कर जाना तुमको उचित नहीं ॥ २३ ॥

किमप्रियं ते प्रियचारुवेष
मया कृतं नाथ सुतेन वा ते ।
सहाङ्गदां मां स विहाय वीर
यत्प्रस्थितो दीर्घमितः प्रवासम् ॥ २४ ॥

हे प्रिय चारु वेषधारी ! क्या मुझसे या अङ्गद से कोई अपराध बन आया है जो तुम अङ्गद सहित मुझको छोड़ यहाँ से इतने दूर देश की यात्रा के लिये प्रस्थानित हो रहे हो ॥ २४ ।

यद्यप्रियं किञ्चिदसम्मधार्य
कृतं मया स्यात्तव दीर्घबाहो ।
क्षमस्व मे तद्धरिवंशनाथ
व्रजामि मूर्ध्ना तव वीर पादौ ॥ २५ ॥

हे दीर्घबाहो ! हे वानरराज ! यदि मुझसे कोई अपराध बन पड़ा हो, तो आप उसे क्षमा करें । मैं तुम्हारे चरणों में अपना सीस रख, तुम्हें प्रणाम करती हूँ ॥ २५ ॥

तथा तु तारा करुणं रुदन्ती
भर्तुः समीपे सह वानरीभिः ।
व्यवस्यत प्रायमुपोपवेष्टु-
मनिन्द्यवर्णा भुवि यत्र वाली ॥ २६ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

निन्द्यवर्ण रहित अर्थात् सुन्दरी तारा सब वानरियों के साथ करुणा कर के रोने लगी और उसने पति के समीप बैठ, अन्न जल त्याग, प्राण त्यागने का निश्चय किया ॥ २६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकविंशः सर्गः

—※—

ततो निपतितां तारां च्युतां तारामिवाम्बरात् ।
शनैराश्वासयामास हनुमान्हरियूथपः ॥ १ ॥

तदनन्तर आकाश से टूटे हुए तारे की तरह तारा को ज़मीन पर लोटते देख, वानरयूथपति हनुमान जी धीरे धीरे उसे समझाने लगे ॥ १ ॥

गुणदोषकृतं जन्तुः स्वकर्मफलहेतुकम् ।
अव्यग्रस्तदवाप्नोति सर्वं प्रेत्य शुभाशुभम् ॥ २ ॥

वे बोले—प्राणी मरने के बाद जीवित समय में अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों द्वारा प्राप्त शुभाशुभ फल को अवश्य पाते हैं ॥ २ ॥

शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनाऽनुकम्पसे ।
कस्य को वाऽनु शोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन्बुद्बुदोपमे ॥ ३ ॥

बड़े दुःख की बात है कि, तू किस शोक करने योग्य पुरुष के लिये शोक करती और किस दीन के लिये यह दीनता दिखला दया कर रही है! इस पानी के बबूले की तरह शरीर में कौन किस के लिये पश्चात्ताप कर सकता है ॥ ३ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं द्रष्टव्यो जीवपुत्रया ।
आयत्यां[1] च विधेयानि समर्था[2]न्यस्य चिन्तय ॥ ४ ॥

---

१ आयत्यां—उत्तरकाले । (गो०) २ समर्थानि—हितानि । (गो०)

तू अपने इस कुमार पुत्र अंगद की ओर देख और अपने पति वालि के पारलौकिक हित के लिये जो आगे करना है, उसे सोच ॥४॥

जानास्यनियतामेवं भूतानामागतिं गतिम् ।
तस्माच्छुभं[1] हि कर्तव्यं पण्डितेनैहलौकिकम्[2] ॥ ५ ॥

प्राणियों की सद्गति अथवा दुर्गति का कुछ निश्चय नहीं, इसी लिये समझदार लोग प्राणियों की हितकामना के लिये और्ध्वदैहिक-क्रिया कर्म और रोदनादि किया करते हैं ॥ ५ ॥

यस्मिन्हरिसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
वर्तयन्ति कृतांशानि सोऽयं दिष्टान्तमागतः ॥ ६ ॥

जिन वालि के जीवनकाल में हज़ारों लाखों वानर अपना काम बाँटे हुए रहा करते थे, आज वेही वालि अपने भाग्य में लिखा हुआ फल भोग रहे हैं ॥ ६ ॥

यदयं न्यायदृष्टार्थः सामदानक्षमापरः ।
गतो धर्मजितां भूमिं नैनं शोचितुमर्हसि ॥ ७ ॥

वालि राज्य का शासन नीति से करते थे और साम, दान और क्षमा में तत्पर रहते थे—अतः ये उस लोक को गये हैं, जहाँ धर्माचरण वाले पुरुष जाया करते हैं। अतः तू इनके लिये दुःखी मत हो ॥ ७ ॥

सर्वे हि हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः ।
इदं हर्यृक्षराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते ॥ ८ ॥

हे अनिन्दिते ! ये बड़े बड़े वानर, तेरा पुत्र अंगद और वालि का छोड़ा हुआ राज्य, ये सब तेरे ही अधीन हैं ॥ ८ ॥

---

१ शुभं—और्ध्वदैहिकं । (गो०) २ ऐहलौकिक—रोदनादिकं । (गो०)

तावियौ शोकसन्तापौ शनैः[1] प्रेरय[2] भामिनि।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम् ॥ ९ ॥

अतः हे भामिनि! तू शोक और सन्ताप को धीरे धीरे त्याग दे। अंगद तेरे आज्ञानुसार इस पृथिवी का शासन करे ॥ ९ ॥

सन्ततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यच्चापि साम्प्रतम्।
राज्ञस्तत्क्रियतां तावदेष कालस्य निश्चयः ॥ १० ॥

धर्मशास्त्र में सन्तान जिस प्रयोजन के लिये बतलाई गयी है, उस प्रयोजन का समय आ पहुँचा है। वालि के लिये जो उत्तरकालीन कर्म करने चाहिये, वे अब किये जांय। क्योंकि ऐसे समय ऐसा ही करने का विधान बतलाया गया है ॥ १० ॥

संस्कार्यो हरिराजश्च अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि ॥ ११ ॥

कपिराज वालि का अग्निसंस्कार कर, अंगद का राज्याभिषेक कर। क्योंकि अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठा हुआ देख कर, तेरे चित्त का उद्वेग दूर होगा और तुझे शान्ति मिलेगी ॥ ११ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता।
अब्रवीदुत्तरं तारा हनुमन्तमवस्थितम् ॥ १२ ॥

पति के दुःख से दुःखी तारा हनुमान जी के ये वचन सुन कर, वहाँ पर खड़े हनुमान जी से कहने लगी ॥ १२ ॥

---

१ शनैः—क्रमेणः। (गो०) २ प्रेरय—निवर्तय। (गो०)

अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम् ।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥ १३ ॥

मेरे लिये, अंगद जैसे सौ पुत्रों की अपेक्षा, इस मरे हुए वीर के शरीर का आलिङ्गन ही श्रेष्ठ है ॥ १३ ॥

न चाहं हरिराजस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा ।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्ववन्तरः ॥ १४ ॥

न तो मैं अपने पति का अग्निसंस्कार ही कर सकती हूँ और न अंगद को राजसिंहासन पर ही बैठा सकती हूँ । अब तो अंगद के चचा सुग्रीव ही सब कार्य करेंगे ॥ १४ ॥

न ह्येषा बुद्धिरास्थेया हनुमन्नङ्गदं प्रति ।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम ॥ १५ ॥

हे हनुमान ! अंगद को राजसिंहासन पर बैठाने की बात मुख से मत निकालो । (क्योंकि इससे चचा भतीजे में विद्वेष होगा ।) क्योंकि पुत्र का बन्धु पिता है (अर्थात् पिता के अभाव में पिता का भाई) । माता बन्धु नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

न हि मम हरिराजसंश्रया-
त्क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा ।
अभिमुखहतवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम् ॥ १६ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

मेरे लिये तो इस लोक में क्या और परलोक में क्या—इस कपिराज के आश्रय को छोड़ और कुछ भी हितकारक नहीं है । युद्ध

में शत्रु के सन्मुख खड़े और मारे गये पति की शय्या की सेवा करना ही मेरे लिये ठीक है। (अर्थात् मुझे राज्य आदि से प्रयोजन नहीं है।) ॥ १६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वाविंशः सर्गः

—※—

वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन्।
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्श त्वात्मजं ततः※ ॥ १ ॥

वालि ने जिसको सांस धीरे धीरे चल रही थी, चारों ओर देख, पहले सुग्रीव की ओर और फिर अंगद की ओर देखा ॥ १ ॥

तं प्राप्तविजयं वाली सुग्रीवं प्लवगेश्वरः।
आभाष्य व्यक्तया वाचा सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वालि ने विजयी एवं वानरराज सुग्रीव से स्नेहयुक्त यह स्पष्ट वचन कहे ॥ २ ॥

सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्विषात्।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात् ॥ ३ ॥

हे सुग्रीव! मुझे तुम (अपने मन में) दोषी मत ठहराना। क्योंकि मैंने जो कुछ तुम्हारे प्रति अनुचित व्यवहार किया, वह मुझे भावी (होनी) के वश हो और भ्रम में पड़ कर, बरजोरी करना पड़ा ॥ ३ ॥

※ पाठान्तरे— " त्वात्मजाग्रतः "।

युगपद्विहितं तात न मन्ये सुखमावयोः ।
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं तात नान्यथा ॥ ४ ॥

हे तात ! मेरी समझ में तो एक ही काल में हम दोनों का सुख-पूर्वक रहना हम लोगों के भाग्य में नहीं लिखा था । क्योंकि भाई के साथ रहने से तो भ्रातृप्रेम होना चाहिये था, सो न हो, कर उल्टा आपस में वैर हुआ ॥ ४ ॥

प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम् ।
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम् ॥ ५ ॥

अब तुम इस वानरों के राज्य को लो और मुझे तुम इसी समय से मरा हुआ समझो ॥ ५ ॥

जीवितं च हि राज्यं च श्रियं च विपुलामिमाम् ।
प्रजहाम्येष वै तूर्णं महच्चागर्हितं यशः ॥ ६ ॥

मैं इस समय अपना जीवन ही नहीं त्यागता, बल्कि अपना राज्य और विपुल धन सम्पत्ति को तथा अनिन्दित यश को भी त्यागता हूँ ॥ ६ ॥

अस्यां त्वहमवस्थानां वीर वक्ष्यामि यद्वचः ।
यद्यप्यसुकरं राजन्कर्तुमेव तदर्हसि ॥ ७ ॥

हे वीर ! इस अवस्था में जो कुछ मैं कहता हूँ, सो यद्यपि उसका करना कठिन है, तथापि तुम उसे अवश्य करना ॥ ७ ॥

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम् ।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥ ८ ॥

ज़मीन पर पड़े और रोते हुए इस अंगद की ओर देखो। यह सुख भोगने योग्य है और बड़े लाड़ प्यार से पाल पोस कर, इतना बड़ा हुआ है। यह बालक होने पर भी मूर्ख नहीं है ॥ ८ ॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम् ।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥ ९ ॥

तुम प्राणों से भी बढ़ कर मेरे प्यारे इस बालक का अपने औरस पुत्र की तरह सब प्रकार से पालन करना; जिससे यह मेरे न रहने पर, किसी प्रकार का दुःख न पावे ॥ ९ ॥

त्वमेवास्य हि दाता च परित्राता च सर्वतः ।
भयेष्वभयदश्चैव यथाऽहं प्लवगेश्वर ॥ १० ॥

अब तुम ही मेरी तरह इसके वस्त्राभरण के देने वाले और सब प्रकार से रक्षक हो और भय उपस्थित होने पर इसे अभय देने वाले हो ॥ १० ॥

एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः ।
रक्षसां तु वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥ ११ ॥

यह तारा का पुत्र तुम्हारे ही तुल्य पराक्रमी है और राक्षसों के संहार में तुम्हारे आगे बढ़ कर लड़ेगा ॥ ११ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान्रणे ।
करिष्यत्येष तारेयस्तरस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥ १२ ॥

यह बलवान् अपने पराक्रम से सब कामों को यथारीति सम्पादन करेगा। क्योंकि यह अंगद केवल तरुण ही नहीं, बल्कि तेजस्वी भी है ॥ १२ ॥

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये ।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥ १३ ॥

सुषेण की बेटी यह तारा सूक्ष्म अर्थ के विचार करने में और विविध उत्पातों से उत्पन्न हुए भयों का निर्णय करने में बड़ी निपुण है ॥ १३ ॥

यदेषा साध्विति ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ।
न हि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते ॥ १४ ॥

अतः यह जो कुछ कहे, उसे तुम निस्संशय हो करना । क्योंकि तारा का किया हुआ कोई विचार उलटा नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।
स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्याद्धिमानितः ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का कार्य करने में भी किसी प्रकार न हिचकिचाना । यदि न करोगे तो तुमको अधर्म होगा और श्रीरामचन्द्र जी इससे अपना अपमान समझ, तुमको मार डालेंगे ॥ १५ ॥

इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम् ।
उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां संप्रजह्यान्मृते मयि ॥ १६ ॥

हे सुग्रीव ! इस सोने की दिव्य माला को मेरे गले से निकाल कर, अपने गले में डाल लो । इस माला में अति उत्तम विजयश्री का वास है । यदि मैं इसे पहिने हुए मर गया, तो फिर इसमें वह बात न रहैगी ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो वालिना भ्रातृसौहृदात् ।
हर्षं त्यक्त्वा पुनर्दीनो ग्रहग्रस्त इवोडुराट् ॥ १७ ॥

जब वालि ने भायपन के वश हो, ऐसे स्नेहयुक्त वचन कहे, तब सुग्रीव हर्ष परित्याग कर, राहु से ग्रस्त चन्द्रमा की तरह, उदास हो गये ॥ १७ ॥

तद्वालिवचनाच्छान्तः कुर्वन्युक्तमतन्द्रितः ।
जग्राह सोभ्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम् ॥१८॥

सुग्रीव ने स्वस्थचित्त हो वालि के कथनानुसार कार्य कर, अर्थात् उसकी आज्ञा से वह सोने की माला स्वयं पहिन ली ॥ १८ ॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा वाली दृष्ट्वाऽऽत्मजं स्थितम् ।
संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ वालि, उस सोने की माला को सुग्रीव को दे और अपने पुत्र को पास खड़ा हुआ देख, स्नेह से यह बोला ॥ १९ ॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥ २० ॥

तुम प्रिय अप्रिय वचनों को सहते, देश काल के अनुसार सुख दुःख भोगते हुए, सुग्रीव के अधीन रहना ॥ २० ॥

यथा हि त्वं महावाहो लालितः सततं मया ।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मंस्यते ॥ २१ ॥

हे महावाहो ! तुम्हारे अपराध करने पर भी मैं जैसा सदा तुम्हारा लालन पालन करता था, यदि वैसा ही तुम करोगे, तो सुग्रीव तुमको अधिक प्यार न करेंगे ॥ २१ ॥

मास्यामित्रैर्गतं गच्छेर्मा शत्रुभिररिन्दम ।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव ॥ २२ ॥

हे अरिन्दम ! तुम इनके मित्रों अथवा शत्रुओं से न मिलना और इनको अपना भरण-पोषण-कर्त्ता मान, शान्त हो, इनके वश में रहना ॥ २२ ॥

न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।
उभयं हि महान्दोषस्तस्मादन्तरदृग्भव ॥ २३ ॥

तुम किसी से न तो अत्यन्त प्रेम करना और न किसी से विगाड़ करना । क्योंकि ये दोनों ही खटके के मार्ग हैं । अतः तुम मध्यभाव से वर्ताव करना ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वाऽथ विवृत्ताक्षः शरसंपीडितो भृशम् ।
विवृतैर्दशनैर्भीमैर्बभूवोत्क्रान्तजीवितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार कहते कहते वालि ने वाण की पीड़ा से व्यथित हो, दोनों नेत्रों और दाँतों को फैला कर, प्राण त्याग दिये ॥ २४ ॥

ततो विचुक्रुशुस्तत्र वानरा हरियूथपाः ।
परिदेवयमानास्ते सर्वे प्लवगपुङ्गवाः ॥ २५ ॥

तब तो सब वंदर और यूथप बड़ी ज़ोर से रो रो कर कहने लगे ॥ २५ ॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्यासीत्स्वर्गते वानराधिपे ।
उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च ॥ २६ ॥

हाय ! वानरराज के स्वर्ग सिधारने से आज किष्किन्धा नगरी और यहाँ के सब वाग़ वग़ीचे व पर्वत व जंगल सूने हो गये ॥ २६ ॥

हते प्लवगशार्दूले निष्प्रभा वानराः कृताः ।
येन दत्तं महद्युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

जिस वालि ने गन्धर्व के साथ बड़ा भारी युद्ध किया था, उस वानरराज के मारे जाने से वानरगण प्रभाहीन हो गये ॥ २७ ॥

गोलभस्य महावाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च ।
नैव रात्रौ न दिवसे तद्युद्धमुपशाम्यति ॥ २८ ॥

वालि ने गोलभ नामक महावली गन्धर्व के साथ पन्द्रह वर्ष लों द्वन्द्व युद्ध किया था। वह युद्ध न तो दिन में और न रात में ही कभी बंद होता था ॥ २८ ॥

ततस्तु षोडशे वर्षे गोलभो विनिपातितः ।
हत्वा तं दुर्विनीतं तु वाली दंष्ट्राकरालवान् ॥ २९ ॥

अन्त में वालि ने सोलहवें वर्ष में गोलभ को पटक दिया। कराल डाढ़ो वाले वालि ने उस दुर्विनीत गन्धर्व को मार कर ॥ २९ ॥

सर्वाभयकरोऽस्माकं कथमेष निपातितः ॥ ३० ॥

हम सब लोगों को अभय किया था। ऐसा यह वालि आज किस प्रकार मारा गया ॥ ३० ॥

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
प्लवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे ।

किसी किसी संस्करण में २७ वें श्लोक के बाद यह एक श्लोक और भी दिया हुआ है ।

यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च ।
पुष्पौघेणानुवध्यन्ते करिष्यति तदद्य कः ॥

वनेचराः सिंहयुते महावने
यथा हि गावो निहते गवांपतौ ॥ ३१ ॥

वानरराज वालि के मारे जाने से सब वानर उसी प्रकार दुःखी हुए, जिस प्रकार सिंहयुक्त महावन में गौओं के स्वामी के मरने से गौएँ दुखी होती हैं ॥ ३१ ॥

ततस्तु तारा व्यसनार्णवाप्लुता
मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा ।
जगाम भूमिं परिरभ्य वालिनं
महाद्रुमं छिन्नमिवाश्रिता लता ॥ ३२ ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

तारा महादुःख सागर में डूब और पति को पृथिवी पर मृत अवस्था में पड़ा देख, कटे हुए वृक्ष से लपटी हुई लता की तरह, वालि से लिपट, पृथिवी पर गिर पड़ी ॥ ३२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयोविंशः सर्गः

—※—

ततः समुपजिघ्रन्ती कपिराजस्य तन्मुखम् ।
पतिं लोकाच्युतं[1] तारा मृतं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने स्वर्गगत मृतपति कपिराज वालि का मुख चुम्बन कर, तारा ने कहा ॥ १ ॥

---

१ लोकाच्युतं—स्वर्गतमित्यर्थः । (गो०)

शेषे त्वं विषमे दुःखमनुक्त्वा वचनं मम ।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले ॥ २ ॥

हे वीर ! मेरा कहना न मान कर, तुम उस ऊबड़ खाबड़ पथरीली कष्टदायी ज़मीन पर सो रहे हो ॥ २ ॥

मत्तः प्रियतरा नूनं वानरेन्द्र मही तव ।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे ॥ ३ ॥

हे वानरनाथ ! मैं जान गयो निश्चय ही यह पृथिवी तुमको मुझ से अधिक प्रिय है । क्योंकि तुम उसका अलिङ्गन कर मुझसे बोलते भी नहीं ॥ ३ ॥

सुग्रीवस्य वशं प्राप्तो विधिरेष भवत्यहो ।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर साहसिकप्रिय ॥ ४ ॥

हे साहसप्रिय ! बड़े आश्चर्य की बात है कि, यह राम रूप दैव सुग्रीव के वश में हो गये । अतः वही बड़ा विक्रमशाली सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

ऋक्षवानरमुख्यास्त्वां बलिनः पर्युपासते ।
एषां विलपितं कृच्छ्रमङ्गदस्य च शोचतः ॥ ५ ॥
मम चेमां गिरं श्रुत्वा किं त्वं न प्रतिबुध्यसे ।
इदं तद्वीरशयनं यत्र शेषे हतो युधि ॥ ६ ॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिपवः पुरा ।
विशुद्धसत्त्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय ॥ ७ ॥

ये मुख्य मुख्य रीछ और बंदर तुम्हारी सेवा शुश्रूषा कर रहे हैं । इन लोगों के और अत्यन्त शोकग्रस्त हो, विलाप करते हुए अंगद

के और मेरे वचनों को सुन कर, तुम क्यों नहीं उठ बैठते। हे वीर! जिस सेज पर तुम संग्राम में मारे जा कर सो रहे हो, वह वही वीरों के सोने योग्य सेज है, जिस पर तुम पहले शत्रुओं को मार कर सुला चुके हो। हे शुद्धपराक्रमी! हे विशुद्ध कुलोद्भव! हे मेरे प्यारे! ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

मामनाथां विहायैकां गतस्त्वमसि मानद।
शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता ॥ ८ ॥

हे सम्मान करने वाले! तुम मुझ अनाथा को छोड़ चल दिये। पण्डित अर्थात् ज्ञानवान् लोगों को चाहिये कि, वे शूर को कभी अपनी बेटी न ब्याहें ॥ ८ ॥

शूरभार्यां हतां पश्य सद्यो मां विधवां कृताम्।
अवभग्नश्च मे मानो भग्ना मे शाश्वती गतिः ॥ ९ ॥

क्योंकि देखो न! मैं शूर की पत्नी बात की बात में विधवा कर दी गयी। हाय मेरा मान भी गया और सदा के लिये सुख भी नष्ट हो गया ॥ ९ ॥

अगाधे च निमग्नाऽस्मि विपुले शोकसागरे।
अश्मसारमयं नूनमिदं मे हृदयं दृढम् ॥ १० ॥

मैं इस समय अथाह विपुल शोकसागर में डूब रही हूँ। हा! मेरा यह कलेजा निश्चय ही लोहे जैसा मज़बूत है ॥ १० ॥

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा यन्नाद्य शतधा गतम्।
सुहृच्चैव हि भर्ता च प्रकृत्या मम च प्रियः ॥ ११ ॥

जो आज पति को मरा हुआ देख कर भी, सौ टुकड़े नहीं हो जाता। हाय मेरा स्वभाव ही से निष्कपट पति और मेरा प्राणप्यारा यह वालि ॥ ११ ॥

आहवे च पराक्रान्तः शूरः पञ्चत्वमागतः ।
पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी ॥ १२ ॥
धनधान्यैः सुपूर्णापि विधवेत्युच्यते जनैः ।
स्वगात्रप्रभवे वीर शेषे रुधिरमण्डले ॥ १३ ॥

जो संग्राम करने में पराक्रमी और शूर था, मर गया। जो स्त्री पतिहीन है, वह पुत्रवती हो और धनधान्य से भरी पूरी भी क्यों न हो—उसे लोग विधवा ही कहते हैं। हे वीर! तुम अपने शरीर से निकलते हुए रक्त में सने उसी प्रकार सो रहे हो ॥ १२ ॥ १३ ॥

कृमिराग[1]परिस्तोमे त्वमात्मशयने यथा ।
रेणुशोणितसंवीतं गात्रं तव समन्ततः ॥ १४ ॥

जैसे तुम अपने लाख के रंग के बिछौने पर सोते थे। देखो तुम्हारे सारे शरीर में धूल और लोहू लग रहा है ॥ १४ ॥

परिरब्धुं न शक्नोमि भुजाभ्यां प्लवगर्षभ ।
कृतकृत्योद्य सुग्रीवो वैरेऽस्मिन्नतिदारुणे ॥ १५ ॥

हे वानरोत्तम! इसीसे मैं अपनी भुजाओं से तुमको अपने गले नहीं लगा सकता। वालि से अति दारुण वैर बाँध, सुग्रीव का मनोरथ आज पूरा हुआ ॥ १५ ॥

यस्य रामविमुक्तेन हृतमेकेषुणा भयम् ।
शरेण हृदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव ॥ १६ ॥
वारितास्मि* निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते ।
उद्धर्वं शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा ॥ १७ ॥

---

१ कृमिरागस्य—लाक्षारसरक्तवस्त्रस्य । (शि०) * पाठान्तरे—" वार्यामि त्वां " ।

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के छोड़े हुए एक ही बाण से सुग्रीव का भय दूर हो गया है। हृदय में चुभे हुए बाण की रोक के कारण ही मैं भली भाँति तुम्हारा आलिङ्गन नहीं कर सकती और तुम्हारे मरने पर भी मैं केवल तुम्हें देख रही हूँ। उस समय नील नामक वानर ने उस बाण को वैसे ही खींच लिया ॥ १६ ॥ १७ ॥

गिरिगह्वरसंलीनं दीप्तमाशीविषं यथा।
तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्य च बभौ द्युतिः ॥ १८ ॥
अस्तमस्तकसंरुद्धो रश्मिर्दिनकरादिव।
पेतुः क्षतजधारास्तु व्रणेभ्यस्तस्य सर्वशः ॥ १९ ॥

जैसे पर्वत की कन्दरा से ज़हरीला साँप निकले। उस समय वह खींचा हुआ बाण, वैसा ही दीप्तमान जान पड़ा, जैसा कि, अस्ताचल पर्वत पर पहुँचे हुए सूर्य की किरणें दीप्तमान जान पड़ती हैं। बाण के बाहिर खींचने पर वालि के शरीर के सब घावों से खून की धारें बह चलीं ॥ १८ ॥ १९ ॥

ताम्रगैरिकसंपृक्ता धारा इव धराधरात्।
अवकीर्णं विमार्जन्ती भर्तारं रणरेणुना ॥ २० ॥

मानों पर्वत से लाल गेरू की धारें बहती हों। तारा ने वालि के शरीर की धूल पोंछी और ॥ २० ॥

आस्रैर्नयनजैः शूरं सिषेचास्त्र[1]समाहतम्।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ॥ २१ ॥

आँखों में आँसू भरे हुए वालि के शरीर को अपने अश्रुजल से धोया। मृतपति के सारे शरीर में रक्त लगा देख, ॥ २१ ॥

---

१ अस्त्रसमाहततमश्रुव्याप्तम्। (शि०)

उवाच तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना ।
अवस्थां पश्चिमां पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥ २२ ॥

संप्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा ।
बालसूर्योदयतनुं प्रयान्तं यमसादनम् ॥ २३ ॥

तारा ने पीले नेत्र वाले निज पुत्र अंगद से कहा, हे पुत्र! अपने पिता की इस अस्तकाल की दारुण दशा को देखो। जो शत्रुता इन्होंने बरजोरी की यह उसी का फल है। हे बेटा! प्रातः-कालीन सूर्य की तरह चमचमाते शरीर वाले और यमालय को जाते हुए अपने पिता को देख लो ॥ २२ ॥ २३ ॥

अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम् ।
एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥ २४ ॥
भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन् ।
अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ॥ २५ ॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ।
अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गतचेतनम्* ॥ २६ ॥

हे बेटा! तुम मान देने वाले अपने पिता राजा को प्रणाम करो। तारा के इस प्रकार कहने पर अंगद ने उठ कर अपनी मोटी मोटी भुजाओं से पिता के चरण पकड़ कर कहा—मैं अंगद हूँ। इस पर तारा ने वालि से कहा कि, जिस प्रकार पहले प्रणाम करने पर तुम (अंगद को) आशीर्वाद दे कर कहा करते थे कि, दीर्घायु हो—सो अब क्यों आशीर्वाद नहीं देते। देखो, मैं इस समय पुत्र सहित, तुम्हारे पास वैसे ही बैठी हूँ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

* पाठान्तरे—"गतचेतसम्।"

सिंहेन निहतं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ।
इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसि ॥ २७ ॥
अस्मिन्नवभृथे स्नातः कथं पत्न्या मया विना ।
या दत्ता देवराजेन तव तुष्टेन संयुगे ॥ २८ ॥

जैसे सिंह द्वारा मारे गये सांड़ की गाय, अपने बछड़े सहित उसके पास खड़ी रहती है। तुम्हारा संग्राम रूपी यज्ञ पूर्ण हो चुका है। अब पत्नी के विना, श्रीरामचन्द्र के अस्त्र रूपी जल से तुम्हारा अवभृथ अर्थात् यज्ञान्तस्नान किस प्रकार पूरा होगा ? देवराज इन्द्र ने संग्राम में सन्तुष्ट हो, जो सुवर्ण की माला तुमको दी थी, वह माला इस समय मुझे तुम्हारे कण्ठ में नहीं देख पड़ती ; इसका क्या कारण है ॥ २७ ॥ २८ ॥

शातकुम्भमयीं मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ।
राजश्रीर्न जहाति त्वां गतासुमपि मानद ।
सूर्यस्यावर्तमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥ २९ ॥

हे मानद ! प्राण निकल जाने पर भी यह राज्यश्री तुमको वैसे ही नहीं त्यागती, जैसे सुमेरु को प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य को प्रभा नहीं छोड़ती ॥ २९ ॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता विनिवारणे तव ।
हता सपुत्राऽस्मि हतेन संयुगे
सह त्वया श्रीर्विजहाति मामिह ॥ ३० ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

हाय मैंने जो हितकर वचन तुमसे कहे थे, उन पर तुम ने कुछ भी ध्यान न दिया। मुझमें वह शक्ति न थी कि, मैं तुम को रोक लेती। इसका परिणाम यह हुआ कि, युद्ध में तुम्हारे मारे जाने से मैं पुत्रवती विनाश को प्राप्त हुई। हाय जिस प्रकार राज्यश्री ने तुम्हारा परित्याग किया, वैसे ही मेरा भी परित्याग किया है ॥ ३० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—※—

तां त्वश्रुवेगेन दुरासदेन
त्वभिप्लुतां शोकमहार्णवेन।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्वी
भ्रातुर्वधेनाप्रतिमेन तेपे ॥ १ ॥

अत्यन्त वेगवान्, अत्यन्त कठिनाई से पार होने योग्य शोक रूपी महासागर में डूबती हुई तारा को देख, वालि के छोटे भाई सुग्रीव भाई के मारे जाने से बहुत दुःखी हुए ॥ १ ॥

स वाष्पपूर्णेन मुखेन वीक्ष्य
क्षणेन निर्विण्णमना मनस्वी।
जगाम रामस्य शनैः समीपं
भृत्यैर्वृतः सम्परिदूयमानः ॥ २ ॥

तारा को रोती हुई देख, मनस्वी सुग्रीव बहुत दुःखी हुए और अपने अनुचरों को साथ ले, धीरे धीरे श्रीरामचन्द्र जी के समीप गये ॥ २ ॥

स तं समासाद्य गृहीतचाप-
मुदात्तमाशीविषतुल्यबाणम् ।
यशस्विनं लक्षणलक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥ ३ ॥

उस समय शास्त्रों में कथित उत्तम लक्षणों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी हाथ में धनुष लिये और उस पर बड़े पैने बाण चढ़ाये, लक्ष्मण सहित खड़े थे। उनके पास जा कर सुग्रीव कहने लगे ॥ ३ ॥

यथाप्रतिज्ञातमिदं नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रपुत्र
मनो निवृत्तं सह जीवितेन ॥ ४ ॥

हे नरेन्द्र ! आपने जो प्रतिज्ञा की थी उसको तो आपने पूरा कर दिया और मैंने भी उस काम को पूरा हुआ देख लिया ; किन्तु हे राजकुमार ! अब मेरा मन राज्य भोग से फिर गया है और अब मैं अपने इस निन्द्य जीवन से कोई भी सुख पाने की इच्छा नहीं करता ॥ ४ ॥

अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदन्त्यां
पुरे च विक्रोशति दुःखतप्ते ।
हतेऽग्रजे संशयितेऽङ्गदे च
न रामराज्ये रमते मनो मे ॥ ५ ॥

हे राम ! मेरे भाई वालि के मारे जाने से उनकी पटरानी तारा बहुत रो रही है और पुरवासी भी दुःख से सन्तप्त हो, हाहाकार कर

रहे हैं। बड़े भाई के मर जाने से अब अंगद के जीने में भी सन्देह है। इस लिये राज्य करने को मेरा जी नहीं चाहता ॥ ५ ॥

क्रोधादमर्षादतिविप्रधर्षाद्-
भ्रातुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात् ।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीव्रमिक्ष्वाकुकुमार तप्स्ये ॥ ६ ॥

हे इक्ष्वाकुकुमार! क्रोध से अथवा डाह से या मेरा अत्यन्त अपमान होने के कारण पहले तो मैं चाहता था कि, भाई मारा जाय; किन्तु अब उसके मारे जाने पर मुझे बड़ा दुःख है ॥ ६ ॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन्निवासश्चिरमृश्यमूके ।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥ ७ ॥

उस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूक पर चिरकाल तक रह कर, अन्य किसी प्रकार अपनी आजीविका का प्रबन्ध करना, मुझे अपने लिये कल्याणकारक जान पड़ता है, परन्तु भाई को मार कर, स्वर्ग का मिलना भी मुझे पसंद नहीं ॥ ७ ॥

न त्वां जिघांसामि चरेति यन्मा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच ।
तस्यैव तद्राम वचोऽनुरूप-
मिदं पुनः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥ ८ ॥

उस बुद्धिमान महात्मा ने मुझसे कहा था कि, मैं तुझे मारना नहीं चाहता—तू जहाँ चाहे वहाँ चला जा। हे राम! ये वचन उसीके योग्य थे। साथ ही मेरे वचन और तदनुसार मेरा यह कर्म, मेरे (अर्थात् मुझ नीच के) अनुरूप ही हैं ॥ ८ ॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भ्रातुर्वधं राघव रोचयेत।
राज्यस्य दुःखस्य च वीर सारं
न चिन्तयन्कामपुरस्कृतः सन् ॥ ९ ॥

हे रामचन्द्र! भाई कैसा भी क्यों न हो; क्या कोई भाई अपने बड़े गुणवान् भाई का वध कभी पसंद करेगा? कामासक्त होने के कारण हाय मैंने राज्यसुख और भ्रातृसुख में कौन उत्कृष्ट है—यह न जाना ॥ ९ ॥

वधो हि मे मतो नासीत्स्वमाहात्म्याव्यतिक्रमात्।
ममासीद्बुद्धिदौरात्म्यात्प्राणहारी व्यतिक्रमः ॥ १० ॥

हे राम! मैं भाई का वध नहीं चाहता था; किन्तु अपना अपमान होने पर मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो गयी, जिसके कारण ऐसा प्राणहिंसक कर्म मुझसे बन पड़ा ॥ १० ॥

द्रुमशाखावभग्नोऽहं मुहूर्तं परिनिष्टनन्।
सान्त्वयित्वा त्वनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

देखो, जब मैं वहाँ पहुँच कर मुहूर्त्त भर गरजा, तब उसने वृक्ष की डाली से मुझे मारा; किन्तु साथ ही मुझे आश्वासन दे कर यह कहा कि, ख़बरदार फिर ऐसी धृष्टता मत करना ॥ ११ ॥

भ्रातृत्वमार्यभावश्च धर्मश्चानेन रक्षितः ।
मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥ १२ ॥

हे राघव ! वालि ने भ्रातृभाव, बड़प्पन और धर्म की रक्षा की, किन्तु मैंने निस्सन्देह क्रोध, काम और बंदरपन दिखलाया ॥ १२ ॥

अचिन्तनीयं परिवर्जनीय-
मनीप्सनीयं स्वनवेक्षणीयम् ।
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिमं नरेन्द्र
भ्रातुर्वधात्त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः ॥ १३ ॥

हे मित्र ! देवराज इन्द्र ने विश्वकर्मा के पुत्र विश्वरूप को वध कर के जिस प्रकार हत्या बटोरी थी, वैसे ही मैंने भी भाई का वध कर, यह अचिन्त्य, साधुओं द्वारा त्याग योग्य, अवाञ्छित और गर्हित कर्म कर डाला है ॥ १३ ॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च
वृक्षाश्च कामं जगृहुः स्त्रियश्च ।
को नाम पाप्मानमिमं क्षमेत
शाखामृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छन् ॥ १४ ॥

इन्द्र के उस पाप को पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्रियों ने आपस में बाँट लिया था ; किन्तु मुझ वानर का पाप बाँटने को कौन राज़ी होगा ? ॥ १४ ॥

नार्हामि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम् ।

अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्त-
मेवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस प्रकार का अधार्मिक और कुल का नाश करने वाला पाप कर, मैं कैसे आशा रखूं कि, प्रजाजन मेरा आदर भी करें। मैं तो अपने को युवराजपद पाने के योग्य भी नहीं समझता, फिर भला राज्यप्राप्ति की तो बात ही निराली है ॥ १५ ॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्हितस्य
क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य चैव ।
शोको महान्मामभिवर्ततेऽयं
वृष्टेर्यथा निम्नमिवाम्बुवेगः ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं इस निन्दित, ओछे और लोकापकारी पाप का कर्त्ता हूँ। इस बात का मुझे जो महान शोक हो रहा है, वह मुझे उसी प्रकार बाधा दे रहा है, जिस प्रकार बरसाती जल का वेग नीची भूमि को बाधा देता है ॥ १६ ॥

सोदर्यघाताऽपरगात्रवालः
सन्तापहस्ताक्षिशिरोविषाणः ।
एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती
दृप्तो नदीकूलमिव प्रवृद्धः ॥ १७ ॥

देखिये ! यह पाप रूपी मतवाला हाथी, जो भाई की हत्या रूपी अङ्ग और बालों से युक्त है, तथा भाई के नाश से उत्पन्न हुआ सन्ताप जिसकी सूँड़, नेत्र, सिर और दांत हैं, मुझे वैसे ही मा डालता है, जैसे जंगली हाथी नदी के तट को तोड़ता है ॥ १७ ॥

अंहो बतेदं नृवराविषह्य
निवर्तते मे हृदि साधु वृत्तम् ।
विवर्णमग्नौ परितप्यमानं
किट्टं यथा राघव जातरूपम् ॥ १८ ॥

हे पुरुषोत्तम ! यह बड़े ही दुःख और अचरज की बात है कि, इस पाप से मेरे मन का साधुभाव वैसे ही नष्ट हो रहा है, जैसे अग्नि में तपाने से खोटे सोने का मैल उस सोने को नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

महाबलानां हरियूथपाना-
मिदं कुलं राघव मन्निमित्तम् ।
अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-
दर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥ १९ ॥

हे राम ! मैं तो यह समझता हूँ कि, महाबली वानर सेनापतियों का कुल मेरे कारण तथा अंगद के शोक सन्ताप से अधमरा सा हो गया है ॥ १९ ॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः
कुतः सुपुत्रः सदृशोऽङ्गदेन ।
न चापि विद्येत स वीर देशो
यस्मिन्भवेत्सोदरसन्निकर्षः ॥ २० ॥

हे राम ! पुत्र की प्राप्ति सहज है और अपने सब सुजन भी सहज में अपने वश में किये जा सकते हैं ; किन्तु अंगद जैसा गुणवान् पुत्र कहाँ मिल सकता है ? फिर हे वीर ! वैसा कोई देश भी नहीं देख पड़ता, जहाँ फिर सहोदर भाई से भेंट हो सके ॥ २० ॥

यद्यङ्गदो वीरवरार्ह जीवे-
ज्जीवेच्च माता परिपालनार्थम् ।
विना तु पुत्रं परितापदीना
तारा न जीवेदिति निश्चितं मे ॥ २१ ॥

देखिये, प्रथम तो पिता के वियोगजनित शोक से अंगद के जीवित रहने ही में सन्देह है । कदाचित् वह माता का पालन करने को जीवित रहे; किन्तु यदि वह जीवित न रहा, तो मुझे निश्चय है कि, उसकी माता तारा कभी जीती न रहेगी ॥ २१ ॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन् ।
इमे विचेष्यन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे तव वर्तमानाः ॥ २२ ॥

मैं अपने और उसके पुत्र के साथ मैत्री करने की इच्छा से यदि दहकती हुई आग में गिर पड़ूँ, तो भी ये समस्त वीर वानर आपकी आज्ञा में रह कर, सीता जी को ढूढ़ देंगे ॥ २२ ॥

कृत्स्नं तु ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्रतीते मनुजेन्द्रपुत्र ।
कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं
रामानुजानीहि कृतागसं माम् ॥ २३ ॥

हे नरेन्द्रकुमार ! मेरी अनुपस्थिति में भी ये वानरगण आपके समस्त काम करेंगे । मैं कुल का नाशक अब अधिक जीने के योग्य नहीं हूँ । अतः आप अब मुझे आज्ञा दीजिये ॥ २३ ॥

इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा वचो वाल्यनुजस्य तस्य ।
सञ्जातवाष्पः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विमना बभूव ॥ २४ ॥

वालि के छोटे भाई सुग्रीव ने अत्यन्त आर्त्त हो कर, जब इस प्रकार के वचन कहे, तब शत्रुओं को तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी के नेत्रों में आँसू भर आये और एक मुहूर्त्त तक उदास हो गये ॥ २४ ॥

तस्मिन्क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्ष्यमाणः
क्षितिक्षमावान्भुवनस्य गोप्ता ।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम् ॥ २५ ॥

पृथिवी की तरह क्षमावान् और भुवनरक्षक श्रीरामचन्द्र जी रोती हुई और दुःख में डूबी हुई तारा को उत्सुकता पूर्वक देखने लगे ॥ २५ ॥

तां चारुनेत्रां कपिसिंहनाथं
पतिं समाश्लिष्य तदा शयानाम् ।
उत्थापयामासुरदीनसत्त्वां
मन्त्रिप्रधानाः कपिवीरपत्नीम् ॥ २६ ॥

इसी बीच में प्रधान मंत्रियों ने सुन्दर नेत्रों वाली तारा को, जो पति के शरीर से लिपटी हुई भूमि पर पड़ी थी, उठा कर पति से अलग किया ॥ २६ ॥

सा विस्फुरन्ती परिरभ्यमाणा
भर्तुः सकाशादपनीयमाना ।
ददर्श रामं शरचापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम् ॥ २७ ॥

पति से हटाने के समय तारा बहुत छटपटाती। फिर जब मंत्री उसे श्रीरामचन्द्र जी के पास ले गये, तब उसने धनुष बाण लिये अपने तेज से दीप्तमान सूर्य के सदृश श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ २७ ॥

सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च
तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा ।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे ॥ २८ ॥

सुन्दर नेत्रों वाली अथवा मृगशावक नयनी तारा ने कभी पहले श्रीराम को नहीं देखा था ; किन्तु सर्व-लक्षण-सम्पन्न पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी को देखते ही वह जान गयी कि, यही श्रीरामचन्द्र हैं ॥ २८ ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या ।
आर्ताऽतितूर्णं व्यसनाभिपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ॥ २९ ॥

उस समय वह तारा इन्द्र सदृश दुर्धर्ष और महा-प्रभाववान् श्रीरामचन्द्र जी को देख, अत्यन्त विकल हो कर, तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी के पास गयी ॥ २९ ॥

सा तं समासाद्य विशुद्धसत्त्वा
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा ।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्षम् ॥ ३० ॥

शोक के मारे क्रुद्ध और पति के मारने वाले को दुर्वाक्य कहने के लिये उद्यत, किन्तु श्रीराम की सन्निधि के कारण पापनिर्मुक्त तारा, रणस्थल में उत्कृष्ट कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर, बोली ॥ ३० ॥

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च ।
अक्षय्यकीर्त्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावान्क्षतजोपमाक्षः ॥ ३१ ॥

हे राघव ! आपका भेद वेद भी नहीं पा सकते हैं। आप दुरा-धर्ष, जितेन्द्रिय उत्तम धर्माचरण-सम्पन्न, पूर्ण कीर्तिवान्, चतुर, पृथिवी की तरह क्षमावान और कमल के फूल जैसे लाल रंग के नेत्रों वाले हैं ॥ ३१ ॥

त्वमात्तबाणासनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः ।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः ॥ ३२ ॥

आप धनुष बाण धारण किये हुए, महाबली और दृढ़ शरीर वाले हैं। आप मनुष्य शरीर के अभ्युदय को त्याग कर, दिव्य शरीर की सम्पत्ति से युक्त हुए हैं ॥ ३२ ॥

येनैकबाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव मां त्वं जहि सायकेन ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मामृते राम रमेत वाली ॥ ३३ ॥

हे वीर ! जिस तीर से आपने वालि को मारा है, उसी बाण से आप मुझे भी मार डालिये ; जिससे मैं मर कर, उसके समीप पहुँच जाऊँ । क्योंकि मेरे बिना वालि वहां प्रसन्न नहीं रह सकेगा ॥ ३३ ॥

स्वर्गेऽपि पद्मामलपत्रनेत्रः
समेत्य संप्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् ॥ ३४ ॥

हे कमलनेत्र ! स्वर्गीय पुरुषों से वालि की जब भेंट होगी और वहाँ जब वह मुझे न देखेगा, तब वह वहां की विचित्र वेष धरने वाली और भांति भांति के लाल रंग के फूलों से चोटी गूंथे हुए अप्सराओं के साथ विहार न करेंगे ॥ ३४ ॥

स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णतां च
मया विना प्राप्स्यति वीर वाली ।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम् ॥ ३५ ॥

हे वीर ! स्वर्ग में भी वालि, बिना मेरे शोकान्वित और उदास ही रहेगा । जैसे सीता बिना आप पर्वतों पर खिन्न रहते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं वेत्थ यावद्वनितावियोगः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः ।
तत्त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत ॥ ३६ ॥

आप यह तो जानते ही हैं कि, स्त्री के बिना कोई पुरुष दुखी रहता है। अतः आप इस बात के तत्व को विचार कर, मुझे मार डालिये। क्योंकि मुझे देखे बिना वालि स्वर्ग में न रह सकेगा ॥३६॥

यच्चापि मन्येत भवान्महात्मा
स्त्रीघातदोषो न भवेत्तु मह्यम् ।
आत्मेयमस्येति च मां जहि त्वं
न स्त्रीवधः स्यान्मनुजेन्द्रपुत्र ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! अगर आप यह समझें कि, मुझे मारने से आपको स्त्रीहत्या का पाप लगेगा, तो आप अपने मन की यह शङ्का दूर कर डालें। क्योंकि तारा और वालि के आत्मा को आप एक ही समझें। हे नरेन्द्रपुत्र ! इस लिये स्त्रीहत्या का पाप आपको न लगेगा ॥ ३७ ॥

शास्त्रप्रयोगाद्विविधाच्च वेदा-
दात्मा ह्यनन्यः पुरुषस्य दाराः ।
दारप्रदानान्न हि दानमन्य-
त्प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके ॥ ३८ ॥

अनेक शास्त्रों और वेदों में भी यह बात लिखी है कि, स्त्री और पुरुष की आत्मा अलग अलग नहीं होती। इसीसे ज्ञानी लोग कहा

करते हैं कि, संसार में स्त्रीदान से बढ़ कर, अन्य कोई दान नहीं है ॥ ३८ ॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य
प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर ।
अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-
मधर्मयोगं मम वीर घातात् ॥ ३९ ॥

हे वीर ! आप धर्म को विचार कर और मुझे मार कर वालि को स्त्रीदान करने का पुण्यफल प्राप्त करेंगे। अतः इस दान के फल से आपको मेरे वध का कुछ भी पाप न लगेगा ॥ ३९ ॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-
मेवंविधामर्हसि मां निहन्तुम् ।
अहं हि मातङ्गविलासगामिना
प्लवङ्गमानामृषभेण धीमता ॥ ४० ॥

मैं आर्त्त, अनाथ, और पति से बिछुड़ी हुई हूँ। मैं इस दुर्दशा में हूँ। अतः अवश्य मारी जाने योग्य हूँ। क्योंकि मैं मत्त हाथी की तरह चलने वाले धीमान् वानरश्रेष्ठ ॥ ४० ॥

विना वरार्होत्तमहेममालिना
चिरं न शक्ष्यामि नरेन्द्र जीवितुम् ।
इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे ॥ ४१ ॥

उत्तम सुवर्ण की माला धारण करने वाले वालि के विना बहुत दिनों न जी सकूँगी। तारा के वचन सुन, तारा को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी उससे हितकर वचन कहने लगे ॥ ४१ ॥

मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा।
तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत्तेन कृतं विधात्रा ॥ ४२ ॥

हे वीरपत्नी! तुम ऐसी उलटी बातें मत कहो। क्योंकि यह सारा विश्वप्रपञ्च विधाता का बनाया हुआ है। इतना ही नहीं, बल्कि मनुष्यों को जो संयोग और वियोग जनित सुख दुःख प्राप्त होते हैं सो यह भी उसी विधना का विधान है। यह बात सभी लोग कहा करते हैं ॥ ४२ ॥

त्रयो हि लोका विहितं विधानं
नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य।
प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
पुत्रस्तु ते प्राप्स्यति यौवराज्यम् ॥ ४३ ॥

देखो तीनों लोक उस विधाता के रचे हुए विधान को नहीं मेंट सकते। क्योंकि सब ही तो उसके वश में हैं। तुम पहिले की तरह सुखी होओगी और तुम्हारे पुत्र को यौवराज्यपद मिलेगा ॥ ४३ ॥

धात्रा विधानं विहितं तथैव
न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति।
आश्वासिता तेन तु राघवेण
प्रभावयुक्तेन परन्तपेन।
सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन
सुवेषरूपा विरराम तारा ॥ ४४ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

क्योंकि विधाता ने ऐसी ही व्यवस्था कर रखी है। जैसा विलाप इस समय तुम कर रही हो, वैसा विलाप शूरों की स्त्रियाँ नहीं किया करतीं। प्रभावशाली और शत्रुहन्ता महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने जब तारा को इस प्रकार समझाया, तब सुवेषधारिणी वीर-पत्नी तारा ने विलाप करना बंद किया ॥ ४४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौबीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—※—

सुग्रीवं चैव तारां च साङ्गदां सहलक्ष्मणः।
समानशोकः काकुत्स्थः सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अब लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने, जो उस समय सुग्रीव, तारा और अंगद की तरह स्वयं भी दुःखी हो रहे थे; सुग्रीव, तारा और अंगद को धीरज बंधाते हुए कहा ॥ १ ॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत्समाधातुमर्हथ ॥ २ ॥

शोक और सन्ताप करने से मरे हुए प्राणी का भला नहीं होता, अतः आगे जो काम करना है, उसको तुम लोग करो ॥ २ ॥

लोकवृत्तम्[1] अनुष्ठेयं कृतं वो वाष्पमोक्षणम्।
न कालादुत्तरं किञ्चित्कर्म शक्यमुपासितुम् ॥ ३ ॥

---

१ लोकवृत्तं—लोकाचारसिद्धं। (गो०)

लोकाचारसिद्ध जो रोनाधोना था वह तो तुम कर चुकीं, अब समयोचित कर्म करो। जिस समय जो कर्म करना चाहिये, उस समय वही कर्म करना चाहिये। दूसरा काम करना और समय को बिता देना ठीक नहीं ॥ ३ ॥

नियतिः[1] कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह[2] कारणम् ॥ ४ ॥

ईश्वर ही समस्त लोकों की उत्पत्ति का कारण है। ईश्वर ही समस्त कर्मों का सिद्ध करने वाला है और ईश्वर ही प्राणी मात्र का प्रेरक है ॥ ४ ॥

न कर्ता कस्यचित्कश्चिन्नियोगे चापि नेश्वरः ।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥ ५ ॥

न तो कोई पुरुष किसी कर्म का स्वतंत्र रूप से कर्त्ता है और न कोई किसी काम की प्रेरणा में ईश्वरत्व रखता है। किन्तु समस्त लोक स्वभावाधीन हैं और काल रूपी ईश्वर उस स्वभाव का प्रेरक है अर्थात् समस्त कार्य करता है ॥ ५ ॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥ ६ ॥

देखो वह काल रूपी ईश्वर जन्ममरणादि व्यवस्था के बाहिर कोई काम नहीं करता, किन्तु व्यवस्थानुसार ही सब कुछ करता है ॥ ६ ॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः ।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो[3] वशः[4] ॥ ७ ॥

---

१ नियतिः—ईश्वरः । (गो०) २ नियोगेषु—प्रेरणेषु । (गो०)
३ आत्मनो—जीवस्य । (गो०) ४ न वशः—न स्वतन्त्रः । (गो०)

कालरूपी ईश्वर न तो किसी का पक्षपाती है, न उसको वश में करने का कोई उपाय है और न उसको जीतने के लिये किसी प्रकार का पराक्रम काम दे सकता है। वह किसी से मित्र या जाति-गत सम्बन्ध भी नहीं रखता। इसीसे कालरूपी ईश्वर, जीव के परतंत्र नहीं है ॥ ७ ॥

किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता ।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥ ८ ॥

अतः विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य है कि, धर्म, अर्थ और काम को कालक्रम से उत्पन्न हुआ समझ, उसको कालरूपी ईश्वर ही का परिणाम जाने ॥ ८ ॥

इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम्[1] ।
धर्मार्थकामसंयोगैः पवित्रं प्लवगेश्वरः ॥ ९ ॥

देखो मेरे बाण के लगने से उसका प्रायश्चित्त हो गया और इससे उसका शुद्ध भाव हो गया। इस लोक में समयानुसार उसने जो धर्म अर्थ काम सम्बन्धी अनुष्ठानादि किये थे, उनके प्रभाव से अथवा उनका फल स्वरूप उसको स्वर्ग की प्राप्ति हुई ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना ।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥ १० ॥

अपने विहित धर्मानुष्ठान से और शूरवीरों के अनुष्ठेय धर्मानुष्ठान से वालि ने जो स्वर्गलोक पहिले ही सम्पादन कर लिया था, वही स्वर्गलोक उसे अब प्राप्त हुआ है ॥ १० ॥

---

१ क्रियाफलं—स्वर्गप्राप्तः । (गो०)

एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः ।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥ ११ ॥

वालि जिस गति को प्राप्त हुआ है वह श्रेष्ठगति है। अतः सद्गतिप्राप्त प्राणी के लिये शोक करना उचित नहीं। अब तो तुमको समयानुसार कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् प्रेत कर्मानुष्ठान करना चाहिये ॥ ११ ॥

वचनान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
अवदत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥ १२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी यह वचन कह चुके, तब शत्रुघाती लक्ष्मण जी चेतनारहित वानरराज सुग्रीव से बोले ॥ १२ ॥

कुरु त्वमस्य सुग्रीव प्रेतकार्यमनन्तरम् ।
ताराङ्गदाभ्यां सहितो वालिनो दहनं प्रति ॥ १३ ॥

तुम तारा और अंगद को साथ ले, इस समय वालि का प्रेत-कर्म आरम्भ कर, पहले दाहकर्म करो ॥ १३ ॥

समाज्ञापय काष्ठानि शुष्काणि च बहूनि च ।
चन्दनादीनि दिव्यानि वालिसंस्कारकारणात् ॥ १४ ॥

इनको जलाने के लिये नौकरों को आज्ञा दो कि, वे सूखी चन्दनादि की लकड़ी ले आवें ॥ १४ ॥

समाश्वासय चैनं त्वमङ्गदं दीनचेतसम् ।
मा भूर्वालिशबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुरम् ॥ १५ ॥

इस समय तुम उदास अङ्गद को धीरज बंधाओ। तुमको इस समय लड़कबुद्धि न दिखानी चाहिये, क्योंकि यह नगर तुम्हारे ही अधीन है ॥ १५ ॥

अङ्गदस्त्वानयेन्माल्यं वस्त्राणि विविधानि च ।
घृतं तैलमथो गन्धान्यच्चात्र समनन्तरम् ॥ १६ ॥

अङ्गद से कह कर फूलमाला विविध प्रकार के वस्त्र, घी, तेल, और गुग्गुलादि गन्धपदार्थों को मँगवालो ॥ १६ ॥

त्वं तार शिविकां शीघ्रमादायागच्छ सम्भ्रमात् ।
त्वरा गुणवती युक्ता ह्यस्मिन्काले विशेषतः ॥ १७ ॥

हे तार ! तुम जा कर शीघ्र शिविका लाओ, क्योंकि इस समय विशेषकर शीघ्रता करने ही की आवश्यकता है और इसीसे लाभ है ॥ १७ ॥

सज्जीभवन्तु प्लवगाः शिविकावहनोचिताः ।
समर्था बलिनश्चैव निर्हरिष्यन्ति वालिनम् ॥ १८ ॥

जो वानर बलवान और समर्थ हों, उन्हें वालि को शिविका ले चलने के लिये तैयार करो ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सुमित्रानन्दवर्धनः ।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १९ ॥

सुमित्रानन्दन और शत्रुघाती लक्ष्मण जी इस प्रकार सुग्रीव से कह कर, अपने भाई के पास जा खड़े हुए ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा तारः सम्भ्रान्तमानसः ।
प्रविवेश गुहां[1] शीघ्रं शिविकासक्तमानसः ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी के वचन सुन तार, तुरन्त किष्किन्धा नगरी में शिविका (म्याना, पालकी) लाने को गया ॥ २० ॥

---

१ गुहां—किष्किन्धां । (गो०)

आदाय शिविकां तारः स तु पर्यापतत्पुनः।
वानरैरुह्यमानां तां शूरैरुद्वहनोचितैः॥ २१॥

तार उस शिविका को, जो वालि के चढ़ने योग्य थी, वानरों के कन्धों पर रखवा, फिर उस स्थान में आया, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे॥ २१॥

दिव्यां भद्रासनयुतां शिविकां स्यन्दनोपमाम्।
पक्षिकर्मभिराचित्रां द्रुमकर्मविभूषिताम्॥ २२॥

वह शिविका बहुत उत्तम थी। उसमें बैठने के लिये अच्छा गद्दा बिछा हुआ था और उसकी बनावट रथ जैसी थी। उसके भीतर और बाहिर विविध पक्षियों और नाना प्रकार के वृक्षों के चित्र चित्रित थे॥ २२॥

आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः।
विमानमिव सिद्धानां जालवातायनान्विताम्॥ २३॥

उस पर कृत्रिम वृक्षों के फूल पत्ती बनी थी और पैदल योद्धाओं के चित्र भी बने हुए थे। एक ही ओर नहीं, बल्कि चारों ओर उस शिविका की ऐसी ही सजावट थी। सिद्धपुरुषों के विमान की तरह, उसमें जालियाँ और झरोखे बने हुए थे॥ २३॥

सुनियुक्तां विशालां च सुकृतां शिल्पिभिः* कृताम्।
दारुपर्वतकोपेतां चारुकर्मपरिष्कृताम्॥ २४॥

उसमें घुसने के लिये बड़े सुन्दर दरवाज़े थे, वह बड़ी लंबी चौड़ी थी, कारीगरों ने उसको बड़ा सुन्दर बनाया था। उसमें काठ का एक क्रीड़ा पर्वत भी बना हुआ था। शिल्पियों ने उसके बनाने में अपनी चतुराई की पराकाष्ठा दिखलायी थी॥ २४॥

---

* पाठान्तरे —"विश्वकर्मणाम्।"

वराभरणहारैश्च चित्रमाल्योपशोभिताम् ।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनरूपिताम् ॥ २५ ॥

वह शिविका मूल्यवान आभूषण और हारों से भूषित थी। उस पर चित्रविचित्र फूलों की सजावट हो रही थी। उसमें वन व कन्दरादि के दृश्य चित्रित किये गये थे। वह लाल चन्दन की लकड़ी की बनी हुई थी ॥ २५ ॥

पुष्पौघैः समभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च ।
तरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिरावृताम् ॥ २६ ॥

उसमें फूल बिछाए हुए थे और उस पर कमल के फूलों की मालाएँ पड़ी हुई थीं। वह प्रातःकालीन सूर्य की तरह चारों ओर से चमक रही थी ॥ २६ ॥

ईदृशीं शिविकां दृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयताम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार की शिविका देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—वालि को शीघ्र इसमें रख लिया जाय और प्रेतकर्म करवाया जाय ॥ २७ ॥

ततो वालिनमुद्धम्य सुग्रीवः शिविकां तदा ।
आरोपयत विक्रोशन्नङ्गदेन सहैव तु ॥ २८ ॥

तब सुग्रीव और अंगद दोनों ने रोते रोते उठा कर, वालि को शिविका में रखा ॥ २८ ॥

आरोप्य शिविकां चैव वालिनं गतजीवितम् ।
अलंकारैश्च विविधैर्माल्यैर्वस्त्रैश्च भूषितम् ॥ २९ ॥

गतप्राण वालि को तरह तरह के उत्तम पुष्पहारों, वस्त्रों आभूषणों से भूषित कर, शिविका में लिटाया ॥ २९ ॥

आज्ञापयत्तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः ।
और्ध्वदैहिकमार्यस्य क्रियतामनुरूपतः ॥ ३० ॥

तदनन्तर कपिराज सुग्रीव ने यह आज्ञा दी कि, मेरे बड़े भाई का अन्तिम संस्कार विधिविधान से, उसके अनुरूप ही किया जाय ॥ ३० ॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहून्यपि ।
अग्रतः प्लवगा यान्तु शिविकासमनन्तरम् ॥ ३१ ॥

शिविका के आगे आगे वानर अनेक प्रकार के और बहुत से रत्न लुटाते हुए चले । उनके पीछे शिविका चली ॥ ३१ ॥

राज्ञामृद्धिविशेषा हि दृश्यन्ते भुवि यादृशाः ।
तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राक्कुर्वन्नौर्ध्वदैहिकम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार पृथिवीमण्डल पर राजाओं का क्रियाकर्म ठाठ बाठ से हुआ करता है, वैसा ही मेरे भाई का भी क्रियाकर्म तुरन्त धूमधाम से हो ॥ ३२ ॥

अङ्गदं परिगृह्याशु तारप्रभृतयस्तदा ।
क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे वानरा हतबान्धवाः ॥ ३३ ॥

अपने परम बन्धु वालि की मौत से विकल तार आदि समस्त वानर, अंगद को आगे कर, रोते हुए चले जाते थे ॥ ३३ ॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा वानर्योस्य वशानुगाः ।
चुक्रुशुर्वीर वीरेति भूयः क्रोशन्ति ताः स्त्रियः ॥ ३४ ॥

उनके पीछे वंदरियां जोकि वालि की अनुचरी थीं, हाय वीर! हाय वीर !! कह कर, चिल्लाती हुई चली जाती थीं ॥ ३४ ॥

ताराप्रभृतयः सर्वा वानर्यो हतयूथपाः ।
अनुजग्मुर्हि भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः ॥ ३५ ॥

विधवा तारा आदि वानरराज की स्त्रियां अपने मृतपति की शिविका के पीछे पीछे करुणस्वर से रोती चिल्लाती चली जाती थीं ॥ ३५ ॥

तासां रुदितशब्देन वानरीणां वनान्तरे ।
वनानि गिरयः सर्वे विक्रोशन्तीव सर्वतः ॥ ३६ ॥

उस समय उन वानरपत्नियों के रोने के शब्द की गूंज (प्रतिध्वनि) से चारों ओर के वन और पर्वत भी रोते हुए से जान पड़ते थे ॥ ३६ ॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंवृते ।
चितां चक्रुः सुबहवो वानराः शोककर्शिताः ॥ ३७ ॥

पर्वत की तराई में वहती हुई नदी के तट पर और निर्जन स्थान में बहुत से शोकविह्वल वानरों ने चिता बना कर तैयार की ॥ ३७ ॥

अवरोप्य ततः स्कन्धाच्छिबिकां वहनोचिताः ।
तस्थुरेकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकसमन्विताः ॥ ३८ ॥

शिविका ढोने वालों ने शिविका अपने कन्धों से उतार कर नीचे रख दी और वे शोकसन्तप्त हो एक ओर जा, खड़े हो गये ॥ ३८ ॥

ततस्तारा पतिं दृष्ट्वा शिविकातलशायिनम् ।
आरोप्याङ्के शिरस्तस्य विललाप सुदुःखिता ॥ ३९ ॥

शिविका में चढ़े हुए पति को देख, तारा ने अपने पति का सिर अपनी गोद में रख लिया और दुःखित हो विलाप करने लगी ॥ ३९ ॥

हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ।
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम् ॥ ४० ॥

हा वानर महाराज ! हा नाथ ! हा मेरे ऊपर दया करने वाले ! हा महा योग्य ! हा बड़ी भुजाओं वाले ! हा मेरे प्यारे ! मुझे देखो तो ॥ ४० ॥

जनं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम् ।
प्रहृष्टमिव ते वक्त्रं गतासोरपि मानद ॥ ४१ ॥

तुम इस शोक से विकल जन की ओर क्यों नहीं देखते ! हे मानद ! यद्यपि तुम्हारे प्राण निकल चुके हैं, तथापि तुम्हारा चेहरा प्रसन्न देख पड़ता है ॥ ४१ ॥

अस्तार्कसमवर्णं च लक्ष्यते जीवतो यथा ।
एष त्वां रामरूपेण कालः कर्षति वानर ॥ ४२ ॥

अस्ताचलगामी सूर्य की तरह तुम्हारा मुख वैसे दमक रहा है जैसा कि, जीवित काल में दमकता था । देखो यह रामरूपी काल तुमको परलोक में ले जाने के लिये खींच रहा है ॥ ४२ ॥

येन स्म विधवाः सर्वाः कृता एकेषुणा रणे* ।
इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्यो वल्लभाः सदा ॥ ४३ ॥

---

* पाठान्तरे—" वने " ।

पादैर्विकृष्टमध्वानमागताः किं न बुध्यसे ।
तवेष्टा ननु नामैता भार्याश्चन्द्रनिभाननाः ॥ ४४ ॥

इसने युद्ध में एक ही बाण में हम सब बंदरियों को विधवा कर डाला। हे राजेन्द्र ! यह सब बंदरियां जिनको तुम सदा प्यार किया करते थे, पांव पांव इतना दूर चली आयी हैं। इनको तुम क्यों नहीं देखते ! अपनी प्यारी चन्द्रवदनी ईप्सित भार्याओं को ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

इदानीं नेक्षसे कस्मात्सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ।
एते हि सचिवा राजंस्तारप्रभृतयस्तव ॥ ४५ ॥
पुरवासी जनश्चायं परिवार्याऽऽसतेऽनघ ।
विसर्जयैतान्प्लवगान्यथोचितमरिन्दम ॥ ४६ ॥

और कपिराज सुग्रीव को तुम इस समय क्यों नहीं देखते। हे अनघ ! ये तारा आदि तुम्हारे मंत्रिगण, और पुरजन तुमको घेर कर दुःखी हो रहे हैं। हे अरिन्दम ! इन सब को जैसे सदा यथोचित रूप से विदा किया करते थे, वैसे विदा करो ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः ।
एवं विलपतीं तारां पतिशोकपरिप्लुताम् ॥ ४७ ॥

तब हम सब काम से मत्त हो कर, तुम्हारे साथ यहां वन में विहार करेंगी। इस प्रकार विलाप करती हुई और पतिशोक से विकल तारा को ॥ ४७ ॥

उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः ।
सुग्रीवेण ततः सार्धमङ्गदः पितरं रुदन् ॥ ४८ ॥

चितामारोपयामास शोकेनाविष्टचेतसः ।
ततोऽग्निं विधिवदत्त्वा सोपसव्यं चकार ह ॥ ४९ ॥

शोकविह्वल वंदरियों ने उठाया । तब अंगद ने सुग्रीव के साथ रोते रोते शोकाकुल हो वालि को चिता के ऊपर रखा और विधिवत् प्रदक्षिणा कर चिता में आग दी ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ।
संस्कृत्य वालिनं ते तु विधिपूर्वं प्लवङ्गमाः ॥ ५० ॥

उस समय पिता को महायात्रा करते देख अंगद बहुत विकल हुआ । इस प्रकार उन वानरों ने विधिपूर्वक वालि का अग्नि-संस्कार किया ॥ ५० ॥

आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शीतजलां शुभाम्* ।
ततस्ते सहितास्तत्र ह्यङ्गदं स्थाप्य चाग्रतः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर वे वालि को जलाञ्जलि देने के लिये शीतल एवं निर्मल जल वाली नदी के तट पर पहुँचे । वहाँ अंगद को आगे कर, सुग्रीव ने तारा तथा अन्य वानरों सहित वालि को जलाञ्जलि दी ॥ ५१ ॥

सुग्रीवतारासहिताः सिषिचुर्वालिने जलम् ।
सुग्रीवेणैव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः ।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ५२ ॥

महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव की तरह शोकाकुल और उदास हो, वालि का प्रेतकार्य करवाया ॥ ५२ ॥

---

* पाठान्तरे—"शिवम्" ।

ततस्तु तं वालिनमप्यपौरुषं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेषुणा हतम् ।
प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसं तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान्हरिः ॥ ५३ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर अति बलवान् श्रीराम जी के एक ही बाण से निहत, प्रदीप्त अग्नि तुल्य तेजस्वी वालि का प्रेतकार्य कर, सुग्रीव लक्ष्मण सहित वहाँ आये, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे ॥ ५३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षड्विंशः सर्गः

—※—

ततः शोकाभिसन्तप्तं सुग्रीवं क्लिन्नवाससम् ।
शाखामृगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥ १ ॥

शोकरूपी अग्नि से सन्तापित और गीले वस्त्र पहिने खड़े हुए सुग्रीव को मंत्रिगण घेर कर खड़े हो गये ॥ १ ॥

अभिगम्य महाबाहुं राममक्लिष्टकारिणम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहमिवर्षयः ॥ २ ॥

समस्त वानर लंबी भुजाओं वाले और सरलता से कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के पास जा, उसी प्रकार खड़े हुए, जिस प्रकार ऋषिगण ब्रह्मा जी के पास जा और हाथ जोड़ कर खड़े होते हैं ॥ २ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तरुणार्कनिभाननः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ३ ॥

तदनन्तर तरुण सूर्य की तरह लाल मुख वाले और सुवर्ण पर्वत की तरह प्रकाशमान पवनतनय श्रीहनुमान जी हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

भवत्प्रसादात्सुग्रीवः पितृपैतामहं महत् ।
वानराणां सुदुष्प्रापं प्राप्तो राज्यमिदं प्रभो ॥ ४ ॥

हे राम ! आपकी कृपा से सुग्रीव ने, बड़े बड़े दांतों वाले और बड़े बली एवं महात्मा वानरों का अपने पिता पितामहादिकों का यह राज्य जिसका मिलना दुर्लभ था, पाया है ॥ ४ ॥

भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ।
संविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृद्गणः* ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! अब यह आपकी आज्ञा प्राप्त कर, किष्किन्धापुरी में जा, अपने सुहृदों सहित समस्त कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

स्नाताऽयं विविधैर्गन्धैरौषधैश्च यथाविधि ।
अर्चयिष्यति रत्नैश्च माल्यैश्च त्वां विशेषतः ॥ ६ ॥

फिर यह विविध भांति की सुगन्धियुक्त औषधियों से विधिवत स्नान कर, रत्न मालादि से विशेष रूप से आपका पूजन करेंगे ॥ ६ ॥

इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुमितोर्हसि ।
कुरुष्व स्वामिसम्बन्धं[1] वानरान्सम्प्रहर्षयन् ॥ ७ ॥

---

१ वानराणां स्वामिनासम्बन्धंकुरु—सुग्रीवं वानरराजं कुरु । (गो०)

* पाठान्तरे—" ससुहृज्जनः " ।

अतः आप किष्किन्धा में पधारिये और सुग्रीव को वानरराज बना कर, प्रसन्न कीजिये ॥ ७ ॥

एवमुक्तो हनुमता राघवः परवीरहा ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं बुद्धिमान्वाक्यकोविदः ॥ ८ ॥

शत्रुहन्ता, अतिबुद्धिमान् और वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी के ये वचन सुन, उनसे बोले ॥ ८ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य ग्रामं वा यदि वा पुरम् ।
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन्पितुर्निर्देशपालकः ॥ ९ ॥

हे सौम्य ! मैं चौदह वर्ष तक ग्राम अथवा नगर के भीतर नहीं जा सकता । क्योंकि मुझे पिता की आज्ञा का पालन करना है ॥ ९ ॥

सुसमृद्धां गुहां रम्यां सुग्रीवो वानरर्षभः ।
प्रविष्टो विधिवद्वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १० ॥

उस समृद्धिशाली दिव्य किष्किन्धापुरी में वानरश्रेष्ठ सुग्रीव जायँ और तुम सब शीघ्र ही विधिपूर्वक उनको राजसिंहासन पर अभिषिक्त करो ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा हनूमन्तं रामः सुग्रीवमब्रवीत् ।
वृत्तज्ञो वृत्तसंपन्नमुदारबलविक्रमम् ॥ ११ ॥
इममप्यङ्गदं वीर यौवराज्येऽभिषेचय ।
ज्येष्ठस्य स सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण ते ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी से यह कह कर, फिर सुग्रीव से कहने लगे, हे वीर ! देखो तुम व्यवहारकुशल हो, अतः तुम इन

उदार, एवं बलविक्रमशाली वीर अंगद को युवराज बनाओ। क्योंकि यह तुम्हारे बड़े भाई का ज्येष्ठपुत्र है और पराक्रम में तुम्हारे ही सदृश है ॥ ११ ॥ १२ ॥

अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ।
पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः ॥ १३ ॥

अंगद बड़ा उत्साही है और युवराज होने योग्य है। देखो वर्षा ऋतु का यह प्रथम मास श्रावण है ॥ १३ ॥

प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिकाः ।
नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम् ॥ १४ ॥

और चौमासे के चार मास होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। इस समय सीता जी के खोजने का काम नहीं हो सकता। अतः तुम किष्किन्धा में जाओ ॥ १४ ॥

अस्मिन्वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः ।
इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ १५ ॥

और मैं लक्ष्मण सहित इस पर्वत पर निवास करूँगा। यह पर्वत की कन्दरा बड़ी रमणीक, लंबी चौड़ी और हवादार है ॥ १५ ॥

प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ।
कार्त्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत ॥ १६ ॥

इसके पास ही बहुत जलयुक्त और खिले हुए कमल के फूलों से युक्त जलाशय भी है। जब कार्तिक मास लगे, तब तुम रावण के वध के लिये यत्न करना ॥ १६ ॥

एष नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वमालयम् ।
अभिषिक्तः स्वराज्ये च सुहृदः संप्रहर्षय ॥ १७ ॥

इस समय तुम अपने घर जा कर और अपना राज्याभिषेक करवा, अपने इष्टमित्रों को प्रसन्न करो ॥ १७ ॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानराधिपः ।
प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां वालिपालिताम् १८ ॥

जब श्रीराम ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब वानरराज सुग्रीव वालि की रमणीक राजधानी किष्किन्धापुरी में गया ॥ १८ ॥

तं वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम् ।
अभिवाद्य प्रविष्टानि सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १९ ॥

जाते समय हज़ारों वानर सुग्रीव को प्रणाम कर और घेर कर नगरी में प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्ट्वा हरिगणेश्वरम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पतिता वसुधायां समाहिताः ॥ २० ॥

वहाँ पहुँचने पर समस्त प्रजा के लोगों ने कपिराज को साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ २० ॥

सुग्रीवः प्रकृतीः सर्वा सम्भाष्योत्थाप्य वीर्यवान् ।
भ्रातुरन्तःपुरं सौम्यं प्रविवेश महाबलः ॥ २१ ॥

तब पराक्रमी सुग्रीव ने उन सब को उठा कर, उनसे प्रीतिपूर्वक बातचीत की और फिर वे महाबली सुग्रीव अपने भाई के रनवास में गये ॥ २१ ॥

प्रविश्य त्वभिनिष्क्रान्तं सुग्रीवं वानरर्षभम् ।
अभ्यषिञ्चन्त सुहृदः सहस्राक्षमिवामराः ॥ २२ ॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव जब रनवास से निकले, तब उनके सुहृदों ने उनका राज्याभिषेक उसी प्रकार किया, जिस प्रकार देवता लोग इन्द्र का किया करते हैं ॥ २२ ॥

तस्य पाण्डुरमाजह्नुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम् ।
शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे ॥ २३ ॥

सौने की डंडी का सफेद छत्र और सौने की डंडियों के दो बढ़िया चमर अभिषेक के लिये वे लोग ले आये ॥ २३ ॥

तथा सर्वाणि रत्नानि सर्वबीजौषधीरपि ।
सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान्कुसुमानि च ॥ २४ ॥

और अनेक प्रकार के रत्न, सब प्रकार के बीज, सब औषधियाँ, क्षीर वाले वृक्षों के अङ्कुर और तरह तरह के फूल भी एकत्र किये गये ॥ २४ ॥

शुक्लानि चैव वस्त्राणि श्वेतं चैवानुलेपनम् ।
सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च ॥ २५ ॥
चन्दनानि च दिव्यानि गन्धांश्च विविधान्बहून् ।
अक्षत जातरूपं* च प्रियङ्गुमधुसर्पिषी ॥ २६ ॥
दधि चर्म च वैयाघ्रं वाराही चाप्युपानहौ ।
समालम्भनमादाय रोचनां समनःशिलाम् ॥ २७ ॥

सफेद वस्त्र, कर्पूरादिक सफेद उबटन, सुगन्धियुक्त पुष्पों के हार, गुलाब के फूल, दिव्य चन्दन, दिव्य सुगन्धियुक्त वस्तुएँ, अक्षत, प्रियंगु, मधु, सरसों, दही, व्याघ्रचर्म, शूकर के चाम के जूते, समा-

* पाठान्तरे—" अक्षताज्जात " ।

लम्भन नाम का अनुलेपन विशेष, गोरोचन, मैनसिल, आदि सामग्री अभिषेक के लिये एकत्र की गयी ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्यास्तु षोडश ।
ततस्ते वानरश्रेष्ठं यथाकालं यथाविधि ॥ २८ ॥
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्षैः* च तोषयित्वा द्विजर्षभान्[1] ।
ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं[2] जात वेदसम्[3] ॥ २९ ॥
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ।
ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते ॥ ३० ॥
प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते ।
प्राङ्मुखं विविधैर्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने ॥ ३१ ॥

फिर सुलक्षण युक्त सोलह कन्याएँ प्रसन्न होती हुई अभिषेकस्थल में आयीं । तदनन्तर उन वानरों ने यथाविधि अभिषेक करने के लिये रत्नों, वस्त्रों और भक्ष्य पदार्थों से (अभिषेक कृत्य कराने को आये हुए) ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया । मंत्र जानने वाले ब्राह्मण, वेदी पर कुश बिछा कर और अग्नि प्रज्ज्वलित कर, मंत्रों से पवित्र हविष्यान्न की आहुति देने लगे । जब हवन समाप्त हुआ, तब मनोहर सुवर्ण भूषित बिछौनों से युक्त, चित्र और मालाओं से सुशोभित रमणीय भवन की अटारी पर, श्रेष्ठ सिंहासन पर, मंत्रों से विधिपूर्वक, पूर्व को मुख करवा, सुग्रीव को बैठाया ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः ।
आहृत्य च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः ॥ ३२ ॥

---

१ द्विजर्षभान्—याजनार्थमाहूतान् । (गो०) २ समिद्धं—ज्वलितं । (गो०) जातवेदसम्—अग्निं । (गो०) * पाठान्तरे—" भक्ष्यैः " ।

अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलाः शुभाः ।
शुभैर्वृषभशृङ्गैश्च कलशैश्चापि काञ्चनैः ॥ ३३ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ३४ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनुमाञ्जाम्ववान्नलः ।
अभ्यषिञ्चन्त सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ॥ ३५ ॥

सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ।
अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ ३६ ॥

प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टास्तत्र सहस्रशः ।
रामस्य तु वचः कुर्वन्सुग्रीवो हरिपुङ्गवः ॥ ३७ ॥

फिर नदियों, नदों, तीर्थों और समुद्रों से वानरोत्तम द्वारा लाये हुए विमल जलों को सोनों के घड़ों में भर दिया। फिर बैल के सांगों में तथा सोने के कलसों में उन्हें भर कर, महर्षिप्राक शास्त्र की विधि से, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैंद, द्विविद, हनुमान और जाम्ववान ने विमल सुगन्धियुक्त जल से सुग्रीव को वैसे ही स्नान कराये, जैसे अष्टवसु इन्द्र को स्नान करवाते हैं। जब इस प्रकार सुग्रीव का अभिषेक हो गया, तब हज़ारों वानरपुङ्गव हर्षित हो आनन्दध्वनि करने लगे। तदनन्तर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा के अनुसार ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अङ्गदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवङ्गमाः ॥ ३८ ॥

साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानोऽभ्यपूजयन् ।
रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

और अंगद को गले लगा युवराजपद पर प्रतिष्ठित किया। अंगद को युवराज पद पर अभिषिक्त देख, और अंगद पर दया दिखला, सब वानर "वाह वाह" कह कर, महात्मा सुग्रीव की बड़ाई करने लगे। तदनन्तर वे सब प्रसन्न हो, महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बार बार स्तुति करने लगे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तितिं* ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।
बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥ ४० ॥

सुग्रीव और अंगद का अभिषेक देख, सब वानर प्रसन्न हुए और वह किष्किन्धा नगरी हृष्ट पुष्ट जनों से भर गयी तथा ध्वजा पताकाओं से सुशोभित हो, अत्यन्त दर्शनीय हो गयी ॥ ४० ॥

निवेद्य रामाय तदा महात्मने
महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः ।
रुमां च भार्यां प्रतिलभ्य वीर्यवा-
नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥ ४१ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

अभिषेक का सारा वृत्तान्त श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर, कपिसेनापति महापराक्रमी सुग्रीव, अपनी भार्या रुमा को प्राप्त कर, इन्द्र की तरह वानरराज्य पर प्रतिष्ठित हुए ॥ ४१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

* पाठान्तरे—"वर्तिनि"।

सप्तविंशः सर्गः

—※—

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम् ।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १ ॥

जब सुग्रीव का अभिषेक हो चुका और वे किष्किन्धा में चले गये, तब श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण को अपने साथ ले, प्रस्रवण पर्वत पर चले आये ॥ १ ॥

शार्दूलमृगसंघुष्टं सिंहैर्भीमरवैर्वृतम् ।
नानागुल्मलतागूढं बहुपादपसङ्कुलम् ॥ २ ॥

वह प्रस्रवण पर्वत शार्दूल, और मृगों से भरा हुआ था और भयङ्कर सिंह उस पर दहाड़ा करते थे । अनेक प्रकार की झाड़ियों लताओं और वृक्षों से वह भरा पूरा था ॥ २ ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम् ।
मेघराशिनिभं शैलं नित्यं शुचिजलाश्रयम् ॥ ३ ॥

उस पर रीछ, बंदर, गोपुच्छ, वनबिलाव रहा करते थे । वह मेघाडम्बर की तरह देख पड़ता था । उस पर जो पानी के झरने थे उनका जल सदा साफ रहता था ॥ ३ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायतां गुहाम् ।
प्रत्यगृह्णत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह ॥ ४ ॥

उस शैल की चोटी पर एक बड़ी लंबी चौड़ी गुफा थी । श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित उस गुफा को रहने के लिये पसंद किया ॥ ४ ॥

कृत्वा च समयं सौम्यः सुग्रीवेण सहानघः ।
कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥ ५ ॥
विनीतं भ्रातरं भ्राता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।
इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ ६ ॥

अनघ श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव के साथ पर्वत पर रहने की अवधि निश्चित कर, श्री के बढ़ाने वाले एवं विनीत भाई लक्ष्मण जी से समयानुकूल वचन कहे। (वे बोले) हे लक्ष्मण! यह पर्वत की कन्दरा बड़ी मनोहर, लंबी चौड़ी और हवादार है ॥ ५ ॥ ६ ॥

अस्यां वसाव सौमित्रे वर्षरात्रमरिन्दम ।
गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुन्नतं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

हे सौमित्र! हे अरिन्दम! मैं वर्षाकाल यहीं बिताऊँगा। हे नृपनन्दन! इस पर्वत का शिखर, रमणीय, और ऊँचा है ॥ ७ ॥

श्वेताभिः कृष्णताम्राभिः शिलाभिरुपशोभितम् ।
नानाधातुसमाकीर्णं दरीनिर्झरशोभितम् ॥ ८ ॥

यह सफेद, काली और लाल रंग की शिलाओं से शोभित और नाना धातुओं से चित्रित है और जल के झरनें तथा गुफाओं से भी शोभित हैं ॥ ८ ॥

विविधैर्वृक्षषण्डैश्च चारुचित्रलतावृतम् ।
नानाविहगसंघुष्टं मयूररवनादितम् ॥ ९ ॥

यह अनेक वृक्ष समूहों और मनोहर विचित्र लताओं से घिरा हुआ, नाना पक्षियों से युक्त और मोरों के शब्द से शब्दायमान है ॥ ९ ॥

मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्धुवारकुरण्टकैः ।
कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम् ॥ १० ॥

पुष्पित मालती और कुन्दों के गुच्छों से तथा सिरस, कदंब, अर्जुन और साखुओं के पेड़ों से सुशोभित है ॥ १० ॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपङ्कजमण्डिता ।
नातिदूरे गुहाया नौ भविष्यति नृपात्मज ॥ ११ ॥

हे राजकुमार ! खिले हुए कमल के फूलों से भूषित नदी; जल बढ़ने पर हमारी गुफा के समीप ही बहने लगेगी ॥ ११ ॥

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति ।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति ॥ १२ ॥

इस गुफा के ईशानकोण की भूमि नीची है और इसका पिछला भाग ऊँचा है । इस लिये हमें यहां हवा का डर नहीं रहेगा अर्थात् हवा के झोंकों से वृष्टि जल भी न आवेगा ॥ १२ ॥

गुहाद्वारे च सौमित्रे शिला समतला शुभा ।
श्लक्ष्णा चैवायता चैव भिन्नाञ्जनचयोपमा ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! गुफा के द्वार पर जो शिला है । वह समतल और चिकनी तथा लंबी चौड़ी होने से यहां रहने वालों के लिये, कल्याणदायिनी है और अंजन की तरह काली है ॥ १३ ॥

गिरिशृङ्गमिदं तात पश्य चोत्तरतः शुभम् ।
भिन्नाञ्जनचयाकारमम्भोधरमिवोत्थितम् ॥ १४ ॥

हे तात ! यह देखो उत्तर की ओर इस पर्वत का शिखर अंजन के ढेर की तरह अथवा उमड़े हुए मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ १४ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं श्वेतमिवापरम् ।
कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविभूषितम् ॥ १५ ॥

दक्षिण ओर भी कैलास पर्वत के शिखर की तरह और श्वेत मेघों के समान एवं अनेक प्रकार की धातुओं से रंगा हुआ, यह पर्वत शिखर शोभायमान हो रहा है ॥ १५ ॥

प्राचीनवाहिनीं चैव नदीं भृशमकर्दमाम् ।
गुहायाः पूर्वतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव ॥ १६ ॥

इस गुफा के अग्रभाग में कीचड़ रहित और पूर्व की ओर बहने वाली यह नदी उसी प्रकार शोभायमान है, जिस प्रकार त्रिकूट पर्वत पर गङ्गा शोभायमान हो ॥ १६ ॥

*चम्पकैस्तिलकैस्तालै स्तमालै रतिमुक्तकैः ।
पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम् ॥ १७ ॥
वानीरैस्तिमिशैश्चैव वकुलैः केतकैर्धवैः ।
हिन्तालैस्तिरिटैर्नीपैर्वेत्रकैः कृतमालकैः ॥ १८ ॥
तीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्ततस्ततः ।
वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ १९ ॥

इसके तटवर्ती और तरह तरह के चंपा, तिलक, ताल, तमाल, पौंड्रक, पद्मक, पीत देवदार, अशोक, वानीर नामक वेंत, तिमिर वृक्ष, मौलसरी, केवड़ा, हिन्ताल, तिमिश, वेंत और अमलतासादि वृक्ष, जो इसीके जल से उत्पन्न हुए हैं, इस नदी की ऐसी शोभा बढ़ा रहे हैं, जैसे वस्त्राभूषण से विभूषित स्त्री सुशोभित होती है ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

---

* पाठान्तरे—" चम्पकैस्तिलकैश्चैव वकुलैः केतकैर्धवैः " ।

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादैर्विनादिता ।
एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवाकैरलङ्कृता ॥ २० ॥

सैकड़ों पक्षियों के झुंडों की तरह तरह की बोलियां सुनाई पड़ती हैं और परस्पर अनुराग युक्त चकवा चकई से यह भूषित है ॥ २० ॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेवितैः ।
प्रहसन्तीव भात्येषा नारी सर्वविभूषिता ॥ २१ ॥

अति रमणीय तीर देशों से शोभित तथा हंस और सारस पक्षियों से सेवित होने के कारण यह नदी अनेक प्रकार के रत्न-जटित आभूषणों से विभूषित स्त्री की तरह हँसती हुई सी जान पड़ती है ॥ २१ ॥

क्वचिन्नीलोत्पलैश्छन्ना भाति रक्तोत्पलैः क्वचित् ।
क्वचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः ॥ २२ ॥

इस नदी में कहीं नीले रंग के, कहीं लाल रंग के कमल के फूल फूल रहे हैं और कहीं दिव्य सफेद रंग की कुमुदनी की कलियां इसकी शोभा बढ़ा रही हैं ॥ २२ ॥

पारिप्लवशतैर्जुष्टा वर्हिणक्रौञ्चनादिता ।
रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घैर्निषेविता ॥ २३ ॥

सैकड़ों जलपक्षी, मयूर और क्रौंच इसके तट पर बोल रहे हैं । इस सुन्दर रमणीय नदी के तट पर ऋषिगण भी वास करते हैं ॥ २३ ॥

---

* पाठान्तरे—" अन्योन्यं " ।

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तीः सुरचिता[1] इव ।
ककुभानां च दृश्यन्ते मनसेवोदिताः समम् ॥ २४ ॥

देखो, चन्दन के वृक्षों की पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानों माला गूंथी हुई हो और अर्जुन वृक्षों की पंक्तियां ऐसी देख पड़ती हैं मानों मन के सङ्कल्प से उगी हों अर्थात् जैसा किसी ने मन में चाहा हो वैसे ही एक पंक्ति में लगी हों अथवा किसी की लगाई हुई हों ॥ २४ ॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन ।
दृढं रंस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहै ॥ २५ ॥

हे शत्रुनिषूदन ! यह तो परम रमणीय स्थान है । हे सौमित्रे हम लोग यहां बड़े सुख से निवास करेंगे ॥ २५ ॥

इतश्च नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना ।
सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥ २६ ॥

हे राजकुमार ! यहां पर रहने से सुग्रीव की रमणीय और चित्रविचित्र काननों वाली किष्किन्धा पुरी भी बहुत दूर नहीं पड़ेगी ॥ २६ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतांवर ।
नर्दतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह ॥ २७ ॥

हे विजयिश्रेष्ठ ! देखो, यहां से गाने बजाने का शब्द और वानरों का गर्जन तर्जन, मृदङ्ग की गमक में मिल कर, सुनाई पड़ता है ॥ २७ ॥

---

१ सुरचिता इव—मालारूपेण ग्रथिता इव । (गो०)

लब्ध्वा भार्यां कपिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः ।
ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥ २८ ॥

कपिवर सुग्रीव अपनी भार्या, राज्य और महती राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर के, अपने मित्रों के साथ आनन्द मनाता होगा ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा न्यवसत्तत्र राघवः सहलक्ष्मणः ।
बहुदृश्यदरीकुञ्जे तस्मिन्प्रस्रवणे गिरौ ॥ २९ ॥

इस प्रकार कह, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी इस अत्यन्त मनोहर कन्दरा वाले और अनेक दृश्यों से युक्त एवं कुञ्जवाले प्रस्रवण पहाड़ पर रहने लगे ॥ २९ ॥

सुसुखेऽपि बहुद्रव्ये[1] तस्मिन्हि धरणीधरे ।
वसतस्तस्य रामस्य रतिरल्पाऽपि नाभवत् ॥ ३० ॥

यद्यपि उस पर्वत पर सब प्रकार का सुपास था, बहुत से पुष्प फलादि थे, तथापि श्रीरामचन्द्र का मन वहाँ रहने से प्रसन्न न हुआ ॥ ३० ॥

हृतां हि भार्यां स्मरतः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।
उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥ ३१ ॥

क्योंकि जब वे प्राण से भी अधिक प्यारी और हरी हुई सीता का स्मरण करते और विशेष कर जब वे उदयाचल पर उदित होते हुए चन्द्रमा को देखते ॥ ३१ ॥

आविवेश न तं निद्रा निशासु शयनं गतम् ।
तत्समुत्थेन शोकेन बाष्पोपहतचेतसम् ॥ ३२ ॥

---

१ बहुद्रव्ये—बहुपुष्पफलादिघने । (गो०)

तब श्रीरामचन्द्र जी सीता के वियोगजनित शोक से आंसू बहाते और हतबुद्धि हो जाते थे तथा रात में उनको बिस्तरे पर लेटने पर भी नींद नहीं आती थी ॥ ३२ ॥

तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम् ।
तुल्यदुःखोऽब्रवीद्भ्राता लक्ष्मणोनुनयन्वचः ॥ ३३ ॥

सदैव शोकान्वित श्रीरामचन्द्र जी को शोकाकुल देख, उन्हीं की तरह शोकाकुल लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से नम्रता पूर्वक यह वचन कहे ॥ ३३ ॥

अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।
शोचतो व्यवसीदन्ति सर्वार्था विदितं* हि ते ॥ ३४ ॥

हे वीर ! आप व्यथित हो शोकाकुल न हों, क्योंकि आप सब जानते ही हैं कि, शोक करने वाले लोग सदा कष्ट ही पाया करते हैं ॥ ३४ ॥

भवान्क्रियापरो लोके भवान्दैवपरायणः ।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥ ३५ ॥

शोक न करने का कारण बतलाते हुए लक्ष्मण जी कहते हैं कि, आप अखिलभुवनवासियों की क्रियाओं के प्रवर्तक हैं और देवताओं को तृप्ति करने वालों के आश्रयस्थल भी आप ही हैं। (शिरोमणिटीका के मतानुसार) हे राघव ! आप आस्तिक हैं, धर्मानुष्ठानतत्पर हैं और उद्यमी हैं ॥ ३५ ॥

न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः ।
समर्थस्त्वं रणे हन्तुं विक्रमैर्जिह्मकारिणम् ॥ ३६ ॥

---

* पाठान्तरे—"विहितं" ।

यदि आप किसी प्रकार का उद्योग न कर, अपना चित्त विकल रखेंगे, तो उस कपटाचारी राक्षस रावण को युद्ध में आप कैसे मार सकेंगे ॥ ३६ ॥

समुन्मूलय शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरं कुरु ।
ततः सपरिवारं तं निर्मूलं कुरु राक्षसम् ॥ ३७ ॥

अतः आप शोक को निर्मूल कर उद्योग में लगिये । तदनन्तर आप सपरिवार उस रावण को निर्मूल करिये ॥ ३७ ॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवनाचलाम् ।
परिवर्तयितुं शक्तः किमङ्ग पुन रावणम् ॥ ३८ ॥

हे राम ! आप तो सागर, वन और पर्वतों सहित इस पृथिवी को उलट सकते हैं । रावण की तो बात ही क्या है ॥ ३८ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः ।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं त्वं वधिष्यसि ॥ ३९ ॥

बरसात तो सिर पर ही है, अतः आप शरत्काल तक ठहरें । तब राज्य और परिवार सहित तुम रावण का वध करना ॥ ३९ ॥

अहं तु खलु ते वीर्यं प्रसुप्तं प्रतिबोधये ।
दीप्तैराहुतिभिः काले भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ४० ॥

राख से ढकी हुई आग को आहुति दे कर प्रज्वलित करने की तरह आपके सोते हुए पराक्रम को मैं जगाता हूँ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम् ।
राघवः सुहृदं स्निग्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

लक्ष्मण जी के उपयुक्त और हितकारी वचनों का आदर कर, हितैषी और स्नेही लक्ष्मण जी से श्रीरामचन्द्र जी यह कहने लगे ॥ ४१ ॥

वाच्यं यदनुरक्तेन स्निग्धेन च हितेन च ।
सत्यविक्रमयुक्तेन तदुक्तं लक्ष्मण त्वया ॥ ४२ ॥

हे लक्ष्मण ! अनुरागी, स्नेही, हितैषी और सत्यपराक्रमी पुरुष को जैसा समझाना उचित है, वैसा ही तुमने मुझे समझाया है ॥ ४२ ॥

एष शोकः परित्यक्तः सर्वकार्यावसादकः ।
विक्रमेष्वप्रतिहतं तेजः प्रोत्साहयाम्यहम् ॥ ४३ ॥

यह लो, मैंने समस्त कार्यों के विनाश करने वाले शोक को त्याग दिया । अब मैं अपने पराक्रम सम्बन्धी दुराधर्ष तेज को प्रोत्साहित करता हूँ ॥ ४३ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षिष्ये स्थितोस्मि वचने तव ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन् ॥ ४४ ॥

मैं तुम्हारा वचन मान कर, सुग्रीव की सहायता और नदियों की अनुकूलता प्राप्त करने के लिये, शरत्काल की प्रतीक्षा करूँगा ॥४४॥

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण युज्यते ।
अकृतज्ञोप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥ ४५ ॥

जो वीर पुरुष होते हैं, वे अपने उपकारी पुरुष का अवश्य प्रत्युपकार करते ही हैं । वे यदि कृतघ्न हो जाय और उपकार को न मान, प्रत्युपकार न करें ; तो ऐसा करने वालों के मन उनकी ओर से फट जाते हैं ॥ ४५ ॥

अथैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत्प्रतिपूज्य भाषितम् ।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन्दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ४६ ॥

फिर लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के युक्तियुक्त वचन सुन और उनकी प्रशंसा कर, हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी के सन्मुख हो, यह बोले ॥ ४६ ॥

यथोक्तमेतत्तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता न चिराद्धरीश्वरः ।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवा-
ञ्जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ४७ ॥

हे नरेन्द्र ! आप जो कुछ कहते हैं सो सब ठीक है और मैं भी यही समझता हूँ कि, वानरवर सुग्रीव शीघ्र ही सहायता करने को उद्यत होंगे । आप वर्षाकाल व्यतीत करते हुए शरत्काल की प्रतीक्षा कीजिये । वर्षाकाल समाप्त होने पर, आप अपने शत्रु के निग्रह करने में दत्तचित्त होना ॥ ४७ ॥

नियम्य कोपं प्रतिपाल्यतां शर-
त्क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह ।
वसाचलेऽस्मिन्मृगराजसेविते
संवर्धयञ्शत्रुवधे समुद्यमम् ॥ ४८ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

आप क्रोध को रोक कर, शरत्काल तक शान्त रहिये और चौमासे भर मेरे साथ इस मृगराजसेवित पर्वत पर रहिये; तदनन्तर शत्रुवध की तैयारी कीजियेगा ॥ ४८ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सत्ताइवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टाविंशः सर्गः

—※—

स तथा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिच्य च।
वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार वालि को मार और सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठा, माल्यवान पर्वत पर रहते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः ॥ २ ॥

वर्षाकाल आ पहुँचा। देखो, पर्वतों के समान बड़े बड़े मेघों के समूह से आकाश आच्छादित हो गया है ॥ २ ॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम् ॥ ३ ॥

देखो, आकाश सूर्य की किरणों से समुद्र के जल को खींच कर, और नौ मास तक गर्भधारण कर, अब इस वृष्टि रूपी रसायन को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपङ्क्तिभिः ।
कुटजार्जुनमालाभिरलङ्कर्तुं दिवाकरम् ॥ ४ ॥

इस समय इन मेघ रूपी सीढ़ियों से आकाश में पहुँच कर, कौरैया और अर्जुन के फूलों की मालाओं से सूर्य अलङ्कृत हो रहे हैं ॥ ४ ॥

सन्ध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वधिकपाण्डरैः ।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥ ५ ॥

आकाश ने सन्ध्या के लाल रंग से रञ्जित सफेद किनारे वाले और रसीले मेघ रूप कपड़े के टुकड़ों से मानों अपने घावों पर पट्टियां बांध रखी हैं ॥ ५ ॥

मन्दमारुतनिश्वासं सन्ध्याचन्दनरञ्जितम् ।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम् ॥ ६ ॥

यह आकाश, मन्दवायुरूप निश्वास को त्यागता, सन्ध्यारूपी चन्दन से चर्चित, सफेद मेघ रूपी कपोल वाला, कामासक्त की तरह देख पड़ता है ॥ ६ ॥

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

घाम से तप कर, कष्ट पायी हुई यह पृथिवी, नवीन जल से पूर्ण हो, शोकातुर सीता की तरह, आंसू गिरा रही है ॥ ७ ॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः *कर्पूरदलशीतलाः ।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"कल्हारसुखशीतलाः" ।

मेघों से निकला, कपूर की तरह शीतल और केवड़े की गन्धि से युक्त, यह वायु, अञ्जलि से पीने के योग्य है ॥ ८ ॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरधिवासितः ।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते ॥ ९ ॥

अर्जुन के पुष्पित वृक्षों से शोभित और केवड़े की सुगन्धि से युक्त यह पर्वत, सुग्रीव की तरह शत्रुरहित हो कर, धाराओं से सींचा जाता है ॥ ९ ॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः ॥ १० ॥

इन पहाड़ों ने, जिनकी कन्दराओं में हवा भरी हुई है, जो मेघ-रूपी काले मृग का चर्म और धारारूपी यज्ञोपवीत धारण किये हुए है ; मानों अध्ययन करना आरम्भ कर दिया है ॥ १० ॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरिव ताडितम् ।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥ ११ ॥

आकाश, जिसमें मेघ गर्ज रहे हैं, मानों बिजली रूपी सोने के कोड़े की चोट खा कर, पीड़ा से आर्त्तनाद करता है ॥ ११ ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मा ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी ॥ १२ ॥

इन काले मेघों में चमकती हुई बिजली, रावण की गोद में छटपटाती हुई तपस्विनी वैदेही की तरह जान पड़ती है ॥ १२ ॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः ।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥ १३ ॥

ये सब दिशाएँ मेघों से ढक गयी हैं। अतः तारे और चन्द्रमा छिप गये हैं। इसीसे इस समय पूर्वादिक दिशाओं का ज्ञान नहीं होता। अतः ये दिशाएँ कामासक्त पुरुषों के लिये सुख देने वाली हो गयी हैं॥ १३॥

क्वचिद्वाष्पाभिसंरुद्धान्वर्षागमसमुत्सुकान्।
कुटजान्पश्य सौमित्रे पुष्पितान्गिरिसानुषु।
मम शोकाभिभूतस्य कामसन्दीपनान्स्थितान्॥ १४॥

हे सौमित्रे! देखो, इस पर्वत के शिखरों पर ये कौरैया के पेड़, जो वर्षा के नवीन जल से सींचे जाने के लिये वर्षा के जल के लिये उत्कण्ठित थे, कैसे फूल रहे हैं। ये मुझ शोकपीडित का कामोद्दीपन करते हुए, टिके हुए हैं॥ १४॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
र्निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्॥ १५॥

वर्षा होने के कारण धूल का उड़ना बंद हो गया। शीतल पवन चलने लगा। ग्रीष्म काल के समस्त दोष दूर हो गये। राजाओं की अन्य देशों पर चढ़ाई रुक गई। विदेशी लोग अपने अपने देशों को जाने लगे॥ १५॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।
अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति॥ १६॥

मानसरोवर के लोभी हंस मानसरोवर की ओर चल दिये। चकवा अपनी प्यारी चकई से मिल गया है और लगातार बरसते हुए बरसाती जल से बिगड़े हुए रास्तों पर सवारियों का आना जाना बंद हो गया है ॥ १६ ॥

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति ।
क्वचित्क्वचित्पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य ॥ १७ ॥

इस समय आकाश में कहीं प्रकाश देख पड़ता है, कहीं नहीं। क्योंकि आकाशमण्डल में मेघ छाये हुए हैं और कहीं वह पर्वतों से संरुद्ध हो रहा है। अतः तरङ्गहीन महासागर की तरह शोभायमान है ॥ १७ ॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥ १८ ॥

ये पहाड़ी नदियाँ, इस नवीन बरसाती जल के गिरने से, साखू और चन्दन के पुष्पों तथा पर्वत की धातुओं के मिलने से लाल रंग की हो कर, कैसी शीघ्र गति बह रही हैं ॥ १८ ॥

रसाकुलं[1] षट्पदसन्निकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम् ।

---

१ रसाकुलं—माधुर्यव्याप्तं । (गो०)

अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥ १९ ॥

मीठे और भौंरे की तरह काले काले जामुन फलों को लोग, खा रहे हैं। ये रंग विरंगे पके आम के फल वायु के झोंकों से टूट कर भूमि पर गिरते हैं ॥ १९ ॥

विद्युत्पताकाः सवलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसन्निकाशाः
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥ २० ॥

बिजली रूपी पताका से शोभित और बगलों की पंक्ति रूपी माला पहिने हुए शैलशिखर समान डीलडौल के और भयङ्कर नाद करने वाले मेघ, रण में मतवाले हाथियों की तरह बड़ा नाद कर रहे हैं ॥ २० ॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सववर्हिणानि ।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥ २१ ॥

देखो मध्यान्होत्तर ये वन कैसे शोभायमान हो रहे हैं। वर्षा होने के कारण हरी हरी घास की हरियाली देख पड़ती है, मोर प्रसन्न हो नाच रहे हैं। क्योंकि मेघ अति वृष्टि कर के अब थम गये हैं ॥ २१ ॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
वलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

वगुलों की पंक्तियों से सुशोभित और गर्जते हुए मेघ जल के भारी बोझ से पर्वत के ऊँचे ऊँचे शिखरों पर विश्राम कर के फिर चले जाते हैं ॥ २२ ॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति वलाकपङ्क्तिः ।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्वेव माला रचिताम्बरस्य ॥ २३ ॥

गर्भधारण करने के लिये मेघ के प्रति कामयुक्त हो वकपंक्ति प्रसन्न हो, वायु से कम्पित श्रेष्ठ कमल के फूलों की उत्तम माला की तरह, आकाश के कण्ठ का हार सी बन, शोभायमान हो रही है ॥ २३ ॥

वालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ २४ ॥

वीच वीच में छोटी छोटी वीर बहूटियों से भरी हुई हरी घास से इस पृथिवी की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी कि, लाल बूटे वाले हरे दुपट्टे के ओढ़ने वाली स्त्री की होती ॥ २४ ॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति ।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥ २५ ॥

इस वर्षा काल में धीरे धीरे निद्रा केशव के, नदिया द्रुत वेग से समुद्र के, बकपंक्ति हर्षित हो, मेघ के और कामिनी स्त्रियाँ अपने प्रीतम के पास जाती हैं ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसम्प्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः ।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवराभिरामा ॥ २६ ॥

इस समय वनों में मोर नाच रहे हैं। कदम्ब के पेड़ों की शाखाओं में पुष्प खिल रहे हैं, वृषभ गौओं को देख, कामातुर हो रहे हैं और पृथिवी हरी हरी घास से अत्यन्त सुन्दर देख पड़ती है ॥२६॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

देखो, इस समय नदियाँ वही जाती हैं, मेघ वर्ष रहे हैं, मतवाले हाथी चिंघाड़ रहे हैं, वन शोभित हो रहे हैं। अपनी मोरनियों के विरह में मोर चिन्तित हो रहे हैं और वानरगण (फलों के लिये) आशावान् हो रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रहर्षिताः केतकपुष्पगन्ध-
माघ्राय हृष्टा वननिर्झरेषु ।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥ २८ ॥

ये गजेन्द्र, केवड़े की गन्ध को सूंघ और प्रसन्न हो, झरने के जल के गिरने के शब्दों से विकल और मतवाले हो, मोरों के शब्द में शब्द मिला, चिंघाड़ रहे हैं ॥ २८ ॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः ।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति ॥ २९ ॥

भौंरे, धारा के गिरने से ताड़ित हो, कदम्ब की डालियों पर जा बैठते हैं और पूर्वसञ्चित गाढ़े पुष्प रस रूप मद को धीरे धीरे त्यागे देते हैं ॥ २९ ॥

अङ्गारचूर्णोत्करसन्निकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः ।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निलीयमाना इव षट्पदौघैः ॥ ३० ॥

देखो जामुन वृक्ष की डालियां, कोले की राख की ढेर की तरह रस भरे फलों से ऐसी शोभायमान हो रही हैं, मानों भौंरों के झुण्ड इनका रस पी रहे हों ॥ ३० ॥

तडित्पताकाभिरलङ्कृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम् ।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोद्यतानामिव वारणानाम् ॥ ३१ ॥

देखो, विद्युत रूपी पताकाओं से शोभित, और महागम्भीर शब्द वाले इन बादलों के रूप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो रण करने को तैयार हाथी एकत्र हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य ।
युद्धाभिकामः प्रतिनागशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसन्निवृत्तः ॥ ३२ ॥

पर्वतों और वनों में विचरने वाला यह हाथी, जो पहाड़ी वन की ओर चला जाता था, मेघ के शब्द को सुन और उसे अपने शत्रु हाथी की चिंघार समझ, युद्ध करने की कामना से, लौटा चला आता है ॥ ३२ ॥

क्वचित्प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित्प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः ।
क्वचित्प्रमत्ता इव वारणेन्द्रैः-
विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥ ३३ ॥

ये वन, जिन में कहीं तो भौंरे गूंज रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं, और कहीं मतवाले हाथी विचर रहे हैं, नाना प्रकार के कौतुकों से परिपूर्ण होने के कारण, कैसे देख पड़ते हैं ॥ ३३ ॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्नववारिपूर्णा ।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति ॥ ३४ ॥

इस जंगल की भूमि, जो कदम्ब, साखू, अर्जुन, और गुलाब के फूलों से परिपूर्ण है और नवीन जल रूपी मद्य से भरी है, मतवाले मोरों के नाचने से, कलवरिया की तरह जान पड़ती है ॥ ३४ ॥

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

प्यासे पखेरू, जिनके पंख पानी से बिगड़ गये हैं, मोती के समान पत्तों पर गिरा हुआ और इन्द्र का दिया हुआ निर्मल जल, हर्षित हो पी रहे हैं ॥ ३५ ॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३६ ॥

भौंरों का जो गुञ्जार हो रहा है वह मानों वीणा की मधुर झंकार है। मेढकों की टर्र टर्र, मानों कण्ठ से दिया हुआ ताल है, मेघों की गड़गड़ाहट, मानों मृदङ्ग से निकली हुई गमक है। इस प्रकार का सङ्गीत वनों में हो रहा ॥ ३६ ॥

क्वचित्प्रनृतैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः ।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३७ ॥

देखो कहीं तो मोर नाच रहे हैं, कहीं बोल रहे हैं और कहीं अपनी लंबी पूंछ रूपी अलङ्कार को लटका कर पेड़ों पर बैठे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि, वन में मानों गाना बजाना हो रहा है ॥ ३७ ॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसन्निरुद्धाम् ।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥ ३८ ॥

अनेक रंग रूप और अनेक प्रकार की बोलियां बोलने वाले ये बंदर, मेघ की गड़गड़ाहट सुन, बहुत देर से लगी हुई नींद को त्याग, इस नवीन वृष्टि की जलधार से भींग कर, कैसी किलकारियां मार रहे हैं ॥ ३८ ॥

नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा ।
दृप्ता नवप्राभृतपूर्णभोगा
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥ ३९ ॥

देखो, ये नदियां जिनमें चक्रवाक तैरते हुए देख पड़ते हैं, अपने पुराने और दरके हुए करारों को ढहाती हैं। वे वेग रूप गर्व को और

नवीन (भरे हुए) शरीर को धारण कर, पूर्व के अङ्गीकृत समुद्र रूपी पति के पास चली जा रही हैं ॥ ३९ ॥

नीलेषु नीलाः प्रविभान्ति सक्ता
मेघेषु मेघा नववारिपूर्णाः ।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव वद्धमूलाः ॥ ४० ॥

नवीन जल से परिपूर्ण ये काले मेघ समूह, अन्य काले मेघ समूहों से मिल ऐसे जान पड़ते हैं, मानों वनाग्नि से जले हुए पहाड़ों में वैसे ही पर्वत चिपके हों ॥ ४० ॥

प्रहृष्टसन्नादितवर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि ।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥ ४१ ॥

इन रमणीय वनों में जिनमें मतवाले मयूर बोल रहे हैं और वीरबहूटियों से पूर्ण घास लहराती है और अर्जुन के फूलों की सुगन्ध आ रही है, हाथियों के झुण्ड चर रहे हैं ॥ ४१ ॥

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि ।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
वनानि हृष्टा भ्रमराः पतन्ति ॥ ४२ ॥

देखो ये भौंरें नवीन जलवृष्टि से झड़े हुए केसर वाले कमलों को छूकर नवीन केसर से युक्त कदम्ब के फूलों को प्रसन्न हो पान कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः ।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥

इस समय मदमत्त गज, प्रसन्न वृषभ, जंगलों में अत्यन्त पराक्रमयुक्त सिंह देख पड़ते हैं। पर्वतों की शोभा रमणीक हो रही है और राजा लोग उद्यमहीन देख पड़ते हैं। इस समय सुरपति इन्द्र मेघों द्वारा क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः ।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥ ४४ ॥

समुद्र के नाद को भी दबा देने वाले ये मेघ, बहुत सा जल भरे हुए, आकाश में रह कर, वर्षा द्वारा नदी, तालाब, सरोवर, बावली और समस्त पृथिवी को परिपूर्ण कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णघोषाः ।
प्रनष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलैर्विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ ४५ ॥

देखो, जलवृष्टि कैसे ज़ोर से हो रही है और वायु कैसा प्रचण्ड चल रहा है। नदियां तटरूपी मर्यादा को तोड़, बुरे रास्ते से बड़े वेग से जल को बहा रही हैं ॥ ४५ ॥

---

* पाठान्तरे—"विश्रान्त"।

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः ।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

मनुष्य जिस प्रकार राजा को स्नान कराते हैं, वैसे ही वायु से प्रेरित, जल से भरे मेघ रूपी घड़े से स्नान कर के, पर्वत समूह मानों अपना रूप और शोभा दिखला रहे हैं ॥ ४६ ॥

घनोपगूढं गगनं सतारं
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति ।
नवैर्जलौघैर्धरणी विसृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥ ४७ ॥

इन दिनों मेघाच्छादित आकाश में न तो तारे ही देख पड़ते हैं और न सूर्य ही के दर्शन होते हैं। पृथिवी नवीन जलप्रवाह से तृप्त हो गयी है और समस्त दिशाओं में अंधकार छा जाने से, उनमें ज़रा सा भी प्रकाश नहीं देख पड़ता ॥ ४७ ॥

महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराभिधौतान्यधिकं विभान्ति ।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥ ४८ ॥

पर्वतों के बड़े बड़े शिखर जो जलप्रवाह से धुले हुए हैं, इन बड़े बड़े झरनों के कारण ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, मानों मोतियों की लंबी मालाएँ धारण किये हुए हों ॥ ४८ ॥

शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः ।
गुहासु सन्नादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवाभिभान्ति ॥ ४९ ॥

बड़े बड़े पहाड़ों के झरनों का पानी चट्टानों पर बड़े वेग से बहता हुआ, मोरों के नाद से युक्त कन्दराओं में मोती के टूटे हुए हार की तरह छितरा कर गिर रहा है ॥ ४९ ॥

शीघ्रमवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम् ।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्धियन्ते ॥ ५० ॥

पर्वतों के बड़े वेग से बहने वाले झरने, पहाड़ों की चोटियों को धोते हुए, बड़े वेग से गिर कर, बड़ी गुफाओं में मोतियों की ढेरी के समान शोभा दे रहे हैं ॥ ५० ॥

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः ।
पतन्तीवाकुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः ॥ ५१ ॥

स्वर्गीय स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के समय, मर्दन करने के कारण टूटे हुए अनुपम मोतियों के हार की तरह, चारों ओर वृष्टि का जल छितरा रहा है ॥ ५१ ॥

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः ॥५२॥

पक्षियों के अपने घोंसलों में बसेरा लेने से और कमल के फूलों के सिमट कर बंद हो जाने से और मालती के फूलों के खिलने से, सूर्य का अस्त होना, जाना जाता है ॥ ५२ ॥

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना प्रतिनिवर्तते ।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः ॥ ५३ ॥

इस वर्षा काल में राजाओं की यात्रा स्थगित हो रही है। जिस किसी राजा की सेना किसी शत्रु पर चढ़ाई करने चल पड़ी थी, वह भी वर्षाकाल उपस्थित होने के कारण रास्ते में जहाँ की तहाँ रुकी हुई है ॥ ५३ ॥

मासि प्रोष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम् ।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥ ५४ ॥

इस भाद्र मास में सामवेदी ब्राह्मणों का अध्ययन काल आ पहुँचा ॥ ५४ ॥

निवृत्तकर्मायतनो नूनं सञ्चितसञ्चयः ।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः ॥ ५५ ॥

कोशलाधिपति भरत कर उगाहने आदि के कार्यों से निवृत्त हो और चौमासे में ख़र्च के लिये भोजनाच्छादन की सामग्री घर में संग्रह कर, आषाढ़ी पूर्णिमा से किसी विशेष अनुष्ठान में लग गये होंगे ॥ ५५ ॥

नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः ।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः ॥ ५६ ॥

सरयू नदी में बाढ़ आने से वह लबालब भरी होगी और उसका कोलाहल, ऐसा होता होगा, जैसा कि, मेरी वनयात्रा के समय अयोध्यावासियों ने किया था ॥ ५६ ॥

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते ।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः ॥ ५७ ॥

भरीपूरी वर्षा ऋतु के लक्षण इस समय भली भाँति जान पड़ रहे हैं। सुग्रीव भी इस समय सुख भोगते होंगे। क्योंकि उनका शत्रु मारा गया और उनको उनकी स्त्री भी मिल गयी और साथ ही एक बड़ा राज्य भी उनके हाथ लग गया ॥ ५७ ॥

अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः ।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

किन्तु ; हे लक्ष्मण ! मैं स्त्री को गँवा और इतने बड़े राज्य से वञ्चित हो, धार से कटते हुए नदी के तट की तरह, इस समय दुःखी हो रहा हूँ ॥ ५८ ॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः ।
रावणश्च महाञ्शत्रुरपारं प्रतिभाति मे ॥ ५९ ॥

एक तो यह वर्षाकाल अत्यन्त दुर्गम है, दूसरे रावण भी ऐसा-वैसा शत्रु नहीं है—बड़ा प्रबल शत्रु है, तीसरे मेरा शोक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। सो ये सब मुझे दुस्तर ही जान पड़ते हैं ॥ ५९ ॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान् ।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किञ्चिदीरितम् ॥ ६० ॥

मार्गों की दुर्गमता देख, और यात्रा के लिये इस काल को अनुकूल न समझ कर ही, मैंने सुग्रीव से, उस समय जिस समय कि, वह प्रणाम कर जाने लगा था, इस विषय में कुछ नहीं कहा था ॥ ६० ॥

अपि चातिपरिक्लिष्टं चिरादारैः समागतम् ।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद्वक्तु नेच्छामि वानरम् ॥ ६१ ॥

सुग्रीव अत्यन्त कष्ट पा कर बहुत दिनों बाद अपनी स्त्रियों से मिला है। मेरा कार्य बड़ा भारी है। अतः मैं उससे अभी कुछ कहना नहीं चाहता ॥ ६१ ॥

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम् ।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः ॥ ६२ ॥

इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं कि, सुग्रीव जब आराम कर चुकेगा, तब आप ही समय आने पर मेरे प्रति उपकार करने का स्मरण करेगा ॥ ६२ ॥

तस्मात्कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन् ॥ ६३ ॥

अतः हे शुभलक्षणों से युक्त लक्ष्मण ! मैं नदियों की और सुग्रीव की अनुकूलता की प्रतीक्षा करता हुआ, यहाँ ठहरा हुआ हूँ ॥ ६३ ॥

उपकारेण वीरो हि प्रतिकारेण युज्यते ।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥ ६४ ॥

वीर लोग उपकार का बदला अवश्य ही प्रत्युपकार से देते हैं। जो ऐसा नहीं करते, उनसे उपकार करने वाले का मन फट जाता है ॥ ६४ ॥

*तेनैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत्प्रतिपूज्य भाषितम् ।

---

* पाठान्तरे "तमेवमुक्तः ।"

उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन्[1]दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ६५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा, तब वे हाथ जोड़ और उनके कथन का सम्मान करते हुए और अपना मत प्रकट करते हुए, उनसे बोले ॥ ६५ ॥

यथोक्तमेतत्तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता न चिराद्वरीश्वरः ।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवा-
ञ्जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ६६ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र ! आपने जो कुछ कहा तदनुसार सुग्रीव शीघ्र ही करेंगे । इस समय आप क्षमा करें और शरत्काल की प्रतीक्षा करते हुए यहाँ रहें । वर्षाकाल समाप्त होने पर शत्रु के विनाश में तत्पर होना ॥ ६६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—※—

समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्
सारसारवसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम् ॥ १ ॥

---

१ दर्शनं—मतं । (गो०)

जब आकाश में बादलों का गड़गड़ाना और बिजली का कड़कना न देख पड़ने लगा, और जब सारसों से निनादित और मनोहर चाँदनी से छिटका हुआ विमल आकाश देख पड़ा, तब सुग्रीव के समीप हनुमान जी गये ॥ १ ॥

समृद्धार्थं च सुग्रीवं मन्दधर्मार्थसंग्रहम् ।
अत्यर्थमसतां मार्गमेकान्तगतमानसम् ॥ २ ॥
निर्वृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रमदाभिरतं सदा ।
प्राप्तवन्तमभिप्रेतान्सर्वानपि*मनोरथान् ॥ ३ ॥
स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम् ।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम् ॥ ४ ॥

सुग्रीव अत्यन्त समृद्धशाली हो कर, धर्म और अर्थ को एकत्र करने के विषय में शिथिल और असत् नरों के मार्ग का अवलम्बन किये हुए अर्थात् अत्यन्त कामासक्त, तथा सब कार्यों को छोड़, सब अभीष्टों को प्राप्त, सदा स्त्रियों के साथ रत और सब मनोरथों को प्राप्त किये हुए राज्य को पा कर, तथा अपनी स्त्री रूमा और वाञ्छनीय तारा को पाकर, रात दिन विहार किया करते। वे किसी बात की चिन्ता न करते थे ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

क्रीडन्तमिव देवेन्द्रं नन्दनेऽप्सरसां गणैः ।
मन्त्रिषु न्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवेक्षकम् ॥ ५ ॥

वे अपनी स्त्रियों के साथ उसी तरह विहार करते, जिस प्रकार नन्दनवन में इन्द्र अप्सराओं के साथ विहार करते हैं। उन्होंने

---

* पाठान्तरे—"सर्वानिव।"

सारा राज़काज मंत्रियों पर छोड़ रखा था और स्वयं कभी भी उसे न देखते थे ॥ ५ ॥

उत्सन्नराज्यसन्देहं कामवृत्तमवस्थितम् ।
निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित् ॥ ६ ॥

वे राज्य के नाश का कभी सन्देह भी न करते थे । कामासक्त सुग्रीव को देख, अर्थतत्व के जानने वाले, सब कार्यों का निश्चय किये और समयानुकूल धर्म के तत्व को जानने वाले ॥ ६ ॥

प्रसाद्य वाक्यैर्मधुरैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः ।
वाक्यविद्वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः ॥ ७ ॥

वाक्यविशारद पवननन्दन श्रीहनुमान जी प्रीतिसाने, युक्ति-युक्त, मनोहर वचनों से वाक्यतत्व के ज्ञाता सुग्रीव को प्रसन्न कर, ॥ ७ ॥

हितं तत्त्वं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत् ।
प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम् ॥ ८ ॥

सत्ययुक्त, हितकारी, साम,-धर्म-अर्थ, नीति-युक्त, प्रेमप्रीति मिश्रित, ऐसे विश्वस्त वचन बोले, जिन पर उनका स्वयं विश्वास था ॥ ८ ॥

हरीश्वरमुपागम्य हनुमान्वाक्यमब्रवीत् ।
राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरपि वर्धिता ॥ ९ ॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तं भवान्कर्तुमर्हति ।
यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ॥ १० ॥

तस्य राज्यं च कीर्त्तिश्च प्रतापश्चाभिवर्धते ।
यस्य कोशश्च [1]दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ॥ ११॥

हनुमान जी ने कपिराज सुग्रीव के पास जा कर कहा—"हे कपिराज ! तुमने राज्य और कीर्ति पाई और अपने कुल की लक्ष्मी भी बढ़ाई। अब आपको उचित है कि, अपने मित्र का जो कार्य करना बाकी है, उसे आप करें। क्योंकि जो समय का ज्ञान रखने वाला पुरुष अपने मित्र के साथ अच्छा वर्ताव करता है, उसका राज्य, कीर्ति और प्रताप उत्तरोत्तर बढ़ता है। हे पृथिवीनाथ ! जो राजा अपने कोश, सेना (अर्थात् पुलिस) मित्र और आत्मा ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

समवेतानि सर्वाणि स राज्यंमहदश्नुते ।
तद्भवान्वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरत्यये ॥ १२ ॥

पर समान रूप से प्रेम रखता है, वह बड़े राज्य को भोगता है। आप चरित्रवान् हैं और निष्कण्टक मार्ग पर आरूढ़ हैं ॥ १२ ॥

मित्रार्थमभिनीतार्थं यथावत्कर्तुमर्हति ।
सन्त्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे योनवर्तते ॥ १३ ॥

अतः मित्र के प्रतिज्ञात कार्य को यथोचित रीति से करने में ढीलढाल न कीजिये। क्योंकि जो मनुष्य अपने सब कामों को छोड़, मित्र का काम नहीं करता है ॥ १३ ॥

सम्भ्रमाद्धि कृतोत्साहः सोऽनर्थैर्नावरुध्यते ।
यस्तु कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ॥ १४ ॥
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते ।
यदिदं वीर कार्यं नो मित्रकार्यमरिन्दम ॥ १५ ॥

---

१ दण्डः सेनाविशेषः । (गो०)

और उद्वेगवश अपने उत्साह को नष्ट कर डालता है, वह अनर्थ में फंस जाता है। जो मनुष्य समय व्यतीत होने पर मित्र के कार्य में लगता है, वह भले ही सिरतोड़ परिश्रम करे, किन्तु उसके किये मित्र का काम पूरा नहीं होता। हे शत्रुघाती! अब वह समय बीता ही चाहता है॥ १४॥ १५॥

क्रियतां राघवस्यैतद्वैदेह्याः परिमार्गणम्॥ १६॥

अतः अब श्रीरामचन्द्र जी की सीता का पता लगाने का काम पूरा करना चाहिये॥ १६॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति [1]कालवित्।
त्वरमाणोऽपि सन्माज्ञस्तव राजन्वशानुगः॥ १७॥

यद्यपि समय बीतने ही वाला है और श्रीरामचन्द्र जी को अपने काम के लिये शीघ्रता भी बहुत है, तथापि वे समय के परखने वाले श्रीराम कुछ नहीं करते। क्योंकि वे तुम्हारी ही इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं॥ १७॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिमो गुणैः॥ १८॥

श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे कुल की वृद्धि करने वाले हैं, तुम्हारे बड़े मित्र हैं, वे बड़े प्रभाव वाले हैं और गुणों में सब के ऊपर हैं॥ १८॥

तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव।
हरीश्वर हरिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि॥ १९॥

---

१ कालवित् रामहृतिशेषः। (गो०)

वे आपका काम पहले ही कर चुके हैं, अतः अब आपको भी उनका काम करना चाहिये। हे कपिराज! अब आप मुख्य मुख्य वानरों को आज्ञा दीजिये ॥ १९ ॥

न हि तावद्भवेत्कालो व्यतीतश्चोदनादृते ।
चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत्कालव्यतिक्रमः ॥ २० ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र जी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते, तब तक आपको ठहरना उचित नहीं, (अर्थात् उनके कथन की प्रतिज्ञा मत कीजिये) किन्तु जब वे कुछ कहेंगे तब समय की हानि समझी जायगी अथवा जो काम प्रेरणा विना स्वयं ही किया जाता है, उससे समय का उल्लङ्घन नहीं समझा जाता, किन्तु जो कार्य प्रेरणा द्वारा किया जाता है, वह कार्य समय पर हुआ नहीं समझा जाता ॥ २० ॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान्कर्ता हरीश्वर ।
किं पुनः प्रतिकर्तुस्ते राज्येन च धनेन च ॥ २१ ॥

हे कपिराज! आप तो अनुपकारी का भी काम कर देने वाले हैं, फिर जिन्होंने वालि को मार, आपको राज्य दिलवाया है, उनका तो उपकार आप करेंहीगे, इसमें कहना ही क्या है ॥ २१ ॥

शक्तिमानपि विक्रान्तो वानरर्क्षगणेश्वर ।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिमाज्ञायां किं न सज्जसे ॥ २२ ॥

आप वानरों और रीछों के राजा हैं और श्रीरामचन्द्र जी शक्तिमान् और अतिशय विक्रमशाली हैं, आप श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता के हेतु, उनका कार्य करने के लिये क्यों तैयार नहीं होते? ॥ २२ ॥

कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान् ।
वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञां तु काङ्क्षते ॥ २३ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी सुर, असुर और भुजङ्गों को भी अपने बाणों से अपने वश में कर सकते हैं, वह तो आपकी प्रतिज्ञा को परखते हैं ॥ २३ ॥

प्राणत्यागाविशङ्केन कृतं तेन तव प्रियम् ।
तस्य मार्गाम वैदेहीं पृथिव्यामपि चाम्बरे ॥ २४ ॥

उन्होंने अपनी जान हथेली पर रख कर, आपका काम कर, आपको प्रसन्न किया। अतः हम लोग सीता जी को पृथिवी व आकाश में, जहाँ कहीं भी वे हों, ढूँढ़ लावेंगे ॥ २४ ॥

न देवा न च गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमुत राक्षसाः ॥ २५ ॥

देव, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण और यक्षगण सब ही, युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी से डरते हैं, फिर राक्षस लोग उनसे क्यों न डरेंगे ॥ २५ ॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रियकृतस्तव ।
रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम् ॥ २६ ॥

हे पिङ्गेश ! इस प्रकार के शक्तियुक्त श्रीरामचन्द्र आपका उपकार पहिले ही कर चुके हैं ; अतः आपको उचित है, कि सर्व प्रकार आप उनका उपकार करें ॥ २६ ॥

नाधस्तादवनौ नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे ।
कस्यचित्सज्जतेऽस्माकं कपीश्वर तवाज्ञया ॥ २७ ॥

हे कपीश्वर ! आपकी आज्ञा से हम लोग पाताल, पृथिवी, जल और आकाश में बेरोकटोक जा सकते हैं ॥ २७ ॥

तदाज्ञापय कः किं ते कृते कुत्र व्यवस्यतु ॥
हरयो ह्यमधृष्यास्ते सन्तिं कोट्यग्रतोऽनघाः ॥ २८ ॥

हे अनघ ! करोड़ों दुर्द्धर्ष वंदर आपके अधीन हैं, सो आप आज्ञा दीजिये कि, कौन कहाँ जाय ॥ २८ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा काले साधु निवेदितम् ।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नश्चकार मतिमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

हनुमान जी के समयोचित और उत्तम रूप से कहे गये वचनों को सुन कर, महापराक्रमी सुग्रीव ने हनुमान जी के कथन की सराहना की ॥ २९ ॥

स सन्दिदेशाभिमतं नीलं नित्यकृतोद्यमम् ।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे ॥ ३० ॥

सुग्रीव ने उद्यमशील नील नामक वानर को, सब दिशाओं से वानरी सैन्य एकत्र करने की आज्ञा दी ॥ ३० ॥

यथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः ।
समागच्छन्त्यसङ्क्षेन सेनाग्राणि तथा कुरु ॥ ३१ ॥

सुग्रीव ने कहा—तुमको ऐसा यत्न करना चाहिये, जिससे सब यूथपाल अपने अपने सेनापतियों सहित अपनी समस्त सेना ले कर यहाँ आवें ॥ ३१ ॥

ये त्वन्तपालाः प्लवगाः शीघ्रगा व्यवसायिनः ।
समानयन्तु ये सैन्यं त्वरिताः शासनान्मम ॥ ३२ ॥

जो दिगन्त की सेना के पालक, उद्योगी और तेज़ चलने वाले वानर हैं, मेरी आज्ञा से तुम्हरी सेना को तुरन्त यहाँ ले आवें ॥३२॥

स्वयं चानन्तरं सैन्यं भवानेवानुपश्यतु ।
त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयान्नेह वानरः ।
तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्या विचारणा ॥ ३३ ॥

तदनन्तर सैनिकों की हाज़िरी लेना, उनकी व्यवस्था करना आदि जो कार्य हैं उनको तुम करो। जो वंदर पन्द्रह दिन के भीतर यहाँ न आवेगा, उसे विना कुछ सोचे विचारे प्राणदण्ड दिया जावेगा ॥ ३३ ॥

हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो
भवान्ममाज्ञामधिकृत्य निश्चिताम् ।
इति व्यवस्थां हरिपुङ्गवेश्वरो
विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान् ॥ ३४ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

हे नील ! हमारे अधीन जो बड़े बूढ़े वानर हैं, उनके पास तुम स्वयं जाओ और अपने साथ अङ्गद को लेते जाओ। कपिप्रवर, पराक्रमी सुग्रीव इस प्रकार की व्यवस्था कर, राजभवन में चले गये ॥ ३४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिंशः सर्गः

—※—

गुहां प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः ।
वर्षरात्रोषितो रामः कामशोकाभिपीडितः ॥ १ ॥

इधर तो सुग्रीव राजमन्दिर में गये, उधर आकाश मेघरहित हुआ। बरसाती रातों के बीत जाने पर श्रीरामचन्द्र जी कामजन्य शोक से पीड़ित हुए ॥ १ ॥

पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी आकाश को सफेद, चन्द्रमण्डल को विमल और चांदनी रात को देख, ॥ २ ॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम् ।
बुद्ध्वा कालमतीतं च मुमोह परमातुरः ॥ ३ ॥

तथा कामासक्त सुग्रीव को और जनककुमारी को हरी हुई जान और समय को व्यतीत होता हुआ विचार, अत्यन्त आतुर हो मूर्च्छित हो गये ॥ ३ ॥

स तु संज्ञामुपागम्य मुहूर्तान्मतिमान्पुनः ।
मनःस्थामपि वैदेहीं चिन्तयामास राघवः ॥ ४ ॥

अनन्तर बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी एक मुहूर्त्त भर में चित्त को सावधान कर, जानकी जी के लिये चिन्तित हुए ॥ ४ ॥

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते ।
शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम् ॥ ५ ॥

वे हेमधातु विभूषित पर्वत के अग्रभाग पर बैठ, शरद ऋतु का आकाश देख मन ही मन अपनी प्यारी का चिन्तवन करने लगे ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा च विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम् ।
सारसारवसंघुष्टं विललापार्तया गिरा ॥ ६ ॥

शरत्कालीन विद्युत और मेघों से रहित आकाशमण्डल को देख और सरोवरों पर बोलते हुए सारसों की बोली सुन, श्रीरामचन्द्र जी अति आर्त वाणी से विलाप करने लगे ॥ ६ ॥

सारसारवसन्नादैः सारसारवनादिनी ।
याऽश्रमे रमते बाला साऽद्य ते रमते कथम् ॥ ७ ॥

(वे बोले) जो सीता सारस की तरह शब्द किया करती तथा सारसों की बोली सुन आश्रम में आनन्दित होती थी, वह इस समय क्योंकर अपना मन बहलाती होगी ॥ ७ ॥

पुष्पितांश्चासनान्दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान् ।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती ॥ ८ ॥

सुवर्ण की तरह निर्मल इन पुष्पित असन वृक्षों को देख कर, और मुझे न देख कर, वह बाला किस प्रकार अपना मन मुदित करती होगी ॥ ८ ॥

या पुरा कलहंसानां स्वरेण कलभाषिणी ।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साऽद्य मे बुध्यते कथम् ॥ ९ ॥

जो मधुर वचन बोलने वाली सीता कलहंसों की बोली सुन जागा करती थी, वह सर्वाङ्गश्रेष्ठा इस समय क्योंकर रहती होगी ? ॥ ९ ॥

निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम् ।
पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेषा भविष्यति ॥ १० ॥

अपनी चकवी के साथ क्रीड़ा करने वाले इन चकवों की बोली सुन, वह कमल सदृश विशाल नयनी कैसे जीवित रहेगी ?॥ १० ॥

सरांसि सरितो वापीः काननानि वनानि च ।
तां विना मृगशावाक्षीं चरन्नाद्य सुखं लभे ॥ ११ ॥

मैं उस मृगनयनी के विना सरोवरों, नदियों, वापियों, वनों और काननों में विचरण कर के भी सुखी नहीं हूँ ॥ ११ ॥

अपि तां मद्वियोगाच्च सौकुमार्याच्च भामिनीम् ।
न दूरं पीडयेत्कामः शरद्गुणनिरन्तरः ॥ १२ ॥

शरद्काल के इन साधनों से उत्पन्न हुआ काम, मेरे विरह और उसकी सुकुमारता के कारण उस भामिनी को अवश्य अत्यन्त कष्ट देता होगा ॥ १२ ॥

एवमादि नरश्रेष्ठो विललाप नृपात्मजः ।
विहङ्ग इव सारङ्गः सलिलं त्रिदशेश्वरात् ॥ १३ ॥

सारङ्ग पक्षी जैसे जल के लिये इन्द्र से कातर हो कर, प्रार्थना करता है, वैसे ही राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अनेक प्रकार से विलाप करने लगे ॥ १३ ॥

ततश्चञ्चूर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु ।
ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणोऽग्रजम् ॥ १४ ॥

इतने में लक्ष्मण जी, जो फल लाने को पहाड़ के शिखरों पर टेढ़े मेढ़े मार्गों से गये हुए थे लौट आये और उन्होंने अपने बड़े भाई को शोक करते पाया ॥ १४ ॥

तं चिन्तया दुःसह्या परीतं
विसंज्ञमेकं विजने मनस्वी ।
भ्रातुर्विषादात्परितापदीनः
समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच रामम् ॥ १५ ॥

मनस्वी लक्ष्मण जी, असहनीय चिन्ता से अचेत और एकान्त में बैठे हुए श्रीरामचन्द्र को देख, उनका विषाद दूर करने को अत्यन्त दीन हो कर बोले ॥ १५ ॥

किमार्य कामस्य वशंगतेन
किमात्मपौरुष्यपराभवेन ।
अयं सदा संह्रियते समाधिः
किमत्र योगेन निवर्तितेन ॥ १६ ॥

हे भाई ! आप जो काम के वश में हो, आत्मपौरुष को त्याग बैठे हैं, सो यह आप क्या कर रहे हैं ? आपके चित्त की स्थिरता नष्ट हुई जाती है । सो क्या आप इसका निवारण मन को स्थिर कर, नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं
समाधियोगानुगतं च कालम् ।

सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्व
स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात ॥ १७ ॥

आप अपने मन को प्रसन्न कर और धैर्य धारण कर कार्य के लिये उद्योग कीजिये। फिर इस समय अपना मन स्थिर कर और दैन्य भाव परित्याग कर, सुग्रीव की सहायता से और देव पूजनादि कर्मों से अपना काम कीजिये ॥ १७ ॥

न जानकी मानववंशनाथ
त्वया सनाथा सुलभा परेण ।
न चाग्निचूडां ज्वलितामुपेत्य
न दह्यते वीरवराऽर्ह कश्चित् ॥ १८ ॥

हे मानव-वंश-नाथ ! सीता के आप ही एकमात्र नाथ अर्थात् स्वामी हैं। उसका दूसरा कोई स्वामी नहीं हो सकता। हे वीरवर पूज्य ! भला बतलाइये तो प्रज्वलित अग्नि की शिखा को पकड़ कर, कौन बिना जले बच सकता है ॥ १८ ॥

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्यं
स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः ।
हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं
ससाम धर्मार्थसमाहितं च ॥ १९ ॥

लक्ष्मण जी के ऐसे वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी, हितकारी लाभप्रद, राजनीतियुक्त; धीरज बंधाने वाले, धर्म और अर्थ युक्त वचन बोले ॥ १९ ॥

निःसंशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषो ह्यनुवर्तितव्यः ।
ननु प्रवृत्तस्य दुरासदस्य
कुमार कार्यस्य फलं न चिन्त्यम् ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! धैर्य धारण पूर्वक ऐसा उत्साह करना चाहिये जिससे सीता अवश्य मिल जाय और इस कार्य की सिद्धि में जो असह्य कष्ट झेलने पड़ें, उनकी चिन्ता भी न करनी चाहिये ॥ २० ॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन् ।
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ॥ २१ ॥

कमलनयनी सीता जी को याद कर, श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और वे लक्ष्मण जी से बोले ॥ २१ ॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुन्धराम् ।
निर्वर्तयित्वा[1] सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, इन्द्र वर्षा द्वारा पृथिवी को तृप्त कर और अन्न को पक्का कर, अब कृतार्थ हुए ॥ २२ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषाः शैलद्रुमपुरोगमाः ।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिश्रान्ता नृपात्मज ॥ २३ ॥

हे राजकुमार ! धीर गम्भीर शब्द करने वाले मेघ भी, पर्वत, वृक्ष और नगरों पर जल की वृष्टि कर, अब शान्त हो गये हैं ॥२३॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥ २४ ॥

---

१ निर्वर्तयित्वा—परिपक्वानि कृत्वा । (गो०)

मेघ जो नील कमल के पत्ते की तरह श्याम वर्ण थे, दसों दिशाओं को हरी भरी कर के मदहीन हाथियों की तरह, वेग रहित हो गये हैं ॥ २४ ॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥ २५ ॥

बरसाती हवा भी, जो जल से नम थी और बड़ी वेग वाली थी तथा कोरैया और अर्जुन के फूलों की महक से सुवासित थी, अब थम गयी है ॥ २५ ॥

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥ २६ ॥

हे लक्ष्मण ! अब न तो मेघों की गड़गड़ाहट न हाथियों की चिंघाड़े, न मोरों की बोली और न झरनों का कल कल शब्द ही सुनाई पड़ता है ॥ २६ ॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः ।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चित्रदीप्तिभिः ॥ २७ ॥

देखो बड़े बड़े मेघों की वृष्टि से इन पर्वतों के कंगूरे धुल कर साफ हो गये हैं। इन पर जब चन्द्रमा की किरणें पड़ती हैं, तब ये कैसी शोभा देने लगते हैं ॥ २७ ॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसङ्गमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ २८ ॥

शरत्कालीन नदियाँ धीरे धीरे अपने पुलिन प्रदेश वैसे ही उघारती हैं, जैसे गौने आयी हुई रमणी प्रथम पति-संगम के समय, लज्जा के मारे अपनी जाघें धीरे धीरे उघारती है ॥ २८ ॥*

---

* यह श्लोक उत्तरभारत के संस्करणों में नहीं पाया जाता ।

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥ २९ ॥

देखो, शरद् ऋतु ने सतौना की डालियों में, तारा, सूर्य और चन्द्र की प्रभा में तथा हाथियों की क्रीडाओं में, अपनी उत्तम नवीन शोभा को मानों विभाजित कर दिया है ॥ २९ ॥

संप्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपनीता ।
सूर्यांशुहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति ॥ ३० ॥

शरत्काल के उत्कर्ष से प्राप्त, यह शरत्कालीन नानावर्ण की कान्ति, सूर्य की किरणों से विकसित, इन कमल समूहो में अत्यधिक शोभा का विस्तार कर रही है ॥ ३० ॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादबृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनोऽनुसारी
दर्पं वनेष्वभ्यधिकं करोति ॥ ३१ ॥

यह शरत्काल शतावरी के फूलों को सुवासित करता, भ्रमरों में गुञ्जार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता, पवन के पीछे पीछे चलता हुआ और मदमत्त हाथियों के मद को बढ़ाता हुआ, अत्यधिक शोभायुक्त हो रहा है ॥ ३१ ॥

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
सरःप्रियैः पद्मरजोवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥ ३२ ॥

मनोहर विशाल पंखों वाले हँस, जो मानसरोवर से आये हैं और कामप्रिय हैं तथा कमल पुष्प के पराग से सने हुए हैं, बड़ी बड़ी नदियों के तटों पर चकवा चकई के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥ ३३ ॥

देखो, यह शरत्कालीन शोभा, मतवाले हाथियों में, उन्मत्त सांडों में और निर्मल जल वाली नदियों में अनेक प्रकार से बँट कर, सुशोभित हो रही है ॥ ३३ ॥

नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वसक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥ ३४ ॥

ये मोर आकाश में मेघों को न देख कर अपने भूषण रूपी पंखों को फैला कर, अपनी प्यारी मोरनी में अनुरागशून्य, शोभा-

रहित और उत्सवहीन होकर, कुछ चिन्ता करते हुए से देख पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्द्योतितानीव वनान्तराणि ॥ ३५ ॥

ये बड़े बड़े वृक्ष जो मनोहर गन्ध को फैला रहे हैं, और जिनकी डालियाँ फूलों के बोझ से झुक गयी हैं और जो सुनहले रंग के पुष्पों से देखने वालों के नेत्रों को लुभा रहे हैं, मानों इन वनों को अत्यन्त शोभायुक्त कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने रतानां कुसुमोद्धतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥ ३६ ॥

नलिनी (कुई) प्रिय, अपनी प्यारी हथनियों के साथ रहने वाले, वन के फूलों को सूंघने वाले, मद से भरे और काम भोग में लवलीन ये उत्तम उत्तम हाथी, कैसे धीरे धीरे चले जा रहे हैं ॥ ३६ ॥

व्यभ्रं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥ ३७ ॥

आकाश नवोदित नक्षत्रों की तरह चमक रहा है। नदियों के जल का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया अथवा नदियों का जल घट गया है। कमल के फूल की गन्ध से सुवासित हवा बह रही है और सप्तच्छद विशाल अंधकार से युक्त हो सुशोभित हो रहे हैं ॥ २७ ॥

दुर्योधसङ्क्रामगतप्रवङ्गा
भूमिः सतुल्यादितसान्द्रपङ्का ।
अन्योन्यवैरानभिपातुनाना-
मुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥ २८ ॥

दुर्ग की गलों से कीचड़ घुल कर नष्ट हो गयी, कूच उठने लगी और आलस में देर करने वाले राजाओं की चढ़ाई का समय आ पहुँचा है ॥ २८ ॥

सद्गुणाप्यायितसस्यशोभाः
नद्यस्तिताः पांसुसमुक्षिताङ्गाः ।
पद्मोत्सवाः सम्प्रति दृष्टहृष्टा
हृष्टा गवां मध्यगता नदन्ति ॥ २९ ॥

शरत्काल के आगमन से वर्षा और शोभा में वृद्धि को प्राप्त हुई, धूलधूसरित, नहलाए और चराने के लिये उद्यत ये बैल, गौओं के बीच कैसे डकार रहे हैं ॥ २९ ॥

प्रमत्तयूथैर्गजगन्धतृप्तैः
कुलान्विता मन्दगतिं करेणवः ।

मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयान्ति ॥ ४० ॥

हथिनियां काम से विकल, अत्यन्त अनुरागवतीं, अपने सुँड के साथ धीरे धीरे चलती, अपने मतवाले पति हाथी के पीछे पीछे वन में जा रही हैं ॥ ४० ॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषणानि
वर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमदा मयूराः ॥ ४१ ॥

नदियों के तट पर मयूर अपने पंख रूपी उत्तम आभरणों को फैंक, और सारसों से अनादृत हो, उदास और मदहीन हो कर चले जाते हैं ॥ ४१ ॥

वित्रास्य कारण्डवचक्रवाका-
न्मदारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः ।
सरःसु वृद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिवन्ति ॥ ४२ ॥

ये मद के बहाने वाले बड़े बड़े गजराज चिंघाड़ से कारण्डव और चक्रवाक पक्षियों को भयभीत करते हुए, इन पुष्पित कमलवाले तड़ागों में घुस कर, हलोर हलोर कर जल पी रहे हैं ॥ ४२ ॥

व्यपेतपङ्कासु सुवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।

ससारसा रावविनादितासु
नदीषु हृष्टा निपतन्ति हंसाः ॥ ४३ ॥

कीचड़ से शून्य, और वालुका वाली और निर्मल जल से भरी, गौओं की हेड़ों से घिरी और सारसों से नादित, इन नदियों में हंस प्रसन्न हो, कूद कूद क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम् ।
प्लवङ्गमानां च गतोत्सवानां
द्रुतं रवाः सम्प्रति सम्प्रनष्टाः ॥ ४४ ॥

इस समय नदी, मेघ, झरना अति प्रचण्ड पवन, मयूर और हर्षित मेढ़कों की बोली सुन नहीं पड़ती ॥ ४४ ॥

अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः ।
क्षुधार्दिता घोरविषा विलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥ ४५ ॥

बरसात के कारण रंग विरंगे और महाविषधारी सर्प, भूख के कारण बड़े दुबले शरीर के हो, बहुत दिनों बाद, अपने अपने बिलों से निकल रहे हैं ॥ ४५ ॥

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ ४६ ॥

शोभायमान चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से हर्षोत्फुल्ल, निर्मल नक्षत्रों से युक्त और अरुण रंगवाली सन्ध्या, आकाश को स्वयं छोड़ती जाती है ॥ ४६ ॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा ।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी ॥ ४७ ॥

रात्रि में उदय हुआ चन्द्रमा मानों रात्रि रूपी स्त्री का मुख है, तारागण मानों इसके मनोहर नेत्र हैं और चाँदनी मानों उसके वस्त्र के समान है। अतः ऐसी रात रूपी कामिनी वस्त्र धारण किये हुए सुलक्षणा नारी की तरह विराजमान है ॥ ४७ ॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥ ४८ ॥

ये सारसों की सुन्दर पंक्ति पके हुए धानों की बालों को खा कर प्रसन्नमन हो, आकाश में तेज़ी से उड़ी चली जा रही है, मानों पवन से उड़ाई हुई फूलों की माला हो ॥ ४८ ॥

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥ ४९ ॥

सोते हुए हंसों और कुई के फूले हुए फूलों से इस बड़े तालाब के जल की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी कि रात में मेघ रहित,

नक्षत्रों से युक्त आकाश की, उदय हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा से होती है ॥ ४९ ॥

प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम् ।
वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-
र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥ ५० ॥

क्षुद्रघण्टिका रूपी हंसों से और माला रूपी इन खिले हुए कमलों से उत्तम वावलियों की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी शोभा किसी शृङ्गार की हुई स्त्री की होती है ॥ ५० ॥

वेणुस्वनव्यञ्जिततूर्यमिश्रः
प्रत्यूषकालानिलसम्प्रबुद्धः ।
सम्मूर्छितो गह्वरगोवृषाणा-
मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ ५१ ॥

प्रातःकाल की हवा वांसों के छेदों में घुस वांसुरी के शब्द के साथ नगाड़े की तरह शब्द करती है। वह बड़े बड़े बैलों के शब्दों से मिल कर, गुफाओं में प्रतिध्वनित होता है। उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानों ये शब्द परस्पर मिल कर, एक दूसरे के शब्द को बढ़ा रहे हैं ॥ ५१ ॥

नवैर्नदीनां कुसुमप्रभासै-
र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः
कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥ ५२ ॥

ये नदियों के तट, जिन पर कांस फूल रहे हैं और जो हवा के झोकों से धीरे धीरे हिल रहे हैं ; ऐसे जान पड़ते हैं, मानों धुले हुए साफ़ सफेद रेशमी वस्त्र पहिने हुए हों ॥ ५२ ॥

वनप्रचण्डा[1] मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥ ५३ ॥

वन में निरङ्कुश हो घूमने वाले, पुष्पों का रस पीने में धूर्त, अपनी अपनी क्यारियों को लिये हुए, हर्षित, और कमल एवं असन के फूलों की धूल से पीले, ये भौंरे पवन के साथ साथ उड़ते फिरते हैं ॥ ५३ ॥

जलं प्रसन्नं कुमुदं प्रभासं
क्रौञ्चस्वनः शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥ ५४ ॥

यह निर्मल जल, जिसमें कमल के फूल खिल रहे हैं और कौंच पक्षी बोल रहे हैं, और पके हुए साठी के चावल, मन्द पवन और स्वच्छ चन्द्रमा—ये, सब के सब, वर्षाकाल के अन्त के द्योतक हैं ॥ ५४ ॥

मीनोपसन्दर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।

---

१ वने प्रचण्डाः—निरङ्कुशगतया । (गो०)

कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्[२] ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार कामी पुरुषों द्वारा भोगी गयी रमणी प्रातःकाल के समय अलसाती हुई धीरे धीरे चलती हैं उसी प्रकार मीन रूपी करधनी पहिने हुए नदी रूपी वधूटियाँ धीमी चाल से चल रही हैं अर्थात् उनका प्रवाह-वेग मन्द पड़ गया है ॥ ५५ ॥

सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्रलेखानि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥ ५६ ॥

चक्रवाक पक्षियों से और सिवार (एक प्रकार की जल में उगने वाली घास) से सँवारी हुई और काँस रूपी वस्त्र को धारण किये हुए नदियों के तट ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पत्ररेखाओं और रोचना से विभूषित घूँघट काढ़े हुए स्त्रियों के मुख हों ॥ ५६ ॥

प्रफुल्लवाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतचण्डदण्डः
प्रचण्डचारोऽद्य वनेषु कामः ॥ ५७ ॥

फूली हुई कनसरैया और असन के पेड़ों से चित्रित और हर्षोत्फुल्लित भौंरों से गुञ्जारित इन वनों में मानों कामदेव

---

२ कामिनीनाम्—वारस्त्रीणां । (गो०)

हाथ में धनुष लिये हुए विरही जनों को दण्ड देने के लिये, प्रचण्ड प्रताप से घूम रहा हो ॥ ५७ ॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रनष्टाः ॥ ५८ ॥

मेघ समूह जल की सुवृष्टि से लोगों को सन्तुष्ट करता, नदियों और तालाबों को जल से पूर्ण कर, और पृथिवी को अन्न रूपी सम्पत्ति प्रदान कर, और आकाश को परित्याग कर, नष्ट हो गया है ॥ ५८ ॥

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुररीभिर्विनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥ ५९ ॥

हे सौम्य ! निर्मल जल वाले जलाशय जिनके तट पर कुरर पक्षी बोल रहे हैं, और चक्रवाकों से युक्त हैं, कैसे सुन्दर जान पड़ते हैं ॥ ५९ ॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु ॥ ६० ॥

इस समय पर्वत के शिखरों पर असन, सतावरी, कोविदार, दुपहरिया व श्याम आदि वृक्ष एवं लताएँ कैसी फूल रही हैं ॥ ६० ॥

हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः ।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण ॥ ६१ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो इस समय हंस, सारस चक्रवाक और कुरर आदि पक्षी नदियों के कछार में चारों ओर बैठे हुए देख पड़ते हैं ॥ ६१ ॥

अन्योन्यं वद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज ।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः ॥ ६२ ॥

हे सौम्य ! आपस में वैरी और विजयाभिलाषी राजाओं की युद्धयात्रा के उद्योग का यही समय है ॥ ६२ ॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज ।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं वा तथाविधम् ॥ ६३ ॥

हे राजकुमार ! यह राजाओं की प्रथम यात्रा के दिन आ गये, परन्तु न तो मैं सुग्रीव को देखता और न मैं सीता जी के खोजने के लिये कोई तैयारी ही देखता हूँ ॥ ६३ ॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः
मम शोकाभिभूतस्य सौम्य सीतामपश्यतः ॥ ६४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो बरसात के चार मास सौ वर्ष के समान बीते हैं। क्योंकि मैं पहिले ही शोकाकुल था, तिस पर सीता का भी वियोग हो गया ॥ ६४ ॥

चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम् ।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना ॥ ६५ ॥

सीता मेरे पीछे पीछे इस घोर दण्डकवन में वैसे ही आयी जैसे चकवी अपने पति चकवा के पीछे हो लेती है ॥ ६५ ॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते ।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥
अनाथो हृतराज्योऽयं रावणेन च धर्षितः ।
दीनो दूरगृहः कामी मां चैव शरणं गतः ॥ ६७ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रियाहीन और अत्यन्त दुःखी, राज्य से च्युत, और घर से निकाले गये मुझ पर सुग्रीव को दया नहीं आती कि, मैं अनाथ हूँ, मेरा राज्य हर लिया गया और रावण से पीड़ित हूँ, दुःखी हूँ, दूर का रहने वाला हूँ, कामासक्त हूँ और उसके शरण में आया हूँ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

इत्येतैः कारणैः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः ।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परन्तप ॥ ६८ ॥

हे सौम्य ! हे परन्तप ! इन्हीं सब कारणों से दुरात्मा सुग्रीव मेरी उपेक्षा कर रहा है ॥ ६८ ॥

स कालं परिसंख्याय सीतायाः परिमार्गणे ।
कृतार्थः समयं कृत्वा दुर्मतिर्नावबुध्यते ॥ ६९ ॥

देखो, वह दुर्मति सुग्रीव, सीता के ढूँढ़ने के लिये समय का नियम कर के (अर्थात् समय निर्दिष्ट कर के) भी, इस समय स्वयं सफलमनोरथ होने के कारण, नहीं चेतता ॥ ६९ ॥

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम् ।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम ॥ ७० ॥

तुम किष्किन्धा में जा कर उस वानरश्रेष्ठ से, जो मूर्खता से घरेलू सुखों में फँस रहा है ; मेरी ओर से कहना ॥ ७० ॥

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥ ७१ ॥

कि जो बल-पौरुषयुक्त एवं पूर्वोपकारी अर्थियों को आशा देकर फिर उसको पूरा नहीं करता, वह इस लोक में अधम पुरुष कहा जाता है ॥ ७१ ॥

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम् ।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ७२ ॥

परन्तु जो अपनी भली अथवा बुरी प्रतिज्ञा को पूरी करता है, वह वीर और नरों में उत्तम समझा जाता है ॥ ७२ ॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ ७३ ॥

मित्र द्वारा अपना काम निकाल, जो पुरुष मित्र का काम नहीं करते, उन कृतघ्नों के मरने पर उनका मांस वे जीव जन्तु भी नहीं खाते, जो कच्चा मांस खाया करते हैं ॥ ७३ ॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्य मया रणे ।
द्रष्टुमिच्छति चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम् ॥ ७४ ॥

मुझे मालूम पड़ता है कि, तू अब मेरे बिजुली की तरह चमचमाते, सुवर्ण की पीठ वाले धनुष को जिस पर मैं रोदा चढ़ा कर खींचूगा, रण में देखना चाहता है ॥ ७४ ॥

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे ।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छति ॥ ७५ ॥

और क्रोध में भर खींची गयी, धनुष की डोरी (रोदा) की टंकार को, जो वज्र के शब्द के तुल्य है, रणक्षेत्र में तू सुनना चाहता है ॥ ७५ ॥

काममेवंगतेऽप्यस्य परिज्ञाते पराक्रमे ।
त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यान्नृपात्मज ॥ ७६ ॥

हे वीर राजकुमार ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामासक्त हो, अचेत हो रहा है, तथापि वह मेरे पराक्रम को जानता है और यह भी जानता है कि, तुम मेरे सहायक हो। किन्तु आश्चर्य है कि, ये सब जान कर भी वह निश्चिन्त है ॥ ७६ ॥

यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरञ्जय ।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः ॥ ७७ ॥

हे शत्रु के नगर को जीतने वाले ! देखो, जिस काम के लिये मैंने सुग्रीव से मैत्री की और उसके शत्रु वालि का वध किया, उसको सुग्रीव, अपना काम निकल जाने पर, भूला हुआ है ॥ ७७ ॥

वर्षासमयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः ।
व्यतीतांश्चतुरो मासान्विहरन्नावबुध्यते ॥ ७८ ॥

देखो वर्षा बीतने पर सीता जी के ढूँढ़ने का यत्न करने की इसने प्रतिज्ञा की थी, परन्तु बरसात के चारों मास बीत गये तो भी वह स्त्रियों के साथ विहार में लीन हो, अब भी नहीं चेतता ॥ ७८ ॥

सामात्यपरिषत्क्रीडन्पानमेवोपसेवते ।
शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुरुते दयाम् ॥ ७९ ॥

सुग्रीव अपने मंत्रियों और इष्ट मित्रों के साथ मधुपान में मत्त हो और क्रीड़ा करता हुआ, मुझ शोकाकुल और दीन पर दया नहीं करता ॥ ७९ ॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वत्स महाबल ।
मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥ ८० ॥

हे वत्स ! हे महाबली ! तुम सुग्रीव के पास जाओ और उससे ऐसे वचन कहो, जिससे वह मेरे क्रोध का परिणाम जान जाय ॥ ८० ॥

न च सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ ८१ ॥
एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया ।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम् ॥ ८२ ॥

उससे कहो कि हे सुग्रीव ! जिस मार्ग से मर कर वालि गया है, वह रास्ता सकरा या बंद नहीं हो गया है । उससे यह भी कह देना कि वालि को तो मैंने अकेला ही मारा था, किन्तु प्रतिज्ञाच्युत होने के कारण सुग्रीव को मैं सकुटुम्ब यमालय भेज दूँगा ॥८१॥८२॥

तदेवं विहिते कार्ये यद्धितं पुरुषर्षभ ।
तत्तद्ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥ ८३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! इसके अतिरिक्त तुम उससे वे बातें कहना जिससे काम बने और जल्दी सीता का पता मिले । इस काम में देर न लगनी चाहिये ॥ ८३ ॥

कुरुष्व सत्यं मयि वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम् ।

मा वालिनं प्रेत्य गतो यमक्षयं
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितैः शरैः ॥ ८४ ॥

सुग्रीव से यह भी कहना कि, हे वानरराज ! प्रतिज्ञा का पूर्ण करना यह अवश्य धर्म का कृत्य है। अतः तुमने जो मुझसे प्रतिज्ञा की है, उसे सत्य कर दिखाओ। देखना, कहीं मेरे छोड़े हुए बाणों से मारे जा कर, यमपुरी में वालि को तुम्हें न देखना पड़े ॥ ८४ ॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं
लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम् ।
चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा
हरीश्वरे मानववंशनाथः ॥ ८५ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

मानववंश के बढ़ाने वाले, उग्रतेज सम्पन्न लक्ष्मण, यह देख कर कि, श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध बढ़ता जाता है और वे उदास हो रहे हैं, सुग्रीव पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ ८५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

एकत्रिंशः सर्गः

—※—

स कामिनं दीनमदीनसत्त्वं[1]
शोकाभिपन्नं[2] समुदीर्णकोपम्[3]
नरेन्द्रसूनुर्नरदेवपुत्रं
रामानुजः पूर्वजमित्युवाच ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई राजकुमार लक्ष्मण जी काम से उत्पन्न हुए शोक से युक्त और अधीन होने पर भी दीन श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध बढ़ते देख, अपने जेष्ठ भ्राता से इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते
न मंस्यते कर्मफलानुषङ्गान् ।
न भोक्ष्यते वानरराज्यलक्ष्मीं
यथा हि नाभिक्रमतेऽस्य बुद्धिः ॥ २ ॥

सुग्रीव आख़िर है तो वानर ही। भला वह क्या जाने कि, सत्पुरुषों को अपने मित्रों के साथ कैसा व्यवहार करना होता है। उसका इन बातों पर भी ध्यान नहीं है कि, उसने अग्नि को साक्षी कर मैत्री की है, और मैत्री के कारण ही उसका शत्रु वालि मारा गया, उसको उसकी स्त्री और राज्य की प्राप्ति हुई। इससे जान पड़ता है कि, सुग्रीव के भाग्य में बहुत दिनों तक राज्यलक्ष्मी का

---

१ दीनमदीनसत्त्वं—एतेन वस्तुतः अदीन सत्त्वोपिदैन्यं भावयतीतिगम्यते। (गो०) २ शोकाभिपन्नं—शोकं प्राप्तं। (गो०) ३ समुदीर्णकोपं—अभिवृद्धकोपं। (गो०)

भोगना नहीं यदा। इसीसे तो वह हम लोगों के काम को भूले हुए बैठा है ॥ २ ॥

मतिक्षयाद्ग्राम्यसुखेषु सक्त-
स्तव प्रसादाप्रतिकारबुद्धिः।
इतोऽग्रजं पश्यतु वीर तस्य
न राज्यमेवं विगुणस्य देयम् ॥ ३ ॥

उसकी बुद्धि मारी जाने के कारण ही वह घरेलू सुखों में फँसा हुआ है और आपने उसका जो उपकार किया है, उसके बदले में प्रत्युपकार करने की उसकी इच्छा नहीं है। अतः उसे अब मर कर अपने वीर बड़े भाई से भेंट करनी होगी। क्योंकि ऐसे गुण रहित अथवा बेसहूर को राज्य देना ठीक नहीं ॥ ३ ॥

न धारये कोपमुदीर्णवेगं
निहन्मि सुग्रीवमसत्यमद्य।
हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो
नरेन्द्रपत्न्या[1] विचयं[2] करोतु ॥ ४ ॥

मुझसे यह बढ़ता हुआ क्रोध अब थामे नहीं थमता। मैं आज उस असत्यवादी सुग्रीव को मारे बिना न रहूँगा। वालि का पुत्र अंगद, वीर वानरों को साथ ले सीता जी का पता लगा देगा ॥ ४ ॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं
निवेदितार्थं रणचण्डकोपम्।

---

१ नरेन्द्रपत्न्या—सीतायाः। (गो०) २ विचयं—अन्वेषणं। (गो०)

उवाच रामः परवीरहन्ता
स्ववेक्षितं[1] सानुनयं च वाक्यम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी धनुष ले कर खड़े हो गये। तब शत्रु को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण को अत्यन्त कुपित और रण करने के लिये उद्यत देख, उनका कोप शान्त करने के लिये उनको भली भाँति समझा कर, नम्रता पूर्वक बोले ॥ ५ ॥

न हि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत् ।
पापमार्येण[2] यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे पुरुष को मित्रवध रूपी पाप कर्म का करना उचित नहीं। जो मनुष्य अच्छी तरह विवेचना कर अपने क्रोध को मारता है, वही वीर और वही पुरुषों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ ६ ॥

नेदमद्य त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण ।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च सङ्गतम् ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम उत्तम चरित्रवान थे। अतः तुम्हें ऐसा काम करना उचित नहीं, सुग्रीव के साथ वैसी ही प्रीति रखना और पहले स्थापित की हुई मैत्री का स्मरण रखना ॥ ७ ॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि[3] परिवर्जयन् ।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥ ८ ॥

---

१ स्ववेक्षितं—सुष्ठुनिरूपितं । (गो०) २ आर्येण—सम्यग्विवेकेन । (गो०) ३ रूक्षाणि—परुषाणि । (गो०)

देखो सुग्रीव से कठोर वचन मत कहना, भली भाँति समझा कर उनसे इतना ही कहना कि, तुम्हारा नियत किया हुआ समय बीत गया है ॥ ८ ॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत्पुरुषर्षभः ।
प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, पुरुषश्रेष्ठ, शत्रुघाती और वीरश्रेष्ठ लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई की आज्ञा से किष्किन्धा-पुरी में प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ततः शुभमतिः प्राज्ञो भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः ॥ १० ॥

फिर शुभमति वाले, बुद्धिमान् और भाई के हित में तत्पर, लक्ष्मण जी ने दिखावटी क्रोध प्रकट कर और सुग्रीव के वध का विचार परित्याग कर, कपिराज सुग्रीव के भवन में प्रवेश किया ॥ १० ॥

शक्रचापासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमः ।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव ॥ ११ ॥

इन्द्रधनुष की तरह अथवा कालान्तक यम की तरह अथवा पर्वत-शिखर की तरह लंबा धनुष ले, लक्ष्मण जी, मन्दराचल पर्वत की तरह वहाँ जा खड़े हुए ॥ ११ ॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम्[1] ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तथा ॥ १२ ॥

---

१ सोत्तरम—स्वेनदृश्यमाणोत्तरसहितं । (गो०)

भ्राता के वचनानुसार कार्य करने वाले अथवा भाई के वचन को पूरा करने वाले, बुद्धि में बृहस्पति के समान लक्ष्मण जी अपने मन में श्रीरामचन्द्र जी के वचन के अतिरिक्त अपनी ओर से जो कुछ और कहना था सो विचारते जाते थे ॥ १२ ॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः कोपाग्निना वृतः ।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मनोरथ पूर्ण न होने के कारण, श्रीरामचन्द्र जी को, जो क्रोध उत्पन्न हुआ था, उससे स्वयं क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी अप्रसन्न होते हुए, हवा की तरह बड़ी तेज़ी से चले जाते थे ॥ १३ ॥

सालतालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन्बहून् ।
पर्यस्यन्गिरिकूटानि द्रुमान्यांश्च वेगितः ॥ १४ ॥

वे रास्ते में बहुत से साखू, ताल, अश्वकर्ण तथा अन्य पेड़ों को, एवं पर्वतशृङ्गों को गिराते चले जाते थे ॥ १४ ॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन्पद्भ्यां गज इवाशुगः ।
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १५ ॥

वे पर्वत की शिलाओं को अपने पैरों से फोड़ते, दूर दूर पर कदम रखते, कार्यवश अति शीघ्रता से चले जाते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि, मानों कोई मतवाला हाथी तोड़ता फोड़ता चला जा रहा है ॥ १५ ॥

तामपश्यद्बलाकीर्णां हरिराजमहापुरीम् ।
दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूलः किष्किन्धां गिरिसङ्कटे ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुश्रेष्ठ लक्ष्मण जी ने बड़े बड़े, पर्वतों के बीच बसी हुई, सेना से परिपूर्ण एवं दुर्गम कपिराज सुग्रीव की किष्किन्धा पुरी देखी ॥ १६ ॥

रोषात्प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मण ।
ददर्श वानरान्भीमान्किष्किन्धाया बहिश्चरान् ॥ १७ ॥

सुग्रीव के ऊपर कुपित होने से लक्ष्मण जी के अधर फड़क रहे थे । उन्होंने भीम पराक्रमी अनेक वानरों को किष्किन्धा के बाहिर घूमते फिरते देखा ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ।
शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ॥ १८ ॥
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः पर्वतान्तरे ।
तान्गृहीतप्रहरणान्हरीन्दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः ॥ १९ ॥

वे सब गजराज की तरह वानर, पुरुषपुङ्गव लक्ष्मण जी को क्रुद्ध देख, सैकड़ों पर्वतशृङ्गों और सैकड़ों बड़े बड़े वृक्षों को ले, पर्वतों पर जा खड़े हो गये । उन वानरों को आयुध लिये हुए देख, लक्ष्मण जी ॥ १८ ॥ १९ ॥

बभूव द्विगुणं क्रुद्धो वन्हिरिन्धन इवानलः ।
तं ते भयपरीताङ्गाः क्रुद्धं दृष्ट्वा प्लवङ्गमाः ॥ २० ॥

का क्रोध ऐसा इतना बढ़ गया मानों बहुत से ईंधन से आग प्रज्वलित हुई हो । तब उन सब वानरों ने लक्ष्मण को क्रुद्ध देख, ॥ २० ॥

कालमृत्युयुगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः ।
ततः सुग्रीवभवनं प्रविश्य हरिपुङ्गवाः ॥ २१ ॥

प्रलयकालीन मृत्यु के समान लक्ष्मण को क्रुद्ध देख, सैकड़ों बंदर चारों ओर भाग गये । उनमें जो श्रेष्ठवानर थे, उन्होंने सुग्रीव के भवन में जा ॥ २१ ॥

क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ।
तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषो रहः ॥ २२ ॥

लक्ष्मण का क्रुद्ध हो आना कह सुनाया । सुग्रीव उस समय तारा के साथ कामासक्त था ॥ २२ ॥

न तेषां कपिवीराणां शुश्राव वचनं तदा ।
ततः सचिवसन्दिष्टा हरयो रोमहर्षणाः ॥ २३ ॥

अतः उसने उन वानरवीरों की बात पर कुछ भी ध्यान न दिया । तब मंत्रियों की आज्ञा से बड़े बड़े वानर, जिनको देखने से रोंगटे खड़े हो, आते ॥ २३ ॥

गिरिकुञ्जरमेघाभा नगर्या निर्ययुस्तदा ।
नखदंष्ट्रायुधा घोराः सर्वे विकृतदर्शनाः ॥ २४ ॥

और जिनके शरीर का डीलडौल, पहाड़ अथवा हाथी अथवा मेघों के समान था, किष्किन्धा नगरी से निकले । उनके बड़े बड़े दाँत और नख उनके आयुध थे और उनको देखने से डर मालूम पड़ता था ॥ २४ ॥

सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च* सर्वे च विकृताननाः
दशनागबलाः केचित्केचिद्दशगुणोत्तराः ॥ २५ ॥
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥ २६ ॥

वे सब के सब शार्दूल की तरह डाढ़ों वाले और विकटाकार थे । किसी के शरीर में दस हाथी का, किसी के शरीर में सौ हाथी का और किसी किसी के शरीर में हज़ार हाथियों जितना पराक्रम था ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे "दर्पाश्च" ।

कृत्स्नां हि कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः ॥ २७ ॥
अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ।
ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिघान्तरात् ॥२८ ॥
निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ।
सुग्रीवस्य प्रमादं च पूर्वजस्यार्थमात्मवान् ॥ २९ ॥

क्रुद्ध लक्ष्मण जी ने देखा कि, समस्त किष्किन्धा नगरी वानरों से भरी हुई है और कोई भी शत्रु उसे जीत नहीं सकता। तदनन्तर वे सब वानर कोट और खाई से निकल खुलंखुल्ला लड़ने को खड़े हो गये। तदनन्तर सुग्रीव के प्रमाद और अपने बड़े भाई के कार्य को ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

बुद्ध्वा कोपवशं वीरः पुनरेव जगाम सः ।
स दीर्घोष्णमहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः ॥ ३० ॥
बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ।
बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान् ॥ ३१ ॥
स्वतेजोविषसङ्घातः पञ्चास्य इव पन्नगः ।
तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम् ॥ ३२ ॥

विचार कर, वीर लक्ष्मण अत्यन्त क्रुद्ध हुए। वे लंबी और गर्म श्वास लेते मारे क्रोध के लाल लाल आँखों वाले, धूम सहित आग की तरह जान पड़ने लगे। फर लगे हुए बाण ही मानों लपलपाती हुई जिह्वा है, धनुष जिसका शरीर है; ऐसे पाँच सिर वाले विषधर सर्प की तरह वे जान पड़ने लगे। कालाग्नि की तरह प्रदीप्त और क्रुद्ध गजराज की तरह ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

समासाद्याङ्गदस्त्रासाद्विषादमगमद्भृशम् ।
सोऽङ्गदं रोषताम्राक्षः सन्दिदेश महायशाः ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण को देख अंगद बहुत डर गये और बड़े दुःखी हुए। इस समय लाल लाल नेत्रों से अंगद को देख महायशस्वी लक्ष्मण ने उनको आज्ञा दी ॥ ३३ ॥

सुग्रीवः कथ्यतां वत्स ममागमनमित्युत ।
एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिन्दमः ॥ ३४ ॥
भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तो द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ।
तस्य वाक्ये यदि रुचिः क्रियतां साधु वानर ॥ ३५ ॥

हे वत्स ! जा कर सुग्रीव को मेरे आगमन की सूचना दो और कहना कि हे शत्रुनाशक ! श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण अपने भाई के दुःख से सन्तप्त हो, तुमसे मिलने के लिये दरवाज़े पर खड़े हैं। यदि तुम उनके वचन सुनना पसंद करो, तो शीघ्र आ कर सुनो ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमिदं मम ॥ ३६ ॥
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽङ्गदोऽब्रवीत् ।
पितुः समीपमागम्य सौमित्रिरयमागतः ॥ ३७ ॥

हे वत्स ! मेरा यह संदेसा सुग्रीव से कह, तुम शीघ्र वापिस आओ। लक्ष्मण के ये वचन सुन, शोकाकुल हो, अंगद दौड़ कर सुग्रीव के पास गये और बोले कि, देखिये लक्ष्मण आये हुए हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अथाङ्गदस्तस्य वचो निशम्य
सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्रः ।

निर्गत्य तूर्णं नृपतेस्तरस्वी
ततः रुमाय्राश्चरणौ ववन्दे ॥ ३८ ॥

अंगद, लक्ष्मण के वचन सुन अत्यन्त विकल और उदास हुए। उन्होंने लक्ष्मण के पास से जा पहले सुग्रीव को, फिर रुमा को प्रणाम किया ॥ ३८ ॥

संगृह्य पादौ पितुरग्र्यतेजा
जग्राह मातुः पुनरेव पादौ।
पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा
निवेदयामास ततस्तमर्थम् ॥ ३९ ॥

उग्रतेजवाले अंगद ने सुग्रीव के चरणस्पर्श कर, फिर माता के (तारा) के चरण छुए। तदनन्तर रुमा के पैर पकड़ कर, लक्ष्मण जी का संदेसा कहा ॥ ३९ ॥

स निद्रामदसंवीतो वानरो न विबुद्धवान्।
बभूव मदमत्तश्च मदनेन च मोहितः ॥ ४० ॥

मदनमोहित मदमत्त वानर सुग्रीव निद्रा के कारण ऐसे बेसुध थे कि, अंगद की बातें न तो उन्होंने सुनीं और न समझीं ॥ ४० ॥

ततः किलकिलां चक्रुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः।
प्रसादयन्तस्तं क्रुद्धं भयमोहितचेतसः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर भयभीत वानर लक्ष्मण को क्रुद्ध देख, उनको प्रसन्न करने के लिये किलकारने (का शब्द) लगे ॥ ४१ ॥

ते महौघनिभं दृष्ट्वा वज्राशनिसमस्वनम् ।
सिंहनादं समं चक्रुर्लक्ष्मणस्य समीपतः ॥ ४२ ॥

उस समय उन वानरों का एक साथ किलकारियों का शब्द ऐसा हुआ जैसा कि, बिजली की कड़क का अथवा सिंहनाद का होता है। यह शब्द लक्ष्मण जी के पास ही हुआ था ॥ ४२ ॥

तेन शब्देन महता प्रत्यबुध्यत वानरः ।
मदविह्वलताम्राक्षो व्याकुलस्रग्विभूषणः ॥ ४३ ॥

उस महाकोलाहल को सुन, सुग्रीव होश में आये। परन्तु उस समय सुग्रीव के नेत्र नशे से लाल हो रहे थे और पुष्पमाला उनके गले में सुशोभित हो रही थी। किन्तु वे उस समय घबड़ाये हुए थे ॥ ४३ ॥

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा तेनैव च समागतौ ।
मन्त्रिणौ वानरेन्द्रस्य संम्मतोदारदर्शिनौ ॥ ४४ ॥

प्लक्षश्चैव प्रभावश्च मन्त्रिणावर्थधर्मयोः ।
वक्तुमुच्चावचं प्राप्तं लक्ष्मणं तौ शशंसतुः ॥ ४५ ॥

सुग्रीव ने अंगद के वचन सुने। इतने में अंगद के साथ ही प्लक्ष और प्रभाव नामक सुग्रीव के दो मंत्री भी सुग्रीव के पास पहुँचे। ये दोनों मंत्री सुग्रीव के कृपापात्र और सब से मिलते भेंटते थे। ये अर्थ और धर्म सम्बन्धी विषयों में सुग्रीव को ऊँच नीच समझाया करते थे। इन दोनों ने भी लक्ष्मण के आगमन की सूचना सुग्रीव को दी ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

प्रसादयित्वा सुग्रीवं वचनैः सामनिश्चितैः[1] ।
आसीनं पर्युपासीनौ यथा शक्रं मरुत्पतिम् ॥ ४६ ॥

लक्ष्मण को किस प्रकार सान्त्वना देनी उचित है—प्रथम तो इस विषय का वार्तालाप कर, उन दोनों ने सुग्रीव को प्रसन्न किया। फिर वे दोनों सुग्रीव के दोनों ओर, वैसे ही बैठ गये, जैसे इन्द्र के पास देवता बैठते हैं ॥ ४६ ॥

सत्यसन्धौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
वयस्यभावं सम्प्राप्तौ राज्यार्हौ राज्यदायिनौ ॥ ४७ ॥

तदनन्तर उन दोनों ने कहा—आपको राज्य दिलाने वाले, स्वयं राज्यशासन करने की योग्यता रखने वाले, महाभाग, सत्य प्रतिज्ञ, दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, जो तुम्हारे साथ मैत्री कर चुके हैं ॥ ४७ ॥

तयोरेको धनुष्पाणिर्द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ।
यस्य भीताः प्रवेपन्तो नादान्मुञ्चन्ति वानराः ॥ ४८ ॥

उन दोनों में से एक जन लक्ष्मण धनुष हाथ में लिये द्वार पर खड़े हैं। उन्हींके डर से वानर थर थर काँपते हुए कोलाहल मचा रहे हैं ॥ ४८ ॥

स एष राघवभ्राता लक्ष्मणो वाक्यसारथिः[2] ।
व्यवसायरथः प्राप्तस्तस्य रामस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

---

१ सामनिश्चितैः—सान्त्वविषये निश्चितैः । (गो०) २ वाक्यसारथिः—रामवाक्यप्रेरित इत्यर्थः । (गो०)

यह श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण राम के वचनों से प्रेरित हो, उन्हींकी आज्ञा से व्यवसाय रूपी रथ पर सवार हो, यहाँ आये हैं ॥ ४९ ॥

[नोट —व्यवसाय रूपी रथ से अभिप्राय है कर्त्तव्यकाय का निश्चय करने के लिये—(शि०) " व्यवसायः करणीयार्थे विषये निश्चयः ।]

अयं च दयितो राजंस्तारायास्तनयोऽङ्गदः ।
लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ॥ ५० ॥

हे राजन ! हे अनघ ! यह तारा के प्यारे पुत्र अंगद उन्हीं लक्ष्मण जी के भेजे हुए अतिशीघ्र आपके पास आये हैं ॥ ५० ॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान् ।
वानरान्वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥ ५१ ॥

हे वानरपते ! वे पराक्रमी लक्ष्मण जी ही क्रोध से लाल नेत्र किये, मानों अपने नेत्राग्नि से वानरों को जलाते हुए, द्वार पर खड़े हैं ॥ ५१ ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः सह बन्धुभिः ।
गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यस्य निवर्त्यताम् ॥ ५२ ॥

हे महाराज ! आप इस समय पुत्र और भाईबंदों सहित शीघ्र चल कर, उनके चरणों में सीस झुका, प्रणाम कीजिये और उनके क्रोध को शमन कीजिये ॥ ५२ ॥

यदाह रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः[1] ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये[2] भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ५३ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ समाहितः—स्वस्थचित्तोभवेत । (शि०) २ स्वसमये—स्वमर्यादायां । (गो०)

हे राजन्! आप अपनी मर्यादा में स्थित हों, अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिये, जिससे श्रीरामचन्द्र जी स्वस्थचित्त हो तुमको धर्म-शील जानें ॥ ५३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वात्रिंशः सर्गः

—※—

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिवैः सह।
लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा समुत्थानमथात्मवान्[1] ॥ १ ॥

अंगद के वाक्य सुन और लक्ष्मण को क्रुद्ध जान, धैर्यवान् सुग्रीव मंत्रियों सहित आसन छोड़, उठ बैठे ॥ १ ॥

सचिवानब्रवीद्वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम्।
मन्त्रज्ञान्मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठितान् ॥ २ ॥

सुग्रीव ने उन मंत्रियों से, जो विचार करने में बड़े निपुण थे श्रीरामचन्द्र की बड़ाई और अपनी छुटाई के विषय में कुछ भी न कह, यह कहा ॥ २ ॥

न मे दुर्व्याहृतं किञ्चिन्नापि मे दुरनुष्ठितम्।
लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥ ३ ॥

मुझे रह रह कर यह चिन्ता होती है कि, मैंने न तो उनको दुर्वचन कहे और न उनके साथ कोई बुरा वर्ताव ही किया, तब श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण के क्रुद्ध होने का कारण क्या है? ॥ ३ ॥

---

1 आत्मवान्—धैर्यवान्। (शि०)

असुहृद्भिर्ममामित्रैर्नित्यमन्तरदर्शिभिः ।
मम दोषानसम्भूताञ्श्रावितो राघवानुजः ॥ ४ ॥

मेरी समझ में तो यह आता है कि, मेरे वैरियों ने, जो सदा मेरे दोष ढूढ़ने में लगे रहते हैं, लक्ष्मण से मेरी झूठी शिकायत की है ॥ ४ ॥

अत्र तावद्यथाबुद्धि सर्वैरेव यथाविधि ।
भावस्य निश्चयस्तावद्विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥ ५ ॥

इस विषय में तुम सब लोग यथाविधि और यथाबुद्धि विचार कर, इस बात का ठीक निश्चय करो ॥ ५ ॥

न खल्वस्ति मम त्रासो लक्ष्मणान्नापि राघवात् ।
मित्रं त्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥ ६ ॥

मुझे श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का ज़रा भी डर नहीं है, परन्तु मित्र का अकारण अथवा विना अपराध क्रुद्ध होना ही भयप्रद है ॥ ६ ॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं परिपालनम् ।
अनित्यत्वाच्च चित्तानां प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ॥ ७ ॥

मैत्री करना तो सहज है, किन्तु मैत्री का निवाहना दुष्कर है, क्योंकि चित्त की अस्थिरता से ज़रा सी बात में प्रीति में अन्तर पड़ जाता है ॥ ७ ॥

अतो निमित्तं त्रस्तोऽहं रामेण तु महात्मना ।
यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न तन्मया ॥ ८ ॥

अतएव इन्हीं सब बातों को सोच विचार कर मैं महात्मा श्रीरामचन्द्र से डरता हूँ। क्योंकि मैं जो कुछ उनका उपकार कर सकता था, वह भी मैं अभी तक नहीं कर सका ॥ ८ ॥

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हनुमान्मारुतात्मजः* ।
उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥ ९ ॥

सुग्रीव के ये वचन सुन कर, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी मंत्रियों के बीच ऊहापोह कर बोले ॥ ९ ॥

सर्वथा नैतदाश्चर्यं यस्त्वं हरिगणेश्वर ।
न विस्मरसि सुस्निग्धमुपकारकृतं शुभम् ॥ १० ॥

हे कपिराज ! आप जो श्रीरामचन्द्र जी के उपकार को नहीं भूले —सो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि उपकारी महात्मा लोगों का स्वभाव ही ऐसा अच्छा होता है ॥ १० ॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः ।
त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ॥ ११ ॥

देखो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने ज़रा भी न डर कर, तुम्हारा प्रीति के लिये, दूर ही से उस इन्द्र के समान पराक्रमी वालि को मार डाला ॥ ११ ॥

सर्वथा प्रणयात्क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः ।
भ्रातरं सम्महितवाँल्लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १२ ॥

अतः इसमें ज़रा सा भी सन्देह नहीं कि, श्रीरामचन्द्र जी का तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध होना भी प्रेमयुक्त है। इसीसे उन्होंने कान्ति-वर्द्धन लक्ष्मण को तुम्हारे पास भेजा है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—" हनुमान्हरिपुङ्गवः ।"

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदांवर ।
फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छिवा ॥ १३ ॥

हे समय को पहचानने वालों में श्रेष्ठ ! तुमने मत्त हो कर, समय को नहीं जाना । देखिये हरे हरे पत्ते वाले छितिउन के पेड़, फूलों से लदफँद गये हैं और कल्याणकारिणी शरद ऋतु का आरम्भ हो चुका ॥ १३ ॥

निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रनष्टबलाहका ।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥ १४ ॥

आकाश में ग्रह और नक्षत्र सब निर्मल हो गये । मेघ जहाँ के तहाँ समा गये, अर्थात् आकाश में मेघ नहीं देख पड़ते । समस्त दिशाएं, नदियां और सरोवरें शोभा युक्त हो रही हैं ॥ १४ ॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नावैषि हरिपुङ्गव ।
त्वं प्रमत्त इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥ १५ ॥

हे कपिप्रवर ! सीता जी के ढूँढ़ने के लिये उद्योग करने का समय आ गया, किन्तु आपने इस पर कुछ भी ध्यान न दिया । अतः आपको असावधान जान, लक्ष्मण जी यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात् ।
वचनं मर्षणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी इस समय स्त्री हर जाने के कारण पीड़ित हो रहे हैं, अतः दूसरे पुरुष के मुख से तुमको कठोर वचन सुनने ही पड़ेंगे ॥ १६ ॥

कृतापराधस्य हि ते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम् ।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ १७ ॥

अब तो हाथ जोड़ कर लक्ष्मण से क्षमाप्रार्थना करने ही से, मुझे तुम्हारी भलाई देख पड़ती है। क्योंकि समय चूक जाने का अपराध तुमसे बन पड़ा है ॥ १७ ॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम् ।
अत एव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं[1] वचः ॥ १८ ॥

राजकार्य में लगे हुए मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे राजा से हितकारी बात कहैं। इसीसे निर्भय हो मैंने निश्चय हितकर वचन कहे हैं ॥ १८ ॥

अभिक्रुद्धः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः ।
सदेवासुरगन्धर्वं वशे स्थापयितुं जगत् ॥ १९ ॥

देखिये श्रीरामचन्द्र जी में इतनी सामर्थ्य है कि, यदि कुपित हों, तो वे धनुष द्वारा देव, असुर गन्धर्व सहित इस जगत को अपने वश में कर सकते हैं ॥ १९ ॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत् ।
पूर्वोपकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥ २० ॥

ऐसे पुरुष को नाराज़ न करना चाहिये, जिसको पीछे प्रसन्न करना पड़े और विशेष कर पहले किये हुए अपने प्रति उपकारों को स्मरण कर, उपकार करने वाले कृतज्ञ पुरुष को ॥ २० ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे ॥ २१ ॥

हे राजन् ! आप पुत्र तथा सुहृज्जनों को अपने साथ ले लक्ष्मण के पास जाइये और सीस नवा उनको प्रणाम कीजिये और जिस

---

१ अवधृतं—हितत्वेन निश्चितं । (शि०)

प्रकार भार्या अपने भर्त्ता के वश में रहती है, वैसे ही समय आने पर आप उनके कहने में चलिये ॥ २१ ॥

न रामरामानुजशासनं त्वया
कपीन्द्र युक्तं मनसाप्यपोहितुम् ।
मनो हि ते ज्ञास्यति मानुषं बलं
सराघवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥ २२ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

हे कपिराज ! श्रीरामचन्द्र और उनके भाई श्रीलक्ष्मण जी की आज्ञा के उल्लङ्घन की मन में कल्पना करना भी आपको उचित नहीं। क्योंकि इन्द्र तुल्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी कैसे बलवान हैं यह तो आप जानते ही हैं ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—※—

अथ प्रतिसमादिष्टो[1] लक्ष्मणः परवीरहा ।
प्रविवेश गुहां रम्यां* किष्किन्धां रामशासनात् ॥ १ ॥

किष्किन्धा में चलने के लिये अंगद द्वारा प्रार्थना किये जाने पर, श्रीराम की आज्ञा से आये हुए शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी, सुन्दर किष्किन्धा पुरी में घुसे ॥ १ ॥

---

१ प्रतिसमादिष्टः—प्रत्याहूता । अङ्गदेनेति शेषः । (गो०) * पाठान्तरे "घोरां ।"

द्वारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः ।
बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ २ ॥

द्वार पर खड़े हुए बड़े बड़े डीलडौल वाले महाबलवान वानर, लक्ष्मण जी को देखते ही, हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

निःश्वसन्तं तु तं दृष्ट्वा क्रुद्धं दशरथात्मजम् ।
बभूवुर्हरयस्त्रस्ता न चैनं पर्यवारयन्[1] ॥ ३ ॥

क्रोध से निःश्वास छोड़ते हुए लक्ष्मण को देख, वानरगण ऐसे डरे कि, उनके पीछे पीछे न जा सके ॥ ३ ॥

स तां रत्नमयीं श्रीमान्दिव्यां पुष्पितकाननाम् ।
रम्यां रत्नसमाकीर्णां[2] ददर्श महतीं गुहाम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मण जी ने, उस समय महती किष्किन्धा पुरी को जो रत्न-खचित, शोभामयी, दिव्य पुष्पित वनों से शोभित और रमणीक थी तथा जिसमें दूकानों पर रत्नों के ढेर लगे हुए थे, देखी ॥ ४ ॥

[3]हर्म्यप्रासादसम्बाधां[4] नानापण्योपशोभिताम् ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम् ॥ ५ ॥

उसमें अनेक धनियों के घर और देवगृह बने हुए थे। बाज़ारों में भाँति भाँति के माल बिक्री के लिये भरे पड़े थे। वहाँ पर ऐसे वृक्ष थे जो सदा सब ऋतुओं में फलते थे और वहाँ पुष्पित वृक्ष भी शोभित थे ॥ ५ ॥

---

१ नचैनं पर्यवारयन्—भयेन लक्ष्मणमुपगन्तुं नाशक्नुवन्नित्यर्थः । (गो०)
२ रत्नसमाकीर्णां—आपणस्थरत्नसमाकीर्णां । (गो०) ३ हर्म्याः धनिनांवासाः । (गो०) ४ प्रासादाः—देवगृहाः । (गो०)

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः ॥ ६ ॥

अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, दिव्य पुष्पों की मालाओं और वस्त्रों से शोभित, देखने में सुन्दर, देवताओं और गन्धर्वों के औरस से उत्पन्न वानरों से वह पुरी शोभायमान थी ॥ ६ ॥

चन्दनागरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिनाम् ।
मैरेयाणां मधूनां च सम्मोदितमहापथाम् ॥ ७ ॥

चन्दन, अगर, और कमल पुष्प पराग से सुगन्धित और मैरेय और मधु नाम की दो मदिराओं की गन्ध से सुवासित वहाँ के राजमार्ग थे ॥ ७ ॥

[विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैरुपशोभिताम्* ।]
ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः ॥ ८ ॥

वह नगरी विन्ध्याचल और मेरु पर्वत के समान बड़े ऊँचे ऊँचे भवनों से शोभित थी। लक्ष्मण जी ने अनेक निर्मल जल वाली पहाड़ी नदियां भी वहाँ देखीं ॥ ८ ॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च ।
गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च ॥ ९ ॥
विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमतः ।
वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः ॥ १० ॥
कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा ।
दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रासादैर्नैकभूमिभिः । "

एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम् ।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि[1] लक्ष्मणः ॥ १२ ॥

उस नगरी में राजमार्ग के अगल बगल अंगद, मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शरभ, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, हनुमान, वीरबाहु, सुबाहु, नल, कुमुद, सुषेण, तार, जाम्बवान, दधिवक्त्र नील, सुपाटल और सुनेत्र इन प्रधान प्रधान महाबलवान वानरों के भवन, जो बड़े सुन्दर और दृढ़ बने थे, लक्ष्मण जी ने देखे ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

पाण्डुराभ्रप्रकाशानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।
प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ १३ ॥

वे भवन सफेद मेघों की तरह चमकते थे, गन्ध मालाओं से भूषित थे। धन, धान्य, से भरे पूरे और सुन्दरी स्त्रियों से शोभित थे ॥ १३ ॥

पाण्डुरेण[2] तु सालेन परिक्षिप्तं दुरासदम् ।
वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदनोपमम् ॥ १४ ॥

वानरेन्द्र सुग्रीव जी का घर चूने की अस्तरकारी की चहारदीवारी के भीतर बना था। वह चहारदीवारी इतनी ऊँची थी कि, उसके भीतर सहसा कोई जा नहीं सकता था। कपिराज का भवन इन्द्र के भवन की तरह बड़ा सुन्दर बना हुआ था ॥ १४ ॥

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः ।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम् ॥ १५ ॥

---

१ महासाराणि—अतिदृढानि । (गो०) २ पाण्डुरेणतुसालेन—सुधाधवलितप्रकारेण । (गो०)

उस भवन की सफेद रंग की अटारियां, हिमाच्छादित कैलास-शिखर जैसी जान पड़ती थी। उसके भीतर ऐसे फल फूल के वृक्ष सुशोभित थे, जो सदासर्वदा फला फूला करते थे ॥ १५ ॥

महेन्द्रदत्तैः श्रीमद्भिर्नीलजीमूतसन्निभैः ।
दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोहरैः ॥ १६ ॥

ये सब वृक्ष स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले इन्द्र के दिये हुए थे। और अत्यन्त कान्ति युक्त श्याम मेघ घटा की तरह दिव्य पुष्पों और फलों के देने वाले (भी) थे। इनकी शीतल छाया मनोहारिणी थी ॥ १६ ॥

हरिभिः संवृतद्वारं बलिभिः शस्त्रपाणिभिः ।
दिव्यमाल्यावृतं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥ १७ ॥

राजभवन के द्वार पर बलवान् और हाथों में अस्त्र शस्त्र लिये हुए वानर खड़े पहरा दे रहे थे। दिव्य मालाओं से भूषित, श्वेत रंग के, और सोने की वन्दनवारों से शोभित ॥ १७ ॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः ।
अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव भास्करः ॥ १८ ॥

कपिराज सुग्रीव के मनोहर भवन में महाबली लक्ष्मण जी ने प्रवेश किया। उस समय लक्ष्मण जी राजभवन में बेरोकटोक ऐसे चले जाते थे, जैसे महामेघमण्डल में सूर्य जाते हैं ॥ १८ ॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा नानाजनसमाकुलाः ।
प्रविश्य सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत् ॥ १९ ॥

वानरों से भरी पूरी और अत्यन्त सुरक्षित सात ड्योढ़ियों को नाघ, लक्ष्मण जी ने सुग्रीव का विशाल अन्तःपुर (रनवास) देखा ॥ १९ ॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्रोपशोभितम् ॥ २० ॥

अन्तःपुर के भीतर जहाँ तहाँ सोने चाँदी के पलंग, अनेक प्रकार के बैठने के लिये मञ्च (पीढ़े), जिन पर बढ़िया कीमती बिछौने बिछे थे, रखे हुए थे ॥ २० ॥

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वरम् ।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समगीतपदाक्षरम् ॥ २१ ॥

रनवास में जाते ही लक्ष्मण जी ने मधुर स्वर में, ताल लै से युक्त और वीणा के ऊपर गाया जाने वाला गाना सुना ॥ २१ ॥

वह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः ।
स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ॥ २२ ॥

लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के रनवास में रूप और यौवन के मद से मतवाली बहुत सी और विविध आकार प्रकार की स्त्रियाँ देखीं ॥२२॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नाश्चित्रमाल्यकृतस्रजः ।
फलमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोत्तमभूषिताः ॥ २३ ॥

ये स्त्रियाँ उत्तम कुलवती थीं, और उत्तम मालाएँ और आभूषणों से भूषित थीं तथा पुष्प मालाएँ गूंथने एवं फल-संग्रह करने में लगी हुई थीं ॥ २३ ॥

नातृप्तान्नापि चान्यग्रान्नानुदात्तपरिच्छदान् ।
सुग्रीवानुचरांश्चापि लक्षयामास लक्ष्मणः ॥ २४ ॥

लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के नौकर चाकरों को भी देखा, जो सन्तुष्ट थे और अपने मालिक के कामों को बड़ी सावधानी से कर रहे थे तथा साफ सुथरी और बढ़िया पोशाकें पहिने हुए थे ॥ २४ ॥

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदं तथा ।
सन्निशम्य ततः श्रीमान्सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥ २५ ॥

नूपुर और करधनी की झनकार सुन, श्रीमान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी लज्जित हुए ॥ २५ ॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाभरणस्वनम् ।
चकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ २६ ॥

उन आभूषणों की झनकार सुन वीर लक्ष्मण जी क्रुद्ध हुए और अपने धनुष के रोदे का ऐसा टंकोरा कि उसका शब्द दशों दिशाओं में छा गया (और आभूषणों की झमाझम का शब्द दब गया) ॥ २६ ॥

चारित्रेण महाबाहुरपकृष्टः स लक्ष्मणः ।
तस्थावेकान्तमाश्रित्य रामशोकसमन्वितः ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के शोक से विकल एवं चरित्रवान् लक्ष्मण जी और आगे न जा सके और वहीं एकान्त स्थान देख (जहाँ स्त्रियों का आना जाना नहीं होता था) खड़े हो गये ॥ २७ ॥

तेन चापस्वनेनाथ सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
विज्ञायाऽऽगमनं त्रस्तः सञ्चचाल वरासनात् ॥ २८ ॥

वानरराज सुग्रीव उस धनुष की टंकार सुन जान गये कि, लक्ष्मण जी आ पहुँचे। इससे वे ऐसे डरे कि, अपना बहुमूल्य आसन छोड़ उठ खड़े हुए ॥ २८ ॥

अङ्गदेन यथा मह्यं पुरस्तात्प्रनिवेदितम् ।
सुव्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥ २९ ॥

और बोले कि, अंगद ने मुझसे जैसा कहा था, तदनुसार भ्रातृ-वत्सल लक्ष्मण जी आ पहुँचे ॥ २९ ॥

अङ्गदेन समाख्यातं ज्यास्वनेन च वानरः ।
बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत ॥ ३० ॥

सुग्रीव, अंगद के मुख से लक्ष्मण का आगमन पहले ही सुन चुके थे, इस बार उनका उनके धनुष के रोदे का टंकार सुन पड़ी। इससे लक्ष्मण का आगम प्रत्यक्ष जान, वानरराज का मुख डर के मारे सूख गया ॥ ३० ॥

ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम् ।
उवाच हितमव्यग्रस्त्रासससम्भ्रान्तमानसः ॥ ३१ ॥

पहिले तो वानरश्रेष्ठ सुग्रीव, डर के मारे घबड़ा गये, किन्तु फिर सम्हल कर, उन्होंने सुन्दरी तारा से अपनी भलाई के लिये सावधानी से ये वचन कहे ॥ ३१ ॥

किन्नु तत्कारणं सुभ्रु प्रकृत्या मृदुमानसः ।
सरोष इव सम्प्राप्तो येनायं राघवानुजः ॥ ३२ ॥

हे सुन्दर भौंहों वाली ! लक्ष्मण जी के क्रुद्ध होने का क्या कारण है ? लक्ष्मण जी तो स्वभाव ही से कोमलचित्त हैं, फिर ये कुपित हो क्यों आये हैं ॥ ३२ ॥

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते ।
न खल्वकारणे कोपमाहरेन्नरसत्तमः ॥ ३३ ॥

हे अनिन्दिते ! राजकुमार के कुपित होने का कारण तुम्हारी समझ में क्या आता है ? नरश्रेष्ठ लक्ष्मण जी कभी अकारण क्रोध करने वाले नहीं हैं ॥ ३३ ॥

यदस्य कृतमस्माभिर्बुध्यसे किञ्चिदप्रियम् ।
तद्बुद्ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमर्हसि भाषितुम् ॥ ३४ ॥

यदि तुम्हारी समझ में मेरा कोई अपराध आये, तो विचार कर शीघ्र उसके लिये कोई उपाय बतलाओ ॥ ३४ ॥

अथ वा स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि* ।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

अथवा, हे भामिनि ! तुम स्वयं जा कर उनसे मिलो और समझा बुझा कर, उनको प्रसन्न करो ॥ ३५ ॥

त्वदर्शनविशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति ।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम् ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण जी शुद्धान्तःकरण वाले हैं अतः वे तुझे देख कुपित न होंगे । क्योंकि महात्मा लोग (अर्थात् सभ्य लोग) स्त्रियों के साथ कठोर व्यवहार नहीं करते ॥ ३६ ॥

त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम् ।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिन्दमम् ॥ ३७ ॥

जब तेरे समझाने बुझाने से उनका क्रोध शान्त हो जायगा और वे प्रसन्न हो जायंगे, तब मैं उन शत्रुहन्ता और कमल-नयन लक्ष्मण जी से भेंट करूँगा ॥ ३७ ॥

---

* पाठान्तरे "—भाषितुम् ।"

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा।
सुलक्षणा लक्ष्मणसन्निधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः[1] ॥ ३८ ॥

सुग्रीव के कथनानुसार सुलक्षणा तारा, लक्ष्मण जी के पास गयी; किन्तु मारे नशे के उस समय उसकी आँखें चढ़ी हुई थीं, करधनी और सुवर्ण हार की लरें अस्तव्यस्त हो लटक रही थीं। मारे नशे के उसके पैर लड़खड़ा रहे थे और स्तन के बोझ से वह झुकी जाती थी ॥ ३८ ॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं
तस्थावुदासीनतया महात्मा।
अवाङ्मुखोऽधून्मनुजेन्द्रपुत्रः
स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः ॥ ३९ ॥

उस समय वीरवर राजकुमार लक्ष्मण जी, कपिराज की पत्नी को देख, उदास हुए और नीचे मुख कर खड़े रहे। तारा को देख कर, उनका क्रोध भी दूर हो गया ॥ ३९ ॥

सा पानयोगाद्विनिवृत्तलज्जा
दृष्टिप्रसादाच्च नरेन्द्रसूनोः।
उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं महार्थं परिसान्त्वपूर्वम् ॥ ४० ॥

---

१ नमिताङ्गयष्टिः—स्तनभारेणेतिशेषः। (शि०)

मद्यपान के कारण तारा लज्जाहीन तो थी ही, फिर जब उसने लक्ष्मण जी की दृष्टि नर्म देखी, तब तो वह ढीठ हो कर, प्रेम पूर्वक अर्थगर्भित ऐसे वचन बोली, जिनसे लक्ष्मण जी स्वस्थ हो जायँ ॥ ४० ॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न सन्तिष्ठति वाङ्निदेशे ।
कः शुष्कवृक्षं वनमापतन्तं
दवाग्निमासीदति निर्विशङ्कः ॥ ४१ ॥

हे राजकुमार ! आप क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं, किसने आपके आदेश को अवहेला की है । वह कौन जन है, जो निर्भय हो, शुष्क वन में आग लगा, अग्नि में स्वयं भस्म होना चाहता है ॥ ४१ ॥

स तस्या वचनं श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितम्* ।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं[1] लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

लक्ष्मण जी, तारा के ऐसे प्रेमसने, निर्भीक और सान्त्वनाप्रद वाक्य सुन कर, अतिशय स्नेह दिखलाने के प्रयोजन से (ये वचन) बोले ॥ ४२ ॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः ।
भर्ता भर्तृहिते युक्ते न चैनमवबुध्यसे ॥ ४३ ॥

यह क्या बात है, तुम्हारा पति धर्म और अर्थ का नाश करने के लिये कामासक्त हो रहा है । तुम तो उसकी हितैषिणी हो, सो तुम भी तो नहीं चेतती ॥ ४३ ॥

---

१ प्रणयदृष्टार्थं—स्नेहसन्दर्शित प्रयोजनं । (गो०) * पाठान्तरे "असंशयम् ।"

न चिन्तयति राज्यार्थं नास्माञ्शोकपरायणान् ।
सामात्यपरिषत्तारे पानमेवोपसेवते ॥ ४४ ॥

न तो तुम्हारे पति को राजकाज की कुछ चिन्ता है और न हम दुखियारों ही को उनको कुछ फिक्र है। (यहाँ तक कि) उसने राजकाज चलाने को एक मामूली परिषद् बना रखी है और स्वयं वह केवल मद्य पिया करता है ॥ ४४ ॥

स मासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः ।
व्यतीतांस्तान्मदव्यग्रो विहरन्नाववुध्यते ॥ ४५ ॥

देखो, कपिराज ने चार मास बाद सीता को ढूढ़ने की प्रतिज्ञा की थी। सो वे चार मास भी बीत गये। किन्तु शराब पी कर विहार करने में मग्न हो, उसे इस बात को कुछ भी चिन्ता नहीं है ॥ ४५ ॥

न हि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेवं प्रशस्यते ।
पानादर्थश्च धर्मश्च कामश्च परिहीयते ॥ ४६ ॥

धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिये शराब पीना अच्छा नहीं है। क्योंकि शराब पीने से धर्म, अर्थ और काम नष्ट हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

धर्मलोपो महांस्तावत्कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।
अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशे गुणवतो महान् ॥ ४७ ॥

उपकारी को उपकार द्वारा बदला न दिया जाय, तो धर्म का नाश होता है। गुणवान् मित्र के साथ यदि विरोध हो गया अथवा मैत्री न रही, तो इससे अर्थनाश होता है अर्थात् बड़ी हानि होती है ॥ ४७ ॥

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम् ।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

मित्र को चाहिये कि, वह अपने श्रेष्ठ गुण से मित्र का काम पूरा करे और मित्र के साथ सत्यधर्मयुक्त अर्थात् सच्चा व्यवहार करे। सुग्रीव ने इन दोनों ही को त्याग दिया। अतः वह धर्मात्मा या धर्मपथारूढ़ नहीं कहा जा सकता ॥ ४८ ॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये कार्यमस्माभिरुत्तरम् ।
यत्कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे तदुदाहर्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥

हे कार्यतत्वज्ञे तारे ! इस समय इस तरह के उपस्थित कार्य में हमें आगे क्या करना चाहिये, सो तू बतला ॥ ४९ ॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं
निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम् ।
तारा गतार्थे मनुजेन्द्रकार्ये
विश्वासयुक्तं तमुवाच भूयः ॥ ५० ॥

इस प्रकार के धर्म और अर्थ युक्त और प्रकृतमधुर लक्ष्मण जी के वचनों को सुन तारा, श्रीरामचन्द्र के उस काम के सम्बन्ध में, जिसकी अवधि बीत चुकी थी, विश्वास दिलाती हुई, पुनः बोली ॥ ५० ॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र
न चातिकोपः स्वजने विधेयः ।
त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य
प्रमादमप्यर्हसि वीर सोढुम् ॥ ५१ ॥

हे राजकुमार! न तो यह क्रुद्ध होने का समय है और न स्वजनों पर क्रुद्ध होना ही उचित है। परन्तु आपके काम में तत्पर जन से यदि कुछ भूल चूक बन पड़ी हो, तो उसे आप क्षमा करें ॥ ५१ ॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः
कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे ।
कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छे-
त्सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः ॥ ५२ ॥

हे कुमार, तुम्हारे जैसा उत्कृष्ट गुणों वाला ऐसा जन कौन होगा, जो अपने से हीन बलवाले जन पर तुम्हारे जैसा कोप करे। और कौन ऐसा सतोगुणी और तपस्विप्रवर होगा, जो इस प्रकार कोप के वशीभूत हो जाय ॥ ५२ ॥

जानामि रोषं हरिवीरबन्धोः
जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम् ।
जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं नः
तच्चापि जानामि यदत्र कार्यम् ॥ ५३ ॥

उस वानरबन्धु पर श्रीरामचन्द्र जी के कुपित होने का कारण मुझे मालूम है और मैं यह भी जानती हूँ कि, सीता के ढूढ़ने का उद्योगकाल उपस्थित है। आपने हम लोगों का जो उपकार किया है और आप लोगों के प्रति हम लोगों का जो कर्त्तव्य है, वह भी मुझे मालूम है ॥ ५३ ॥

तच्चापि जानामि यथाऽविषह्यं
बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य ।

जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं
कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य ॥ ५४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! शरीर में कामदेव का जैसा बल होता है, सो मुझे मालूम है। और काम के वेग से सुग्रीव जिस जन में फँस कर, आपकेकार्य को भूले हुए हैं, यह भी मैं जानती हूँ ॥ ५४ ॥

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति
त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः ।
न देशकालौ हि न चार्थधर्मा-
वपेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ॥ ५५ ॥

आपकी प्रवृत्ति रतिक्रीड़ा में न होने ही से आप क्रुद्ध हुए हैं। जो मनुष्य काम के वश में हो जाता है, वह देश, काल, अर्थ और धर्म में से किसी की भी परवाह नहीं करता ॥ ५५ ॥

तं कामवृत्तं मम सन्निकृष्टं
कामाभियोगाच्च निवृत्तलज्जम् ।
क्षमस्व तावत्परवीरहन्त-
स्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम् ॥ ५६ ॥

सो हे शत्रुहन्ता ! इस समय आप अपने भाई उस वानरराज को, जो कामासक्त हो, निर्लज्ज हो गया है और आपके डर से मेरे पास छिपा हुआ है, क्षमा कीजिये ॥ ५६

महर्षयो धर्मतपोभिकामाः
कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः ।

अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु
कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥ ५७ ॥

क्योंकि जब बड़े बड़े महर्षि भी, जो वर्णाश्रमधर्मपालन में दृढ़ता से तत्पर हो, तपस्या किया करते हैं, कामासक्त हो, ऐसे अज्ञानी हो जाते हैं कि, फिर उन्हें धर्म कर्म की कुछ भी परवाह नहीं रहती, तब सुग्रीव तो जाति का वानर होने से वैसे ही चपल स्वभाव का है और तिस पर वह राजा है। वह भला क्यों न इन्द्रियों के सुखोपभोग में आसक्त हो ? ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
सा वानरी लक्ष्मणमप्रमेयम् ।
पुनः सखेलं मदविह्वलं च
भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ५८ ॥

वह मदघूर्णितनयना वानरी तारा, इस प्रकार अतुलित बुद्धिसम्पन्न लक्ष्मण जी को समझा कर, फिर भी लीला पूर्वक अपने पति का हित करने वाले यह वचन बोली ॥ ५८ ॥

उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम ।
कामस्यापि विधेयेन तवार्थमतिसाधने ॥ ५९ ॥

हे नरोत्तम ! यद्यपि सुग्रीव कामासक्त है, तथापि उसने आपके काम के लिये अपने मंत्रियों को बहुत दिन हुए तभी आज्ञा दे दी थी ॥ ५९ ॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः ।
कोटीशतसहस्राणि नानानगनिवासिनः ॥ ६० ॥

भिन्न भिन्न पर्वतों पर बसने वाले, यथेच्छ रूप धारण करने वाले महापराक्रमी सैकड़ों हज़ारों करोड़ वानर, यहाँ आ पहुँचे हैं ॥ ६० ॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं[1] रक्षितं त्वया ।
अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥ ६१ ॥

हे महाबाहो ! आपने अन्तःपुर में प्रवेश न कर, सदाचार की भली भाँति रक्षा की है। अब रनवास में चलिये, क्योंकि खोटी दृष्टि से मित्र की स्त्री को न देखना चाहिये, अथवा कपट रहित, मित्र भाव से मित्र की स्त्री को देखना दोषावह नहीं है ॥ ६१ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वरया चापि चोदितः ।
प्रविवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिन्दमः ॥ ६२ ॥

शत्रुनाशक महाबाहु लक्ष्मण जी, तारा की अनुमति तथा उसके शीघ्र भीतर चलने का अनुरोध करने से अन्तःपुर में गये ॥ ६२ ॥

ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने ।
महार्हास्तरणोपेते ददर्शादित्यसन्निभम् ॥ ६३ ॥

अन्दर जा कर लक्ष्मण जी ने देखा कि, सूर्य के समान प्रकाशमान सुग्रीव सोने के मञ्च पर, जिस पर बड़ा मूल्यवान् बिछौना बिछा था, बैठे हुए हैं ॥ ६३ ॥

दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपं यशस्विनम् ।
दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥ ६४ ॥

---

१ चारित्रं रक्षितं त्वया—अन्तःपुरस्त्रीबलोकनेनमनुचितमिति बहिरेव तिष्ठता त्वयासदाचारः सम्यगनुष्ठित इत्यर्थः । (गो०)

उस समय यशस्वी सुग्रीव दिव्य गहने दिव्य वस्त्र और दिव्य पुष्प मालाओं के पहिनने से बड़े सुन्दर और इन्द्र की तरह दुर्जेय देख पड़ते थे ॥ ६४ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम् ।
संरब्धतररक्ताक्षो बभूवान्तकसन्निभः ॥ ६५ ॥

अच्छे अच्छे गहने और पुष्प मालाएँ पहिने हुए स्त्रियाँ सुग्रीव के चारों ओर बैठी हुई थीं। इस प्रकार सुग्रीव को बैठे हुए देख लक्ष्मण जी की आँखें मारे क्रोध के लाल हो गयीं और वे दूसरे काल की मूर्त्ति की तरह भयानक देख पड़ने लगे ॥ ६५ ॥

रुमां तु वीरः परिरभ्य गाढं
वरासनस्थो वरहेमवर्णः ।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्त्वं
विशालनेत्रः सुविशालनेत्रम् ॥ ६६ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रेष्ठ सुवर्णवर्ण, उत्तम आसन पर स्थित, विशाल नेत्र, सुग्रीव ने रुमा को चिपटाये हुए, महावीर्यवान् विशाल नेत्र वाले लक्ष्मण जी को देखा ॥ ६६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—※—

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम् ।
सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः ॥ १ ॥

पुरुषश्रेष्ठ लक्ष्मण को क्रुद्ध और बिना रोक टोक आते हुए देख, सुग्रीव बहुत घबड़ा उठे ॥ १ ॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं तं प्रदीप्तमिव तेजसा ।
भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम् ॥ २ ॥

उस समय दशरथनन्दन लक्ष्मण जी मारे क्रोध के फुंसकार मारते थे और उनका चेहरा तमतमा रहा था। क्योंकि वे भाई के दुःख से सन्तप्त हो रहे थे। लक्ष्मण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, ॥ २ ॥

उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम् ।
महान्महेन्द्रस्य यथा स्वलंकृत इव ध्वजः ॥ ३ ॥

कपिप्रवर सुग्रीव अपने सोने का सिंहासन छोड़, इन्द्र की अलंकृत बड़ी ध्वजा की तरह उठ खड़े हुए ॥ ३ ॥

उत्पतन्तमनूत्पेतू रुमाप्रभृतयः स्त्रियः ।
सुग्रीवं गगने पूर्णचन्द्रं तारागणा इव ॥ ४ ॥

सुग्रीव के खड़े होते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उठ खड़ी हुईं। उस समय उन स्त्रियों के बीच सुग्रीव की ऐसी शोभा हुई, जैसी आकाश में तारों के बीच चन्द्रमा की होती है ॥ ४ ॥

संरक्तनयनः श्रीमान्विचचाल कृताञ्जलिः ।
बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव ॥ ५ ॥

श्रीमान् अरुण नेत्र सुग्रीव हाथ जोड़ लक्ष्मण के निकट जा, महान् कल्पवृक्ष की तरह खड़े हो गये ॥ ५ ॥

रुमाद्वितीयं सुग्रीवं नारीमध्यगतं स्थितम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा ॥ ६ ॥

क्रुद्ध हुए लक्ष्मण जी ने, तारों के बीच स्थित चन्द्रमा की तरह, रुमा तथा दूसरी पत्नी तारा के साथ अन्य स्त्रियों के बीच खड़े हुए सुग्रीव से कहा ॥ ६ ॥

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, दयालु, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ और सत्यवादी राजा ही लोक में पूजा जाता है ॥ ७ ॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम् ।
मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः ॥ ८ ॥

किन्तु जो राजा उपकारी मित्रों के सामने प्रतिज्ञा कर के उसे पूरी नहीं करता, उससे बढ़ कर नृशंस और कौन हो सकता है ॥ ८ ॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते ।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते ॥ ९ ॥

एक घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का पाप, और एक गाय के बारे में झूठ बोलने से एक हजार गायें मारने का पाप लगता है और पुरुष के विषय में झूठ बोलने से आत्महत्या और स्वजनहत्या का पाप लगता है ॥ ९ ॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः ।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर ॥ १० ॥

हे वानरराज ! प्रथम मित्र से उपकार प्राप्त कर, पीछे जो उस उपकार का बदला नहीं चुकाता, वह पुरुष कृतघ्न कहलाता है और समस्त प्राणियों द्वारा मार डालने के योग्य है ॥ १० ॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः ।
दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तं निबोध प्लवङ्गम ॥ ११ ॥

हे वानर ! सर्वलोकनमस्कृत ब्रह्मा जी ने कृतघ्न पुरुष को देख और क्रुद्ध हो यह श्लोक कहा था । उसे सुनो ॥ ११ ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १२ ॥

सत्पुरुषों के मतानुसार, ब्राह्मण के मारने वाले का, मद्य पीने वाले का, चोर का और व्रतभङ्ग करने वाले का उद्धार हो भी सकता है, किन्तु कृतघ्नी का उद्धार किसी प्रकार नहीं हो सकता । अथवा ब्रह्महत्यारे का, मद्यप का, चोर का, और व्रतभङ्ग करने वाले का तो प्रायश्चित हो सकता है, पर कृतघ्नो का नहीं ॥ १२ ॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर ।
पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत् ॥ १३ ॥

हे वानर ! तुम नीच, कृतघ्न और झूठे हो। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा अपना काम निकाल कर, तुम उनका काम नहीं कर रहे हो ॥ १३ ॥

ननु नाम कृतार्थेन त्वया रामस्य वानर।
सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छता[1] ॥ १४ ॥

हे वानर ! जब श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारा काम कर दिया, तब उनके उस उपकार का स्मरण कर उनकी सीता का पता लगाना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है ॥ १४ ॥

स त्वं ग्राम्येषु भोगेषु सक्तो मिथ्याप्रतिश्रवः।
न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम् ॥ १५ ॥

परन्तु तुम तो झूठी प्रतिज्ञा करने वाले बन कर, नीच भोगों में फँसे हुए हो। (खेद है) श्रीरामचन्द्र जी, मेढक पकड़ने के लिये मेढक की बोली बोलने वाले सर्प जैसे तुमको न पहचान सके ॥ १५ ॥

महाभागेन रामेण पापः करुणवेदिना।
हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुरात्मा महात्मना ॥ १६ ॥

देखो महाभाग और महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने दया कर तुम जैसे पापिष्ठ और दुष्ट को वानरों का राज्य दिला दिया है ॥ १६ ॥

कृतं चेन्नाभिजानीषे रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
सद्यस्त्वं निशितैर्बाणैर्हतो द्रक्ष्यसि वालिनम् ॥ १७ ॥

यदि तुम अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के किये हुए उपकार का ख़याल न करोगे, तो शीघ्र ही तुम उनके बाणों से प्राणत्याग कर वालि से भेंट करोगे ॥ १७ ॥

---

१ कृतमिच्छता—उपकारं स्मरता। (गो०)

न च सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ १८ ॥

जिस मार्ग से वालि मारा जा कर, गया है, वह मार्ग बंद नहीं हो गया। अतः तुम अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहो और वालि के पथ का अनुसरण मत करो ॥ १८ ॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुक-
च्युताञ्शरान्पश्यसि वज्रसन्निभान्।
ततः सुखं नाम निषेवसे सुखी
न रामकार्यं मनसाऽप्यवेक्षसे ॥ १९ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

तुमने श्रीरामचन्द्र जी के कार्य को मन से भुला डाला है, अतः निश्चय ही तुम तभी तक यह सारा सुख भोग सकते हो, जब तक तुम श्रीरामचन्द्र जी के वज्र समान बाण उनके धनुष से छूटे हुए नहीं देखते ॥ १९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—※—

तथा ब्रुवाणं सौमित्रिं प्रदीप्तमिव तेजसा।
अब्रवील्लक्ष्मणं तारा ताराधिपनिभानना ॥ १ ॥

अपने तेज से देदीप्यमान लक्ष्मण जी ने जब इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब चन्द्रवदनी तारा लक्ष्मण जी से बोली ॥ १ ॥

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति ।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद्विशेषतः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण, आपको ऐसे कठोर वचन न कहने चाहिये । क्योंकि यह कपीश्वर हैं, अतः विशेष कर आपके मुख से तो, ऐसे वचन सुनने योग्य यह नहीं है ॥ २ ॥

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः ।
नैवानृतकथो वीर न जिह्मश्च कपीश्वरः ॥ ३ ॥

हे वीर ! यह सुग्रीव न तो कृतघ्नी हैं, न शठ हैं और न नृशंस ही हैं । यह कपिराज न तो झूठ बोलते हैं और न कपटी हैं ॥ ३ ॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः ।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इनका जो उपकार किया है, उसे यह भूले नहीं । क्योंकि जैसा उपकार युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी ने इनका किया है, वैसा और कोई नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

राममसादात्कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परन्तप ॥ ५ ॥

हे परन्तप ! श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह ही से सुग्रीव को यश को, परम्परागत वानरराज्य को, रुमा को और मेरी प्राप्ति हुई है ॥ ५ ॥

सुदुःखं शयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥ ६ ॥

जो बहुत दिनों तक कष्ट झेलने के बाद सुख पाता है, उसे समय जाता हुआ वैसे ही जान नहीं पड़ता, जैसे विश्वामित्र मुनि को नहीं जान पड़ा था ॥ ६ ॥

घृताच्यां किल संसक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण ।
अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! विश्वामित्र दस वर्ष तक घृताची* अप्सरा के साथ विहार करते रहे, किन्तु उन धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र को यह न जान पड़ा कि, दस वर्ष कब बीत गये ॥ ७ ॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदांवरः ।
विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥ ८ ॥

जब कि काल के जानने वालों में श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्र ही को (विषय भोग में फँस) समय का बोध नहीं हुआ, तब अन्य लोगों की बात ही क्या है ॥ ८ ॥

[1]देहधर्मं गतस्यास्य परिश्रान्तस्य लक्ष्मण ।
अवितृप्तस्य कामेषु कामं क्षन्तुमिहार्हसि ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! शरीरस्वभाव के वशवर्ती, श्रान्त, कामवासना से अतृप्त, इन सुग्रीव का अपराध आप श्रीरामचन्द्र जी से क्षमा करा दें ॥ ९ ॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण ।
[2]निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा ॥ १० ॥

---

१ देहधर्मं—शरीरस्वभावं । (गो०) २ निश्चयार्थं—निश्चयरूपमर्थं सुग्रीवाभिप्रायमिति । (गो०)

*बालकाण्ड में मेनका नाम आया है । अतः यहाँ घृताची से तारा का अभिप्राय मेनका से है । यह गोविन्दराज जी का मत है ।

श्रीरामचन्द्र और वानरराज सुग्रीव का मैत्री स्थापन

हे लक्ष्मण ! सुग्रीव का अभिप्राय निश्चित रूप से जाने विना, साधारण मनुष्य की तरह तुम्हारा सहसा क्रुद्ध होना ठीक नहीं ॥१०॥

सत्त्वयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्विधाः पुरुषर्षभ ।
अविमृश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम् ॥ ११ ॥

क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ ! आप जैसे सतोगुणी पुरुष विना विचारे क्रोध के वशवर्ती नहीं होते ॥ ११ ॥

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थे समाहिता ।
महान्रोषसमुत्पन्नः संरम्भः[1] त्यज्यतामयम् ॥ १२ ॥

हे धर्मज्ञ ! सुग्रीव की भलाई के लिये मैं एकाग्रचित्त हो आपको मना लेना चाहती हूँ । इस महान् क्रोध को और क्षोभ को त्यागिये ॥ १२ ॥

रुमां मां कपिराज्यं च धनधान्यवसूनि च ।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥ १३ ॥

मेरा तो यह मत है कि, सुग्रीव आवश्यकता आ पड़ने पर श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये रुमा को, मुझको, कपिराज्य को, पशुओं को, धान्य को और रत्नादि को भी त्याग देंगे ॥ १३ ॥

समानेष्यति सुग्रीवः सीतया सह राघवम् ।
शशाङ्कमिव रोहिण्या निहत्वा रावणं रणे ॥ १४ ॥

सुग्रीव रावण को युद्ध में मार कर, श्रीरामचन्द्र जी को सीता से वैसे ही मिला देंगे, जैसे रोहिणी चन्द्रमा से मिलती है ॥ १४ ॥

---

१ संरम्भः—संक्षोभः । (शि०)

शतकोटिसहस्राणि लङ्कायां किल राक्षसाः ।
अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ॥ १५ ॥

लङ्का में रावण के पास निश्चय ही इस समय दस खरब, चार लाख साठ हज़ार राक्षसों की सेना है ॥ १५ ॥

अहत्वा तांश्च दुर्धर्षान्राक्षसान्कामरूपिणः ।
न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हृता ॥ १६ ॥

उन दुर्धर्ष, कामरूपी राक्षसों को युद्ध में मारे विना, सीता को हर कर, अपने घर ले जाने वाले रावण का वध नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण ।
रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः ॥ १७ ॥

सो हे लक्ष्मण ! सुग्रीव उन राक्षसों को और विशेष कर उस पराक्रमी रावण को विना सहायता के नहीं मार सकेंगे ॥ १७ ॥

एवमाख्यातवान्वाली स ह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।
आगमस्तु न मे व्यक्तः* श्रवणात्तद्ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

कपिराज वालि इन बातों से परिचित थे सो, उन्हींसे मैंने ये बातें सुन रखी हैं । स्वयं इन सब बातों को जानकार मैं नहीं हूँ ॥ १८ ॥

त्वत्सहायनिमित्तं वै प्रेषिता हरिपुङ्गवाः ।
आनेतुं वानरान्युद्धे सुबहून्हरियूथपान् ॥ १९ ॥

आपकी सहायता के लिये कपिराज ने बहुत से वानरयूथप बुलवाये हैं और उनको बुलाने के लिये प्रधान वानर वीर भेजे हैं ॥ १९ ॥

* पाठान्तरे—" श्रवात्तस्मात् । "

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान्सुमहाबलान् ।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः ॥ २० ॥

यह उन विक्रमशाली और महाबलवान् वानरों के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन सब के आये विना श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिये यह कपिराज बाहर नहीं निकलते ॥ २० ॥

कृताऽत्र संस्था सौमित्रे सुग्रीवेण यथा पुरा ।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ॥ २१ ॥

सुग्रीव ने जैसी व्यवस्था पहिले से कर रखी है, उसके अनुसार तो उन सब महाबली वानरों को आज ही यहाँ पहुँच जाना चाहिये ॥ २१ ॥

ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलाङ्गूलशतानि च ।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिन्दम ।
कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां दीप्ततेजसाम् ॥ २२ ॥

हे अरिन्दम ! हे काकुत्स्थ ! करोड़ों रीछों, हज़ारों गोपुच्छों, और करोड़ों पराक्रमी वानरों की सेना आज आना ही चाहती है। अतः आप अपना क्रोध शान्त करें ॥ २२ ॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपा-
त्क्षतजनिभे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्ति
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः ॥२३॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! क्रोध से तमतमाता हुआ आपका चेहरा और आपकी लाल लाल आँखें देख, वानरराज की सब स्त्रियां घबड़ा रही हैं। क्योंकि वालि के वध को देख, उनके मन में पहिले ही से भय उत्पन्न हो गया है ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्त्रिंशः सर्गः

—※—

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ १ ॥

जब तारा ने इस प्रकार के विनीत और धर्मयुक्त वचन कहे, तब लक्ष्मण जी नरम पड़े और उसका कहना मान लिया ॥ १ ॥

तस्मिन्प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः ।
लक्ष्मणात्सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ॥ २ ॥

जब लक्ष्मण जी ने तारा की बात मान, क्रोध शान्त किया, तब सुग्रीव ने भी अपने भय को गीले वस्त्र की तरह त्याग दिया ॥ २ ॥

ततः कण्ठगतं माल्यं चित्रं बहुगुणं[1] महत् ।
चिच्छेद विमदश्चासीत्सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव ने अपने गले की चित्रविचित्र बहुविध भोगप्रद माला को तोड़ कर फेंक दिया और वे सचेत हो गये ॥ ३ ॥

---

१ बहुगुणं—बहुविधभोगप्रदं । (गो०)

स लक्ष्मणं भीमबलं सर्ववानरसत्तमः ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने महाबली लक्ष्मण को प्रसन्न करने के लिये उनसे विनीत भाव से कहा ॥ ४ ॥

प्रनष्टा श्रीश्च कीर्त्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात्सौमित्रे पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैंने स्त्री, यश और पुश्तैनी कपिराज्य, जो कि मेरे हाथ से निकल गया था, श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह ही से पुनः पाया है ॥ ५ ॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य* विख्यातस्य स्वकर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मजा ॥ ६ ॥

हे राजकुमार ! अनेक अद्भुत कर्मों के द्वारा विख्यात, देव-स्वरूप श्रीरामचन्द्र जी जैसे उपकारी का किञ्चितमात्र भी बदला कौन चुका सकता है ॥ ६ ॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी तो अपने ही पराक्रम से रावण को मार कर सीता को लावेंगे । मैं तो नाम मात्र का उनका सहायक रहूँगा ॥ ७ ॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः ।
शैलश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" ख्यातस्य स्वेन कर्मणा । तादृशं विक्रमं वीर प्रतिकर्तुमरिन्दम । "

जिस वीर ने एक ही बाण से सात साल वृक्षों को वेध कर पहाड़ और पृथिवी को फोड़ डाला, उसको दूसरे की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ॥ ८ ॥

धनुर्विष्फारयाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण ।
सशैला कम्पिता भूमिः सहायैस्तस्य किं नु वै ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! जिसके धनुष के रोदे की टंकार से पहाड़ों सहित पृथिवी भी कांप उठती है, उसको किसी की सहायता की क्या आवश्यकता हो सकती है ॥ ९ ॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।
गच्छतो रावणं हन्तुं वैरिणं सपुरःसरम् ॥ १० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जिस समय नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी रावण का वध करने को अग्रसर होंगे, उस समय मैं भी उनके पीछे हो लूंगा ॥ १० ॥

यदि किञ्चिदतिक्रान्तं विश्वासात्मणयेन वा ।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥ ११ ॥

यदि विश्वास अथवा प्रेम के वशवर्ती हो, इस दास से कोई अपराध बन आया हो, तो उस अपराध को वे क्षमा करें । क्योंकि ऐसा दास तो विरला ही होता है, जिससे स्वामी का कोई न कोई अपराध न बन पड़ता हो ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अभवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा* चैनमुवाच ह ॥ १२ ॥

महानुभाव सुग्रीव ने जब इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी प्रसन्न हुए और प्रीतिपूर्वक उनसे बोले ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—" चैव " ; " चेद । "

सर्वथा हि मम भ्राता सनाथो वानरेश्वर ।
त्वया नाथेन सुग्रीव प्रश्रितेन[1] विशेषतः ॥ १३ ॥

हे कपिराज ! मेरे भाई का मनोरथ सब प्रकार से पूरा होगा और विशेष कर उस दशा में, जब तुम्हारे जैसे विनम्र अथवा स्नेह-युक्त उनके सहायक हैं ॥ १३ ॥

यस्ते प्रभावः सुग्रीव यच्च ते शौचमार्जवम् ।
अर्हस्त्वं कपिराज्यस्य श्रियं भोक्तुमनुत्तमाम् ॥ १४ ॥

हे सुग्रीव ! जैसा तुम्हारा प्रभाव है, जैसा तुम्हारा शुद्ध व्यवहार है और जैसी तुममें सरलता है, इनसे तो तुम इस कपिराज-पद की उत्तम राज्यलक्ष्मी भोगने के सर्वथा योग्य हो ॥ १४ ॥

सहायेन च सुग्रीव त्वया रामः प्रतापवान् ।
वधिष्यति रणे शत्रूनचिरान्नात्र संशयः ॥ १५ ॥

तुम्हारी सहायता से बलवान् हो, श्रीरामचन्द्र जी शीघ्र ही युद्ध में अपने वैरी रावण को मारेंगे । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
उपपन्नं च युक्तं च सुग्रीव तव भाषितम् ॥ १६ ॥

हे सुग्रीव ! तुम मित्र धर्म को जानने वाले, कृतज्ञ, और रणक्षेत्र में पीठ न दिखाने वाले हो । तुम जो कुछ कहते हो सो सब उचित ही है ॥ १६ ॥

---

१. प्रश्रितेन—स्नेहयुक्तेन । (शि०)

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति ।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम ॥ १७ ॥

हे वानरोत्तम, मेरे ज्येष्ठ भ्राता को और तुमको छोड़, सामर्थ्य रखने वाला कौन पुरुष ऐसा होगा, जो अपने दोषों को जान कर, उन्हें अपने मुख से कहे ॥ १७ ॥

सदृशश्चासि रामस्य विक्रमेण बलेन च ।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुङ्गव ॥ १८ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम पराक्रम में और बल में, श्रीरामचन्द्र जी के समान हो । हे वानरश्रेष्ठ ! देवताओं की ओर से तुम हम लोगों को चिरकाल के लिये सहायक दिये गये हो ॥ १८ ॥

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्राम त्वं मया सह ।
सान्त्वयस्व वयस्यं त्वं भार्याहरणकर्शितम् ॥ १९ ॥

परन्तु हे वीर ! अब तुम मेरे साथ शीघ्र ही इस स्थान से चल कर, सीताहरण से दुःखी और अपने मित्र विकल श्रीरामचन्द्र जी को धीरज बँधाओ ॥ १९ ॥

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तच्च त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

हे मित्र ! शोक से विकल श्रीरामचन्द्र जी की बातें सुन, मैंने तुमसे जो कठोर वचन कहे—इसके लिये तुम मुझे क्षमा करो ॥ २० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—※—

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना।
हनुमन्तं स्थितं पार्श्वे सचिवं त्विदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा लक्ष्मण के वचन सुन, सुग्रीव, एक ओर खड़े हुए अपने सचिव हनुमान से यह बोले ॥ १ ॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च।
मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः ॥ २ ॥

जो वानर महेन्द्राचल, हिमाचल, विन्ध्याचल, कैलासशिखर और श्वेतशिखर वाले मन्दराचल पर रहते हैं ॥ २ ॥

तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु सर्वतः।
पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमायां तु ये दिशि ॥ ३ ॥

तथा जो पश्चिम दिशा में तरुण सूर्य तुल्य वर्ण वाले वानर, सदा प्रकाशमान, समुद्र तटवर्ती पर्वतों पर रहते हैं ॥ ३ ॥

आदित्यभवने[1] चैव गिरौ सन्ध्याभ्रसन्निभे।
पद्मतालवनं भीमं संश्रिता हरिपुङ्गवाः ॥ ४ ॥

तथा सन्ध्याकालीन मेघ की तरह उदयाचल और अस्ताचल पर और पद्मताल वन में जो भयङ्कर आकार वाले श्रेष्ठवानर रहते हैं ॥ ४ ॥

---

१ आदित्यभवने—उदयगिरौ। (गो०)

अञ्जनाम्बुदसङ्काशाः कुञ्जरप्रतिमौजसः ।
अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवङ्गमाः ॥ ५ ॥

तथा काले मेघों के समान डीलडौल वाले और गजेन्द्र की तरह पराक्रमी, जो वानर अञ्जन नामक पर्वत पर रहते हैं ॥ ५ ॥

*वनशैलगुहावासा वानराः कनकप्रभाः ।
मेरुपार्श्वगताश्चैव ये धूम्रगिरिसंश्रिताः ॥ ६ ॥

तथा जो सुनहली आभा वाले वानर, वनों में, पर्वत की कन्दराओं में रहते हैं, तथा जो मेरुपर्वत की बगल में रहने वाले तथा धूम्रपर्वत पर बसने वाले हैं ॥ ६ ॥

तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते च महारुणे ।
पिबन्तो मधु मैरेयं भीमवेगाः प्लवङ्गमाः ॥ ७ ॥

तथा जो वानर तरुण सूर्य की तरह रंग वाले हैं और मैरेय नाम की शराब पिया करते हैं और बड़े फुर्तीले हैं ॥ ७ ॥

वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च ।
तापसानां च रम्येषु वनान्तेषु समन्ततः ॥ ८ ॥

तथा जो वानर उन अत्यन्त सुवासित और रमणीय समस्त वनों में, जहाँ तपस्वियों के रमणीय आश्रम हैं, वास करते हैं ॥ ८ ॥

तांस्तान्समानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान् ।
सामदानादिभिः* सर्वैराशु प्रेषय वानरान् ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—" मनःशिला " ; " महाशैल । " † पाठान्तरे—" कल्पैराशु " ; " कल्पैर्वानरैर्वेगवत्तरैः " ; " कल्पैराशु प्रेरय । "

सारांश यह कि, पृथिवीमण्डल पर जहाँ जहाँ वानर हों, उन सब को, समझा बुझा कर, लालच दिखला कर, (जैसे बने वैसे) शीघ्र यहाँ बुला लो ॥ ९ ॥

प्रेषिताः प्रथमं ये च मया दूता महाजवाः ।
त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं हरीन्सम्प्रेषयापरान् ॥ १० ॥

मैंने शीघ्रगामी जिन दूतों को पहले भेजा था, उनसे अपना काम शीघ्रता पूर्वक पूरा कराने के लिये, तुम फिर और वानर भेजो ॥ १० ॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः ।
इहानयस्व तान्सर्वाञ्शीघ्रं तु मम शासनात् ॥ ११ ॥

जो वानर कामासक्त हैं या दीर्घसूत्री हैं, उनको मेरी आज्ञा सुना कर, तुरन्त यहाँ बुलवा लो ॥ ११ ॥

अहोभिर्दशभिर्ये हि नागच्छन्ति ममाज्ञया ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः ॥ १२ ॥

मेरी आज्ञा से जो वानर दस दिन के भीतर यहाँ न आ जायँगे, वे दुष्ट राजाज्ञा की अवहेला करने के अपराध में, जान से मार डाले जायँगे ॥ १२ ॥

शतान्यथ सहस्राणां कोट्यश्च मम शासनात् ।
प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः ॥ १३ ॥

जो सैकड़ों हज़ारों और करोड़ों श्रेष्ठवानर मेरे आज्ञानुवर्ती हैं, वे मेरी आज्ञा से तुरन्त यहाँ चले आवें ॥ १३ ॥

मेरुमन्दरसङ्काशाश्छादयन्त इवाम्बरम् ।
घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु मच्छासनादितः ॥ १४ ॥

आकाश को छा लेने वाले मेघों अथवा पर्वतों के सदृश डील डौल वाले और भयङ्कर रूपधारी श्रेष्ठवानर मेरी आज्ञा से तुरन्त यहाँ से जायँ ॥ १४ ॥

ते गतिज्ञा[1] गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः ।
आनयन्तु हरीन्सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम ॥ १५ ॥

सब वानरों के वासस्थानों को जानने वाले वे वानर, पृथिवी पर रहने वाले समस्त वानरों के वासस्थानों का पता लगा कर, मेरी आज्ञा से उनको तुरन्त यहाँ लिवा लावें ॥ १५ ॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः ।
दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान्प्रेषयामास वानरान् ॥ ॥ १६ ॥

वानरराज सुग्रीव के ये वचन सुन, पवननन्दन हनुमान जी ने सब दिशाओं में पराक्रमी वानर भेज दिये ॥ १६ ॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं[2] पतत्रिज्योतिरध्वगाः ।
प्रयाताः प्रहिता राज्ञा हरयस्तत्क्षणेन वै ॥ १७ ॥

सुग्रीव की आज्ञा से वे वानर पक्षियों और नक्षत्रों के आकाशस्थ मार्ग से, उसी क्षण रवाना हो गये ॥ १७ ॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरःसु च ।
वानरा वानरान्सर्वान्रामहेतोरचोदयन् ॥ १८ ॥

उन वानरों ने समुद्रतटों, पर्वतों, वनों और सरोवरों के रहने वाले वानरों को श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये सुग्रीव की आज्ञा कह सुनाई ॥ १८ ॥

---

१ गतिज्ञा—तत्स्थानभिज्ञः । (शि०) २ विष्णुविक्रान्तंपदं—आकाशं । (गो०)

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः ।
सुग्रीवस्याययुः श्रुत्वा सुग्रीवभयदर्शिनः ॥ १९ ॥

मृत्यु की तरह कपिराज सुग्रीव की उस आज्ञा को सुन कर और तदनुसार सुग्रीव के भय से त्रस्त हो, सब वानर सुग्रीव के पास जाने को प्रस्थानित हुए ॥ १९ ॥

ततस्तेऽञ्जनसङ्काशा गिरेस्तस्मान्महाजवाः ।
तिस्रः कोट्यः प्लवङ्गानां निर्ययुर्यत्र राघवः ॥ २० ॥

तदनन्तर कज्जल वर्ण और महाबली तीन करोड़ वानर अञ्जन-गिरि को छोड़, श्रीरामचन्द्र जी के पास चल दिये (अर्थात् अञ्जन-गिरि से तीन करोड़ वानर आये) ॥ २० ॥

अस्तं गच्छति यत्रार्कस्तस्मिन्गिरिवरे स्थिताः ।
तप्तहेममहाभासस्तस्मात्कोट्यो दश च्युताः ॥ २१ ॥

पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचल पर जो वानर रहा करते थे और जिनके शरीर का सुनहला रंग था, और जो संख्या में दस करोड़ थे, वे भी किष्किन्धा के लिये रवाना हुए ॥ २१ ॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम् ।
ततः कोटिसहस्राणि वानराणामुपागमन् ॥ २२ ॥

कैलास शिखर पर बसने वाले वानर भी जिनके शरीर का रंग सिंह के अयाल जैसा था और जिनकी संख्या कोटिसहस्र थी, किष्किन्धा में आये ॥ २२ ॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः ।
तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत ॥ २३ ॥

हिमालय-पर्वत-वासी वानर, जो फल मूल खा कर निर्वाह किया करते थे और जिनकी संख्या अर्बों थी, किष्किन्धा में आये ॥ २३ ॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्मणाम् ।
विन्ध्याद्वानरकोटीनां सहस्राण्यपतन्द्रुतम् ॥ २४ ॥

विन्ध्याचल पर रहने वाले वानर, जिनके शरीर का रंग अंगारे जैसा था और जो देखने में भयङ्कर ही न थे, किन्तु भयङ्कर कर्म करने वाले भी थे और जिनकी संख्या सहस्र करोड़ अर्थात् एक अर्व थी, तुरन्त आ पहुँचे ॥ २४ ॥

क्षीरोदवेलानिलयास्तमालवनवासिनः ।
नारिकेलाशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते ॥ २५ ॥

क्षीर समुद्र के तट पर रहने वाले तथा तमाल वन में बसने वाले तथा नारियल खाने वाले जो वानर थे, उनकी गणना नहीं थी अर्थात् वे असंख्य थे, ॥ २५ ॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च सरिद्भ्यश्च महाजवाः ।
आगच्छद्वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम् ॥ २६ ॥

किष्किन्धा में वनों, कन्दराओं और नदियों के तटों से महाबलवान् वानरी सेना ऐसे आने लगी, मानों वह सूर्य ही को पान कर जायगी ॥ २६ ॥

ये तु त्वरयितुं याता वानराः सर्ववानरान् ।
ते वीरा हिमवच्छैलं ददृशुस्तं महाद्रुमम् ॥ २७ ॥

जो वानर अन्य सब वानरों को शीघ्रता पूर्वक बुलाने को गये थे, उन वीर वानरों ने हिमालय पर्वत पर एक महावृक्ष देखा ॥ २७ ॥

तस्मिन्गिरिवरे रम्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा ।
सर्वदेवमनस्तोषो बभौ दिव्यो मनोहरः ॥ २८ ॥

उस रमणीक पर्वत पर पूर्वकाल में सब देवताओं के मन को सन्तुष्ट करने वाला दिव्य मनोहर माहेश्वर यज्ञ हुआ था ॥ २८ ॥

अन्ननिष्यन्दजातानि मूलानि च फलानि च ।
अमृतास्वादकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः ॥ २९ ॥
तदन्नसम्भवं दिव्यं फलं मूलं मनोहरम् ।
यः कश्चित्सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः ॥ ३० ॥

वहां पर अन्न के रस से नाना प्रकार के फूल और फल पैदा हो गये थे। ये अमृत के समान स्वादिष्ट थे और जो कोई एक वार भी इनको खा लेता, तो एक मास तक उसे भूख ही नहीं लगती थी। (अथवा वह एक मास तक अफरा हुआ रहता था) ॥ २९ ॥ ३० ॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः ।
औषधानि च दिव्यानि जगृहुर्हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

फल फूल भक्षण करने वाले उन प्रधान प्रधान वानरों ने वे सब दिव्य फल मूल लिये और अनेक प्रकार की जड़ी बूटियां भी लीं, जो वहां पर लगी हुई थीं ॥ ३१ ॥

तस्माच्च यज्ञायतनात्पुष्पाणि सुरभीणि च ।
आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणात् ॥ ३२ ॥

कपिराज सुग्रीव को भेंट करने के लिये, उन वानरों ने उस यज्ञस्थान से सुगन्धित फूल भी अपने साथ ले लिये ॥ ३२ ॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्ववानरान् ।
सञ्चोदयित्वा त्वरिता यूथानां जग्मुरग्रतः ॥ ३३ ॥

वे सब कपिश्रेष्ठ, पृथिवी के सब वानरों को सुग्रीव की आज्ञा सुना, बहुत शीघ्र सब यूथों के आने के पहिले ही, किष्किन्धा में लौट आये ॥ ३३ ॥

ते तु तेन मुहूर्तेन यूथपाः शीघ्रगामिनः ।
किष्किन्धां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३४ ॥

वे शीघ्र चलने वाले यूथप बात की बात में तुरन्त सुग्रीव के पास किष्किन्धा में आ पहुँचे ॥ ३४ ॥

ते गृहीत्वौषधीः सर्वाः फलं मूलं च वानराः ।
तं प्रतिग्राहयामासुर्वचनं चेदमब्रुवन् ॥ ३५ ॥

उन्होंने वे सब जड़ी बूटियाँ, फल और फूल सुग्रीव को भेंट किये और यह कहा ॥ ३५ ॥

सर्वे परिगताः शैलाः समुद्राश्च वनानि च ।
पृथिव्यां वानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते ॥ ३६ ॥

हम सब ने पर्वतों समुद्रों और वनों में जा कर उन उन स्थानों में रहने वाले वानरों को आपका आदेश सुना दिया। पृथिवी के समस्त वानर आपकी आज्ञा को मान, यहाँ पहुँचने ही वाले हैं ॥ ३६ ॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
प्रतिजग्राह तत्प्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम् ॥ ३७ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार उन वानरों के वचन सुन, वानरराज सुग्रीव प्रसन्न हुए और उनकी भेंट को अंगीकार किया ॥ ३७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

अष्टत्रिंशः सर्गः

—※—

प्रतिगृह्य च तत्सर्वमुपायनमुपाहृतम् ।
वानरान्सान्त्वयित्वा च सर्वानेव व्यसर्जयत् ॥ १ ॥

उन वानरों की लाई हुई भेंट को अंगीकार कर और उनकी (अर्थात् उनके काम की और फुर्ती की) प्रशंसा कर, उनको विदा किया ॥ १ ॥

विसर्जयित्वा स हरीञ्शूरांस्तान्कृतकर्मणः ।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम् ॥ २ ॥

उन वीर और काम पूरा कर के आये हुए वानरों को विदा कर, सुग्रीव ने अपने को तथा महाबलवान् श्रीरामचन्द्र जी को सफल-मनोरथ माना ॥ २ ॥

स लक्ष्मणो भीमबलं सर्ववानरसत्तमम् ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन् ॥ ३ ॥

अनन्तर लक्ष्मण जी, सुग्रीव को प्रसन्न करते हुए, उन महाबली वानरराज सुग्रीव से विनम्रभाव से बोले ॥ ३ ॥

किष्किन्धाया विनिष्क्राम यदि ते सौम्य रोचते ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम् ॥ ४ ॥

हे सौम्य! यदि तुम पसंद करो, तो हम लोग किष्किन्धा के बाहिर चले चलें। लक्ष्मण जी के ऐसे सुन्दर वचन सुन कर, ॥ ४ ॥

सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह ।
एवं भवतु गच्छावः स्थेयं त्वच्छासने मया ॥ ५ ॥

सुग्रीव बहुत प्रसन्न हुए और यह बोले, बहुत अच्छा। आइये चलें। मैं तो आपका आज्ञापालक हूँ ॥ ५ ॥

तमेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
विसर्जयामास तदा तारामन्याश्च योषितः ॥ ६ ॥

सुग्रीव ने शुभलक्षण युक्त लक्ष्मण जी से इस प्रकार कह, तारा तथा अन्य स्त्रियों को वहाँ से अन्तःपुर में जाने के लिये विदा किया ॥ ६ ॥

एतेत्युच्चैर्हरिवरान्सुग्रीवः समुदाहरत्।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः ॥ ७ ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने "यहाँ आओ २" कह कर उच्च स्वर से वानरश्रेष्ठ को बुलाया। उनके वचन सुन वे वंदर तुरन्त वहाँ आ पहुँचे ॥ ७ ॥

बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः।
तानुवाच ततः प्राप्तान्राजार्कसदृशप्रभः ॥ ८ ॥

जो लोग राज्य घराने की स्त्रियों के सामने जा सकते थे। वे आ कर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गये। तब सूर्य समान प्रभावाले सुग्रीव ने उनसे कहा ॥ ८ ॥

[नोट—" ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः " से स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि, सुग्रीव के रनवास में पर्दा था और रनवास की स्त्रियाँ हरेक वानर के सामने नहीं निकलती थीं।]

उपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां मम वानराः।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः ॥ ९ ॥

समुपस्थापयामासुः शिविकां प्रियदर्शनाम् ।
तामुपस्थापितां दृष्ट्वा शिविकां वानराधिपः ॥ १० ॥
लक्ष्मणारुह्यतां शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत् ।
इत्युक्त्वा काञ्चनं यानं सुग्रीवः सूर्यसन्निभम् ॥ ११ ॥
बृहद्भिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः ।
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ १२ ॥

हे वानरों ! तुरन्त जा कर मेरी पालकी ले आओ । सुग्रीव के ये वचन सुन, फुर्तीले और बली वानरों ने बड़ी सुन्दर पालकी ला कर उपस्थित कर दी । सुग्रीव ने पालकी को देख, लक्ष्मण जी से कहा कि, आप इस पर शीघ्र सवार हों । यह कह कर उस सूर्य समान चमकती हुई सोने की पालकी पर, जिसके उठाने को बड़े बड़े वानर नियुक्त थे, सुग्रीव लक्ष्मण जी सहित सवार हुए । सुग्रीव के ऊपर सफेद छत्र ताना गया ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

शुक्लैश्च वालव्यजनैर्धूयमानैः समन्ततः ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च वन्दिभिश्चाभिनन्दितः ॥ १३ ॥

उनके ऊपर सफेद बालों का चंवर भी डुलाया जाता था । शङ्ख और नगाड़े बज रहे थे । वन्दीगण स्तुति करते जाते थे ॥ १३ ॥

निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।
स वानरशतैस्तीक्ष्णैर्बहुभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ १४ ॥

सुग्रीव उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मी को प्राप्त हो कर, रनवास से निकले । उस समय उनकी पालकी को घेरे हुए सैकड़ों बलवान वानर हाथों में बहुत से बड़े पैने हथियार ले चले जाते थे ॥ १४ ॥

परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः ।
स तं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रामनिषेवितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार सिपाहियों से घिरे हुए, सुग्रीव वहाँ गये, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे। उस उत्तम स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे, पहुँच कर ॥ १५ ॥

अवातरन्महातेजाः शिविकायाः सलक्ष्मणः ।
आसाद्य च ततो रामं कृताञ्जलिपुटोऽभवत् ॥ १६ ॥

महातेजस्वी सुग्रीव जी, लक्ष्मण सहित पालकी से उतरे और श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा कर, हाथ जोड़े खड़े हो गये ॥ १६ ॥

कृताञ्जलौ स्थिते तस्मिन्वानराश्चाभवंस्तथा ।
तटाकमिव तद्दृष्ट्वा रामः कुड्मलपङ्कजम् ॥ १७ ॥

अपने राजा को हाथ जोड़े हुए खड़ा देख, अन्य वानर भी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। उस समय श्रीरामचन्द्र जी को ऐसा जान पड़ा, मानों कमल की कलियों से पूर्ण तालाब हो ॥ १७ ॥

वानराणां महत्सैन्यं सुग्रीवे प्रीतिमानभूत् ।
पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम् ॥ १८ ॥

वानरराज की महती सेना को देख, श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव के ऊपर प्रसन्न हुए और पैर पर सीस रखे हुए कपिराज को उठा कर, ॥ १८ ॥

प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे ।
परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े प्रेम के साथ और सम्मान पूर्वक सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया और छाती से लगाने के बाद श्रीराम जी ने सुग्रीव से बैठने को कहा ॥ १९ ॥

तं निषण्णं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीद्वचः ।
धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥ २० ॥

विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम ।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥ २१ ॥

स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।
अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥ २२ ॥

सुग्रीव को ज़मीन पर बैठा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा। हे कपिश्रेष्ठ ! जो राजा अपने समय को बाँट कर धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्य किया करता है, वही राजा राज्य करने योग्य होता है और जो धर्म और अर्थ त्याग कर, केवल कामासक्त हो जाता है, वह उस पुरुष की तरह है, जो वृक्ष की डाली पर सो कर, वहाँ से गिरने पर ही सचेत होता है। जो राजा शत्रु के वध में तत्पर और मित्रों के संग्रह में कटिबद्ध रहता है ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

त्रिवर्गफलभोक्ता तु राजा धर्मेण युज्यते ।
उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुविनाशन ॥ २३ ॥

वह राजा धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग का भोक्ता और धर्मात्मा कहलाता है। हे शत्रुविनाशन ! अब उद्योग का समय आ कर उपस्थित हुआ है ॥ २३ ॥

सञ्चिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

अतः आप अपने वानर मंत्रियों से सलाह करो। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ २४ ॥

प्रनष्टा श्रीश्च कीर्त्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ २५ ॥

हे महाबाहो ! आप ही की कृपा से मुझे हाथ से निकली हुई यह राज्यलक्ष्मी, कीर्त्ति और पुस्तैनी कपिराज्य पुनः मिला है ॥२५॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातुश्च जयतांवर ।
कृतं न प्रतिकुर्याद्यः पुरुषाणां स दूषकः ॥ २६ ॥

हे देव ! और जीतने वालों में श्रेष्ठ ! आपके और आपके भाई लक्ष्मण जी के अनुग्रह से ही मुझे यह राज्य मिला है। जो उपकार के बदले प्रत्युपकार नहीं करता, वह निन्द्य समझा जाता है ॥ २६ ॥

एते वानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन ।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्ववानरान् ॥ २७ ॥

हे शत्रुसूदन ! इन सैकड़ों वानर-सेनापतियों के साथ पृथिवी के सम्पूर्ण बलवान वीर वानर एकत्र हुए हैं ॥ २७ ॥

ऋक्षाश्चावहिताः शूरा गोलाङ्गूलाश्च राघव ।
कान्तारवनदुर्गाणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! ये रीछ, वानर, गोलांगूल, बड़े वीर, डरावने रूप वाले और निर्जन स्थान, वन एवं दुर्गम स्थानों के भेदुआ हैं ॥ २८ ॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः ।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥ २९ ॥

हे राघव ! ये सब के सब वानर कोई देवताओं के और कोई गन्धर्वों के औरस से उत्पन्न हुए हैं। इसीसे जब जैसा चाहें तब ये वैसा रूप धारण कर सकते हैं। इनमें से बहुत से अपनी अधीनस्थ सेनाओं को लिये हुए रास्ते में हैं, अर्थात् चले आ रहे हैं ॥ २९ ॥

शतैः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्च प्लवङ्गमाः ।
अयुतैश्चावृता वीराः शङ्कुभिश्च परन्तप ॥ ३० ॥
अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्तैश्च वानराः ।
समुद्रैश्च परार्धैश्च हरयो हरियूथपाः ॥ ३१ ॥
आगमिष्यन्ति ते राजन्महेन्द्रसमविक्रमाः ।
मेरुमन्दरसङ्काशा विन्ध्यमेरुकृतालयाः ॥ ३२ ॥

हे परन्तप ! सैकड़ों लाखों, करोड़ों, अयुतों, शङ्कुओं, अर्बुदों, मध्य, अन्त्य, समुद्र और अपरार्द्ध संख्यक वानर लोग और इनके यूथपति आने वाले हैं। ये सब इन्द्र के समान पराक्रमी हैं और मेरु अथवा मन्दराचल के समान डीलडौल वाले हैं। इनका वासस्थान विन्ध्याचल है ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

ते त्वामभिगमिष्यन्ति राक्षसं ये सबान्धवम् ।
निहत्य रावणं संख्ये ह्यानयिष्यन्ति मैथिलीम् ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! ये सब सीता की खोज में जायँगे और राक्षसों से युद्ध कर सकुटुम्ब रावण को मार, जानकी जी को आपके निकट ले आवेंगे ॥ ३३ ॥

ततस्तमुद्योगमवेक्ष्य बुद्धिमा-
न्हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः ।
बभूव हर्षाद्वसुधाधिपात्मजः
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः ॥ ३४ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने आज्ञाकारी कपिराज सुग्रीव की तैयारी देख, खिले हुए नील कमल की तरह प्रफुल्लित हो गये ॥ ३४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अड़तीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—※—

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतांवरः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

सुग्रीव ने जब इस प्रकार कहा, तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया । फिर सुग्रीव से, जो हाथ जोड़े हुए थे, वे कहने लगे ॥ १ ॥

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भवेत्कचित् ।
आदित्यो वा सहस्रांशुः कुर्याद्वितिमिरं नभः ॥ २ ॥

यदि देवराज इन्द्र जल की वर्षा करें, अथवा सहस्र किरण वाले सूर्य आकाश के अन्धकार को नष्ट कर, उसे प्रकाशित कर दें, तो ये कोई आश्चर्य की बातें नहीं हैं ॥ २ ॥

चन्द्रमा रश्मिभिः कुर्यात्पृथिवीं सौम्य निर्मलाम् ।
त्वद्विधो वाऽपि मित्राणां प्रतिकुर्यात्परन्तप ॥ ३ ॥
एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद्यत्सौम्य शोभनम् ।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम् ॥ ४ ॥

यह भी कोई विस्मयोत्पादिनी बात नहीं कि, चन्द्रमा अपनी विमल किरणों से पृथिवी को सुन्दर शोभायुक्त कर दें। इसी प्रकार तुम जैसे सत्पुरुष यदि अपने मित्रों का प्रत्युपकार कर इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा की तरह लोकहितकर शुभकर्म करो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हे सुग्रीव! यह मैं जानता हूँ कि, तुम सदा ही प्रिय बोला करते हो ॥ ३ ॥ ४ ॥

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन् ।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

मुझे यह विश्वास है कि, तुम्हारे साहाय्य से तो मैं समस्त शत्रुओं को परास्त कर दूँगा। तुम मेरे हितैषी मित्र हो, अतः तुम मेरी मदद करो ॥ ५ ॥

जहारात्मविनाशाय वैदेहीं राक्षसाधमः ।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार अनुह्लाद, शची के पिता पौलोमी को धोखा दे शची को हर ले गया था और पीछे इन्द्र द्वारा मारा गया था, उसी प्रकार वह राक्षसाधम रावण अपना नाश करवाने को सीता जी को हर ले गया है ॥ ६ ॥

न चिरात्तं हनिष्यामि रावणं निशितैः शरैः ।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवाहवे ॥ ७ ॥

शत्रुहन्ता इन्द्र ने जिस प्रकार शची के हरने वाले और हरने की अनुमति देने वाले शची के पिता को, जो बल के गर्व से गर्वित था, मार डाला था, मैं भी उसी प्रकार शीघ्र पैने बाणों से युद्ध में रावण को मार डालूँगा ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत ।
उष्णां तीव्रां सहस्रांशोश्छादयद्गगने प्रभाम् ॥ ८ ॥
दिशः पर्याकुलाश्चासन्रजसा तेन मूर्छता[1] ।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना ॥ ९ ॥

इतने ही में ऐसी धूल उड़ी कि, सूर्य ढक गये और ऐसा अंधकार छा गया कि, दिशाओं का ज्ञान न रहा और पर्वतों तथा जंगलों सहित पृथिवी हिल उठी ॥ ८ ॥ ९ ॥

ततो नगेन्द्रसङ्काशैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाबलैः ।
कृत्स्ना संछादिता भूमिरसंख्येयैः प्लवङ्गमैः ॥ १० ॥

देखते देखते पहाड़ जैसे विशाल शरीर धारी, पैने पैने दाँतों वाले और महाबली अगणित वानरों से सारी पृथिवी ढक गयी ॥ १० ॥

निमेषान्तरमात्रेण ततस्तैर्हरियूथपैः ।
कोटीशतपरीवारैः कामरूपिभिरावृता ॥ ११ ॥

फिर पलक मारते ही इच्छारूपधारी सैकड़ों करोड़ यूथनाथ वानरों से पृथिवी ढक गयी ॥ ११ ॥

---

१ मूर्छता—व्याप्तवता । (गो०)

नादेयैः पार्वतीयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः ।
हरिभिर्मेघनिर्ह्रादैरन्यैश्च वनचारिभिः ॥ १२ ॥

ये वानरगण नदियों के तटों पर, पर्वतों पर, समुद्रों के तटों पर और वनों में रहने वाले और मेघ समान गर्जने वाले थे ॥ १२ ॥

तरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः ।
पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतैर्मेरुकृतालयैः ॥ १३ ॥

इनमें कितने ही तरुण सूर्य की तरह लाल रंग के, कितने ही चन्द्रमा की तरह सफेद रंग के, कितने ही कमल-केसर के (पीले) रंग के थे, (इनमें से) मेरु पर्वत वासी वानरों का श्वेत रंग था ॥ १३ ॥

कोटीसहस्रैर्दशभिः श्रीमान्परिवृतस्तदा ।
वीरः शतबलिर्नाम वानरः प्रत्यदृश्यत ॥ १४ ॥

दस हज़ार करोड़ वानरों को साथ लिये हुए, शोभायुक्त शतबली नामक वीर वानर देख पड़ा ॥ १४ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तारायाः वीर्यवान्पिता ।
अनेकैर्दशसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत ॥ १५ ॥

तदनन्तर सुमेरु पर्वताकार तारा का पिता अनेक सहस्र कोटि बंदरों को अपने साथ लिये हुए आ कर उपस्थित हुआ ॥ १५ ॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः ।
पिता रुमायाः सम्प्राप्तः सुग्रीवश्वशुरो विभुः ॥ १६ ॥

एक सहस्र करोड़ वानरों को साथ लिये सुग्रीव के और रुमा के पिता आये ॥ १६ ॥

पद्मकेसरसङ्काशस्तरुणार्कनिभाननः ।
बुद्धिमान्वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः ॥ १७ ॥
अनीकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः ।
पिता हनुमतः श्रीमान्केसरी प्रत्यदृश्यत ॥ १८ ॥

कमलकेसर की तरह रंग वाले और तरुण सूर्य की तरह लाल लाल मुख वाले बुद्धिमान और सब वानरों में श्रेष्ठ हनुमान के पिता केसरी नामक वानर अगणित कपिसेना लिये आते देख पड़े ॥ १७ ॥ १८ ॥

गोलाङ्गूलमहाराजो गवाक्षो भीमविक्रमः ।
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यत ॥ १९ ॥

तदनन्तर गोलांगूल (गौ जैसी पूंछ वाले) बंदरों के महाराज और भीम पराक्रमी गवाक्ष नामक वानर एक हज़ार करोड़ वानरों को साथ लिये वहां आये ॥ १९ ॥

ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिबर्हणः ।
वृतः कोटिसहस्राभ्यां द्वाभ्यां समभिवर्तत ॥ २० ॥

भीम वेगवान् रीछों के राजा शत्रुहन्ता धूम्र नामक रीछ दो सहस्र करोड़ रीछों की सेना लिये हुए आये ॥ २० ॥

महाचलनिभैर्घोरैः पनसो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः ॥ २१ ॥

पर्वताकार वपुधारी और भयङ्कर पनस नामक यूथपति वानर, महाबलवान् तीन करोड़ वानरों को ले कर उपस्थित हुए ॥ २१ ॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामाथ यूथपः ।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ॥ २२ ॥

नीलपर्वत की तरह विशाल वपुधारी नील नामक यूथपति, दस करोड़ वानरों को ले कर उपस्थित हुए ॥ २२ ॥

ततः काञ्चनशैलाभो गवयो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः ॥ २३ ॥

पाँच करोड़ वानरों को लिये हुए, सुवर्ण पर्वत की तरह द्युतिवाले महाबली गवय नामक यूथपति उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

दरीमुखश्च बलवान्यूथपोऽभ्याययौ तदा ।
वृतः कोटिसहस्रेण सुग्रीवं समुपस्थितः ॥ २४ ॥

एक सहस्र कोटि वानरों की सेना साथ लिये हुए, दरीमुख नामक बलवान् यूथपति सुग्रीव के समीप आ कर उपस्थित हुए ॥ २४ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभावश्विपुत्रौ महाबलौ ।
कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम् ॥ २५ ॥

मैंद और द्विविद नामक महाबलवान् वानर अश्विनी के पुत्र एक एक हज़ार कोटि सेना साथ ले कर आये ॥ २५ ॥

गजश्च बलवान्वीरः कोटिभिस्तिसृभिर्वृतः ।
आजगाम महातेजाः सुग्रीवस्य समीपतः ॥ २६ ॥

बलवान् वीर गज, तीन करोड़ वानरों को साथ ले कर सुग्रीव के पास उपस्थित हुआ ॥ २६ ॥

ऋक्षराजो महातेजा जाम्बवान्नाम नामतः ।
कोटिभिर्दशभिः प्राप्तः सुग्रीवस्य वशे स्थितः ॥ २७ ॥

रीछों के राजा महातेजस्वी जाम्बवान् दस करोड़ भालुओं को साथ ले सुग्रीव के पास आये ॥ २७ ॥

रुमण्वान्नाम विक्रान्तो वानरो वानरेश्वरम् ।
आययौ बलवांस्तूर्णं कोटीशतसमावृतः ॥ २८ ॥

रुमण नामक तेजस्वी और विक्रमशाली कपिराज शतकोटि वानरों के साथ आकर अति शीघ्र उपस्थित हुआ ॥ २८ ॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च ।
पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः ॥ २९ ॥

महापराक्रमी गन्धमादन नामक यूथपति सैकड़ों हज़ारों कोटि वानरों को साथ लिये हुए आये ॥ २९ ॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्कुशतेन च ।
युवराजोऽङ्गदः प्राप्तः पितृतुल्यपराक्रमः ॥ ३० ॥

अपने पिता वालि की तरह पराक्रमी युवराज अङ्गद, एक हज़ार पद्म, और एक हज़ार शङ्कु वंदरों को साथ लिये हुए देख पड़े ॥ ३० ॥

ततस्ताराद्युतिस्तारो हरिर्भीमपराक्रमः ।
पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥

तारा की तरह द्युतिमान् तार नामक यूथपति पाँच करोड़ वानरी सेना के साथ दूर से आते हुए देख पड़े ॥ ३१ ॥

इन्द्रजानुः कपिर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत ।
एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः ॥ ३२ ॥

ग्यारह करोड़ वानरों को साथ लिये हुए वीरवर कपियूथपति इन्द्रजानु आते देख पड़े ॥ ३२ ॥

ततो रम्भस्त्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसन्निभः ।
अयुतेनावृतश्चैव सहस्रेण शतेन च ॥ ३३ ॥

तरुण सूर्य की तरह तेजस्वी रम्भक नामक यूथपति सौ करोड़ बंदरों को साथ लिये हुए देख पड़े ॥ ३३ ॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम वानरः ।
प्रत्यदृश्यत कोटिभ्यां द्वाभ्यां परिवृतो बली ॥ ३४ ॥

दुर्मुख नामक वीर यूथपति वानर, दो करोड़ बंदरों को लिये हुए आते देख पड़े ॥ ३४ ॥

कैलासशिखराकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः ।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान्प्रत्यदृश्यत ॥ ३५ ॥

कैलासशिखर की तरह विशाल शरीर धारी भयङ्कर पराक्रम वाले हनुमान जी सहस्र करोड़ वानरों को साथ ले उपस्थित हुए ॥ ३५ ॥

नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः ।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च ॥ ३६ ॥

फिर महाबली नल नामक यूथनाथ, पेड़ों पर रहने वाले सौ करोड़ एक हज़ार वानरों की सेना साथ लिये हुए आये ॥ ३६ ॥

ततो दधिमुखः श्रीमान्कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।
सम्प्राप्तोऽभिमतस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर शोभायुक्त दधिमुख नामक यूथपति दस करोड़ वानरों के साथ महात्मा सुग्रीव के समीप आया ॥ ३७ ॥

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रंह एव च ।
एते चान्ये च वहवो वानराः कामरूपिणः ॥ ३८ ॥
आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च ।
यूथपाः समनुप्राप्तास्तेषां संख्या न विद्यते ॥ ३९ ॥

इसी तरह यथेच्छरूपधारी शरभ, कुमुद, वह्नि और रम्भ आदि अनेक अन्य वानरयूथपति अखिल पृथिवी, पर्वत, और वनों को ढकते हुए वहाँ आये। इनकी गिनती नहीं थी ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

आगताश्च विशिष्टाश्च पृथिव्यां सर्ववानराः ।
आप्लुवन्तः प्लुवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ॥ ४० ॥

पृथिवी पर जो मुख्य मुख्य वानर थे, वे सब उछलते कूदते, किलकारियाँ मारते सुग्रीव के पास आ पहुँचे ॥ ४० ॥

अभ्यवर्तन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव ।
कुर्वाणा बहुशब्दांश्च *प्रकृष्टा बलशालिनः ॥ ४१ ॥

और चारों ओर से सुग्रीव को ऐसे घेर लिया जैसे बादल सूर्य को घेर लेते हैं। आये हुए प्रकृष्ट बलशाली वानर अनेक प्रकार की बोलियाँ बोल रहे थे ॥ ४१ ॥

[नोट—सुग्रीव द्वारा किये गये इस वानरी सैन्य-संग्रह से यह अवगत होता है कि किष्किन्धाराज्य में सामन्त प्रथा प्रचलित थी।]

---

* पाठान्तरे " प्रहृष्टा "।

शिरोभिर्वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन् ।
अपरे वानरश्रेष्ठाः संयम्य च यथोचितम् ॥
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ४२ ॥

इनमें से कोई कोई तो सिर झुका अपना आना सुग्रीव को जता रहे थे और कोई कोई यथोचित रीति से हाथ जोड़ कर, सुग्रीव के पास जा खड़े हुए थे ॥ ४२ ॥

सुग्रीवस्त्वरितो रामे सर्वांस्तान्वानरर्षभान् ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने, तुरन्त ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी को उन सब वानरों का आगमन हाथ जोड़ कर निवेदन किया और फिर वानर यूथपतियों से कहा ॥ ४३ ॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरेषु
वनेषु सर्वेषु च वानरेन्द्राः ।
निवेशयित्वा विधिवद्बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे ॥ ४४ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे समस्त वानरेन्द्रों ! पर्वतों झरनों और वनों में जहाँ जिसको सुविधा हो, वहाँ समस्त सैनिक वानरों को ठहरा दो । फिर तुममें जो सेना की पद्धति से अभिज्ञ हों, वे सैनिकों को गिन डालें ॥ ४४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चत्वारिंशः सर्गः

—※—

अथ राजा समृद्धार्थः[1] सुग्रीवः प्लवगाधिपः※ ।
उवाच नरशार्दूलं रामं परबलार्दनम् ॥ १ ॥

फिर समृद्धशाली कपिराज सुग्रीव ने शत्रुहन्ता नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १ ॥

आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः ।
†वानरेन्द्रा महेन्द्राभा ये मद्विषयवासिनः ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! ये इन्द्र के समान पराक्रमी एवं काम रूपी वानरगण जो मेरे राज्य के अन्तर्गत रहने वाले हैं, आ गये ॥ २ ॥

त इमे बहुविक्रान्तैर्बलिभिः‡ भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसन्निभाः ॥ ३ ॥

ये अनेक स्थानों में अपना बलविक्रम प्रकट कर चुके हैं। ये बड़े भीम पराक्रमी, दैत्य दानवों के समान घोर रूप वाले और बलवान समस्त वानर आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

ख्यातकर्मापदानाश्च बलवन्तो जितक्लमाः ।
पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः ॥ ४ ॥

ये सब युद्धविद्या में प्रसिद्ध हैं, बड़े बलवान और कभी न थकने वाले नहीं हैं। ये प्रसिद्ध पराक्रमी भी हैं और अपने कामों में बड़े कुशल हैं ॥ ४ ॥

---

१ समृद्धार्थः—प्रवृद्धसर्वसम्पत्तिः । (गो०) ※ पाठान्तरे—"प्लवगेश्वरः । " † पाठान्तरे—"वानरा वारणेन्द्राभा । " ‡पाठान्तरे—हरिभिः । "

पृथिव्यम्बुचरा राम नानानगनिवासिनः ।
कोट्यग्रश[1] इमे प्राप्ता वानरास्तव किङ्कराः ॥ ५ ॥

हे राम ! ये सब पृथिवी आकाश में घूमने वाले अनेक पर्वतों पर रहने वाले हैं । ये असंख्य वानर जो आये हैं, सो ये सब आप के दास हैं ॥ ५ ॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते रताः ।
अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिन्दम ॥ ६ ॥

ये सब अपने बड़ों की आज्ञा मानने वाले और उनके हित में तत्पर रहने वाले हैं । हे अरिन्दम ! ये आपकी इच्छानुसार सब काम कर सकते हैं ॥ ६ ॥

त इमे बहुसाहस्रैरनीकैर्भीमविक्रमैः ।
यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम् ॥ ७ ॥

सो ये कितनी ही सहस्र भीमविक्रमी सेना आपकी सेवा में उपस्थित है, अब आपका जैसा विचार हो, वैसी समयोचित आज्ञा दीजिये ॥ ७ ॥

त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ।
काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्त्वतः ॥ ८ ॥

हे राम ! यह आपकी सेना आपको आज्ञानुवर्तिनी है, आप इसे आज्ञा दें । यद्यपि इनको आगे जो करना है वह मैं तत्वतः (सारांश रूप में) जानता हूँ (अर्थात् इनको सीता जी को ढूढ़ना होगा) ॥ ८ ॥

---

१ कोट्यग्रश इति बहुसंख्योपलक्षणं । (गो०)

तथापि तु यथातत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
*तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः ॥ ९ ॥

तथापि आप इनको यथार्थरीत्या आज्ञा दीजिये । जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा, तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ॥ ९ ॥

बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ।
ज्ञायतां मम वैदेही यदि जीवति वा न वा ॥ १० ॥
स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन्वसति रावणः ।
अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥ ११ ॥
प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन्काले सह त्वया ।
नाहमस्मिन्प्रभुः कार्ये वानरेश न लक्ष्मणः ॥ १२ ॥
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ।
त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम् ॥ १३ ॥

सुग्रीव को गले लगा, यह वचन बोले, पहिले तो यह जान लेना है कि, जानकी जीती हैं या नहीं । फिर उस देश का पता लगाना है, जहां रावण रहता है । जब जानकी जी के जीवित रहने और रावण के निवासस्थान का पता चल जायगा, तब उस समय वहाँ पहुँच कर तुम्हारी सलाह से समयानुसार उचित कार्य किया जायगा । हे वानरेश ! मैं या लक्ष्मण इस कार्य को पूरा नहीं कर सकते । तुम्हीं इस कार्य को कराने वाले हो और हे वानरराज ! तुम्हीं इस काम को पार लगाने वाले हो । अतः तुम्हीं इस बारे में निश्चित कार्य को समझ बूझ कर, इनको आज्ञा दो ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

* पाठान्तरे—" इति "

त्वं हि जानासि यत्कार्यं मम वीर न संशयः ।
सुहृद्द्वितीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषवित् ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुम निस्सन्देह मेरे काम को जानते हो । एक तो तुम मेरे हितैषी, दूसरे पराक्रमी, तीसरे बुद्धिमान और चौथे समय को जानने वाले हो ॥ १४ ॥

भवानस्माद्धिते युक्तः सुहृदाप्तोऽर्थवित्तमः ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम् ॥ १५ ॥

अब्रवीद्रामसान्निध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः ।
शैलाभं मेघनिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरः ॥ १६ ॥

आप मेरे हित में तत्पर सुहृद हैं तथा अर्थवेत्ता हैं । जब श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से इस प्रकार कहा, तब सुग्रीव ने, बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी ही के आगे, विनत नामक यूथपति से, जो पर्वताकार था और मेघ की तरह गरज रहा था, कहा ॥ १५ ॥ १६ ॥

सोमसूर्यात्मजैः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम ।
देशकालनयैर्युक्तः कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १७ ॥

वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम् ॥ १८ ॥

हे वानरोत्तम ! चन्द्र सूर्य की तरह वर्ण वाले वानरों को जो देश काल और नीति के जानने वाले तथा जो करने अनकरने कार्यों के विषय में निश्चय करने की योग्यता रखने वाले एवं बलवान एक

लक्ष वानरों को साथ ले, तुम पूर्व दिशा को जाओ और वहाँ पर पर्वतों और काननों में ॥ १७ ॥ १८ ॥

तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
मार्गध्वं गिरिशृङ्गेषु वनेषु च नदीषु च ॥ १९ ॥

सीता जी का और रावण के आवासस्थान का पता लगाओ। इनका पता लगाने के लिये वहाँ के समस्त पर्वतशिखर, वन और नदियों को ढूढ़ो ॥ १९ ॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ।
कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम् ॥ २० ॥
सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम् ।
महीं कालमहीं चैव शैलकाननशोभिताम् ॥ २१ ॥

भागीरथी गङ्गा, रमणीक सरयू, कौशिकी, कलिन्दी यमुना और रमणीक यमुनातटवर्ती विशाल पर्वत, सरस्वती, सिन्धु, मणि की तरह स्वच्छ जल वाला सोनभद्र, मही, और पर्वतों वनों सहित कालमही नदियों को ढूँढ़ो ॥ २० ॥ २१ ॥

ब्रह्ममालान्विदेहांश्च मालवान्काशिकोसलान् ।
मागधांश्च महाग्रामान्पुण्ड्रान्वङ्गांस्तथैव च ॥ २२ ॥

ब्रह्ममाल, विदेह, मालवा, काशिराज्य, कोसलराज्य, मगध, महाग्राम, पुण्ड्र, वंग आदि देशों के प्रत्येक स्थान को खोजो ॥ २२ ॥

पत्तनं कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ।
सर्वमेतद्विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः ॥ २३ ॥

रामस्य दयितां भार्यां सीतां दशरथस्नुषाम् ।
समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान्पत्तनानि च ॥ २४ ॥

उन नगरों को भी खोजो जहाँ रेशम के कीड़े होते हैं और जहाँ चाँदी की खानें हैं। तुम इन सब प्रदेशों में घूम फिर कर सर्वत्र महाराजा दशरथ की पुत्रवधू और श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी भार्या सीता को ढूढ़ो। समुद्र के बीच जो टापू हैं, उनके पहाड़ों और नगरों में भी ढूढ़ना ॥ २३ ॥ २४ ॥

मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिताः केचिदायताम् ।
[1]कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्योष्ठकर्णकाः ॥ २५ ॥

घोरलोहमुखाश्चैव जवनाश्चैकपादकाः ।
अक्षया बलवन्तश्च पुरुषाः पुरुषादकाः ॥ २६ ॥

किराताः कर्णचूडाश्च हेमाङ्गाः प्रियदर्शनाः ।
आममीनाशनास्तत्र किराता द्वीपवासिनः ॥ २७ ॥

अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति श्रुताः ।
एतेषामालयाः सर्वे विचेयाः काननौकसः ॥ २८ ॥

मन्दराचल पर्वत की तलहटी में जो नगर बसे हुए हैं, उन सब में भी ढूढ़ना। कर्णरहित, ओंठों पर कानों वाले, भयङ्कर लोह मुख वाले, बड़ी तेज़ी के साथ चलने वाले, इकरंगे, अक्षय्य बल-वाले, नरमांसभोजी लोग, कच्ची मछलियाँ खाने वाले किरात, कानों के ऊपर चोटी रखाने वाले, सुनहली रंग की देह वाले, देखने में सुन्दर, किरात द्वीपवासी, जो जल के भीतर जलजन्तुओं की

---

१ कर्णप्रावरणाः—आच्छादितवर्णाः । निष्कर्णाइत्यर्थः । (गो०)

तरह विचरने वाले हैं और भयङ्कर हैं तथा नरव्याघ्र कह कर प्रसिद्ध हैं. इन सब के रहने के स्थानों को, हे वानरो! तुम ढूढ़ना ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

गिरिभिर्यें च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च ।
रत्नवन्तं यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ॥ २९ ॥

जिन स्थानों में पर्वतों पर से मार्ग हो अथवा जहां बरतनों या नाव से जा सको, वहां जा कर ढूढ़ना। सात राज्यों से सुशोभित रत्नवान् यवद्वीप में भी जाना ॥ २९ ॥

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् ।
यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ॥ ३०

इस द्वीप में सोने की खानें होने से लोग इसे सोने चांदी का द्वीप भी कहा करते हैं। यवद्वीप के आगे शिशिर नामक पर्वत है ॥ ३० ॥

दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवितः ।
एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च ॥ ३१ ॥
मार्गध्वं सहिताः सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
ततो रक्तजलं शोणमगाधं शीघ्रवाहिनम् ॥ ३२ ॥

इस पर्वत के शिखर आकाशगङ्गा हैं और इन पर देवता दानव रहा करते हैं। इन सब गिरिदुर्गों, नदी के सुहानों पर, और वनों में तुम सब मिल कर यशस्विनी रामपत्नी सीता का पता लगाना। फिर, लाल रंग का अगाध जल वाला और बड़ी तेज़ धार वाला शोण नामक नद मिलेगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम् ।
तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च ॥ ३३ ॥
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ।
पर्वतप्रभवा नद्यः सुरम्या बहुनिष्कुटाः[1] ॥ ३४ ॥

फिर समुद्र के उस पार जाना। वहाँ सिद्ध चारणों से सेवित उसके तटों पर, रम्य विचित्र वनों में, रावण सहित जानकी जी को इधर उधर तलाश करना। वहाँ पर पहाड़ी नदियों के तटों पर बहुत से रमणीक उद्यान हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मार्गितव्या दरीमन्तः पर्वताश्च वनानि च ।
ततः समुद्रद्वीपांश्च सुगीमान्द्रष्टुमर्हथ ॥ ३५ ॥

उनमें तथा घाटियों में, पर्वतों पर और वनों में तुम सीता को तथा रावण के आवास-स्थान को तलाश करना। तदनन्तर तुम को बड़े भयानक समुद्री टापू देख पड़ेंगे ॥ ३५ ॥

ऊर्मिमन्तं समुद्रं च क्रोशन्तमनिलोद्धतम् ।
तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यशः ॥ ३६ ॥

वहाँ पर बड़ी बड़ी लहरें उठती हैं और वायु के संयोग से समुद्र नाद करता है, वहाँ पर बड़े शरीर वाले असुर लोग रहते हैं, जो सदैव समुद्र के ऊपर उड़ने वालों की छाया पकड़ लेते हैं ॥ ३६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः ।
तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम् ॥ ३७ ॥

---

१ निष्कुटाः—उद्यानविशेषाः । (गो०)

आकाशचारियों की छाया पकड़ने के लिये उनको ब्रह्मा जी की आज्ञा है। वे बहुत दिनों से भूखे हैं। तुम उस प्रलयकालीन मेघों के समान तथा बड़े सर्पों से युक्त ॥ ३७ ॥

अभिगम्य महानादं [1]तीर्थेनैव महोदधिम् ।
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम् ॥ ३८ ॥

उस महानाद करते हुए समुद्र के किनारे किनारे ही जाना (अथवा बड़ी सावधानी से जाना और उन छायाग्राहियों से सावधान रहना। तदनन्तर तुमको लाल जल का लोहित नामक भयङ्कर समुद्र मिलेगा ॥ ३८ ॥

गता द्रक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम् ।
गृहं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम् ॥ ३९ ॥

वहां जाने पर तुम्हें एक बड़ा सेमर का पेड़ देख पड़ेगा। वहीं पर नाना रत्नविभूषित गरुड़ का घर बना हुआ है ॥ ३९ ॥

तत्र कैलाससङ्काशं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र शैलनिभा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः ॥ ४० ॥
शैलशृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ।
ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति ॥ ४१ ॥
निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः ।
अभितप्ताश्च सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥ ४२ ॥

वह घर कैलाश की तरह विश्वकर्मा ने बनाया है। वहां नानारूप धारी पर्वताकार और भयङ्कर मन्देह नामी राक्षस पर्वत

---

१ तीर्थेनाभिगम्य—उपायेनाभिगम्य । (गो०)

शिखरों पर लटका करते हैं। जब सूर्य उदय होते हैं, तब सूर्य के ताप से तप्त हो नित्य ब्राह्मणों की अर्घ्याञ्जलि से ये मारे जाते हैं और सूर्य के ताप से तप्त हो, फिर पर्वतशिखर पर लटक जाते हैं ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ।
गता द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सफेद बादल के रंग का क्षीरोद नाम का समुद्र है। वहाँ जाने पर तुम देखोगे कि, वह अपनी लहरों से मोती के हार की तरह जान पड़ता है ॥ ४३ ॥

तस्य मध्ये महाञ्श्वेत ऋषभो नाम पर्वतः ।
दिव्यगन्धैः कुसुमितै राजतैश्च नगैर्वृतः ॥ ४४ ॥

क्षीरोद समुद्र के बीच में ऋषभ नाम का एक पहाड़ है; उस पर दिव्य गन्ध युक्त फले फूले सघन पेड़ लग रहे हैं ॥ ४४ ॥

सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हेमकेसरैः ।
नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम् ॥ ४५ ॥

उस पर्वत पर ही सुदर्शन नाम का एक तालाब है जिसमें सुनहले रंग के कमल के फूल सुशोभित हो रहे हैं और वहाँ राजहंस किलोलें किया करते हैं ॥ ४५ ॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किन्नराः साप्सरोगणाः ।
हृष्टाः समभिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः ॥ ४६ ॥

उस सरोवर के तट पर बहुत से चारण, यक्ष, किन्नर और अप्सराएँ हर्षित हो क्रीड़ा करने के लिये घूमा करती हैं ॥ ४६ ॥

क्षीरोदं समतिक्रम्य ततो द्रक्ष्यथ वानराः ।
जलोदं सागरश्रेष्ठं सर्वभूतभयावहम् ॥ ४७ ॥

हे वानरगण ! क्षीरसागर उतरने के बाद जलोद नामक सागर मिलेगा । यह समुद्र सब प्राणियों को भय उपजाने वाला है ॥ ४७ ॥

तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ।
अस्याहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम् ॥ ४८ ॥

उसमें और्व नामक ब्रह्मर्षि के क्रोध से उत्पन्न विशाल हयमुख नामक तेज उत्पन्न हुआ है । उसका अद्भुत तेज है और युगान्त में चर अचर समस्त प्राणि उसमें भात की तरह उबलते हैं ॥ ४८ ॥

तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरौकसाम् ।
श्रूयते च समर्थानां दृष्ट्वा तद्वडवामुखम् ॥ ४९ ॥

समुद्रवासी प्राणी जो उसकी लपटें सह सकते हैं, वे उस वड़वानल को देख कर, मारे डर के चिल्लाया करते हैं । उनके चिल्लाने का शब्द वहां सुन पड़ता है ॥ ४९ ॥

स्वादूदस्योत्तरे देशे योजनानि त्रयोदश ।
जातरूपशिलो नाम महान्कनकपर्वतः ॥ ५० ॥

स्वाद समुद्र के उत्तर तट पर तेरह योजन विस्तार वाला, सोने की तरह प्रभावाला एक बड़ा पहाड़ है, जिसका नाम जातरूपशिल है ॥ ५० ॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पन्नगं धरणीधरम् ।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ५१ ॥

हे वानरों ! वहां पर तुम लोग चन्द्रमा की तरह सफेद प्रभा वाले और कमलपत्र की तरह बड़े बड़े नेत्रों वाले एक धरणीधर सर्प को देखोगे ॥ ५१ ॥

आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वभूतनमस्कृतम् ।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ५२ ॥

पहाड़ के शिखर पर सब देवताओं से नमस्कृत, सहस्र मस्तकों वाले अनन्त जी नीलाम्बर धारण किये हुए बैठे रहते हैं ॥ ५२ ॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः ।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥ ५३ ॥

उसी पर्वत के शिखर पर तीन शाखा वाला, सुनहला ताल का वृक्ष, ध्वजा की तरह एक वेदी पर लगा हुआ है ॥ ५३ ॥

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तन्त्रिदशेश्वरैः ।
ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥ ५४ ॥

देवताओं ने पूर्व दिशा की सीमा के निर्देश के लिये इस ताल वृक्ष को चिन्ह स्वरूप वहाँ बना रखा है । इसके बाद कान्तिमान (अर्थात् चमकीले) सुवर्णमय उदय पर्वत है ॥ ५४ ॥

तस्य कोटिर्दिवं स्पृष्ट्वा शतयोजनमायता ।
जातरूपमयी दिव्या विराजति सवेदिका ॥ ५५ ॥

इस पर्वत का अगला शिखर आकाशस्पर्शी है और सौ योजन लंबा है । वह सोने की दिव्य वेदी सहित वहाँ विराजमान है ॥ ५५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसन्निभैः ॥ ५६ ॥

उस पर सुनहले दिव्य सूर्य की तरह चमकीले और फूले हुए साल, ताल, तमाल और कनैर के पेड़ लगे हुए हैं ॥ ५६ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥

उस पर्वत पर सुवर्णमय एकसौमनस नामक शिखर है, जो एक योजन विस्तार वाला (लंबा) और दस योजन ऊँचा है ॥ ५७ ॥

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे ।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥

पूर्वकाल में पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने (वामनावतार के समय) तीन पग पृथिवी नापने के समय, पहला पैर इसीके शृङ्ग पर रखा था, और दूसरा पैर मेरु पर्वत के शिखर पर ॥ ५८ ॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः ।
दृश्यो भवति भूयिष्ठं शिखरं तन्महोच्छ्रयम् ॥ ५९ ॥

सूर्य भगवान् उत्तर की ओर से जम्बुद्वीप की परिक्रमा करते हुए इसीके उच्च शिखर पर लोगों को भली भाँति देख पड़ते हैं ॥५९॥

तत्र वैखानसा नाम बालखिल्या महर्षयः ।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥ ६० ॥

वहाँ पर सूर्य के समान प्रकाशमान, वैखानस नामक बालखिल्य महर्षि तपस्या करते हुए दिखलाई पड़ते हैं ॥ ६० ॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यस्य प्रकाशते ।
यस्मिंस्तेजश्च चक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ६१ ॥

इसीके पास सुदर्शन नामक द्वीप देख पड़ेगा । जब इस सौमनस शिखर पर सूर्योदय होता है, तब सब प्राणियों के नेत्रों में उजाला आता है ॥ ६१ ॥

शैलस्य तस्य शृङ्गेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६२ ॥

उस शैल के ऊपर की कन्दराओं और वनों में रावण सहित जानकी जी तथा रावण को सर्वत्र तलाश करना ॥ ६२ ॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः ।
आविष्टा तेजसा सन्ध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥ ६३ ॥

सुवर्ण के शैल पर जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है, तब प्रातः सन्ध्या लाल लाल रंग की देख पड़ती है ॥ ६३ ॥

पूर्वमेतत्कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च ।
सूर्यस्योदयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा ने पूर्व काल में यही पूर्व दिशा रूप पृथिवी और भुवनों का द्वार बनाया । इसी दिशा में सूर्य उदय होते हैं, अतः इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६५ ॥

उस उदयाचल के ऊपर के झरनों और कन्दराओं में सीता और रावण को खोजना ॥ ६५ ॥

ततः परमगम्या स्यादिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तिमिरावृता ॥ ६६ ॥

आगे देवता लोगों का निवासस्थल होने के कारण उस पर्वत के आगे पूर्व दिशा अगम्य है अर्थात् जाने के योग्य नहीं है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश बिना वहाँ अंधकार बना रहता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ ६६ ॥

शैलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
ये च नोक्ता मया देशा विचेया तेषु जानकी ॥ ६७ ॥

अतः तुम उन पर्वतों, गुहाओं और उन नदियों के तटवर्ती स्थानों में तथा उन देशों में, जिनके नाम मैंने नहीं लिये हैं, जा कर, जानकी को ढूँढ़ना ॥ ६७ ॥

एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६८ ॥

हे वानरश्रेष्ठो ! बस यहीं तक वानर लोग जा सकते हैं। इसके आगे का हाल, सूर्य का प्रकाश न होने से तथा मर्यादाहीन होने के कारण, मुझे मालूम नहीं ॥ ६८ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम् ॥ ६९ ॥

देखो सीता और रावण का पता लगा कर और उदयाचल तक जा कर, एक महीने के भीतर ही लौट आना ॥ ६९ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन्वध्यो भवेन्मम ।
सिद्धार्थाः सन्निवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम् ॥ ७० ॥

महीने से अधिक मत लगाना। जो एक महीने के ऊपर लगावेगा उसे मैं मार डालूँगा। ख़बरदार! काम पूरा कर के लौटना। जाओ और सीता का पता लगा कर आओ ॥ ७० ॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डमण्डितां
दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः।
अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां
ततो निवृत्ताः सुखिनो भविष्यथ ॥ ७१ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

इन्द्र की स्त्री, वनादिकों से भूषित, पूर्व दिशा को तुम चतुर वानर भली भाँति खोजना, यदि तुम श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय जानकी का पता लगा कर लौटोगे, तो तुम सब बहुत प्रसन्न होगे ॥ ७१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम्।
दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान्[1] ॥ १ ॥

कपिराज वीरवर सुग्रीव ने उस महती वानरी सेना को पूर्व दिशा की ओर भेज, कार्यसाधन में परीक्षित वानरों को दक्षिण दिशा में भेजा ॥ १ ॥

---

१ अभिलक्षितान्—कार्यसाधकत्वेन परीक्षितान्। (शि०)

नीलमग्निसुतं चैव हनुमन्तं च वानरम् ।
पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महाबलम् ॥ २ ॥
सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च ।
गजं गवाक्षं गवयं सुषेणवृषभं तथा ॥ ३ ॥
मैन्दं च द्विविदं चैव विजयं गन्धमादनम् ।
उल्कामुखमनङ्गं* च हुताशनसुतावुभौ ॥ ४ ॥
अङ्गदप्रमुखान्वीरान्वीरः कपिगणेश्वरः ।
वेगविक्रमसम्पन्नान्सन्दिदेशं विशेषवित् ॥ ५ ॥

अग्निसुत नील, हनुमान, और ब्रह्मा के पुत्र महाबली जाम्बवान, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेण, वृषभ, मैन्द, द्विविद, विजय, गन्धमादन, तथा अग्नि के दोनों पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग को, जो वेग और पराक्रम वाले थे, कपिराज और सब देशों को विशेष रूप से जानने वाले सुग्रीव ने दक्षिण दिशा को भेजा ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

तेषामग्रेसरं चैव महद्बलमथाङ्गदम्† ।
विधाय हरिवीराणामादिशद्दक्षिणां दिशम् ॥ ६ ॥

दक्षिण दिशा को जो वानर भेजे, उन सब के मुखिया बड़े बलवान् युवराज अंगद को बना कर, सुग्रीव ने उनको दक्षिण दिशा को भेजा ॥ ६ ॥

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः ।
कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां तानुदाहरत् ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" असङ्गं । " † पाठान्तरे " महद्बलमसङ्गमम् ।"

कपिराज सुग्रीव ने उस दिशा में जो जो देश दुर्गम थे, उनका वृत्तान्त उन वानरों के नेताओं को बतलाया ॥ ७ ॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम् ।
नर्मदां च नदीं रम्यां* महोरगनिषेविताम् ॥ ८ ॥

तुमको सहस्र शिखर वाला विविध वृक्षों से युक्त विन्ध्याचल प्रथम मिलेगा। फिर बड़े बड़े सर्पों से युक्त और रमणीय गोदावरी नदी मिलेगी ॥ ८ ॥

ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम् ।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर गोदावरी और रमणीक कृष्णवेणी नदी मिलेगी। इन वर देने वाली महाभागा नदियों के आस पास बड़े बड़े सर्प रहते हैं ॥ ९ ॥

मेखलामुत्कलां चैव दशार्णनगराण्यपि ।
अश्ववन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत ॥ १० ॥

तदनन्तर तुम लोगों को मेखल, उत्कल, दशार्ण देश के नगर, अश्ववन्ती और अवन्ती मिलेगी। इन प्रदेशों में घूम फिर कर पता लगाना ॥ १० ॥

विदर्भानृषिकांश्चैव रम्यान्माहिषकानपि ।
तथा वङ्गान्कलिङ्गांश्च कौशिकांश्च समन्ततः ॥ ११ ॥

फिर तुमको विदर्भ, ऋषिक, और रमणीक माहिषक भी मिलेगा। फिर वंग, कलङ्ग और कौशिक देश मिलेंगे। इन देशों में सर्वत्र खोज कर ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—"दुर्गां ।"

अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम् ।
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत ॥ १२ ॥

तुम लोग दण्डकारण्य के समस्त पहाड़ों, वहां की नदियों, गुफाओं तथा गोदावरी नदी के तटवर्ती स्थानों को खोजना ॥ १२ ॥

तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान्पाण्ड्यान्सकेरलान्
अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ॥ १३ ॥

तदनन्तर आन्ध्र, पुण्ड्र चोल, पांड्य और केरल, देशों को देख, अयोमुख नामक धातुओं से मण्डित पर्वत पर जाना ॥ १३ ॥

विचित्रशिखरः श्रीमांश्चित्रपुष्पितकाननः ।
सचन्दनवनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः ॥ १४ ॥

यह पर्वत विचित्र शिखरों तथा अनेक फूले हुए वनों से शोभा-युक्त है। इसके ऊपर चन्दन वृक्षों का वन है। सो इस महापर्वत पर भी ढूढ़ना ॥ १४ ॥

ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहितामप्सरोगणैः ॥ १५ ॥

इसके बाद तुम लोगों को दिव्य, स्वच्छ जल वाली, पुण्यतोया कावेरी मिलेगी, जिसके तटों पर अप्सराएँ विहार किया करती हैं ॥ १५ ॥

तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम् ।
द्रक्ष्यथादित्यसङ्काशमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥

फिर मलय पर्वत के शिखर पर आसीन महातेजस्वी सूर्य के समान ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी मिलेंगे ॥ १६ ॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नेन महात्मना ।
ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम् ॥ १७ ॥

जब वे प्रसन्न हों तुमको विदा करें, तब वहां से चल कर घड़ियालों से परिपूर्ण ताम्रपर्णी महानदी के पार होना ॥ १७ ॥

सा चन्दनवनैर्दिव्यैः प्रच्छन्ना द्वीपशालिनी ।
कान्तेव युवतिः कान्तं समुद्रमवगाहते ॥ १८ ॥

इस नदी के उभय तट और इसके द्वीप (टापू) चन्दन के पेड़ों से आच्छादित हैं। यह नदी समुद्र से वैसे ही जा कर मिलती है, जैसे कोई युवती स्त्री अपने पति से मिलती है ॥ १८ ॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम् ।
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः ॥ १९ ॥

हे वानरों ! तदनन्तर तुम लोगों को सोने का और दिव्य मोतियों का जड़ाउ पांड्यवंशियों का फाटक देख पड़ेगा ॥ १९ ॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्पधार्यार्थनिश्चयम् ।
आगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ॥ २० ॥

चित्रनानानगः श्रीमान्महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ।
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम् ॥ २१ ॥

नानाविधैर्नगैः सर्वैर्लताभिश्चोपशोभितम् ।
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च सेवितम् ॥ २२ ॥

सिद्धचारणसङ्घैश्च प्रकीर्णं सुमनोहरम् ।
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ॥ २३ ॥

तदनन्तर तुम्हें समुद्र मिलेगा। उस समुद्र के पार जाने के विषय में अपनी सामर्थ्य को विचार कर, उसके पार होना। वहाँ पर अगस्त्य मुनि ने समुद्र के भीतर महेन्द्राचल पहाड़ को खड़ा कर दिया है। यह पर्वत सुवर्णमय है। इसके अनेक प्रकार के शृङ्ग लताओं से सुशोभित हैं। उस पर्वत पर देवर्षि, यक्ष, अप्सराएँ और चारण रहा करते हैं। इससे भी यह बड़ा मनोहर हो गया है। प्रत्येक पर्व पर समुद्रस्नान करने को इस पर्वत पर इन्द्र आया करते हैं॥ २०॥ २१॥ २२॥ २३॥

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः।
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्तं मार्गध्वं समन्ततः॥ २४॥

इस समुद्र के उस पार सौ योजन लंबा एक द्वीप है। उस द्वीप में कोई मनुष्य नहीं जा सकता। उस द्वीप में भी सर्वत्र खोजना॥ २४॥

तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः।
स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः॥ २५॥
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः।
दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी॥ २६॥
अङ्गारकेति विख्याता च्छायामाक्षिप्य भोजनी।
एवं निःसंशयान्कृत्वा संशयान्नष्टसंशयाः॥ २७॥
मृगयध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः।
तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान्समुद्रे शतयोजने॥ २८॥

वहाँ जा कर उसमें सब जगह विशेष कर सीता को ढूंढना। वही स्थान इन्द्र तुल्य दीप्तमान राक्षसपति दुरात्मा और वध करने

योग्य रावण का वासस्थल है। दक्षिणसमुद्र के बीच में अङ्गारिका नाम की प्रसिद्ध राक्षसी है, जो आकाशचारियों को उनकी छाया द्वारा पकड़ कर खा डाला करती है। मेरे बतलाये हुए संशययुक्त स्थानों को भली भाँति देख भाल कर और सब सन्देहों को दूर कर अमित तेजस्वी नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या सीता को खोजना। उस द्वीप को लांघ कर, सौ योजन वाले शोभायुक्त समुद्र के बीच ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेवितः।
चन्द्रसूर्यांशुसङ्काशः सागराम्बुसमावृतः ॥ २९ ॥

पुष्पितक नाम का एक पहाड़ है, इस पर भी सिद्ध और चारण रहा करते हैं। यह सूर्य और चन्द्रमा की तरह कान्तिमान् चारों ओर से सागर के जल से घिरा हुआ है ॥ २९ ॥

भ्राजते विपुलैः शृङ्गैरम्बरं विलिखन्निव।
तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः ॥ ३० ॥

इस पर्वत के शिखर आकाशस्पर्शी हैं। इसके एक सोने के शृङ्ग का सूर्य भगवान् सेवन किया करते हैं ॥ ३० ॥

श्वेतं राजतशृङ्गं* च सेवते यं निशाकरः।
न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः ३१ ॥

और उसके दूसरे चाँदी के शृङ्ग का निशानाथ चन्द्रमा सेवन किया करते हैं। इस पर्वत को कृतघ्न, नृशंस और नास्तिक लोग नहीं देख पाते ॥ ३१ ॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गत वानराः।
तमतिक्रम्य दुर्धर्षाः सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥ ३२ ॥

---

* पाठान्तरे—"राजतमेकं।"

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश ।
ततस्तमप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥ ३३ ॥

हे वानरो ! तुम इस पर्वत को प्रणाम कर सीता जी को ढूढ़ना । उस पर्वत के आगे जाने पर तुमको दुर्धर्ष सूर्यवान् नाम का पर्वत मिलेगा । पूर्वकथित पर्वत से यह पर्वत चौदह योजन के अन्तर पर है, किन्तु इसका मार्ग बड़ा बेंड़ा है । सूर्यवान् पर्वत के आगे तुम्हें वैद्युत नाम का पहाड़ मिलेगा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैः सर्वकालमनोहरैः ।
तत्र भुक्त्वा वराहार्णि मूलानि च फलानि च ॥ ३४ ॥

यह पर्वत सदा हरा भरा और सुन्दर बना रहता है और इसके ऊपर जो वृक्ष हैं, वे सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले फलों से लदे रहते हैं । वहाँ उन वृक्षों के अत्युत्तम फल मूलों को खा कर ॥ ३४ ॥

मधूनि पीत्वा जुष्टानि* परं गच्छत वानराः
तत्र नेत्रमनःकान्तः कुञ्जरो नाम पर्वतः ॥ ३५ ॥

और मधुपान करके तथा तृप्त हो कर आगे जाना । तब आँखों को और मन को आनन्द देने वाला कुञ्जर नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३५ ॥

अगस्त्यभवनं यत्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥ ३६ ॥

इसी पर्वत पर विश्वकर्मा का बनाया हुआ अगस्त्य मुनि का एक भवन है । यह भवन एक योजन लंबा और दस योजन ऊँचा है ॥ ३६ ॥

---

* पाठान्तरे —"मुख्यानि ।"

शरणं[1] काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम् ।
तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥ ३७ ॥

यह भवन सोने का है और अनेक रत्नों से भूषित है। वहीं पर सर्पों की भोगवती नाम की पुरी है ॥ ३७ ॥

विशालकक्ष्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता ।
रक्षिता पन्नगैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः ॥ ३८ ॥

इस पुरी की बड़ी बड़ी गलियाँ हैं। यह दुर्धर्ष है। क्योंकि चारों ओर से बड़े बड़े भयङ्कर और पैने दाँतों वाले महाविषधर सर्पों से यह सुरक्षित है ॥ ३८ ॥

सर्पराजो महाप्राज्ञो यस्यां वसति वासुकिः ।
निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥ ३९ ॥

यहीं पर बड़े बुद्धिमान सर्पों के राजा वासुकि रहा करते हैं। वहाँ जा कर उस भोगवतीपुरी में भी सीता को ढूढ़ना ॥ ३९ ॥

तत्र चानन्तरा देशा ये केचन सुसंवृताः ।
तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितः ॥ ४० ॥

वहाँ पर अनेक ऐसे देश हैं, जो छिपे हुए हैं अर्थात् जिन्हें बहुत कम लोग जानते हैं। उनमें जा कर ढूढ़ना। इस देश के आगे तुम्हें बैल के आकार का ऋषभ नामक पर्वत देख पड़ेगा ॥ ४० ॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः ।
गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥ ४१ ॥

---

१ शरणं—गृहं । (गो०)

इस ऋषभ पर्वत में सब प्रकार के रत्न हैं और यह बड़ा शोभायमान है। इसके ऊपर गोरोचन के रंग का, पद्मपत्र के रंग का, तमालदल वर्ण का चन्दन उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

दिव्यमुत्पद्यते यत्र तच्चैवाग्निसमप्रभम् ।
न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्पृष्टव्यं च कदाचन ॥ ४२ ॥

जहाँ पर ये दिव्य चन्दन उत्पन्न होता है, वहीं पर अग्नि के समान रंग का चन्दन भी पैदा होता है। उस चन्दन को देख कर, उसे कभी मत छूना ॥ ४२ ॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरा रक्षन्ति तद्वनम् ।
तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥ ४३ ॥

क्योंकि रोहित नामक भयङ्कर गन्धर्व उस वन की रक्षा किया करते हैं। ये पाँच गन्धर्वों के स्वामी सूर्य के समान प्रभा वाले हैं ॥ ४३ ॥

शैलूषो ग्रामणीः शिग्रुः शुभ्रो वभ्रुस्तथैव च ।
रविसोमाग्निवपुषां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

उन पाँच के नाम हैं शैलूष, ग्रामणी, शिग्र, शुभ्र, और वभ्रु। वहाँ पर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जैसे शरीरधारी पुण्यात्मा जन रहा करते हैं ॥ ४४ ॥

अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्तत्र स्वर्गजितः स्थिताः ।
ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः ॥ ४५ ॥

इसके आगे पृथिवी का अन्त है। यहाँ पर बड़े दुर्धर्ष लोग जिन्होंने अपने पुण्य के बल से स्वर्ग सम्पादन कर लिया है, वास

करते हैं। इसके आगे दारुण पितृलोक है, जहां मनुष्य लोग नहीं जा सकते ॥ ४५ ॥

राजधानी यमस्यैषा कष्टेन तमसा वृता ।
एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुङ्गवाः ॥ ४६ ॥

वहां पर अंधकार से आच्छादित यमराज की राजधानी (संयमिनी पुरी) है। वहां पर तुम क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकते। हे वानरश्रेष्ठों ! बस यहीं तक तुम लोग जा सकोगे ॥ ४६ ॥

शक्यं विचेतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः ।
सर्वमेतत्समालोक्य यच्चान्यदपि दृश्यते ॥ ४७ ॥

इससे आगे और फिर मनुष्यादि कोई भी नहीं जा सकते। जो जो स्थान मैंने बतलाये, वे सब तथा अन्य स्थान भी जो तुम्हें दिखलाई दें, ढूढ़ना ॥ ४७ ॥

गतिं विदित्वा वैदेह्याः सन्निवर्तितुमर्हथ ।
यस्तु मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति ॥
मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥ ४८ ॥

सीता जी का पता लगा कर तुम लोग लौट आओ। एक मास के भीतर जो मुझसे सीता के देखने का संवाद देगा, वह मेरे सदृश विभव पा कर, अनेक प्रकार के भोगों और सुखों का उपभोग करता हुआ, विहार करेगा ॥ ४८ ॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः ।
कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥ ४९ ॥

और उससे बढ़ कर मेरा प्राणप्रिय दूसरा न होगा। वह यदि कितना ही अपराध करे, मैं उसे अपना बन्धु ही मानूँगा ॥ ४९ ॥

अमितबलपराक्रमा भवन्तो
विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रसूताः ।
मनुजपतिसुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥ ५० ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे वानरो ! तुम लोग अमित बल विक्रम वाले और बड़े गुणवान हो तथा तुम्हारा जन्म उत्तम कुल में हुआ है। इस समय तुम सब ऐसा पुरुषार्थ कर के दिखलाओ, जिससे श्रीरामचन्द्र जी की भार्या सीता जी मिल जाँय ॥ ५० ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—※—

अथ प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तान्हरीन्दक्षिणां दिशम् ।
अब्रवीन्मेघसङ्काशं सुषेणं नाम यूथपम् ॥ १ ॥

उन समस्त वानरों को दक्षिण दिशा में भेज, मेघ के समान डीलडौल वाले सुषेण नामक यूथपति से सुग्रीव कहने लगे ॥ १ ॥

तारायाः पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम् ।
अब्रवीत्माञ्जलिर्वाक्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥ २ ॥

सुषेण, तारा के पिता थे और वालि के ससुर थे तथा बड़े भयङ्कर विक्रमशाली थे। अतः सुग्रीव उनके पास जा, प्रणाम कर तथा हाथ जोड़ कर उनसे बोले ॥ २ ॥

मरीचिपुत्रं मारीचमर्चिष्मन्तं महाकपिम् ।
वृतं कपिवरैः शूरैर्महेन्द्रसदृशद्युतिम् ॥ ३ ॥

महर्षि मारीच के पुत्र अर्चिष्मान् नामक महावानर से भी सुग्रीव ने कहा। यह वानर अति शूर था, इसके अनुयायी बहुत से वानर भी थे। इसका शरीर महेन्द्राचल की तरह बड़ा लंबा चौड़ा था और उसके चेहरे पर तेज विराजमान था ॥ ३ ॥

बुद्धिविक्रमसम्पन्नं वैनतेयसमं जवे* ।
मरीचिपुत्रान्मारीचानर्चिर्मालान्महाबलान् ॥ ४ ॥

यह बड़ा बुद्धिमान और पराक्रमी था और तेज चलने में गरुड़ के समान था। यह महर्षि मरीच का पुत्र था और इसका नाम अर्चिष्मान् था। यह देदीप्यमान माला पहिने हुए था और महाबलवान था ॥ ४ ॥

ऋषिपुत्रांश्च तान्सर्वान्प्रतीचीमादिशद्दिशम् ।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसत्तमाः ॥ ५ ॥
सुषेणप्रमुखा यूयं वैदेहीं परिमार्गत ।
सुराष्ट्रान्सहवाह्लीकान्चन्द्र चित्रांस्तथैवा† च ॥ ६ ॥
स्फीताञ्जनपदान्रम्यान्विपुलानि पुराणि च ।
पुन्नागगहनं कुक्षिं वकुलोद्दालकाकुलम् ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" समद्युतिम् " । † पाठान्तरे—" शूरान्भीमांस्तथैवच " ।

तथा केतकषण्डांश्च मार्गध्वं हरियूथपाः ।
प्रत्यक्स्रोतोगमाश्चैव नद्यः शीतजलाः शिवाः ॥ ८ ॥
तापसानामरण्यानि कान्तारा गिरयश्च ये ।
ततः स्थलीं मरुप्रायामत्युच्चशिरसः शिलाः ॥ ९ ॥
गिरिजालावृतां दुर्गां मार्गित्वा पश्चिमां दिशम् ।
ततः पश्चिममासाद्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥

इन ऋषिपुत्र को तथा उसके अनुयायी वानरों को पश्चिम दिशा में जाने की सुग्रीव ने आज्ञा दी। सुग्रीव बोले—हे वानरो! तुम लोग सुषेण को अपना नेता बना कर, दो लाख वानरों के साथ जा कर सीता का पता लगाओ। हे कपियूथपतियों! तुम लोग सौराष्ट्र, बाल्हीक, चन्द्रचित्र नामक देशों के बड़े बड़े रमणीय और पुराने जनपदों में, नागकेसर के जंगल वाले देशों में, मौलसिरी तथा लसोड़े के जंगलों में और केवड़े के जंगलों में सीता को खोजो। पश्चिमवाहिनी नदियों के तटवर्ती स्थानों में, तपस्वियों के रहने के वनों में, बड़े दुर्गम पर्वतों पर, मरु देशों में, अति ऊँची शिलाओं पर, तथा पर्वतमाला से युक्त दुर्गम भूमि वाली पश्चिम दिशा को देखने के बाद, पश्चिम समुद्र के तट पर आ कर ढूढ़ना ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

तिमिनक्रायुतजलमक्षोभ्यमथ वानराः ।
ततः केतकषण्डेषु तमालगहनेषु च ॥ ११ ॥

इस समुद्र में बड़े बड़े तिमिङ्गल मच्छ और नाके मगर भरे हुए हैं। इस समुद्र के तटवर्ती केवड़े और तमालों के वनों में ॥ ११ ॥

कपयो विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च ।
तत्र सीतां च मार्गध्वं निलयं रावणस्य च ॥ १२ ॥

तथा नारियल के वनों में, जहां वानर घूमा फिरा करते हैं, सीता और रावण के आवास-स्थान को तलाश करना ॥ १२ ॥

वेलातटनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
मुरचीपत्तनं चैव रम्यं चैव जटीपुरम् ॥ १३ ॥
अवन्तीमङ्गलोपां च तथा चालक्षितं वनम् ।
राष्ट्राणि च विशालानि पत्तनानि ततस्ततः ॥ १४ ॥

समुद्र तटवर्ती समस्त पर्वत, वन और मुरचीपत्तन, रमणीक जटीपुर, अवंती, अंगलोपा, अलक्षित नामक वन भी देखना। फिर राष्ट्रों में तथा बड़े बड़े नगरों में भी ढूढ़ना ॥ १३ । १४ ॥

सिन्धुसागरयोश्चैव सङ्गमे तत्र पर्वतः ।
महान्हेमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥ १५ ॥

जहां पर सिन्धु नद और बड़े समुद्र का सङ्गम होता है, वहां पर एक पहाड़ है। उसका नाम है हेमगिरि और उस पर सौ शिखर हैं। उस पर एक बड़ा वृक्ष है ॥ १५ ॥

तस्य प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाः स्थिताः ।
तिमिमत्स्यगजांश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥ १६ ॥

उसके रमणीक शिखर पर पक्षधारी सिंह हैं, जो तिमि मच्छ जैसे बड़े भारी जलजीवों और हाथियों को उठा कर अपने घोंसलों में ले जाते हैं ॥ १६ ॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये ।
दृप्तास्तप्ताश्च मातङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥ १७ ॥

विचरन्ति विशालेऽस्मिंस्तोयपूर्णे समन्ततः ।
तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥ १८ ॥

इन सिंहों के घोंसले उसी पहाड़ के शिखरों पर बने हुए हैं इस पर्वत के चारों ओर जल है। और इसी पर्वत के शिखर पर बड़े मोटे ताजे, मदमस्त गज, जो मेघ की तरह चिंघारते हैं, घूमा फिरा करते हैं। उसका एक शिखर जो सुवर्णमय है आकाशस्पर्शी है और उसके ऊपर चित्रविचित्र पेड़ लगे हुए हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

सर्वमाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः ।
कोटिं तत्र समुद्रे तु काञ्चनीं शतयोजनाम् ॥ १९ ॥

इस पर्वत पर तुम सब वानर आवश्यक रूप धारण कर भली भाँति ढूढ़ लेना। इसी समुद्र में पारियात्र नामक पहाड़ की सुवर्णमयी चोटी शतयोजन लंबी है ॥ १९ ॥

दुर्दर्शां पारियात्रस्य गता द्रक्ष्यथ वानराः ।
कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद्गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ॥ २० ॥

हे वानरो ! वहाँ जाने पर इस चोटी का देखना दुर्गम होने पर भी तुम लोग उसे देख सकोगे। उस चोटी पर चौबीस करोड़ बड़े बलवान गन्धर्व रहा करते हैं ॥ २० ॥

वसन्त्यग्निनिकाशानां महतां कामरूपिणाम् ।
पावकार्चिःप्रतीकाशाः समवेताः सहस्रशः ॥ २१ ॥

वहाँ के रहने वाले गन्धर्व अग्नि की तरह दीप्यमान और बड़े इच्छारूपधारी हैं। वे अग्नि शिखर की तरह प्रकाशित हो, चारों ओर घूमा करते हैं ॥ २१ ॥

नात्यासादयितव्यास्ते वानरैर्भीमविक्रमैः ।
नादेयं[1] च फलं तस्मादेशात्किञ्चित्प्लवङ्गमैः ॥ २२ ॥

यद्यपि तुम लोग भी बड़े पराक्रमी हो, तथापि न तो उनके पास जाना और न उनसे छेड़छाड़ करना। वहाँ के फल भी मत लेना ॥ २२ ॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः ॥ २३ ॥

क्योंकि वहाँ के गन्धर्व बड़े वीर दुर्धर्ष और बलवान् हैं। वे भीम पराक्रमी गन्धर्व, वहाँ जो फल हैं, उनकी रखवाली करते हैं ॥ २३ ॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी ।
न हि तेभ्यो भयं किञ्चित्कपित्वमनुवर्तताम् ॥ २४ ॥

वहाँ सीता को भली भाँति यत्न पूर्वक खोजना। उनसे डरना मत। क्योंकि वंदरपन दिखलाने से वे तुमसे न बोलेंगे ॥ २४ ॥

तत्र वैडूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानसंस्थितः ।
नानाद्रुमलताकीर्णो वज्रो नाम महागिरिः ॥ २५ ॥
श्रीमान्समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम् ।
गुहास्तत्र विचेतव्याः प्रयत्नेन प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

हे वानरो! वहाँ पर वैडूर्यमणि के रंग का और हीरे जैसी चमक वाला तथा अनेक प्रकार के पेड़ों से युक्त, शतयोजन चौड़ा और शोभायमान वज्र नाम का एक बड़ा पहाड़ है। उस पर्वत की सब गुफाएँ देखना ॥ २५ ॥ ९६ ॥

---

१ नादेयं—नस्वीकार्यं। (गो०)

चतुर्भागे[1] समुद्रस्य[2] चक्रवान्नाम पर्वतः ।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २७ ॥

खारी समुद्र के चतुर्थ भाग में चक्रवान नामक एक पर्वत है। उस पर्वत पर विश्वकर्मा ने हज़ार आरों का एक चक्र बनाया था ॥ २७ ॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम् ।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः ॥ २८ ॥

वहीं पर पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने पञ्चजन और हयग्रीव नाम के दो दानवों को मार कर, शङ्ख और चक्र ग्रहण किये थे ॥ २८ ॥

तस्य सानुषु चित्रेषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २९ ॥

इस पर्वत के शृङ्गों और इसकी बड़ी बड़ी गुफाओं में सीता जी तथा रावण का पता लगाना ॥ २९ ॥

योजनानां ततः षष्टिर्वराहो नाम पर्वतः ।
सुवर्णशृङ्गः सुश्रीमानगाधे वरुणालये ॥ ३० ॥

इसके आगे अगाध समुद्र में साठ योजन की ऊँचाई वाला सुवर्ण शिखर वाला वराह नाम का एक बड़ा सुन्दर पर्वत है ॥ ३० ॥

---

१ चतुर्भागे—चतुर्थभागे । (गो०) २ समुद्रस्य—लवणसमुद्रस्य । (गो०)

तत्र प्राग्ज्योतिषं नाम जातरूपमयं पुरम् ।
यस्मिन्वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥ ३१ ॥

इसी पर्वत पर सुवर्णमय प्राग्ज्योतिष-नामक नगर है, जिसमें नरक नाम का दुष्टात्मा दानव रहता है ॥ ३१ ॥

तत्र सानुषु चित्रेषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ३२ ॥

उस पर्वत के चित्रविचित्र शिखरों तथा विशाल गुफाओं में रावण सहित जानकी को ढूढ़ना ॥ ३२ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरनिर्दरः ।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रस्रवणायुतः ॥ ३३ ॥

उस सुवर्णगर्भ पर्वतराज को पार करने पर धाराओं और झरनों से भूषित सर्वसौवर्ण नाम का पर्वत मिलेगा ॥ ३३ ॥

तं गजाश्च वराहाश्च सिंहा व्याघ्राश्च सर्वतः ।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः ॥ ३४ ॥

उस पहाड़ पर सूअर, सिंह, व्याघ्रादि जंगली जानवर सदा ही अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुन और अहङ्कार से युक्त हो, गर्जा करते हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन्हरिहयः[1] श्रीमान्महेन्द्रः पाकशासनः ।
अभिषिक्तः सुरैः राजा मेघवान्नाम पर्वतः ॥ ३५ ॥

---

१ हरिहयः—श्यामवर्णाश्वयुक्तः । (गो०)

इसके आगे तुम्हें मेघवान् नाम का पहाड़ मिलेगा। इसी पर श्यामवर्ण के बेड़ों से युक्त, शोभायमान इन्द्र का देवताओं ने युवराज्य पर अभिषेक किया था ॥ ३५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं महेन्द्रपरिपालितम् ।
षष्टिं गिरिसहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ ॥ ३६ ॥

इन्द्रपालित इस शैलेन्द्र को लाँघने पर, तुमको सोने के साठ हज़ार पर्वत मिलेंगे ॥ ३६ ॥

तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः ।
जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुपुष्पितैः ॥ ३७ ॥

इस पर्वतमाला का प्रकाश चारों ओर मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह बड़ा चमकीला है। यहां पर सुवर्णमय और पुष्पित वृक्ष सुशोभित हैं ॥ ३७ ॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तरपर्वतः ।
आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तवरः पुरा ॥ ३८ ॥

तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः ।
मत्प्रसादाद्भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चनाः ॥ ३९ ॥

इनके मध्य में सुमेरु नामक पर्वतराज है। इसको सूर्य ने प्रसन्न हो कर यह वरदान दिया है कि, तुम्हारे आश्रित जो पर्वत रहेंगे वे भी मेरी कृपा से, क्या दिन में और क्या रात में सदा सुनहले देख पड़ेंगे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

त्वयि ये चापि वत्स्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः ।
ते भविष्यन्ति रक्ताश्च प्रभया काञ्चनप्रभाः ॥ ४० ॥

तेरे ऊपर जो कोई देवता, दानव गन्धर्व रहेंगे, वे सब सुवर्ण की तरह लाल दिखलाई पड़ेंगे ॥ ४० ॥

विश्वेदेवाश्च मरुतो वसवश्च दिवौकसः ।
आगम्य पश्चिमां सन्ध्यां मेरुमुत्तरपर्वतम् ॥ ४१ ॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः ।
अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ४२ ॥

इस पर्वत पर विश्वेदेव, वसु, और मरुत तथा अन्यदेव सायं सन्ध्या के समय आ कर सूर्यदेव की उपासना करते हैं। सूर्य देवता उनसे पूजे जा कर और सब जीवों की दृष्टि से अदृश्य हो, अस्ताचलगामी होते हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः ।
मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियाति शिलोच्चयम् ॥ ४३ ॥

उस समय सूर्य अर्ध मुहूर्त में बड़ी शीघ्रता से दस हज़ार योजन चल कर, अस्ताचल पर पहुँच जाते हैं ॥ ४३ ॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसन्निभम् ।
प्रासादगणसम्बाधं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४४ ॥

उस पर्वत के शिखर पर बड़ा दिव्य, सूर्य के समान चमकीला, कई खनों (मंज़िलों) वाला भवन, विश्वकर्मा का बनाया हुआ है ॥ ४४ ॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः ।
निकेतं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥

वह भाँति भाँति के चित्रविचित्र वृक्षों और पक्षियों से परिपूर्ण है। यह ही पाशहस्त वरुण जी का स्थान है ॥ ४५ ॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान् ।
जातरूपमयः श्रीमान्भ्राजते चित्रवेदिकः ॥ ४६ ॥

आगे मेरु और अस्ताचल के बीच में दश डालियों का, सुवर्णमय, अत्यन्त मनोहर और विचित्र वेदिकायुक्त एक ताल का पेड़ है ॥ ४६ ॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरःसु च सरित्सु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ४७ ॥

वहां के समस्त दुर्गम स्थानों में, सरोवरों और नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में, सीता सहित रावण को खोजना ॥ ४७ ॥

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः ।
मेरुसावर्णिरित्येव ख्यातो वै ब्रह्मणा समः ॥ ४८ ॥

वहीं पर ब्रह्मा जी के समान तेजस्वी और अपने तेज से प्रकाशित धर्मात्मा मेरुसावर्णि नाम के एक विख्यात महर्षि रहते हैं ॥ ४८ ॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसन्निभः ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ प्रवृत्तिं मैथिलीं प्रति ॥ ४९ ॥

उन सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि मेरुसावर्णि को पृथिवी पर माथा टेक कर प्रणाम करना और उनसे जानकी जी के बारे में पूँछना ॥ ४९ ॥

एतावज्जीवलोकस्य भास्करो रजनीक्षये ।
कृत्वा वितिमिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ५० ॥

बस यहीं तक जीवलोक में, रात के बीत जाने पर, सूर्य नारायण उदयाचल पर्वत से मेरुसावर्णि तक अन्धकार का नाश कर, अस्ताचल को चले जाते हैं ॥ ५० ॥

एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५१ ॥

हे वानरोत्तम ! बस यहीं तक वानरगण जा सकते हैं। इसके आगे का हाल सूर्य का प्रकाश न होने तथा भूभाग की मर्यादा (का पता) न होने के कारण, मुझे नहीं मालूम ॥ ५१ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
अस्तं पर्वतमासाद्य पूर्णे मासे निवर्तत ॥ ५२ ॥

तुम लोग अस्ताचल तक जा कर, सीता का तथा रावण के आवासस्थान का पता लगा कर, एक मास पूरा होते होते लौट आना ॥ ५२ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन्वध्यो भवेन्मम ।
सहैव शूरो युष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति ॥ ५३ ॥

एक मास से अधिक मत लगाना। जो कोई लगावेगा उसे मैं मार डालूँगा। तुम्हारे साथ मेरे यह शूरवीर ससुर जायँगे ॥ ५३ ॥

श्रोतव्यं सर्वमेतस्य भवद्भिर्दिष्टकारिभिः ।
गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः ॥ ५४ ॥

अतः आप सब उनके कहने में चलना। जो कुछ यह कहें, उसे सुनना। क्योंकि मेरे यह महाबाहु ससुर पूज्य हैं और महाबलवान् हैं ॥ ५४ ॥

भवन्तश्चापि विक्रान्ताः प्रमाणं[1] सर्वकर्मसु ।
प्रमाणमेनं संस्थाप्य पश्यध्वं पश्चिमां दिशम् ॥ ५५ ॥

यद्यपि आप लोग भी पराक्रमी और सब कार्यों की व्यवस्था करने वाले हैं, तथापि आप इनको अपना व्यवस्थापक बना कर पश्चिम दिशा में सीता और रावण के आवासस्थान की खोज का कार्य करना ॥ ५५ ॥

दृष्टायां तु नरेन्द्रस्य पत्न्यामिततेजसः ।
कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा ॥ ५६ ॥

इन अतुलित तेज सम्पन्न नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या का पता लगा देने से हम सब कृतकृत्य हो जायंगे और इनके उपकार का बदला भी चुक जायगा ॥ ५६ ॥

अतोऽन्यदपि *यत्किञ्चित्कार्यस्यास्य हितं भवेत् ।
सम्प्रधार्य भवद्भिश्च देशकालार्थसंहितम् ॥ ५७ ॥

अतएव मेरे कथन के अतिरिक्त यदि कोई हितकर काम जान पड़े तो उसे भी देश, काल और अर्थ का विचार कर, करना ॥ ५७ ॥

ततः सुषेणप्रमुखाः प्लवङ्गाः
सुग्रीववाक्यं निपुणं निशम्य ।
आमन्त्र्य सर्वे प्लवगाधिपं ते
जग्मुर्दिशं तां वरुणाभिगुप्ताम् ॥ ५८ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ प्रमाणं—व्यवस्थापकं । (गो०) * पाठान्तरे—"यत्कार्यं ।"

तब सुषेणादि निपुण वानर कपिराज सुग्रीव के वचन सुन, और उनसे आज्ञा ले, वरुण से रक्षित पश्चिम दिशा को चले गये ॥ ५८ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—※—

ततः सन्दिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम् ।
वीरं शतबलिं नाम वानरं वानरर्षभः ॥ १ ॥

सुग्रीव ने अपने ससुर सुषेण को पश्चिम दिशा में भेजा । तदनन्तर शतबलि नामक वानरश्रेष्ठ की ओर देख कर, ॥ १ ॥

उवाच राजा धर्मज्ञः सर्ववानरसत्तमम् ।
वाक्यमात्महितं चैव रामस्य च हितं तथा ॥ २ ॥

धर्मज्ञ कपिराज सुग्रीव ने उन समस्त वानरोत्तमों से ऐसे वचन कहे, जो अपने और श्रीरामचन्द्र जी के हित के लिये थे ॥ २ ॥

वृतः शतसहस्रेण त्वद्विधानां वनौकसाम् ।
वैवस्वतसुतैः सार्धं प्रतिष्ठस्व स्वमन्त्रिभिः ॥ ३ ॥

सुग्रीव ने कहा—तुम अपने मेल के एक लाख वानरों को साथ ले तथा अपने समस्त यमसुत मंत्रियों सहित यात्रा करो ॥ ३ ॥

दिशं ह्युदीचीं विक्रान्तां हिमशैलावतंसकाम् ।
सर्वतः परिमार्गध्वं रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥ ४ ॥

तुम हिमालय पर्वत से भूषित उत्तर दिशा में सर्वत्र अनिन्दिता श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी सीता का पता लगाओ ॥ ४ ॥

अस्मिन्कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये ।
ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदांवराः ॥ ५ ॥

हे विदांवरो (जानने वालों में श्रेष्ठ) ! श्रीरामचन्द्र जी का यह प्रिय कार्य पूरा हो जाने पर, हम सब उनके ऋण से उऋण हो, कृतार्थ होंगे ॥ ५ ॥

कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना ।
तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत् ॥ ६ ॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी ने हमारा मनोभिलषित कार्य पूरा किया है, सो यदि हम लोग प्रत्युपकार द्वारा उनका कुछ भी बदला चुका सकें, तो हमारा जीवन सफल हो ॥ ६ ॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत् ।
तस्य स्यात्सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः ॥ ७ ॥

जिसने अपना कोई उपकार नहीं किया, यदि उसका भी कोई उपकार कर दिया जाय तो भी जीवन सफल होता है । फिर जिसने पहले ही अपने को उपकार द्वारा उपकृत कर दिया है, उसका कार्य करने में तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

एतां बुद्धिं *समास्थाय दृश्यते जानकी यथा ।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः ॥ ८ ॥

आप लोग मेरे हितैषी हैं, अतः इन बातों को सोच समझ कर, ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे जानकी जी का पता लग जाय ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"अवस्थाय ।"

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः ।
अस्मासु चागतप्रीती रामः परपुरञ्जयः ॥ ९ ॥

वैरी के पुर को जीतने वाले नरोत्तम यह श्रीरामचन्द्र जी सब प्राणियों के मान्य और हम लोगों से प्रीति करते हैं ॥ ९ ॥

इमानि वनदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च ।
भवन्तः परिमार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥ १० ॥

अतः तुम लोग अपनी बुद्धि और पराक्रम से, जैसे बने वैसे, जिन दुर्गम स्थानों, नदियों और पर्वतों को मैं बतलाऊँ, वहाँ वहाँ जा कर जानकी का पता लगाओ ॥ १० ॥

तत्र म्लेच्छान्पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च ।
प्रस्थलान्भरतां[1]श्चैव कुरूंश्च सह मद्रकैः ॥ ११ ॥

काम्बोजान्यवनांश्चैव शकानारट्टकानपि ।
वाह्लीकान्हूपिकांश्चैव पौरवानथ टङ्कणान् ॥ १२ ॥

चीनान्परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः ।
अन्विष्य* दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च ॥ १३ ॥

लोध्रपद्मकषण्डेषु देवदारुवनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १४ ॥

उत्तर दिशा में म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, प्रस्थल, इन्द्रप्रस्थादि प्रदेश, दक्षिण कुरु, मद्रक, काम्बोज, यवन, शक, अरट्ट, वाल्हीक, ऋषिक, पौरव, टङ्कण, चीन, परमचीन, निहार, दरद, हिमवन्त

---

१ भरतां—इन्द्रप्रस्थादिप्रदेशान् । (गो०) * पाठान्तरे—"अन्वीक्ष्य" ।

पर्वत को, लोध्र के वनों, पद्मक के वनों और देवदारु के वनों में रावण और वैदेही को भली भाँति ढूढ़ना ॥ ११ ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥ १४ ॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम् ।
कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ ॥ १५ ॥

इसके अनन्तर तुम लोग सोमाश्रम में जा देवता और गन्धर्वों से सेवित तथा बड़े बड़े कंगूरों से युक्त काल नामक पर्वत पर जाना ॥ १५ ॥

महत्सु तस्य शृङ्गेषु* निर्दरेषु गुहासु च ।
विचिनुध्वं महाभागां रामपत्नीं ततस्ततः ॥ १६ ॥

उसके बड़े बड़े शिखरों, घाटियों और कन्दराओं में तुम लोग उन निन्दारहित महाभागा श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को भली भाँति ढूढ़ना ॥ १६ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भं महागिरिम् ।
ततः सुदर्शनं नाम गन्तुमर्हथ पर्वतम् ॥ १७ ॥

काल पर्वत के आगे तुमको हेमगर्भ नाम का बड़ा पहाड़ मिलेगा । इसके बाद तुम सुदर्शन नामक पर्वत पर जाना ॥ १७ ॥

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतगालयः ।
नानापक्षिगणाकीर्णो विविधद्रुमभूषितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर तुमको देवसखा नाम का पर्वत मिलेगा । इस पर्वत पर बहुत से पक्षी रहा करते हैं और यह भाँति भाँति के वृक्षों से भूषित है ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—"शैलस्य ।"

तस्य काननपर्णेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १९ ॥

देवसखा नाम के पर्वत के वनों में, झरनों पर तथा गुफाओं में रावण सहित जानकी को ढूढना ॥ १९ ॥

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम् ।
अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥ २० ॥

देवसखा नाम के पर्वत को लाँघने के बाद, तुमको सौ योजन लंबा चौड़ा जनशून्य एक मैदान मिलेगा। इसमें न तो कोई पर्वत है, न नदी है न वृक्ष और न कोई जीव ही है ॥ २० ॥

तं तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम् ।
कैलासं पाण्डुरं शैलं प्राप्य हृष्टा भविष्यथ ॥ २१ ॥

इस रोमाञ्चकारी मैदान को शीघ्रता पूर्वक पार करना। तदनन्तर तुमको सफेद रंग का कैलास नाम का पर्वत मिलेगा जिसे देख तुम सब बहुत प्रसन्न होगे ॥ २१ ॥

तत्र पाण्डुरमेघाभं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कुबेरभवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २२ ॥

उस कैलास पर्वत पर सफेद बादल जैसा और सुवर्ण भूषित, विश्वकर्मा का निर्मित, कुबेर का सुन्दर भवन दिखलाई पड़ेगा ॥२२॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला ।
हंसकारण्डवाकीर्णा ह्यप्सरोगणसेविता ॥ २३ ॥

वहाँ पर एक पुष्करिणी भी है जिसमें बहुत से कमल उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर हंस, कारण्डव पक्षी तथा अप्सराएँ रहा करती हैं ॥ २३ ॥

तत्र वैश्रवणो राजा सर्वभूतनमस्कृतः ।
वनदो रमते श्रीमान्गुह्यकैः सह यक्षराट् ॥ २४ ॥

उस भवन में धन देने वाले, यक्षराज राजा वैश्रवण (कुबेर) जिनको सब प्रणाम करते हैं, गुह्यों के सहित विहार किया करते हैं ॥ २४ ॥

तस्य चन्द्रनिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २५ ॥

उस कैलास पर्वत को चन्द्र तुल्य प्रकाशित पर्वतमाला में और गुफाओं में रावण और सीता को भलि भाँति ढूढ़ना ॥ २५ ॥

क्रौञ्चं तु गिरिमासाद्य बिलं तस्य सुदुर्गमम् ।
अप्रमत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत्स्मृतम् ॥ २६ ॥

कैलास पर्वत के बाद, तुम लोगों को क्रौंच पर्वत मिलेगा । उस पहाड़ के दुर्गम बिल में बड़ी सावधानी से जाना । क्योंकि लोग उस बिल को दुष्प्रवेश्य बतलाते हैं ॥ २६ ॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः ।
देवैरप्यर्चिताः सम्यग्देवरूपा महर्षयः ॥ २७ ॥

उसमें सूर्य जैसे तेज वाले देवरूप बड़े बड़े महात्मा महर्षि लोग रहते हैं । उनकी देवता लोग भी पूजा किया करते हैं ॥ २७ ॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च ।
निर्दराश्च नितम्बाश्च विचेतव्यास्ततस्ततः ॥ २८ ॥

उस क्रौंच पर्वत की अन्य गुफाओं, उसके शिखरों, घाटियों और तलेहटी को भली भाँति ढूढ़ना ॥ २८ ॥

क्रौञ्चस्य शिखरं चापि निरीक्ष्य च ततस्ततः ।
अवृक्षं कामशैलं च मानसं विहगालयम् ॥ २९ ॥

क्रौंच पर्वत के शिखर के ऊपर भी अच्छी तरह देखना भालना। इसी पर्वत पर मानस नाम का एक कामशैल है। यद्यपि उस पर कोई वृक्ष नहीं है, तथापि वह पक्षियों का घर है ॥ २९ ॥

न गतिस्तत्र भूतानां देवदानवरक्षसाम् ।
स च सर्वैर्विचेतव्यः ससानुप्रस्थभूधरः ॥ ३० ॥

वहाँ देव, दानव, राक्षसादि कोई भी प्राणी नहीं जा सकता। सो तुम लोग उस पर्वत के छोटे बड़े शिखरों और कन्दराओं को ढूढ़ना ॥ ३० ॥

क्रौञ्चं गिरिमतिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः ।
मयस्य भवनं यत्र दानवस्य स्वयं कृतम् ॥ ३१ ॥

क्रौंच गिरि के आगे तुमको मैनाक पर्वत मिलेगा। यहीं पर मय-दानव का भवन है, जो उसीका बनाया हुआ है ॥ ३१ ॥

मैनाकस्तु विचेतव्यः ससानुप्रस्थकन्दरः ।
स्त्रीणामश्वमुखीनां च निकेतास्तत्र तत्र तु ॥ ३२ ॥

मैनाक पर्वत के शिखरों और कंदराओं को भी ढूँढ़ना। उस पर्वत पर घुड़मुही औरतों (किम्पुरुषस्त्रियों) के घर बने हुए हैं ॥ ३२ ॥

तं देशं समतिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेवितम् ।
सिद्धा वैखानसास्तत्र वालखिल्याश्च तापसाः ॥ ३३ ॥

वहां से आगे जाने पर सिद्धों से सेवित आश्रम मिलेगा। वहाँ पर सिद्ध वैखानस (वानप्रस्थ) और वालखिल्य ब्रह्मचारी रहते हैं ॥ ३३ ॥

वन्द्यास्तं तु तपःसिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः ।
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ॥ ३४ ॥

उन तपःसिद्ध और पापरहित तपस्वियों को तुम लोग विनय पूर्वक प्रणाम करना और उनसे सीता का वृत्तान्त पूँछना ॥ ३४ ॥

हेमपुष्करसंछन्नं तस्मिन्वैखानसं सरः ।
तरुणादित्यसङ्काशैर्हंसैः सर्वत्र चरितं शुभैः ॥ ३५ ॥

वहीं पर वैखानस नाम का एक तालाब है जिसमें सुवर्ण के रंग जैसे कमल भरे हुए हैं और उसके तट पर, मध्यान्ह कालीन सूर्य के समान रंग वाले सुन्दर हंस विचरा करते हैं ॥ ३५ ॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः ।
गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः ॥ ३६ ॥

इस तालाब पर कुबेर की सवारी का हाथी, जिसका नाम सार्वभौम है, अपनी हथिनियों सहित विचरा करता है ॥ ३६ ॥

तत्सरः समतिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम् ।
अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदमनादितम् ॥ ३७ ॥

उस सरोवर के आगे जाने पर, तुम्हें ऐसा देश मिलेगा जहाँ यद्यपि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और मेघ न देख पड़ेंगे, तथापि आदि अन्त रहित आकाश देख पड़ेगा ॥ ३७ ॥

---

१ प्रवृत्तिः—वृत्तान्तः । (शि०)

गभस्तिभिरिवार्कस्य स तु देशः प्रकाशते ।
विश्राम्यद्भिस्तपःसिद्धैर्देवकल्पैः स्वयंप्रभैः ॥ ३८ ॥

और उस देश में सूर्य की किरणों की तरह प्रकाश दिखलाई पड़ेगा। वहाँ पर अपने ही तेज से प्रकाशित देव समान, सिद्ध लोग तप किया करते हैं ॥ ३८ ॥

तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा ।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः ॥ ३९ ॥

उस देश के आगे शैलोदा नाम की नदी है। उसके दोनों तटों पर कीचक नाम बाँस उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान्प्रत्यानयन्ति च ।
उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ ४० ॥

वे सिद्धपुरुषों को इस तट से उस तट पर और उस तट से इस तट पर पहुँचाया करते हैं। उस नदी के उस पार उत्तर-कुरु नामक देश है। वहाँ पुण्यात्मा लोग रहा करते हैं ॥ ४० ॥

ततः काञ्चनपद्माभिः पद्मिनीभिः कृतोदकाः[1] ।
नीलवैडूर्यपत्राभिर्नद्यस्तत्र सहस्रशः ॥ ४१ ॥

और वहाँ सुनहले कमलों से युक्त जल से भरी पूरी पुष्करिणी हैं। वहाँ पर पन्नों के पत्रों से युक्त लाल कमल के फूलों से विभूषित हज़ारों नदियाँ हैं ॥ ४१ ॥

रक्तोत्पलवनैश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसदृशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ ४२ ॥

---

१ कृतोदकाः—पर्याप्तोदकाः । (गो०)

वहाँ लाल कमलों के वनों से, जो सुनहले देख पड़ते हैं, शोभायमान् और तरुण सूर्य की तरह चमकदार अनेक तालाब हैं ॥ ४२ ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलवनैश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः ॥ ४३ ॥

बड़े मूल्यवान् रत्नों और सुवर्ण तुल्य केसर वाले अद्भुत कमल के फूलों के जंगल से वह देश चारों ओर से घिरा हुआ है ॥ ४३ ॥

[1]निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च [2]महाधनैः ।
उद्वृत्तपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ ४४ ॥

इस देश की नदियों के ऊँचे ऊँजे तटों पर, गोल मोती, अत्यन्त सुन्दर और महामूल्यवान् रत्न और सोना पड़ा हुआ है ॥ ४४ ॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः ॥ ४५ ॥

वहाँ पर सब रत्नों से भरे पूरे अद्भुत उत्तम उत्तम वृक्ष हैं, जो सुवर्णमयी अग्निज्वाला की तरह चमकीले हैं ॥ ४५ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान्स्रवन्ति च ॥ ४६ ॥

इन वृक्षों में सदा फल फला करते हैं, और उन पर पक्षी भरे रहते हैं। उनकी गन्ध, उनका रस और उनका स्पर्श दिव्य है और वे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं ॥ ४६ ॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
मुक्तावैडूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ॥ ४७ ॥

---

१ निस्तुलाभिः—वर्तुलाभिः । (गो०) २ महाधनैः—बहुमूल्यैः । (गो०)

स्त्रीणां चाप्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च ।
सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥ ४८ ॥

इन पेड़ों में कितने ही ऐसे पेड़ हैं, जिनमें तरह तरह के स्त्रियों और पुरुषों के पहिनने योग्य वस्त्र और मोती, पन्ना आदि मणियों के जड़ाऊ गहने फलते हैं और कोई कोई सब ऋतुओं में खाने योग्य फलों को उत्पन्न किया करते हैं ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

*महार्हमणि चित्राणि† फलंत्यन्ये नगोत्तमाः ।
शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ॥ ४९ ॥

अनेक ऐसे वृक्ष हैं जो बड़ी मूल्यवान् मणियों की तरह फलों को उत्पन्न करते हैं। इन वृक्षों में से अनेक अच्छे अच्छे चित्रविचित्र बिछौने से युक्त पलंग पैदा करते हैं ॥ ४९ ॥

मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ॥ ५० ॥

किसी किसी में मनोहर फूलों के हार और किसी किसी में मूल्यवान् तरह तरह के पीने और खाने योग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ।
गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ॥ ५१ ॥
रमन्ते सहितास्तत्र नारीभिर्भास्करप्रभाः ।
सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ॥ ५२ ॥

---

† चित्राणि—फलानि । (शि०) * पाठान्तरे—" महार्हाणि च " ।
† पाठान्तरे " हैमान्यन्ये " ।

किसी किसी वृक्ष में गुणवती, रूपवती युवती स्त्रियां उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर सूर्य की तरह प्रभा वाले गन्धर्व किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर अपनी स्त्रियों को लिये हुए विहार करते हैं। वे सब के सब पुण्यवान् और सब के सब रति में तत्पर हैं ॥५१॥५२॥

सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सहयोषितः।
गीतवादित्रनिर्घोषाः सोत्कृष्टहसितस्वनः॥ ५३॥
श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोहरः।
तत्र नामुदितः कश्चिन्नास्ति कश्चिदसत्प्रियः॥ ५४॥

और वे सब के सब कामभोग युक्त हो अपनी अपनी स्त्रियों के सहित वास करते हैं। वहाँ पर उत्कृष्ट हास्ययुक्त स्वर सहित, गाना बजाना सदा सुनाई पड़ता है, जो सब प्राणियों के मन को मुग्ध कर लेता है। वहाँ न तो कोई उदास देख पड़ता और न कोई बुरे कर्म अथवा वस्तु का प्रेमी देख पड़ता है (अर्थात् वहाँ वेश्याओं अथवा कुलटा स्त्रियों का अभाव है)॥ ५३॥ ५४॥

अहन्यहनि वर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः।
समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः [1]पयसां निधिः॥ ५५॥

वहाँ पर दिनों दिन वहाँ के वासियों के सद्गुणों की वृद्धि हुआ करती है। उस देश से आगे उत्तर की ओर जाने पर तुमको क्षीर समुद्र मिलेगा॥ ५५॥

तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान्।
इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये॥ ५६॥

---

१ पयसां निधिः—लवणसमुद्रः। (गो०); क्षीराब्धिः। (शि०)

उस क्षीर समुद्र के बीच में सुवर्णमय और अति विशाल सोम-गिरि नाम का पर्वत है। जो लोग इन्द्रलोक को अथवा ब्रह्मलोक को जाते हैं ॥ ५६ ॥

देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिराजं दिवं गताः ।
स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ॥ ५७ ॥

तथा स्वर्ग में आने जाने के समय देवता गण इस सोमगिरि नाम पर्वतराज को देखा करते हैं। (अर्थात् उक्त लोकों के रास्ते में यह है।) यद्यपि इस देश में सूर्य का प्रकाश नहीं है, तथापि सोमगिरि के प्रकाश से वह देश प्रकाशित रहता है ॥ ५७ ॥

सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता ।
भगवानपि विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ॥ ५८ ॥
ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ।
न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः ॥ ५९ ॥

और ऐसा जान पड़ता है, मानों सूर्य ही का प्रकाश हो रहा हो। वहाँ पर भगवान् विश्वरूप एकादशरुद्रात्मक देवेश श्रीब्रह्मा जी ब्रह्मर्षियों के साथ निवास करते हैं। अतः देखो तुम लोग कुरु के उत्तर देश में कभी मत जाना ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

अन्येषामपि भूतानां नातिक्रामति वै गतिः ।
स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः ॥ ६० ॥

क्योंकि वहाँ पर कोई भी जीवधारी नहीं जा सकता। (अर्थात् ब्रह्मर्षियों को छोड़ अन्य कोई नहीं जा सकता) उस सोमगिरि पर देवता लोग भी नहीं जा सकते ॥ ६० ॥

तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितुमर्हथ ।
एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ॥
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६१ ॥

तुम लोग तो केवल उसके दर्शन कर तुरन्त लौट आना। हे वानरश्रेष्ठो ! बस, वानर लोग वहीं तक जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्य का प्रकाश है और न आगे का स्थान पृथिवी की सीमा के भीतर है। अतः इसके आगे क्या है सो मैं भी नहीं जानता ॥ ६१ ॥

सर्वमेतद्विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।
यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां मतिः ॥ ६२ ॥

किन्तु जो जो स्थान मैंने तुमको बतलाये हैं, उन उन स्थानों में अच्छी तरह ढूढ़ना और जो स्थान मेरे बतलाने से छूट गये हैं उन सब को भी तुम लोग अपनी बुद्धि के अनुसार खोजना ॥ ६२ ॥

ततः कृतं दाशरथेर्महत्प्रियं
महत्तरं चापि ततो मम प्रियम् ।
कृतं भविष्यत्यनिलानलोपमा
विदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥ ६३ ॥

हे वायु और अग्नि के समान पराक्रम वालो ! सीता जी का पता लगाने से श्रीरामचन्द्र जी और मैं, दोनों ही बहुत प्रसन्न होवेंगे ॥६३॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा
मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः ।

चरिष्यथोर्वीं प्रतिशान्तशत्रवः
सहप्रिया भूतधराः प्लवङ्गमाः ॥ ६४ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे वानरों! तदनन्तर सफल मनोरथ हो कर और मुझसे सम्मानित हो, तुम सब अपने परिवार सहित, निष्कण्टक हो, अपनी सुविधा का स्थान देख, स्वच्छन्दता से विचरना ॥ ६४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

विशेषेण तु सुग्रीवो हनुमत्यर्थमुक्तवान्।
स हि तस्मिन्हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने ॥ १ ॥

सुग्रीव ने हनुमान से कुछ विशेष बातें कहीं; क्योंकि उनको निश्चय था कि, यह कार्य कपिश्रेष्ठ हनुमान जी द्वारा ही सिद्ध होगा ॥ १ ॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनौकसाम् ॥ २ ॥

समस्त वानरों के अधिपति सुग्रीव, पराक्रमशाली पवनतनय हनुमान जी से परम प्रसन्न हो कहने लगे ॥ २ ॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुङ्गव ॥ ३ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मैं जानता हूँ कि, भूमि में, अन्तरिक्ष में (जहाँ बादल चला करते हैं) अथवा पवन के चलने के स्थान आकाश में, अथवा स्वर्ग में, अथवा जल में—सर्वत्र तुम बेरोक टोक जा सकते हो ॥ ३ ॥

सासुराः सहगन्धर्वा सनागनरदेवताः ।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥ ४ ॥

तुम असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, और सागर पहाड़ों सहित समस्त लोकों को जानते हो ॥ ४ ॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे ।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य *महात्मनः ॥ ५ ॥

हे वीर महाकपे ! गति, वेग, तेज और फुर्ती में तुम अपने पिता महात्मा वायु के समान हो ॥ ५ ॥

तेजसा वापि ते भूतं समं भुवि न विद्यते ।
तद्यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवोपपादय ॥ ६ ॥

तुम्हारे समान तेजस्वी इस पृथिवी पर तो दूसरा कोई है नहीं । अतः हे वीर ! ऐसा उद्योग करना जिससे सीता का पता लग जाय ॥ ६ ॥

त्वय्येव हनुमन्नस्ति† बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥ ७ ॥

हे हनुमान् ! तुम में बल, बुद्धि, विक्रम, तथा देश एवं काल का ज्ञान और नीति का विचार पूर्ण रूप से हैं, एवं तुम नीति में पण्डित हो ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—" महौजसः । " † पाठान्तरे—" हनुमन्स्वस्ति " ।

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति ।
विदित्वा हनुमन्तं च चिन्तयामास राघवः ॥ ८ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी, हनुमान द्वारा कार्य की सिद्धि जान और उनके बल विक्रम को तथा कार्य की गुरुता का मन ही मन विचार करने लगे ॥ ८ ॥

सर्वथा निश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः ।
निश्चितार्थकरश्चापि हनुमान्कार्यसाधने ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने विचारा कि, कपिराज सुग्रीव का यह निश्चय है कि, हनुमान द्वारा कार्य पूरा होगा और मेरा भी ऐसा ही विचार है कि, हनुमान ही यह काम कर सकेंगे ॥ ९ ॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः ।
भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः ॥ १० ॥

हनुमानजी अपने पहले किये हुए कर्मों द्वारा प्रसिद्ध हैं और सुग्रीव,की भी इन पर कृपा है। तथा स्वामी की जिस पर विशेष कृपा होती है अथवा, स्वामी जिसका विशेष आदर करता है वह अवश्य कार्य को पूरा करता है ॥ १० ॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम् ।
कृतार्थ इव संवृत्तः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी हनुमान जी को कार्यसाधन में श्रेष्ठ समझ, अपना कार्य हुआ सा जान, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ११ ॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परन्तपः ॥ १२ ॥

तदनन्तर शत्रुघाती श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमान जी को अपने नामाक्षर से चिन्हित अँगूठी, सीता जी को विश्वास दिलाने के लिये, दी ॥ १२ ॥

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥ १३ ॥

(और कहा कि) हे कपिश्रेष्ठ ! इस अँगूठी को देख जनकनन्दिनी जान जायगी कि, तुम मेरे पास से आये हो और तुम पर विश्वास कर, तुमसे मिलेगी ॥ १३ ॥

व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः ।
सुग्रीवस्य च सन्देशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥ १४ ॥

हे वीर ! तुम्हारा व्यवसाय, बल और विक्रम और सुग्रीव का आदेश, ये सब बातें मेरे कार्य की सिद्धि को जनाती हैं ॥ १४ ॥

स तं गृह्य हरिश्रेष्ठः* स्थाप्य मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगोत्तमः ॥ १५ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान जी उस अँगूठी को माथे चढ़ा और हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों को प्रणाम कर, चल दिये ॥१५॥

स तत्प्रकर्षन्हरिणां बलं महद्-
बभूव वीरः पवनात्मजः कपिः ।
गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः
शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः ॥ १६ ॥

उस समय वानरों सेना से घिरे हुए पवनतनय कपिवीर हनुमानजी की ऐसी शोभा हुई, जैसी कि, विमल (बादलशून्य)

* पाठान्तरे—" हरीश्रेष्ठः । "

आकाशमण्डल में तारागण सहित चन्द्रमा की शोभा होती है ॥ १६ ॥

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं
हरिवरविक्रम विक्रमैरनल्पैः ।
पवनसुत यथाभिगम्यते सा
जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व ॥ १७ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे सिंह जैसे विक्रम वाले ! हे अति बलशालिन् ! मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है । हे हनुमान् ! तुम इस समय ऐसा उद्योग करो, जिससे मुझे जानकी जी मिल जायँ ॥ १७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौवालिसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान्प्लवगर्षभः ।
[1]समस्तानब्रवीद्राजा रामकार्यार्थसिद्धये ॥ १ ॥

जिससे श्रीरामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध हो जाय, कपिराज सुग्रीव ने फिर सब वानरों को एक साथ बुला कर, पक्षपातशून्य हो कहा ॥ १ ॥

---

१ समः —सर्वत्रपक्षपातरहितः । (गो०)

[पहले सुग्रीव ने, अलग अलग बुला कर कहा था—इस बार सब से एक साथ कहा]।

एवमेतद्विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।
तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुङ्गवाः ॥ २ ॥
शलभा इव संछाद्य मेदिनीं सम्पतस्थिरे ।
रामः प्रस्रवणे तस्मिन्न्यवसत्सहलक्ष्मणः ॥ ३ ॥
प्रतीक्षमाणस्तं मासं यः सीताधिगमे कृतः ।
उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥ ४ ॥

हे वानरश्रेष्ठों ! देखो, मैंने जैसे बतलाया है, वैसे ही सीता और रावण को ढूढ़ना । अपने राजा की या मालिक की यह उग्र आज्ञा सुन कर, वानरश्रेष्ठ टीड़ी दल की तरह समस्त पृथिवी को ढक कर प्रस्थानित हुए । उधर सीता जी का समाचार जानने में एक मास की निश्चित की हुई अवधि की समाप्ति की प्रतीक्षा करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के सहित प्रस्रवण पर्वत पर टिके रहे । इधर हिमालय से छेकी हुई रमणीय उत्तर दिशा की ओर ॥२ ॥ ३ ॥ ४ ॥

प्रतस्थे *हरिभिर्वीरो हरिः शतबलिस्तदा ।
पूर्वां दिशं प्रति ययौ विनतो हरियूथपः ॥ ५ ॥

शतबलि नामक यूथपति अपनी वानरी सेना को साथ ले प्रस्थानित हुआ । उधर विनत नामक यूथपति अपनी सेना को ले पूर्व दिशा की ओर चल दिया ॥ ५ ॥

ताराङ्गदादिसहितः प्लवगः †पवनात्मजः ।
अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—" सहसा " । † पाठान्तरे—" मारुतात्मजः " ।

हनुमानजी भी तार अङ्गदादि के साथ अगस्त्य सेवित दक्षिण दिशा की ओर चल दिये ॥ ६ ॥

पश्चिमां तु दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो भृशं वरुणपालिताम् ॥ ७ ॥

वानरों के मुखिया सुषेण वरुण जी पालित घोर पश्चिम दिशा की ओर सिधारे ॥ ७ ॥

ततः सर्वा दिशो राजा चोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतीन्मुख्यान्मुमोद सुखितः[1] सुखम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर चारों दिशाओं में यथायोग्य वानर सेनापतियों को भेज, कपिराज सुग्रीव वैसे ही प्रसन्न हुए जैसे वे पहले राज्यप्राप्त कर सुखी हुए थे ॥ ८ ॥

एवं *संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशमभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥

इस प्रकार भेजे जा कर, सब वानर सेनापति अपनी अपनी निर्दिष्ट दिशाओं में शीघ्रतापूर्वक चल दिये ॥ ९ ॥

आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ।
[2]नदन्तश्चोन्नदन्त[3]श्च गर्जन्तश्च[4] प्लवंगमाः ॥ १० ॥

---

१ सुखितः सुखम्—पूर्वराज्यलाभेन सुखितो राजा सुखं यथा भवति तथा मुमोद । उत्तरोत्तरं सुख प्राप्तेत्यर्थः । (गो०) २ नदन्तः—शब्दं कुर्वन्तः । (गो०) ३ उन्नदन्तः—पुनः सन्तोषातिशयेन उच्चैर्नदन्तः । (गो०) ४ गर्जन्तः —आत्माश्लाघां कुर्वन्तः । * पाठान्तरे—" सम्बोधितः " ।

क्ष्वेलन्तो[1] धावमानाश्चविनदन्तो[2] महाबलाः ।
अहमेको हनिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ॥ ११ ॥

वे महाबली वानरगण यह कह कर कि, हम "सीता को लावेंगे, हम रावण का वध करेंगे" गर्जते, उच्च स्वर से शब्द करते, अपनी बड़ाई करते, सिंहनाद करते, दौड़ते हुए और किलकारियां मारते चले जाते थे। वे लोग आपस में कहते जाते थे, यदि रावण मुझे मिल गया तो, मैं अकेला ही युद्ध में उसके प्राण ले लूँगा ॥ १० ॥ ११ ॥

ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ।
वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थीयतामिति* ॥ १२ ॥

कोई कहता अब आप श्रम न कर धीरज धरें, मैं रावण को मार कर, भय से कांपती हुई जानकी को छीन लाऊँगा ॥ १२ ॥

एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ।
विमथिष्याम्यहं वृक्षान्पातयिष्याम्यहं गिरीन् ॥ १३ ॥
धरणीं धारयिष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ।
अहं योजनसंख्यायाः प्लविता नात्र संशयः ॥ १४ ॥
शतं योजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ।
भूतले सागरे वापि शैलेषु च वनेषु च ॥ १५ ॥
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥ १६ ॥

---

१ क्ष्वेलन्तः—सिंहनादं कुर्वन्तः । (गो०) २ विनदन्तः—नादानकुर्वन्तः । (गो०) * पाठान्तरे "स्थीयतामिह" ।

कोई कहता, यदि जानकी पाताल में भी छिपाई गयी होगी तो, भी मैं अकेला ही उसे ला दूँगा। कोई कहता मैं पेड़ों के टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा, पहाड़ों को ढहा दूँगा, पृथिवी को उठालूँगा, समुद्र को क्षुब्ध कर डालूँगा। कोई कहता मैं एक छलांग में एक योजन कूद सकता हूँ। कोई कहता मैं एक छलांग में सौ योजन नाँघ सकता हूँ। किसी ने कहा मैं सौ से भी अधिक नाँघ सकता हूँ। कोई कहता मैं बिना रोक टोक सारी पृथिवी, समुद्र, पहाड़ वन अथवा पाताल में जा सकता हूँ। मेरी गति को कोई नहीं रोक सकता ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

इत्येकैकं तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः।
ऊचुश्च वचनं तत्र हरिराजस्य सन्निधौ ॥ १६ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

कपिराज सुग्रीव की सन्निधि में एक एक कर, उन बन्दरों ने बल के गर्व से गर्वित हो, इस प्रकार के वचन कहे ॥ १६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीत्।
कथं भवान्विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः ॥ १ ॥

जब वानर-सेनापति लोग चले गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से पूँछा कि, यह तो बतलाओ आपको समस्त भूमण्डल का हाल किस प्रकार अवगत हुआ ॥ १ ॥

सुग्रीवस्तु ततो राममुवाच प्रणतात्मवान् ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण नरर्षभ ॥ २ ॥

इसके उत्तर में सुग्रीव ने सिर नवा श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे पुरुषोत्तम ! सुनिये, मैं विस्तार पूर्वक समस्त वृतान्त कहता हूँ ॥ २ ॥

यदा तु दुन्दुभिं नाम दानवं महिषाकृतिम् ।
परिकालयते वाली मलयं प्रति पर्वतम् ॥ ३ ॥

जब भैसा का रूप धारण किये हुए दुन्दभी नामक दानव, वालि से लड़ने किष्किन्धा में आया और वालि के भय से मलय पर्वत की ओर भागा ॥ ३ ॥

तदा विवेश महिषो मलयस्य गुहां प्रति ।
विवेश वाली तत्रापि मलयं तज्जिघांसया ॥ ४ ॥

और वह मलय पर्वत की गुफा में घुस गया, तब वालि भी उसका वध करने की इच्छा से उस गुफा में घुसा ॥ ४ ॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत् ।
न च निष्क्रमते वाली तदा संवत्सरे गते ॥ ५ ॥

मैं उस गुफा के द्वार पर विनययुक्त हो ठहरा रहा । मुझे वहाँ ठहरे हुए जब एक वर्ष हो गया और तब भी वालि बाहिर न आया ॥ ५ ॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम् ।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातृशोकविषार्दितः ॥ ६ ॥

तदनन्तर रुधिर की धार ऐसे वेग से निकली कि, वह गुफा खून से भर गयी। उसको देख मैं विस्मित और भाई के मारे जाने का अनुमान कर, उसके शोक से अत्यन्त दुःखी हुआ ॥ ६ ॥

अथाहं कृतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः ।
शिला पर्वतसङ्काशा विलद्वारि मयाहृता ॥ ७ ॥

मुझे यह विश्वास हो गया कि, वालि अवश्य मारा गया। तब मैंने एक पर्वताकार शिला ले उस गुफा के द्वार को बंद कर दिया ॥ ७ ॥

अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशेदिति ।
ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते ॥ ८ ॥

इस लिये कि, यदि दानव बाहिर निकलना चाहेगा तो निकल न सकेगा, बल्कि उसीमें मर जायगा। तदनन्तर मैं किष्किन्धा में चला आया और वालि के जीवन से हताश हो गया ॥ ८ ॥

राज्यं च सुमहत्प्राप्तं तारया रुमया सह ।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः ॥ ९ ॥

फिर मैं बहुत बड़ा राज्य प्राप्त कर तथा तारा और रुमा एवं अपने मित्रों के साथ, सम्पूर्ण चिन्ताओं को छोड़, रहने लगा ॥ ९ ॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं दानवर्षभम् ।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद्भयसन्त्रितः ॥ १० ॥

इसी बीच में उस दानवश्रेष्ठ को मार कर, वालि आ पहुँचा। तब मैंने वालि के बड़प्पन का विचार कर और उससे भयभीत हो राजसिंहासन उसको दिया ॥ १० ॥

स मां जिघांसुर्दुष्टात्मा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः ।
परिकालयते क्रोधाद्धावन्तं सचिवैः सह ॥ ११ ॥

किन्तु दुष्टात्मा वालि व्यथित हो, मुझे मार डालने के लिये मेरे ऊपर दौड़ा, तब मैं अपने मंत्रियों के साथ भागा ॥ ११ ॥

ततोऽहं वालिना तेन सानुबन्धः[1] प्रधावितः ।
नदीश्च विविधाः पश्यन्वनानि नगराणि च ॥ १२ ॥

तब वालि ने मेरे मंत्रियों सहित मेरा पीछा किया । मैंने भागते भागते रास्ते में विविध नदियां, वन और नगर देखे ॥ १२ ॥

आदर्शतलसङ्काशा ततो वै पृथिवी मया ।
अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत्तदा ॥ १३ ॥

उस समय से यह पृथिवी मेरे लिये दर्पण की तरह हो गयी है । यह पृथिवी मुझे अलातचक्र के समान देख पड़ी और मैंने इसे गोष्पद की तरह कर डाला ॥ १३ ॥

[१ अलातचक्र—प्रज्वलित लुक्का । २ गोष्पद—समभूमि पर जब गौ चलती है तब उसके चलने से उसके खुर से गड्ढा बन जाता है । उस गड्ढे में भरा हुआ जल ।]

पूर्वां दिशं ततो गत्वा पश्यामि विविधान्द्रुमान् ।
पर्वतांश्च नदी रम्याः सरांसि विविधानि च ॥ १४ ॥

प्रथम मैं पूर्व दिशा में गया और वहां विविध प्रकार के पेड़, पर्वत, नदी और विविध रमणीक सरों को देखा ॥ १४ ॥

---

१ सानुबन्धः—आमात्यः । (गो०)

उदयं तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम् ।
क्षीरोदं सागरं चैव नित्यमप्सरसालयम् ॥ १५ ॥

उस दिशा में धातुओं से मण्डित उदयाचल को तथा क्षीर सागर को, जहाँ सदा अप्सराएँ रहा करती हैं, देखा ॥ १५ ॥

परिकालयमानस्तु वालिनाभिद्रुतस्तदा ।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥ १६ ॥

मैं भाग रहा था और वालि भी बड़ी तेज़ी से मेरा पीछा कर रहा था । तब मैं वहाँ से भाग कर फिर उदयाचल पर्वत पर गया ॥ १६ ॥

पुनरावर्तमानस्तु वालिनाऽभिद्रुतो द्रुतम् ।
दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितोऽदक्षिणां दिशम् ॥ १७ ॥

किन्तु जब वालि ने फिर भी वहाँ मेरा पीछा बड़ी तेज़ी से किया, तब मैं पूर्व दिशा को त्याग, दक्षिण दिशा में चला गया ॥ १७ ॥

विन्ध्यपादपसङ्कीर्णां चन्दनद्रुमशोभिताम् ।
द्रुमशैलांस्ततः पश्यन्भूयो दक्षिणतोऽपरान् ॥ १८ ॥

दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल है और वह चन्दन के वृक्षों से शोभित है । वहाँ मैंने वृक्ष की आड़ से देखा कि, वालि मेरा पीछा किये चला आता है । तब मैं दक्षिण दिशा को त्याग ॥ १८ ॥

पश्चिमां तु दिशं प्राप्तो वालिना समभिद्रुतः ।
सम्पश्यन्विविधान्देशानस्तं च गिरिसत्तमम् ॥ १९ ॥

वालि से पिछ्याया हुआ मैं पश्चिम दिशा में गया। वहाँ मैं तरह तरह के देशों को देखता हुआ अस्ताचल तक चला गया॥ १९॥

प्राप्य चास्तं गिरिश्रेष्ठमुत्तरां सम्प्रधावितः।
हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम्॥ २०॥

गिरिश्रेष्ठ अस्ताचल पर पहुँच कर, मैं फिर उत्तर दिशा को भागा। उत्तर दिशा में पहुँच, हिमालय, मेरु और उत्तर समुद्र तक गया॥ २०॥

यदा न विन्दं शरणं वालिना समभिद्रुतः।
तदा मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान्वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥

परन्तु जब वालि के भय से मेरा कहीं भी पिण्ड न छूटा, तब बुद्धिमान् हनुमान जी ने मुझसे कहा॥ २१॥

इदानीं मे स्मृतं राजन्यथा वाली हरीश्वरः।
मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले॥ २२॥

हे राजन्! इस समय मुझको याद आयी है कि, इस वानरराज वालि को मतङ्ग मुनि का शाप है कि, यदि उनके आश्रममण्डल में॥ २२॥

प्रविशेद्यदि वै वाली मूर्धाऽस्य शतधा भवेत्।
तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्विग्नो भविष्यति॥ २३॥

वालि जायगा तो उसके सिर के हज़ारों टुकड़े हो जायँगे। अतः वहाँ हम लोग सुखपूर्वक बेखटके रहेंगे॥ २३॥

ततः पर्वतमासाद्य ऋश्यमूकं नृपात्मज।
न विवेश तदा वाली मतङ्गस्य भयात्तदा॥ २४॥

हे राजकुमार ! उस पर्वत पर वालि, मतङ्ग ऋषि जी के शाप के डर से नहीं आया ॥ २४ ॥

एवं मया तदा राजन्प्रत्यक्षमुपलक्षितम् ।
पृथिवीमण्डलं कृत्स्नं गुहामस्यागतस्ततः ॥ २५ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राजन् ! इस प्रकार मैं समस्त पृथिवीमण्डल प्रत्यक्ष देख कर, इस किष्किन्धा नगरी में लौट आया ॥ २५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छियालिसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—※—

दर्शनार्थं तु वैदेह्याः सर्वतः कपियूथपाः ।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यथोक्तं जग्मुरञ्जसा ॥ १ ॥

जानकी जी के ढूढ़ने के लिये आज्ञा पा कर सब कपियूथपति, सुग्रीव द्वारा बतलाई हुई निर्दिष्ट दिशाओं को रवाना हुए ॥ १ ॥

सरांसि सरितः [1]कक्षानाकाशं नगराणि च ।
[2]नदीदुर्गास्तथा शैलान्विचिन्वन्ति समन्ततः ॥ २ ॥

वे सब सरोवरों, नदियों, लतागृहों, (कुंजों) आकाश, नदियों के दुर्गम स्थानों और पहाड़ों को चारों ओर से खोजने लगे ॥ २ ॥

---

१ कक्षान्—गुल्मान् । लतागृहानित्यर्थः । गो०) २ नदीदुर्गान्—नदीभिर्दुर्गमान् । (गो०)

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः ।
प्रदेशान्प्रविचिन्वन्ति सशैलवनकाननान् ॥ ३ ॥
विचित्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः ।
समायान्ति स्म मेदिन्यां निशाकालेषु वानराः ॥ ४ ॥
सर्वर्तुकामान्देशेषु वानराः सफलान्द्रुमान् ।
आसाद्य रजनीं शय्यां चक्रुः सर्वेष्वहःसु ते ॥ ५ ॥

वे वानर सारे दिन तो सुग्रीव के बतलाये देशों, पहाड़ों और वनों में सीता को ढूढ़ने में तत्पर रहते थे, किन्तु जब सूरज डूबता, तब वे भूमि पर आ ऐसे स्थान पर जहाँ सब ऋतुओं में फल देने वाले फले हुए वृक्ष होते, सो रहते थे ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः ।
कपिराजेन सङ्गम्य निराशाः कपियूथपाः ॥ ६ ॥

इस प्रकार प्रस्रवण गिरि से प्रस्थान करने के दिन से पूरा एक मास सीता को ढूढ़ने में लगा तथा हताश हो सब वानर सुग्रीव के पास लौट कर आ गये ॥ ६ ॥

विचित्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह ।
अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महाबलः ॥ ७ ॥

महावीर विनत अपने मंत्रियों सहित जैसा कि, सुग्रीव ने उसे बताया था ; पूर्व दिशा में सीता को ढूढ़ कर और सीता का पता न पा कर लौट आया ॥ ७ ॥

उत्तरां च दिशं सर्वां विचित्य स महाकपिः ।
आगतः सह सैन्येन वीरः शतबलिस्तदा ॥ ८ ॥

इसी प्रकार महाकपि वीर शतबलि भी समस्त उत्तर दिशा में सीता जी को ढूढ़ कर सेना सहित लौट आया ॥ ८ ॥

सुषेणः पश्चिमामाशां विचित्य सह वानरैः ।
समेत्य मासे सम्पूर्णे सुग्रीवमुपचक्रमे ॥ ९ ॥

इसी प्रकार सुषेण भी अपनी सेना सहित पूरे एक मास तक पश्चिम दिशा में सीता जी को ढूढ़ तथा पता न पा कर सुग्रीव के पास लौट आया ॥ ९ ॥

तं प्रस्रवणपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च ।
आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन् ॥ १० ॥

उस प्रस्रवण पर्वत पर आ कर, उन सब यूथपतियों ने श्रीरामचन्द्रजी के साथ बैठे हुए सुग्रीव को प्रणाम कर उनसे कहा ॥ १० ॥

विचिताः सर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च ।
निम्नगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये ११ ॥

गुहाश्च विचिताः सर्वास्त्वया याः परिकीर्तिताः ।
विचिताश्च महागुल्मा लताविततिसन्ततताः ॥ १२ ॥

गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च ।
सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचितानि हतानि च ॥ १३ ॥

हे राजन् ! हमने आपके बतलाये हुए सब पहाड़, छोटे और बड़े वन, नदियाँ, समुद्रतट, समस्त जनपद, गुफाएँ, लतागृह ढूढे । फिर समस्त दुष्प्रवेश्य द्वीपों में, ऊँचे नीचे स्थानों में, जहाँ व कठिनाई से जा सके थे, जा कर, ढूढ़ा और वहाँ हमें जो बड़े बड़े

शरीरधारी जीव जन्तु मिले, उनको रावण समझ हमने मार डाला। किन्तु जानकी का पता न लगा ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

उदारसत्त्वाभिजनो महात्मा
स मैथिलीं द्रक्ष्यति वानरेन्द्रः।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान् ॥ १४ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे कपिराज! महापराक्रमी और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न हनुमान जी सीता का पता अवश्य लगावेंगे। क्योंकि रावण सीता को जिस दक्षिण दिशा में ले गया था, उसीमें हनुमान जी गये हैं ॥ १४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सह ताराङ्गदाभ्यां तु गत्वा स हनुमान्कपिः।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं तं देशमुपचक्रमे ॥ १ ॥

सुग्रीव ने जैसा बतलाया था, तदनुसार हनुमान जी तार और अङ्गद के साथ दक्षिण दिशा को गये ॥ १ ॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिसत्तमैः।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ २ ॥

वे सब वानरों को साथ लिये हुए, बहुत दूर चले गये और विन्ध्याचल की गहन गुफाओं में सीता जी को ढूढ़ने लगे ॥ २ ॥

पर्वताग्रान्नदीदुर्गान्सरांसि विपुलान्द्रुमान् ।
वृक्षषण्डांश्च विविधान्पर्वतान्घनपादपान् ॥ ३ ॥
अन्वेषमाणास्ते सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।
न सीतां ददृशुर्वीरा मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ ४ ॥

विन्ध्याचल के शिखर प्रदेशों को, नदियों को, दुर्गमस्थानों को, सरोवरों को, अनेक वृक्ष समूहों को, वनों को, विविध पर्वतों को और झाड़ियों को चारों ओर से ढूढ़ते हुए भी, उन वीरों को जनक-नन्दिनी मैथिली का पता न चला ॥ ३ ॥ ४ ॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधानि च ।
अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र ह ॥ ५ ॥

वे विविध प्रकार के मूलों और फलों को खाते और ढूढ़ते हुए दुर्धर्ष स्थानों में जहाँ तहाँ टिक जाते थे ॥ ५ ॥

स तु देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान्महान् ।
निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं रोमहर्षणम् ॥ ६ ॥

वे सब ऐसे निर्जल, निर्जन और शून्य स्थान को, जिसे देखने से रोमाञ्च हो, तथा वैसे ही वनों को भी ढूढ़ कर बड़े पीड़ित हुए। क्योंकि वहाँ की गुफाओं में और वहाँ के सघन वनप्रदेश में खोजना अत्यन्त दुष्कर कार्य था ॥ ६ ॥

त्यक्त्वा तु तं तदा देशं सर्वे वै हरियूथपाः ।
तादृशान्यप्यरण्यानि विचित्य भृशपीडिताः ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे सब कपियूथपति उस प्रदेश को त्याग कर, वैसे ही अन्य वनों में सीता को ढूढ़ने लगे, किन्तु यहाँ भी उनको बड़े बड़े कष्ट झेलने पड़े ॥ ७ ॥

देशमन्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभयाः ।
यत्र वन्ध्यफला वृक्षा विपुष्पाः पर्णवर्जिताः ॥ ८ ॥

वहाँ से अधिक कठिन देश में वे वानर अत्यन्त निर्भीक हो कर गये । वहाँ के वृक्षों में न तो फल थे, न फूल थे और न पत्ते ही थे ॥ ८ ॥

निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम् ।
न सन्ति महिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः ॥ ९ ॥

वहाँ की नदियों में जल नहीं था और वहाँ मूलों का मिलना भी बहुत कठिन था । वहाँ पर न भैंसे, न मृग और न हाथी ही थे ॥ ९ ॥

शार्दूलाः पक्षिणो व्यापि ये चान्ये वनगोचराः ।
न यत्र वृक्षा नौषध्यो न लता नापि वीरुधः[1] ॥ १० ॥

वहाँ न शार्दूल, न पक्षी, न कोई अन्य वनैला जीव जन्तु ही था । न वृक्ष थे, न कोई जड़ी बूटी थी, न वृक्षलता और न स्थललता ही थीं ॥ १० ॥

स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ।
प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च भ्रमरैश्चापि वर्जिताः ॥ ११ ॥

---

१ वीरुधः—स्थललताः । (रा०)

किन्तु वहाँ की भूमि में हरे हरे पत्तों से युक्त, फूले हुए फूलों से शोभायमान, जो देखने में सुन्दर और सुगन्ध युक्त थे, कमल के वृक्ष दिखलाई पड़े, परन्तु उन कमल के फूलों पर भौंरा एक भी न था ॥ ११ ॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः ।
महर्षिः परमामर्षी नियमैर्दुष्प्रधर्षणः ॥ १२ ॥

वहाँ पर महाभाग सत्यवादी तपोधन महाक्रोधी, महर्षि कण्डु रहते थे । वे अपने ब्रह्मकर्म सम्बन्धी नियम पालन में दुर्धर्ष थे ॥ १२ ॥

तस्य तस्मिन्वने पुत्रो बालः षोडशवार्षिकः ।
प्रनष्टो जीवितान्ताय क्रुद्धस्तत्र महामुनिः ॥ १३ ॥

उस वन में उनका एक सोलह वर्ष का बालक मर गया था । इस पर उन महर्षि को वहाँ बड़ा क्रोध उपजा ॥ १३ ॥

तेन धर्मात्मना शप्तं कृत्स्नं तत्र महद्वनम् ।
अशरण्यं दुराधर्षं मृगपक्षिविवर्जितम् ॥ १४ ॥

और उन धर्मात्मा ने उस समस्त महावन को शाप दिया कि, आज से इस वन में कोई नहीं रहैगा, यह दुष्प्रवेश्य होगा और यह मृग पक्षी आदि जीवों से रहित होगा ॥ १४ ॥

तस्य ते काननान्तांश्च गिरीणां कन्दराणि च ।
प्रभवाणि नदीनां च विचिन्वन्ति समाहिताः ॥ १५ ॥

उन सब वानरों ने उस वन के समस्त पहाड़ों की कन्दराएँ तथा नदियों के तटवर्ती स्थानों को भली भाँति ढूढ़ा ॥ १५ ॥

तत्र चापि महात्मानो नापश्यञ्जनकात्मजाम् ।
हर्तारं रावणं वापि सुग्रीवप्रियकारिणः ॥ १६ ॥

परन्तु उन महात्माओं ने वहाँ भी जनकनन्दिनी को न पाया और न सुग्रीव के प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या के हर्त्ता रावण ही का पता लगा ॥ १६ ॥

ते प्रविश्याशु तं भीमं लतागुल्मसमावृतम् ।
ददृशुः क्रूरकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम् ॥ १७ ॥

उन्होंने उस भयङ्कर लता गुल्म से युक्त वन में जा कर देवताओं से निर्भय, भयङ्करकर्मा एक असुर को देखा ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शैलमिवापरम् ।
गाढं परिहिताः सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥

उन वानरों ने उस पर्वताकार भयङ्कर असुर को देख, वे उससे लड़ने के लिये कटिबद्ध हुए ॥ १८ ॥

सोऽपि तान्वानरान्सर्वान्नष्टाः स्थेत्यब्रवीद्बली ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संहितम् ॥ १९ ॥

वह बलवान् राक्षस भी उन समस्त वानरों को देख बोला कि, मैं अभी तुमको नष्ट किये डालता हूँ । तदनन्तर घूँसा तान और अत्यन्त क्रुद्ध हो वह उन सब वानरों की ओर दौड़ा ॥ १९ ॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा ।
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह ॥ २० ॥

---

१ परिहिताः—सन्नद्धाः (शि०)

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
असुरो न्यपतद्भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ॥ २१ ॥

उसको आते देख, अंगद ने उसे रावण जान उसके एक ऐसा थप्पड़ मारा कि, वह मुख से रुधिर उगलता हुआ, उखड़े हुए पर्वत की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २० ॥ २१ ॥

तेऽपि तस्मिन्निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः ।
व्यचिन्वन्मायशस्तत्र सर्वं तद्गिरिगह्वरम् ॥ २२ ॥

उस असुर के मरने से वे विजयी वानर पहाड़ की समस्त कन्दराओं को और वन को रत्ती रत्ती कर के ढूढ़ने लगे ॥ २२ ॥

विचितं तु ततः कृत्वा सर्वे ते काननं पुनः ।
अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगह्वरम् ॥ २३ ॥

उस वन को वार वार ढूढ़ते ढूढ़ते वे एक दूसरी विचित्र भयङ्कर पहाड़ी गुफा में घुसे ॥ २३ ॥

ते विचित्य पुनः खिन्ना विनिष्पत्य समागताः ।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः ॥ २४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

उन सब वानरों ने वहां भी सीता जी और रावण को ढूढ़ा और वहां भी उनको न पा कर, वे दुःखी हुए और उदास हो, एकान्त में एक वृक्ष के नीचे बैठ गये ॥ २४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अड़तालिसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—※—

अथाङ्गदस्तदा सर्वान्वानरानिदमब्रवीत् ।
परिश्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर महाबुद्धिमान् अङ्गद थक कर समस्त वानरों को क्रमशः समझा बुझा कर कहने लगे ॥ १ ॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च ।
दर्यो गिरिगुहाश्चैव विचितानि समन्ततः ॥ २ ॥

हम लोगों ने बड़े बड़े सघन वन, पर्वत, नदी, दुर्गम स्थान, घाटी, पहाड़ों की कन्दराएँ भली भाँति ढूढ़ी ॥ २ ॥

तत्र तत्र सहास्माभिर्जानकी न च दृश्यते ।
तद्वा रक्षो हृता येन सीता सुरसुतोपमा ॥ ३ ॥

किन्तु इन सब स्थानों में से कहीं भी देवकन्या की तरह सीता को अथवा सीता को हरने वाले राक्षस रावण को न पाया ॥ ३ ॥

कालश्च वो महान्यातः सुग्रीवश्चोग्रशासनः ।
तस्माद्भवन्तः सहिता विचिन्वन्तु समन्ततः ॥ ४ ॥

खोजते खोजते समय भी बहुत बीत गया और उधर सुग्रीव की आज्ञा भी बड़ी कठोर है । अतः आप सब मिल कर पुनः खोजिये ॥ ४ ॥

विहाय तन्द्रीं शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम् ।
विचिनुध्वं यथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

आप सब को आलस्य, शोक, और निद्रा का त्याग कर देना चाहिये और ऐसी मुस्तैदी से ढूढना चाहिये, जिससे जानकी जी मिल जांय ॥ ५ ॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं[1] च मनसश्चापराजयः[2] ।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ ६ ॥

मन की प्रफुल्लता, उत्साह और धैर्य कार्य की सिद्धि के साधन कहे जाते हैं। इसीसे मैं तुम लोगों से यह बात कहता हूँ कि, ॥ ६ ॥

अद्यापि तद्वनं दुर्गं विचिन्वन्तु वनौकसः ।
खेदं त्यक्त्वा पुनः सर्वैर्वनमेतद्विचीयताम् ॥ ७ ॥

हे वानरों ! तुम लोग खेद को परित्याग कर, पुनः वनों तथा दुर्गम स्थानों को भली भाँति ढूँढो ॥ ७ ॥

अवश्यं क्रियमाणस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।
अलं निर्वेदमागम्य न हि नो मीलनं[3] क्षमम् ॥ ८ ॥

भली भाँति किये हुए काम का फल अवश्य मिलता हुआ देखा जाता है। अतएव हिम्मत हार कर, हम लोगों को हाथ पर हाथ रख कर, चुप चाप बैठना उचित नहीं ॥ ८ ॥

सुग्रीवः कोपनो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानरः ।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥

---

१ दाक्ष्यं—उत्साहः । (गो०) २ मनसश्चपराजयः—धैर्यमित्यर्थः । (गो०) ३ मीलनं—नेत्र मीलनं । कर्त्तव्यं अकृत्वा तूष्णीं भाव इत्यर्थः । (गो०)

फिर एक तो सुग्रीव क्रोधी स्वभाव के राजा हैं, दूसरे वे कठोर दण्ड देने वाले हैं। अतः उनसे तथा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से हम सब को सदा डरना चाहिये ॥ ९ ॥

हितार्थमेतदुक्तं वः क्रियतां यदि रोचते ।
उच्यतां वा क्षमं[1] यन्नः सर्वेषामेव वानराः ॥ १० ॥

मैंने जो कहा है, सो तुम सब की भलाई के लिये ही कहा है, यदि तुम्हें पसंद आवे तो इसके अनुसार कार्य करो। यदि नहीं तो जो तुम लोग उचित समझते हो वह बतलाओ ॥ १० ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः ।
उवाचाव्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिन्नया ॥ ११ ॥

अङ्गद के इन वचनों को सुन, गन्धमादन नामक वानर जो बहुत थका हुआ था और प्यास से विकल था, कहने लगा ॥ ११ ॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह ।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम् ॥ १२ ॥

हे भाइयो! अङ्गद ने जो कुछ कहा है वह निश्चय ही उनके योग्य है, हितकर है और हम लोगों के अनुकूल है। अतः इनके कथनानुसार ही हम लोगों को कार्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

पुनर्मार्गामहे शैलान्कन्दरांश्च दरीस्तथा ।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च ॥ १३ ॥

आओ हम लोग फिर से पहाड़, गुफाएँ, घाटियाँ, वन, शून्य स्थल, पहाड़ी झरनों को ढूंढ़ ॥ १३ ॥

---

१ क्षमं—युक्तं । (शि०)

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना ।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि सर्वशः ॥ १४ ॥

जैसे कि महात्मा सुग्रीव ने बतला दिया है, वैसे ही आओ सब वानर मिल कर वनों और दुर्गम पर्वतों को भली भाँति खोजें ॥१४॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः ।
विन्ध्यकाननसङ्कीर्णां विचेरुर्दक्षिणां दिशम् ॥ १५

तदनन्तर सब वानर विन्ध्याचल के जंगलों से व्याप्त दक्षिण दिशा में घूम फिर कर ढूढ़ने लगे ॥ १५ ॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम् ।
शृङ्गवन्तं दरीमन्तमधिरुह्य च वानराः ॥ १६ ॥

अब वे वानरगण शारदीय मेघमाला जैसे शोभायुक्त तथा शिखरों और घाटियों वाले रजत पर्वत पर चढ़ गये ॥ १६ ॥

तत्र *लोध्रवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च ।
व्यचिन्वंस्ते हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥

वे कपिश्रेष्ठ वहाँ सीता जी के दर्शन की कामना से रमणीय लोध्रवन और सतौना के वनों को ढूढ़ने लगे ॥ १७ ॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः ।
न पश्यन्ति स्म वैदेहीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १८ ॥

वे उस पर्वत की सब से ऊँची चोटी पर चढ़ कर, ढूढ़ते ढूढ़ते हैरान हो गये। किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी सीता को न पाया ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—" कोद्रवनं " ।

ते तु दृष्टिगतं कृत्वा तं शैलं बहुकन्दरम् ।
अवारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ १९ ॥

इतने में उनको एक पर्वत देख पड़ा, जिसमें बहुत सी गुफाएँ थीं। उस पर्वत पर भी वे चढ़ गये और वहाँ भी चारों ओर सीता जी को ढूढ़ा ॥ १९ ॥

अवरुह्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः ।
स्थित्वा मुहूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

तदनन्तर वे सब के सब श्रान्त हो मूर्छित से हो गये और घबड़ा कर पर्वत से उतर कर, भूमि पर चले आये। वहाँ वे एक वृक्ष के नीचे बैठ कुछ देर तक सुस्ताये ॥ २० ॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्ताः किंचिद्भग्नपरिश्रमाः ।
पुनरेवोद्यताः कृत्स्नां मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥ २१ ॥

कुछ देर तक विश्राम कर और थकावट मिटा वे फिर समस्त दक्षिण दिशा को ढूढ़ने के लिये उद्यत हुए ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखास्ते तु प्रस्थिताः प्लवगर्षभाः ।
विन्ध्यमेवादितस्तावद्विचेरुस्ते ततस्ततः ॥ २२ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

हनुमदादि प्रमुख कपिगण पुनः विन्ध्याचल से ले कर दक्षिण दिशा को ढूढ़ने लगे ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—※—

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान्कपिः ।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ १ ॥

हनुमान जो अपने साथ अङ्गद और तार को साथ ले, विन्ध्याचल की गुफाओं और दुर्गम स्थानों अथवा सघन वन को ढूढ़ने लगे ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलजुष्टेषु गुहाश्च सरितस्तथा ।
विषमेषु नगेन्द्रस्य महाप्रस्रवणेषु च ॥ २ ॥

वे वानर विन्ध्य पर्वत की सिंह-शार्दूल-युक्त गुफाओं, सरिताओं और बड़े बड़े दुर्गम झरनों पर जा कर सीता को ढूढ़ने लगे ॥ २ ॥

आसेदुस्तस्य शैलस्य कोटिं दक्षिणपश्चिमाम् ।
तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तत ॥ ३ ॥

वे विन्ध्यपर्वत के दक्षिण और पश्चिम वाले कोने पर खोज करने लगे । इतने ही में सुग्रीव की निर्दिष्ट की हुई अवधि बीत गयी ॥ ३ ॥

स हि देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान्महान् ।
तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥ ४ ॥

वह स्थान भी बड़ी कठिनाई से खोजने योग्य था, क्योंकि वहाँ पर बड़ी बड़ी दुर्गम गुफाएँ थीं और वहाँ जो वन था वह भी बड़ा

लंबा चौड़ा और सघन था। परन्तु हनुमान जी ने उस समस्त पर्वत को भी ढूढ़ डाला ॥ ४ ॥

परस्परेण हनुमानन्यान्यस्याविदूरतः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ५ ॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवान्नलः ।
अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥ ६ ॥
गिरिजालावृतान्देशान्मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।
विचिन्वन्तस्ततस्तत्र ददृशुर्विवृतं[1] विलम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर एक दूसरे का साथ छोड़ और थोड़ी थोड़ी दूर पर रह कर, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण, जाम्बवान, नल, युवराज अङ्गद और वानर तार, पर्वतमाला से छिपे देशों में घुस घुस कर, दक्षिण दिशा में ढूढ़ने लगे। इतने में ढूढ़ते ढाँढ़ते वहाँ उनको एक विस्तृत विल देख पड़ा ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

दुर्गमृक्षविलं नाम दानवेनाभिरक्षितम् ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च सलिलार्थिनः ॥ ८ ॥
अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाविलम् ।
ततः क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ ९ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।
ततस्तद्विलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम् ॥ १० ॥

उस विल का नाम ऋक्षविल अर्थात् रीछ का विल था। वह दुर्गम था और दानव से रक्षित था। उन सब के सब वानरों ने, जो

---

[1] विवृतं—विस्तृतं। (गो०)

भूख और प्यास से विकल, थके और जलपान की इच्छा किये हुए थे, उस बड़े बिल को, जो लताओं तथा वृक्षों से ढका हुआ था, देखा उस बिल में से क्रौंच, हंस, सारस, जल से तरावोर तथा कमल के पराग के पीले रंग से रंगे हुए निकल रहे थे। उस सुवासित और दुष्प्रवेश्य बिल के पास जाने पर ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः ।
सञ्जातपरिशङ्कास्ते तद्बिलं प्लवगोत्तमाः ॥ ११ ॥

उन सब वानरोत्तमों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे घबड़ाये भी। उन वानरश्रेष्ठों को उस बिल के विषय में बड़ा सन्देह उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

अभ्यपद्यन्तसंहृष्टास्तेजोवन्तो महाबलाः ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं दैत्येन्द्रनिलयोपमम् ॥ १२ ॥

परन्तु वे लोग बड़े तेजस्वी और महाबलवान थे, अतः बिल के द्वार के समीप जा पहुँचे और (वहाँ जल होने के चिन्ह देख) प्रसन्न हुए। वह बिल उनको नाना जीवों से भरा हुआ, दैत्येन्द्र राजा बलि के आवासस्थल, पाताल की तरह देख पड़ा ॥ १२ ॥

दुर्दर्शमतिघोरं च दुर्विगाहं च सर्वशः ।
ततः पर्वतकूटाभो हनुमान्पवनात्मजः ॥ १३ ॥
अब्रवीद्वानरान्सर्वान्कान्तारवनकोविदः ।
गिरिजालावृतान्देशान्मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ॥ १४ ॥
वयं सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मैथिलीम् ।
अस्माच्चापि विलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः ॥ १५ ॥

जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्ति स्म सर्वतः ।
नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः ॥ १६ ॥

वह केवल सब ओर से दुष्प्रवेश्य ही न था, किन्तु उसके देखने से ही डर लगता था। पर्वताकार विशाल वपुधारी तथा बड़े बड़े वनों का हाल जानने वाले हनुमान जी, उन सब वानरों से बोले—हम सब लोग पर्वतमाला से पूरित दक्षिण के देशों को ढूढ़ते ढूढ़ते थक गये और सीता का पता न लगा सके। इस बिल में से हंस, क्रौंच, सारस और चक्रवाक पक्षी जल से तर निकल रहे हैं। इससे निश्चय होता है कि, इसमें या तो जल पूरित कोई कुआ है अथवा तालाब है ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

तथा चेमे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः ।
इत्युक्त्वा तद्बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम् ॥ १७ ॥

देखो, इस बिल के मुहाने पर भी हरे भरे वृक्ष लगे हुए हैं। (इससे भी वहाँ कुआ या तालाब का होना निश्चित होता है।) हनुमान जी के यह कहने पर वे सब वानर उस अन्धियारे बिल में घुस गये ॥ १७ ॥

अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम् ।
निशाम्य तस्मात्सिंहांश्च तास्तांश्च मृगपक्षिणः ॥ १८ ॥

उस बिल में सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रकाश न था—अतः उसमें जाते ही वानरों के रोंगटे खड़े हो गये। परन्तु उसमें से सिंहों, मृगों और पक्षियों को निकलते देख, ॥ १८ ॥

प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम् ।
न तेषां सज्जते चक्षुर्न तेजो न पराक्रमः ॥ १९ ॥

वे सब वानरश्रेष्ठ उस अंधियारे बिल में घुस गये। उस समय उनकी यह दशा थी कि, उनको आंखों से देख नहीं पड़ता था और (प्यासे होने के कारण) उनके शरीर में तेज और पराक्रम नहीं रह गया था॥ १९॥

वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तमसि वर्तते।
ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद्बिलं कपिकुञ्जराः॥ २०॥

यद्यपि उस अन्धकार में उनको कुछ भी नहीं देख पड़ता था, तथापि वे कपिकुञ्जर, वायु की तरह धड़धड़ाते हुए उस बिल में घुस गये॥ २०॥

प्रकाशमभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम्।
ततस्तस्मिन्बिले दुर्गे नानापादपसङ्कुले॥ २१॥
अन्योन्यं सम्परिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम्।
ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः॥ २२॥

जब वे उस बिल के भीतर पहुँच गये, तब उन्होंने वहां सुन्दर प्रकाश और उत्तम स्थान देखा। (किन्तु वहां पहुँचने के पूर्व) उस दुर्गम तथा विविध वृक्षों से परिपूर्ण बिल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए (अर्थात् एक दूसरे का सहारा लिए हुए) वे एक योजन चले थे। (सहारा लेने का कारण यह था कि,) वे प्यास से विकल और थके मांदे पानी के लिये मूर्छित से हो रहे थे॥ २१॥ २२॥

परिपेतुर्बिले तस्मिन्कञ्चित्कालमतन्द्रिताः।
ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्लवङ्गमाः॥ २३॥

वे वानर पहले ही से दुर्बल शरीर, उदास वदन और थके मांदे थे, अतः उस बिल में पहुँच, वे थोड़ी देर तक (भूमि पर) पड़े रहे॥ २३॥

आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते तदा ।
ततस्तं देशमागम्य सौम्यं वितिमिरं वनम् ॥ २४ ॥

जब वे अपने जीवन से निराश हो रहे थे, तब उनको प्रकाश देख पड़ा। वे वानर ऐसे स्थान में जा पहुँचे, जहाँ प्रकाशयुक्त सुन्दर वन था ॥ २४ ॥

ददृशुः काञ्चनान्वृक्षान्दीप्तवैश्वानरप्रभान् ।
सालांस्तालांश्च पुन्नागान्कक्कुभान्वञ्जुलान्धवान्॥ २५॥
चम्पकान्नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।
स्तवकैः काञ्चनैश्चित्रै रक्तैः किसलयैस्तथा ॥ २६ ॥
आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान् ।
तरुणादित्यसङ्काशान्वैडूर्यकृतवेदिकान् ॥ २७ ॥

उस वन में उन्होंने प्रज्वलित अग्नि की तरह सोने के पेड़ देखे। उनमें साखू, ताड़, तमाल, नागकेसर, मौलसिरी, धव, चम्पा, नागवृक्ष, और पुष्पित कर्णिकार के वृक्ष भी थे: जो सोने के रंग विरंगे पुष्पों के गुच्छों, लाल पत्तों, मञ्जरियों और लताओं से ऐसे शोभायमान् थे, मानों किसी ने उन्हें सोने के गहनों से सजा दिया हो। उनमें ऐसे भी कितने पेड़ थे, जो मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह चमचमाते पत्थों के चबूतरों पर लगे हुए थे ॥ २५ ॥ २६ ॥ ॥ २७ ॥

विभ्राजमानान्वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान् ।
नीलवैडूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगावृताः ॥ २८ ॥

ये सब वृक्ष काञ्चनमय होने से चमक रहे थे। सरोवरों के तटों पर नीलम और पन्ने के रंग के नीले हरे पक्षी कूज रहे थे ॥ २८ ॥

महद्भिः काञ्चनैः पद्मैर्वृता बालार्कसन्निभैः।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्च सकच्छपैः ॥ २९ ॥

उनमें प्रातःकालीन सूर्य की तरह रंग वाले बड़े बड़े सोने के कमल के फूल खिले हुए थे और सोने की बड़ी बड़ी मछलियां, और कछुए उनमें भरे थे ॥ २९ ॥

नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलावृताः।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥ ३० ॥

इस प्रकार की स्वच्छ जल वाली पुष्करिणियों को देखने के अतिरिक्त वहां पर सैकड़ों सोने चांदी के बने हुए सतखने भवन खड़े हुए थे ॥ ३० ॥

तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च।
हैमराजतभौमानि वैडूर्यमणिमन्ति च ॥ ३१ ॥

उनमें सोने के झरोखे थे और द्वारों पर मोतियों की बंदनवारें लटक रही थीं। भवनों के फर्श सोने चांदी के थे और यथास्थान उनमें पन्ना नीलम आदि मणियां जड़ी हुई थीं ॥ ३१ ॥

ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः।
पुष्पितान्फलिनो वृक्षान्प्रवालमणिसन्निभान् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार के बड़े बड़े भवन उन वानरों ने वहां चारों ओर देखे। वहां जो वृक्ष थे उनमें मूँगा और माणियों की तरह फूल और फल लगे हुए थे ॥ ३२ ॥

काञ्चनभ्रमरांश्चैव *मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ३३ ॥

उन वृक्षों पर सौने के (सुनहले रंग के) भ्रमर गूँज रहे थे और चारों ओर मधु ही मधु दिखलाई पड़ता था। उन भवनों में मणियों के जड़ाऊ और सोने के बने हुए रंग विरंगे पलंग और आसन पड़े हुए थे ॥ ३३ ॥

महार्हाणि च यानानि ददृशुस्ते समन्ततः ।
हैमराजतकांस्यानां भाजनानां च सञ्चयान् ॥ ३४ ॥

बहुमूल्य सवारियाँ भी चारों ओर खड़ी हुई देख पड़ती थीं और सोने, चाँदी एवं काँसे के बरतनों के ढेर लगे हुए थे ॥ ३४ ॥

अगरूणां च दिव्यानां चन्दनानां च सञ्चयान् ।
शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ॥ ३५ ॥

अगर, और दिव्य चन्दनों का ढेर लगा हुआ था। जगह जगह अनेक प्रकार के अतिपवित्र खाद्यपदार्थ (अर्थात्) मूलों और फलों के ढेर लगे हुए थे ॥ ३५ ॥

महार्हाणि च पानानि मधूनि रसवन्ति च ।
दिव्यानामम्बराणं च महार्हाणां च सञ्चयान् ॥ ३६ ॥

बड़े मूल्यवान पेय पदार्थ और, रसीले मधु फल रखे थे। वहाँ बड़े सुन्दर और मूल्यवान् पहिनने के वस्त्रों का भी अच्छा सञ्चय था ॥ ३६ ॥

कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च सञ्चयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान्दीप्तान्वैश्वानरप्रभान् ॥ ३७ ॥

---

* पाठान्तरे —" वधूनि " ।

इनके अतिरिक्त प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकीले रंग विरंगे कंबल (शाल दुशाले) तथा मृगचर्मों के ढेर भी जगह जगह लगे हुए थे ॥ ३७ ॥

दद्दशुर्वानराः शुभ्राञ्जातरूपस्य सञ्चयान् ।
तत्र तत्र विचिन्वन्तो विले तस्मिन्महाबलाः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उन महाबली वानरों ने वहां विल में (इधर उधर) ढूढ़ते ढूढ़ते निर्मल सुवर्ण के ढेर के ढेर जहां तहां देखे ॥ ३८ ॥

दद्दशुर्वानराः शूराः स्त्रियं काञ्चिददूरतः ।
तां दृष्ट्वा भृशसंत्रस्ताश्चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥
तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उन शूर वानरों ने पास ही एक तपस्विनी स्त्री को, जो काले मृग का चर्म धारण किये हुए थी और नियत आहार किया करती थी और बड़ी तेजस्विनी थी, देखा । उसको देख वे सब बहुत भयभीत हो गये ॥ ३९ ॥

विस्मिता हरयस्तत्र व्यवातिष्ठन्त[1] सर्वशः ।
पप्रच्छ हनुमांस्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥ ४० ॥

वे सब के सब वानर उसे देख विस्मित हो दूर खड़े हो गये । तदनन्तर हनुमान जी ने उससे पूँछा कि, तुम कौन हो और यह विल किस का है ? ॥ ४० ॥

ततो हनूमान्गिरिसन्निकाशः
कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम् ।

---

१ व्यवातिष्ठन्ति—दूरेस्थिता । (गो०)

पप्रच्छ का त्वं भवनं विलं च
रत्नानि हेमानि वदस्व कस्य ॥ ४१ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

पर्वततुल्य देहधारी हनुमान जी ने हाथ जोड़ कर, उस वृद्ध तापसी से पूछा कि, आप यह तो बतलावें कि, आप कौन हैं? यह भवन और यह विल किसके हैं और इन रत्नों और सुवर्ण की ढेरियों का मालिक कौन है? ॥ ४१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पचासवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकपञ्चाशः सर्गः

—※—

इत्युक्त्वा हनुमांस्तत्र पुनः कृष्णाजिनाम्बराम्।
अब्रवीत्तां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ॥ १ ॥

यह कह हनुमान जी ने फिर उस चीर और कृष्णाजिन के वस्त्र धारण करने वाली, महाभागा, तापसी और धर्मचारिणी स्त्री से कहा ॥ १ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा विलं तिमिरसंवृतम्।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः ॥ २ ॥

हम सब लोग थके मांदे भूखे प्यासे और सब प्रकार से खिन्न हो कर, सहसा इस अंधकारपूर्ण विल में चले आये हैं ॥ २ ॥

महद्धरण्या विवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः ।
इमांस्त्वेवंविधान्भावान्विविधानद्भुतोपमान् ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा वयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः ।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसन्निभाः ॥ ४ ॥

हम लोग विशेष कर प्यासे होने के कारण ही इस बड़े भारी बिल में चले आये हैं, परन्तु यहां पर इन अनेक प्रकार के अद्भुत पदार्थों को देख कर, अधिक व्यथित और विकल होने के कारण, हम सब अचेत से हो गये हैं। ये सब मध्यान्हकालीन सूर्य की तरह चमकीले सोने के वृक्ष किसके हैं ? ॥ ३ ॥ ४ ॥

शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च ॥ ५ ॥

ये सब पवित्र भोज्य पदार्थ फल मूलादि किसके हैं ? ये सोने के सतखने भवन और चाँदी के घर ॥ ५ ॥

तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च ।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धिनः ॥ ६ ॥

जो सोने के झरोखों से युक्त हैं और जिन पर मणियों की पर्दाएँ पड़ी हैं, किसके हैं ? ये सब फल-फूल-युक्त पेड़, जिनकी पवित्र सुगन्ध फैली हुई है, ॥ ६ ॥

इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा ।
काञ्चनानि च पद्मानि जातानि विमले जले ॥ ७ ॥

ये सब सुवर्णमय वृक्ष तथा निर्मल जल में ये सब सुवर्णमय कमल, किसके तेज से फूल रहे हैं ॥ ७ ॥

कथं मत्स्याश्च सौवर्णाश्चरन्ति सह कच्छपैः ।
आत्मानमनुभावं च कस्य चैतत्तपोबलम् ॥ ८ ॥

ये सोने की मछलियाँ कछुओं सहित जल में क्योंकर विचरती हैं? क्या ये सब चमत्कार आपके तपःप्रभाव के फल स्वरूप हैं अथवा किसी अन्य के ॥ ८ ॥

अजानतां नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि ।
एवमुक्ता हनुमता तापसी धर्मचारिणी ॥ ९ ॥

हम लोगों को इसका हाल नहीं मालूम । अतः आप हमें इसका समस्त वृत्तान्त बतलाइये । जब हनुमान जी ने इस प्रकार पूछा, तब वह धर्मचारिणी तापसी, ॥ ९ ॥

प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता ।
मयो नाम महातेजा मायावी दानवर्षभः ॥ १० ॥

जो सब प्राणियों के ऊपर दया करने वाली थी, हनुमान जी के प्रश्नों का उत्तर देती हुई कहने लगी । महातेजस्वी मय नाम का एक मायावीश्रेष्ठ दानव था ॥ १० ॥

तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम् ।
पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह ॥ ११ ॥

उसने ही यह सब सुवर्णमय वन अपनी माया के बल से बनाया है । पहले यह दानव, मुख्यदानवों का विश्वकर्मा अर्थात् शिल्पी था ॥ ११ ॥

येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम् ।
स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १२ ॥

जिसने यह सुवर्णमय दिव्य भवन बनाया है, उसने महावन में एक हज़ार वर्ष तप कर, ॥ १२ ॥

पितामहाद्वरं लेभे सर्वमौशनसं धनम् ।
वनं विधाय बलवान्सर्वकामेश्वरस्तदा ॥ १३ ॥

पितामह ब्रह्मा जी से यह वर पाया कि, शिल्पविद्या सम्बन्धी जो विद्या शुक्राचार्य ने बनायी है, उसका समस्त ज्ञान उसको हो। वह महाबली इस वन को बना, यहाँ की समस्त भोग्य वस्तुओं का स्वामी हो गया ॥ १३ ॥

उवास सुखितः कालं कञ्चिदस्मिन्महावने ।
तमप्सरसि हेमायां शक्तं दानवपुङ्गवम् ॥ १४ ॥

वह इस महावन में कुछ दिनों तक सुखपूर्वक रहा। फिर वह हेमा नामक एक अप्सरा पर आसक्त हो गया ॥ १४ ॥

विक्रम्यैवाशनिं गृह्य जघानेशः पुरन्दरः ।
इदं च ब्रह्मणा दत्तं हेमायै वनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

तब इन्द्र ने युद्ध में अपने वज्र से उसको मार डाला। तब ब्रह्मा जी ने यह उत्तम वन हेमा को दे डाला ॥ १५ ॥

शाश्वताः कामभोगाश्च गृहं चेदं हिरण्मयम् ।
दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥ १६ ॥

यहाँ के पदार्थों का उपभोग करने की आज्ञा और यह सुवर्णमय भवन भी हेमा को दिया। मैं मेरुसावर्णी की बेटी स्वयंप्रभा हूँ ॥ १६ ॥

इदं रक्षामि भवनं हेमाया वानरोत्तम ।
मम प्रियसखी हेमा नृत्तगीतविशारदा ॥ १७ ॥

हे वानरोत्तम ! मैं हेमा के इस भवन को रखवाली किया करती हूँ । मेरी प्यारी सखी हेमा नाचने गाने में बड़ी निपुण है ॥ १७ ॥

तया दत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनोत्तमम् ।
किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्तारणि प्रपश्यथ ॥
कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ॥ १८ ॥

उसीके दिये हुए वर से मैं इस उत्तम वन की रक्षा करती हूँ। अब तुम बतलाओ तुम किस कार्य के लिये अथवा किस कारणवश इस वन में आये हो । इस दुर्गमवन को तुमने किस प्रकार देखा ॥ १८ ॥

इमान्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ।
भुक्त्वा पीत्वा च पानीयं सर्वं मे वक्तुमर्हथ ॥ १९ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

तुम सब लोग इन खाने पीने योग्य पदार्थों को खा कर और पानी पीकर अपने यहां आने का समस्त वृतान्त मुझसे कहो ॥ १९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

अथ तानब्रवीत्सर्वान्विक्रान्तान्हरिपुङ्गवान् ।
इदं वचनमेकाग्रा तापसी धर्मचारिणी ॥ १ ॥

जब वे सब पराक्रमी वानरश्रेष्ठ खा पी कर विश्राम कर चुके, तब तपसी धर्मचारिणी स्वयंप्रभा ने एकाग्रचित्त हो, उनसे ये वचन कहे ॥ १ ॥

वानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणात् ।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ २ ॥

हे वानरों ! यदि फल खा कर तुम्हारी थकावट मिट गयी हो, और यदि यह बात मेरे सुनने के योग्य हो, तो मैं चाहती हूँ कि, तुम अपना वृत्तान्त मुझे कह सुनाओ ॥ २ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्मारुतात्मजः ।
आर्जवेन[1] यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

पवनतनय हनुमान जी उस तापसी के ये वचन सुन, निष्कपट भाव से सारा वृत्तान्त ज्यों का त्यों कहने लगे ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ४ ॥

इन्द्र और वरुण तुल्य, सर्वलोकों के राजा दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी दण्डक वन में आये ॥ ४ ॥

---

१ आर्जवेन्—अकपटेन । (गो०)

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ।
तस्य भार्या जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात् ॥ ५ ॥

उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण और उनकी पत्नी वैदेही थी। जनस्थान से उनकी भार्या को बरजोरी रावण हर कर ले गया ॥ ५ ॥

वीरस्तस्य सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम वानरः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ ६ ॥

उनके मित्र राजा सुग्रीव हैं जो बड़े वीर हैं। उन्हीं वानरों के राजा सुग्रीव ने हमको सीता को ढूँढ़ने के लिये भेजा है ॥ ६ ॥

अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां यमरक्षिताम् ।
सहैभिर्वानरैर्घोरैरङ्गदप्रमुखैर्वयम् ॥ ७ ॥

हम लोग अङ्गदादि प्रधान वानरों के साथ अगस्त्य सेवित दक्षिण दिशा में आये हैं ॥ ७ ॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम् ।
सीतया सह वैदेह्या मार्गध्वमिति चोदिताः ॥ ८ ॥

सुग्रीव ने हम लोगों को आज्ञा दी है कि, हम सब मिल कर सीता जी का तथा कामरूपी राक्षस का पता लगावें ॥ ८ ॥

विचित्य तु वयं सर्वे समग्रां दक्षिणां दिशम् ।
बुभुक्षिताः परिश्रान्ता वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ ९ ॥

तदनुसार हमने सारी दक्षिण दिशा ढूँढ़ डाली। अन्त में भूखे प्यासे और थके मांदे हो, वृक्ष के नीचे बैठ गये ॥ ९ ॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः ।
नाधिगच्छामहे पारं मग्नाश्चिन्तामहार्णवे ॥ १० ॥

हमारे सब के चेहरे पीले पड़ गये और हम लोग अत्यन्त चिन्तित हुए। हम चिन्ता के समुद्र में ऐसे डूबे कि, किसी तरह उसके पार न जा सके ॥ १० ॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो वयं विलम् ।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम् ॥ ११ ॥

जब हम चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर खोज रहे थे, तब हमको यह विल देख पड़ा, जो लता और वृक्षों से ढका था और जिसमें अन्धकार छाया हुआ था ॥ ११ ॥

अस्माद्धंसा जलक्लिन्नाः पक्षैः सलिलरेणुभिः* ।
कुरराः सारसाश्चैव निष्पतन्ति पतत्रिणः ॥ १२ ॥

उस समय इस विल से जल में भींगे और पुष्पपराग से रंगे हंस, कुरर और सारस पक्षी निकल रहे थे ॥ १२ ॥

साध्वत्र प्रविशामेति मया तूक्ताः प्लवङ्गमाः ।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम् ॥ १३ ॥

यह देख हमने वानरों से कहा कि, अच्छा चलो इसमें चलें। मेरी यह बात सब वानरों को रुची अथवा जल से भींगे पक्षियों को देख इसमें जल का अनुमान कर सब वानर इस विल में आने को राज़ी हो गये ॥ १३ ॥

गच्छाम प्रविशामेति भर्तृकार्यत्वरान्विताः ।
ततो गाढं निपतिता गृह्य हस्तौ परस्परम् ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"सलिल विप्लवैः ।"

हम सब को कार्य पूरा करने की उतावली थी, अतएव हम सब बड़ी शीघ्रता से इस बिल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए घुस आये ॥ १४ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार हम इस अन्धकाराच्छन्न बिल में सहसा घुसे । बस यही हमारा कार्य है और इसी कार्य के लिये हम यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिघ्नाः[1] बुभुक्षिताः ।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

हम सब के सब भूख और प्यास से क्षीण हो, तुम्हारे पास आये और तुमने आतिथ्य धर्मानुसार हमें फल मूल खाने को दिये ॥ १६ ॥

अस्माभिरुपभुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः ।
यत्त्वया रक्षिताः सर्वे म्रियमाणा बुभुक्षया ॥ १७ ॥

भूख से पीड़ित, हम लोगों ने उन फलों को खाया । सो तुमने मानों भूख से मरते हुए हम लोगों की जान बचा ली ॥ १७ ॥

ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्वन्तु वानराः ।
एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरैस्तैः स्वयंप्रभा ॥ १८ ॥

अब बतलाओ इसके बदले में हम सब वानर तुम्हारा क्या प्रत्युपकार करें । जब उन वानरों ने सर्वज्ञ स्वयंप्रभा से इस प्रकार कहा ॥ १८ ॥

---

१ परिघ्नाः—परिक्षीणाः । (गो०)

प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।
सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ।
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ॥ १९ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

तब वह उन सब वानर यूथपतियों से यह बोली कि, मैं तुम समस्त बलवान् वानरों से सन्तुष्ट हूँ। मैं यहां धर्मानुष्ठान कर रही हूँ। मुझे किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ १९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का बावनवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—※—

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ।
उवाच हनुमान्वाक्यं तामनिन्दितचेष्टिताम् ॥ १ ॥

जब उस तपस्विनी ने इस प्रकार शुभ एवं धर्मयुक्त वचन कहे, तब हनुमान जी ने उस अनिन्दित कार्य करने वाली से कहा ॥ १ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणि ।
यः कृतः समयोऽस्माकं सुग्रीवेण महात्मना ॥ २ ॥

हे धर्मचारिणी ! हम सब तेरे शरण हैं । महात्मा सुग्रीव ने हमारे लिये जो अवधि बाँध दी थी ॥ २ ॥

स च कालो ह्यतिक्रान्तो विले च परिवर्तताम् ।
सा त्वमस्माद्विलाद्घोरादुत्तारयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

वह इस बिल में रहते रहते ही बीत गयी । सो आप शीघ्रता पूर्वक हम सब को इस बिल से बाहर पहुँचा दीजिये ॥ ३ ॥

तस्मात्सुग्रीववचनादतिक्रान्तान्गतायुषः ।
त्रातुमर्हसि नः सर्वान्सुग्रीवभयकर्शितान् ॥ ४ ॥

क्योंकि हम सब ने सुग्रीव की बाँधी हुई अवधि बिता दी है सो हमारा सब का मरण अब निकट ही है । अतः सुग्रीव के भय से भीत हम सब की तुम रक्षा करो ॥ ४ ॥

महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ।
तच्चापि न कृतं कार्यमस्माभिरिहवासिभिः ॥ ५ ॥

हे धर्मचारिणी ! हमको बड़ा भारी काम करना था—वह काम हम यहाँ रहने के कारण नहीं कर सके ॥ ५ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ।
जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम् ॥ ६ ॥

हनुमान जी के इस प्रकार कहने पर तापसी ने कहा—इस बिल में जो घुस आता है, यद्यपि उसका जीवित यहाँ से लौटना दुष्कर है ॥ ६ ॥

तपसस्तु प्रभावेण नियमोपार्जितेन च ।
सर्वानेव विलादस्मादुद्धरिष्यामि वानरान् ॥ ७ ॥

तथापि मैं नियमोपार्जित अपनी तपस्या के प्रभाव से तुम सब वानरों को इस बिल के बाहिर निकाल दूँगी ॥ ७ ॥

निर्मीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ।
न हि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः ॥ ८ ॥

तुम सब कपिश्रेष्ठ अपनी अपनी आँखें बंद कर लो—क्योंकि बिना नेत्र बंद किये इस बिल से कोई नहीं निकल सकता ॥ ८ ॥

ततः संमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ।
सहसा पिदधुर्दृष्टि हृष्टा गमनकाङ्क्षिणः* ॥ ९ ॥

तब अपने अपने हाथों की कोमल अँगुलियों से सब वानरों ने अपनी अपनी आँखें ढक लीं। क्योंकि उस बिल से निकल ने की उन सब को बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकता थी ॥ ९ ॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ।
निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया ॥ १० ॥

जब उन सब महात्मा वानरों ने अपनी अपनी आँखें हाथों से ढक लीं, तब उस तपस्विनी ने एक पल में उन सब वानरों को बिल के बाहिर पहुँचा दिया ॥ १० ॥

ततस्तान्वानरान्सर्वांस्तापसी धर्मचारिणी ।
निःसृतान्विषमात्तस्मात्समाश्वास्येदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

उस धर्मचारिणी तापसी स्वयंप्रभा ने जब उन सब के सब वानरों को उस बेढब स्थान से बाहिर पहुँचा दिया, तब वह उनको धीरज बँधाती हुई कहने लगी ॥ ११ ॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान्नानाद्रुमलताकुलः ।
एष प्रस्रवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः ॥ १२ ॥

अनेक प्रकार के वृक्षलता आदि से शोभायमान् विन्ध्याचल पर्वत यही है, यह प्रश्रवण पर्वत है और यह महासागर है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—गमनकाङ्क्षया ।

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः ।
इत्युक्त्वा तद्बिलं श्रीमत्प्रविवेश स्वयंप्रभा ॥ १३ ॥

तुम्हारा मङ्गल हो, मैं अब अपने भवन को जाऊँगी। यह कह कर तापसी स्वयंप्रभा उस परम सुन्दर बिल में घुस गयी ॥ १३ ॥

ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम् ।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिरावृतम् ॥ १४ ॥

जब सब वानर बिल के बाहिर आये, तब उन्होंने उस भयङ्कर वरुणालय (वरुण जी का घर) सागर को देखा, जिसका पारावार न था, जो गर्ज रहा था तथा जिसमें बड़ी बड़ी भयङ्कर लहरें उठ रही थीं ॥ १४ ॥

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम् ।
तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ १५ ॥

मय के मायारचित बिल, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानों को ढूढ़ते ढूढ़ते ही सुग्रीव का निर्दिष्ट किया हुआ एक मास, व्यतीत हो गया ॥ १५ ॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे ।
उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा ॥ १६ ॥

अतएव वे सब महात्मा वानर विन्ध्यपर्वत की तलहटी में जहाँ फूले हुए वृक्ष लगे हुए थे, बैठ कर चिन्तित हो, सोचने लगे ॥ १६ ॥

ततः पुष्पातिभाराग्रैर्लताशतसमावृतान् ।
द्रुमान्वासन्तिकान्दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः ॥ १७ ॥

वसन्त ऋतु में फूलने वाले वृक्षों को फूलों से लदे और सैकड़ों लताओं से वेष्टित देख, वे सब वानर बहुत भयभीत हुए (अतिकाल व्यतीत हो जाने के कारण) ॥ १७ ॥

ते वसन्तमनुप्राप्तं मतिबुद्धा परस्परम् ।
नष्टसन्देशकालार्था निपेतुर्धरणीतले ॥ १८ ॥

आपस में यह कहते हुए कि, वसन्तकाल आ पहुँचा और सुग्रीव का नियत किया हुआ समय बीत गया, वे पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १८ ॥

ततस्तान्कपिवृद्धांस्तु शिष्टांश्चैव वनौकसः ।
वाचा मधुरयाऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च ॥ १९ ॥
स तु सिंहवृषस्कन्धः पीनायतभुजः कपिः ।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर यथावत् अनुमान कर, सिंह वृषभ सदृश कंधों वाले, मोटी और लंबी भुजाओं वाले और बड़े बुद्धिमान युवराज अंगद बड़े बूढ़े और शिष्ट वानरों से मधुर वाणी से बोले ॥ १९ ॥ २० ॥

शासनात्कपिराजस्य वयं सर्वे विनिर्गताः ।
मासः पूर्णो विलस्थानां हरयः किं न बुध्यते ॥ २१ ॥

हम सब लोग कपिराज सुग्रीव की आज्ञा से किष्किन्धा से निकले थे। सुग्रीव ने एक मास की जो अवधि बांधी थी, वह तो उस विल ही में बीत गयी। सो हे वानरो! तुमको यह बात क्यों नहीं खटकती ॥ २१ ॥

वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः ।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम् ॥ २२ ॥

देखो हम सब एकत्र कर एक मास में कार्य कर लौट आने का समय निर्दिष्ट कर, कार्तिक मास में भेजे गये थे। सो वह अवधि तो बीत गयी। अब आप लोग बतलाइये आगे क्या किया जाय ॥ २२ ॥

भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः ।
हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु ॥ २३ ॥

आप लोग कपिराज के विश्वासपात्र हैं, नीतिविशारद हैं, स्वामी के हित में तत्पर हैं और सब कार्यों के करने में निपुण हैं ॥ २३ ॥

कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः ।
मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः ॥ २४ ॥

कार्यकुशलता में आप बेजोड़ हैं. आप अपने पुरुषार्थ के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। पीले नेत्र वाले कपिराज की आज्ञा से आप लोग मुझे अपना प्रधान बना कर, घर से निकले हैं ॥ २४ ॥

इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः ।
हरिराजस्य सन्देशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥ २५ ॥

किन्तु जिस कार्य के लिये हम आये हैं, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ। अतः अब हम लोग निस्सन्देह मारे जायंगे। क्योंकि कपिराज की आज्ञा की अवहेला कर, कौन सुखी हो सकता है ? ॥ २५ ॥

तस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम् ।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम् ॥ २६ ॥

जो अवधि स्वयं सुग्रीव ने बाँधी थी, उसके बीत जाने पर, अब सब वानरों को उचित है कि, खाना पीना छोड़ दें ॥ २६ ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ २७ ॥

क्योंकि सुग्रीव का स्वभाव वैसे ही बड़ा कठोर है, तिस पर वह इस समय हम लोगों के राजा हैं। अतः अपराध होने पर वे किसी तरह हम लोगों को क्षमा न करेंगे ॥ २७ ॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः [1]पापमेव करिष्यति ।
तस्मात्क्षममिहाद्यैव प्रायोपविशनं हि नः ॥ २८ ॥

बल्कि सीता का पता न लगाने के कारण वे हमें अवश्य मार डालेंगे। अतः उस मारे जाने से तो यहाँ भूखे प्यासे रह कर, मर जाना कहीं अच्छा है ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च ।
ध्रुवं नो हिंसिता राजा सर्वान्प्रतिगतानितः ॥ २९ ॥

वधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान्मृत्युरिहैव नः ।
न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः ॥ ३० ॥

यदि हम लोग यहाँ से किष्किन्धा में लौट कर चले जायँगे तो, सुग्रीव निश्चय ही हम सब को मार डालेंगे। अतः इस समय पुत्र, स्त्री, धन और गृहादि की मोहममता त्याग कर, सुग्रीव के हाथ से मारे जाने की अपेक्षा, यहाँ ही मरना हम लोगों के लिये श्रेयस्कर है। सुग्रीव ने मुझे युवराजपद पर स्वयं अभिषिक्त नहीं किया ॥ २९ ॥ ३० ॥

---

१ पापं—वधं। (शि०)

नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम् ॥ ३१ ॥
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः ।
किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे ॥ ३२ ॥

वल्कि अक्लिष्टकर्मा महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने मुझको अभिषिक्त किया है (अर्थात् इसके लिये मैं श्रीरामचन्द्र जी का कृतज्ञ हूँ—सुग्रीव का नहीं) । सुग्रीव तो पहले ही से मुझे अपना वैरी माने बैठा है । फिर जब उसे यह मालूम होगा कि, मैंने काम पूरा नहीं किया, तो वह अवश्य ही मुझे बड़ी निठुरता से मरवा डालेगा । अपने इष्टमित्रों के सामने, उस निन्द्य मृत्यु की अपेक्षा ॥ ३१ ॥ ॥ ३२ ॥

इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागरशोभिते ।
एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम् ॥ ३३ ॥

इस पुण्यप्रद सागर तट पर प्राण त्यागना हमारे लिये ठीक है । जब युवराज के इन वचनों को उन सब वानरों ने सुना ॥ ३३ ॥

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ।
तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियासक्तश्च राघवः ॥ ३४ ॥

तब वे सब के सब वानर गण करुणापूर्ण वाणी से बोले, सुग्रीव तो उग्र प्रकृति के हैं और श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रिया में अनुरक्त हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

अदृष्टायां तु वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान् ।
राघवप्रियकामार्थं घातयिष्यत्यसंशयम् ॥
न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः ॥ ३५ ॥

हम लोगों को जब वे देखेंगे कि, वानर (अकृतकार्य हो) लौट आये, तब श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये अवश्य ही हम लोगों को मार डालेंगे। अतः अपराध कर के स्वामी के पास जाना उचित नहीं ॥ ३५ ॥

इहैव सीतामन्विष्य प्रवृत्तिमुपलभ्य वा ।
नो चेद्गच्छाम तं वीरं गमिष्यामो यमक्षयम् ॥ ३६ ॥

हम लोग यहीं रह कर सीता को ढूढ़ेंगे अथवा सीता का वृत्तान्त जानने का प्रयत्न करेंगे। यदि बिना पता पाये हम लोग उस वीर के पास गये तो हमें यमालय जाना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

प्लवङ्गमानां तु भयार्दितानां
श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे ।
अलं विषादेन बिलं प्रविश्य
वसाम सर्वे यदि रोचते वः ॥ ३७ ॥

उन भयभीत वानरों के ये वचन सुन, तार ने यह कहा, तुम लोग दुःखी न हो। यदि तुम लोगों की इच्छा हो, तो हम सब इस बिल में फिर चले चलें और वहीं चल कर बस जाँय ॥ ३७ ॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं
प्रभूतवृक्षोदकभोज्यपेयकम् ।
इहास्ति नो नैव भयं पुरन्दरा-
न्नराधवाद्वानरराजतोऽपि वा ॥ ३८ ॥

क्योंकि यह माया द्वारा निर्मित बिल बड़ा दुर्गम है। वहाँ बसने पर भोजन की भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि वहाँ पर खाने

के लिये अनेक फल उत्पन्न करने वाले वृक्ष हैं और पीने के लिये बहुत सा जल भी है। वहां रहने पर न तो इन्द्र का, न कपिराज सुग्रीव का और न श्रीरामचन्द्र जी ही का कुछ भय है ॥ ३८ ॥

श्रुत्वाङ्गदस्यापि वचोऽनुकूल-
मूचुश्च सर्वे हरयः प्रतीताः ।
यथा न हिंस्येम तथा विधान-
मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥ ३९ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

इसके अनुकूल अंगद के भी वचन सुन, सब वानर उनकी बातों पर विश्वास कर, बोले कि हे युवराज ! आप ऐसा प्रबन्ध करें, जिससे हम लोग न मारे जांय ॥ ३९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तिरपनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—※—

तथा ब्रुवति तारे तु ताराधिपतिवर्चसि ।
अथ मेने हृतं राज्यं हनुमानङ्गदेन तत् ॥ १ ॥

चन्द्रमा के समान प्रभाशाली तार के इस प्रकार कहने पर हनुमान जी ने अनुमान द्वारा जाना कि, बस वानरों का राज्य अंगद ने लिया, अर्थात् सब बन्दर अंगद के कहने में आ गये ॥ १ ॥

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम् ।
चतुर्दशगुणं मेने हनुमान्वालिनः सुतम् ॥ २ ॥

क्योंकि हनुमान जी ने देखा कि अंगद *अष्टाङ्ग बुद्धि से सम्पन्न हैं, †चार प्रकार के सैनिक बल से युक्त हैं, और ‡चौदह गुणों से भूषित हैं ॥ २ ॥

आपूर्यमाणं सततश्च तेजोबलपराक्रमैः ।
शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया ॥ ३ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, अंगद सदा ही तेज, बल और पराक्रम में, शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह उत्तरोत्तर शोभा की अधिकता से शोभायमान हो रहे हैं ॥ ३ ॥

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः ।
शुश्रूषमाणं तारस्य शुक्रस्येव पुन्दरम् ॥ ४ ॥

अंगद बुद्धि में बृहस्पति के समान, पराक्रम में अपने पिता के समान और तार की बातों को वे उसी प्रकार मानते हैं, जैसे इन्द्र, शुक्र की बातों को मानते हैं ॥ ४ ॥

---

* अष्टाङ्गबुद्धि :—
"ग्रहणं धारणं चैव स्मरणं प्रतिपादनम् ।
ऊहोपोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥" (गो०)

† चार प्रकार के बल :—
१ बाहुबल, २ मनोबल, ३ उपायबल और ४बन्धुबल । (गो०)

‡ चौदहगुण—
" देशकालज्ञता दार्ढ्यं सर्वक्लेशसहिष्णुता ।
सर्वविज्ञानिता दाक्ष्यमूर्जः संवृतमन्नता ॥
अविसंवादिता शौर्यं शक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता ।
शरणागतवात्सल्यममर्षित्वमचापलम् ॥" (गो०)

भर्तुरर्थे परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविदां वरम् ।
अभिसन्धातुमारेभे हनुमानङ्गदं ततः ॥ ५ ॥

तब ऐसे अंगद को अपने स्वामी के कार्य के साधन में परिश्रान्त अथवा शिथिल देख, सर्वशास्त्र विशारद हनुमान जी उनको रास्ते पर लाने के लिये कहने लगे ॥ ५ ॥

स चतुर्णामुपायानां तृतीयमुपवर्णयन् ।
भेदयामास तान्सर्वान्वानरान्वाक्यसम्पदा ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपने मन में विचार हनुमान जी ने चार प्रकार के (१ साम, २ दाम, ३ भेद, ४ दण्ड) उपायों में से तीसरे उपाय से काम लिया और अपनी वाणी की चतुराई से वानरों में आपस में भेद डाला अर्थात् फूट फैलायी ॥ ६ ॥

तेषु सर्वेषु भिन्नेषु ततोऽभीषयदङ्गदम् ।
भीषणैर्बहुभिर्वाक्यैः कोपोपायसमन्वितैः ॥ ७ ॥

जब वे अंगद से फूट कर उनसे अलग हो गये, तब हनुमान जी ने दण्डनीति का आश्रय ले, अनेक भयप्रद वाक्यों से अंगद को भय दिखला कर, कहा ॥ ७ ॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युद्धे तारेय वै धुरम् ।
दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता ॥ ८ ॥

हे तारेय (तारा के पुत्र) ! तुम युद्ध करने में पिता से भी बढ़ कर सामर्थ्य रखते हो, और कपियों के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होने पर तुम अपने पिता की तरह ही दृढ़ता से राज्य कर सकते हो ॥ ८ ॥

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुङ्गव ।
नाज्ञाप्यं विसहिष्यन्ति पुत्रदारान्विना त्वया ॥ ९ ॥

किन्तु, हे वानरश्रेष्ठ ! ये वानर सदा चञ्चल चित्त स्वभाव के होते हैं, सो ये अपने पुत्रों और स्त्रियों को छोड़, तुम्हारे आज्ञाकारी कभी नहीं बने रहेंगे ॥ ९ ॥

त्वां नैते ह्यनुयुञ्जेयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते ।
यथायं जाम्बवान्नीलः सुहोत्रश्च महाकपिः ॥ १० ॥
न ह्यहं त इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः ।
दण्डेन वा त्वया शक्याः सुग्रीवादपकर्षितुम् ॥ ११ ॥

मैं तुमसे इन सब के मुँह पर ही कहता हूँ कि, ये लोग (अपनी स्त्रियों और पुत्रों को छोड़, तुम्हारे ऊपर अनुरागवान नहीं होंगे ।) ये जाम्बवान्, नील, महाकपि सुहोत्र और मुझको तथा इन समस्त वानरों के मन को तुम साम, दाम, भेद, दण्ड द्वारा सुग्रीव की ओर से कभी नहीं फेर सकते ॥ १० ॥ ११ ॥

विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसः ।
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः ॥ १२ ॥

देखो बलवान् दुर्बल को जीत कर, उसका आसन ले सकता है, अतएव दुर्बल को अपनी रक्षा के लिये बलवान से वैर करना उचित नहीं ॥ १२ ॥

यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद्धिलमिति श्रुतम् ।
एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत्कार्यं विदारणे ॥ १३ ॥

और जो तुम इस बिल को अपनी रक्षा करने वाला समझ बैठे हो, सो यह भी व्यर्थ ही है, क्योंकि इस गुफा को बाणों से नष्ट कर देना लक्ष्मण जी के लिये एक खेल सरीखा है ॥ १३ ॥

स्वल्पं[1] हि कृतमिन्द्रेण क्षिपता ह्यशनिं पुरा ।
लक्ष्मणो निशितैर्बाणैर्भिन्द्यात्पत्रपुटं यथा ॥ १४ ॥

जब इन्द्र ने क्रुद्ध हो इस पर वज्र मारा, तब इसमें एक छोटा सा छेद ही हो कर रह गया था, किन्तु जब लक्ष्मण जी क्रुद्ध होंगे, तब पैने बाणों से पत्ते के दोने की तरह इस बिल को नष्ट कर डालेंगे ॥ १४ ॥

लक्ष्मणस्य तु नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः ।
वज्राशनिसमस्पर्शा गिरीणामपि दारणाः ॥ १५ ॥

लक्ष्मण जी के पास पर्वतों तक को तोड़ने वाले वज्र तुल्य बहुत से बाण विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

अवस्थाने यदैव त्वमासिष्यसि परन्तप ।
तदैव हरयः सर्वे त्यक्ष्यन्ति कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

हे परन्तप ! तुम जैसे ही इस बिल में अपना वास-स्थान बनाओगे, वैसे ही ये सब वानर अपना इरादा पक्का कर, तुमको छोड़ कर चल देंगे ॥ १६ ॥

स्मरन्तः पुत्रदाराणां नित्योद्विग्ना बुभुक्षिताः ।
खेदिता दुःखशय्याभिस्त्वां करिष्यन्ति पृष्ठतः ॥ १७ ॥

ये सब वानर अपनी अपनी स्त्रियों और अपने अपने बाल बच्चों को याद कर, सदा उद्विग्न चित्त रहने के कारण, न तो खायँगे

---

१ स्वल्पंकृतं—द्वारमात्रे कृतं । (गो०)

और न मारे दुःख के सोवेंगे ही। परिणाम यह होगा कि, तुम्हें पीठ दिखा ये चल देंगे। अर्थात् तुम्हें पीछे छोड़ देंगे ॥ १७ ॥

स त्वं हीनः सुहृद्भिश्च हितकामैश्च बन्धुभिः।
तृणादपि भृशोद्विग्नः स्पन्दमानाद्भविष्यसि ॥ १८ ॥

इस प्रकार तुम मित्र और हितैषी बन्धुओं से रहित हो कर, तिनके से भी गये बीते हो जाओगे और उद्विग्नता के कारण तुम्हारा हृदय ज़ोर ज़ोर से फड़कने लगेगा ॥ १८ ॥

*अत्युग्रवेगा निशिता घोरा लक्ष्मणसायकाः।
अपावृत्तं जिघांसन्तो महावेगा दुरासदाः ॥ १९ ॥

स्मरण रखना, लक्ष्मण के अति वेगयुक्त, भयङ्कर और बड़े कष्ट से सहने योग्य बाणों को तुम राक न सकोगे और वे तुम्हारे शरीर को विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १९ ॥

अस्माभिस्तु गतं सार्धं विनीतवदुपस्थितम्।
आनुपूर्व्यात्तु सुग्रीवो राज्ये त्वां स्थापयिष्यति ॥ २० ॥

और यदि तुम हमारे साथ चलोगे और विनीत भाव से सुग्रीव के सामने खड़े हो जाओगे, तो सुग्रीव क्रमागत प्राप्त राज्य पर, तुमको अभिषिक्त कर देंगे ॥ २० ॥

†धर्मकामः पितृव्यस्ते प्रीतिकामो दृढव्रतः।
शुचिः सत्यप्रतिज्ञश्च न त्वां जातु जिघांसति ॥ २१ ॥

तुम्हारे चचा सुग्रीव धर्मात्मा, प्रीतिमान्, दृढ़व्रत, पवित्र और सत्य प्रतिज्ञ हैं। वे कभी तुम्हारा वध न करेंगे ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—" न च जातुनहिंस्युस्त्वां। † पाठान्तरे—" धर्मराजः "।

प्रियकामश्च ते मातुस्तदर्थं चास्य जीवितम् ।
तस्यापत्यं च नास्त्यन्यत्तस्मादङ्गद गम्यताम् ॥ २२ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

फिर वे कभी ऐसा काम न करेंगे जो तुम्हारी माता तारा को प्रीतिकर न हो, क्योंकि सुग्रीव का जीवन तारा के अधीन है (फिर सुग्रीव के कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है कि, वे तुम्हें मार कर उसे राज्य दे देंगे । अतएव हे अंगद ! तुम अवश्य किष्किन्धा चलो ॥ २२ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—※—

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
स्वामिसत्कारसंयुक्तमङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

हनुमान जी के विनम्र एवं धर्मयुक्त तथा स्वामी के प्रति सम्मान-सूचक वचनों को सुन, अंगद बोले ॥ १ ॥

स्थैर्यमात्म मनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम् ।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते ॥ २ ॥

हे हनुमान् ! स्थिरबुद्धिता, आत्मशुद्धि, अन्तःकरण की पवित्रता, कोमलता, विनम्रता, विक्रम और गम्भीरता, ये सब गुण सुग्रीव में हैं ही नहीं ॥ २ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम् ।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ॥ ३ ॥

देखो, सुग्रीव ने तो अपने जीवित ज्येष्ठ भ्राता की स्त्री को, जो धर्म से उसकी माता के समान है, अपनी स्त्री बना लिया, यह तो महानिन्द्य कर्म है ॥ ३ ॥

कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा महात्मना ।
युद्धायाभिनियुक्तेन विलस्य पिहितं मुखम् ॥ ४ ॥

वह दुरात्मा क्यों कर धर्म का जानने वाला कहा जा सकता है, जिसने युद्ध करते हुए अपने बड़े भाई की आज्ञा के विरुद्ध, बिल का द्वार बंद कर दिया ॥ ४ ॥

सत्यात्पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः ।
विस्मृतो राघवो येन स कस्य तु कृतं स्मरेत् ॥ ५ ॥

जिसने सत्य को आगे कर, (अर्थात् सत्यप्रतिज्ञा कर) हाथ पकड़ मैत्री की और फिर वही अपने उपकारी और महायशस्वी मित्र श्रीरामचन्द्र जी को भूल गया, उसे कौन कृतज्ञ कह सकता है ? ॥ ५ ॥

लक्ष्मणस्य भयाद्येन नाधर्मभयभीरुणा ।
आदिष्टा मार्गितुं सीतां धर्ममस्मिन्कथं भवेत् ॥ ६ ॥

जिसने लक्ष्मण के भय से, न कि अधर्म के भय से भीत हो सीता को ढूढ़ने के लिये हमको भेजा, भला उसमें धर्म कहाँ हो सकता है ॥ ६ ॥

तस्मिन्पापे कृतघ्ने तु स्मृतिहीने चलात्मनि ।
आर्यः को विश्वसेज्जातु तत्कुलीनो जिजीविषुः ॥ ७ ॥

ऐसे पापी, कृतघ्नी, शास्त्रोक्त धर्महीन और चञ्चलमना में कौन श्रेष्ठ पुरुष और विशेष कर, उसी कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष, क्यों कर विश्वास कर सकता है ॥ ७ ॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

फिर सुग्रीव चाहे गुणवान् हो अथवा गुणरहित, परन्तु वह अपने शत्रु के पुत्र को राज्य दे कर, क्यों कर मुझे जीवित रख सकेगा ॥ ८ ॥

भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च हीनशक्तिः कथं ह्यहम् ।
किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥ ९ ॥

बिल में जा कर रहने का मेरा जो विचार था, वह अब प्रकाशित हो चुका है। उस मंत्रणा के कारण मैं सुग्रीव के निकट अब अपराधी हूँ। साथ ही मैं हीन बल भी हूँ। ऐसी दशा में मैं यदि किष्किन्धा जाऊँ भी तो वहाँ मैं दुर्बल और अनाथ हो कर क्योंकर जीवित रह सकूँगा ॥ ९ ॥

उपांशुदण्डेन हि मां वन्धनेनोपपादयेत् ।
शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात् ॥ १० ॥

उस शठ, क्रूर और निष्ठुर सुग्रीव को राज्य का बड़ा लोभ है। अतः वह भले ही मुझे प्रत्यक्ष दण्ड न दे, अथवा मेरा वध न करे, किन्तु कोई झूठी तोहमत मुझ पर लगा, मुझे बंधुआ (कैदी) तो वह अवश्य ही बना लेगा ॥ १० ॥

वन्धनाद्वाऽवसादान्मे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।
अनुजानीत मां सर्वे गृहं गच्छन्तु वानराः ॥ ११ ॥

उस बंधन के दुःख से मुझे भूखप्यास से शरीर त्याग करना ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। इसलिये सब वानर गण मुझे इस विषय में आज्ञा दें और स्वयं वे अपने अपने घरों को लौट जांय ॥ ११ ॥

अहं वः प्रतिजानामि नागमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ १२ ॥

मैं प्रतिज्ञापूर्वक यह कह रहा हूँ कि, मैं किष्किन्धा में लौट कर न जाऊँगा । मेरे लिये तो अब यहाँ रह कर, प्रायोपवेशन, द्वारा मर जाना ही श्रेयस्कर है ॥ १२ ॥

अभिवादनपूर्वं तु राघवौ बलशालिनौ ।
अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ॥ १३ ॥

तुम सब जाओ और मेरी ओर से सुग्रीव को प्रणाम कर उनसे कुशल प्रश्न पूँछना और बलशाली श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से भी प्रणाम पूर्वक मेरी ओर से कुशल प्रश्न पूँछना ॥ १३ ॥

वाच्यस्तातो यवीयान्मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥ १४ ॥

मेरे चचा व राजा सुग्रीव से तथा मेरी माता रुमा से, आरोग्य पूर्वक मेरा कुशल संवाद कहना ॥ १४ ॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।
प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥ १५ ॥

मेरी माता को समझा देना । देखो उस तपस्विनी को स्वभाव ही से मैं बहुत प्यारा हूँ । उसका मुझ पर बड़ा स्नेह है ॥ १५ ॥

विनष्टमिह मां श्रुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम् ।
एतावदुक्त्वा वचनं वृद्धांस्तानभिवाद्य च ॥ १६ ॥

वह जब मेरे मरने का संवाद सुनेगी, तब वह अवश्य अपना शरीर त्याग देगी। ये वचन कह और वृद्ध वानरों को प्रणाम कर, ॥ १६ ॥

विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन्दर्भेषु दुर्मनाः।
तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः ॥ १७ ॥

अंगद रुदन करते हुए भूमि पर कुश बिछा, मरने के लिये उदास हो बैठ गये। उनको इस तरह मरने के लिये तत्पर देख, सब वानरोत्तम रोने लगे ॥ १७ ॥

नयनेभ्यः प्रमुमुचुरुष्णं वै वारि दुःखिताः।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥ १८ ॥

वे सब के सब रो रो कर नेत्रों से आंसू गिराने तथा सुग्रीव की निन्दा और वालि की प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवस्यन्प्रायमासितुम्।
मतं तद्वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः ॥ १९ ॥

वे सब वानरोत्तम अंगद का ऐसा निश्चय जान, स्वयं भी मरने को तैयार हो गये और अंगद को घेर कर बैठ गये ॥ १९ ॥

उपस्पृश्योदकं तत्र प्राङ्मुखाः समुपाविशन्।
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥ २० ॥

वे सब जल से आचमन कर, दक्षिणाग्र कुशों को बिछा, स्वयं पूर्वाभिमुख हो, समुद्र के तट पर बैठे ॥ २० ॥

मुमूर्षवो हरिश्रेष्ठा एतत्क्षममिति स्म ह।
रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥ २१ ॥

जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः ।
हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं रणे ।
रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार मरने की कामना किये हुए वे सब वानर, श्रीरामचन्द्र जी का वनवास, दशरथ का मरण, जनस्थान का नाश, जटायु का मरण, सीता जी का रावण द्वारा हरा जाना और युद्ध में वालि का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मारा जाना तथा श्रीरामचन्द्र जी के कुपित होने आदि घटनाओं का वर्णन करने लगे। इतने में उनके ऊपर एक विपत्ति आई ॥ २१ ॥ २२ ॥

*एवं वदद्भिर्बहुभिर्महीधरो
महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवङ्गमैः ।
बभूव सञ्चादितनिर्दरान्तरो
भृशं नदद्भिर्जलदैरिवोल्बणैः ॥ २३ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार कहते हुए, पर्वत के समान विशाल शरीर धारी वानरगण इधर उधर भाग कर पर्वतों के ऊपर चढ़ गये। उनके विविध प्रकार के चीत्कारों से झरनों सहित पर्वत और उसकी कन्दराएँ वैसे ही गूंज उठी, जैसे आकाश में मेघ गर्जते हैं ॥ २३ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

* पाठान्तरे—"स संविशद्"।

षट्पञ्चाशः सर्गः

—※—

उपविष्टास्तु ते सर्वे यस्मिन्प्रायं गिरिस्थले।
हरयो गृध्रराजश्च तं देशमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जिस पर्वत पर वे सब वानर मरने के लिये बैठे हुए थे, उसी पर्वत पर एक गृध्रराज आ उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरञ्जीवी विहङ्गमः।
भ्राता जटायुषः श्रीमान्प्रख्यातबलपौरुषः ॥ २ ॥

उस गृध्रराज का नाम सम्पाति था और वह बहुत बूढ़ा पक्षी था। वह प्रसिद्ध बलवान और पराक्रमी तथा शोभायुक्त जटायु का भाई था ॥ २ ॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्ध्यस्य महागिरेः।
उपविष्टान्हरीन्दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वह उस महागिरि विन्ध्याचल की एक गुफा से निकल और वानरों को वहाँ बैठा देख, बहुत प्रसन्न हुआ और यह वचन बोला ॥ ३ ॥

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते।
यथाऽयं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः ॥ ४ ॥

निश्चय ही प्राणियों को, उनके पूर्वार्जित कर्मों के फलानुसार अच्छे बुरे फल मिला करते हैं। देखो, उसीके अनुसार आज बहुत दिनों बाद यह भोजन मुझे मिला है ॥ ४ ॥

परं पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचेदं वचः पक्षी तान्निरीक्ष्य प्लवङ्गमान् ॥ ५ ॥

इन वानरों में से जो जो मरते जायंगे क्रम से मैं उन उनको खाता जाऊँगा। उन वानरों को देख, जब सम्पाति ने इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अङ्गदः परमायस्तो हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब उस भोजनभट्ट पक्षी की ये बातें सुन, अंगद अति खिन्न हो, हनुमान जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद्वैवस्वतो यमः ।
इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ॥ ७ ॥

देखो हम लोग तो सीता को ढूढ़ने आये थे, परन्तु यह साक्षात् यमराज के समान, वानरों पर विपत्ति डालने को यहाँ आया है ॥ ७ ॥

रामस्य न कृतं कार्यं राज्ञो न च वचः कृतम् ।
हरीणामियमज्ञाता विपत्तिः सहसाऽऽगता ॥ ८ ॥

हम लोगों से न तो श्रीरामचन्द्र जी ही का कोई काम बन पड़ा और न हम सुग्रीव की आज्ञा का पालन ही कर सके। तिस पर इस समय वानरों के लिये यह अनजानी विपत्ति आ उपस्थित हो गयी ॥ ८ ॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृध्रराजेन यत्तत्र श्रुत वस्तदशेषतः ॥ ९ ॥

देखो, सीता जी के हित के लिये गृध्रराज जटायु ने जो कुछ किया, वह सब तो तुम सब ने सुना ही है ॥ ९ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान्यथा वयम् ॥१०॥

क्या पशु और क्या पक्षी, जितने प्राणी हैं, वे सब अपने प्राणों को दे कर भी, श्रीरामचन्द्र जी के प्रियकार्य को वैसे ही करते हैं, जैसे कि हम सब ॥ १० ॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
तेन तस्योपकारार्थं त्यजतात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राघवार्थे परिश्रान्ता वयं सन्त्यक्तजीविताः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के स्नेह और करुणा के वशवर्ती हो प्राणी मात्र एक दूसरे का उपकार करते हैं। अतएव श्रीरामचन्द्र जी के उपकार के लिये, अपने आप अपना शरीर अर्पण कर, धर्मज्ञ जटायु ने श्रीरामचन्द्र जी का प्रिय कार्य साधन किया। हम लोग भी श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये, अपने प्राणों को हथेली पर रख कर और परिश्रम उठा कर, ॥ ११ ॥ १२ ॥

कान्तारणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मैथिलीम् ।
स सुखी गृध्रराजस्तु रावणेन हतो रणे ॥ १३ ॥

मुक्तश्च सुग्रीवभयाद्गतश्च परमां गतिम् ।
जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च ॥ १४ ॥

इस घोर वन में आये हैं, परन्तु क्या करें सीता जी को न देख पाये। वह गृध्रराज जटायु, जो रण में रावण द्वारा मारा गया, बड़ा सुखी हुआ और सुग्रीव के भय से छूट उसने मोक्ष पायी। जटायु और दशरथ के मरने से, ॥ १३ ॥ १४ ॥

हरणेन च वैदेह्याः संशयं हरयो गताः ।
रामलक्ष्मणयोर्वास अरण्ये सह सीतया ॥ १५ ॥
राघवस्य च बाणेन वालिनश्च तथा वधः ।
रामकोपादशेषाणां राक्षसानां तथा वधः ।
कैकेय्या वरदानेन इदं हि विकृतं कृतम् ॥ १६ ॥

और सीता के हरण से, हम सब वानरों के प्राण संशय में पड़ गये। श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण और सीता का वनवास, श्रीरामचन्द्र जी के बाण से वालि का वध और श्रीरामचन्द्र जी के कोप से जनस्थानवासी समस्त राक्षसों का वध—ये समस्त अनर्थ कैकेयी के वरदान के कारण हुए हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

तदसुखमनुकीर्तितं वचो
भुवि पतितांश्च समीक्ष्य वानरान्
भृशचलितमतिर्महामतिः
कृपणमुदाहृतवान्स गृध्रराट् ॥ १७ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

महामति गृध्रराज सम्पाति उन वानरों के कथित अपने छोटे भाई के विषय में असुखकर, दुःखदायी वचनों को सुन कर, अत्यन्त चकित हो, पृथिवी पर पड़े हुए उन वानरों की ओर देख कर दया-युक्त ये वचन बोले ॥ १७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—*—

तत्तु श्रुत्वा तदा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्गतम् ।
अब्रवीद्वचनं गृध्रस्तीक्ष्णतुण्डो महास्वनः ॥ १ ॥

उच्च स्वर से बोलने वाले और पैनी चोंच वाले सम्पाति, अंगद के मुख से निकले हुए ये वचन सुन कर, बोले ॥ १ ॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्राणैः प्रियतमस्य मे ।
जटायुषो वधं भ्रातुः कम्पयन्निव मे मनः ॥ २ ॥

कथमासीज्जनस्थाने युद्धं राक्षसगृध्रयोः ।
नामधेयमिदं भ्रातुश्चिरस्याद्य मया श्रुतम् ॥ ३ ॥

कौन मेरे प्राणप्रिय भाई जटायु का वध-वृत्तान्त कह कर, मेरा कलेजा दहला रहा है । जनस्थान में राक्षस और गृध्र का क्यों कर युद्ध हुआ ? मुझे अपने भाई का नाम आज बहुत दिनों बाद सुनाई पड़ा है ॥ २ ॥ ३ ॥

इच्छेयं गिरिदुर्गाच्च भवद्भिरवतारितुम् ।
यवीयसो गुणज्ञस्य श्लाघनीयस्य विक्रमैः ॥ ४ ॥

अतिदीर्घस्य कालस्य तुष्टोऽस्मि परिकीर्तनात् ।
तदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरर्षभाः ॥ ५ ॥

भ्रातुर्जटायुषस्तस्य जनस्थाननिवासिनः ।
तस्यैव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम् ॥ ६ ॥

अतः मैं चाहता हूँ कि, आप लोग मुझे इस दुर्गम पर्वत से नीचे उतार लें। गुण और पराक्रम में सराहनीय अपने छोटे भाई का बहुत दिनों बाद संवाद पाने से मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ। हे वानरश्रेष्ठों! अब मैं जनस्थानवासी अपने भाई जटायु के मारे जाने का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। मेरे उस भाई से और उन दशरथ से मैत्री किस प्रकार हुई ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः।
सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोम्युपसर्पितुम् ॥ ७ ॥

जिनके प्रिय एवं श्रेष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी पूज्य लोगों के प्रियपात्र हैं? क्या करूँ, सूर्य की किरणों से मेरे परों के दग्ध हो जाने के कारण मुझसे तो अब हिला डुला भी नहीं जाता ॥ ७ ॥

इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिन्दमाः।
शोकाद्भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा ते हरियूथपाः ॥ ८ ॥
श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः।
ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवङ्गमाः ॥ ९ ॥
चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति।
सर्वथा प्रायमासीनान्यदि नो भक्षयिष्यति ॥ १० ॥

अतः हे शत्रुओं को मारने वाले! मैं इस पर्वत से उतरना चाहता हूँ। यद्यपि भाई के मृत्यु का संवाद सुनने के कारण उत्पन्न हुए शोक से सम्पाति का गला भर आया था, तथापि वानरों को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। क्योंकि हिंसा आदि उसके (स्वाभाविक) कर्म ऐसे थे, जिनसे कि, वानरों के मन में उसकी ओर से सन्देह उत्पन्न हो गया था। मरने के लिये व्रत धारण किये हुए उन वानरों

ने गृध्र को देख अपनी (उस समय की) बड़ी खोटी बुद्धि से यह विचारा कि, यह गीध हम सब को खा डालेगा ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

कृतकृत्या भविष्यामः क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः ।
एतां बुद्धिं ततश्चक्रुः सर्वे ते वानरर्षभाः ॥ ११ ॥

सो हम तो प्राण त्यागने को बैठे ही हैं। हमने अपने मन में मरने का जो ठान ठाना है, वह शीघ्र हमारा पूरा हो जायगा और हम (श्रीरामकाज में प्राणत्याग करने से) कृतकृत्य हो जाँयगे। उन सब वानरोत्तमों ने इस प्रकार निश्चय कर ॥ ११ ॥

अवतार्य गिरेः शृङ्गाद्गृध्रमाहाङ्गदस्तदा ।
बभूवर्क्षरजा नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ममार्यः पार्थिवः पक्षिन्धार्मिकस्तस्य चात्मजौ ।
सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रावोघबलावुभौ ॥ १३ ॥

सब वानरों ने सम्पाति को पर्वत के शिखर से नीचे उतारा। तदनन्तर अङ्गद ने कहा—हे पक्षिन्! ऋक्षराज नामक प्रतापवान एक वानरराज हो गये हैं। मेरे कुल के प्रथम पूर्वज वे ही थे। उन के दो धर्मात्मा पुत्र हुए। उनके नाम वालि और सुग्रीव पड़े। ये दोनों ही बड़े बलवान् हुए ॥ १२ ॥ १३ ॥

लोके विश्रुतकर्माभूद्राजा वाली पिता मम ।
राजा कृत्स्नस्य जगत इक्ष्वाकूणां महारथः ॥ १४ ॥
रामो दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १५ ॥

पितुर्निदेशनिरतो धर्म्यं पन्थानमाश्रितः ।
तस्य भार्या जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात् ॥ १६ ॥

उनमें मेरे पिता वालि बड़े विख्यात और वानरों के राजा हुए। अखिल पृथिवीमण्डल के राजा और इक्ष्वाकुवंशोद्भव महाराज दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण और भार्या जानकी को साथ ले, पितृआज्ञा को पालन करते हुए तथा धर्ममार्ग को अवलंबन कर, दण्डकवन में आये। उनकी स्त्री जानकी को जनस्थान से रावण बरजोरी हर कर ले गया ॥ १४ ॥ ॥ १५ ॥ १६ ॥

रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रराट् ।
ददर्श सीतां वैदेहीं ह्रियमाणां विहायसा ॥ १७ ॥

इसी बीच में श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ के मित्र जटायु नाम के गृध्रराज ने देखा कि, रावण सीता को हर कर आकाशमार्ग से लिये जाता है ॥ १७ ॥

रावणं विरथं कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम् ।
परिश्रान्तश्च वृद्धश्च रावणेन हतो रणे ॥ १८ ॥

तब उन्होंने रावण का रथ तोड़ डाला और सीता को उससे छीन लिया; परन्तु वृद्धावस्था के कारण जटायु जब लड़ते लड़ते थक गये, तब रावण ने उनको लड़ाई में मार डाला ॥ १८ ॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा ।
संस्कृतश्चापि रामेण गतश्च गतिमुत्तमाम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार उस बलवान रावण द्वारा जटायु मारे गये। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनका अन्त्येष्टिसंस्कार किया, जिससे उनको मोक्ष हो गयी ॥ १९ ॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना ।
चकार राघवः सख्यं सोऽवधीत्पितरं मम ॥ २० ॥

तदनन्तर मेरे महात्मा चाचा सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी से मैत्री की। तब श्रीरामचन्द्र जी ने मेरे पिता वालि को मार डाला ॥ २० ॥

मम पित्रा विरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह ।
निहत्य वालिनं रामस्ततस्तमभिषेचयत् ॥ २१ ॥

क्योंकि सुग्रीव अपने मंत्रियों सहित मेरे पिता से वैर रखते थे। सो वालि का वध कर श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव को राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया ॥ २१ ॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानराधिपः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा राजसिंहासन पर स्थापित किये हुए वानरराज सुग्रीव ने वानरयूथपतियों को सीता का पता लगाने को भेजा है ॥ २२ ॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु मार्गमाणास्ततस्ततः ।
वैदेहीं नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभामिव ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार सीता का पता लगाने के कार्य में हम प्रवृत्त हुए और बहुत ढूढ़ा, किन्तु जिस प्रकार रात्रि में सूर्य की प्रभा ढूढ़ने पर भी नहीं मिलती, उसी प्रकार ढूढ़ने पर भी सीता नहीं मिली ॥ २३ ॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्य सुसमाहिताः ।
अज्ञानात्तु प्रविष्टाः स्म* धरण्या विवृतं बिलम् ॥ २४ ॥

हम लोग बड़ी सावधानी से दण्डकवन खोज रहे थे कि, अनजाने हम एक बिल में घुस गये ॥ २४ ॥

मयस्य मायाविहितं तद्बिलं च विचिन्वताम् ।
व्यतीतस्तत्र नो मासो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ २५ ॥

मयदानव निर्मित उस बिल में ढूढ़ते ढूढ़ते सुग्रीव को निर्दिष्ट की हुई अवधि बीत गयी ॥ २५ ॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः ।
कृतां संस्थामतिक्रान्ता भयात्प्रायमुपास्महे ॥ २६ ॥

हम लोग कपिराज सुग्रीव के आज्ञानुवर्ती हैं । उनके निर्दिष्ट किये हुए अवधिकाल के बीत जाने से, भय के मारे, हम लोग प्रायोपवेशनव्रत धारण कर यहां पड़े हुए हैं ॥ २६ ॥

क्रुद्धे तस्मिंस्तु काकुत्स्थे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे ।
गतानामपि सर्वेषां तत्र नो नास्ति जीवितम् ॥ २७ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी और सुग्रीव जी के कुपित होने पर, यदि हम वहाँ जाँय भी, तो भी हमें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा । अतः हम मरने के लिये यहां पड़े हैं ॥ २७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

* पाठान्तरे—" धर्मिण्या " ।

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—*—

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्त्यक्तजीवितैः ।
सवाष्पो वानरान्गृध्रः प्रत्युवाच महास्वनः ॥ १ ॥

जब प्राणत्याग करने के लिये निश्चय किये हुए वानरों ने इस प्रकार करुणा भरे वचन कहे, तब सम्पाति ने आँखों में आँसू भर, गम्भीर स्वर में उन वानरों से कहा ॥ १ ॥

यवीयान्मम स भ्राता जटायुर्नाम वानराः ।
यमाख्यात हतं युद्धे रावणेन बलीयसा ॥ २ ॥

हे वानरो ! तुमने बलवान रावण द्वारा युद्ध में, जिस जटायु नाम गृध्र का मारा जाना अभी बतलाया है, वह मेरा छोटा भाई था ॥ २ ॥

वृद्धभावादपक्षत्वाच्छ्लथ्वंस्तदपि मर्षये ।
न हि मे शक्तिरस्त्यद्य भ्रातुर्वैरविमोक्षणे ॥ ३ ॥

क्या करूँ, मैं अब बूढ़ा होने से निर्बल हो रहा हूँ और मेरे पंख भी नहीं रहे । अब मुझे यह बात चुपचाप सहलेनी पड़ती है । क्योंकि भाई के वध का बदला लेने की मुझमें अब शक्ति ही नहीं रही ॥ ३ ॥

पुरा वृत्रवधे वृत्ते परस्परजयैषिणौ ।
आदित्यमुपयातौ स्वो ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ॥ ४ ॥

प्राचीन काल में, जिस समय वृत्रासुर का वध इन्द्र द्वारा किया गया था, उस समय हम दोनों भाई एक दूसरे को हराने की आकांक्ष

से उड़ते उड़ते, जलती हुई किरणों वाले सूर्यनारायण के समीप जा पहुँचे ॥ ४ ॥

आवृत्त्याऽऽकाशमार्गे तु जवेन स्म गतौ भृशम् ।
मध्यं प्राप्ते दिनकरे जटायुरवसीदति ॥ ५ ॥

आकाश में बड़ी तेज़ी के साथ उड़ते उड़ते हमको दो पहर हो गया । उस समय सूर्य की किरणों की गर्मी से जटायु विकल हो गया ॥ ५ ॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम् ।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात्परमविह्वलम्* ॥ ६ ॥

उस समय सूर्य की किरणों से अपने छोटे भाई को अत्यन्त पीड़ित देख, मैंने मारे स्नेह के अत्यन्त विह्वल हो, उसे अपने परों से ढक लिया ॥ ६ ॥

निर्दग्धपक्षः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः ।
अहमस्मिन्वसन्भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ॥ ७ ॥

हे वानरश्रेष्ठो ! तब सूर्य के ताप से मेरे दोनों पंख भस्म हो जाने से मैं विन्ध्याचल पर यहाँ आकर गिरा । तब से आज तक मुझे उसका कुछ भी अच्छा बुरा समाचार नहीं मिला ॥ ७ ॥

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्राता सम्पातिना तदा ।
युवराजो महाप्राज्ञः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा ॥ ८ ॥

जब जटायु के ज्येष्ठ भ्राता सम्पाति ने इस प्रकार कहा, तब बड़े बुद्धिमान् युवराज अंगद बोले ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—"विह्वलः" ।

जटायुषो यदि भ्राता श्रुतं ते गदितं मया ।
आख्याहि यदि जानासि निलयं तस्य रक्षसः ॥ ९ ॥

यदि तुम्ही जटायु के भाई हो, और मेरा सब कथन तुमने सुन लिया है, तो मुझे उस राक्षस का घर बतला दो ॥ ९ ॥

अदीर्घदर्शनं तं वै रावणं राक्षसाधिपम् ।
अन्तिके यदि वा दूरे यदि जानासि शंस नः ॥ १० ॥

यदि तुम उस अविचारी राक्षसाधम रावण का निवास-स्थान, भले ही वह दूर हो या निकट, जानते हो, तो हमें बतला दो ॥ १० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा ज्येष्ठो भ्राता जटायुषः ।
आत्मानुरूपं वचनं वानरान्सम्प्रहर्षयन् ॥ ११ ॥

यह सुन जटायु का ज्येष्ठ भ्राता महातेजस्वी सम्पाति, वानरों को हर्षित करता हुआ अपने अनुरूप वचन बोला ॥ ११ ॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं हीनवीर्यः प्लवङ्गमाः ।
वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

हे वानरश्रेष्ठो ! यद्यपि मेरे पंख जल गये हैं, और इस समय मेरे शरीर में बल पराक्रम ज़रा भी नहीं रह गया, तथापि मैं केवल वाणीमात्र से श्रीरामचन्द्र जी का उत्तम साहाय करूँगा ॥ १२ ॥

जानामि वारुणाँल्लोकान्विष्णोस्त्रैविक्रमानपि ।
महासुरविमर्दान्वाऽप्यमृतस्य च मन्थनम् ॥ १३ ॥

वरुणादि लोकों से ले कर जितने लोक वामनरूप धारण कर भगवान विष्णु ने नापे थे, उन सब का वृत्तान्त मुझे मालूम है ।

देवासुरों का संग्राम और समुद्र मथ कर, अमृत के निकाले जाने आदि की घटनाएँ भी मुझे मालूम हैं ॥ १३ ॥

रामस्य यदिदं कार्यं कर्तव्यं प्रथमं मया ।
जरया च हृतं तेजः प्राणाश्च शिथिला मम ॥ १४ ॥

क्या करूँ, बुढ़ापे के कारण मेरे शरीर में ज़रा भी बल नहीं रह गया और मेरे प्राण शिथिल हो गये हैं अर्थात् उत्साह भी नहीं रहा, इस लिये मैं विशेष साहाय्य नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन दुरात्मना ॥ १५ ॥

रूपवती और सब आभूषण से भूषित एक तरुणी स्त्री को मैंने देखा था, जिसे दुरात्मा रावण हर कर लिये जाता था ॥ १५ ॥

क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी ।
भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधून्वती ॥ १६ ॥

वह स्त्री हा राम ! हा राम !! हा लक्ष्मण ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्ला रही थी और अपने गहने उतार उतार कर फेंकती जाती थी तथा अपना सिर और छाती पीटती जाती थी ॥ १६ ॥

सूर्यप्रभेव शैलाग्रे तस्याः कौशेयमुत्तमम् ।
असिते राक्षसे भाति यथा वा तडिदम्बुदे ॥ १७ ॥

उसकी पीली रेशमी साड़ी उस काले शरीर वाले राक्षस के शरीर पर पड़ कर ऐसी शोभा देती थी, जैसे काले पर्वत के शिखर पर सूर्य की पीली प्रभा शोभा देती है अथवा जैसे नीले आकाश में बिजली की चमक ॥ १७ ॥

तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।
श्रूयतां मे कथयतो निलयं तस्य रक्षसः ॥ १८ ॥

वह स्त्री श्रीरामचन्द्र जी का नाम ले कर चिल्लाती जाती थी, इससे मुझे मालूम पड़ता है कि, वही सीता होगी। अब मैं तुम्हें उस राक्षस के घर का पता बतलाता हूँ ॥ १८ ॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ।
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः ॥ १९ ॥

वह राक्षस विश्रवमुनि का पुत्र और कुबेर का सगा भाई है तथा लङ्का नाम की पुरी में रहता है। उसका नाम रावण है ॥ १९ ॥

इतो *द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने ।
तस्मिल्लँङ्कापुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २० ॥

इस समुद्र-तट से पूरे सौ योजन की दूरी पर एक द्वीप है। उसमें विश्वकर्मा की बनाई लङ्का नाम की नगरी है ॥ २० ॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैश्चित्रैः काञ्चनवेदिकैः ।
प्राकारेणार्कवर्णेन महता सुसमावृता ॥ २१ ॥

उस पुरी के सब द्वार सोने के हैं और वेदिकें भी सोने ही की रंग बिरंगी बनी हुई हैं। सूर्य के तुल्य चमकीला और विशाल एक परकोटा उस पुरी को चारों ओर से घेरे हुए है ॥ २१ ॥

तस्यां वसति वैदेही दीना कौशेयवासिनी ।
रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः समावृता ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"द्वीपः"।

उसी लङ्कापुरी के भीतर पीली रेशमी साड़ी धारण किये हुए, उदास सीता रहती है। वह रावण के रनवास में क़ैद है और राक्षसी उसकी रखवाली किया करती हैं ॥ २२ ॥

जनकस्यात्मजां राज्ञस्तत्र द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ।
लङ्कायामथ गुप्तायां सागरेण समन्ततः ॥ २३ ॥

यदि तुम वहाँ जा सको तो तुम उस जनकनन्दिनी को वहाँ देख सकोगे। किन्तु वह लङ्कापुरी चारों ओर से समुद्र से रक्षित है ॥ २३ ॥

सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पूर्णं शतयोजनम् ।
आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम् ॥ २४ ॥

यहाँ से पूरे सौ योजन जाने बाद दक्षिणतट पर पहुँच कर, तुम रावण को देख सकोगे ॥ २४ ॥

तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं विक्रमध्वं प्लवङ्गमाः ।
ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ॥ २५ ॥

अतः हे वानरश्रेष्ठों! तुम शीघ्र वहाँ जाओ और अपना विक्रम प्रकट करो। मैं अपने ज्ञान द्वारा जानता हूँ कि, तुम देख कर लौट आओगे ॥ २५ ॥

आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः ।
द्वितीयो बलिभोजानां[1] ये च वृक्षफलाशिनः ॥ २६ ॥
भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह ।
श्येनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम् ॥ २७ ॥

---

१ बलिभोजानां—काकानां । (गो०)

बलवीर्योपपन्नानां रूपयौवनशालिनाम् ।
षष्ठस्तु पन्था हंसानां वैनतेयगतिः परा ॥ २८ ॥

एक तो कबूतर आदि धान्य जीवी पक्षी ; दूसरे फलादि खाने वाले कौए, तीसरे भास, क्रौंच, कुरर इत्यादि ; चौथे बाज ; पांचवे गृध्र ; छठवें बल, पराक्रम, रूप, और यौवन सम्पन्न हंस, वहां जा सकते हैं। गरुड़ की गति तो सब के ऊपर है ही अर्थात् सब से बढ़-कर है, वे तो सर्वत्र आ जा सकते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः ।
इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा ॥ २९ ॥

हे कपिवरो ! हमारा जन्म गरुड़ जी से हुआ है और मैं यहीं से रावण और जानकी को देख रहा हूँ ॥ २९ ॥

अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा ।
तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः ॥ ३० ॥
आयोजनशतात्साग्राद्वयं पश्याम नित्यशः ।
अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः ॥ ३१ ॥

क्योंकि हम लोगों की आंखों का बल, गरुड़ की दिव्य आंखों से उत्पन्न है अथवा हमारे नेत्रों की दृष्टि भी गरुड़ की दिव्य दृष्टि के बराबर ही है। गरुड़ के वंश में उत्पन्न होने के कारण तथा मांसादि भक्षण करने के बल से हम लोग सौ योजन ही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक दूर की वस्तु सदा देख सकते हैं। स्वभावतः जीवनवृत्ति के निर्वाहार्थ हमें दूर की दृष्टि दी गयी है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

विहिता पादमूले तु वृत्तिश्चरणयोधिनाम्[1] ।
गर्हितं तु कृतं कर्म येन स्म पिशिताशिना ॥ ३२ ॥

किन्तु मुरगे आदि को उस पेड़ की जड़ ही तक देखने की दृष्टि दी गयी है जिस पर वे बैठते या रहते हैं। हमने उस जन्म में बुरे कर्म किये, इसी लिये हम माँसाहारी हुए हैं ॥ ३२ ॥

प्रतीकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातुः कृतं भवेत् ।
उपायो दृश्यतां कश्चिल्लङ्घने लवणाम्भसः ॥ ३३ ॥

मुझे अपने भाई का वैर रावण से लेना है। सो तुम लोग इस खारी समुद्र को लाँघने का कोई उपाय सोचो ॥ ३३ ॥

अभिगम्य तु वैदेहीं समृद्धार्था गमिष्यथ ।
समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम् ॥ ३४ ॥

मैं कहता हूँ कि, तुम जानकी जी के निकट पहुँच कर, कार्य-सिद्ध कर लौट आओगे। मेरी इच्छा है कि, अब आप लोग मुझे समुद्र तट पर ले चलें ॥ ३४ ॥

ददास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः ।
ततो नीत्वा तु तं देशं तीरं नदनदीपतेः ॥
निर्दग्धपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः ॥ ३५ ॥

जिससे मैं अपने महात्मा स्वर्गवासी भाई को जलाञ्जलि दे सकूँ। सम्पाति के ऐसा कहने पर बड़े बलवान वानर उस दग्धपक्ष सम्पाति को समुद्र के तट पर ले गये ॥ ३५ ॥

---

१ चरणयोधिनां—कुक्कुटानां ।

पुनः प्रत्यानयित्वा च तं देशं पतगेश्वरम् ।
बभूवुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते ॥ ३६ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

पक्षिराज सम्पाति को, वहाँ से उठा कर वानरों ने समुद्र के तट पर पहुँचा दिया और सीता जी का वृत्तान्त सुन कर, वे वानर हर्षित हुए ॥ ३६ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—※—

ततस्तदमृतास्वादं गृध्रराजेन भाषितम् ।
निशम्य मुदिता हृष्टास्ते[1] वचः प्लवगर्षभाः ॥ १ ॥

इस प्रकार गृध्रराज सम्पाति के कहे हुए अमृत जैसे स्वादिष्ट वचनों को सुन कर, वे वानरश्रेष्ठ मारे आनन्द के रोमाञ्चित हो गये ॥ १ ॥

जाम्बवान्वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवङ्गमैः ।
भूतलात्सहसोत्थाय गृध्रराजमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर जाम्बवान् वानरों के साथ सहसा भूमि से उठ कर, सम्पाति से कहने लगे ॥ २ ॥

---

१ हृष्टा—रोमाञ्चिताः । (गो०)

क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम् ।
तदाख्यातु भवान्सर्वं गतिर्भव वनौकसाम् ॥ ३ ॥

सीता कहाँ है ? उसे किसने देखा और कौन उसे हर ले गया ? ये सब बातें बतला कर, आप इन वानरों के प्राण बचाइये ॥ ३ ॥

को दाशरथिबाणानां वज्रवेगनिपातिनाम् ।
स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चिन्तयति विक्रमम् ॥ ४ ॥

वह कौन पुरुष है, जिसने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के धनुष से छूटे हुए, वज्र के समान वेग से जाने वाले बाणों के विक्रम की ज़रा भी परवाह नहीं की । ४ ॥

स हरीन्प्रीतिसंयुक्तान्सीताश्रुतिसमाहितान् ।
पुनराश्वासयन्प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

यह सुन गृध्रराज प्रसन्न हुए और उन वानरों को धीरज बंधा, जो कि सीता का वृत्तान्त सुनने को सावधान हो तत्पर थे, यह वचन बोले ॥ ५ ॥

श्रूयतामिह वैदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम् ।
येन चापि ममाख्यातं यत्र वाऽऽयतलोचना ॥ ६ ॥

मैंने जैसा जानकी का हरण सुना है और जिसने मुझसे कहा है और जहाँ पर वह बड़े नेत्रों वाली जानकी विद्यमान है, इन सब बातों को मैं कहता हूँ, तुम लोग सुनो ॥ ६ ॥

अहमस्मिन्गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते ।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः ॥ ७ ॥

मुझे इस दुर्गम और बहुत योजनों के लंबे चौड़े पर्वत पर गिरे हुए बहुत दिन बीत गये। अब तो मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ और मेरे शरीर में न तो उत्साह ही रह गया और न पराक्रम ही ॥ ७ ॥

तं मामेवं गतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः।
आहारेण यथाकालं बिभर्ति पततांवरः ॥ ८ ॥

मेरी इस प्रकार की दुरवस्था में सुपार्श्व नाम का मेरा पुत्र मुझे भोजन दे कर मेरा पालन किया करता था ॥ ८ ॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः।
मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार गन्धर्व अत्यन्त कामी, साँप अत्यन्त क्रोधी और हिरन बड़े डरपोंक होते हैं, उसी प्रकार हम लोग बहुत खाने वाले होते हैं ॥ ९ ॥

स कदाचित्क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः।
गतसूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः ॥ १० ॥

एक दिन की बात है सबेरा होते ही सुपार्श्व, आहार की खोज में गया और साँझ होने पर बिना माँस लिये ही रीते हाथों लौट आया ॥ १० ॥

स मया वृद्धभावाच्च कोपाच्च परिभर्त्सितः।
क्षुत्पिपासापरीतेन कुमारः पततांवरः ॥ ११ ॥

बुढ़ाई के कारण मैं उस समय बहुत भूखा था। सो भोजन न पाने से मैंने अपने पक्षिप्रवर पुत्र को बहुत कुछ भला बुरा कहा ॥ ११ ॥

स मामाहार[1]संरोधात्पीडितः प्रीतिवर्धनः ।
[2]अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब वह मेरी प्रसन्नता को बढ़ाने वाला सुपार्श्व आहार न पाने के कारण मेरे द्वारा धमकाये जाने पर, बहुत दुःखी हुआ और मुझसे क्षमा माँग कर उसने यथार्थ बात मुझसे यह कही ॥ १२ ॥

अहं तात यथाकालमामिषार्थी खमाप्लुतः ।
महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य च समास्थितः ॥ १३ ॥

हे तात ! मैं यथासमय मांस की खोज में आकाश में उड़ा और महेन्द्राचल की राह छेक कर, मैं खड़ा था ॥ १३ ॥

ततः सत्त्वसहस्राणां सागरान्तरचारिणाम् ।
पन्थानमेकोऽध्यवसं सन्निरोद्धुमवाङ्मुखः ॥ १४ ॥

मैं नीचे को मुँह कर के चुपचाप समुद्र के भीतर घूमने फिरने वाले सहस्रों जीव जन्तुओं का रास्ता रोकने को, बैठा रहा ॥ १४ ॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम् ।
स्त्रियमादाय गच्छन्वै भिन्नाञ्जनचयोपमः* ॥ १५ ॥

वहाँ पर मैंने देखा कि, काजल की तरह काले रंग का कोई व्यक्ति उदयकालीन सूर्य जैसी प्रभावाली एक स्त्री को लिये हुए चला जाता है ॥ १५ ॥

सोऽहमभ्यवहारार्थं[3] तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः ।
तेन साम्ना विनीतेन पन्थानमभियाचितः ॥ १६ ॥

---

१ आहारसंरोधात्—आहारस्याप्राप्तेरित्यर्थः । (शि०) २ अनुमान्य—मांसप्रार्थ्य । ३ अभ्यवहारार्थं—" पितुरभ्यवहारार्थं नेष्यामीति कृतनिश्चयः इत्यर्थः । " (रा०) * पाठान्तरे—" प्रभः " ।

मैंने अपने मन में यह निश्चय किया कि, ये दोनों आज मेरे पिता के भोजन के लिये होंगे। परन्तु उस पुरुष ने गिड़ गिड़ा कर और विनय कर मुझसे रास्ता मांगा ॥ १६ ॥

न हि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते क्वचित् ।
नीचेष्वपि जनः कश्चित्किमङ्ग वत मद्विधः ॥ १७ ॥

अतः मैंने उसे निकल जाने दिया। क्योंकि मधुरभाषी जनों पर प्रहार करने वाला कदाचित् ही कोई इस भूमण्डल पर निकले। यहां तक कि, जब नीच भी ऐसा काम नहीं करता, तब मेरे जैसा उस पर क्यों कर प्रहार कर सकता था ॥ १७ ॥

स यातस्तेजसा व्योम संक्षिपन्निव वेगतः ।
अथाहं खचरैर्भूतैरभिगम्य सभाजितः ॥ १८ ॥

सो वह अपने तेज से आकाश का तिरस्कार करता हुआ झट पट निकल गया। तदनन्तर आकाशचारी जीवों ने मेरी बड़ी प्रशंसा की ॥ १८ ॥

दिष्ट्या जीवसि तातेति ह्यब्रुवन्मां महर्षयः ।
कथञ्चित्सकलत्रोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम् ॥ १९ ॥

बड़े बड़े ऋषि लोग कहने लगे कि, भाग्यवश ही सीता जीती बच गयीं। यह पुरुष इस स्त्री के सहित भाग्य ही से तुमसे बच कर निकल गया। तुम्हारा मङ्गल हो ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः ।
स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः ॥ २० ॥
हरन्दाशरथेर्भार्यां रामस्य जनकात्मजाम् ।
भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम् ॥ २१ ॥

रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्तीं मुक्तमूर्धजाम् ।
एष कालात्ययस्तावदिति कालविदांवरः ॥ २२ ॥

तदनन्तर परम शोभायमान सिद्ध लोगों ने मुझे बतलाया कि, वह पुरुष राक्षसों का राजा रावण था और वह स्त्री जिसके गहने गिरते जाते थे, जिसकी पीली रेशमी साड़ी हवा में उड़ रही थी, जिसके सिर की चोटी खुली हुई थी, जो शोकाकुल हो श्रीराम और लक्ष्मण का नाम ले पुकार रही थी, जनकनन्दिनी थी, जो दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र की भार्या थी और जिसे रावण हर कर लिये जाता था। कालज्ञों में श्रेष्ठ उस सुपार्श्व ने कहा कि, हे तात! इसीसे आज मुझे देर हो गयी ॥ २२ ॥

एतमर्थं समग्रं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत् ।
तच्छ्रुत्वाऽपि हि मे बुद्धिर्नासीत्काचित्पराक्रमे ॥ २३ ॥

जब सुपार्श्व ने मुझसे यह समस्त वृतान्त कहा, तब उसे सुन कर भी मेरी इच्छा न हुई कि मैं कुछ पराक्रम कर दिखाऊँ ॥ २३ ॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किञ्चिदुपक्रमे ।
यत्तु शक्यं मया कर्तुं वाग्बुद्धिगुणवर्तिना ॥ २४ ॥
श्रूयतां तत्प्रवक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम् ।
वाङ्मतिभ्यां तु सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥ २५ ॥

क्योंकि पंखविहीन पक्षी, भला क्या काम कर सकता है? पर हाँ, जो कुछ वाणी या बुद्धिबल से मैं कर सकता हूँ, उसे सुनो। क्योंकि उसका करना तुम्हारे पौरुष पर निर्भर है। मैं भी अपनी वाणी से (अर्थात् वचन द्वारा) और बुद्धि के अनुसार तुम्हारी सहायता करूँगा ॥ २४ ॥ २५ ॥

यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः ।
ते भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥ २६ ॥
प्रेषिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः ।
रामलक्ष्मणबाणाश्च निशिताः कङ्कपत्रिणः ॥ २७ ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे ।
कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः ॥
भवतां तु समर्थानां न किञ्चिदपि दुष्करम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जो श्रीरामचन्द्र जी का काम है उसे मैं निश्चय ही अपना ही काम समझता हूँ। आप लोग भी बुद्धिमान्, बलवान्, शूर और देवताओं का भी सामना करने वाले हैं। यही समझ कर सुग्रीव ने तुम लोगों को इधर भेजा है। कङ्कपत्र युक्त श्रीराम लक्ष्मण जी के बाण भी तीनों लोकों का नाश और उद्धार (दण्ड और दया) करने में समर्थ हैं। यद्यपि दशग्रीव रावण तेजस्वी और बलवान् है, तथापि सब कार्यों को पूरा करने की सामर्थ्य रखने वाले, तुम लोगों के लिये अजेय नहीं है ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

तदलं कालसङ्गेन[1] क्रियतां बुद्धिनिश्चयः ।
न हि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २९ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

अब देर करना व्यर्थ है, सो झटपट तुम उपाय निश्चित कर डालो। क्योंकि तुम्हारे समान बुद्धिमान् लोग कार्य करने में आलस्य नहीं करते ॥ २९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

१ कालसङ्गेन—कालविलंबेन। (गो०)

षष्टितमः सर्गः

—※—

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।
उपविष्टा गिरौ दुर्गे परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

जब सम्पाति स्नान कर अपने भाई को जलाञ्जलि दे चुका, तब वानर भी उस दुर्गम पर्वत पर उसको चारों ओर से घेर कर बैठे ॥ १ ॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिभिर्वृतम् ।
जनितप्रत्ययो हर्षात्सम्पातिः पुनरब्रवीत् ॥ २ ॥

सब वानरों सहित अङ्गद के समीप बैठा हुआ सम्पाति उनको विश्वास कराता हुआ हर्षित हो फिर यह बोला ॥ २ ॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम ।
तत्त्वं सङ्कीर्तयिष्यामि यथा जानामि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

हे वानरो ! तुम सब एकाग्र मन कर, मैं जो कहूँ, उसे सुनो। अब मैं तुमको यथार्थ रीत्या बतलाऊँगा कि, मैं सीता को किस प्रकार जानता हूँ ॥ ३ ॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुरातने* ।
सूर्यातपपरीताङ्गो निर्दग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥ ४ ॥

पहले मैं सूर्य के ताप से विकल और सूर्य की किरणों से जला हुआ इसी विन्ध्याचल की चोटी पर गिरा ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"पुरा वने," "महावने" वा ।

लब्धसंज्ञस्तु षड्रात्राद्विवशो विह्वलन्निव ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किञ्चन ॥ ५ ॥

फिर छः दिन में मैं सचेत हुआ, परन्तु मैं ऐसा विवश और विकल था कि, देखने पर भी मुझे दिशा का ज्ञान नहीं होता था ॥ ५ ॥

ततस्तु सागराञ्शैलान्नदीः सर्वाः सरांसि च ।
वनान्युदधिवेलां च समीक्ष्य मतिरागमत् ॥ ६ ॥

कुछ दिनों बाद समुद्र, पहाड़, नदी, तालाब, जंगल तथा अन्य विविध स्थानों को देखने से मुझे ज्ञान हुआ ॥ ६ ॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः ॥ ७ ॥

तब मैंने जाना कि, शिखरयुक्त और अनेक कन्दराओं वाले हृष्ट पुष्ट पक्षियों से युक्त दक्षिण समुद्र के तट पर यह विन्ध्याचल पर्वत है ॥ ७ ॥

आसीच्चात्राश्रमः* पुण्यः सुरैरपि सुपूजितः ।
ऋषिर्निशाकरो नाम यस्मिन्नुग्रतपा भवत् ॥ ८ ॥

यहाँ पर देवताओं से पूजित एक आश्रम था । उसमें उग्रतपा निशाकर नामक एक ऋषि रहते थे ॥ ८ ॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नृषिणा विना ।
वसतो मम धर्मज्ञाः स्वर्गते तु निशाकरे ॥ ९ ॥

वे तो स्वर्गवासी हुए, किन्तु मैंने उनके विना अकेले ही इस स्थान में आठ हज़ार वर्षों तक वास किया ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—" आश्रमं " ।

अवतीर्य च विन्ध्याग्रात्कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः ।
तीक्ष्णदर्भां वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥ १० ॥

तदनन्तर मैं बड़े कष्ट के साथ इस विन्ध्याचल की चोटी से ऊबड़ खाबड़ रास्ते से नीचे उतरा और बड़े कष्ट से इस कटीली कुशों से युक्त भूमि पर आया ॥ १० ॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम् ।
जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः ॥ ११ ॥

उन ऋषि के दर्शन करने की कामना से, जटायु के साथ पहिले भी मैं अनेक वार उनसे मिलने के लिये बड़े बड़े कष्ट झेल कर आया था ॥ ११ ॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः ।
वृक्षो नापुष्पितः* कश्चिदफलो वा न विद्यते ॥ १२ ॥

उनके आश्रम के पास अति सुगन्धियुक्त पवन चल रहा था और वहाँ ऐसा एक भी वृक्ष नहीं देख पड़ता था, जो फला फूला न हो १२ ॥

उपेत्य चाश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
द्रष्टुकामः प्रतीक्षेऽहं भगवन्तं निशाकरम् ॥ १३ ॥

मैं उस आश्रम में एक वृक्ष के नीचे जा बैठा और भगवान् निशाकर मुनि के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगा ॥ १३ ॥

अथापश्यमदूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम् ।
कृताभिषेकं दुर्धर्षमुपावृत्तमुदङ्मुखम् ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—" वाऽपुष्पितः " ।

इतने में मैंने दूर से ऋषि को देखा कि, वे परम तेजस्वी दुर्धर्ष ऋषि स्नान करके उत्तर को मुख किये हुए चले आ रहे हैं ॥ १४ ॥

तमृक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नागाः सरीसृपाः ।
परिवार्योपगच्छन्ति* दातारं प्राणिनो यथा ॥ १५ ॥

भिखमँगे जिस प्रकार दाता को घेर कर चलते हैं, उसी प्रकार, रीछ, सृमर, व्याघ्र, सिंह और अनेक सर्प उनको घेरे हुए चले आते थे ॥ १५ ॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्वानि वै ययुः ।
प्रविष्टे राजनि यथा सर्वं सामात्यकं बलम् ॥ १६ ॥

राजा को अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ जान कर मंत्री, सैनिक आदि जिस प्रकार अपने अपने स्थानों को चले जाते हैं, उसी प्रकार उन ऋषिप्रवर को आश्रम में पहुँचा कर, वे सब जीवजन्तु अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ १६ ॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां प्रीतः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः ।
मुहूर्तमात्रान्निष्क्रम्य ततः कार्यमपृच्छत ॥ १७ ॥

ऋषि जी मुझे देख और प्रसन्न हो आश्रम में चले गये और मुहूर्त भर बाद पुनः आश्रम के बाहिर आ, मुझसे आने का कारण पूँछने लगे ॥ १७ ॥

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते ।
अग्निदग्धविमौ पक्षौ त्वक्चैव व्रणिता तव ॥ १८ ॥

वे बोले—हे सौम्य ! तुम्हारे पंखों का रोग देख कर, मैं तुमको पहचान नहीं सका । तुम्हारे ये पंख अग्नि से जल गये और तुम्हारे शरीर की खाल में भी घाव हो रहे हैं ॥ १८ ॥

---

* पाठान्तरे—" धातरं "।

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे ।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ ॥ १९ ॥

मैंने पहले पवन के समान वेग वाले गृधों के राजा कामरूपी दो भाइयों को देखा था ॥ १९ ॥

ज्येष्ठो हि त्वं तु सम्पाते जटायुरनुजस्तव ।
मानुषं रूपमास्थाय गृहीतां चरणौ मम ॥ २० ॥

हे सम्पाते ! उनमें तुम बड़े और जटायु तुम्हारा छोटा भाई है। तुम दोनों ने मनुष्य का रूप धर कर मेरे पैर छुए थे ॥ २० ॥

किं ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम् ।
दण्डो वायं कृतः केन सर्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ २१ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

तुम्हें किस रोग ने आ कर घेर रखा है ? तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर पड़े ? अथवा यह दण्ड किसने तुम्हें दिया है ? सो मैं पूँछता हूँ। तुम अपना समस्त हाल मुझसे कहो ॥ २१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

एकषष्टितमः सर्गः

—※—

ततस्तदारुणं कर्म दुष्करं साहसात्कृतम् ।
आचचक्षे मुनेः सर्वं सूर्यानुगमनं तदा ॥ १ ॥

निशाकर मुनि द्वारा पूँछे जाने पर सम्पाति ने सूर्य के निकट जाने का, अपना वह दुष्कर और दुस्साहस पूर्ण कर्म कहा ॥ १ ॥

भगवन्व्रणयुक्तत्वाल्लज्जया व्याकुलेन्द्रियः ।
परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

वह बोला—हे भगवन् ! मेरे शरीर भर में घाव हो गये हैं। इस कारण एक तो लज्जा मुझे मालूम पड़ती है, दूसरे मैं घावों की पीड़ा से विकल भी हूँ तथा इतनी दूर से आने में थक भी गया हूँ। अतः मुझसे अधिक बोला नहीं जाता ॥ २ ॥

अहं चैव जटायुश्च सङ्गर्पादर्पमोहितौ ।
आकाशं पतितौ वीरौ जिज्ञासन्तौ पराक्रमम् ॥ ३ ॥

हे मुने ! जटायु और मैं अपनी अपनी उड़ने की शक्ति के गर्व से गर्वित हो, प्रतिद्वन्द्वता के लिये आकाश में उड़े थे ॥ ३ ॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम् ।
रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम् ॥ ४ ॥

उड़ने के पूर्व हम दोनों ने कैलास शिखरस्थ मुनियों के सामने यह बाज़ी बदी कि, सूर्य के अस्त होने के पूर्व ही हम दोनों को सूर्य के निकट पहुँच कर, पृथिवी पर लौट आना होगा ॥ ४ ॥

अथावां युगपत्प्राप्तावपश्याव महीतले ।
रथचक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक्पृथक् ॥ ५ ॥

अस्तु, हम दोनों एक ही काल में उड़े और आकाश में बहुत ऊँचे पहुँच गये। जब हमने नीचे पृथिवी की ओर देखा, तब पृथिवी तल के नगर रथ के पहिये की तरह अलग अलग पड़े हुए देख पड़े ॥ ५ ॥

क्वचिद्वादित्रघोषांश्च क्वचिद्भूषणनिःस्वनः*।
गायन्तीश्चाङ्गना वह्नीः पश्यावो रक्तवाससः ॥ ६ ॥

वहाँ से हमने देखा कि, कहीं तो बाजे बज रहे थे, कहीं स्त्रियों के आभूषणों की झनकार हो रही थी और कहीं लाल कपड़े पहिने स्त्रियाँ गा रही थीं ॥ ६ ॥

तूर्णमुत्पत्य चाकाशमादित्यपथमाश्रितौ।
आवामालोकयावस्तद्वनं शाद्वलसन्निभम् ॥ ७ ॥

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोच्चयैः।
आपगाभिश्च संवीता सूत्रैरिव वसुन्धरा ॥ ८ ॥

जब और ऊँचे गये और सूर्य के आने जाने के मार्ग पर पहुँचे और वहाँ से नीचे भूमि की ओर देखा, तब हमें पृथिवी घास से पूर्ण वन की तरह देख पड़ी। अर्थात् वहाँ से बड़े बड़े पेड़ छोटी घास की तरह देख पड़े और पृथिवी के बड़े बड़े पर्वत छोटे पत्थरों के ढोकों की तरह जान पड़े। नदियों सहित पृथिवी ऐसी जान पड़ी मानों नदी रूपी डोरें से वह लपेटी हुई हो ॥ ७ ॥ ८ ॥

हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहान्नगः।
भूतले सम्प्रकाशन्ते नागा इव जलाशये ॥ ९ ॥

हिमालय, विन्ध्याचल और मेरु ये बड़े बड़े पहाड़ ऐसे देख पड़े जैसे किसी तालाब में हाथी खड़े हों ॥ ९ ॥

तीव्रः स्वेदश्च खेदश्च भयं चासीत्तदावयोः।
समाविशति मोहश्च तमो मूर्छा च दारुणा ॥ १० ॥

---

* पाठान्तरे—" ब्रह्मघोषांश्च शुश्रुवः।"

उस समय हम दोनों के शरीर पसीने से तर हो गये, तथा मन में अत्यन्त खेद और भय उत्पन्न हुआ। हम दोनों व्याकुल हो कर मूर्छित हो गये ॥ १० ॥

न दिग्विज्ञायते याम्या नाग्नेया न च वारुणी ।
युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्निना ॥ ११ ॥

हे महर्षे ! उस समय हमें दक्षिण, अग्निकोण, अथवा पश्चिम आदि दिशा विदिशाओं में से किसी का ज्ञान न रहा। उस समय हमें ऐसा जान पड़ता था कि, युगान्त के समय प्रलयकाल उपस्थित है और यह लोक अग्नि से दग्ध हो नष्ट सा हो रहा है ॥ ११ ॥

मनश्च मे हतं भूयः सन्निवर्त्य तु संश्रयम् ।
यत्नेन महता ह्यस्मिन्पुनः सन्धाय चक्षुषि ॥ १२ ॥

यत्नेन महता भूयो रविः समवलोकितः ।
तुल्यः पृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ ॥ १३ ॥

फिर जब मैंने सूर्य को देखा, तब मेरा मन और मेरे दोनों नेत्र शक्ति हीन हो गये। तदनन्तर बड़े यत्न से मैंने अपने मन और नेत्रों को स्थिर कर, सूर्य की ओर देखा, तो सूर्यमण्डल हमको प्रमाण में पृथिवी के समान बहुत बड़ा जान पड़ा ॥ १२ ॥ १३ ॥

जटायुर्मामनापृच्छ्य निपपात महीं ततः ।
तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्मानं मुक्तवानहम् ॥ १४ ॥

इतने में जटायु बिना मुझसे पूँछे पृथिवी पर नीचे उतर आया। उसे लौटते देख, मैं भी नीचे की ओर लौट पड़ा ॥ १४ ॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यते ।
प्रमादात्तत्र निर्दग्धः पतन्वायुपथादहम् ॥ १५ ॥
आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम् ।
अहं तु पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः ॥ १६ ॥

जटायु के ऊपर तो मैंने अपने परों से छाया कर दी—इससे वह तो न जला, किन्तु मैं जल गया । जब मैं वायुपथ से नीचे आ रहा था, तब मुझे जान पड़ा कि, कदाचित् जटायु जनस्थान में गिरा । मैं इस विन्ध्यपर्वत पर गिरा और मेरे परों के भस्म हो जाने से मैं जडवत् हो गया ॥ १५ ॥ १६ ॥

राज्येन हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च ।
सर्वथा मर्तुमेवेच्छन्पतिष्ये शिखराद्गिरेः ॥ १७ ॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

मैं राज्यहीन, भ्रातृहीन, पंखहीन और विक्रमहीन हो गया हूँ । अतः मैं अब चाहता हूँ कि, इस पर्वत से गिर कर अपनी जान दे दूँ ॥ १७ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विषष्टितमः सर्गः

—※—

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमरुदं दुःखितो भृशम् ।
अथ ध्यात्वा मुहूर्तं तु भगवानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

सम्पाति ने वानरों से कहा कि, मुनि से इस प्रकार कह कर, मैं बहुत दुःखित हो रोने लगा। तदनन्तर मुनि ने कुछ काल तक ध्यान कर, मुझसे यह कहा ॥ १ ॥

पक्षौ च ते सपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः ।
प्राणाश्च चक्षुषी चैव विक्रमश्च बलं च ते ॥ २ ॥

हे गृध्र ! तेरे पर और रोम फिर से निकल आवेंगे और तेरी आँखें, तेरा उत्साह, पराक्रम और बल पूर्ववत् हो जायगा ॥ २ ॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यति मया श्रुतम् ।
दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥ ३ ॥

मैंने पुराणान्तर में सुना है और तपोबल से जाना भी है कि, आगे एक बड़ी घटना होने वाली है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम कश्चिदिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुवंश में दशरथ नाम के कोई राजा होंगे। उनके श्रीराम नाम का एक महातेस्वी पुत्र होगा ॥ ४ ॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन गमिष्यति ।
तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन्पित्रा सत्यपराक्रमः ॥ ५ ॥

वे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जो अपने पिता की आज्ञा से अपने भाई लक्ष्मण सहित वन में जायँगे ॥ ५ ॥

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति ।
राक्षसेन्द्रो जनस्थानादवध्यः सुरदानवैः ॥ ६ ॥

रावण नाम का राक्षस उनकी पत्नी को जनस्थान से हर कर ले जायगा। वह राक्षसेन्द्र रावण सब देवताओं और दानवों से अवध्य होगा ॥ ६ ॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली।
न भोक्ष्यति महाभागा दुःखे मग्ना यशस्विनी ॥ ७ ॥

वह जानकी को विविध प्रकार के भक्ष्य भोज्य पदार्थों का लोभ दिखला ललचावेगा, किन्तु वह महाभागा, यशस्विनी एवं दुःख से पीड़ित सीता कोई भी वस्तु ग्रहण न करेगी ॥ ७ ॥

परमान्नं तु वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति वासवः।
यदन्नममृतप्रख्यं सुराणामपि दुर्लभम् ॥ ८ ॥
तदन्नं मैथिली प्राप्य विज्ञायेन्द्रादिदं त्विति।
अग्रमुद्धृत्य रामाय भूतले निर्वपिष्यति ॥ ९ ॥
यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणेन सह प्रभुः।
देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति ॥ १० ॥

यह जान कर इन्द्र देवदुर्लभ पायस (खीर) सीता के भोजन के लिये भेजेंगे। तब उसे इन्द्र द्वारा भेजा हुआ जान सीता ग्रहण करेगी और पहले उसमें से थोड़ी सी खीर निकाल श्रीरामचन्द्र जी के लिये भूमि पर यह कह कर रखेगी कि, यदि मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी और देवर लक्ष्मण जीवित हों, अथवा यदि वे देवत्व को प्राप्त हुए हों, तो भी मेरा दिया हुआ यह अन्न उनको प्राप्त हो ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ १० ॥

एष्यन्त्यन्वेषकास्तस्या रामदूताः प्लवङ्गमाः।
आख्येया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गम ॥ ११ ॥

हे पक्षि ! तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के भेजे हुए वानरदूत यहाँ आवेंगे। उस समय तुम उनको सीता जी का पता बतलाओगे ॥ ११ ॥

सर्वथा हि न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि ।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १२ ॥

अतः तुम इस स्थान को छोड़ कहीं मत जाना और इस दशा में तुम कहीं जा भी न सकोगे। तुम देश काल की बाट जोहते हुए यहाँ ठहरे रहो। तुम्हारे नवीन पर निकलेंगे ॥ १२ ॥

नोत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम् ।
इहस्थस्त्वं तु लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि ॥ १३ ॥

मैं तुम्हारे नये पंख इस लिये उत्पन्न करना नहीं चाहता कि, यहाँ पर रह कर तुम लोकहितकर कार्य साधन करोगे ॥ १३ ॥

त्वयापि खलु तत्कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः ।
ब्राह्मणानां सुराणां च मुनीनां वासवस्य च ॥ १४ ॥

क्योंकि उस कार्य के करने से तुम केवल उन दोनों राजकुमारों ही का कार्य न करोगे, बल्कि उसके द्वारा ब्राह्मणों का, बड़े बड़े महर्षियों का और इन्द्र का भी बड़ा उपकार होगा ॥ १४ ॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ।
महर्षिस्त्वब्रवीदेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः ॥ १५ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

मेरी भी इच्छा है कि, मैं उन दोनों भाई राम लक्ष्मण को देखूँ। पर मेरी इच्छा अब बहुत दिनों जीने की नहीं है। अतः मैं अब अपना शरीर त्याग दूँगा। हे वानरो! तत्वदर्शी मुनि ने मुझसे ऐसा कहा था॥ १५॥

किष्किन्धाकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

एतैरन्यैश्च बहुभिर्वाक्यैर्वाक्यविदांवरः।
मां प्रशस्याभ्यनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमाश्रमम्॥ १॥

वाक्यविशारद मुनिवर इस प्रकार और भी बहुत प्रकार से मुझे समझा बुझा कर तथा मेरी प्रशंसा कर, आश्रम में चले गये॥ १॥

कन्दरात्तु विसर्पित्वा पर्वतस्य शनैः शनैः।
अहं विन्ध्यं समारुह्य भवतः प्रतिपालये॥ २॥

तदनन्तर मैं भी धीरे धीरे वहाँ से सरक कर और विन्ध्याचल पर आ कर तुम लोगों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था॥ २॥

अद्य त्वेतस्य कालस्य साग्रं वर्षशतं गतम्।
देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः॥ ३॥

आज इस बात को सौ से कुछ अधिक ही वर्ष बीत चुके। मैं मुनि की बात को मन में रख और देश काल की राह देखता हुआ यहाँ रह रहा हूँ॥ ३॥

महाप्रस्थानमासाद्य स्वर्गते तु निशाकरे ।
मां निर्दहति सन्तापो[1] वितर्कैर्बहुभिर्वृतम् ॥ ४ ॥

महायात्रा कर जब महर्षि निशाकर स्वर्ग को चले गये। तब मैं विविध विचारों में फँस अत्यन्त सन्तप्त हुआ ॥ ४ ॥

उत्थितां मरणे बुद्धिं मुनिवाक्यैर्निवर्तये ।
बुद्धिर्या तेन मे दत्ता प्राणानां रक्षणाय तु ॥ ५ ॥

कभी कभी मन में यह विचार उठता कि, मर जाना ही ठीक है, किन्तु मुनि के वचनों का स्मरण आते ही मैं मरने के विचार को त्याग देता ॥ ५ ॥

सा मेऽपनयते दुःखं दीप्तेवाग्निशिखा तमः ।
बुद्ध्यता च मया वीर्यं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ६ ॥

जैसे अग्निशिखा अन्धकार को नष्ट कर देती है, वैसे ही मुनिवर की दी हुई उस बुद्धि ने मेरे सन्ताप को नाश कर दिया। दुरात्मा रावण के बल को अपने पुत्र के बल से कम जान ॥ ६ ॥

पुत्रः सन्तर्जितो वाग्भिर्न त्राता मैथिली कथम् ।
तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीताविनाकृतौ ॥ ७ ॥

मैंने अपने पुत्र को खूब फटकारा और कहा कि, तूने सीता का विलाप सुन और श्रीराम लक्ष्मण का सीता से वियोग सुन, सीता को क्यों न बचाया ॥ ७ ॥

न मे दशरथस्नेहात्पुत्रेणोत्पादितं प्रियम् ।
तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य सम्पातेर्वानरैः सह ॥ ८ ॥

---

१ वितर्कैः विविध विचारैः । (गो०)

उत्पेततुस्तदा पक्षौ समक्षं वनचारिणाम् ।
स दृष्ट्वा स्वां तनुं पक्षैरुद्गतैररुणच्छदैः ॥ ९ ॥

मेरा दशरथ के साथ जैसा स्नेह था उसके अनुसार मेरे पुत्र ने कार्य कर मुझे प्रसन्न न किया। सम्पाति इस प्रकार वानरों से वार्तालाप कर ही रहा था कि, इतने में वानरों के सामने ही उसके नये पंख निकल आये। सम्पाति अपने नये लाल लाल पंखों को निकलते देख, ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे वानरांश्चेदमब्रवीत् ।
ऋषेर्निशाकरस्यैव प्रभावादमितात्मनः ॥ १० ॥
आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ मे पुनरुत्थितौ ।
यौवने वर्तमानस्य ममासीद्यः पराक्रमः ॥ ११ ॥
तमेवाद्यानुगच्छामि बलं पौरुषमेव च ।
सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ ॥ १२ ॥

परम प्रसन्न हुआ और वानरों से यह बोला—अमित तेज सम्पन्न महर्षि निशाकर जी के प्रभाव से मेरे सूर्य की किरणों से जले हुए दोनों पंख फिर उग आये। युवावस्था में मुझमें जैसा बल और पुरुषार्थ था वैसा ही बल और पुरुषार्थ मेरे शरीर में हो गया है। हे वानरों! अब तुम सब प्रकार से प्रयत्न करो, तुम्हें सीता अवश्य मिल जायगी ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिमत्ययकारकः ।
इत्युक्त्वा स हरीन्सर्वान्सम्पातिः पतगोत्तमः ॥
उत्पपात गिरेः शृङ्गाज्जिज्ञासुः खगमां गतिम्* ॥१३॥

---

* पाठान्तरे—"खगमो गतिम्"।

क्योंकि जब मेरे पंख जम आये तब मुझे तुम्हारी कार्यसिद्धि का विश्वास हो रहा है। वह पक्षिश्रेष्ठ सम्पाति, उन समस्त वानरों से इस प्रकार कह, अपनी आकाशचारिणी गति की परीक्षा लेने को उस पर्वतशृङ्ग से उड़ा ॥ १३ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतिसंहृष्टमानसाः ।
बभूवुर्हरिशार्दूला विक्रमाभ्युदयोन्मुखाः ॥ १४ ॥

वानरगण भी सम्पाति के वचन सुन अत्यन्त हर्षित हुए और सीता जी के ढूढ़ने में अपना अपना विक्रम दिखाने को उद्यत हुए ॥ १४ ॥

अथ पवनसमानविक्रमाः
प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः ।
अभिजिदभिमुखा दिशं ययुः
जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः ॥ १५ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

फिर पवन समान विक्रमी एवं पुरुषार्थी वानरगण जनकनन्दिनी को ढूढ़ने के लिये अभिजित मुहूर्त में दक्षिण दिशा को चले ॥ १५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का तिरसठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—*—

आख्याता गृध्रराजेन समुत्पत्य प्लवङ्गमाः ।
सङ्गम्य प्रीतिसंयुक्ता विनेदुः सिंहविक्रमाः ॥ १ ॥

गृध्रराज के इस प्रकार कहने पर सिंह के समान विक्रमी वानर गण इकट्ठे हो, बड़े आनन्द से कूदने उछलने लगे और हर्षध्वनि करने लगे ॥ १ ॥

सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम् ।
हृष्टाः सागरमाजग्मुः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥

रावण के नाश के सम्बन्ध में सम्पाति के कहे वचन स्मरण कर वे सब वानरगण प्रसन्न होते हुए सीता को देखने की कामना से समुद्र के तट पर पहुँचे ॥ २ ॥

अभिक्रम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः ।
कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिविम्बमिव स्थितम् ॥ ३ ॥

भयङ्कर विक्रमवान् वानर, समुद्र के तट पर पहुँच, वहाँ समस्त लोकों के प्रतिविम्ब की तरह महान् समुद्र को देखने लगे ॥ ३ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरां दिशम् ।
सन्निवेशं ततश्चक्रुः *सहिता वानरोत्तमाः ॥ ४ ॥

तदनन्तर महाबली वानर वीरों ने दक्षिण समुद्र के उत्तर तट पर जा, वहाँ वानरी सेना को टिकाया ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—" हरिवीरा महाबलाः " ।

सत्त्वैर्महद्भिर्विकृतैः क्रीडद्भिर्विविधैर्जले ।
*व्यात्तास्यैः सुमहाकायैरूर्मिभिश्च समाकुलम् ॥ ५ ॥

(उस समय समुद्र के) जल में विविध प्रकार के बड़े बड़े आकार के भयङ्कर जलजन्तु क्रीड़ा कर रहे थे और बड़ा लंबी चौड़ी और ऊँची लहरों से वह व्याप्त हो रहा था ॥ ५ ॥

प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः ।
क्वचित्पर्वतमात्रैश्च जलराशिभिरावृतम् ॥ ६ ॥

वह समुद्र कहीं तो सोते हुए मनुष्य की तरह शान्त और कहीं अपनी लहरों से खेलता हुआ सा देख पड़ता था। कहीं कहीं पर्वताकार जल राशि उमड़ रही थी ॥ ६ ॥

सङ्कुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः ।
रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः ॥ ७ ॥

पातालवासी दानवेन्द्रों से युक्त, रोमाञ्चकारी समुद्र को देख, वानरश्रेष्ठ घबराये और उदास हुए ॥ ७ ॥

आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः ।
विषेदुः सहसा सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ८ ॥

वानरगण, आकाश की तरह अपार समुद्र को देख, घबड़ाये और सब एक साथ कह उठे कि, अब क्या किया जाय ॥ ८ ॥

विषण्णां वाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात् ।
आश्वासयामास हरीन्भयार्तान्हरिसत्तमः ॥ ९ ॥

सागर को देखने से सेना को घबड़ाया हुआ देख, वानरश्रेष्ठ अंगद ने उनको समझा कर धीरज बँधाया ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—" व्यलस्तैः " ।

तान्विषादेन महता विषण्णान्वानरर्षभान् ।
उवाच मतिमान्काले वालिसूनुर्महाबलः ॥ १० ॥

उस समय विषाद से अत्यन्त विषादयुक्त उन वानरश्रेष्ठों से बुद्धिमान वालि के पुत्र अंगद बोले ॥ १० ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तमः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ ११ ॥

हे वानरो ! विषाद मत करो । क्योंकि विषाद अत्यन्त दोष-कारक है । क्रुद्ध सर्प जिस प्रकार बालकों को मार डालता है, उसी प्रकार विषाद भी पुरुषों को मार डालता है ॥ ११ ॥

विषादोऽयं प्रसहते विक्रमे पर्युपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति ॥ १२ ॥

पराक्रम दिखाने का समय उपस्थित होने पर जो पुरुष विषाद करता है, वह तेजहीन तो होता ही है, साथ ही उसका कार्य भी सिद्ध नहीं होता ॥ १२ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह ।
हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार बातचीत करते करते रात बीत गयी । जब प्रातः काल हुआ तब अंगद वृद्ध वानरों के साथ फिर विचार करने लगे ॥ १३ ॥

सा वानराणां ध्वजिनी परिवार्याङ्गदं बभौ ।
वासवं परिवार्येव मरुतां वाहिनी स्थिता ॥ १४ ॥

देवताओं की सेना जिस प्रकार इन्द्र के चारों ओर उनको घेर कर बैठती है, उसी प्रकार कपिसेना अंगद को घेर कर बैठी ॥ १४ ॥

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भयितुं भवेत् ।
अन्यत्र वालितनयादन्यत्र च हनूमतः ॥ १५ ॥

उन वानरों में अंगद और हनुमान के सिवाय और कोई ऐसा न था जो उस विचलित वानरी सेना को थामता ॥ १५ ॥

ततस्तान्हरिवृद्धांश्च तच्च सैन्यमरिन्दमः ।
[1]अनुमान्याङ्गदः श्रीमान्वाक्यमर्थवदब्रवीत् ॥ १६ ॥

शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीमान अंगद जी वृद्ध वानरों का सम्मान कर के, यह सार वचन बोले ॥ १६ ॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम् ।
कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसन्धमरिन्दमम् ॥ १७ ॥

इस समय वह कौन तेजस्वी वानर है, जो समुद्र को लाँघ कर शत्रुहन्ता सुग्रीव की प्रतिज्ञा को सच्ची करेगा ॥ १७ ॥

को वीरो योजनशतं लङ्घयेच्च प्लवङ्गमाः ।
इमांश्च यूथपान्सर्वान्मोक्षयेत्को महाभयात् ॥ १८ ॥

इस सेना में वह कौन वीर वानर है, जो सौ योजन लाँघ कर, इन समस्त यूथपतियों को बड़े भय से मुक्त करे ॥ १८ ॥

कस्य प्रभावाद्दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ॥ १९ ॥

---

१ अनुमान्य—सत्कृत्य । (रा०)

किसके अनुग्रह से हम लोग सफल मनोरथ हो, सुखपूर्वक अपनी अपनी स्त्रियों, पुत्रों और घरों को यहाँ से लौट कर देखेंगे ॥ १९ ॥

कस्य प्रसादाद्रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अभिगच्छेम संहृष्टाः सुग्रीवं च महाबलम् ॥ २० ॥

किसके अनुग्रह से हम सब महाबली श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण और सुग्रीव के निकट प्रसन्न होते हुए जायंगे । अथवा उनको अपना मुँह दिखला सकेंगे ॥ २० ॥

यदि कश्चित्समर्थो वः सागरप्लवने हरिः ।
स ददात्विह नः शीघ्रं पुण्यामभयदक्षिणाम् ॥ २१ ॥

यदि तुममें से कोई कपिश्रेष्ठ इस सागर को लाँघ सकता हो तो वह तुरन्त हमको पुण्य की देने वाली अभय दक्षिणा दे ॥ २१ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।
स्तिमितेवाभवत्सर्वा तत्र सा हरिवाहिनी ॥ २२ ॥

अंगद के ये वचन सुन किसी ने कुछ न कहा । समस्त कपिसैन्य मौन हो गयी ॥ २२ ॥

पुनरेवाङ्गदः प्राह तान्हरीन्हरिसत्तमः ।
सर्वे बलवतां श्रेष्ठा भवन्तो दृढविक्रमाः ॥
व्यपदेश्यकुले जाताः पूजिताश्चाप्यभीक्ष्णशः ॥ २३ ॥

तब वानरश्रेष्ठ अंगद फिर उनसे बोले । हे वानरों! तुम सभी बलवानों में श्रेष्ठ, दृढ़, पराक्रमी और उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए हो सदा ही सम्मान प्राप्त करते रहे हो ॥ २३ ॥

न हि वो गमने सङ्गः कदाचित्कस्यचित्क्वचित् ।
ब्रुवध्वं यस्य या शक्तिः प्लवने प्लवगर्षभाः ॥ २४ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

यदि तुममें से कोई भी सौ योजन का समुद्र न लाँघ सकता हो तो जो जितना लाँघ सकता हो वह मुझे बतलावे ॥ २४ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—※—

ततोऽङ्गदवचः श्रुत्वा सर्वे ते वानरोत्तमाः ।
स्वं स्वं गतौ समुत्साहमाहुस्तत्र यथाक्रमम् ॥ १ ॥

अंगद के ये वचन सुन, वे समस्त वानरयूथपति उत्साहित हो अपनी अपनी लाँघने की सामर्थ्य का वर्णन यथाक्रम करने लगे ॥ १ ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवांस्तथा ॥ २ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण, जाम्बवान् ने अपनी अपनी लाँघने की सामर्थ्य बतलायी ॥ २ ॥

आवभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम् ।
गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम् ॥ ३ ॥

गज ने कहा मैं दस योजन और गवाक्ष ने कहा मैं बीस योजन, लाँघ सकता हूँ ॥ ३ ॥

गवयो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥

गवय नामक वानर जो वहां था उसने अन्यवानरों से कहा कि मैं तीस योजन लाँघ सकता हूँ ॥ ४ ॥

शरभस्तानुवाचाथ वानरान्वानरर्षभः ।
चत्वारिंशद्गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥ ५ ॥

वानरोत्तम शरभ ने उन वानरों से कहा कि, मैं एक छलाँग में ४० योजन जा सकता हूँ ॥ ५ ॥

*वानरांस्तु महातेजा अब्रवीद्गन्धमादनः ।
योजनानां गमिष्यामि पञ्चाशत्तु न संशयः ॥ ६ ॥

महातेजस्वी गन्धमादन ने उन वानरों से कहा कि, मैं निस्सन्देह ५० पचास योजन तक चला जाऊँगा ॥ ६ ॥

मैन्दस्तु वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
योजनानां परं षष्टिमहं प्लवितुमुत्सहे ॥ ७ ॥

मैन्द वानर ने उन वानरों से कहा कि, मैं एक छलाँग में ६० योजन जा सकता हूँ ॥ ७ ॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत ।
गमिष्यामि न सन्देहः सप्ततिं योजनान्यहम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोला कि, मैं निस्सन्देह ७० योजन जा सकता हूँ ॥ ८ ॥

---

* पाठान्तरे—" वानरस्तु " ।

सुषेणस्तु हरिश्रेष्ठः प्रोक्तवान्कपिसत्तमान् ।
अशीतिं योजनानां तु प्लवेयं प्लवगेश्वराः ॥ ९ ॥

कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उन वानरोत्तमों से कहा मैं एक छलाँग में ८० योजन समुद्र पार कर सकता हूँ ॥ ९ ॥

तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च ।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान्प्रत्यभाषत ॥ १० ॥

जब सब वानरों ने ऐसा कहा, तब उन सब का आदर कर के बूढ़े जाम्बवान् बोले ॥ १० ॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत्कश्चिद्गतिपराक्रमः ।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

युवावस्था में मुझमें भी छलाँग मारने की शक्ति थी, किन्तु अब तो मेरी युवावस्था रही नहीं ॥ ११ ॥

किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षितुम् ।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ ॥ १२ ॥

तथापि मैं इस कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता । क्योंकि जिस कार्य के लिये श्रीरामचन्द्र जी और कपिराज सुग्रीव दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, वह कार्य तो अवश्य करना ही पड़ेगा ॥ १२ ॥

साम्प्रतं कालभेदेन या गतिस्तां निबोधत ।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः ॥ १३ ॥

अतः इस समय मुझमें जितनी छलाँग मारने की शक्ति है, उसको सुनो । मैं निस्सन्देह ९० योजन (अब भी) छलाँग मार कर जा सकता हूँ ॥ १३ ॥

तांस्तु सर्वान्हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवान्पुनरब्रवीत् ।
न खल्वेतावदेवासीद्गमने मे पराक्रमः ॥ १४ ॥

यह कह जाम्बवान पुनः उन वानरोत्तमों से बोले कि, पहले भी मुझमें इतना ही बल था, यह मत समझ लेना ॥ १४ ॥

मया महाबलेश्चैव यज्ञे विष्णुः सनातनः ।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमम् ॥ १५ ॥

उस समय मुझमें ऐसा पराक्रम था कि, जब सनातन त्रिविक्रम वामन रूपी विष्णु जी ने राजा बलि के यज्ञ में तीन पैर से तीनों लोक नाप लिये तब मैंने उनकी परिक्रमा की थी ॥ १५ ॥

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः ।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परैः ॥ १६ ॥

क्या करूँ अब तो बूढ़ा हूँ और छलांग मारने की शक्ति मेरी अब मन्द पड़ गयी है। जवानी में मेरे बराबर बल किसी दूसरे में नहीं था ॥ १६ ॥

सम्प्रत्येतावदेवाद्यशक्यं मे गमने स्वतः ।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति ॥ १७ ॥

इस समय तो मुझमें केवल ९० ही योजन तक जाने की सामर्थ्य है, किन्तु इतने से तो काम नहीं चल सकता ॥ १७ ॥

अथोत्तरम्[1] उदारार्थम्[2] अब्रवीदङ्गदस्तदा ।
अनुमान्य महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ॥ १८ ॥

---

१ उत्तरं—श्रेष्ठ। (शि०) २ उदारार्थं—विपुलार्थकं। (शि०)

तदनन्तर बड़े बुद्धिमान जाम्बवान का आदर कर कपिश्रेष्ठ अंगद ने विपुल अर्थ युक्त एवं उत्तम ये वचन कहे ॥ १८ ॥

अहमेतद्गमिष्यामि योजनानां शतं महत् ।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न* वेति न निश्चिता ॥१९॥

मैं एक छलाँग में सौ योजन कूद सकता हूँ, किन्तु मुझे वहाँ से अपनी लौट आने की सामर्थ्य में सन्देह है ॥ १९ ॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठं जाम्बवान्वाक्यकोविदः ।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्यृक्षसत्तम ॥ २० ॥

वाक्यविशारद जम्बवान, कपिश्रेष्ठ अंगद से कहने लगे, हे कपिवर ! मुझे तुम्हारी छलाँग मारने की शक्ति मालूम है ॥ २० ॥

कामं शतं सहस्रं वा न ह्येष विधिरुच्यते ।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तितुम् ॥ २१ ॥

सौ योजन क्या, आप तो सैकड़ों सहस्रों योजन कूद कर जा सकते और लौट भी सकते हैं ॥ २१ ॥

न हि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथञ्चन ।
भवताऽयं जनः सर्वः प्रेष्यः प्लवगसत्तम ॥ २२ ॥

किन्तु हे तात ! आप मेरे स्वामी हैं अतः मैं तो आपका भेजा हुआ जा सकता हूँ ; किन्तु मैं आपको कभी नहीं भेज सकता । ये सब वानरगण आपके आज्ञाकारी दूत हैं ॥ २२ ॥

भवान्कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
स्वामी कलत्रं[1] सैन्यस्य गतिरेषा परन्तप ॥ २३ ॥

---

१ कलत्रं—रक्षणीयं वस्तु । (गो०) * पाठान्तरे—" स्यात्र "।

आप हम लोगों के स्वामी होने के कारण हमारा कर्त्तव्य है कि, हम आपकी रत्नणीय वस्तु की तरह रक्षा करें। ये सब सेना आपकी आज्ञा के अधीन है। आप ही इसकी एकमात्र गति हैं ॥ २३ ॥

तस्मात्कलत्रवत्तत्र* प्रतिपाल्यः सदा भवान्।
अपि चैतस्य कार्यस्य भवान्मूलमरिन्दम ॥ २४ ॥

अतएव हमारा कर्त्तव्य है कि, रत्नणीय वस्तु की तरह हम सब आपकी ख़बरदारी रखें। हे शत्रुहन्ता! आप ही इस कार्य की जड़ हैं ॥ २४ ॥

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः।
मूले हि सति सिध्यन्ति गुणाः पुष्पफलोदयाः ॥ २५ ॥

कार्य की जड़ की रक्षा करनी उचित है, यही कार्यवेत्ताओं की नीति है। क्योंकि यदि जड़ बनी रही तो फल फूल फिर भी हो सकते हैं ॥ २५ ॥

तद्भवानस्य कार्यस्य साधने सत्यविक्रम।
बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुरत्र परन्तप ॥ २६ ॥

हे परन्तप! आप बुद्धिमान्, पराक्रमी और सत्यविक्रमी होने के कारण इस कार्य के साधन में कारणीभूत है ॥ २६ ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिसत्तम।
भवन्तमाश्रित्य वयं समर्था ह्यर्थसाधने ॥ २७ ॥

हे कपिश्रेष्ठ! आप हम लोगों के मान्य पुरुष के पुत्र होने के कारण हमारे सब के मान्य है, आप ही के सहारे हम लोग इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सकेंगे ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"तस्मात्कलत्रवत्तात।"

उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ।
प्रत्युवाचोत्तरं वाक्यं वालिसूनुरथाङ्गदः ॥ २८ ॥

जब महामतिमान् जाम्बवान् ने इस प्रकार कहा, तब कपिश्रेष्ठ वालितनय अंगद ने जाम्बवान् को उत्तर देते हुए कहा ॥ २८ ॥

यदि नाहं गमिष्यामि नान्यो* वानरपुङ्गवः† ।
पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायोपवेशनम् ॥ २९ ॥

यदि न तो मैं जाऊँ और यदि न अन्य ही कोई वीर वानर जाय, तो फिर प्रायोपवेशन कर प्राणत्याग करना ही हम लोगों के लिये निश्चित ठहरता है ॥ २९ ॥

न ह्यकृत्वा हरिपतेः सन्देशं तस्य धीमतः ।
तत्रापि गत्वा प्राणानां पश्यामि परिरक्षणम् ॥ ३० ॥

फिर कार्य पूरा किये विना, धीमान् कपिराज के समीप जा कर, अपने प्राण बचाना सम्भव नहीं ॥ ३० ॥

स हि प्रसादे चात्यर्थं कोपे च हरिरीश्वरः ।
अतीत्य तस्य सन्देशं विनाशो गमने भवेत् ॥ ३१ ॥

क्योंकि सुग्रीव हमको पुरस्कृत और दण्डित कर सकते हैं। अतः उनकी आज्ञा का पालन किये विना उनके निकट जाने से निस्सन्देह प्राण गँवाने पड़ेंगे ॥ ३१ ॥

तद्यथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः ।
तद्भवानेव दृष्टार्थः[1] संचिन्तयितुमर्हति ॥ ३२ ॥

---

१ दृष्टार्थः—विज्ञातसकलपदार्थः । (शि०) * पाठान्तरे—" नान्ये " । † पाठान्तरे—" पुङ्गवाः " ।

अतएव आप सकल पदार्थवेत्ता समस्त वानरगण ऐसा कोई उपाय सोचें जिससे सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार जानकी जी का दर्शन रूपी कार्य निस्सन्देह पूर्ण हो ॥ ३२ ॥

सोऽङ्गदेन तदा वीरः प्रत्युक्तः प्लवगर्षभः ।
जाम्बवानुत्तरं वाक्यं प्रोवाचेदं ततोऽङ्गदम् ॥ ३३ ॥

अस्य ते वीर कार्यस्य न किञ्चित्परिहीयते ।
एष सञ्चोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥ ३४ ॥

तब कपिश्रेष्ठ जाम्बवान् इस प्रकार के अंगद के वचन सुन कर बोले, हे वीर ! तुम्हारा काम किसी प्रकार न बिगड़ने पावेगा । देखो जो अब तुम्हारे इस कार्य को पूरा करेगा, उसे मैं अब प्रेरणा करता हूँ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

ततः प्रतीतं प्लवतां वरिष्ठ-
मेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम् ।
सञ्चोदयामास हरिप्रवीरो
हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥ ३५ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर कपिवर जाम्बवान्, वानरों में श्रेष्ठ, एकान्त में चुपचाप मज़े में बैठे हुए, विश्वस्त हनुमान जी से बोले ॥ ३५ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम् ।
जाम्बवान्समुदीक्ष्यैवं हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

जाम्बवान् लाखों वानरों की सेना को दुखी देख, हनुमान जी से बोले ॥ १ ॥

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविशारद ।
तूष्णीमेकान्तयाश्रित्य हनुमन्किं न जल्पसि ॥ २ ॥

हे समस्त वानर कुलों में श्रेष्ठ हनुमान ! हे सर्वशास्त्रविशारद ! तुम अकेले और चुपचाप क्यों बैठे हो ? क्यों नहीं कुछ कहते ? ॥ २ ॥

हनुमन्हरिराजस्य सुग्रीवस्य समो ह्यसि ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥ ३ ॥

हे हनुमान ! तुम सुग्रीव के तुल्य हो । यही नहीं, बल्कि तेज और बल में तो मैं तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण के भी बराबर समझता हूँ ॥ ३ ॥

[1]अरिष्टनेमिनः पुत्रो वैनतेयो महाबलः ।
गरुत्मानिति विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥ ४ ॥

भगवान् कश्यप के पुत्र महाबली विनतानन्दन गरुड़ जी सब पक्षियों में श्रेष्ठ और प्रसिद्ध हैं ॥ ४ ॥

---

१ अरिष्टनेमिनः—काश्यपस्य । नकारान्तत्वमार्षं (गो०) ।

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः।
भुजगानुद्धरन्पक्षी महावेगो महायशाः॥ ५॥

हे महाबल! मैंने बहुत बार देखा है; कि, महायशा और महावेगवान् गरुड़ जी ने बहुत से भुजङ्गों को अपने भोजन के लिये निकाला है॥ ५॥

पक्षयोर्यद्बलं तस्य तावद्बुजबलं तव।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनावहीयते॥ ६॥

गरुड़ जी के दोनों पंखों में जितना बल है, तुम्हारी दोनों भुजाओं में भी उतना ही बल है। तुम तेज और विक्रम में उनसे किसी प्रकार कम नहीं हो॥ ६॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न बुध्यसे॥ ७॥

तुम में बल, बुद्धि, तेज और उत्साह सब प्राणियों से अधिक है। फिर तुम अपने को क्यों भूले हुए हो?॥ ७॥

अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः॥ ८॥

अप्सराओं में श्रेष्ठ पुञ्जिकस्थली नाम की अप्सरा, जिसका दूसरा नाम अञ्जना है, वह केसरी नामक वानर की पत्नी हुई॥ ८॥

विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि।
अभिशापाद्भृशात वानरी कामरूपिणी॥ ९॥

उसका रूप तीनों लोकों में विख्यात था। उसके रूप की उपमा नहीं थी। किन्तु हे तात! उसने शापवश कामरूपिणी वानरी हो जन्म लिया॥ ९॥

दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः ।
कपित्वे चारुसर्वाङ्गी कदाचित्कामरूपिणी ॥ १० ॥
मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी ।
विचित्रमाल्याभरणा महार्हक्षौमवासिनी ॥ ११ ॥
अचरत्पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसन्निभे ।
तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम् ॥ १२ ॥
स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपहरच्छनैः ।
स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ ॥ १३ ॥

वह अञ्जना वानरोत्तम कुञ्ज की कन्या कहलायी। एक वार वह अञ्जना रूप एवं यौवन से सुशोभित, मनुष्य का रूप धारण कर, रंग विरंगे फूलों की माला और रेशमी साड़ी पहिन, वर्षाकालीन मेघ की तरह, पर्वतशिखर पर घूम रही थी। पर्वतशिखरस्थ उस विशाल नेत्र वाली की पीले रंग की और लाल किनारीदार साड़ी को पवन ने उड़ा दिया। तदनन्तर वायु ने उसके गोल गोल और अच्छी गठन वाली जाँघों को, ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम् ।
तां विशालायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम् ॥ १४ ॥
दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः ।
स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः ॥ १५ ॥

ऊँचे ऊँचे दोनों कुचों को, सुन्दर मुख और अति सुन्दर नितंबों तथा पतली कमर को देख, तथा कामासक्त हो, दोनों भुजाएँ पसार बरजोरी उसे गले लगा लिया ॥ १४ ॥ १५ ॥

मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम् ।
सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता सुवृत्ता वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

उस समय पवनदेव ऐसे कामासक्त हो गये कि, उन्हें अपने तन की ज़रा भी सुधबुध न रही । तब तो वह पतिव्रता स्त्री बहुत घबड़ायी और सावधान हो कर बोली ॥ १६ ॥

एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति ।
अञ्जनाया वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

मेरे एक-पति-व्रत को कौन नष्ट करना चहाता है । उसके इस प्रश्न के उत्तर में वायु ने कहा ॥ १७ ॥

न त्वां हिंसामि सुश्रोणि माऽभूत्ते सुभगे भयम् ।
*मारुतोऽस्मि गतो यत्त्वां परिष्वज्य यशस्विनीम् ॥१८॥

हे सुन्दरी ! हे सुभगे ! तुम डरो मत । मैं तेरे साथ संभोग न करूँगा । मैं पवन हूँ । हे यशस्विनी ! मैंने तो तेरा आलिंगन मात्र किया है ॥ १८ ॥

वीर्यवान्बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
महासत्वो महातेजा महाबलपराक्रमः ॥ १९ ॥

इससे तेरे वीर्यवान्, बुद्धिमान्, बड़ा पराक्रमी तथा बड़ा तेजस्वी और महाबली पुत्र उत्पन्न होगा ॥ १९ ॥

लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः ।
एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे ॥ २० ॥

वह कूदने फाँदने और तैरने में मेरे ही समान होगा । हे महाकपे ! पवनदेव के ऐसे वचन सुन, तुम्हारी माता सन्तुष्ट हुई ॥२०॥

---

* पाठान्तरे—"मनसाऽस्मि ।"

गुहायां त्वां महावाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभम् ।
अभ्युत्थितं ततः सूर्यं बालो दृष्ट्वा महावने ॥ २१ ॥
फलं चेति जिघृक्षुस्त्वमुत्प्लुत्याभ्युद्गतो दिवम् ।
शतानि त्रीणि गत्वाऽथ योजनानां महाकपे ॥ २२ ॥

उसने तुम्हें एक गुफा में जन्मा। उस महावन में एक दिन प्रातःकाल के समय सूर्य भगवान् को उदय हुआ देख, तुमने उन्हें कोई फल समझा और उस फल को लेने की इच्छा से तुम कूद कर आकाश में पहुँचे और तीन सौ योजन ऊपर चले गये ॥ २१ ॥ २२ ॥

तेजसा तस्य निर्धूतो न विषादं गतस्ततः ।
तावदापततस्तूर्णमन्तरिक्षं महाकपे ॥ २३ ॥
क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं क्रोधाविष्टेन धीमता ।
तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत ॥ २४ ॥

वहां सूर्य की किरणों के ताप से भी तुम न घबड़ाये। हे महाकपे! उस समय तुमको आकाश में जाते देख, धीमान इन्द्र ने क्रोध कर, तुम्हारे वज्र मारा। तब तुम पर्वत के शृङ्ग पर आकर गिरे और तुम्हारी बायीं ओर की ठोड़ी टूट गयी ॥ २३ ॥ २४ ॥

ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कीर्त्यते ।
ततस्त्वां निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धवहः स्वयम् ॥ २५ ॥
त्रैलोक्ये भृशसंक्रुद्धो न ववौ वै प्रभञ्जनः ।
सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षोभिते सति ॥ २६ ॥

तभी से तुम्हार नाम हनुमान पड़ा। तदनन्तर पवनदेव ने तुम्हारी यह दशा देख, अत्यन्त कुपित हो, तीनों लोकों में अपना बहना बंद कर दिया। तब तो वायु के बंद होते ही तीनों लोकों में खलबली मच गयी और देवता भी बहुत घबड़ा उठा ॥ २५ ॥ २६ ॥

प्रसादयन्ति संक्रुद्धं मारुतं भुवनेश्वराः ।
प्रसादिते च पवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ ॥ २७ ॥

उन्होंने वायु को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न किया और जब वायु देव प्रसन्न हुए, तब ब्रह्मा जी ने तुमको यह वर दिया ॥ २७ ॥

अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम ।
वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च ॥ २८ ॥
सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम् ।
स्वच्छन्दतश्च मरणं ते भूयादिति वै प्रभो ॥ २९ ॥

कि, तुम लड़ाई में किसी भी शस्त्र से न मारे जा सकोगे। तदनन्तर वज्र के द्वारा तथा इतनी ऊँचाई से पर्वत पर गिरने पर तुमको पीड़ित न देख, इन्द्र प्रसन्न हुए और यह उत्तम वर दिया कि, तुम्हारा इच्छामरण हो ॥ २८ ॥ २९ ॥

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥ ३० ॥

हे महावीर! तुम केसरी वानर के क्षेत्रज और भीमपराक्रमी पवन के औरस पुत्र हो। यही नहीं, बल्कि तुम तेज में भी अपने पिता पवन के तुल्य हो ॥ ३० ॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्समः ॥ ३१ ॥

हे वत्स ! तुम पवनपुत्र हो और कूदने फाँदने में भी उन्हींके समान हो ॥ ३१ ॥

वयमद्य गतप्राणा भवान्नस्त्रातु साम्प्रतम् ।
दक्षो विक्रमसम्पन्नः पक्षिराज इवापरः ॥ ३२ ॥

देखो, हम सब इस समय गतप्राण हो रहे हैं। सो तुम हमारी रक्षा करो। तुम चतुर और पराक्रमी होने के कारण दूसरे गरुड़ की तरह हो ॥ ३२ ॥

त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥

हे तात ! त्रिविक्रमावतार के समय मैंने पहाड़ों और वनों सहित इस पृथिवी की इक्कीस बार परिक्रमा की थी ॥ ३३ ॥

तथा चौषधयोऽस्माभिः सञ्चिता देवशासनात् ।
निष्पन्नममृतं याभिस्तदासीन्नो महद्बलम् ॥ ३४ ॥

और उन्हीं देव की आज्ञा से मैंने विविध ओषधियाँ इकट्ठी कीं, जिनको समुद्र में डाल देवताओं ने समुद्र को मथा था और अमृत पाया था। उन दिनों मेरे शरीर में बड़ा बल था ॥ ३४ ॥

स इदानीमहं वृद्धः परिहीनपराक्रमः ।
साम्प्रतं कालमस्माकं भवान्सर्वगुणान्वितः ॥ ३५ ॥

किन्तु अब तो मैं वृद्ध हो जाने से पराक्रमहीन हो रहा हूँ। इस समय तो हम सब वानरों में तुम्हीं सर्वगुण सम्पन्न हो ॥ ३५ ॥

तद्विजृम्भस्व[1] विक्रान्तः प्लवतामुत्तमोह्यसि ।
त्वद्वीर्यं द्रष्टुकामेयं सर्ववानरवाहिनी ॥ ३६ ॥

---

१ विजृम्भस्व—उत्प्लुवस्व । (शि०)

इस समय तुम समुद्र के पार जाओ, क्योंकि तुम लांघने वालों में सर्वश्रेष्ठ हो। देखो, यह सारी की सारी वानरी सेना तुम्हारे बलवीर्य को देखना चाहती है ॥ ३६ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम् ।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन्या गतिस्तव ॥ ३७ ॥

हे कपियों में शार्दूल ! उठो और इस समुद्र को लांघो । तुम्हारा समुद्र का लांघना प्राणिमात्र के लिये हितकर है ॥ ३७ ॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनूमन्किमुपेक्षसे ।
विक्रमस्व महावेगो विष्णुस्त्रीन्विक्रमानिव ॥ ३८ ॥

सब वानर दुःखी हो रहे हैं । सो हे हनुमान् ! तुम इन सब की उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? जैसे भगवान विष्णु ने तीन पग पृथिवी नापने को अपना शरीर बढ़ाया था, उसी प्रकार तुम भी अपना विक्रम प्रदर्शित करो ॥ ३८ ॥

ततस्तु वै जाम्बवता प्रचोदितः
[1]प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः ।
प्रहर्षयन्स्तां हरिवीरवाहिनीं
चकार रूपं पवनात्मजस्तदा ॥ ३९ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

तब जाम्बवान की प्रेरणा से पवनतनय हनुमान जी को अपने बल का स्मरण हो आया । तदनन्तर वीर कपिवाहिनी को

---

१ प्रतीतवेगः—स्मृतस्ववेगादिः । (शि०)

हर्षित कर, पवनतनय हनुमान ने समुद्र के लाँघने योग्य अपने शरीर को बड़ा किया ॥ ३९ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—※—

तं दृष्ट्वा जृम्भमाणं[1] ते क्रमितुं शतयोजनम् ।
वीर्यणापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम् ॥ १ ॥

सौ योजन समुद्र को लाँघने के लिये अपने शरीर को बढ़ाये हुए वानरश्रेष्ठ हनुमान जी को सहसा वेग से पूर्ण देख ॥ १ ॥

सहसा शोकमुत्सृज्य महर्षेण समन्विताः ।
विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनुमन्तं महाबलम् ॥ २ ॥

समस्त वानरमण्डली शोक को त्याग कर और हर्षित हो, महाबली हनुमान जी की स्तुति करने लगी ॥ २ ॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चैव वीक्षन्ते स्म समन्ततः ।
त्रिविक्रमकृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

उस समय हनुमान जी का छोटा शरीर बढ़ कर वैसा ही बड़ा हो गया था, जैसा कि, तीन पग पृथिवी नापने के समय, वामन जी का हो गया था । हनुमान जी का ऐसा रूप देख, वानर अत्यन्त प्रसन्न हुए और साथ ही विस्मित भी ॥ ३ ॥

---

[1] जृम्भमाणं—वर्धमानं । (गो०)

संस्तूयमानो हनुमान्व्यवर्धत महाबलः ।
समाविध्य[1] च लाङ्गूलं हर्षाच्च बलमेयिवान्[2] ॥ ४ ॥

वानरों द्वारा स्तुति किये जाने पर, हनुमान जी ने अपना शरीर बढ़ाया। वे पूँछ पसार कर या फैला कर, हर्षित हुए तथा अपने बल को स्मरण करते हुए ॥ ४ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः ।
तेजसापूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम् ॥ ५ ॥

जब बूढ़े बूढ़े श्रेष्ठ वानरों ने हनुमान जी की प्रशंसा की, तब हनुमान जी तेज से परिपूर्ण और अनुपम शरीर युक्त हो गये ॥ ५ ॥

यथा विजृम्भते सिंहो विबुद्धो गिरिगह्वरे ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जृम्भते ॥ ६ ॥

जिस प्रकार महासिंह किसी लंबी चौड़ी गुफा में जंभाई लेता है, उसी प्रकार वायु के औरस पुत्र हनुमान, जँभाई लेने और शरीर को बढ़ाने लगे ॥ ६ ॥

अशोभत मुखं तस्य जृम्भमाणस्य धीमतः ।
[3]अम्बरीषमिवादीप्तं विधूम इव पावकः ॥ ७ ॥

जँभाते समय बुद्धिमान् हनुमान जी का मुख दहकते हुए भाड़ की तरह अथवा धूमरहित आग की तरह शोभायमान हुआ ॥ ७ ॥

हरीणामुत्थितो मध्यात्सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
अभिवाद्य हरीन्वृद्धान्हनुमानिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

---

१ समाविध्य—प्रतार्य । (शि०) २ उपेयवान्—सस्मार । (शि०)
३ अम्बरीषोपमम्—सूर्यसदृशं । (शि०), आर्द्रं । (गो०)

तदनन्तर उन वानरों के बीच हनुमान जो आनन्द से रोमाञ्चित हो, उठ खड़े हुए और बड़े बूढ़े वानरों को प्रणाम कर, यह बोले ॥ ८ ॥

अरुजत्पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः ।
बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥ ९ ॥

तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवने नास्ति मत्समः ॥ १० ॥

मैं, अग्नि के मित्र, आकाशचारी, पर्वतशृङ्गों को हिलाने वाले, बलवान्, अनुपम, गरुड़ के समान तेज़ चलने वाले, शीघ्रगामी महात्मा पवनदेव का औरस पुत्र हूँ और छलाँग मारने में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ ९ ॥ १० ॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः ॥ ११ ॥

इस लंबे चौड़े आकाश को स्पर्श करने वाले मेरु पर्वत तक मैं हज़ारों बार आ जा सकता हूँ ॥ ११ ॥

बाहुवेगप्रणुन्नेन सागरेणाहमुत्सहे ।
समाप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीह्रदम् ॥ १२ ॥

मैं अपने भुजबल से समुद्र को हिला कर ; पहाड़, नदी और तालाबों सहित इस लोक को डुबा सकता हूँ ॥ १२ ॥

ममोरुजङ्घवेगेन भविष्यति समुत्थितः ।
समुच्छ्रितमहाग्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥ १३ ॥

मेरी जाँघों और घुटनों के वेग से यह वरुणालय समुद्र उफन पड़ेगा और इसमें रहने वाले मत्स्य, कच्छ, नक्र आदि जलजन्तु ऊपर आ जायँगे ॥ १३ ॥

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेविते ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥ १४ ॥

पक्षियों से सेवित आकाश में सर्पभोगी गरुड़ जितनी देर में जितनी दूर जा सकते हैं, मैं उतनी ही देर में उतनी दूर, हज़ार बार आ जा सकता हूँ ॥ १४ ॥

उदयात्प्रस्थितं वाऽपि ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ।
अनस्तमितमादित्यमभिगन्तुं समुत्सहे ॥ १५ ॥

मैं प्रकाशमान और उदयाचल से निकले सूर्य के पास, उनके अस्ताचलगामी होने के पूर्व पहुँच सकता हूँ ॥ १५ ॥

ततो भूमिमसंस्पृश्य पुनरागन्तुमुत्सहे ।
प्रवेगेनैव महता भीमेन प्लवगर्षभाः ॥ १६ ॥

हे वानरों ! फिर पृथिवी तक आकर उसको स्पर्श किये बिना ही अत्यन्त शीघ्र वेग से सूर्य के पास जा सकता हूँ ॥ १६ ॥

उत्सहेयमतिक्रान्तुं सर्वानाकाशगोचरान् ।
सागरं शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥ १७ ॥

जितने आकाशचारी ग्रह नक्षत्रादि हैं, उन सब को मैं लाँघ सकता हूँ । मैं समुद्र को सुखा दूँगा और पृथिवी को विदीर्ण कर डालूँगा ॥ १७ ॥

पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवङ्गमाः ।
हरिष्याम्यूरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम् ॥ १८ ॥

हे वानरों ! मैं छलाँग मार कर पर्वतों को चूर्ण कर डालूँगा मैं समुद्र लाँघने के समय अपनी जाँघों के वेग से समुद्र को भी खींच ले जा सकता हूँ ॥ १८ ॥

लतानां विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।
अनुयास्यन्ति मामद्य प्लवमानं विहायसा ॥ १९ ॥

मैं जब आकाशमार्ग से जाने लगूँगा, तब लताओं और वृक्षों के विविध प्रकार के फूल मेरे पीछे पीछे जायँगे ॥ १९ ॥

भविष्यति हि मे पन्थाः [1]स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।
चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव वा ॥ २० ॥

द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।
महामेघप्रतीकाशं मां च द्रक्ष्यथ वानराः ॥ २१ ॥

और उस समय मेरे गमन का मार्ग उन पुष्पों के कारण वैसा ही जान पड़ेगा, जैसे तारा ओं से पूर्ण आकाश में छायापथ । हे वानरो ! आकाश में ऊपर जाते समय, तथा समुद्र के उस पार पहुँचने के समय महामेघ के समान मेरे भयङ्कर रूप को सब प्राणी देखेंगे ॥ २० ॥ २१ ॥

दिवमावृत्य गच्छन्तं ग्रसमानमिवाम्बरम् ।
विधमिष्यामि जीमूतान्कम्पयिष्यामि पर्वतान् ॥ २२ ॥

मैं आकाश को ढप कर अर्थात् आकाश को ग्रास करता हुआ चलूँगा । मैं जाते समय बादलों को छिन्न भिन्न कर दूँगा और पर्वतों को हिला दूँगा ॥ २२ ॥

---

१ स्वातेः पन्था—परिपूर्णतारच्छाया पथः । (गो०)

सागरं क्षोभयिष्यामि प्लवमानः समाहितः ।
वैनतेयस्य सा शक्तिर्मम या मारुतस्य वा ॥ २३ ॥

जब मैं सावधान हो छलांग मारूँगा, तब मैं समुद्र को शून्य कर डालूँगा। इस प्रकार जाने की शक्ति तीन ही की है—अर्थात् गरुड़ की, मेरी और वायु की ॥ २३ ॥

ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाजवम् ।
न तद्भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत् ॥ २४ ॥

गरुड़ या महावेगवान वायु को छोड़, अन्य मैं किसी को ऐसा नहीं देखता, जो लाँघते समय मेरे साथ तो क्या, मेरे पीछे पीछे भी जा सके ॥ २४ ॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।
सहसा निपतिष्यामि घनाद्विद्युदिवोत्थिता ॥ २५ ॥

बादल से निकली हुई बिजली की तरह मैं पलक मारते इस निरालंब आकाश में उड़ कर पहुँच जाऊँगा ॥ २५ ॥

भविष्यति हि मे रूपं प्लवमानस्य सागरे ।
विष्णोर्विक्रममाणस्य पुरा त्रीन्विक्रमानिव ॥ २६ ॥

समुद्र को लाँघते समय मेरा रूप वैसा ही हो जायगा जैसा कि, त्रिविक्रम भगवान् का था ॥ २६ ॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा ।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २७ ॥

हे वानरो ! तुम हर्षित हो। मैं सीता को अवश्य देखूँगा। क्योंकि मेरी बुद्धि और मन को पूर्ण विश्वास है। मेरी चेष्टा भी ऐसी ही होती है ॥ २७ ॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे ।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मति ॥ २८ ॥

मैं वेग में वायु के और शीघ्रता में गरुड़ के समान हूँ। मैं तो समझता हूँ कि, मैं दस हज़ार योजन नाँघ जाऊँगा ॥ २८ ॥

वासवस्य सवज्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयंभुवः ।
विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये ॥ २९ ॥

मेरी समझ में, इस समय मुझमें इतना उत्साह है कि, मैं अपने पराक्रम से, वज्रधारी इन्द्र के अथवा स्वयंभू ब्रह्म के हाथ से अमृत छीन कर ला सकता हूँ ॥ २९ ॥

तेजश्चन्द्रान्निगृह्णीयां सूर्याद्वा तेज उत्तमम् ।
लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः ॥ ३० ॥

मुझे विश्वास है कि, मैं अपने तेज से चन्द्रमा और सूर्य को पकड़ कर और लङ्का को उखाड़ कर, यहाँ ला सकता हूँ ॥ ३० ॥

तमेवं वानरश्रेष्ठं गर्जन्तममितौजसम् ।
प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदैक्षन्त विस्मिताः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अमित बलशाली एवं गर्जते हुए हनुमान की ओर सब वानर लोग विस्मय युक्त हो देख कर प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम् ।
उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान्हरिसत्तमम् ॥ ३२ ॥

अपनी जाति वालों के शोक को मिटाने वाले हनुमान जी के वचनों को सुन, वानरश्रेष्ठ जाम्बवान् अत्यन्त प्रसन्न हो बोले ॥३२॥

वीर केसरिणः पुत्र हनुमान्मारुतात्मज ।
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात विनाशितः ॥ ३३ ॥

हे वेगवान्, वायुपुत्र, केसरीनन्दन ! हे तात ! तुमने अपनी बिरादरी वालों का बड़ा भारी शोक मिटा दिया ॥ ३३ ॥

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः ।
मङ्गलं कार्यसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे कल्याण की इच्छा से तुम्हारी यात्रा की सिद्धि के लिये ये समस्त वानर यूथपति यहां एकत्र हो मङ्गलपाठ पढ़ेंगे ॥ ३४ ॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च ।
गुरूणां च प्रसादेन प्लवस्व त्वं महार्णवम् ॥ ३५ ॥

ऋषियों के अनुग्रह से और बूढ़े वानरों के आशीर्वाद से और गुरुजनों की कृपा से तुम समुद्र के पार जाओ ॥ ३५ ॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव ।
त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम् ॥ ३६ ॥

जब तक तुम लौट कर न आओगे तब तक हम सब वानर एक पैर से खड़े रहेंगे, क्योंकि इन समस्त वानरों का जीवन, तुम्हारे ही हाथ है ॥ ३६ ॥

ततस्तु हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः ।
नेयं मम मही वेगं लङ्घने धारयिष्यति ॥ ३७ ॥

उनके ये वचन सुन हनुमान जी ने उन वानरों से कहा कि, यह पृथिवी मेरे कूदने के वेग को न थाम सकेगी ॥ ३७ ॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासङ्कटशालिनः ।
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च ॥ ३८ ॥

किन्तु शिलाओं से युक्त बड़े और स्थिर महेन्द्र पर्वत के शिखर दृढ़ और विशाल होने के कारण मेरे वेग को थाम सकते हैं ॥ ३८ ॥

एषु वेगं करिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम् ।
नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्यन्दशोभिषु ॥ ३९ ॥

अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त और धातुओं से शोभित यह बड़े शिखर अवश्य मेरे गमन के वेग को थाम सकेगा, अतः इसी पर से मैं छलांग मारूँगा ॥ ३९ ॥

एतानि मम निष्पेषं पादयोः प्लवतां वराः ।
प्लवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम् ॥ ४० ॥

हे वानरश्रेष्ठों ! ये बड़े बड़े शिखर यहाँ से शतयोजन के छलांग मारने का वेग थाम लेगें ॥ ४० ॥

ततस्तं मारुतप्रख्यः स हरिर्मारुतात्मजः ।
आरुरोह नगश्रेष्ठं महेन्द्रमरिमर्दनः ॥ ४१ ॥

यह कह शत्रुहन्ता पवन तुल्य पवननन्दन हनुमान जी पर्वत श्रेष्ठ महेन्द्राचल पर्वत पर चढ़ गये ॥ ४१ ॥

वृतं नानाविधैर्वृक्षैर्मृगसेवितशाद्वलम् ।
लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम् ॥ ४२ ॥

महेन्द्राचल पर्वत पर भांति भांति के फूल फूले हुए थे, उस पर दूब के हर भरे रमनों में मृगगण चर रहे थे । इस पर विविध भांति

की लताएँ फूली हुई थीं और सब ऋतुओं में फले फूले वृक्ष बने रहते थे ॥ ४२ ॥

सिंहशार्दूलचरितं मत्तमातङ्गसेवितम् ।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसङ्कुलम् ॥ ४३ ॥

यह पर्वत सिंहशार्दूल, और मत्तगज से परिपूर्ण और भांति भांति के पक्षियों से कूजित था। इस पर जल के झरने भी बहुत थे ॥ ४३ ॥

महद्विरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः ।
विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ४४ ॥

महाबली, इन्द्र की तरह विक्रमशाली, कपिश्रेष्ठ हनुमान महेन्द्राचल के सब से ऊँचे शृङ्ग पर चढ़ कर घूमने लगे ॥ ४४ ॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मनः ।
*ररास सिंहाभिहतो महान्मत्त इव द्विपः ॥ ४५ ॥

महात्मा हनुमान जी ने दोनों पैरों से उस पर्वत को ऐसा दबाया कि, शैल के ऊपर विचरने वाले जीव जन्तुओं सहित, सिंह से त्रस्त हाथी की तरह, वह शैल मानों चिंघारने लगा ॥ ४५ ॥

मुमोच सलिलोत्पीडान्विप्रकीर्णशिलोच्चयः ।
वित्रस्तमृगमातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः ॥ ४६ ॥

और जल की फुहार छोड़ने लगा। उसकी चट्टानें चूर चूर हो गिरने लगीं। हिरन, हाथी सब भयभीत हो गये और बड़े बड़े पेड़ थर थर काँपने लगे ॥ ४६ ॥

---

* पाठान्तरे—"रराज।"

नागगन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः ।
उत्पतद्भिश्च विहगैर्विद्याधरगणैरपि ॥ ४७ ॥

त्यज्यमानमहासानुः सन्निलीनमहोरगः ।
चलशृङ्गशिलोद्घातस्तदाभूत्स महागिरिः ॥ ४८ ॥

मैथुन और मद्यपान करने में आसक्त नागों और गन्धर्वों के जोड़ों (अर्थात् स्त्री पुरुष) विद्याधरों और उड़ने वाले पक्षियों ने वह पर्वत त्याग दिया और वे आकाशमार्ग से उड़ चले। वहाँ के सर्प भी उस पर्वत को छोड़ भाग गये। उस पर्वत की शिलाएं भी चूर चूर हो उड़ गयी ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

निःश्वसद्भिस्तदार्तैस्तु भुजङ्गैरर्धनिःसृतैः ।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः ॥ ४९ ॥

उस समय हनुमान जी के पैरों से दबा हुआ महेन्द्राचल पर्वत, आधे निकले हुए और फुफकार मारते हुए सर्पों द्वारा ऐसा जान पड़ता था, मानों वह पताकाओं से भूषित है ॥ ४९ ॥

ऋषिभिस्त्रासम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः ।
सीदन्महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥ ५० ॥

जो ऋषिगण उस पर्वत पर तप किया करते थे, उन्होंने भी भयभीत हो उस पर्वत का रहना त्याग दिया। वह पर्वत उस समय ऐसा दुःखी जान पड़ता था, जैसा कि साथियों का साथ छुट जाने से कोई बटोही वन में अकेला पड़ जाने से दुःखी होता है ॥ ५० ॥

स वेगवान्वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता ।

मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥ ५१ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

शत्रुहन्ता, वेगवान्, मनस्वी, महानुभाव, और कपिश्रेष्ठ हनुमान जी सागर नाँघने का दृढ़ विचार कर, मन से लंका में पहुँच गये ॥ ५१ ॥

किष्किन्धाकाण्ड का सडसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसाहस्र्यां संहितायाम्

किष्किन्धाकाण्डः समाप्तः ॥

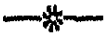

Printed by Ramzan Ali Shah at the National Press, Allahabad

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्यायेन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

प्रासाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृणुवन्नामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्नुतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

सुन्दरकाण्ड—६

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पाब्लशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २,०००] [मूल्य १॥)

सुन्दरकाण्ड
की
विषयानुक्रमणिका

प्रथम सर्ग १—४८

समुद्र फाँदने के लिये हनुमान जी का महेन्द्राचल के ऊपर चढ़ना और वहाँ से फलांग मारना। मार्ग में मैनाक पर्वत से हनुमान जी का सम्भाषण। आगे चल नागमाता सुरसा को छका और छायाग्राहिणी सिंहका का वध कर, समुद्र के उस पार पहुँच कर, हनुमान जी का लम्बाद्रिकूट पर उतरना।

दूसरा सर्ग ४९—६२

लङ्का के बाहिरी वन का वर्णन। रात में हनुमान जी का, अति छोटा रूप धर कर लङ्का में प्रवेश।

तीसरा सर्ग ६२—७४

भरीपूरी शोभायमान लङ्कापुरी में घुसते समय नगर-रक्षिणी लङ्का नाम की राक्षसी से हनुमान जी की मुठभेड़। हनुमान जी द्वारा उसका परास्त होना और सीता को ढूँढ़ने के लिये हनुमान जी को उससे अनुमति की प्राप्ति।

चौथा सर्ग ७४—८१

नगर में विशेष स्थानों को देखते भालते समय श्रीहनुमान जी का लङ्कापुरी में रहने वाली सुन्दरी स्त्रियों का गाना बजाना सुनते सुनते क्रमशः रावण के रनवास में प्रवेश।

पाँचवाँ सर्ग ८२–९०

चन्द्रोदय वर्णन। तदुपरान्त रावण की स्त्रियों को अनेक प्रकार से पड़ी हुई देख और जानकी जी को कहीं न पाने के कारण हनुमान जी का दुःखी होना।

छठवाँ सर्ग ९०–१००

तदनन्तर हनुमान जी का, रावण के अमात्य प्रहस्तादि के घरों की समृद्धि तथा रावण की शिविका तथा उसके लता मण्डपादि का देखना।

सातवाँ सर्ग १०१–१०७

हनुमान जी द्वारा पुष्पकविमान का देखा जाना और जानकी जी को न देखने के कारण हनुमान जी का मन में दुःखी होना।

आठवाँ सर्ग १०८–१११

पुष्पकविमान वर्णन।

नवाँ सर्ग १११–१२९

पुष्पकविमान पर चढ़ कर हनुमान जी का रावण के चारों ओर पड़ी हुई सुन्दरियों को देखना।

दसवाँ सर्ग १२९–१४२

सुन्दरियों का वर्णन तथा मन्दोदरी को देख हनुमान जी को उसके सीता होने का भ्रम होना।

ग्यारहवाँ सर्ग १४२–१५२

रावण की पानशाला और वहाँ नशे में चूर पड़ी हुई सुन्दरियों को देखते हुए हनुमान जी का सीता की खोज में अन्यत्र गमन।

बारहवाँ सर्ग १५२–१५८

रत्ती रत्ती देख लेने पर भी जब सीता वहाँ न देख पड़ीं, तब हनुमान जी का विमान से कूद कर परकोटे पर बैठ कर विचार करना।

तेरहवाँ सर्ग १५९–१७४

परकोटे पर बैठे हनुमान जी के मन में अनेक प्रकार के सङ्कल्प विकल्पों का उदय होना। इतने में दूर से अशोक-वाटिका का दिखलायी पड़ना और वहाँ जाने के पूर्व हनुमान जी का ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना करना।

चौदहवाँ सर्ग १७४–१८६

हनुमान जी का अशोकवाटिका में जाना। अशोक-वाटिका का वर्णन। हनुमान जी का शिंशपा वृक्ष पर चढ़ना।

पन्द्रहवाँ सर्ग १८७–१९९

वहाँ से हनुमान जी का राक्षसियों के बीच जनक-नन्दिनी को देखना।

सोलहवाँ सर्ग २००–२०७

हनुमान जी का मन ही मन अब अपना समुद्र लाँघना सफल समझना।

सत्रहवाँ सर्ग २०७–२१५

सौशील्य एवं सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त सीता जी का वर्णन और हनुमान जी का हर्षित होना।

अठारहवाँ सर्ग २१५–२२३

रानियों सहित रावण का अशोकवाटिका में आगमन और हनुमान जी का वृक्ष के पत्तों में अपने को छिपाना।

उन्नीसवाँ सर्ग २२२–२२८

सीता के समीप जा रावण का सीता जी को लालच दिखाना।

बीसवाँ सर्ग २२९–२३७

सीता के प्रति रावण का प्रलोभन-प्रपञ्च।

इक्कीसवाँ सर्ग २३७–२४५

रावण की बातें सुन सीता का तृण की ओट कर यह उत्तर देना कि, "तू मुझे श्रीरामचन्द्र जी के पास भेज दे नहीं तो उनके बाणों से मारा जायगा।"

बाइसवाँ सर्ग २४५–२५५

इस पर रावण का क्रोध में भर सीता जी को धमकाते हुए यह कहना कि, दो मास के भीतर तू मेरे वश में हो जा, नहीं तो अवधि बीतने पर तुझे मार कर मैं कलेवा कर जाऊँगा। तदनन्तर राक्षसियों से सीता को वश में लाने के लिये हर प्रकार के प्रयत्न करने की आज्ञा दे, रावण का वहाँ से प्रस्थान।

तेइसवाँ सर्ग २५६–२६०

रावण के चले जाने पर राक्षसियों का सीता जी के सामने तर्जन गर्जन।

चौबीसवाँ सर्ग २६०–२७

राक्षसियों का सीता के सामने रावण का ऐश्वर्य वर्णन; किन्तु सीता का उनकी बातों पर ध्यान न देना। इस पर उन राक्षसियों का एक एक कर सीता को डरपाना। धमकाना। अन्त में उनकी धमकियों को न सह कर, सीता जी का विलाप करना।

पचीसवाँ सर्ग २७१–२७६

अन्त में सीता जी का उन राक्षसियों से साफ कह देना कि, तुम भले ही मुझे मार कर खा डालो, पर मैं तुम्हारा कहना नहीं करूँगी।

छब्बीसवाँ सर्ग २७६–२८७

सीता जी का यह भी कहना कि, मैं अपने वाम चरण से भी रावण का स्पर्श न करूँगी। अन्त में सीता जी का अपने जीवन से निराश होना।

सत्ताइसवाँ सर्ग २८७–२९८

उन डपटती और डराती हुई राक्षसियों को, त्रिजटा नामक राक्षसी का स्वप्न का वृत्तान्त कह कर, रोकना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग २९९–३०६

आत्मदुःख सहने में असमर्थ सीता जी को गले में केशपाश बाँध कर आत्महत्या करने को उद्यत देख, त्रिजटा का सीता जी को रोकना और स्वप्न की घटना का वर्णन कर सीता जी को धीरज बँधाना।

उन्तीसवाँ सर्ग ३०६–३०९

इतने में वाम भुजा का फड़कना आदि शुभशकुनों को देख, सीता जी का अतिशय प्रसन्न होना।

तीसवाँ सर्ग ३०९–३२०

राक्षसियों के बीच बैठी हुई सीता जी से किस प्रकार बातचीत की जाय—इस पर हनुमान जी का मन ही मन विचार करना। अन्त में हनुमान जी का इक्ष्वाकुवंशावली का निरूपण करना।

इकतीसवाँ सर्ग ३२०–३२४

महाराज दशरथ से लेकर सीता जी को देखने तक की सारी घटनाओं का हनुमान जी का गान करते हुए वर्णन करना और जानकी जी का वृक्ष के ऊपर बैठे हुए हनुमान जी को देखना।

बत्तीसवाँ सर्ग ३२५–३२९

वृक्ष के पत्तों में हनुमानजी को छिपा हुआ देख और अपने इस देखने को स्वप्न का देखना जान, सीता जी का श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की मङ्गलकामना के लिये वाचस्पत्यादि देवताओं से प्रार्थना करना।

तैंतीसवाँ सर्ग ३२९–३३६

सीता जी और हनुमान जी में परस्पर सम्भाषण।

चौंतीसवाँ सर्ग ३३६–३४५

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण का कुशलसंवाद सुना कर, हनुमान जी का सीता जी को सन्तुष्ट करना।

पैंतीसवाँ सर्ग ३४५–३६६

हनुमान जी का श्रीरामचन्द्र जी के शारीरिक चिन्हों का वर्णन करना। सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी की परस्पर मैत्री का होना और सुग्रीव द्वारा चारों ओर वानरों का भेजा जाना आदि बातों का, हनुमान जी द्वारा सीता जी से कहा जाना।

छत्तीसवाँ सर्ग ३६६–३७०

हनुमान जी का जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी की चिन्हानी की अंगूठी का देना।

सैंतीसवाँ सर्ग ३७८–३९३

हनुमान जी के सीता जी से यह कहने पर कि, तुम मेरी पीठ पर बैठ कर चली चलो, उत्तर में सीता जी का उनसे यह कहना कि, यही अच्छा होगा कि, श्रीरामचन्द्र जी स्वयं आ कर, उनका उद्धार करें।

अड़तीसवाँ सर्ग ३९४–४१०

इस पर हनुमान जी का जानकी जी से श्रीरामचन्द्र जी को देने के लिये चिन्हानी का माँगना। इस पर जानकी जी का हनुमान जी को काकासुर की रहस्यमयी घटना सुनाना और चूड़ामणि देना।

उनतालीसवाँ सर्ग ४१०–४२२

सीता जी का हनुमान जी के प्रति प्रश्न कि, वानर-सैन्य और श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण किस प्रकार समुद्र पार कर लङ्का में आ सकेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में हनुमान जी का समाधान।

चालीसवाँ सर्ग ४२२–४२८

हनुमान जी का जानकी जी से विदा माँगना और आगे के कर्त्तव्य के विषय में विचार करना।

एकतालीसवाँ सर्ग ४२८–४३५

रावण के मन का हाल जानने और उससे वार्तालाप करने के लिये हनुमान जी का अशोकवाटिका का विध्वंस करना।

बयालीसवाँ सर्ग ४३५–४४४

राक्षियों का रावण के पास जा. एक वानर द्वारा अशोकवाटिका के नष्ट किये जाने और उसे इस कृत्य के

लिये समुचित दण्ड देने के लिये प्रार्थना। इस पर अस्सी हज़ार राक्षसों की सेना का भेजा जाना और हनुमान द्वारा उन सब के वध का वर्णन।

तेतालीसवाँ सर्ग ४४५–४५०

चैत्यपालों का हनुमान द्वारा नाश और सब को हनुमान जी द्वारा श्रीराम, लक्ष्मणादि के नाम सुनाया जाना।

चौवालीसवाँ सर्ग ४५०–४५५

उन राक्षसों के मारे जाने का संवाद सुन और क्रोध में भर रावण का जम्बुमाली को भेजना और हनुमान जी के हाथ से जम्बुमाली का भी मारा जाना।

पैंतालीसवाँ सर्ग ४५६–४६०

तदनन्तर रावण के भेजे हुए सप्तमंत्रिपुत्रों का हनुमान जी द्वारा मारा जाना।

छियालीसवाँ सर्ग ४६०–४६८

मंत्रिपुत्रों के मारे जाने के बाद विरूपाक्षादि पाँच सेनानायकों का हनुमान जी द्वारा वध।

सैंतालीसवाँ सर्ग ४६९–४८२

पाँचों सेनानायकों के मारे जाने पर रावण द्वारा भेजी हुई एक बड़ी फौज के साथ रावण-पुत्र अक्षयकुमार का आना और हनुमान जी से युद्ध कर ससैन्य मारा जाना।

अड़तालीसवाँ सर्ग ४८३–५०१

अक्षयकुमार के मारे जाने पर रावण का अतिशय कुपित हो इन्द्रजीत को भेजना और इन्द्रजीत का रथ पर सवार हो जाना। हनुमान जी का इन्द्रजीत द्वारा ब्रह्मास्त्र से बाँधा जाना और रस्सियों से बाँध कर राक्षसों द्वारा

हनुमान जी का रावण की सभा में पहुँचाया जाना। सभा में हनुमान जी के साथ प्रश्नोत्तर।

उनचासवाँ सर्ग ५०१–५०६

रावण का प्रताप और तेज देख हनुमान जी का मन ही मन विस्मित होना।

पचासवाँ सर्ग ५०६–५१०

रावण द्वारा पूँछे जाने पर, हनुमान जी द्वारा, सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी की मैत्री का हाल कहा जाना। हनुमान जी का अपने को श्रीरामदूत कह कर परिचय देना।

इक्यावनवाँ सर्ग ५१०–५२१

श्रीरामचन्द्र जी का वृत्तान्त कह कर, हनुमान जी का रावण को यह उपदेश देना कि, तुम जानकी जी, श्रीरामचन्द्र जी को लौटा दो। सीता को न लौटाने पर रावण को उसकी भावी भारी दुर्दशा का दिग्दर्शन करना। इस पर कुपित हो रावण द्वारा हनुमान के वध की आज्ञा दिया जाना।

बावनवाँ सर्ग ५२१–५३०

दूत के वध को नीतिविरुद्ध बतला, विभीषण का रावण को समझाना। अन्त में दूत के अङ्गभङ्ग करने की बात को रावण का मान लेना और हनुमान जी की पूँछ को जला देने की आज्ञा देना।

तिरपनवाँ सर्ग ५३०–५३९

हनुमान जी की पूँछ में आग लगा राक्षसों द्वारा हनुमान जी का सारी लङ्का में घुमाया जाना। राक्षसियों द्वारा यह वृत्तान्त सुन, सीता जी द्वारा अग्नि की प्रार्थना

किया जाना। उधर हनुमान जी का अपने शरीर को सकोड़ कर, बंधनों से मुक्त हो, अपने पीछे लगे हुए राक्षसों का नगरद्वार के एक परिघ को निकाल, वध करना।

चौवनवाँ सर्ग ५४०–५५३

हनुमान जी का अपनी पूँछ की आग से विभीषण का घर छोड़ और प्रहस्त के घर से आरम्भ कर, रावण के राजप्रासाद तक सब घरों में आग लगा कर, उनको भस्म करना। लङ्का में इस अग्निकाण्ड से घर घर हाहाकार का मचना और देवताओं का प्रसन्न होना।

पचपनवाँ सर्ग ५५३–५६१

लङ्का में अग्निकाण्ड देख हनुमान जी के मन में सीता के भस्म हो जाने का विचार उत्पन्न होने पर उनका अपनी करनी पर बार बार पछताना। इसी बीच में चारणों के मुख से सीता का कुशलसंवाद सुन हनुमान जी का हर्षित हो सीता जी के पास उनको देखने के लिये गमन और वहाँ से समुद्र पार आने का सङ्कल्प करना।

छप्पनवाँ सर्ग ५६१–५६९

शिंशपामूल में बैठी जानकी जी को प्रणाम कर हनुमान जी का लङ्का से प्रस्थान।

सत्तावनवाँ सर्ग ५७०–५८१

हनुमान जी का समुद्र के पार महेन्द्राचल पर कूदना और सीता जी का पता लग गया, यह बात सुन वानरों का हनुमान जी को फलफूलों की भेंट देना और उनसे लङ्का का वृत्तान्त पूँछना।

अट्ठावनवाँ सर्ग ५८१–६१७

वानरों को सुनाने के लिये हनुमान जी द्वारा समुद्र में घटित तथा लङ्का की घटनाओं का समस्त वृत्तान्त कहा जाना।

उनसठवाँ सर्ग ६१७–६२५

सीता जी के पातिव्रत्यादि गुणों का हनुमान जी द्वारा निरूपण।

साठवाँ सर्ग ६२५–६२८

हनुमान जी के मुख से लङ्का का हाल सुन, अङ्गदादि समस्त वानरों का यह कहना कि, लङ्का में चल कर जानकी जी को हम लोग छुड़ा लावें, तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी से मिलें; किन्तु जाम्बवान् का इसके लिये निषेध करना। वानरों का किष्किन्धा के लिये प्रस्थान।

इकसठवाँ सर्ग ६२८–६३५

रास्ते में सुग्रीव के मधुवन नामक बाग का पड़ना और उसमें वानरों का प्रवेश। वहाँ मधुपान के लिये वानरों का युवराज अङ्गद से प्रार्थना करना और अङ्गद का अनुमति प्रदान करना तथा वानरों का यथेष्ट मधुपान करना। इस पर उस मधुवन के रखवाले दधिमुख का उनको रोकना।

बासठवाँ सर्ग ६३५–६४४

अङ्गद और हनुमान जी का सङ्केत पा, वानरों का मधुवन को विध्वंस करना। दधिमुख का फिर रोकना। तब वनपालों का वानरों द्वारा पीटा जाना और दधिमुख का उन वनपालों को साथ ले, वानरों की शिकायत करने के लिये, सुग्रीव के पास जाना।

त्रेसठवाँ सर्ग ६४४–६५१

दधिमुख के मुख से समस्त वृत्तान्त सुन सुग्रीव का यह जान लेना कि, सीता जी का पता लग गया। अतः सुग्रीव का दधिमुख को, अङ्गदादि को शीघ्र भेजने के लिये आज्ञा देना।

चौसठवाँ सर्ग ६५१–६६०

दधिमुख का लौट कर मधुवन में जाना और अङ्गदादि को सुग्रीव की आज्ञा की सूचना देना। सब वानरों का सुग्रीव के समीप जाना और सीता का पता पाने की सूचना देने पर श्रीरामचन्द्र जी का उनकी प्रशंसा करना। तदुपरान्त सब वानरों का हर्षित होना।

पैसठवाँ सर्ग ६६०–६६६

हनुमान जी के मुख से सीता का वृत्तन्त सुन और चूड़ामणि देख, श्रीरामचन्द्र जी का विलाप करना।

छियासठवाँ सर्ग ६६७–६७०

श्रीरामचन्द्र जी का हनुमान जी से पुनः सीता जी का वृत्तान्त कहने के लिये अनुरोध।

सरसठवाँ सर्ग ६७०–६७९

हनुमान जी द्वारा काकासुर की कथा का कहा जाना।

अड़सठवाँ सर्ग ६७९–६८५

भाईबन्धु सहित रावण को मार कर मुझको ले जाओ, इसीमें आपकी बड़ाई होगी—आदि सीता की कही हुई बातों का हनुमान जी द्वारा श्रीरामचन्द्र जी से कहा जाना।

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥ १॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥ २॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥ ३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥ ४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥ ६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरौ हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्भ्रान्तिविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्तो भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणनो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजरापत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमासमसन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥११॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—※—

सुन्दरकाण्डः

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्शनः ।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ १ ॥

तदनन्तर शत्रुदमनकर्त्ता हनुमान जी, सीता जी का पता लगाने के लिये, आकाश के उस मार्ग से, जिस पर चारण लोग चला करते हैं, जाने को तैयार हुए ॥ १ ॥

दुष्करं निष्प्रतिद्वन्द्वं चिकीर्षन्कर्म वानरः ।
समुदग्रशिरोग्रीवो गवां पतिरिवाऽऽबभौ ॥ २ ॥

इस प्रकार के दुष्कर कर्म करने की इच्छा कर, सिर और गर्दन उठा कर, वृषभ की तरह, प्रतिद्वन्द्वीरहित अथवा विघ्न-बाधा-रहित, हनुमान जी शोभायमान हुए ॥ २ ॥

अथ वैडूर्यवर्णेषु शाद्वलेषु महाबलः ।
धीरः [1]सलिलकल्पेषु विचचार यथासुखम् ॥ ३ ॥

धीर वीर हनुमान जी, समुद्रजलवत् अथवा पन्ने की तरह हरी रंग की घास के ऊपर, यथासुख विचरने लगे ॥ ३ ॥

---

१ सलिलकल्पेषु—समुद्रजलवत् । (रा०)

द्विजान्वित्रासयन्धीमानुरसा पादपान्हरन् ।
मृगांश्च सुबहून्निघ्नन्प्रवृद्ध इव केसरी ॥ ४ ॥

उस समय बुद्धिमान् हनुमान जी, पक्षियों को त्रस्त करते, अपनी छाती की टक्कर से अनेक वृक्षों को उखाड़ते, और बहुत से मृगों को मारते हुए ऐसे जान पड़ते थे, जैसे बड़ा भयङ्कर सिंह देख पड़ता है ॥ ४ ॥

नीललोहितमाञ्जिष्ठपत्रवर्णैः सितासितैः ।
स्वभावविहितैश्चित्रैर्धातुभिः समलङ्कृतम् ॥ ५ ॥
कामरूपिभिराविष्टमभीक्ष्णं सपरिच्छदैः ।
यक्षकिन्नरगन्धर्वैर्देवकल्पैश्च पन्नगैः ॥ ६ ॥
स तस्य गिरिवर्यस्य तले नागवरायुते ।
तिष्ठन्कपिवरस्तत्र ह्रदे नाग इवाबभौ ॥ ७ ॥

नीली, लाल, मजीठी और कमल के रंग की तथा सफेद एवं काली रंग की रंग बिरंगी स्वभावसिद्ध धातुओं से भूषित, विविध भाँति के आभूषणों और वस्त्रों को पहिने हुए और अपने अपने परिवारों सहित देवताओं की तरह काम रूपी यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और सर्पों से सेवित तथा उत्तम जाति के हाथियों से व्याप्त, उस महेन्द्र पर्वत की तलैटी में, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी, सरोवरस्थित हाथी की तरह शोभायमान हुए ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

स सूर्याय महेन्द्राय पवनाय [1]स्वयंभुवे ।
[2]भूतेभ्यश्चाञ्जलिं कृत्वा चकार गमने मतिम् ॥ ८ ॥

---

१ स्वयंभुवे—चतुर्मुखाय । (गो०) २ भूतेभ्यः—सर्वयोनिभ्यः । (गो०)

हनुमान जी ने सूर्य, इन्द्र, वायु, ब्रह्मा तथा अन्यान्य देवताओं को नमस्कार कर के वहाँ से प्रस्थान करना चाहा ॥ ८ ॥

अञ्जलिं प्राङ्मुखः कुर्वन्पवनायात्मयोनये ।
ततोऽभिवर्तुधे गन्तुं दक्षिणो दक्षिणां दिशम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर वे पूर्व मुख हो, हाथ जोड़ अपने पिता पवनदेव को प्रणाम कर, दक्षिण दिशा की ओर जाने को अग्रसर हुए ॥ ९ ॥

प्लवङ्गमवरैर्दृष्टः प्लवने कृतनिश्चयः ।
ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु ॥ १० ॥

वानरश्रेष्ठों ने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिये, समुद्र लाँघने का निश्चय किये हुए हनुमान जी का शरीर, ऐसे बढ़ने लगा जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र बढ़ता है ॥ १० ॥

[१]निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम् ।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम् ॥ ११ ॥

हनुमान जी ने समुद्र फांदने के समय अपना शरीर निर्मर्याद बढ़ाया और अपनी दोनों भुजाओं और चरणों से पर्वत को ऐसा दबाया कि, ॥ ११ ॥

स चचालाचलश्चापि मुहूर्तं कपिपीडितः ।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥ १२ ॥

दबाने से एक मुहूर्त तक वह अचल पर्वत चलायमान हो गया और उसके ऊपर जो पुष्पित वृक्ष थे, उन वृक्षों के सब फूल झड़ कर गिर पड़े ॥ १२ ॥

---

१ आत्मयोनये—स्वकारणभूताय । (गो०) २ निष्प्रमाणशरीरः—निर्मर्यादशरीरः । (गो०)

तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना ।
सर्वतः संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयो यथा ॥ १३ ॥

वृक्षों से झड़े हुए सुगन्धयुक्त फूलों के ढेरों से वह पर्वत ढक गया और ऐसा जान पड़ने लगा, मानों वह समस्त पहाड़ फूलों ही का है ॥ १३ ॥

तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः स पर्वतः ।
सलिलं सम्प्रसुस्राव मदं मत्त इव द्विपः ॥ १४ ॥

जब वीर्यवान् कपिप्रवर हनुमान जी ने उस पर्वत को दबाया, तब उससे अनेक जल की धारें निकल पड़ीं। वे धारें ऐसी जान पड़ती थीं, मानों किसी मतवाले हाथी के शरीर से मद बहता हो ॥ १४ ॥

पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः ।
[1]रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥ १५ ॥

बलवान् हनुमान जी के दबाने से उस महेन्द्राचल पर्वत के चारों ओर धातुओं के वह निकलने से ऐसा जान पड़ता था, मानों पिघलाए हुए सोने और चाँदी की रेखाएँ खिंची हों। अथवा, पीली, काली और सफेद लकीरें खिंच रही हों ॥ १५ ॥

मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः ।
मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥ १६ ॥

वह पर्वत मनसिलयुक्त बड़ी बड़ी शिलाएं गिराने लगा। उस समय ऐसा जान पड़ा, मानों बीच में तो आग जल रही हो और चारों ओर से धुआँ निकल रहा हो ॥ १६ ॥

---

१ रीतीः—रेखाः । (गो०)

गिरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः ।
गुहाविष्टानि भूतानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥ १७ ॥

हनुमान जी के दबाने से उस पर्वत को गुफाओं में रहने वाले जीवजन्तु विकराल शब्द करने लगे ॥ १७ ॥

स महान्सत्त्वसन्नादः शैलपीडानिमित्तजः ।
पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥ १८ ॥

पर्वत के दबने के कारण उन जीव जन्तुओं का ऐसा घोर शब्द हुआ कि, उससे संपूर्ण पृथिवी, दिशा, और जंगल भर गये ॥ १८ ॥

शिरोभिः पृथुभिः सर्पा व्यक्तस्वस्तिकलक्षणैः ।
वमन्तः पावकं घोरं ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

स्वस्तिक (शुभ) चिन्हों से चिन्हित फनधारी बड़े बड़े सर्प, जो उस पर्वत में रहा करते थे, क्रुद्ध हुए और मुख से भयङ्कर आग उगलते हुए, शिलाओं को अपने दांतों से काटने लगे ॥ १९ ॥

तास्तदा सविषैर्दष्टाः कुपितैस्तैर्महाशिलाः ।
जज्वलुः पावकोद्दीप्ता विभिदुश्च सहस्रधा ॥ २० ॥

क्रुद्ध हो कर विषधरों द्वारा दांतों से काटी हुई वे बड़ी बड़ी शिलाएँ जलने लगीं और उनके हज़ारों टुकड़े हो गये ॥ २० ॥

यानि चौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते ।
विषघ्नान्यपि नागानां न शेकुः शमितुं विषम् ॥ २१ ॥

यद्यपि उस पर्वत पर सर्पविषनाशक अनेक जड़ी बूटियां थीं, तथापि वे भी उस विष को शान्त न कर सकीं ॥ २१ ॥

भिद्यतेऽयं गिरिर्भूतैरिति मत्वा तपस्विनः ।
त्रस्ता विद्याधरास्तस्मादुत्पेतुः स्त्रीगणैः सह ॥ २२ ॥

जब हनुमानजी ने पर्वत को दबाया, तब उस पर्वत पर बसने वाले तपस्वी और विद्याधर लोग घबड़ा कर अपनी अपनी स्त्रियों को साथ ले वहां से चल दिये ॥ २२ ॥

पानभूमिगतं हित्वा हैममासवभाजनम् ।
पात्राणि च महार्हाणि करकांश्च हिरण्मयान् ॥ २३ ॥

उस समय वे लोग ऐसे डरे कि, शराब पीने की जगह पर जो सोने की बैठकी और बड़े बड़े मूल्यवान सुवर्णपात्र, सुवर्ण के करवे थे उन्हें वे वहीं छोड़ कर, चल दिये ॥ २३ ॥

लेह्यानुच्चावचान्भक्ष्यान्मांसानि विविधानि च ।
आर्षभाणि च चर्माणि खड्गांश्च कनकत्सरून् ॥ २४ ॥

चटनी आदि विविध पदार्थ और खाने के योग्य तरह तरह के मांस, सांवर के चमड़े की बनी ढालें तथा सोने की मूंठ की तलवारें जहां की तहां छोड़, वे लोग जान लेकर, आकाशमार्ग से चल दिये ॥ २४ ॥

कृतकण्ठगुणाः क्षीवा रक्तमाल्यानुलेपनाः ।
रक्ताक्षाः पुष्कराक्षाश्च गगनं प्रतिपेदिरे ॥ २५ ॥

गले में सुन्दर पुष्पहारों को पहिने हुए तथा शरीर में अच्छे अंगराग लगाये अरुण एवं कमल नेत्रों से युक्त विद्याधरों ने आकाश में जा कर दम ली ॥ २५ ॥

---

१ भूतैः ब्रह्मरक्षः प्रभृतिमहाभूतैः । (रा०)

हारनूपुरकेयूरपारिहार्यधराः स्त्रियः ।
विस्मिताः सस्मितास्तस्थुराकाशे रमणैः सह ॥ २६ ॥

इनकी स्त्रियां, जो हार, नूपुर (बिछुवा) विजायठ और ककनों से अपना शरीर सजाये हुए थीं, अत्यन्त आश्चर्यचकित हो अपने अपने पतियों के पास जा कर, आकाश में खड़ी हो गयीं ॥ २६ ॥

दर्शयन्तो [1]महाविद्यां विद्याधरमहर्षयः ।
*विस्मितास्तस्थुराकाशे वीक्षांचक्रुश्च पर्वतम् ॥ २७ ॥

वे विद्याधर और महर्षिगण अणिमादि अष्ट महाविद्याओं को दिखलाते, आकाश में खड़े होकर पर्वत की ओर देखने लगे ॥२७॥

शुश्रुवुश्च तदा शब्दमृषीणां भावितात्मनाम् ।
चारणानां च सिद्धानां स्थितानां विमलेऽम्बरे ॥ २८ ॥
एष पर्वतसङ्काशो हनूमान्मारुतात्मजः ।
तितीर्षति महावेगः सागरं मकरालयम् ॥ २९ ॥

वे निर्मल आकाशस्थित विशुद्धमना महात्मा ऋषियों को यह कहते सुन रहे थे कि, देखो यह पर्वताकार शरीर वाले हनुमान बड़ी तेज़ी से समुद्र के पार जाना चाहते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

रामार्थं वानरार्थं च चिकीर्षन्कर्म दुष्करम् ।
समुद्रस्य परं पारं दुष्प्रापं प्राप्तुमिच्छति ॥ ३० ॥

ये वीर वानर हनुमान जी, श्रीरामचन्द्र का कार्यसिद्ध करने और इन वानरों के प्राण बचाने के लिये, दुष्प्राप्य समुद्र के उस पार जाने की इच्छा कर, एक दुष्कर कार्य करना चाहते हैं ॥ ३० ॥

---

१ महाविद्यां—अणिमाद्यष्टमहाविद्यां । (गो०) * पाठान्तरे—" सहितास्तस्थुराकाशे " ।

इति विद्याधराः श्रुत्वा वचस्तेषां तपस्विनाम्* ।
तमप्रमेयं ददृशुः पर्वते वानरर्षभम् ॥ ३१ ॥

उन तपस्वियों की कही हुई इन बातों को सुन, विद्याधर लोग उस पर्वतस्थित अप्रेमय बलशाली हनुमान जी को देखने लगे ॥ ३१ ॥

दुधुवे च स रोमाणि चकम्पे चाचलोपमः ।
ननाद सुमहानादं स महानिव तोयदः ॥ ३२ ॥

उस समय पावक की तरह, पवननन्दन हनुमान जी ने अपने शरीर के रोमों को फुला, पर्वताकार अपने शरीर को हिलाया और महामेघ की तरह महानाद कर वे गर्जे ॥ ३२ ॥

आनुपूर्व्येण वृत्तं च लाङ्गूलं लोमभिश्चितम् ।
उत्पतिष्यन्विचिक्षेप पक्षिराज इवोरगम् ॥ ३३ ॥

और चढ़ाव उतार दार गोल और रुएं दार अपनी पूँछ को हनुमान जी ने ऐसे झटकारा जैसे गरुड़ सांप को झटकारता है ॥ ३३ ॥

तस्य लाङ्गूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः ।
ददृशे गरुडेनेव ह्रियमाणो महोरगः ॥ ३४ ॥

इनकी पीठ पर हिलती हुई इनकी पूँछ, गरुड़ द्वारा पकड़े हुए अजगर सांप की तरह हिलती हुई देख पड़ती थी ॥ ३४ ॥

बाहू संस्तम्भयामास महापरिघसन्निभौ ।
ससाद च कपिः कट्यां चरणौ सञ्चुकोच च ॥ ३५ ॥

---

* पाठान्तरे—" महात्मनाम् " ।

हनुमान जी ने कूदने के समय अपने परिघ आकार वाली दोनों भुजाओं को जमा कर, कमर पर दोनों पैरों का बल दिया और उनको (पैरों को) सकोड़ लिया ॥ ३५ ॥

संहृत्य च भुजौ श्रीमांस्तथैव च शिरोधराम् ।
तेजः सत्त्वं तथा वीर्यमाविवेश स वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

उन्होंने अपने हाथों, सिर और हेाठों को भी सकोड़ा । तदनन्तर अपने तेज, बल और पराक्रम को सँभाल दूर से जाने के रास्ते को देखा ॥ ३६ ॥

मार्गमालोकयन्दूरादूर्ध्वं प्रणिहितेक्षणः ।
रुरोध हृदये प्राणानाकाशमवलोकयन् ॥ ३७ ॥
पद्भ्यां दृढमवस्थानं कृत्वा स कपिकुञ्जरः ।
निकुञ्च्य कर्णौ हनुमानुत्पतिष्यन्महाबलः ॥ ३८ ॥

उछलने के समय हनुमान जी ने ऊपर की ओर आकाश को देख, दम साधी और ज़मीन पर अपने पैर जमा, दोनों कानों को सिकोड़ा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

वानरान्वानरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः ॥ ३९ ॥
गच्छेत्तद्वद्गमिष्यामि लङ्कां रावणपालिताम् ।
न हि द्रक्ष्यामि यदि तां लङ्कायां जनकात्मजाम् ॥४०॥
अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम् ।
यदि वा त्रिदिवे सीतां न *द्रक्ष्यामि कृतश्रमः ॥ ४१ ॥

---

* पाठान्तरे—" द्रक्ष्याम्यकृतश्रमः " ।

वद्धा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम् ।
सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया ॥ ४२ ॥

आनयिष्यामि वा लङ्कां समुत्पाट्य सरावणाम् ।
एवमुक्त्वा तु हनुमान्वानरान्वानरोत्तमः ॥ ४३ ॥

वे कपियों में उत्तम हनुमान वानरों से बोले कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के छोड़े हुए बाण हवा की तरह जाते हैं, उसी प्रकार मैं रावण पालित लङ्का में चला जाऊँगा। यदि जनकनन्दिनी मुझे वहाँ न देख पड़ी, तो इसी वेग से मैं स्वर्ग को चला जाऊँगा। यदि वहाँ भी प्रयत्न करने पर सीता न देख पड़ी, तो मैं राक्षस-राज रावण को बाँध कर यहाँ लेआऊँगा। या तो मैं इस प्रकार सफल मनोरथ हो सीता सहित ही लौटूँगा, नहीं तो रावण सहित लङ्का को उखाड़ कर ही ले आऊँगा। कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने वानरों से इस प्रकार कहा ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

उत्पपाताथ वेगेन वेगवानविचारयन् ।
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः ॥ ४४ ॥

मार्ग के विघ्नों की कुछ भी परवाह न कर, वेगवान् हनुमान जी अत्यन्त वेग से कूदे और उस समय अपने को गरुड़ के तुल्य समझा ॥ ४४ ॥

समुत्पतति तस्मिंस्तु वेगात्ते नगरोहिणः ।
संहृत्य विटपान्सर्वान्समुत्पेतुः समन्ततः ॥ ४५ ॥

उस समय हनुमान जी के छलांग भरते ही, उस पहाड़ के पेड़ ५ पत्तों और डालियों के चारों ओर से इनके पीछे बड़े वेग से ॥ ४५ ॥

स मत्तकोयष्टि*मकान्पादपान्पुष्पशालिनः ।
उद्वहन्नूरुवेगेन जगाम विमलेऽम्बरे ॥ ४६ ॥

हनुमान जी पक्षियों से युक्त और पुष्पित वृक्षों को अपनी जाँघों के वेग से अपने साथ लिये हुए विमल आकाश में गये ॥ ४६ ॥

ऊरुवेगोद्धता वृक्षा मुहूर्तं कपिमन्वयुः ।
प्रस्थितं दीर्घमध्वानं स्वबन्धुमिव बान्धवाः ॥ ४७ ॥

जाँघों के वेग से उड़े हुए वे पेड़, कुछ ही देर तक हनुमान जी के पीछे पीछे गये । तदनन्तर जिस प्रकार दूर देश की यात्रा करने वाले बन्धु के पीछे उसके भाईबंद कुछ दूर तक जाकर लौट आते हैं उसी प्रकार ये वृक्ष भी हनुमान जी को थोड़ी दूर पहुँचा कर लौटे ॥ ४७ ॥

†तदूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः ।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम् ॥ ४८ ॥

हनुमान जी की जाँघों के वेग से उखड़े हुए साल आदि के बड़े बड़े पेड़ उनके पीछे वैसे ही चले जाते थे, जैसे राजा के पीछे पीछे सेना चलती है ॥ ४८ ॥

सुपुष्पितैरग्रवैर्बहुभिः पादपैरन्वितः कपिः ।
हनूमान्पर्वताकारो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४९ ॥

उस समय अनेक फूले हुए वृक्षों से, पिछुयाये हुए एवं पर्वताकार हनुमान जी का अद्भुत रूप देख पड़ा ॥ ४९ ॥

सारवन्तोऽथ ये वृक्षा न्यमज्जँल्लवणाम्भसि ।
भयादिव महेन्द्रस्य पर्वता वरुणालये ॥ ५० ॥

---

* पाठान्तरे—" भ " । † पाठान्तरे—" तमूरु " ।

हनुमान जी के पीछे उड़ने वाले वृक्षों में जो भारी पेड़ थे, वे समुद्र में गिर कर वैसे ही डूब गये जैसे इन्द्र के भय से पहाड़ समुद्र में डूबे थे ॥ ५० ॥

स नानाकुसुमैः कीर्णः कपि साङ्कुरकोरकैः ।
शुशुभे मेघसङ्काशः खद्योतैरिव पर्वतः ॥ ५१ ॥

उन पेड़ों के फूलों, अङ्कुरों और कलियों से उन मेघ के समान कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ऐसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे कि जुगुनुओं से कोई पर्वत शोभायमान होता है ॥ ५१ ॥

विमुक्तास्तस्य वेगेन मुक्त्वा पुष्पाणि ते द्रुमाः ।
अवशीर्यन्त सलिले निवृत्ताः सुहृदो यथा ॥ ५२ ॥

हनुमान जी के गमनवेग से छूट कर, वे वृक्ष अपने फूलों को गिरा कर और तितर बितर हो समुद्र के जल में उसी प्रकार गिरे, जिस प्रकार किसी अपने बंधुजन को पहुँचा कर, सुहृद् लोग तितर बितर हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

लघुत्वेनोपपन्नं तद्विचित्रं सागरेऽपतत् ।
द्रुमाणां विविधं पुष्पं कपिवायुसमीरितम् ॥ ५३ ॥

हनुमान जी के गमनवेग से उत्पन्न पवन द्वारा प्रेरित वृक्षों के विविध प्रकार के पुष्प, हल्के होने के कारण समुद्र में विचित्र रीति से गिर कर शोभित होते थे ॥ ५३ ॥

*ताराशतमिवाकाशं प्रबभौ स महार्णवः ।
†पुष्पौघेणानुविद्धेन नानावर्णेन वानरः ॥ ५४ ॥

---

* पाठान्तरे—"ताराचित" † पाठान्तरे—"अनुबद्धेन", "सुगन्धेन" ।

बभौ मेघ इवाकाशे विद्युद्गणविभूषितः ।
तस्य वेगसमुद्भूतैः *पुष्पैस्तोयमदृश्यत ॥ ५५ ॥

ताराभिरभिरामाभिरुदिताभिरिवाम्बरम् ।
तस्याम्बरगतौ बाहू ददृशाते प्रसारितौ ॥ ५६ ॥

उन फूलों के गिरने से समुद्र, सहस्रों ताराओं से शोभित आकाश की तरह जान पड़ता था । सुगन्धयुक्त और रंग विरंगे पुष्पों से कपिश्रेष्ठ हनुमान ऐसे शोभित हुए जैसे बिजुली की रेखाओं से मण्डित आकाशस्थित मेघ शोभित होता है । जिस प्रकार आकाशमण्डल उदय हुए सुन्दर तारागण के गुच्छों से सज जाता है ; उसी प्रकार समुद्र का जल हनुमान जी के गमनवेग से उड़ कर गिरे हुए पुष्पों से शोभित होने लगा । उस समय हनुमान जी के पसारे हुए हाथ आकाश में ऐसे जान पड़े ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६

पर्वताग्राद्विनिष्क्रान्तौ पञ्चास्याविव पन्नगौ ।
पिबन्निव बभौ †श्रीमान्सोर्मिमालं महार्णवम् ॥ ५७ ॥

मानों पर्वत के शिखर से पाँच सिरों वाले दो साँप निकल रहे हों । आकाश में जाते समय हनुमान जी जब नीचे को मुख करते थे, तब ऐसा जान पड़ता था कि, मानों तरङ्गों से युक्त समुद्र को पी डालना चाहते हैं ॥ ५७ ॥

पिपासुरिव चाकाशं ददृशे स महाकपिः ।
तस्य विद्युत्प्रभाकारे वायुमार्गानुसारिणः ॥ ५८ ॥

---

* पाठान्तरे—" वेगसमाधूतैः " । † पाठान्तरे—" चापि सोर्मि-

और जब वे ऊपर को मुख उठा कर चलते तब ऐसा जान पड़ता मानों वे आकाश को पी जाना चाहते हैं। वायुमार्ग से जाते हुए हनुमान जी के बिजली की तरह चमकते हुए ॥ ५८ ॥

नयने सम्प्रकाशेते पर्वतस्थाविवानलौ ।
पिङ्गे पिङ्गाक्षमुख्यस्य बृहती परिमण्डले ॥ ५९ ॥

दोनों नेत्र ऐसे देख पड़ते थे जैसे पर्वत पर दो ओर से दावानल लगा हो। उनकी पोली पीली और बड़ी बड़ी ॥ ५९ ॥

चक्षुषी सम्प्रकाशेते *चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ।
मुखं नासिकया तस्य ताम्रया ताम्रमावभौ ॥ ६० ॥

आँखें चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमक रही थीं। लाल नाक और हनुमान जी का लाल लाल मुखमण्डल ॥ ६० ॥

सन्ध्यया समभिस्पृष्टं यथा †सूर्यस्य मण्डलम् ।
लाङ्गूलं च समाविद्धं प्लवमानस्य शोभते ॥ ६१ ॥
अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छ्रितः ।
लाङ्गूलचक्रेण महाञ्शुक्लदंष्ट्रोऽनिलात्मजः ॥ ६२ ॥

सन्ध्याकालीन सूर्यमण्डल की तरह शोभायमान हो रहा था। आकाशमार्ग से जाते समय हनुमान जी की हिलती हुई पूँछ ऐसी शोभायमान हो रही थी, जैसे आकाश में इन्द्रध्वज। फिर जब कभी वे अपनी पूँछ को मण्डलाकार कर लेते थे, तब मुख के सफेद दांतों के साथ उनकी छवि ऐसी जान पड़ती थी ; ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

---

* पाठान्तरे—" चन्द्रसूर्याविवोदितौ " । † पाठान्तरे—" तत्सूर्य-मण्डलम् " ।

व्यरोचत महाप्राज्ञः परिवेषीव भास्करः ।
स्फिग्देशेनाभिताम्रेण रराज स महाकपिः ॥ ६३ ॥

महता दारितेनेव गिरिर्गैरिकधातुना ।
तस्य वानरसिंहस्य प्लवमानस्य सागरम् ॥ ६४ ॥

जैसी कि, सूर्य में मण्डल पड़ने से सूर्य की छबि जान पड़ती है। उनकी कमर का पिछला भाग अत्यधिक लाल होने के कारण ऐसा जान पड़ता था, मानों पर्वत में गेरू की खान खुली पड़ी हो। कपिसिंह हनुमान जी के समुद्र लाँघने के समय ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

कक्षान्तरगतो वायुर्जीमूत इव गर्जति ।
खे यथा निपतन्त्युल्का ह्युत्तरान्ताद्विनिःसृता ॥ ६५ ॥

उनकी दोनों बगलों में से वायु के निकलने का ऐसा शब्द होता था जैसा कि, मेघ के गर्जने से होता है। उस समय वेगवान कपि ऐसे देख पड़े, जैसे उत्तर दिशा से एक बड़ा अग्नि का लुका दूसरे एक छोटे लुक्के के साथ दक्षिण की ओर चला जाता हो ॥ ६५ ॥

दृश्यते [1]सानुबन्धा च तथा स कपिकुञ्जरः ।
पतत्पतङ्गसङ्काशो व्यायतः शुशुभे कपिः ॥ ६६ ॥

प्रवृद्ध इव मातङ्गः कक्ष्यया वध्यमानया ।
उपरिष्टाच्छरीरेण च्छायया चावगाढया ॥ ६७ ॥

सागरे मारुताविष्टा नौरिवासीत्तदा कपिः ।
यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः ॥ ६८ ॥

---

१ सानुबन्धा—सपुच्छा ।

तब जाते हुए सूर्य की तरह बड़े आकार वाले कपिश्रेष्ठ हनुमान जी अपनी पूँछ सहित कमर में रस्सा बंधे हुए महागज की तरह शोभायमान होने लगे। आकाश में उड़ते हुए हनुमान जी के बड़े शरीर और समुद्र के जल में पड़ी हुई उसकी छाया, दोनों मिलकर ऐसी शोभा दे रहे थे, जैसी वायु के झोंको से काँपती हुई नौका शोभा देती है। हनुमान जी समुद्र के जिस भाग में पहुँचते ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

*स स तस्योरुवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते।
सागरस्योर्मिजालानि उरसा शैलवर्ष्मणा ॥ ६९ ॥

वहाँ वहाँ का समुद्र का भाग खलबलाता हुआ सा जान पड़ता था। वे पर्वत के समान अपने वक्षस्थल से समुद्र की लहरों को ढकेलते हुए चले जाते थे ॥ ६९ ॥

[नोट—इस वर्णन से जान पड़ता है कि, हनुमान जी समुद्र के जल की सतह से बहुत ऊंचे नहीं उड़े थे।]

अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः।
कपिवातश्च बलवान्मेघवातश्च निःसृतः ॥ ७० ॥
सागरं भीमनिर्घोषं कम्पयामासतुर्भृशम्।
विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि ॥ ७१ ॥
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी।
मेरुमन्दरसङ्काशानुद्गतान्स महार्णवे ॥ ७२ ॥

---

* पाठान्तरे—" सागरस्योर्मिजालानामुरसा "।

समुद्रोल्लङ्घन

*अतिक्रामन्महावेगस्तरङ्गान्गणयन्निव ।
तस्य वेगसमुद्धूतं जलं सजलदं तदा ॥ ७३ ॥

एक तो हनुमान जी के वेग से जाने के कारण उत्पन्न वायु और दूसरा मेघों से उत्पन्न हुआ वायु—दोनों ही उस महागर्जन करते हुए समुद्र को क्षुब्ध कर रहे थे। इस प्रकार वे क्षार समुद्र की लहरों को चीरते हनुमान जी मानों आकाश और भूमि को अलगाते हुए चले जाते थे। इसी प्रकार मेरु और मन्दराचल पर्वत की तरह ऊँची ऊँची समुद्र की लहरों को नांघते हुए वे ऐसे उड़े चले जाते थे, मानों वे तरङ्गों को गिनते हुए जाते हों। उस समय कपि के तेज़ी के साथ जाने के कारण उड़ा हुआ समुद्र का जल ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

अम्बरस्थं विबभ्राज शारदाभ्रमिवाततम् ।
तिमिनक्रझषाः कूर्मा दृश्यन्ते विवृतास्तदा ॥ ७४ ॥

और मेघ—(दोनों) आकाश में ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे जैसे शरत्कालीन मेघ शोभायमान होते हैं। समुद्र में रहने वाले तिमि जाति के मत्स्य, मगर, अन्य प्रकार के मत्स्य तथा कछुवे जल के ऊपर देख पड़ते थे अर्थात् जल के ऊपर निकल आये थे ॥ ७४ ॥

वस्त्रापकर्षणेनेव शरीराणि शरीरिणाम् ।
प्लवमानं समीक्ष्याथ भुजङ्गाः सागरालयाः ॥ ७५ ॥
व्योम्नि तं कपिशार्दूलं सुपर्ण इति मेनिरे ।
दशयोजनविस्तीर्णं त्रिंशद्योजनमायतम् ॥ ७६ ॥

---

* पाठान्तरे—"अत्यक्रामन्" ।

वे जल जन्तु ऐसे जान पड़ते थे जैसे मनुष्य का शरीर कपड़ा उतार लेने पर देख पड़ता है। समुद्र में रहने वाले सर्पों ने हनुमान जी को आकाश में उड़ते देख जाना कि, गरुड़ जी उड़े हुए चले जाते हैं। दस योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

छाया वानरसिंहस्य जले चारुतराऽभवत् ।
श्वेताभ्रघनराजीव वायुपुत्रानुगामिनी ॥ ७७ ॥

तस्य सा शुशुभे छाया विततता लवणाम्भसि ।
शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः ॥ ७८ ॥

हनुमान जी के शरीर की छाया समुद्रजल में अत्यन्त शोभायमान जान पड़ती थी। पवननन्दन हनुमान जी के शरीर की अनुगामिनी छाया, समुद्र के जल में पड़ने से सफेद रंग के बड़े बादल की तरह सुन्दर जान पड़ती थी। वे महातेजस्वी और विशालकाय महाकपि ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः ।
येनासौ याति वलवान्वेगेन कपिकुञ्जरः ॥ ७९ ॥

आकाश में अवलंब रहित हो पंख वाले पर्वत की तरह सुशोभित हुए। वानरोत्तम वलवान् हनुमान जी जिस मार्ग से बड़े वेग से गमन कर रहे थे, ॥ ७९ ॥

तेन मार्गेण सहसा द्रोणीकृत इवार्णवः ।
आपाते पक्षिसङ्घानां पक्षिराज इवाबभौ* ॥ ८० ॥

---

* पाठान्तरे—" इव व्रजन् । "

वह समुद्र का मार्ग मानों दोना ऐसा मालूम पड़ता था। आकाश में गमन करते हुए हनुमान जी गरुड़ की तरह जान पड़ते थे ॥ ८० ॥

हनूमान्मेघजालानि प्रकर्षन्मारुतो यथा।
प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥ ८१ ॥

हनुमान जी वायु की तरह मेघ समूह को चीरते फाड़ते चले जाते थे। कभी तो वे बादल के भीतर छिप जाते थे और कभी वे बादल के बाहिर प्रकट हो जाते थे ॥ ८१ ॥

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते।
पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च ॥ ८२ ॥

जब वे बादल के बाहिर आते तब वे घटा से निकले हुए चन्द्रमा की तरह जान पड़ते थे। सफेद, नीले, लाल और मंजीठ रंग के ॥ ८२ ॥

कपिनाकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे।
प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा प्लवगं त्वरितं तदा ॥ ८३ ॥

बड़े बड़े बादल, कपिप्रवर हनुमान जी से खींचे जाकर, ऐसे जान पड़ते थे, मानों वे पवन के द्वारा चालित हो रहे हों। हनुमान जी को बड़ी तेज़ी से समुद्र लाँघते देख ॥ ८३ ॥

ववृषुः पुष्पवर्षाणि देवगन्धर्वचारणाः* ।
तताप न हि तं सूर्यः प्लवन्तं वानरेश्वरम् ॥ ८४ ॥

देवताओं, गन्धर्वों, और चारणों ने उन पर फूलों की वर्षा की। सूर्यनारायण ने भी समुद्र लाँघते समय हनुमान जी को अपनी किरणों से सन्तप्त नहीं किया ॥ ८४ ॥

---

* पाठान्तरे—" दानवाः। "

सिषेवे च तदा वायू रामकार्यार्थसिद्धये ।
ऋषयस्तुष्टुवुश्चैनं प्लवमानं विहायसा ॥ ८५ ॥

और पवनदेव ने भी, श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिये, (जाते हुए) हनुमान जी का श्रम हरने के लिये, शीतल हो, मन्द गति से सञ्चार किया । आकाश मार्ग से जाते हुए हनुमान जी की ऋषियों ने स्तुति की ॥ ८५ ॥

[नोट—जो लोग लङ्का में हनुमान जी का जाना समुद्र तैर कर बतलाते हैं ; उनको इस श्लोक में प्रयुक्त " विहायसा " (आकाशमार्ग से) शब्द पर ध्यान देना चाहिये ।]

जगुश्च देवगन्धर्वाः प्रशंसन्तो महौजसम् ।
नागाश्च तुष्टुवुर्यक्षा रक्षांसि विविधानि च* ॥ ८६ ॥

महाबली हनुमान जी की देवता और गन्धर्व भी प्रशंसा कर रहे थे । विविध यक्ष, राक्षस और नाग सन्तुष्ट हो ॥ ८६ ॥

†प्रेक्ष्याकाशे कपिवरं सहसा विगतक्लमम् ।
तस्मिन्प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति ॥ ८७ ॥

आकाश में कपिश्रेष्ठ हनुमान को सहसा श्रमरहित जाते देख, प्रशंसा कर रहे थे । जिस समय हनुमान जी समुद्र के पार जाने लगे ॥ ८७ ॥

इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः ।
साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः ॥ ८८ ॥

---

* पाठान्तरे—" विबुधाः खगाः । " † पाठान्तरे—" प्रेक्ष्य सर्वे । "

तब समुद्र ईश्वाकुकुलोद्भव श्रीरघुनाथ जी का सन्मान करने की कामना से सोचने लगा कि, यदि इस समय मैं वानरश्रेष्ठ हनुमान जी की सहायता न ॥ ८८ ॥

करिष्यामि भविष्यामि [1]सर्ववाच्यो विवक्षताम् ।
अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः ॥ ८९ ॥

करूँगा तो मैं सब प्रकार से निन्द्य समझा जाऊँगा। क्योंकि मेरी उन्नति के करने वाले तो इक्ष्वाकुकुल के नाथ महाराज सगर ही थे ॥ ८९ ॥

इक्ष्वाकुसचिवश्चायं नावसीदितुमर्हति ।
तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः ॥ ९० ॥

यह हनुमान जी इक्ष्वाकुकुलोद्भव श्रीरामचन्द्र जी के मंत्री हैं। इनको किसी प्रकार का कष्ट न होना चाहिये। अतः मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे हनुमान जी को विश्राम मिले ॥ ९० ॥

शेषं च मयि विश्रान्तः सुखेनातिपतिष्यति ।
इति कृत्वा मतिं साध्वीं समुद्रश्छन्नमम्भसि ॥ ९१ ॥

मेरे द्वारा यह विश्राम कर समुद्र का शेष भाग सुखपूर्वक कूद जाय। इस प्रकार अपने मन में साधु सङ्कल्प निश्चय कर समुद्र जल से ढके हुए ॥ ९१ ॥

[2]हिरण्यनाभं मैनाकमुवाच गिरिसत्तमम् ।
त्वमिहासुरसङ्घानां पातालतलवासिनाम् ॥ ९२ ॥

---

१ सर्ववाच्यः—सर्वप्रकारेण निन्द्यः । (गो०) २ हिरण्यनाभ—हिरण्यशृङ्गं । (गो०)

और सुवर्ण की चोटी वाले गिरवर मैनाक पर्वत से बोले—हे मैनाक ! पातालवासी असुरों को ॥ ९२ ॥

देवराज्ञा गिरिश्रेष्ठ परिघः सन्निवेशितः ।
त्वमेषां *ज्ञातवीर्याणां पुनरेवोत्पतिष्यताम् ॥ ९३ ॥

रोकने के लिये, इन्द्र ने तुमको यहां एक परिघ (अर्गल बेंड़ा) की तरह स्थापित कर रक्खा है । इन्द्र को इन दैत्यों का पराक्रम मालूम है । जिससे वे पुनः ऊपर न निकल आवें ॥ ९३ ॥

पातालस्याप्रमेयस्य द्वारमावृत्य तिष्ठसि ।
तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव शक्तिस्ते शैल वर्धितुम् ॥ ९४ ॥

इसीसे तुम असीम पाताल का द्वार रोके रहते हो । हे मैनाक ! तुम सीधे तिरछे, ऊपर नीचे जैसे चाहो वैसे घट बढ़ सकते हो ॥९४॥

तस्मात्सञ्चोदयामि त्वामुत्तिष्ठ नगसत्तम ।
स एव कपिशार्दूलस्त्वामुपैष्यति †वीर्यवान् ॥ ९५ ॥

अतएव हे पर्वतोत्तम ! मैं तुमसे कहता हूँ कि, तुम उठो । देखो ये बलवान हनुमान तुम्हारे ऊपर पहुँचना ही चाहते हैं ॥ ९५ ॥

हनूमान्रामकार्यार्थं भीमकर्मा खमाप्लुतः ।
अस्य साह्यं मया कार्यमिक्ष्वाकुहितवर्तिनः ॥ ९६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का काम करने के लिये, भयङ्कर कर्म करने वाले, हनुमान जी आकाशमार्ग से जा रहे हैं । मैं इक्ष्वाकुवंशियों का हितैषी हूँ । अतएव मेरा यह कर्त्तव्य है कि, मैं इनकी (हनुमान जी की) कुछ सहायता करूँ ॥ ९६ ॥

---

* पाठान्तरे—" जातवीर्याणां । " † पाठान्तरे—" त्वामुपयेति । "

श्रमं च प्लवगेन्द्रस्य समीक्ष्योत्थातुमर्हसि ।
हिरण्यनाभो मैनाको निशम्य लवणाम्भसः ॥ ९७ ॥

तुम हनुमान जी के श्रम की ओर देख कर जल के ऊपर उठो । क्षारसमुद्र के ये वचन सुन हिरण्यशृङ्ग मैनाक ॥ ९७ ॥

उत्पपात जलात्तूर्णं महाद्रुमलतायुतः ।
स सागरजलं भित्त्वा बभूवात्युत्थितस्तदा ॥ ९८ ॥

बड़े बड़े वृक्षों और लताओं से युक्त, जल के ऊपर तुरन्त निकल आया । उस समय वह सागर के जल को चीर कर वैसे ही ऊपर को उठा ॥ ९८ ॥

यथा जलधरं भित्त्वा दीप्तरश्मिर्दिवाकरः ।
स महात्मा मुहूर्तेन पर्वतः सलिलावृतः ॥ ९९ ॥
दर्शयामास शृङ्गाणि सागरेण नियोजितः ।
शातकुम्भमयैः शृङ्गैः सकिन्नरमहोरगैः ॥ १०० ॥

जैसे मेघों को चीर कर चमकते हुए सूर्यदेव उदय होते हैं । इस प्रकार समुद्र जल से ढके हुए उन महात्मा मैनाक पर्वत ने, समुद्र का कहना मान, एक मुहूर्त में, अपने वे शिखर पानी के ऊपर निकाल दिये जो सुवर्णमय और किन्नरों तथा बड़े बड़े उरगों द्वारा सेवित थे ॥ ९९ ॥ १०० ॥

आदित्योदयसङ्काशैरालिखद्भिरिवाम्बरम् ।
तप्तजाम्बूनदैः शृङ्गैः पर्वतस्य समुत्थितैः ॥ १०१ ॥

वे शिखर उदयकालीन प्रकाशमान सूर्य की तरह थे और आकाश को स्पर्श करते थे । उस पर्वत के तप्तसुवर्ण जैसी आभा वाले शिखरों के जल के ऊपर निकलने से ॥ १०१ ॥

आकाशं [1]शस्त्रसङ्काशमभवत्काञ्चनप्रभम् ।
जातरूपमयैः शृङ्गैर्भ्राजमानैः स्वयम्प्रभैः ॥ १०२ ॥
आदित्यशतसङ्काशः सोऽभवद्गिरिसत्तमः ।
तमुत्थितमसङ्गेन[2] हनुमानग्रतः स्थितम् ॥ १०३ ॥
मध्ये लवणतोयस्य विघ्नोऽयमिति निश्चितः ।
स तमुच्छ्रितमत्यर्थं महावेगो महाकपिः ॥ १०४ ॥

नीला आकाश सुवर्णमय देख पड़ने लगा। उस समय वह अपनी अत्यन्त प्रकाश युक्त सुनहले शिखरों की प्रभा से शोभायमान हुआ। उस समय सौ सूर्य की तरह उस पर्वतश्रेष्ठ मैनाक की शोभा हुई। विना विलंब किये समुद्र से निकल, आगे खड़े हुए तथा खारी समुद्र के बीच स्थित मैनाक पर्वत को देख, हनुमान जी ने अपने मन में यह निश्चित किया कि, यह एक विघ्न आ उपस्थित हुआ है। तब उस अत्यन्त ऊँचे उठे हुए मैनाक को हनुमान जी ने बड़े ज़ोर से ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

उरसा पातयामास जीमूतमिव मारुतः ।
स *तथा पातितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ॥ १०५ ॥

अपनी छाती की ठोकर से वैसे ही हटा दिया जैसे पवनदेव, बादलों को हटा देते हैं। जब हनुमान जी ने उस गिरिश्रेष्ठ को हटा दिया या नीचे बैठा दिया ॥ १०५ ॥

बुद्ध्वा तस्य कपेर्वेगं जहर्ष च ननाद च ।
तमाकाशगतं वीरमाकाशे समवस्थितः ॥ १०६ ॥

---

१ शस्त्रसङ्काशं—नीलमित्यर्थः । (गो०) २ असंगेन—विलंबराहित्येन । (शि०) * पाठान्तरे—" तदा । "

प्रीतो हृष्टमना वाक्यमब्रवीत्पर्वतः कपिम् ।
मानुषं धारयन्रूपमात्मनः शिखरे स्थितः ॥ १०७ ॥

तब मैनाक, हनुमान जी के वेग का अनुभव कर, प्रसन्न हुआ और गर्जा । मैनाक पर्वत फिर आकाश की ओर उठा और आकाश स्थित वीर हनुमान जी से, प्रसन्न हो बड़ी प्रीति के साथ मनुष्य का रूप धारण कर तथा अपने शिखर पर खड़े हो कर बोला ॥ १०६ ॥ ॥ १०७ ॥

दुष्करं कृतवान्कर्म त्वमिदं वानरोत्तम ।
निपत्य मम शृङ्गेषु विश्रमस्व यथासुखम् ॥ १०८ ॥

हे वानरोत्तम ! यह तुम बड़ा ही कठिन काम करने को उद्यत हुए हो । अतः तुम मेरे शृङ्ग पर कुछ देर ठहर कर विश्राम कर लो । तदनन्तर तुम सुख पूर्वक आगे चले जाना ॥ १०८ ॥

राघवस्य कुले जातैरुदधिः परिवर्धितः ।
स त्वां रामहिते युक्तं प्रत्यर्चयति सागरः ॥ १०९ ॥

इस समुद्र की वृद्धि श्रीरामचन्द्र जी के पूर्वपुरुषों द्वारा हुई है और तुम श्रीरामचन्द्र जी के हितसाधन में तत्पर हो, अतएव यह समुद्र आपका आतिथ्य सत्कार करना चाहता है १०६ ॥

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः ।
सोऽयं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ११० ॥

क्योंकि उपकार करने वाले का उपकार करना यह सनातन धर्म है । सो यह श्रीरामचन्द्र जी का प्रत्युपकार करना चाहता है । अतः तुमको समुद्र के सम्मान की रक्षा करनी चाहिये ॥ ११० ॥

त्वन्निमित्तमनेनाहं बहुमानात्प्रचोदितः ।
योजनानां शतं चापि कपिरेष खमाप्लुतः ॥ १११ ॥

तुम्हारा सत्कार करने के लिये समुद्र ने मेरा बहुत सा सम्मान कर मुझे यहां भेजा है । उन्होंने मुझसे कहा है कि, देखो यह कपि सौ योजन जाने के लिये आकाश में उड़े हैं ॥ १११ ॥

तव सानुषु विश्रान्तः शेषं प्रक्रमतामिति ।
तिष्ठ त्वं हरिशार्दूल मयि विश्रम्य गम्यताम् ॥ ११२ ॥

अतः हनुमान जी तुम्हारे शिखर पर विश्राम कर शेष मार्ग को पूरा करें । सो हे कपिशार्दूल ! तुम यहां ठहर कर विश्राम करो । तदनन्तर आगे चले जाना ॥ ११२ ॥

तदिदं गन्धवत्स्वादु कन्दमूलफलं बहु ।
तदास्वाद्य हरिश्रेष्ठ विश्रम्य श्वो गमिष्यसि ॥ ११३ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! मेरे वृक्षों से स्वादिष्ट और सुगन्ध युक्त बहुत से कन्दमूल फलों को खा कर विश्राम करो । कल सवेरे तुम चले जाना ॥ ११३ ॥

अस्माकमपि सम्बन्धः कपिमुख्य त्वयास्ति वै ।
प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु महागुणपरिग्रहः ॥ ११४ ॥

हे कपियों में प्रधान ! मेरा भी तुम्हारे साथ कुछ सम्बन्ध है, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है । तुम महागुण के ग्रहण करने वाले हो अर्थात् बड़े गुणी हो ॥ ११४ ॥

वेगवन्तः प्लवन्तो ये प्लवगा मारुतात्मज ।
तेषां मुख्यतमं मन्ये त्वामहं कपिकुञ्जर ॥ ११५ ॥

हे पवननन्दन ! इस लोक में जितने कूदने वाले वेगवान् वानर हैं, हे कपीश्वर ! उन सब में, मैं तुमको मुख्य समझता हूँ ॥ ११५ ॥

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता ।
धर्मं जिज्ञासमानेन किं *पुनर्यादृशो भवान् ॥ ११६ ॥

धर्म जिज्ञासुओं के लिये तो एक साधारण अतिथि भी पूज्य है, फिर आपके समान गुणी अतिथि का सत्कार करना तो मेरे लिये सर्वथा उचित ही है ॥ ११६ ॥

त्वं हि देववरिष्ठस्य मारुतस्य महात्मनः ।
पुत्रस्तस्यैव वेगेन सदृशः कपिकुञ्जर ॥ ११७ ॥

फिर तुम देवताओं में श्रेष्ठ महात्मा पवनदेव के पुत्र हो । हे कपिकुञ्जर ! वेग में भी तुम अपने पिता के समान ही हो ॥ ११७ ॥

पूजिते त्वयि धर्मज्ञ पूजां प्राप्नोति मारुतः ।
तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥११८॥

हे धर्मज्ञ ! तुम्हारी पूजा करने से मानों पवनदेव ही का पूजन हो गया । अतः तुम मेरे पूज्य हो । इसके अतिरिक्त और भी एक कारण तुम्हारे पूज्य होने का है । उसे भी तुम सुन लो ॥ ११८ ॥

पूर्वं कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन् ।
†तेऽभिजग्मुर्दिशः सर्वा गरुडानिलवेगिनः ॥ ११९ ॥

---

* पाठान्तरे—" पुनस्त्वादृशो महान् । " † पाठान्तरे—" ते हि । "

हे तात ! प्राचीन काल में सत्ययुग में सब पहाड़ों के पंख हुआ करते थे। वे पंखधारी पहाड़ गरुड़ जी की तरह बड़े वेग से चारों ओर उड़ा करते थे ॥ ११९ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु देवसङ्घाः सहर्षिभिः ।
भूतानि च भयं जग्मुस्तेषां पतनशङ्कया ॥ १२० ॥

पर्वतों को उड़ते देख, देवता, ऋषि तथा अन्य समस्त प्राणी उनके अपने ऊपर गिरने की शङ्का से डर गये ॥ १२० ॥

ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः पर्वतानां शतक्रतुः ।
पक्षांश्चिच्छेद वज्रेण तत्र तत्र सहस्रशः ॥ १२१ ॥

तब हज़ार नेत्रों वाले इन्द्र ने कुपित हो, अपने वज्र से इधर उधर घूमने वाले हजारों पहाड़ों के पंख काट डाले ॥ १२१ ॥

स मामुपगतः क्रुद्धो वज्रमुद्यम्य देवराट् ।
ततोऽहं सहसाक्षिप्तः श्वसनेन महात्मना ॥ १२२ ॥

जब देवराज इन्द्र वज्र उठा कर मेरी ओर आये, तब महात्मा पवनदेव ने मुझको सहसा उठा कर फेंक दिया ॥ १२२ ॥

अस्मिँल्लवणतोये च प्रक्षिप्तः प्लवगोत्तम ।
गुप्तपक्षः समग्रश्च तव पित्राऽभिरक्षितः ॥ १२३ ॥

हे वानरोत्तम ! मुझे उन्होंने इस खारी समुद्र में उठा कर फेंक दिया। इस प्रकार तुम्हारे पिता पवनदेव ने मेरे समस्त पंखों की रक्षा की ॥ १२३ ॥

ततोऽहं मानयामि त्वां मान्यो हि मम मारुतः ।
त्वया मे ह्येष सम्बन्धः कपिमुख्य महागुणः ॥ १२४ ॥

हे पवननन्दन ! तुम्हारे साथ मेरा यही सम्बन्ध है। तुम एक तो मेरे पूज्य पवनदेव के पुत्र हो दूसरे कपियों में मुख्य और बड़े गुणवान होने के कारण मेरे मान्य हो, अतः मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ ॥ १२४ ॥

*अस्मिन्नेवंविधे कार्ये सागरस्य ममैव च ।
प्रीतिं प्रीतमनाः कर्तुं त्वमर्हसि महाकपे ॥ १२५ ॥

हे महाकपे ! तुम्हारे ऐसा करने पर मेरी और सागर की प्रीति और भी बढ़ेगी अथवा तुम्हारे ऐसा करने पर मैं और समुद्र बहुत प्रसन्न होंगे, अतः हे महाकपे ! तुम मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मुझे प्रसन्न करो ॥ १२५ ॥

श्रमं †मोचय पूजां च गृहाण कपिसत्तम ।
प्रीतिं च बहुमन्यस्व प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात् ॥ १२६ ॥

हे कपिसत्तम ! तुम अपना श्रम दूर कर, मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मुझे प्रसन्न करो। तुम्हें देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १२६ ॥

एवमुक्तः कपिश्रेष्ठस्तं नगोत्तममब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १२७ ॥

जब मैनाक ने इस प्रकार कहा तब कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने गिरिश्रेष्ठ मैनाक से कहा—मैं आपके आतिथ्य से प्रसन्न हूँ। आपने मेरा सत्कार किया, अब आप अपने मन में किसी प्रकार का खेद न करें ॥ १२७ ॥

---

* पाठान्तरे—" तस्मिन् । " † पाठान्तरे—" मोक्षय "

त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते ।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ॥ १२८ ॥

एक तो मुझे कार्य करने की त्वरा है । दूसरे समय भी बहुत हो चुका है । तीसरे मैंने वानरों के सामने यह प्रतिज्ञा भी की है कि, मैं बीच में कहीं न ठहरूँगा ॥ १२८ ॥

इत्युक्त्वा पाणिना शैलमालभ्य हरिपुङ्गवः ।
जगामाकाशमाविश्य वीर्यवान्प्रहसन्निव ॥ १२९ ॥

यह कह कर कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने मैनाक को हाथ से छुआ । तदनन्तर पराक्रमी हनुमान हँसते हुए आकाश में उड़ चले ॥ १२९ ॥

स पर्वतसमुद्राभ्यां बहुमानादवेक्षितः ।
पूजितश्चोपपन्नाभिराशीर्भिरनिलात्मजः ॥ १३० ॥

तब तो समुद्र और मैनाक पर्वत ने हनुमान जी को बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा, उनको आशीर्वाद दिया और उनका अभिनन्दन किया ॥ १३० ॥

अथोर्ध्वं दूरमुत्पत्य हित्वा शैलमहार्णवौ ।
पितुः पन्थानमास्थाय जगाम विमलेऽम्बरे ॥ १३१ ॥

तदनन्तर हनुमान जी, मैनाक तथा समुद्र को छोड़, बहुत ऊँचे विमल आकाश में जा, पवन के मार्ग से उड़ कर जाने लगे ॥ १३१ ॥

*ततश्चोर्ध्वगतिं प्राप्य गिरिं तमवलोकयन् ।
वायुसूनुर्निरालम्बे जगाम विमलेऽम्बरे ॥ १३२ ॥

---

* पाठान्तरे "भूयश्चोर्ध्वगतिं ।"

हनुमान जी ने आकाश में पहुँच मैनाक की ओर देखा और फिर वे पवननन्दन निरालम्ब (विना सहारे) विमल आकाश में उड़ चले ॥ १३२ ॥

[नोट—हनुमान जी का आकाश मार्ग से जाना पूर्व श्लोकों से स्पष्ट है ।]

*द्वितीयं हनुमत्कर्म दृष्ट्वा तत्र सुदुष्करम् ।
प्रशशंसुः सुराः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १३३ ॥

हनुमान जी का यह दूसरा दुष्कर कार्य देख, सब देवता, सिद्ध और महर्षि गण उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३३ ॥

देवताश्चाभवन्हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा ।
काञ्चनस्य सुनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः ॥ १३४ ॥

उस समय वहाँ जो देवता उपस्थित थे वे तथा सहस्र नेत्र इन्द्र सुवर्णशृङ्ग वाले मैनाक के इस कार्य से उसके ऊपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३४ ॥

†उवाच वचनं श्रीमान्परितोषात्सगद्गदम् ।
सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ १३५ ॥

शचीपति देवराज इन्द्र स्वयं सुवर्ण शृङ्गवाले पर्वतश्रेष्ठ मैनाक से प्रसन्न हो, गद्गद वाणी से बोले ॥ १३५ ॥

हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम् ।
अभयं ते प्रयच्छामि तिष्ठ सौम्य यथासुखम् ॥ १३६ ॥

हे सुवर्ण शिखरों वाले शैलेन्द्र ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हुआ । मैं तुमको अभयवर देता हूँ । तू अब जहाँ चाहे वहाँ सुख-पूर्वक रह सकता है ॥ १३६ ॥

---

* पाठान्तरे—" तद्वितीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम् । "

† पाठान्तरे—" श्रीमान् । "

साह्यं कृतं त्वया सौम्य विक्रान्तस्य हनूमतः ।
क्रमतो योजनशतं निर्भयस्य भये सति ॥ १३७ ॥

हे सौम्य ! भय रहते भी पराक्रमी हनुमान जी को निर्भीक हो सौ योजन समुद्र के पार जाते देख, तथा उनको बीच में विश्राम करने का अवसर दे तूने उनकी बड़ी सहायता की है ॥ १३७ ॥

रामस्यैष हि दौत्येन याति दाशरथेर्हरिः ।
सत्क्रियां कुर्वता तस्य तोषितोऽस्मि भृशं त्वया ॥ १३८ ॥

ये हनुमान जी, श्रीरामचन्द्र जी के दूत बन कर जा रहे हैं। इनका तूने जो सत्कार किया, इससे मैं तेरे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ ॥ १३८ ॥

ततः प्रहर्षमगमद्विपुलं पर्वतोत्तमः ।
देवतानां पतिं दृष्ट्वा परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १३९ ॥

तब तो गिरिश्रेठ मैनाक, देवराज इन्द्र को अपने ऊपर प्रसन्न देख, बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १३९ ॥

स वै दत्तवरः शैलो बभूवावस्थितस्तदा ।
हनूमांश्च मुहूर्तेन व्यतिचक्राम सागरम् ॥ १४० ॥

इन्द्र से अभयदान प्राप्त कर, मैनाक सुस्थिर हुआ। उधर हनुमान जी भी मैनाक अधिकृत समुद्र के भाग को मुहुर्त्त मात्र में पार कर गये ॥ १४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अब्रुवन्सूर्यसङ्काशां सुरसां नागमातरम् ॥ १४१ ॥

तब तो देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों ने सूर्य के समान प्रकाश वाली नागों की माता सुरसा से कहा ॥ १४१ ॥

अयं वातात्मजः श्रीमान्प्लवते सागरोपरि ।
हनूमान्नाम तस्य त्वं मुहूर्तं विघ्नमाचर ॥ १४२ ॥

पवननन्दन हनुमान जी समुद्र के पार जाने के लिये आकाश मार्ग से चले जा रहे हैं। अतः तुम उनके गमन में एक मुहूर्त्त के लिये विघ्न डालो ॥ १४२ ॥

राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम् ।
दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःसमम् ॥ १४३ ॥

अतः तुम अति भयङ्कर पर्वत के समान बड़ा राक्षस का रूप धर कर पीले नेत्रों सहित भयङ्कर दाँतों से युक्त अपना मुख बना कर इतनी बढ़ो कि आकाश छू लो ॥ १४३ ॥

बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम् ।
त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति ॥ १४४ ॥

क्योंकि हम सब हनुमान जी के बल और पराक्रम की परीक्षा लेना चाहते हैं। या तो हनुमान तुमको किसी उपाय से जीत लेंगे अथवा दुःखी हो कर चले जायेंगे ॥ १४४ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी दैवतैरभिसत्कृता ।
समुद्रमध्ये सुरसा विभ्रती राक्षसं वपुः ॥ १४५ ॥

जब देवताओं ने सुरसा से आदर पूर्वक इस प्रकार कहा, तब सुरसा राक्षसी का रूप धर समुद्र के बीच जा खड़ी हुई ॥ १४५ ॥

विकृतं च विरूपं च सर्वस्य च भयावहम् ।
प्लवमानं हनूमन्तमाहृत्येदमुवाच ह ॥ १४६ ॥

उस समय का सुरसा का रूप ऐसा विकट और भयङ्कर था कि, जिसे देख सब को डर लगता था। सुरसा, समुद्र के पार जाते हुए हनुमान जी का रास्ता छेक कर उनसे कहने लगी ॥ १४६ ॥

मम भक्ष्यः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ ।
अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥ १४७ ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! देवताओं ने तुझको मेरा भक्ष्य बनाया है। इसलिये मैं तुझको खा जाऊँगी। आ तू अब मेरे मुख में घुस ॥ १४७ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिर्वानरर्षभः ।
प्रहृष्टवदनः *श्रीमान्सुरसां वाक्यमब्रवीत् ॥ १४८ ॥

सुरसा के इस प्रकार कहने पर हनुमान जी ने प्रसन्न हो कर सुरसा से कहा ॥ १४८ ॥

रामो †दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्राता वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १४९ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीता के साथ दण्डकारण्य में आये ॥ १४९ ॥

[1]अन्यकार्यविषक्तस्य वद्धवैरस्य राक्षसैः ।
तस्य सीता हृता भार्या रावणेन तपस्विनी ॥ १५० ॥

---

१ अन्यकार्यविषक्तस्य—मारीचमृगग्रहण व्यासक्तस्य । (गो०)
* पाठान्तरे—" श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् । " † पाठान्तरे—" दाशरथिर्नाम । "

और कारणान्तर से उनसे और राक्षसों से परस्पर शत्रुता हो गयी। इससे रावण उनकी तपस्विनी भार्या सीता को हर कर ले गया ॥ १५० ॥

तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ।
कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनी ॥ १५१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से मैं सीता जी के पास दूत बन कर जा रहा हूँ। तुम श्रीरामचन्द्र जी के राज्य में बसने वाली हो, अतः तुम्हें तो मेरी सहायता करनी चाहिये ॥ १५१ ॥

अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम् ।
आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ १५२ ॥

अथवा जब मैं सीता को देख, अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी को उनका समाचार दे आऊँ तब मैं तुम्हारे मुख में आकर प्रवेश करूँगा। मैं यह तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ ॥ १५२ ॥

एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी ।
तं प्रयान्तं समुद्वीक्ष्य सुरसा वाक्यमब्रवीत् ॥ १५३ ॥

जब हनुमान जी ने इस प्रकार उससे कहा, तब वह कामरूपिणी सुरसा हनुमान जी को जाते देख, उनसे बोली ॥ १५३ ॥

बलं जिज्ञासमाना वै नागमाता हनूमतः ।
हनूमान्नातिवर्तेन्मां कश्चिदेष वरो मम ॥ १५४ ॥

हनुमान जी के बल की परीक्षा लेती हुई नागमाता बोली कि, हे हनुमान! मुझको ब्रह्मा जी ने यह वर दे रखा है कि, मेरे आगे से कोई जीता जागता नहीं जा सकता ॥ १५४ ॥

प्रविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम ।
वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥ १५५ ॥

हे वानरोत्तम ! पहिले तुम मेरे मुख में प्रवेश करो, फिर तुरन्त चले जाना । विधाता ने मुझे पूर्वकाल में यही वरदान दिया है ॥ १५५ ॥

व्यादाय वक्त्रं विपुलं स्थिता सा मारुतेः पुरः ।
एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुङ्गवः ॥ १५६ ॥

यह कह कर नागमाता सुरसा, अपना बड़ा भारी मुख फैला, हनुमान जी के सामने खड़ी हो गयी । सुरसा के ऐसे वचन सुन कपिश्रेष्ठ हनुमान जी क्रुद्ध हुए ॥ १५६ ॥

अब्रवीत्कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसे ।
इत्युक्ता सुरसां क्रुद्धा दशयोजनमायताम* ॥ १५७ ॥

हनुमान जी ने उससे कहा कि, तू अपना मुख उतना बड़ा फैला जिसमें कि मैं समा सकूँ । यह सुन सुरसा ने क्रुद्ध हो अपना मुख दस योजन फैलाया ॥ १५७ ॥

दशयोजनविस्तारो बभूव हनुमांस्तदा ।
तं दृष्ट्वा मेघसङ्काशं दशयोजनमायतम् ॥ १५८ ॥

तब हनुमान जी ने भी अपना शरीर दस योजन का कर लिया । तब हनुमान जी के शरीर को मेघ के समान दस योजन लंबा देख ॥ १५८ ॥

---

* पाठान्तरे—" इत्युक्ता सुरसां क्रुद्धो दशयोजनमायताम् ।

चकार *सुरसाप्यास्यं विंशद्योजनमायतम् ।
ततः परं हनूमांस्तु त्रिंशद्योजनमायतः ॥ १५९ ॥

सुरसा ने अपना मुख बीस योजन का कर लिया। तब हनुमान जी ने अपना शरीर तीस योजन लंबा कर लिया ॥ १५९ ॥

चकार सुरसा वक्त्रं चत्वारिंशत्तथायतम् ।
बभूव हनूमान्वीरः पञ्चाशद्योजनोच्छ्रितः ॥ १६० ॥

तब सुरसा ने अपना मुख चालीस योजन चौड़ा कर लिया। इस पर हनुमान जी ने अपना शरीर पचास योजन ऊँचा कर लिया ॥ १६० ॥

चकार सुरसा वक्त्रं षष्टियोजनमायतम् ।
तथैव हनुमान्वीरः सप्ततीयोजनोच्छ्रितः ॥ १६१ ॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख साठ योजन चौड़ा किया, तब हनुमान जी सत्तर योजन के हो गये ॥ १६१ ॥

चकार सुरसा वक्त्रमशीतीयोजनायतम् ।
हनूमानचलप्रख्यो नवतीयोजनोच्छ्रितः ॥ १६२ ॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख अस्सी योजन का कर लिया तब हनुमान जी बृहदाकार पर्वत की तरह नब्बे योजन लंबे हो गये ॥ १६२ ॥

चकार सुरसा वक्त्रं शतयोजनमायतम् ।
तद्दृष्ट्वा व्यादितं †चास्यं वायुपुत्रः सुबुद्धिमान् ॥१६३॥

---

* पाठान्तरे—" सुरसा चास्यं । " † पाठान्तरे—" त्वास्य । "

दीर्घजिह्वं सुरसया सुघोरं नरकोपमम् ।
स संक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इव मारुतिः ॥ १६४ ॥
तन्मुहूर्ते हनुमान्बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ।
सोऽभिपत्याशु तद्वक्त्रं निष्पत्य च महाबलः* ॥१६५॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख सौ योजन फैलाया ; तब बुद्धिमान् वायुनन्दन हनुमान जी ने उसके उस सौ योजन फैले हुए बड़ी जिह्वा से युक्त, भयङ्कर और नरक की तरह मुख को देख, मेघ की तरह अपने शरीर को समेटा और वे तत्क्षण अंगूठे के बराबर छोटे शरीर वाले हो गये। तदनन्तर वे महाबली उसके मुख में प्रवेश कर तुरन्त बाहिर निकल आये ॥ १६३ ॥ १६४ ॥ १६५ ॥

अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमान्प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोस्तु ते ॥ १६६ ॥

और आकाश में खड़े हो हँसते हुए यह बोले—हे दाक्षायणि ! तुझको नमस्कार है। मैं तेरे मुख में प्रवेश कर चुका ॥ १६६ ॥

गमिष्ये यत्र वैदेही सत्यश्चास्तु वरस्तव ।
तं दृष्ट्वा वदनान्मुक्तं चन्द्रं राहुमुखादिव ॥ १६७ ॥

तेरा वरदान सत्य हो गया। अब मैं वहां जाता हूँ, जहां सीता जी हैं। राहु के मुख से चन्द्रमा के समान, हनुमान जी को अपने मुख से निकला हुआ देख, ॥ १६७ ॥

अब्रवीत्सुरसा देवी स्वेन रूपेण वानरम् ।
अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥१६८॥

* पाठान्तरे—" महाजवः । "

सुरसा अपना रूप धारण कर हनुमान जी से बोली—हे कपि-श्रेष्ठ! तुम अपना कार्य सिद्ध करने के लिये जहाँ चाहो तहाँ जाओ ॥ १६८ ॥

समानय त्वं वैदेहीं राघवेण महात्मना ।
तत्तृतीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १६९ ॥

और महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से सीता को लाकर मिला दो। हनुमान जी का यह तीसरा दुष्कर कर्म देख, ॥ १६९ ॥

साधु साध्विति भूतानि प्रशशंसुस्तदा हरिम् ।
स सागरमनाधृष्यमभ्येत्य वरुणालयम् ॥ १७० ॥

जगामाकाशमाविश्य वेगेन गरुडोपमः ।
सेविते वारिधाराभिः पन्नगैश्च निषेविते ॥ १७१ ॥

"साधु साधु" कह कर सब लोग हनुमान जी की प्रशंसा करने लगे। तदनन्तर हनुमान जी वरुणालय समुद्र के ऊपर, आकाशमार्ग से गरुड़ की तरह बड़े वेग से जाने लगे। वह आकाशमार्ग जलधारा से युक्त, पक्षियों से सेवित था ॥ १७० ॥ ॥ १७१ ॥

चरिते [1]कैशिकाचार्यैरैरावतनिषेविते ।
सिंहकुञ्जरशार्दूलपतगोरगवाहनैः ॥ १७२ ॥

विमानैः सम्पतद्भिश्च विमलैः समलङ्कृते ।
वज्राशनिसमाघातैः पावकैरुपशोभिते ॥ १७३ ॥

---

१ कैशिकाचार्यैः—कैशिकेरागविशेषे आचार्यैः विद्याधरविशेषैरित्यर्थः ।

(गो०)

तुम्बुरु आदि विद्याधरों से सेवित, ऐरावत सहित, सिंह, गजेन्द्र, शार्दूल, पक्षी और सर्प आदि वाहनों से युक्त निर्मल विमानों से भूषित; वज्र के तुल्य स्पर्श वाले, अग्नि तुल्य ॥ १७२ ॥ १७३ ॥

कृतपुण्यैर्महाभागैः स्वर्गजिद्भिरलङ्कृते ।
वहता हव्यमत्यर्थं सेविते [1]चित्रभानुना ॥ १७४ ॥

ग्रहनक्षत्रचन्द्रार्कतारागणविभूषिते ।
महर्षिगणगन्धर्वनागयक्षसमाकुले ॥ १७५ ॥

विविक्ते विमले विश्वे विश्वावसुनिषेविते ।
देवराजगजाक्रान्ते चन्द्रसूर्यपथे शिवे ॥ १७६ ॥

पुण्यात्मा महाभाग स्वर्ग को जीतने वालों से शोभित, सदा ही हव्य को लिये हुए अग्नि, ग्रह, सूर्य और तारागण से सेवित; महर्षि, गन्धर्व, नाग और यक्षों से पूर्ण, एकान्त, विमल, विशाल और विश्वावसु गन्धर्व से सेवित, इन्द्र के ऐरावत गज से रौंदा हुआ; चन्द्रमा और सूर्य का सुन्दर मार्ग ॥ १७४ ॥ १७५ ॥ १७६ ॥

वितानं जीवलोकस्य विमले ब्रह्मनिर्मिते ।
बहुशः सेविते वीरैर्विद्याधरगणैर्वरैः ॥ १७७ ॥

जीवलोक का चँदोवा रूपी इस स्वच्छ मार्ग को ब्रह्मा जी ने बनाया है । इस मार्ग का सेवन अनेक वीर और श्रेष्ठ विद्याधर गण किया करते हैं ॥ १७७ ॥

जगाम वायुमार्गे च गरुत्मानिव मारुतिः ।
[हनूमान्मेघजालानि प्रकर्षन्मारुतो यथा ॥ १७८ ॥

---

१ चित्रभानुना—वह्निना । (गो०)

ऐसे वायुमार्ग से पवनकुमार हनुमान जी गरुड़ जी की तरह बड़ी तेज़ी के साथ, उड़े चले जाते थे। जाते हुए वे मेघों को चीरते हुए चले जाते थे ॥ १७८ ॥

कालागुरुसवर्णानि रक्तपीतसितानि च ।
कपिनाऽऽकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥ १७९ ॥

काले, अगर की तरह लाल, पीले और सफेद रंग के बड़े बड़े बादल कपिश्रेष्ठ हनुमान जी द्वारा खींचे जाकर अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे ॥ १७९ ॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ।
प्रावृषीन्दुरिवाभाति निष्पतन्प्रविशंस्तदा] ॥ १८० ॥

प्रदृश्यमानः सर्वत्र हनुमान्मारुतात्मजः ।
भेजेऽम्बरं निरालम्बं लम्बपक्ष इवाद्रिराट् ॥ १८१ ॥

हनुमान जी कभी तो मेघों के पीछे छिप जाते और कभी बाहिर निकल आते थे। उनके बारंबार मेघों में छिपने और निकलने से वे वर्षा कालीन चन्द्रमा की तरह सर्वत्र सब को देख पड़ते थे। हनुमान जी पंख लटकाये पर्वतश्रेष्ठ की तरह निराधार मार्ग में देख पड़ते थे ॥ १८० ॥ १८१ ॥

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा सिंहिका नाम राक्षसी ।
मनसा चिन्तयामास प्रवृद्धा कामरूपिणी ॥ १८२ ॥

इनको आकाश-मार्ग से जाते देख सिंहिका नाम राक्षसी, जो समुद्र में रहती थी और जो बहुत बूढ़ी हो चुकी थी तथा जो इच्छानुसार तरह तरह के रूप धारण कर सकती थी अपने मन में विचारने लगी कि, ॥ १८२ ॥

अद्य दीर्घस्य कालस्य भविष्याम्यहमाशिता ।
इदं हि मे महत्सत्त्वं चिरस्य वशमागतम् ॥ १८३ ॥

आहा आज मुझे बहुत दिनों बाद भोजन मिलेगा । क्योंकि आज यह विशालकाय जीव बहुत दिनों बाद मेरे हाथ लगा है ॥ १८३ ॥

इति संचिन्त्य मनसा छायामस्य समाक्षिपत् ।
छायायां संगृहीतायां* चिन्तयामास वानरः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार विचार, सिंहिका ने हनुमान जी की परछाँई पकड़ी । छाँई पकड़ जाने पर हनुमान जी विचारने लगे ॥ १८४ ॥

समाक्षिप्तोस्मि सहसा पङ्गूकृतपराक्रमः ।
प्रतिलोमेन वातेन महानौरिव सागरे ॥ १८५ ॥

अचानक पकड़ जाने से मेरा पराक्रम शिथिल हो गया । इस समय मेरी दशा तो समुद्र में पड़ी और प्रतिकूल वायु से रुकी हुई बड़ी नाव की तरह हो रही है ॥ १८५ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव वीक्षमाणः समन्ततः† ।
ददर्श सा महासत्त्वमुत्थितं लवणाम्भसि ॥ १८६ ॥

इस प्रकार सोच, हनुमान जी अगल बगल, ऊपर नीचे देखने लगे । तब उन्होंने देखा कि, खारी समुद्र में कोई एक बड़ा भारी जन्तु उतरा रहा है ॥ १८६ ॥

---

* पाठान्तरे—" गृह्यमाणायां । " † पाठान्तरे—" ततः कपिः । "

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास मारुतिर्विकृताननाम् ।
कपिराज्ञा यदाख्यातं सत्त्वमद्भुतदर्शनम् ॥ १८७ ॥
छायाग्राहि महावीर्यं तदिदं नात्र संशयः ।
स तां बुद्ध्वाऽर्थतत्त्वेन सिंहिकां मतिमान्कपिः ॥ १८८ ॥
व्यवर्धत महाकायः प्रावृषीव बलाहकः ।
तस्य सा कायमुद्वीक्ष्य वर्धमानं महाकपेः ॥ १८९ ॥

उस विकराल मुख वाले जन्तु को देख जब हनुमानजी ने अपने मन में विचार किया, तब इन्हें कपिराज सुग्रीव की बात याद पड़ी और उन्होंने निश्चय किया कि, अद्भुत सूरत वाला और छाया पकड़ने वाला महाबली जीव निस्सन्देह यही है। इस प्रकार उसके कर्म को देख, बुद्धिमान् हनुमान जी उस सिंहिका को पहचान कर वर्षाकाल के बादल की तरह बढ़े। जब सिंहिका ने हनुमान के शरीर को बढ़ता हुआ देखा ॥ १८७ ॥ १८८ ॥ १८९ ॥

वक्त्रं प्रसारयामास पातालतलसन्निभम् ।
घनराजीव गर्जन्ती वानरं समभिद्रवत् ॥ १९० ॥

तब उसने पाताल की तरह अपना मुख फैलाया और वह बादल की तरह गर्जती हुई हनुमान जी की ओर दौड़ी ॥ १९० ॥

स ददर्श ततस्तस्या विवृतं सुमहन्मुखम् ।
[1]कायमात्रं च मेधावी मर्माणि च महाकपिः ॥ १९१ ॥

तब हनुमान जी ने उसके भयङ्कर और विशाल मुख को और उसके शरीर की लंबाई चौड़ाई तथा शरीर के मर्मस्थलों को भली-भाँति देखा भाला ॥ १९१ ॥

---

१ कायमात्रं—देहप्रमाणं । (गो०)

स तस्या विवृते वक्त्रे वज्रसंहननः कपिः।
संक्षिप्य मुहुरात्मानं निष्पपात महाबलः॥ १९२॥

महाबली और वज्र के समान दृढ़ शरीर वाले हनुमान जी ने, अपना शरीर अत्यन्त क्षीण कर लिया और वे उसके बड़े मुख में घुस गये॥ १९२॥

आस्ये तस्या निमज्जन्तं ददृशुः सिद्धचारणाः।
ग्रस्यमानं यथा चन्द्रं पूर्णे पर्वणि राहुणा॥ १९३॥

उस समय सिद्धों और चारणों ने हनुमान जी को सिंहिका के मुख में गिरते हुए देखा। जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा, राहु से ग्रसा जाता है, उसी प्रकार हनुमान जी भी सिंहिका द्वारा ग्रसे गये॥ १९३॥

ततस्तस्या नखैस्तीक्ष्णैर्मर्माण्युत्कृत्य वानरः।
उत्पपाताथ वेगेन [1]मनःसम्पातविक्रमः॥ १९४॥

हनुमान जी ने सिंहिका के मुख में जा, अपने पैने नखों से उसके मर्मस्थल चीर फाड़ डाले और मन के समान शीघ्र वेग से वे वहाँ से निकल कर, फिर ऊपर चले गये॥ १९४॥

तां तु [2]दृष्ट्वा च धृत्वा च दाक्षिण्येन निपात्य हि।
स कपिप्रवरो वेगाद्ववृधे पुनरात्मवान्॥ १९५॥

इस प्रकार से हनुमान जी ने उसे दूर ही से देख कर, धैर्य और चतुराई से मार गिराया। तदनन्तर उन्होंने पुनः अपना शरीर पूर्ववत् बड़ा कर लिया॥ १९५॥

---

१ मनःसम्पातविक्रमः—मनोवेगतुल्यगतिः। (गो०) २ दृष्ट्वा—देव दर्शनेन। (गो०)

हृतहृत्सा हनुमता पपात [1]विधुराम्भसि ।
तां हतां वानरेणाशु पतितां वीक्ष्य सिंहिकाम् ॥१९६॥

वह राक्षसी हृदय के फट जाने से आर्त्त हो, समुद्र के जल में डूब गयी। हनुमान जी द्वारा वार को बात में मार कर गिरायी गयी सिंहिका को देख ॥ १९६ ॥

भूतान्याकाशचारीणि तमूचुः प्लवगर्षभम् ।
भीममद्य कृतं कर्म महत्सत्त्वं त्वया हतम् ॥ १९७ ॥

आकाशचारी प्राणियों ने हनुमान जी से कहा। तुमने जो इस बड़े जन्तु को मारा सो आज तुमने बड़ा भयङ्कर काम कर डाला ॥ १९७ ॥

साधयार्थमभिप्रेतमरिष्टं गच्छ मारुते ।
यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव ॥ १९८ ॥
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति ।
स तैः सम्भावितः पूज्यैः प्रतिपन्नप्रयोजनः ॥ १९९ ॥

अब तुम निर्विघ्न हो अपना अपना कार्य सिद्ध करो। हे वानरेन्द्र ! तुम्हारी तरह जिसमें, धीरता, सूक्ष्मदृष्टि, बुद्धि और चतुराई ये चार गुण होते हैं, वह कभी किसी काम के करने में नहीं घबड़ाता। ये चारों गुण तुममें मौजूद हैं। पूज्य हनुमान जी उन प्राणियों से पूजित और अपने कार्य की सिद्धि के विषय में निश्चित से हो ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

जगामाकाशमाविश्य पन्नगाशनवत्कपिः ।
प्राप्तभूयिष्ठपारस्तु सर्वतः प्रतिलोकयन् ॥ २०० ॥

---

१ विधुरा—आर्ता। (गो०)

गरुड़ की तरह बड़े वेग से आकाश में उड़ने लगे और समुद्र के दूसरे तट के निकट पहुँच चारों ओर देखने लगे ॥ २०० ॥

योजनानां शतस्यान्ते वनराजिं ददर्श सः ।
ददर्श च पतन्नेव विविधद्रुमभूषितम् ॥ २०१ ॥

तब उन्हें वहाँ से सौ योजन के फासले पर बड़ा भारी एक जंगल देख पड़ा । जाते जाते उन्होंने विविध वृक्षों से भूषित ॥ २०१ ॥

द्वीपं शाखामृगश्रेष्ठो मलयोपवनानि च ।
सागरं सागरानूपं सागरानूपजान्द्रुमान् ॥ २०२ ॥

द्वीप (टापू), और मलयागिरि के उपवनों को देखा । उन्होंने सागर और सागर का तट और सागरतट पर लगे हुए पेड़ों को ॥ २०२ ॥

सागरस्य च पत्नीनां मुखान्यपि विलोकयन् ।
स महामेघसङ्काशं समीक्ष्यात्मानमात्मवान् ॥ २०३ ॥
निरुन्धन्तमिवाकाशं चकार मतिमान्मतिम् ।
कायवृद्धिं प्रवेगं च मम दृष्ट्वैव राक्षसाः ॥ २०४ ॥

तथा सागर की पत्नी अर्थात् नदियों को और नदियों के और समुद्र के संगमस्थानों को (भी) देखा । बुद्धिमान् हनुमान जी ने महामेघ के समान अपने शरीर को जो आकाश को ढके हुए था, देख कर अपने मन में विचारा कि, मेरा यह बड़ा शरीर और मेरा वेग देख कर राक्षस लोग ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

मयि कौतूहलं कुर्युरिति मेने महाकपिः ।
ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसन्निभम् ॥ २०५ ॥

पुनः [1]प्रकृतिमापेदे वीतमोह [2]इवात्मवान् ।
तद्रूपमतिसंक्षिप्य[3] हनूमान्प्रकृतौ स्थितः ।
त्रीन्क्रमानिव विक्रम्य बलिवीर्यहरो हरिः ॥ २०६ ॥

मुझे एक खेल की वस्तु समझेंगे । यह विचार उन्होंने अपने पर्वताकार शरीर को अति छोटा कर लिया। उन्होंने काम-मोहादिविहीन जीवन्मुक्त योगी की तरह पुनः अपना लघुरूप जो सदा बना रहता था, वैसे ही धारण कर लिया ; जैसे भगवान् वामन ने बलि को छलने के समय अपने शरीर को बढ़ा कर, पुनः छोटा कर लिया था ॥ २०५ ॥ २०६ ॥

स चारुनानाविधरूपधारी
परं समासाद्य समुद्रतीरम् ।
परैरशक्यः प्रतिपन्नरूपः
समीक्षितात्मा समवेक्षितार्थः ॥ २०७ ॥

विविध मनोहर रूप धारण करने वाले हनुमान जी ने दूसरे द्वारा न पार जाने योग्य समुद्र के पार पहुँच कर, और आगे के कर्त्तव्य का भली भाँति विचार कर, अपना कार्य सिद्ध करने के लिये अत्यन्त छोटा रूप धारण किया ॥ २०७ ॥

ततः स लम्बस्य गिरेः समृद्धे
विचित्रकूटे निपपात कूटे ।
सकेतकोद्दालकनारिकेले
महाद्रिकूटप्रतिमो महात्मा ॥ २०८ ॥

---

१ प्रकृतिं—नित्यानन्दस्वभावमिव । (शि०) २ आत्मवान्—योगीशरीरं (शि०) ३ संक्षिप्य—तिरस्कृत्य । (शि०)

तदनन्तर समुद्रतट से हनुमान जी लम्ब नामक पर्वत के ऊपर गये। उस लम्बपर्वत पर केतकी, उद्दालक, नारियल आदि के अनेक फले फूले वृक्ष लगे हुए थे। इस पर्वत के शिखर भी बड़े सुन्दर थे। उन्हीं सुन्दर शिखरों में से एक शिखर पर हनुमान जी जा कर ठहरे ॥ २०८ ॥

ततस्तु सम्प्राप्य समुद्रतीरं
समीक्ष्य लङ्कां गिरिराजमूर्ध्नि ।
कपिस्तु तस्मिन्निपपात पर्वते
विधूय रूपं व्यथयन्मृगद्विजान् ॥ २०९ ॥

हनुमान जी, समुद्र तीरवर्ती त्रिकूटपर्वत के शिखर पर बसी हुई लङ्का को देख और अपने पूर्वरूप को त्याग तथा वहाँ के पशुपक्षियों को डराते हुए, लम्ब गिरि नामक पर्वत पर उतरे ॥२०९॥

स सागरं दानवपन्नगायुतं
बलेन विक्रम्य महोर्मिमालिनम् ।
निपत्य तीरे च महोदधेस्तदा
ददर्श लङ्काममरावतीमिव ॥ २१० ॥

॥ इति प्रथमः सर्गः ॥

दानवों और सर्पों से व्याप्त और महातरङ्गों से युक्त महासागर को अपने बल पराक्रम से लांघ कर और उसके तट पर पहुँच कर, अमरावती के समान लङ्कापुरी को हनुमान जी ने देखा ॥ २१० ॥

सुन्दरकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्वितीयः सर्गः

—※—

स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः ।
त्रिकूट शिखरेलङ्कां स्थितां स्वस्थो ददर्श ह ॥ १ ॥

अपने बल पराक्रम से महाबली हनुमान जी ने अपार समुद्र को लांघ कर और सावधान होकर, त्रिकूटपर्वत पर बसी हुई लङ्कापुरी को देखा ॥ १ ॥

ततः पादपमुक्तेन पुष्पवर्षेण वीर्यवान् ।
अभिवृष्टः स्थितस्तत्र बभौ पुष्पमयो यथा ॥ २ ॥

उस पर्वत पर जो फूले हुए वृक्ष थे, वे पवन के वेग से हिलने लगे । उनके हिलने से फूल टूट टूट कर गिरने लगे, उन वृक्षों की पुष्प वर्षा से वीर्यवान हनुमान जी मानों पुष्पमय हो गये ॥ २ ॥

योजनानां शतं श्रीमांस्तीर्त्वाप्यमितविक्रमः ।
अनिःश्वसन्कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति ॥ ३ ॥

शोभावान् एवं अमित विक्रमशाली हनुमान जी इतने चौड़े अर्थात् १०० योजन के समुद्र को फांद आये, किन्तु न तो उन्होंने बीच में कहीं दम ली और न उनके मन में ग्लानि ही उपजी ॥ ३ ॥

शतान्यहं योजनानां क्रमेयं सुबहून्यपि ।
किं पुनः सागरस्यान्तं संख्यातं शतयोजनम् ॥ ४ ॥

हनुमान जी मन ही मन कहने लगे कि, इस शत योजन मर्यादा वाले समुद्र की तो बात ही क्या है; मैं तो बहुत से और सैकड़ों योजन मर्यादा वाले समुद्रों को फांद सकता हूँ ॥ ४ ॥

स तु वीर्यवतां श्रेष्ठः प्लवतामपि चोत्तमः ।
जगाम वेगवाँल्लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार मन ही मन सोचते विचारते श्रेष्ठ वीर्यवान्, कपियों में मुख्य, महावेगवान् हनुमान जी समुद्र को फाँद कर लङ्का में गये ॥ ५ ॥

शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्ति वनानि च ।
*पुष्पवन्ति च मध्येन जगाम नगवन्ति च ॥ ६ ॥
शैलांश्च †तरुभिश्छन्नान्वनराजीश्च पुष्पिताः ।
अभिचक्राम तेजस्वी हनुमान्प्लवगर्षभः ॥ ७ ॥

वानरोत्तम तेजस्वी हनुमान जी, रास्ते में हरी हरी घासों और सुगन्ध युक्त मधु से भरे और सुन्दर वृक्षों से शोभित वनों और वृक्षों से आच्छादित पर्वतों और पुष्पित वृक्षों से पूर्ण वनों में हो कर जा रहे थे ॥ ६ ॥ ७ ॥

स तस्मिन्नचले तिष्ठन्वनान्युपवनानि च ।
स नगाग्रे च तां लङ्कां ददर्श पवनात्मजः ॥ ८ ॥

जब पवननन्दन हनुमान जी ने उस पहाड़ पर खड़े हो कर देखा, तब उन्हें वन उपवन तथा पर्वतशिखर पर बसी हुई लङ्का देख पड़ी ॥ ८ ॥

सरलान्कर्णिकारांश्च खर्जूरांश्च सुपुष्पितान् ।
प्रियालान्मुचुलिन्दांश्च कुटजान्केतकानपि ॥ ९ ॥

वनों में उन्हें देवदारु, कर्णिकार, पुष्पित खजूर, चिरौंजी, खिन्नी, महुआ, केतकी, ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—" गण्डवन्ति । " † पाठान्तरे—" तरुसच्छन्नान् । "

प्रियङ्गून्गन्धपूर्णांश्च नीपान्सप्तच्छदांस्तथा ।
असनान्कोविदारांश्च करवीरांश्च पुष्पितान् ॥ १० ॥

सुगन्धित प्रियंगु, कंदव, शतावरी, असन, कोविदार और फूले हुए करवीर के वृक्ष देख पड़े ॥ १० ॥

पुष्पभारनिवद्धांश्च तथा मुकुलितानपि ।
पादपान्विहगाकीर्णान्पवनाधूतमस्तकान् ॥ ११ ॥

इन वृक्षों में से बहुत से तो फूलों से लदे थे और बहुतों में कलियां लगी हुई थीं। उन पर झुंड के झुंड पक्षी बैठे हुए थे। उन वृक्षों को फुनगियां पवन के चलने से हिल रही थीं ॥ ११ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलायुताः ।
आक्रीडान्विविधान्रम्यान्विविधांश्च जलाशयान् ॥१२॥

वहां वावलियां भी थीं, जिनमें हंस और जलमुर्ग खेल रहे थे और कमल तथा कुई के फूल फूल रहे थे। वहां पर राजाओं के विहार करने की रमणीक तरह तरह की वाटिकाएँ थीं, जिनके भीतर विविध आकार प्रकार के जल के कुण्ड बने हुए थे ॥ १२ ॥

सन्ततान्विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलपुष्पितैः ।
उद्यानानि च रम्याणि ददर्श कपिकुञ्जरः ॥ १३ ॥

सब ऋतुओं में फलने फूलने वाले अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त वहां रमणीक वाटिकाएँ भी हनुमान जी ने देखीं ॥ १३ ॥

समासाद्य च लक्ष्मीवाँल्लङ्कां रावणपालिताम् ।
परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलङ्कृताम् ॥ १४ ॥

शोभायुक्त हनुमान जी अब रावणपालित लङ्का के समीप पहुँचे। लङ्कापुरी फूले कमलों तथा कुई से युक्त परिखा से घिरी हुई थी॥ १४॥

सीतापहरणार्थेन रावणेन सुरक्षिताम्।
समन्ताद्विचरद्भिश्च राक्षसैः *कामरूपिभिः॥ १५॥

जब से रावण सीता को हर कर लाया था, तब से लङ्का की विशेष रूप से निगरानी करने के लिये कामरूपी राक्षस लङ्का के चारों ओर घूम घूम कर पहरा दिया करते थे। (हनुमान जी ने इन पहरुए राक्षसों को भी देखा)॥ १५॥

काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्।
गृहैश्च गिरिसङ्काशैः शारदाम्बुदसन्निभैः॥ १६॥

लङ्कापुरी के चारो ओर बड़ा सुन्दर सोने का परकोटा खिंचा हुआ था। उसके भीतर शरत्कालीन मेघों के समान सफेद और पहाड़ों की तरह ऊँचे ऊँचे अनेक मकान बने हुए थे॥ १६॥

पाण्डुराभिः [1]प्रतोलीभिः [†]श्लिष्टाभिरभिसंवृताम्।
अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजमालिनीम्॥ १७॥

लङ्का में सफेद गच की हुई पक्की और साफ़ सुथरी गलियाँ थीं। सैकड़ों अटारियोंदार मकान थे और जगह जगह ध्वजा पताकाएँ फहरा रही थीं॥ १७॥

तोरणैः [‡]काञ्चनैर्दीप्तां [2]लतापङ्क्तिविचित्रितैः।
ददर्श हनुमाँल्लङ्कां दिवि देवपुरीमिव॥ १८॥

---

१ प्रतोलीभिः—वीथीभिः। (गो०) २ लतापङ्क्तयः—लताकार रेखाः। (गो०) * पाठान्तरे—"शस्त्रधारिभिः।" † पाठान्तरे—"वप्राभिः।" ‡ पाठान्तरे—"काञ्चनैर्दिव्यैः।"

वहाँ चमचमाती हुई सोने की लताकार रेखा जैसी रंग बिरंगी बंदनवारें देख पड़ती थीं। हनुमान जी ने देवताओं की अमरावती-पुरी की तरह सुन्दर सजी हुई लङ्का की शोभा देखी ॥ १८ ॥

गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः *शुभाम् ।
†स ददर्श कपिः श्रीमान्पुरमाकाशगं यथा ॥ १९ ॥

शोभायुक्त हनुमान जी ने त्रिकूटाचल पर्वत पर बसी हुई असंख्य सफेद रंग के सुन्दर मनोहर भवनों से युक्त आकाश स्पर्शी लङ्कापुरी को देखा (अथवा लङ्का ऐसी जान पड़ती थी मानों अन्तरिक्ष में बसी हो) ॥ १९ ॥

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान्पुरीम् ॥ २० ॥

लङ्कापुरी का शासन रावण के हाथ में था और विश्वकर्मा ने इस पुरी को बनाया था। हनुमान जी ने देखा कि, उसके भीतर जो ऊँचे ऊँचे भवन खड़े थे, उनको देखने से ऐसा जान पड़ता, मानों वह पुरी आकाश में उड़ी जाती हो ॥ २० ॥

वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुनवाम्बराम् ।
शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकवतंसकाम् ॥ २१ ॥

लङ्का की परकोटे की दीवालें तो लङ्का रूपिणी स्त्री की मानों जाँघें हैं, उसके चारों ओर जो वन और समुद्र था, वह मानों उसके पहिनने के वस्त्र थे। शतघ्नी (तोपें) और त्रिशूल मानों उसके मस्तक के केश थे और उसकी जो अटारियाँ थीं, वे मानों उसके कानों के कर्णफूल थे ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—" शुभैः । " † पाठान्तरे—" ददर्श स कपिश्रेष्ठः पुरमाकाशगं यथा । "

मनसेव कृतां लङ्कां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
द्वारमुत्तरमासाद्य चिन्तयामास वानरः ॥ २२ ॥

इस प्रकार की लङ्कापुरी को विश्वकर्मा ने बड़े मन से अर्थात् जी लगा कर बनाया था। जब हनुमान जी लङ्का के उत्तर दिशा वाले फाटक पर पहुँचे, तब वे मन ही मन कहने लगे ॥ २२ ॥

कैलासशिखरप्रख्यैरालिखन्तीमिवाम्बरम् ।
*ध्रियमाणमिवाकाशमुच्छ्रितैर्भवनोत्तमैः ॥ २३ ॥

लङ्का का उत्तर का फाटक भी कैलास के सदृश आकाश-स्पर्शी था। ऐसा जान पड़ता था, मानों उसके ऊँचे ऊँचे मकान आकाश को सहारा देने वाले खंभे हैं। अथवा वे ऊँचे मकान आकाश को धारण किये हुए हैं ॥ २३ ॥

सम्पूर्णां राक्षसैर्घोरैर्नागैर्भोगवतीमिव ॥ २४ ॥

हनुमान जी कहने लगे कि, जिस प्रकार भोगवतीपुरी नागों से भरी है, उसी प्रकार यह लङ्का भी राक्षसों से भरी हुई है ॥२४॥

तस्याश्च महतीं गुप्तिं सागरं च समीक्ष्य सः ।
रावणं च रिपुं घोरं चिन्तयामास वानरः ॥ २५ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, लङ्का की भली भाँति रक्षा तो समुद्र ही कर रहा है। साथ ही हनुमान जी ने यह भी सोचा कि, रावण भी एक महाभयङ्कर शत्रु है ॥ २५ ॥

आगत्यापीह हरयो भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
न हि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं †सुरासुरैः ॥ २६ ॥

---

* पाठान्तरे—" प्रख्यामालिखन्ति । " † पाठान्तरे—" डीयमानाम् । "
* पाठान्तरे—" सुरैरपि । "

यदि वानरगण यहाँ किसी प्रकार आभी पहुँचे, तो भी उनका यहाँ आना व्यर्थ होगा। क्योंकि इस लङ्का को जीतने की शक्ति तो देवताओं और दैत्यों में भी नहीं है ॥ २६ ॥

इमां तु विषमां दुर्गां लङ्कां रावणपालिताम् ।
प्राप्यापि स महाबाहुः किं करिष्यति राघवः ॥२७॥

रावणपालित इस विकट दुर्गम लङ्का में श्रीरामचन्द्र जी यदि आ भी गये तो, वे कर ही क्या सकेंगे ॥ २७ ॥

अवकाशो न सान्त्वस्य राक्षसेष्वभिगम्यते ।
न दानस्य न भेदस्य नैव युद्धस्य दृश्यते ॥ २८ ॥

मेरी समझ में तो राक्षस लोग, खुशामद से काबू में आने वाले नहीं। इन लोगों को लालच दिखला कर या इनमें फूट डाल कर अथवा इनसे युद्ध करके भी, इनसे पार नहीं पाया जा सकता ॥२८॥

चतुर्णामेव हि गतिर्वानराणां महात्मनाम् ।
वालिपुत्रस्य नीलस्य मम राज्ञश्च धीमतः ॥ २९ ॥

हमारी सेना में चार ही ऐसे जन हैं जो यहाँ आ सकते हैं। एक तो अंगद, दूसरे नील, तीसरा मैं और चौथे बुद्धिमान वानर-राज सुग्रीव ॥ २९ ॥

यावज्जानामि वैदेहीं यदि जीवति वा न वा ।
तत्रैव चिन्तयिष्यामि दृष्ट्वा तां जनकात्मजाम् ॥ ३० ॥

अस्तु, अब सब से प्रथम तो यह जान लेना है कि, जानकी जी जीवित भी हैं कि नहीं। मैं प्रथम जानकी जी को देख लेने पर पीछे और बातों की चिन्ता करूँगा ॥ ३० ॥

ततः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ।
गिरिशृङ्गे स्थितस्तास्मिन्रामस्याभ्युदये रतः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के हित में रत, कपिश्रेष्ठ हनुमान जी पर्वत के शिखर पर बैठे हुए मुहूर्त भर तक मन ही मन सोचते रहे ॥ ३१ ॥

अनेन रूपेण मया न शक्या रक्षसां पुरी ।
प्रवेष्टुं राक्षसैर्गुप्ता क्रूरैर्बलसमन्वितैः ॥ ३२ ॥

उन्होंने सोचा कि, बलवान तथा क्रूर स्वभाव राक्षसों द्वारा रक्षित लङ्का में मैं अपने इस रूप से प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

उग्रौजसो महावीर्या बलवन्तश्च राक्षसाः ।
वञ्चनीया मया सर्वे जानकीं परिमार्गता ॥ ३३ ॥

तब मुझे, जानकी जी का पता लगाने के लिये, इन सब महाबली और महापराक्रमी राक्षसों को धोखा देना उचित है ॥३३॥

लक्ष्यालक्ष्येण रूपेण रात्रौ लङ्कापुरी मया ।
प्रवेष्टुं प्राप्तकालं मे कृत्यं साधयितुं महत् ॥ ३४ ॥

अतः मुझे रात के समय ऐसे रूप से जिसे कोई देखे और कोई न देखे, लङ्का में घुसना उचित है। क्योंकि इतना बड़ा कार्य बिना ऐसा किये पूरा नहीं होगा ॥ ३४ ॥

तां पुरीं तादृशीं दृष्ट्वा दुराधर्षां सुरासुरैः ।
हनुमांश्चिन्तयामास विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ॥ ३५ ॥
केनोपायेन पश्येयं मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
अदृष्टो राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ॥ ३६ ॥

इस प्रकार हनुमान जी सुर और असुरों से दुराधर्ष उस लङ्का-पुरी को बराबर देखने लगे और बार बार लंबी साँसे ले यह सोचते थे कि, किस उपाय से जनकनन्दिनी जानकी को तो मैं देख लूँ और उस दुरात्मा राक्षसराज रावण की दृष्टि से बचा रहूँ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

न विनश्येत्कथं कार्यं रामस्य विदितात्मनः ।
*एकामेकस्तु पश्येयं रहिते जनकात्मजाम् ॥ ३७ ॥

तीनों लोकों में प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र जी का कार्य किस प्रकार करूँ जिससे कार्य बिगड़ने न पावे । मैं तो अकेला एकान्त में अकेली जानकी को देखना चाहता हूँ ॥ ३७ ॥

भूताश्चार्था विपद्यन्ते देशकालविरोधिताः ।
विक्लवं दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा ॥ ३८ ॥

देश और काल के प्रतिकूल कार्य करने वाला और कादर दूत, बने बनाये कार्य को उसी प्रकार नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को ॥ ३८ ॥

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चिताऽपि न शोभते ।
घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ॥ ३९ ॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में निश्चित कर लेने पर भी, ऐसे दूतों के कारण कार्य की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वे अपनी बुद्धि-मानी के अभिमान में कार्यों को न बना कर, उन्हें बिगाड़ डालते हैं ॥ ३९ ॥

न विनश्येत्कथं कार्यं वैक्लव्यं न कथं भवेत् ।
लङ्घनं च समुद्रस्य †कथं नु न भवेद्वृथा ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"एकामेकश्च ।" † पाठान्तरे—"कथं नु न वृथा भवेत् ।"

अतः अब किस उपाय से मैं काम लूँ जिससे न तो कार्य ही बिगड़े, और न मुझमें कादरता आवे। प्रत्युत मेरा समुद्र फाँदना वृथा भी न हो ॥ ४० ॥

मयि दृष्टे तु रक्षोभी रामस्य विदितात्मनः* ।
भवेदव्यर्थमिदं कार्यं रावणानर्थमिच्छतः ॥ ४१ ॥

त्रिभुवनविख्यात श्रीरामचन्द्र जी रावण को दण्ड देना चाहते हैं, अतः यदि राक्षसों ने मुझे देख लिया तो श्रीरामचन्द्र जी का यह कार्य बिगड़ जायगा ॥ ४१ ॥

न हि शक्यं क्वचित्स्थातुमविज्ञातेन राक्षसैः ।
अपि राक्षसरूपेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ४२ ॥

राक्षसों से छिप कर यहाँ कोई भी नहीं रह सकता। यहाँ तक कि राक्षसों का अथवा अन्य किसी का रूप धारण करने से भी राक्षसों से छुटकारा नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

वायुरप्यत्र न ज्ञातश्चरेदिति मतिर्मम ।
न ह्यस्त्यविदितं किञ्चिद्राक्षसानां बलीयसाम् ॥ ४३ ॥

मैं तो समझता हूँ कि, वायु भी यहाँ पर गुप्त रूप से नहीं बह सकता। क्योंकि बलवान राक्षसों से कोई बात छिप नहीं सकती ॥ ४३ ॥

इहाहं यदि तिष्ठामि स्वेन रूपेण संवृतः ।
विनाशमुपयास्यामि भर्तुरर्थश्च †हास्यते ॥ ४४ ॥

यदि मैं अपने असली रूप में यहाँ ठहरा रहूँ तो केवल स्वामी कार्य ही नष्ट न होगा, बल्कि मैं भी मारा जाऊँगा ॥ ४४ ॥

* विदितमा का अर्थ किसी किसी ने आत्मदर्शी युक्तात्मा योगी भी किया है। † पाठान्तरे—"हीयते।"

तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः ।
*लङ्कामभिगमिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये ॥ ४५ ॥

अतः मैं अपने शरीर को बहुत ही छोटा बना कर, श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिये रात के समय लङ्का में जाऊँगा ॥ ४५ ॥

रावणस्य पुरीं रात्रौ प्रविश्य सुदुरासदाम् ।
विचिन्वन्भवनं सर्वं द्रक्ष्यामि जनकात्मजाम् ॥ ४६ ॥

इस अत्यन्त दुर्धर्ष रावण की राजधानी लङ्कापुरी में रात के समय घुस कर प्रत्येक घर में जा कर, सीता जी को खोजूँगा ॥ ४६ ॥

इति निश्चित्य हनुमान्सूर्यस्यास्तमयं कपिः ।
आचकाङ्क्षे तदा वीरो वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर जानकी जी को देखने के लिये उत्सुक वीर हनुमान जी, सूर्यास्त की प्रतीक्षा करने लगे ॥ ४७ ॥

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः ।
वृषदंशकमात्रः सन्बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४८ ॥

जब सूर्य अस्ताचलगामी हुए, तब हनुमान जी ने अपने शरीर को बिल्ली के समान छोटा और देखने में विस्मयोत्पादक बनाया ॥ ४८ ॥

[1]प्रदोषकाले हनुमांस्तूर्णमुत्प्लुत्य वीर्यवान् ।
प्रविवेश पुरीं रम्यां सुविभक्तमहापथाम् ॥ ४९ ॥

---

1 वृषदंशकमात्रः—बिडाल प्रमाणः । (गो०) * पाठान्तरे—" लङ्कामधिपतिष्यामि । " * पाठान्तरे—" सञ्चिन्त्य ।"

वीर्यवान हनुमान जी तुरन्त परकोटा फाँद कर, उस रमणीय और सुन्दर राजमार्गों से युक्त, लङ्कापुरी में घुस गये ॥ ४६ ॥

प्रासादमालावितता स्तम्भैः काञ्चनराजतैः ।
शातकुम्भमयैर्जालैर्गन्धर्वनगरोपमाम् ॥ ५० ॥

हनुमान जी ने लङ्का के भीतर जाकर देखा कि, बड़े बड़े भवनों की श्रेणियों से और अनेक सुवर्णमय खंभों से तथा सोने के झरोखों से लङ्कापुरी गन्धर्व नगरी की तरह सजी हुई है ॥ ५० ॥

सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम् ।
तलैः स्फटिकसङ्कीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः ॥ ५१ ॥

सत-अठ-खने-भवनों से और स्फटिक खचित तथा सुवर्ण भूषित अनेक स्थानों से वह राक्षसों की निवासस्थली लङ्कापुरी अत्यन्त शोभायुक्त देख पड़ती थी ॥ ५१ ॥

वैडूर्यमणिचित्रैश्च *मुक्ताजालविराजितैः ।
तलैः शुशुभिरे तानि भवनान्यत्र रक्षसाम् ॥ ५२ ॥

राक्षसों के घरों के फर्श वैडूर्य मणियों के जड़ाव और मोतियों की झालरों से शोभित थे ॥ ५२ ॥

काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम् ।
लङ्कामुद्द्योतयामासुः सर्वतः समलंकृताम् ॥ ५३ ॥

राक्षसों के घर के तोरणद्वार, जो सुवर्णनिर्मित और रंग बिरंगे बने हुए थे, चारों ओर से विभूषित हो लङ्का की शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ५३ ॥

---

* पाठान्तरे—" मुक्ताजालविभूषितैः । "

अचिन्त्यामद्भुताकारां दृष्ट्वा लङ्कां महाकपिः ।
आसीद्विषण्णो हृष्टश्च वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥ ५४ ॥

जानकी जी के दर्शन के लिये उत्सुक महाकपि हनुमान जी इस प्रकार की अचिन्तनीय और आश्चर्यजनक बनावट की लङ्कापुरी को देख, पहिले तो हर्षित हुए, फिर पीछे उदास हो गये ॥ ५४ ॥

स *पाण्डुरोन्नद्धविमानमालिनीं
महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम् ।
यशस्विनीं रावणबाहुपालितां
क्षपाचरैर्भीमबलैः समावृताम् ॥ ५५ ॥

हनुमान जी ने देखा कि, रावण द्वारा रक्षित, प्रसिद्ध लङ्का-नगरी, श्रेणीबद्ध सफेद अट्टालिकाओं से, महामूल्यवान् सुवर्णमय झरोखों और तोरणद्वारों से अलङ्कृत है और अत्यन्त बलिष्ट राक्षसों की सेना चारों ओर से उसकी रखवाली कर रही है ॥ ५५ ॥

चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्व-
स्तारागणैर्मध्यगतो विराजन् ।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोकम्-
उत्तिष्ठते नैकसहस्ररश्मिः ॥ ५६ ॥

उस समय मानों वायुपुत्र की सहायता करने के लिये अनेक किरणों वाला चन्द्रमा, ताराओं के साथ, चाँदनी छिटकाता हुआ, आकाश में आ विराजा ॥ ५६ ॥

---

* पाठान्तरे—"पाण्डुरोद्विद्ध ।"

शङ्खप्रभं क्षारमृणालवर्णम्-
उद्गच्छमानं व्यनभासमानम् ।
ददर्श चन्द्रं स *कपिप्रवीरः
पोप्लुयमानं सरसीव हंसम् ॥ ५७ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने देखा कि, सरोवर में जिस प्रकार हंस उछल कूद मचाते हैं, उसी प्रकार दूध अथवा मृणाल वर्ण, शङ्ख की तरह चन्द्रमा भी आकाश में उदय हो कर ऊपर को उठ रहा है ॥ ५७ ॥

सुन्दरकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

तृतीयः सर्गः

—※—

स लम्बशिखरे लम्बे लम्बतोयदसन्निभे ।
[1]सत्त्वमास्थाय मेधावी हनुमान्मारुतात्मजः ॥ १ ॥
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ।
रम्यकाननतोयाढ्यां पुरीं रावणपालिताम् ॥ २ ॥

बुद्धिमान् तथा महाबलवान् कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमान जी ने धैर्य धारण पूर्वक महामेघ की तरह लम्ब नामक पर्वत के उच्च शिखर

---

१ सत्त्वं—व्यवसायं । धैर्यमिति यावत् । (गो०) * पाठान्तरे—"हरिप्रवीरः ।"

पर स्थित, लङ्कापुरी में रात के समय प्रवेश किया। वह रावण की लङ्कापुरी उपवनों तथा स्वादिष्ट जल वाले कूप तड़ाग बावली से पूर्ण थी ॥ १ ॥ २ ॥

शारदाम्बुधरप्रख्यैर्भवनैरुपशोभिताम् ।
सागरोपमनिर्घोषां सागरानिलसेविताम् ॥ ३ ॥

वह शरत्कालीन बादलों की तरह सफेद भवनों से सुशोभित थी। उसमें सदा समुद्र का गर्जन सुन पड़ता था और वहाँ समुद्री पवन सदा बहा करता था ॥ ३ ॥

*सुपुष्टबलसंगुप्तां यथैव विटपावतीम् ।
चारुतोरणनिर्यूहां पाण्डुरद्वारतोरणाम् ॥ ४ ॥

विटपावती नगरी की तरह लङ्कापुरी की भी रखवाली के लिये परम हृष्ट पुष्ट राक्षसी सेना पुरी के चारों ओर नियत थी। उसके तोरणद्वारों पर मदमत्त हाथी झूमा करते थे। सफेद रंग के उसके तोरणद्वार थे ॥ ४ ॥

भुजगाचरितां गुप्तां शुभां भोगवतीमिव ।
तां सविद्युद्घनाकीर्णां ज्योतिर्मार्गनिषेविताम् ॥ ५ ॥

वह सब ओर से सर्पों द्वारा रक्षित सर्पों की भोगवतीपुरी की तरह सुरक्षित थी। वह दामिनी युक्त बादलों से घिरी और ताराओं से शोभित थी ॥ ५ ॥

†चण्डमारुतनिर्ह्रादां यथा चाप्यमरावतीम् ।
शातकुम्भेन महता प्राकारेणाभिसंवृताम् ॥ ६ ॥

---

* पाठान्तरे—"सुपुष्टबलसंघुष्टां।" † पाठान्तरे—"मन्दमारुतसञ्चारां यथेन्द्रस्यामरावतीम्।"

इन्द्र की अमरावती की तरह लङ्कापुरी भी प्रचण्ड वायु से नादित हुआ करती थी। उसके चारों ओर बड़ा ऊँचा और लंबा चौड़ा सोने की दीवारों का परकोटा खिंचा हुआ था॥ ६॥

किङ्किणीजालघोषाभिः पताकाभिरलंकृताम्।
आसाद्य सहसा हृष्टः प्राकारमभिपेदिवान्॥ ७॥

उसमें छोटी छोटी घंटियों के जाल जगह जगह बने हुए थे, जिनकी घंटियां सदा बजा करती थीं। जगह जगह पताकाएँ फहरा रही थीं। उस लङ्कापुरी के परकोटे की दीवाल पर हनुमान जी प्रसन्नता पूर्वक सहसा कूद कर चढ़ गये॥ ७॥

विस्मयाविष्टहृदयः पुरीमालोक्य सर्वतः।
जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यकृतवेदिकैः॥ ८॥

उस परकोटे पर से उन्होंने उस पुरी को चारों ओर से देखा और देख कर वे विस्मित हुए। क्योंकि उन्होंने देखा कि, उस पुरी के भवनों के सब दरवाज़े सोने के थे और पन्ने के चबूतरे बने हुए थे॥ ८॥

वज्रस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः।
तप्तहाटकनिर्यूहै राजतामलपाण्डुरैः॥ ९॥

उस पुरी के भवनों की दीवालें हीरा स्फटिक मोती तथा अन्य मणियों की बनी हुई थीं। उनका ऊपरी भाग सुवर्ण और चाँदी का बना हुआ था॥ ९॥

वैडूर्यतलसोपानैः स्फाटिकान्तरपांसुभिः।
चारुसञ्जवनोपेतैः खमिवोत्पतितैः शुभैः॥ १०॥

भवनों में जाने के लिए जो सीढ़ियां थीं, वे पन्नों की थीं और द्वारों के भीतर का समस्त फर्श भी पन्नों से जड़ कर बनाया गया था। उन द्वारों के ऊपर जो बैठके बने थे, वे बहुत ही मनोहर थे। वे इतने ऊँचे थे कि, जान पड़ता था कि, वे आकाश से बातें कर रहे हैं॥ १०॥

क्रौञ्चबर्हिणसंघुष्टै राजहंसनिषेवितैः।
तूर्याभरणनिर्घोषैः सर्वतः प्रतिनादिताम्॥ ११॥

भवनों के द्वारों पर क्रौंच, मोर आदि पक्षी सुहावनी बोलियां बोल रहे थे। राजहंस अलग ही वहाँ की शोभा बढ़ा रहे थे। सर्वत्र नगाड़ों और आभूषणों के शब्द सुन पड़ते थे॥ ११॥

वस्त्रोकसाराप्रतिमां *समीक्ष्य नगरीं ततः।
†खमिवोत्पतितां लङ्कां जहर्ष हनुमान्कपिः॥ १२॥

इस प्रकार समृद्धशालिनी और आकाशस्पर्शिनी अलकापुरी की तरह उस लङ्कापुरी को देख, हनुमान जी बहुत प्रसन्न हुए॥ १२॥

तां समीक्ष्य पुरीं‡ लङ्कां राक्षसाधिपतेः शुभाम्।
अनुत्तमामृद्धिमतीं◊ चिन्तयामास वीर्यवान्॥ १३॥

रावण की उस सुन्दर ऋद्धमती लङ्कापुरी को देख, बलवान हनुमान जी अपने मन में कहने लगे॥ १३॥

नेयमन्येन नगरी शक्या धर्षयितुं बलात्।
रक्षिता रावणबलैरुद्यतायुधधारिभिः॥ १४॥

---

* पाठान्तरे—"तां वीक्ष्य नगरीं ततः।" † पाठान्तरे—"खमिवोत्पतितुं कामां।" ‡ पाठान्तरे—"रम्यां।" ◊ पाठान्तरे—"युतां।"

दूसरे किसी की तो सामर्थ्य नहीं, जो इस लङ्का को जीत सके। क्योंकि रावण के सैनिक हाथों में आयुध ले इस नगरी की रक्षा करने में सदा तत्पर रहते हैं ॥ १४ ॥

कुमुदाङ्गदयोर्वापि सुषेणस्य महाकपेः ।
प्रसिद्धेयं भवेद्भूमिर्मैन्दद्विविदयोरपि ॥ १५ ॥
विवस्वतस्तनूजस्य हरेश्च कुशपर्वणः ।
ऋक्षस्य केतुमालस्य मम चैव गतिर्भवेत् ॥ १६ ॥

परन्तु कुमुद, अंगद, महाकपि सुषेण, मैन्द, द्विविद, सूर्यपुत्र सुग्रीव और कुश जैसे लोमधारी रीछों में श्रेष्ठ जाम्बवान और मैं—बस ये ही लोग यहाँ आ सकते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

समीक्ष्य च महाबाहू राघवस्य पराक्रमम् ।
लक्ष्मणस्य च विक्रान्तमभवत्प्रीतिमान्कपिः ॥ १७ ॥

इस प्रकार सोच विचार कर, जब हनुमान जी ने श्रीरामचन्द्र के पराक्रम और लक्ष्मण के विक्रम की ओर दृष्टि डाली, तब तो वे प्रसन्न हो गये ॥ १७ ॥

तां रत्नवसनोपेतां [1]गोष्ठागारावतंसकाम् ।
यन्त्रागारस्तनीमृद्धां प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १८ ॥

लङ्का, मणि रूपी वस्त्रों से और गोशाला अथवा हयशाला रूपी कर्णभूषणों से और आयुधों के गृह रूपी स्तनों से, अलंकृत स्त्री की तरह, जान पड़ती थी ॥ १८ ॥

तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महागृहैः ।
नगरीं राक्षसेन्द्रस्य ददर्श स महाकपिः ॥ १९ ॥

---

१ गोष्ठागार—गोष्ठं गोशाला । इदं वाजिशालादेरप्युपलक्षणं । (रा०)

अनेक प्रकार के रत्नों से प्रकाशित भवनों में जो दीपक जल रहे थे, उनसे वहाँ पर अंधकार नाम मात्र को भी नहीं था। ऐसी राक्षसराज रावण की लङ्कापुरी को, महाकपि हनुमान जी ने देखा ॥ १९ ॥

अथ सा हरिशार्दूलं प्रविशन्तं महाबलम् ।
नगरी [1]स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम् ॥ २० ॥

इतने में कपिश्रेष्ठ महाबली हनुमान जी को लङ्कापुरी में प्रवेश करते समय, उस पुरी की अधिष्ठात्री देवी ने देख लिया ॥ २० ॥

सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लङ्का वै कामरूपिणी* ।
स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना ॥ २१ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी को देख, वह महाविकराल मुखवाली एवं कामरूपिणी लङ्का की अधिष्ठात्री देवी स्वयं ही उठ धाई ॥ २१ ॥

†पुरस्तात्तस्य वीरस्य वायुसूनोरतिष्ठत ।
मुञ्चमाना महानादमब्रवीत्पवनात्मजम् ॥ २२ ॥

वह देवी, हनुमान जी की राह रोक उनके सामने जा खड़ी हुई और भयङ्कर नाद कर पवननन्दन से बोली ॥ २२ ॥

कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय ।
कथयस्वेह यत्तत्त्वं यावत्प्राणान्धरिष्यसि‡ ॥ २३ ॥

अरे वनवासी वंदर ! तू कौन है ? और यहाँ क्यों आया है यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हों तो ठीक ठीक बतला ॥ २३ ॥

---

१ स्वेन रूपेण—अधिदेवतारूपेण । (रा०) * पाठान्तरे—" रावण पालिता ।" † पाठान्तरे—" पुरस्तात्कपिवर्यस्य । " ‡ पाठान्तरे—" यावत्प्राणा धरन्तिते । "

*न शक्या खल्वियं लङ्का प्रवेष्टुं वानर त्वया ।
रक्षिता रावणबलैरभिगुप्ता समन्ततः ॥ २४ ॥

हे वानर ! निश्चय ही तुझमें यह सामर्थ्य नहीं कि, तू लङ्का में घुस सके । क्योंकि रावण की सेना इसकी चारों ओर से रखवाली किया करती है ॥ २४ ॥

अथ तामब्रवीद्वीरो हनुमानग्रतः स्थिताम् ।
कथयिष्यामि ते तत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २५ ॥

सामने खड़ी हुई उस लङ्का से वीर हनुमान जी ने कहा—तू मुझसे जो कुछ पूँछ रही है, सो मैं सब ठीक ठीक बतलाऊँगा ॥२५॥

का त्वं विरूपनयना पुरद्वारेऽवतिष्ठसि ।
किमर्थं चापि मां रुद्धा निर्भर्त्सयसि दारुणा ॥ २६ ॥

(परन्तु पहिले तू तो यह बतला कि) तू कौन है, जो इस नगरद्वार पर विकराल नेत्र किये खड़ी है और क्यों मेरा मार्ग रोक कर मुझे दपट रही है ॥ २६ ॥

हनुमद्वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी ।
उवाच वचनं क्रुद्धा परुषं पवनात्मजम् ॥ २७ ॥

हनुमान जी के ये वचन सुन, वह कामरूपिणी लङ्का की अधिष्ठात्री देवी, क्रुद्ध हो हनुमान जी से कठोर वचन बोली ॥ २७ ॥

अहं राक्षसराजस्य रावणस्य महात्मनः ।
आज्ञाप्रतीक्षा दुर्धर्षा रक्षामि नगरीमिमाम् ॥ २८ ॥

* पाठान्तरे—" न शक्या । "

मैं महाबलवान राक्षसराज रावण की आज्ञानुवर्तिनी दुर्धर्षा लङ्का नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ और इस पुरी की मैं रक्षा किया करती हूँ ॥ २८ ॥

न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरी त्वया ।
अद्य प्राणैः परित्यक्तः स्वप्स्यसे निहतो मया ॥ २९ ॥

मेरी अवहेला कर तू इस नगरी के भीतर नहीं घुस सकता। यदि मेरी अवहेला को तो याद रखना ,तू मुझसे मारा जाकर, अभी भूमि पर पड़ा हुआ देख पड़ेगा ॥ २९ ॥

अहं हि नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम ।
सर्वतः परिरक्षामि ह्येतत्ते कथितं मया ॥ ३० ॥

हे वानर ! मैं स्वयं लङ्का हूँ और मैं चारों ओर से इसकी रखवाली किया करती हूँ। इसीसे मैंने तुझको रोका है ॥ ३० ॥

लङ्कायाः वचनं श्रुत्वा हनूमान्मारुतात्मजः ।
यत्नवान्स हरिश्रेष्ठः स्थितः शैल इवापरः ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान और उपयोगी पवननन्दन हनुमान जी लङ्का की ये बातें सुन, उसे परास्त करने के लिये उसके सामने पर्वत की तरह अचल भाव से खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

स तां स्त्रीरूपविकृतां दृष्ट्वा वानरपुङ्गवः ।
आबभाषेऽथ मेधावी सत्त्ववान्प्लवगर्षभः ॥ ३२ ॥

वानरश्रेष्ठ, बुद्धिमान एवं बलवान् हनुमान जी उस विकटाकार-रूप-धारिणी लङ्का देवी से बोले ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यामि नगरीं लङ्कां साट्टप्राकारतोरणाम् ।
तदर्थमिह सम्प्राप्तः परं कौतूहलं हि मे ॥ ३३ ॥

वनान्युपवनानीह लङ्कायाः काननानि च ।
सर्वतो गृहमुख्यानि द्रष्टुमागमनं हि मे ॥ ३४ ॥

हे लङ्के ! मैं इस नगरी की अटारियां, प्राकार, तोरण, वन, उपवन, तथा प्रधान प्रधान भवनों को देखना चाहता हूँ और इसीलिये मैं यहां आया भी हूँ। मुझे लङ्कापुरी को देखने का बड़ा कुतूहल है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी ।
भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे परुषाक्षरम् ॥ ३५ ॥

उस कामरूपिणी लङ्कादेवी ने हनुमान जी के ये वचन सुन, फिर हनुमान जी से कठोर वचन कहे ॥ ३५ ॥

मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिताम् ।
न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम ॥ ३६ ॥

हे दुर्बुद्धे ! हे वानराधम ! इस राक्षसेश्वर रावण द्वारा रक्षित लङ्कापुरी को, मुझे हराये विना अब तू नहीं देख सकता ॥ ३६ ॥

ततः स हरिशार्दूलस्तामुवाच निशाचरीम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने उस निशाचरी से कहा—हे भद्रे ! मैं एक बार इस लङ्कापुरी को देख, जहां से आया हूँ, वहीं लौट कर चला जाऊँगा ॥ ३७ ॥

ततः कृत्वा महानादं सा वै लङ्का* भयानकम् ।
तलेन वानरश्रेष्ठं ताडयामास वेगिता ॥ ३८ ॥

तब उस लङ्कादेवी ने बड़ी ज़ोर से भयङ्कर नाद कर, हनुमान जी के कसकर एक थप्पड़ मारा ॥ ३८ ॥

ततः स कपिशार्दूलो लङ्कया ताडितो भृशम् ।
ननाद सुमहानादं वीर्यवान्पवनात्मजः ॥ ३९ ॥

लङ्कादेवी के हाथ से ज़ोर का थप्पड़ खा, बलवान पवनन्दन ने महानाद किया ॥ ३९ ॥

ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः ।
मुष्टिनाऽभिजघानैनां हनूमान्क्रोधमूर्छितः ॥ ४० ॥

और बाँये हाथ की अंगुलियाँ मोड़ और मुट्ठी बाँध हनुमान जी ने क्रुद्ध हो, लङ्का के एक घूंसा मारा ॥ ४० ॥

स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः ।
सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी ॥ ४१ ॥
पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना ।
ततस्तु हनुमान्प्राज्ञस्तां दृष्ट्वा विनिपातितान् ॥ ४२ ॥

तिस पर भी लङ्का को स्त्री समझ हनुमान जी ने बहुत क्रोध नहीं किया था, किन्तु वह राक्षसी लङ्का उतने ही प्रहार से विकल और लोटपोट हो ज़मीन पर गिर पड़ी और उसका मुख और भी अधिक विकराल हो गया । उसको ज़मीन पर छटपटाते देख, बुद्धिमान एवं तेजस्वी हनुमान जी को ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

* पाठान्तरे—"भयावहम् ।"

कृपां चकार तेजस्वी मन्यमानः स्त्रियं तु ताम् ।
ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा गद्गदाक्षरम् ॥ ४३ ॥
उवाच गर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ।
प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम ॥ ४४ ॥

उसे स्त्री समझ उस पर बड़ी दया आयी। तदनन्तर अत्यन्त विकल वह लङ्कादेवी, गद्गद् वाणी से अभिमान रहित हो कपिवर हनुमान जी से बोली। हे कपिश्रेष्ठ महाबाहो! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो और मुझे बचाओ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

[1]समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम ॥ ४५ ॥

क्योंकि जो धैर्यवान् और महाबली पुरुष होते हैं, वे स्त्री का वध नहीं करते। हे वानर! मैं ही लङ्का नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ ॥ ४५ ॥

निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल ।
इदं च तथ्यं शृणु वै ब्रुवन्त्या मे हरीश्वर ॥ ४६ ॥

सो हे महाबली! तुमने मुझे अपने पराक्रम से जीत लिया। महाकपीश्वर! मैं जो अब यथार्थ वृत्तान्त कहती हूँ, उसे तुम सुनो ॥ ४६ ॥

स्वयंभुवा पुरा दत्तं वरदानं यथा मम ।
यदा त्वां वानरः कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत् ॥ ४७ ॥

---

१ समये—स्त्रीवधवर्जनव्यवस्थायां । (गो०)

ब्रह्मा जी ने प्राचीनकाल में तुझको यह वरदान दिया था कि, जब तुझको कोई वानर परास्त कर देगा ॥ ४७ ॥

तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम् ।
स हि मे समयः सौम्य प्राप्तोऽद्य तव दर्शनात् ॥ ४८ ॥

तब तू जान लेना कि, अब राक्षसों के ऊपर विपत्ति आ पहुँची। सो हे सौम्य ! तुम्हारे दर्शन से आज वह मेरा समय आ गया ॥ ४८ ॥

स्वयंभूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ।
सीतानिमित्तं राक्षस्तु रावणस्य दुरात्मनः ।
राक्षसां चैव सर्वेषां विनाशः समुपस्थितः ॥ ४९ ॥

क्योंकि ब्रह्मा की कही बात सत्य है—उसमें तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता। देखो, सीता के कारण इस दुष्ट रावण का तथा अन्य समस्त राक्षसों का विनाशकाल आ पहुँचा ॥ ४९ ॥

तत्प्रविश्य हरिश्रेष्ठ पुरीं रावणपालिताम् ।
विधत्स्व सर्वकार्याणि यानि यानीह वाञ्छसि ॥ ५० ॥

सो हे कपिश्रेष्ठ ! तुम अब रावण द्वारा पालित इस पुरी में प्रवेश कर, जो कुछ करना चाहते हो, करो ॥ ५० ॥

प्रविश्य शापोपहतां हरीश्वरः
पुरीं शुभां राक्षसमुख्यपालिताम् ।
यदृच्छया त्वं जनकात्मजां सतीं
विमार्ग सर्वत्र गतो यथासुखम् ॥ ५१ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

हे कपीश्वर ! इस शापोपहत, रावणपालित एवं सुन्दर लङ्का-पुरी में मनमाना प्रवेश कर, तुम सर्वत्र ढूढ़ कर, सती सीता जी का पता लगाओ ॥ ५१ ॥

सुन्दरकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

चतुर्थः सर्गः

—※—

स निर्जित्य पुरीं श्रेष्ठां लङ्कां तां कामरूपिणीम् ।
विक्रमेण महातेजा हनूमान्कपिसत्तमः ॥ १ ॥

अद्वारेण महाबाहुः प्राकारमभिपुप्लुवे ।
निशि लङ्का महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ॥ २ ॥

महाबली, महाबहु, महातेजस्वी, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी ने, लङ्कापुरी की कामरूपिणी अधिष्ठात्री देवी को अपने पराक्रम से जीत कर, द्वार से न जा कर, कूद कर परकोटे की दीवाल फाँदी और लङ्का में प्रवेश किया ॥ १ ॥ २ ॥

[नोट—द्वार से अर्थात् फाटक से हनुमान जी नहीं गये । इसका एक कारण तो यह था कि, उन्होंने पहरुए राक्षसों की निगाह बचायी, दूसरे शास्त्र की आज्ञा भी है—

ग्रामं वा नगरं वापि पत्तनं वा परस्यहि ।
विशेषात्समये सौम्य न द्वारेणाविशेन्नृप ॥]

प्रविश्य नगरीं लङ्कां कपिराजहितङ्करः ।
चक्रेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु मूर्धनि ॥ ३ ॥

कपिराज सुग्रीव के हितैषी हनुमान जी ने लङ्कापुरी में प्रवेश करते ही शत्रु के सिर पर अपना बाँया पैर रखा ॥ ३ ॥

नोट—कहाँ कहाँ प्रथम वाम पैर रखना चाहिये ? यह बात बृहस्पति जी ने बतलायी है । यथा—

प्रयाणकाले च गृहप्रवेशे विवाहकालेपि च दक्षिणाङ्घ्रिम् ।
कृत्वाग्रतः शत्रुपुरप्रवेशे वामं निदध्याच्चरणं नृपालः ॥]

प्रविष्टः सत्वसम्पन्नो निशायां मारुतात्मजः ।
स महापथमास्थाय मुक्तापुष्पविराजितम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार महापराक्रमी पवननन्दन हनुमान जी रात के समय पुरी में प्रवेश कर, खिले हुए पुष्पों से सुशोभित राजमार्ग पर गमन करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्तु तां पुरीं लङ्कां रम्यामभिययौ कपिः ।
हसितोद्घुष्टनिनदैस्तूर्यघोषपुरःसरैः ॥ ५ ॥

उस समय रमणीक लङ्कापुरी में जाते समय हनुमान जी ने लोगों के हँसने का शब्द तथा नगाड़ों के बजने का शब्द सुना ॥५॥

वज्राङ्कुशनिकाशैश्च व्रजूजालविभूषितैः ।
गृहमुख्यैः पुरी रम्या बभासे द्यौरिवाम्बुदैः ॥ ६ ॥

हनुमान जी ने लङ्का में अनेक प्रकार के घर देखे । उन घरों में कोई तो वज्र के आकार का, कोई अङ्कुश के आकार का बना हुआ था । उनमें हीरे के जड़ाव के झरोखे बने हुए थे । उन मेघ सदृश घरों से उस रमणीयपुरी की ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी शोभा मेघों से आकाश की हुआ करती है ॥ ६ ॥